अनुभूतिप्रकाश

तृतीय भाग

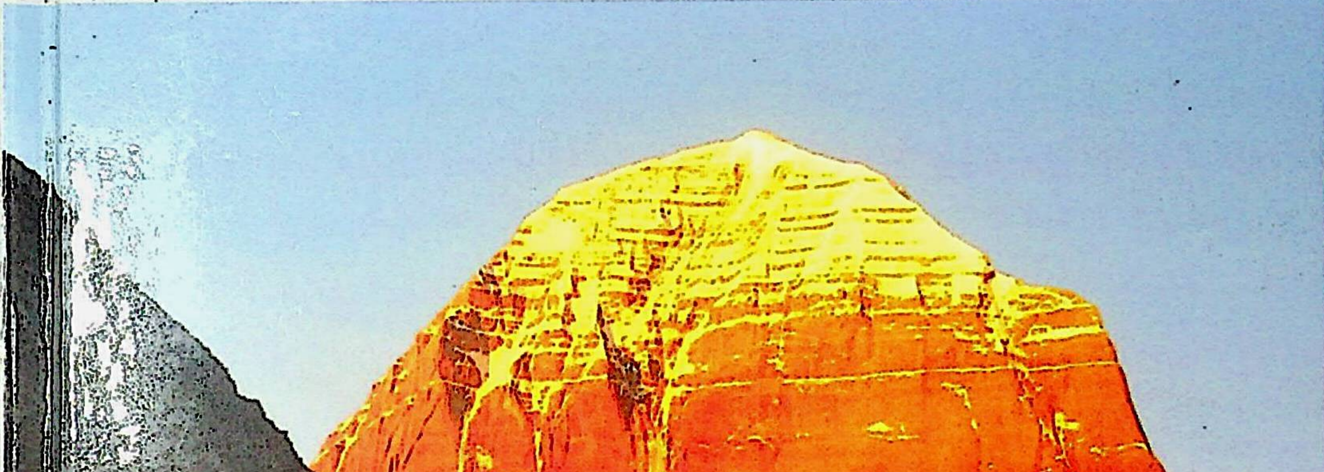

व्याख्याता
श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी
महाराज आचार्यमहामण्डलेश्वर

5·5

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला ७४

श्रीमद्विद्यारण्यस्वामिप्रणीत

अनुभूतिप्रकाश

तृतीय भाग

त्रयोशादि अष्टाध्यायात्मक

(बृहदारण्यक, केन, नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषदों का व्याख्यान)

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी
महाराज के प्रवचनों से संकलित
हिन्दी व्याख्या

श्रीदक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक
श्रीदक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन
डी ४६/६, मिश्रपोखरा
वाराणसी - २२१ ०१०

प्रथम संस्करण
शंकराब्द : १२२५
विक्रमाब्द : २०७०
ईस्वी : २०१३

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य : ८५० रुपये (तीनों खण्डों का)

अक्षर संयोजन
मानस टाइपसेटर
दरियागंज
दिल्ली-२

मुद्रक
सौरभ प्रिन्टर्स प्रा० लि०,
ए-१५/१६, सैक्टर-४
नॉएडा-२०१३०१ (उ.प्र.)

ॐ

आमुख

कैवल्य-लाभ के लिये एकमात्र साधन आत्मसाक्षात्कार उपनिषद्रूप प्रमाण का ही दुर्लभ प्रसाद है। 'सर्वं चाऽन्यद् वेद्यम् अधिगम्य अकृतार्थ एव भवति यावद् आत्मतत्त्वं न जानाति' (छांदो. भाष्य पृ. २०८, ६-१-३) आदि आचार्य-निर्देश कृतकृत्यता के लिये सश्रद्ध ब्रह्मनिष्ठलभ्य वेदान्तबोध अनिवार्य सिद्ध करते हैं। कर्म-उपासना (भक्ति) इसीलिये आवश्यक हैं कि इस ज्ञान की पात्रता में हेतु हैं। अधिकारके बिना साधन भी कार्यकारी न होने से मुमुक्षुकी प्राथमिकता मनआदि के शोधनार्थ ईश्वराराधनबुद्धि से कर्म-उपासना का अनुष्ठान है जिससे ईश्वरजिज्ञासा होने पर शास्त्रानुसार विवेकादि में तत्पर हो शनैःशनैः निदिध्यासन-पर्यन्त मार्ग तय किया जा सकता है। 'ज्ञानमात्रे सर्वाश्रमिणाम् अधिकारः' (मुण्ड. भा.) इस भाष्यवचन से प्रेरक ज्ञान, प्रतिबद्ध या परोक्ष ज्ञान, पूर्णाधिकार के बिना भी सम्भव है अतः प्रत्येक मुमुक्षु कम-से-कम परमात्मा के बारे में सही समझ पाने के लिये एवं स्वयं के वास्तविक स्वरूप की संकल्पना के लिये वेदान्तविचार अवश्य करे जिससे चित्तशुद्धि होने पर शीघ्र सही दिशा में साधना की प्रगति हो। सत्य में निश्चित प्रमाण वेद आत्मसम्बन्धी चर्चा उपनिषदों में करता है। यद्यपि अष्टोत्तर शत उपनिषदें हैं और यथाशक्ति सभी अध्येतव्य एवं उनमें कही रीति से अभ्यास कर्तव्य है तथापि आचार्य बादरायण एवं भगवान् भाष्यकार द्वारा विचारित उपनिषदों की सर्वाधिक प्रधानता, सर्वांगपूर्ण होने से पर्याप्तता तथा निश्चयोत्पादकता सर्वसम्मत है। उपनिषदों का विचार और उससे अखण्डबोध पाना संन्यासिकर्त्तव्य है जो अद्यावधि आचार्य की इस उक्ति से पालित है 'इदं त्यक्तसर्वबाह्यैषणैः अनन्यशरणैः परमहंसपरिव्राजकैः अत्याश्रमिभिः वेदान्तविज्ञानपरैः एव वेदनीयं पूज्यतमैः ... तथानुशासति अद्यापि त एव नान्ये' (छा. भा. पृ. ४१४; ८. १२.१)। दश उपनिषदों पर प्राचीनतम व्याख्यान भगवान् शंकराचार्य का भाष्य ही है और उनके सम्प्रदाय के अलावा किसी वैष्णव आदि अन्य ने दसों का व्याख्यान आज

तक नहीं किया। यही पर्याप्त प्रमाण है कि वेदार्थविचार से ही मोक्ष स्वीकारने वाला यह एकमात्र सम्प्रदाय है। आचार्य के अनन्तर श्रीशंकरानन्द सरस्वती जी ने दीपिकाओं द्वारा और 'उपनिषद्रत्न' नामक आत्मपुराण द्वारा प्रभूत विचार उपनिषदों पर किया। उनके शिष्य आचार्य श्री विद्यारण्य स्वामी ने भी कुछ वृत्तियों द्वारा एवं 'अनुभूति-प्रकाश' द्वारा उपनिषदर्थ का मंथन किया। नारायण नामक आचार्य की भी अतिमहत्त्वपूर्ण दीपिकाएँ उपलब्ध हैं। अन्य अनेकों ने तत्तत् उपनिषत् पर चिंतन किया तथा उपनिषद् ब्रह्मयोगी ने संक्षिप्त व्याख्या अष्टोत्तरशत उपनिषदों की रची। इससे अतिरिक्त, लौकिक भाषाओं में अनेक अनुवाद एवं व्याख्यान हुए हैं। कोई भी जिज्ञासु बारम्बार वेदान्तचिन्तन करना चाहे तो पूर्वाचार्यों ने इतना बृहत् साहित्य उपलब्ध करा दिया है कि यदि पुनः एक ग्रंथ न भी पढ़े तो जीवनभर अध्ययन के लिये सामग्री पर्याप्त है।

भाष्यार्थ हृदयंगम हो इसके लिये भूमि-तैयारी के रूप में जैसे प्रकरणग्रंथ समझना आवश्यक वैसे ही उपनिषदों का भी सरलार्थ समझना अत्यन्त उपयोगी है। इसके लिये अध्येतृवर्ग सर्वाधिक अधमर्ण है आचार्य विद्यारण्य का जिन्होंने जैसे पंचदशी से सभी अन्य प्रकरणों को गतार्थ किया वैसे अनुभूतिप्रकाश से उपनिषदों के भाव समझना एकत्र ही सम्भव बना दिया। बीस अध्यायों में बारह प्रधान उपनिषदों का सरलतम भाषा में श्लोकबद्ध व्याख्यान आचार्य का अनुपम प्रसाद है। श्रीशंकरानन्द, विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ आदि दिग्गज ब्रह्मनिष्ठों से लब्धबोध विद्यारण्य स्वामी चौदहवीं ईस्वी शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक होने के साथ पूर्वमीमांसा, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, मन्त्रशास्त्र, संगीत, औपनिषद दर्शन आदि अनेक विषयों के प्रामाणिक व्याख्याता रहे। इनकी विशेषता है कि प्रतिपाद्य का ऐसा सटीक खाका खींच देते हैं कि चाहे जितना सूक्ष्म हो पर विषय मानो एक सुस्पष्ट चित्र के रूप में आँखों के सामने नाच जाता है और इसमें उनकी भाषा अतिसुबोध किंतु अतिसुनिश्चितार्थ-बोधिका होती है। इसी रीति से इस ग्रंथ में उपनिषदें समझायी हैं।

प्रथम सात अध्याय 'चतुर्वेदविद्याप्रकाश' के रूपमें अष्टमाध्याय-प्रारंभ में स्पष्ट कथित होने पर भी लोकव्यवहार में सारा ही ग्रंथ अनुभूतिप्रकाश नाम से प्रचलित है। ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य (३-५), मुण्डक, प्रश्नवेदक्रमानुसार ये उपनिषदें पूर्वभाग में (१-७ अध्याय); एवं कौषीतकी (८, ६), मैत्रायणी, कठ, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक (१३-१८), केन और नृसिंहतापनीयये उत्तर भाग में व्याख्यात हैं। प्रायः पौने तेइस

सौ श्लोकों का यह महाप्रबन्ध उपनिषद्-अर्थ समझने के लिये अतुलनीय अवलम्ब है। बृहदारण्यक से ईश और तापनीय से माण्डूक्य का व्याख्यान सुगम समझते हुए सम्भवतः आचार्य ने उन्हें यहाँ संगृहीत नहीं किया। इस ग्रंथ पर पुरातन व्याख्या सुलभ नहीं। काशीनाथ शर्मा द्वारा कृत 'मिताक्षराविवृति' ईस्वी १९२३-२४ में छपी थी एवं क्वचित् पुस्तकालयों में सुरक्षित है। शिवरामाश्रम कृत आठवें अध्याय तक की 'आदर्श' टीका अमेरिका में हस्तलेखरूप से रखी सुनी जाती है। ईस्वी सन् १९८४ में श्रीमुत्तुशास्त्री ने 'श्रुतिसंयोजिनी' प्रकाशित की। काशीनाथ एवं मुत्तुशास्त्री व्याख्येय श्रुतिभाग का स्पष्ट निर्देश देने के अलावा अन्वय और दुर्बोध शब्दों का अर्थ सूचित करते हैं। ग्रंथ का प्रवाह कायम रखने के लिये दोनों विद्वानों ने किसी विस्तार का प्रयास नहीं किया है। मुत्तुशास्त्री ने पाठ की उपयुक्तता पर चिंतन किया जो स्तुत्य है। ईस्वी सन् १९९२ में श्री गोदावरीश मिश्र ने सम्पूर्ण ग्रंथ का अंग्रेज़ी अनुवाद मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित कर आंग्लविदों का महान् उपकार किया है। ईस्वी १९२६ में निर्णयसागर मुद्रणालय से मूलमात्र प्रकाशित हुआ जिसका पुनर्मुद्रण आजकल सुलभ है। कुछ वर्ष पूर्व पुणे विश्वविद्यालय से विद्यावारिधि (पी.एच.डी.) के निमित्त सुश्री ज्योत्स्ना खरे द्वारा लगभग तीस हस्तलेखों से मिलान कर मूल का पाठ तैयार हुआ है जो श्लाघनीय प्रयास है।

ईस्वी सन् २००२-३ में परमाराध्य महाराज श्री जीने आबू पर्वत के नित्य स्वाध्याय के क्रम में इस सद्ग्रन्थ पर विस्तृत विवेचन किया। औपनिषद विचारों की समंजस समग्रता का जीवन्त उपस्थापन करने में सिद्धहस्त उनकी वाणी ने मानो इस प्रकाश का आलोक और अधिक बढ़ा दिया। आचार्य विद्यारण्य ने जो बीजमात्र रखे होंगे उनके फुल्लित-फलित स्वरूपों की अभिव्यक्ति होने से महाराजश्री का व्याख्यान ग्रन्थसे एकरस होना स्वाभाविक था। किंतु वे प्रवचन यथावत् लिखे नहीं गये। फिर भी प्रायः समग्र ग्रंथ के सभी व्याख्यान पट्ट लेखों में संगृहीत (टेप रिकाड) हो गये थे। उन्हें सुनकर लिखने का कठिन श्रम श्री बिशनदास जी मेहता ने अपने प्रतिष्ठान में कराया। ध्वनि सुनकर शब्द की सही समझ यन्त्रों का व्यवधान हो जाने पर दुःशक होती है। किं च पट्टलेखों में प्रवचन-मध्यवर्त्ती शंका-समाधान भी गृहीत होने से विचार-प्रवाह में अवरोध भी रहा। यह सब देखकर, पट्टलेख सुनकर लिखे उन प्रवचनों का सारभाग संकलित कर यह व्याख्यान सम्पन्न हुआ है। सम्पादक ने स्वयं महाराजश्री के ये सब प्रवचन सुने भी थे एवं सम्पादनकाल में प्रायः आधे ग्रंथ के कार्य तक महाराजश्री की

उपस्थिति रहने से शंकासमाधान का अवसर पाया है अतः यद्यपि सर्वांश में यह व्याख्या महाराजश्री के शब्दों में एकत्र नहीं हुई तथापि विचार उन्हीं के संकलित समझे जा सकते हैं। सम्बद्ध श्रुतिवाक्यों का निर्देश और अर्थकथन साथ रख देने से ग्रंथ परिपूर्ण हो गया है। श्लोकादिसूची की सहायता से अनुसन्धान-कर्मियों का कार्य सरल बना दिया है।

औपनिषद दर्शन के अनुयायी इस प्रकार के शास्त्रीय चिन्तन के परिशीलन से आत्मकल्याण के भागी बनें ऐसी भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति से प्रार्थना है।

भगवत्पादीय
स्वामी पुण्यानन्द गिरि
(आचार्य महामण्डलेश्वर)

शिवरात्री
वि. सं. २०६८

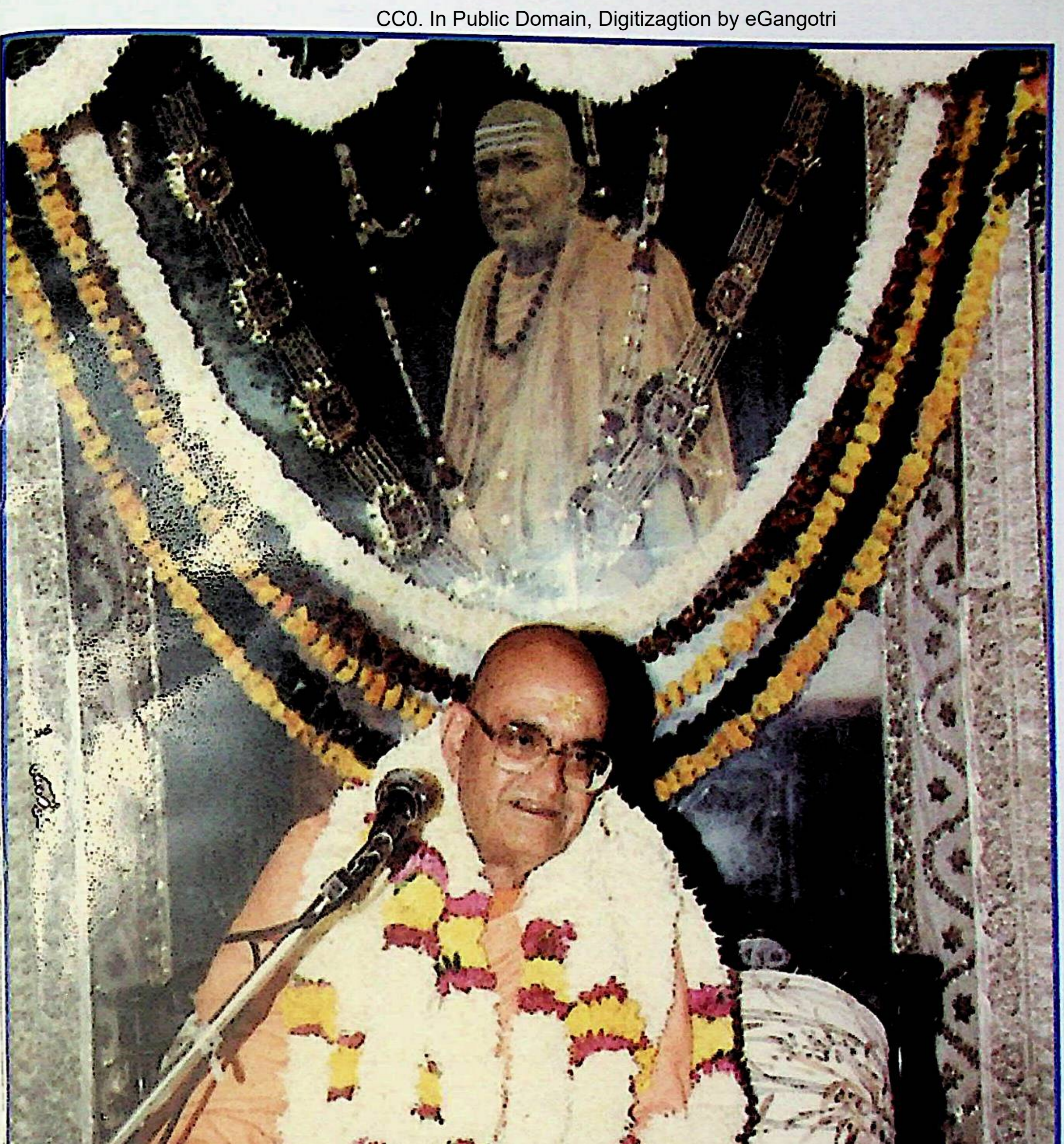

ॐ

विषयसूची

तृतीय भाग

१३. बृहदारण्यक–कण्वविद्याप्रकाश ११३४–१२६६
आत्मैवेदम् आदि का विचार (प्रथमाध्याय चतुर्थ ब्राह्मण) ११३७
विराट् में भय ११४४
विराट्कत विचार ११४८
अहं ब्रह्म ११४६
अरति ११५६
सष्टि ११५६
अव्याकत (सप्तम कण्डिका) ११७४
व्याकत ११६५
जीव प्रवेश ११६६
प्रविष्ट भी अज्ञात! १२१५
विद्यासूत्र १२२३
शुद्ध आत्मा १२३७
प्रियतम (अष्टम कण्डिका) १२४६
आत्मबोध (नवम–दशम कण्डिका) १२५७
अविद्यासूत्र १२७५
वर्ण–देव–धर्मसष्टि (ग्यारहवी से चौदहवी कण्डिका) १२००
आत्मलोक की उपासना (पन्द्रहवी कण्डिका) १२८५
जीव सर्वोपभोग्य (सोलहवी कण्डिका) १२८६
कामना (सत्रहवी कण्डिका) १२६३
१४. बृहदारण्यक–अजातशत्रुविद्या–प्रकाश (द्वितीयाध्याय) १३००–१३५६
राजकत प्रबोधन १३०३
सुप्त को हिलाकर जगाना १३०७
हृदयमें सोना (सत्रहवी कण्डिका) १३१२
स्वप्न (अठारहवी कण्डिका) १३२०
सुषुप्ति (उन्नीसवी कण्डिका) १३२१
सष्टि (बीसवी कण्डिका) १३२५
सत्य का सत्य १३२८
शिशुब्राह्मणका सार (द्वितीय ब्राह्मण) १३३०
मूर्त्तामूर्त का विवरण (ततीय ब्राह्मण) १३३६
नेति नेति (छठी कण्डिका) १३४८
१५. बृहदारण्यक–मैत्रेयीविद्याप्रकाश (द्वितीयाध्याय चतुर्थ ब्राह्मण) १३५७–१४०४
संन्यास–महत्त्व १३५६
प्रेम १३६२
आत्मा दर्शनीय १३६७
श्रवणादि १३७१
सर्वज्ञता १३७४
दुन्दुभि आदि दष्टान्तों का भाव १३८०
वेदसष्टि १३८४
एकायन (प्रलय में अद्वैत) १३८६
निदिध्यासन १३८६

जीवभाव १३६०
अद्वैत १३६५
विज्ञानधन १४०१
१६. बृहदारण्यक–मधुविद्याप्रकाश (द्वितीयाध्याय पंचम ब्राह्मण) १४०५–१४२४
मधु का तत्त्व १४१०
धर्म १४१२
अधिपति आत्मा १४१४
कथा १४१७
सष्टिकर्त्ता व प्रवेष्टा ब्रह्म १४१६
मधुकाण्ड का सार १४२२
१७. बृहदारण्यक–आश्वलायनादि–मुनिबोध (ततीयाध्याय) १४२५–१५८२
आश्वलप्रश्न (प्रथम ब्राह्मण) १४२७
आर्तभागप्रश्न (द्वितीय ब्राह्मण) १४३३
भुज्युप्रश्न (ततीय ब्राह्मण) १४५३
उषस्तप्रश्न (चौथा ब्राह्मण) १४६१
प्रश्न का अभिप्राय १४६८
उत्तर प्रारम्भ १४७२
स्पष्टीकरणार्थ पुनः प्रश्नोत्तर १४७८
गाय आदि जैसे बताने को कहना १४८६
निषेधमुखसे उत्तर १४८६
कहोल ब्राह्मण (पाँचवाँ ब्राह्मण) १४६६
साधनोपदेश १५०८
गार्गी का प्रथम प्रश्न (छठा ब्राह्मण) १५२४
उद्दालक का प्रश्न (सातवाँ ब्राह्मण) १५३१
अदष्ट द्रष्टा १५४०
गार्गी का द्वितीय प्रश्न (आठवाँ ब्राह्मण) १५४४
आकाश कहाँ ओत–प्रोत है १५५०
कृपण १५६१
शाकल्यप्रश्न (नौवाँ ब्राह्मण) १५६६
याज्ञवल्क्यपष्ट औपनिषद पुरुष १५७०
श्रुति का कथन १५७६
१८. बृहदारण्यक–जनकविद्याप्रकाश (चतुर्थअध्याय) १५८३–१७१०
कूर्चब्राह्मण (द्वितीय) १५८७
ज्योतिर्ब्राह्मण (ततीय) १५६५
जनकप्रश्न 'कतम आत्मा' १६०६
उत्तर 'योयं विज्ञानमयः' १६०८
'पुरुषः' १६१६
'ध्यायतीव' १६२१
पुरुषका जन्म (कण्डिका ८) १६२४
पुरुषके दो स्थान (कण्डिका ६) १६२७
रथादिका उत्पादक (कण्डिका १०) १६३५
असंगता–वर्णन (कण्डिका १५) १६३७
मोक्षमें दष्टान्त सुषुप्ति (कण्डिका २१) १६४२
अविनाशी दष्टि (कण्डिका २३) १६४६
भेदानुभव (कण्डिका ३१) १६५२
याज्ञवल्क्यका भय! (कण्डिका ३३) १६६१
बैलगाड़ीका उदाहरण (कण्डिका ३५) १६६२
देहान्तर–गमनादि (चतुर्थ ब्राह्मण) १६६७
वासनाका महत्त्व १६७८
अकामयमान (कण्डिका ६) १६८१
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति १६८४

पुराना रास्ता (श्लोक ८) १६९०
महान् अज आत्मा (कण्डिका २२) १६९६
मुनि १७०१
नित्य महिमा (कण्डिका २३) १७०६
सर्वस्वदान १७०८
१९. तलवकारविद्याप्रकाश (केनोपनिषत्) १७११–१७६८
प्रश्न १७१५
उत्तर १७२१
अन्तर्यामी १७२३
प्रेरक १७३०
आत्मा अविषय १७३७
विदित–अविदित से अन्य १७४१
अनिदं ब्रह्म १७४४
मीमांसा १७४९
प्रतिबोधविदित १७५४
आख्यायिका १७५८
आदेश १७६३
साधन १७६५
आयतन १७६६
२०. नसिंहोत्तरतापनीय–देवताविद्या–प्रकाश १७६९–१८२८
ॐ की सर्वरूपता १७७२
ध्यानका ढंग १७७५
त्रिदेह १७७९
चतुष्पाद् आत्मा १७८१
तुरीय १७८६
द्वितीय खण्ड का व्याख्यान १७९४
नाद में ध्यान १८००
नारसिंह मंत्रराज १८०३
मंत्रराज–प्रणव–आत्मा का ध्यान (ततीय खण्ड) १८०४
उपसंहार ध्यान १८०९
योग (चौथा खण्ड) १८१०
अकारादि के भाव (पाँचवाँ खण्ड) १८१३
साधनों का उपदेश (छठा खण्ड) १८१६
विद्वान्के उपयोगी योग (सातवाँ खण्ड) १८१९
ओंकार नामक नाद (आठवाँ खण्ड) १८२३
उपनिषत् का उपसंहार (नौवाँ खण्ड) १८२४
ग्रंथोपसंहार १८२७
श्लोक सूची १८२९

ॐ

बृहदारण्यकविवरणे

कण्वविद्याप्रकाशः

त्रयोदशोध्यायः

प्रतिज्ञा

काण्वो[1] याजुषशाखायां नानाऽऽख्यानोपबृंहिताम् ।
ब्रह्मविद्याम् उवाचेमां सङ्ग्रहेण ब्रवीम्यहम् ।।१।।

कण्वविद्याप्रकाश : तेरहवाँ अध्याय

नत्वा शङ्करमम्बिकां गजमुखं श्रीयाज्ञवल्क्यं मुनिं
सम्प्रक्षालितवादिकल्पनमलं श्रीशङ्करार्यं प्रभुम् ।
संसारानलतापशामकपदं कारुण्यमूर्तिं गुरुं
व्याकुर्वेऽनुभवप्रकाशनिहितां श्रीकाण्वविद्याप्रभाम् ।।

वेद में आत्मतत्त्व का विशद सयुक्ति प्रतिपादन शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक के उपनिषद्भाग में किया गया है। उस प्रसंग का विस्तृत विचार छह अध्यायों में किया ज़ायेगा। आरण्यक-क्रम से तीसरे अध्याय अर्थात् उपनिषत्क्रम से प्रथम अध्याय के विचार से प्रारम्भ करते हैं। सर्वप्रथम अध्याय के विषय की प्रतिज्ञा करते हैं **यजुर्वेद की शाखा में अनेक कथाओं से पोषित कर कण्व ऋषि ने यह ब्रह्मविद्या कही, इसी का मैं संक्षेप से वर्णन करता हूँ ।।१।।** यजुर्वेद के शुक्ल व कृष्ण दो भेद हैं। शुक्ल यजुर्वेद की काण्व और माध्यन्दिन दो शाखाएँ हैं। कण्व-नामक ऋषि जिसके प्रधान उपदेशक थे वह काण्व शाखा है। आचार्य श्रीशंकर ने इसी शाखा की बृहदारण्यकोपनिषत् की व्याख्या की है। यद्यपि विद्यारण्यस्वामी ने माध्यन्दिन शाखा पर भाष्य रचा तथापि अनुभूतिप्रकाश में वे काण्व शाखा का वर्णन कर रहे हैं। भाष्यवार्तिक के साररूप अपने 'वार्तिकसार'-नामक ग्रन्थरत्न में से प्रसंगों का संग्रह कर इस षडध्यायी का महत्त्व बढायेंगे। कण्व के उपदेश में कथाओं का अस्तित्व उसकी आकर्षकता बढाता है। कथा

---

[1] कण्व इति तु सुवचं, 'कण्वः प्रोवाच' इत्युपसंहारात् श्लोक २८६।

उपासनोपन्यासः

बृहदारण्यकप्रोक्तैर्विराट्सूत्राद्युपासनैः।
स्याद् विराडादिरूपत्वं स विराड् इह कथ्यते।।२।।
उपास्तेर्महिमा तेन भात्युपासनम् इच्छतः।
मुमुक्षुस्तु विराडादिदोषान् दृष्ट्वा विरज्यते।।३।।

का पूर्ण सौन्दर्य तो आचार्य श्रीशंकरानन्द के 'आत्मपुराण' में ही खिलता है, अनुभूतिप्रकाश में प्रधानता तत्त्व के स्पष्टीकरण की है।।१।।

बृहदारण्यक उपनिषत् में छह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय अनेक विभागों में बँटा है जिन्हें 'ब्राह्मण' कहते हैं। प्रथमाध्याय का पहला ब्राह्मण 'अश्वोपास्ति-ब्राह्मण' है। अश्वमेध यज्ञ सबसे महत्त्वपूर्ण बाह्य कर्म है। उसे संपन्न न कर पाने वाला भी उसके जिस मानस रूप का सम्पादन कर सकता है उस उपासना का इस ब्राह्मण में वर्णन है। द्वितीय ब्राह्मण में चयनाग्नि का ध्यान बताया गया है। अग्निचयन के लिये निर्मित स्थण्डिल में विराट् पुरुष की दृष्टि करना वहाँ विहित है। दोनों ब्राह्मणों में विहित अंगों वाली उपासना एक है। तीसरा है 'उद्गीथब्राह्मण'। अग्नि आदि देवताओं की समष्टि हिरण्यगर्भ की उपासना का इसमें विधान है। इस प्रसंग में बतायी उपासनाएँ करना प्रधान है, समझने को विशेष नहीं है अतः इनका संकेतमात्र करते हैं **बृहदारण्यक में विहित विराट्, सूत्र आदि की उपासनाओं से विराड् आदि भाव की प्राप्ति होती है। वह विराट् यहाँ (चतुर्थ ब्राह्मण के विवरण में) बताया जाता है।।२।।** स्थूल-समष्टि विराट् और सूक्ष्म-समष्टि सूत्र, सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ आदि नामों से कहा जाता है। 'सूत्र आदि' में आदि-से उपासनाओं के अंगादि विशेष समझने चाहिये और 'विराड् आदि' में आदि-से ऐहिकादि भेद से बताये विभिन्न फल समझने चाहिये। उपासना के परिपाक के फलस्वरूप उपास्य से अभेद होता है, अत एव ये उपासनाएँ अहंग्रहेण की जाती हैं अर्थात् उपास्य को अपने से एक समझकर तदाकार वृत्तिप्रवाह रखा जाता है। चौथे ब्राह्मण में विराट् का वर्णन है जिसका विस्तृत व्याख्यान अनुभूतिप्रकाश के इस अध्याय में कर रहे हैं।।२।।

विराड् आदि वर्णन का प्रयोजन बताते हैं **उपासना के इच्छुक को इस वर्णन से उपासना की महिमा पता चलती है। मोक्ष की इच्छा वाला तो विराड् आदि के दोष समझकर वैराग्यवान् बन जाता है।।३।।** वर्णन में विराट् की व्यापकता बतायी है जो उपासक के लिये अतिमहत्त्व की बात है, उस स्थिति को पाने के लिये वह

अध्यायस्य तृतीयस्य चतुर्थब्राह्मणे श्रुतम्।
वैराजं वपुरेतच्च शरीरान्तरकारणम्।।४।।

उत्साहित होकर उपासना में तत्पर होता है। मोक्षेच्छुक उसी वर्णन में जो भय, अरति आदि बताये हैं उन पर दृष्टि स्थिर करता है जिससे उसे इन महान् फलों के प्रति भी वैराग्य हो जाता है अतः इनके साधनभूत कर्म-उपासना के प्रति आकर्षण नहीं रहता। हैलीकाप्टर से उड़कर जल्दी पहुँचा जाता हैयह भी ठीक है; हैलीकाप्टर की दुर्घटना हो जाये तो बचना प्रायः असंभव होता हैयह भी ठीक है। वर्णन दोनों का मिलता है। सांसारिक फलों में आसक्त 'जल्दी पहुँचने' वाले हिस्से से आकृष्ट होता है और विरक्त दुर्घटना के प्रभाव वाले हिस्से को यादकर हैलीकाप्टर से दूर ही रहना चाहता है। इसी तरह विराड्भाव में दोनों तरह की स्थितियाँ हैं, अधिकारी अपने अनुसार उनकी प्रधानता समझकर उस भाव की प्राप्ति के लिये साधन करता या साधनत्याग, संन्यास करता है। कर्म-उपासना के चरम फल के प्रति भी वैराग्य होने पर तत्त्वज्ञान का अधिकार आता है।।३।।

विराट् के वर्णन का ही संक्षेप करते हैं **तीसरे अध्याय के चौथे ब्राह्मण में विराट् का शरीर श्रुतिद्वारा बताया गया है और यह शरीर पुनः अन्य शरीरों के प्रति कारण है।।४।।** आरण्य के क्रम से तीसरा अध्याय ही उपनिषत्-क्रम से पहला है। विराट् की उपासना के फलस्वरूप विराट् बना जाता है। विराट् ही समष्टि स्थूल है। उसी से व्यष्टि स्थूल शरीर बनते हैं अर्थात् व्यष्टि शरीरों के बनने से पूर्व ब्रह्माण्ड शरीर बनता है, उसी से यथाक्रम मनुष्य, गाय, घोड़े, गधे, आदि सभी व्यष्टि शरीर बनते हैं। ये व्यष्टि शरीर ही ब्रह्माण्ड शरीर की अपेक्षा शरीरान्तर हैं। इस प्रकार उपासना से जो विराड्भाव मिलना है उसी का फल यह भी है कि घोड़ा - गधा आदि सभी बनना पड़ेगा! विराट् क्योंकि समष्टि है अतः व्यष्टि बनायेगा तो स्वयं में से ही। इसलिये व्यापकता की दृष्टि से फल महान् होने पर भी निकृष्ट आदि शरीरों की दृष्टि से हेय भी है। अधिकारी अपनी योग्यतानुसार इनको प्रधानता देकर उपासना में या संन्यासपूर्वक श्रवणादि में प्रवृत्त हो सकता है।।४।।

सत्रहवें श्लोक तक प्रथम कण्डिका समझायेंगे। उसमें कहा है 'आत्मैवेदम् अग्र आसीत् पुरुषविधः' कि ये जो विविध शरीर अभी प्रकट हैं, ये पहले प्रजापति ही थे। प्रजापति पुरुष की तरह था। उसने विचार किया तो अपने से अलग कुछ नहीं पाया और 'अहम् अस्मि' ('मैं हूँ') ऐसा पहले पहल बोला। अतः अब तक व्यक्ति पहले अपना

'आत्मैवेदम्' आदेर्व्याख्या

इदं नरगवाश्वादि वपुस्तत्सृष्टितः पुरा।
आत्माऽऽसीत् पुरुषाकारो ब्रह्माण्डाख्यशरीरभृत्।।५।।
प्रत्यग्रूपः पराग्रूपाद् व्यावृत्तोऽनुभवात्मकः।
प्रथते यः स आत्मेति प्राहुरात्मविदो बुधाः।।६।।

परिचय 'अहम्' (मैं) से देकर तब अपना देवदत्तादि अन्य नाम बताता है। पूर्वभव में सब से पहले अपने सब पाप जला दिये थे इसीलिये प्रजापति पुरुष कहलाता है। इस संदर्भ का व्याख्यान करते हैं **यह मनुष्य, गाय, घोड़ा आदि शरीर अपनी उत्पत्तिसे पूर्व ब्रह्माण्ड नामक शरीर धारण करने वाला पुरुष के आकार का आत्मा था।।५।।** मानवादि अच्छे-बुरे सभी परिच्छिन्न शरीर अपनी सृष्टि, अभिव्यक्ति से पूर्व जिस व्यापक समष्टि के रूप में उपस्थित थे वही ब्रह्माण्ड कहलाने वाला शरीर है। वह ब्रह्माण्ड भी था पुरुष के आकार का, जैसे मानव शरीर सिर-हाथ आदि वाला है ऐसे ही ब्रह्माण्ड शरीर भी था, जिसे श्रुति ने यहाँ 'आत्मा' कहा है। व्यष्टि शरीरों का उसे कारण बताना उसके महत्त्व को सूचित करते हुए उससे वैराग्य की भी संभावना व्यक्त करता है क्योंकि यह प्रतीत होता है कि कर्म-उपासना का चरम फल मिलने पर घोड़े-गधे बनना पड़ेगा!।।५।।

भगवान् भाष्यकार ने श्रुति के 'आत्म'-शब्द का विराट् अर्थ ही बताया है। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने समझाया है कि ज्ञानरूप मुख्य आत्मा भी यहाँ समझा जाये तो कोई हर्ज़ नहीं। इस मत का भी संग्रह करते हैं **पराक् रूप वाले से अलग जो अनुभवस्वरूप प्रत्यक् रूप भासता है उसे आत्मा के जानकार विद्वान् आत्मा कहते हैं।।६।।** अपने से भिन्न प्रतीत होने वाला पराक् एवं कभी भी अपने से भिन्न न प्रतीत होते हुए प्रतीत होने वाला प्रत्यक् कहा जाता है। हमेशा 'मैं' यों जिसका अनुभव है वह प्रत्यक् है। यह स्वयं ज्ञानात्मक है। पराक् चीज़ें ज्ञान से संबद्ध होती हैं जबकि प्रत्यग् वस्तु ज्ञान ही है। ज्ञान से सम्बद्ध होने के लिये पराक् चीज़ों को 'बाहर' अर्थात् आत्मा से पृथक् होकर उसका विषय बनकर रहना पड़ता है। आत्मा कभी बाहर प्रकाशित नहीं होता, हमेशा प्रकाश करने वाले रूप में ही बना रहता है। बाकी सब आत्मा के द्वारा जाना जाता है परन्तु आत्मा किसी के द्वारा नहीं जाना जाता। जैसे घट आदि का ज्ञान आत्मा को होता है ऐसे आत्मा का ज्ञान किसी 'को' नहीं होता। ऐसा होने पर भी अविद्यादशा में अहंकार से शरीरपर्यन्त पराक् रूपों से मिला-जुला ही आत्मा प्रतीत हो रहा है। ब्राह्मण, गोरा आदि शरीर है, प्रतीति है 'मैं ब्राह्मण, मैं गोरा' आदि। काणापना आदि इंद्रियों में है, लगता है

बहिर्मुखेन न ज्ञातं प्रत्यक्तत्त्वमतिं विना[1]।
यद् अज्ञातं परं तत्त्वं तद् भवेत् सर्वकारणम्।।७।।

'मैं काणा' आदि। बलिष्ठता - दुर्बलता प्राण के धर्म हैं, हमें लगता है 'मैं बलवान्, मैं कमज़ोर' आदि। बुद्धिमानी, मूर्खता आदि बुद्धि की होने पर भी 'मैं विद्वान्, मैं मूर्ख' आदि हमें प्रतीति होती है। इस क्रम में आत्मा से निकटतम अहंकार है, पराक् वह भी है क्योंकि परिवर्तनशील एवं सुषुप्ति आदि में न रहने वाला है, पर हमें वह भी अपने से एक हुआ लगता है। परिच्छिन्न अपना स्वरूप मैं-अभिमान का अनुभव है। अर्थात् 'मैं हूँ' यह अविचारित अनुभव जिस परिच्छिन्नता को, देश-काल-वस्तु की सीमा को ग्रहण करता है वह अहंकार का स्वरूप है, उससे मुख्य आत्मा के भेद को न जानने से हम स्वयं को सीमित समझ लेते हैं। वस्तुतः अहंकार से देहपर्यन्त सब पराक् हैं। इन्हें हटाकर जो अनुभव है वही प्रत्यक् है। वह अद्वितीय है क्योंकि स्वप्रकाश होने से ज्ञान अनेक होना स्वीकार्य नहीं। अनेक वे ही माने जाते हैं जो पृथक्-पृथक् पता चलें। ज्ञान तो कभी किसी ज्ञान का विषय बन नहीं सकता। अतः ज्ञान ज्ञेय नहीं होता तो अनेक ज्ञानों को कोई जान ही न सकने से ज्ञान अनेक हैं यह मानना संभव नहीं। ज्ञेय होते ही वस्तु जड अर्थात् अज्ञान हो जाती है। अतः प्रत्यक्तत्त्व अद्वितीय है। किंतु पराक् पदार्थों से, अहंकार से देहपर्यन्त वस्तुओं से एकमेक हो जाने के कारण, तादात्म्य वाला हो जाने के कारण वह परिच्छिन्न, परस्पर व्यावृत्त, अलग-अलग प्रतीत हो रहा है। एक अहंकार से मिल जाने पर अन्य अहंकारों से युक्त रूपों से वह पृथक् प्रतीत होने लगता है। जैसे घट से मिल जाने पर आकाश अन्य घटाकाशों से पृथक् हो जाता है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। जब तक पराक् रूपों को व्यावृत्त न किया जाये तब तक अनुभवमात्र-रूपता प्रकट होगी नहीं। है वह अभी भी अद्वितीय पर अज्ञानवश हमें सद्वितीय लग रहा है। वेदान्तों के अनुसार अनुभवी आचार्य के उपदेश से विवेक करने पर वह प्रत्यग्रूप निरावृत होता है।।६।।

प्रत्यग्वस्तु क्यों अज्ञात है यह समझाते हैं **बहिर्मुख व्यक्ति प्रत्यक्-तत्त्व के आकार की वृत्ति से वंचित रहता है अतः उसे यह तत्त्व अज्ञात है। अज्ञात परमात्मतत्त्व ही सब का कारण है।।७।।** (वार्तिकसार का पाठ स्पष्टतर है। मिति अर्थात् प्रमिति से वंचित रहने के कारण बहिर्मुख व्यक्ति के लिये आत्मा अज्ञात है।) बहिर्मुख वह है जो पराक् को ही समझ पाता है, उसी को सत्य जानता है। सारा पराक् प्रपंच हटाने पर उसे लगता है कि कुछ नहीं रह गया। मैं-मात्र का स्फुरण उसे 'है' यों

---

[1] 'तत्त्वं विना मितिम्।' सारे पाठः।

विराडपि ततो जज्ञे त्रैलोक्यात्मकदेहवान्।
यथोक्तज्ञानकर्मभ्याम् एवं प्रत्यग् विराडभूत।।८।।
स एष परमोऽप्यात्मा कोशपञ्चकधारणात्।
संवृत्तः[1] पुरुषाकारः कामाऽविद्याद्युपप्लुतः।।६।।

स्वीकार नहीं होता। पराक् को व्यावृत्त करने का प्रधान उपाय विवेक है। राई और बारीक पत्थर वही अलग कर सकता है जिसमें राई और पत्थर का विवेक है। इसी प्रकार आत्मा-अनात्मा का विवेक स्पष्ट हो तभी पराक् अर्थात् अनात्मा से स्वतंत्र प्रत्यक् अर्थात् आत्मा को समझा जा सकता है। बहिर्मुखता रहते प्रत्यक् तत्त्व अज्ञात रहना ही है और अज्ञान से उपहित रहते वही वस्तु सारे जगत् का एकमात्र कारण है। माया का और माया के उन सब आकारों का जो कारणरूप से प्रतीत होते हैं, अधिष्ठाता वही अज्ञात चिन्मात्र है। माया-तत्कार्यों का अधिष्ठान आत्मा ही है। अतः चाहे संसार के अन्तर्वर्ती किसी कारण से कुछ उत्पन्न होता लगे और चाहे स्वयं माया, प्रकृति सभी चीज़ों का कारण लगे, मूलभूत कारण तो वह अधिष्ठान चित्तत्त्व ही है।।७।।

सर्वकारण होने से विराट् का भी वही कारण है यह बताते हैं **वेद में बतायी उपासना और कर्म के सफल अनुष्ठान से त्रिलोकीरूप शरीर वाला विराट् भी उसी अज्ञात परतत्त्व से पैदा हुआ। इस प्रकार प्रत्यक् ही विराट् हुआ।।८।।** विराट् बनने के लिये जो कर्म विहित हैं वे करने से और पूर्व में आये अश्वमेध ब्राह्मण के अनुसार उपासना करने से अगले कल्प में यथावसर विराट् बना जाता है। त्रिलोकी उसका शरीर होता है। जितने भी लोक समझे जा सकते हैं उनका त्रिलोकी में अंतर्भाव हो जाता है। भूर्लोक को मध्य मानकर ऊपर के और नीचे के सब लोक मिलाकर त्रिलोकी कही जाती है। वह सारी पैदा सदाशिव से ही होती है। अतः विराट् का कारण होने से वह प्रत्यगात्मा ही सर्वकारण निश्चित होता है।।८।।

आत्मा से सच्चिदानंद समझने पर उसे 'पुरुषविध' कैसे कहा यह बताते हैं **वह यह परमात्मा भी कामना अविद्या आदि से प्रभावित हुआ पाँचों कोशों को धारण करने के कारण पुरुष के आकार का हो गया।।६।।** 'वह' अर्थात् जो विराट् बना; 'यह' जो हृदयगुहा में प्रत्यग्रूप से विद्यमान अति नज़दीक है; ऐसा परम अर्थात् पारमार्थिक आत्मा भी कामनादि से अत्यधिक प्रभावित होने पर कोशों को अपने ऊपर ओढ़ लेने से कोश पुरुषाकार होने से स्वयं पुरुषाकार बन गया। कामना,

---

[1] संवृत इति पाठान्तरम्।

सोऽनुवीक्ष्याऽऽत्ममोहोत्थं वैराजं रूपमात्मनः।
नाऽपश्यदपरं किञ्चित् सोऽहमस्मीत्यथाऽभ्यधात्।।१०।।

अविद्या के साथ आये 'आदि' शब्द से कर्म समझने चाहिये। अविद्या-कामना-कर्म यह प्रसिद्ध क्रम होने पर भी संसरण में कामना की विशेष निमित्तता व्यक्त करने के लिये उसे पहले कह दिया। स्वयं वार्तिककार ने यहाँ (१.४. श्लो. ३२) यही क्रम कहा है। वहाँ आनंदगिरिस्वामी ने 'प्रत्यगाश्रयविषयाऽज्ञानाद् अविद्याऽस्मिताद्युपद्रवात्' व्याख्या की है। उसके अनुरोध से यहाँ भी अविद्या से कार्याऽविद्या का ग्रहण कर सकते हैं और कामना की कारणभूत मूलाविद्या पूर्व में सातवें श्लोक में कही जा चुकी होने से यहाँ मुखतः नहीं कही ऐसा भी मान सकते हैं। उपप्लुत अर्थात् अतिप्रभावित, मानो उसमें डूब गया हो या राहु द्वारा सूर्य की तरह ढक गया हो। यों आवृत होने पर ही उसने पाँचों कोश धारण किये अर्थात् वास्तव में धारण नहीं किये, अविद्यावश स्वयं को उन्हें धारण करने वाला समझ रहा है। पाँच कोश तैत्तिरीयोपनिषत् में प्रसिद्ध हैं अन्नमय अर्थात् स्थूल शरीर, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय। इन्हें भी श्रुति ने 'पुरुष' (तै.२.१), 'पुरुषविध' (तै.२.२ आदि) कहा है। वर्णन अन्नमय से प्रारंभ किया, वह स्पष्ट पुरुष (= मनुष्याकार) है, उसी में प्राणमय आदि भरे हैं अतः वे भी उसी आकार के हैं। उनसे तादात्म्य को प्राप्त है अतः आत्मा इन आकारों वाला प्रतीत होता है, भ्रम से समझा जाता है। अविद्या रहते कामना होने से किये कर्मों के फलस्वरूप स्थूल शरीर, अन्नमय कोष प्राप्त होता है। सूक्ष्म शरीर अर्थात् प्राण-मन-विज्ञानमय कोश सृष्टि के दौरान मोक्षपर्यंत बने रहते हैं। कारण शरीर, जिसे आनंदमय से एक भी समझा जाता है, अनादि मूलाविद्यारूप है और तत्त्वज्ञान से ही समाप्त होता है। विराट् यद्यपि व्यष्टि शरीरों को धारण नहीं कर रहा अर्थात् व्यष्टि में अभिमानी नहीं है, तथापि समष्टि शरीर जो उसे प्राप्त है वह भी उपासना-कर्मानुसार ही है और सभी पुरुषशरीरों का कारण होने से पुरुषविध है। इस प्रकार आत्मा विराट् अवस्था में पुरुषाकार है अतः श्रुति ने 'आत्मैव पुरुषविधः' कहा, यह वार्तिकानुसारी व्याख्यान का भाव है।।९।।

जगत्कारण की अद्वितीयता समझाने के उद्देश्य से श्रुति ने बताया है कि विराट् ने अनुवीक्षण, आलोचन, विचार किया कि 'मेरा क्या स्वरूप है, मेरे क्या गुण हैं?' विचार करने पर, अपने उस सर्वात्मक रूप से अतिरिक्त उसने और कुछ नहीं पाया, यही समझा कि 'मैं ही सर्वात्मा हूँ'। पूर्व जन्म में वेदादि सच्छास्त्रों का अध्ययन किया ही

अहमित्येव नामास्य सम्पन्नं तेन लौकिकाः।
तत्सृष्टाः[1] स्वं स्वमात्मानम् अहम् इत्यभिचक्षते।।११।।
कोशपञ्चकयुक्तस्य प्रत्यक्तत्त्वस्य नाम तत्।
विराजा कृतम् इत्येतत् सर्वसाधारणं मतम्।।१२।।
असाधारणदेहस्य तत्तत् पित्रादिना कृतम्।
देवदत्तादिकं नाम जघन्यं पूर्वनामतः।।१३।।
कस्त्वम् इत्येष पृष्टः सन्नादावहम् इति ब्रुवन्।
पश्चाज्जघन्यं नामेदं वक्ति जिज्ञासवे जनः।।१४।।

हुआ था, सत्कर्म-उपासना से चित्त अत्यन्त निर्मल था अतः अपने से अन्य कुछ न पाने पर विराट् को स्वतः यह बोध हुआ कि 'मैं ही सर्वात्मा हूँ' और उसने इसे 'अहमस्मि' ('मैं हूँ') कहकर व्यक्त किया। यों उसने अपना नाम 'अहम्' ('मैं') रख लिया जो फिर सभी व्यष्टि-अभिमानियों का भी साधारण नाम हो गया। इस बात को श्लोकों द्वारा समझाते हैं **आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न अपने विराट्-आकार के रूप का आलोचन कर उसने अपने से अन्य और कुछ नहीं देखा। तब उसने 'अहम् अस्मि' ('मैं हूँ') ऐसा कहा।।१०।। उसका 'अहम्' यही नाम पड़ गया। इसलिये उसके द्वारा उत्पादित संसारी लोग अपने आपको 'अहम्' ऐसा कहते हैं।।११।। पाँचों कोशों से परिच्छिन्न प्रत्यगात्मा का वह नाम विराट् ने रख दिया है यह सबकी समान मान्यता है।।१२।। अपने-अपने विशेष शरीर का उस-उस शरीर के पिता आदि द्वारा रखा देवदत्त आदि नाम पहले कहे 'अहम्'-नाम की अपेक्षा पश्चाद्भावी है।।१३।। 'तुम कौन?' ऐसा पूछा गया यह व्यष्टि-अभिमानी जीव पहले 'अहम्' ('मैं') कहते हुए बाद में इस पश्चाद्भावी नाम को उसे बताता है जो वह नाम जानना चाहता है।।१४।।** सब की अलग-अलग अभिव्यक्ति होने से पूर्व समष्टिरूप विराट् ही था, उससे अलग था ही कुछ नहीं तो विचार करने पर उसे अन्य कुछ प्रतीत भी नहीं हुआ। अतः उसने अपनी अद्वितीयता व्यक्त करने के लिये 'अहम्' कहा। इस प्रकार विराट् का नाम 'अहम्' पड़ गया। हम सब भी उससे उत्पन्न होने के कारण खुद को 'अहम्' कहते हैं, इसे अपना सहजसिद्ध नाम समझते हैं। पंचकोशों से युक्त प्रत्यगात्मा का 'अहम्' नाम है, समष्टि

---

[1] तत् पृष्टाः इति मद्रपाठः।

चिदेकरस आत्मैव कश्मले कोशपञ्चके।
एकतामभिसम्पन्नोऽहङ्कारोत्पत्तिमात्रतः[1]।।१५।।

कोशों से युक्त विराट् का और व्यष्टि कोशों से युक्त विश्व का, दोनों का यह नाम साधारण है। विराट् ने स्वयं यह अपना नाम रखा और विराट् का यह नाम होने से, पंचकोषयुक्त प्रत्यगात्मा का यह नाम विराट् द्वारा ही रखा होने से यह सबका एक जैसा नाम है। अहं का मतलब हो गया पंचकोषों से युक्त प्रत्यगात्मा। मनुष्य, कौवा आदि प्राणिमात्र का 'अहम्' नाम साधारण है। हर व्यष्टि शरीर का अपना-अपना भी नाम होता है। मनुष्यों में वह नाम पिता आदि रखते हैं। मुख्य पक्ष है कि ग्यारहवें दिन पिता बच्चे का नाम रखे। पिता ही क्यों? शुरू में 'अहम्' नाम भी पैदा करने वाले विराट् ने ही रखा इसलिये आगे के लिये यही परिपाटी स्थापित हो गयी। पिता उपस्थित न हो या ऐसी अन्य परिस्थितियों में माता आदि नाम रख देते हैं। किंतु ये विशेष नाम, जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त आदि, जघन्य अर्थात् बाद में पड़े नाम हैं क्योंकि इनसे पूर्व ही 'अहम्' यह नाम तो विराट् ने रख ही दिया है। बाद का इसलिये भी है कि किसी से पूछें 'तुम कौन हो?' तो वह पहले कहता है 'मैं', फिर बताता है 'देवदत्त' आदि। कई बार तो कोई दरवाज़ा खटखटाये और पूछो 'कौन?' तो केवल कहता है 'मैं'! ध्वनि से न समझने पर विशेष की जिज्ञासा करो 'मैं कौन?' तब अपना देवदत्त आदि नाम कहता है। अतः ये विशेष नाम जघन्य कहे गये हैं।।१०-१४।।

इस प्रसंग का अभिप्राय व्यक्त करते हैं **तारतम्यरहित ज्ञानरूप आत्मा ही केवल अहंकार की उत्पत्ति से दोषपूर्ण पाँचों कोशों से एकता को प्राप्त हो जाता है।।१५।।** (पाठान्तर में अर्थ है 'अभिमान के कारण सदोष कोशपंचक को मैं समझता है।) आत्मा का स्वरूप तो ज्ञान है, वह भी एकरस, एक-सा, घटा-बढ़ी से रहित ज्ञान, जिसे प्रायः ज्ञानघन या चिद्घन कहते हैं। पाँचों कोश कश्मल अर्थात् दोषपूर्ण हैं, अपवित्र हैं। फिर भी उनमें तादात्म्याध्यास करके आत्मा स्वयं को उनसे एक ही समझता है। उनसे एक हो तो सकता नहीं पर अध्यास से अभिमान कर लेता है। विराट् पैदा होकर कोशपंचक में अभिमान कर 'अहम्' भाव ले आता है। अहंकार की उत्पत्ति से ही यह एकता का अभिमान व्यक्त हो जाता है। श्रुति का अभिप्राय स्थिति की कष्टता व्यक्त करना है कि शुद्ध तत्त्व भी अभिमान से अशुद्धि वाला बना है यह कितनी दुर्भाग्य की बात है, जीव को इस अभिमान से छूटना चाहिये।।१५।।

---

[1] ...ऽहङ्करोत्यभिमानतः इति पाठान्तरम्।

बहवोऽतीतकल्पेऽन्य आसन् यद्यप्युपासकाः ।
तथापि भावनाधिक्याद् एक एव विराड् अभूत् । ।१६ । ।
निःशेषेणासुरं पापं[1] दग्धवान् बहुजन्मभिः ।
ततो विराडभूद् अन्योऽप्येवं दग्ध्वा भवेद् विराट् । ।१७ । ।

इतने वर्णन के बाद श्रुति ने बताया है 'स यत् पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्मात् पुरुषः । ओषति ह वै स तं योऽस्मात् पूर्वो बुभूषति य एवं वेद' अर्थात् पूर्व भव में साधना करने वालों में से जिसने सबसे पहले अपने पाप जला डाले थे वही साधना की सफलता पर विराट् बनकर 'पुरुष' कहलाया। विराट् की इस पुरुषता का उपासक उन सबको जला डालता है जो उससे पहले विराट् बनना चाहते हैं। इसका विवरण करते हैं **यद्यपि बीते कल्प में और भी बहुत-से उपासक थे तथापि भावना के प्राचुर्य के कारण उनमें से एक ही इस कल्प में विराट् बना। ।१६ । । अनेक जन्मों में की साधना से आसुर पाप को पूरी तरह जला चुका, तब विराट् बना। अन्य भी साधक इसी तरह पाप जलाकर विराट् बन सकता है । ।१७ । ।** बीते कल्प अर्थात् पूर्व में हुए अनंत कल्प, उनमें विराट् बनने की इच्छा से कर्म व उपासना करने वाले भी असंख्य हुए किंतु हर बार सृष्टि होने पर विराट् तो कोई एक ही बनेगा! अतः जिसकी भावना, उपासना सबसे ज़्यादा अधिक होती है, जो विराट् बनने में प्रतिबंधक पापों को सबसे पहले जला डालता है उसे ही यह पद मिल पाता है। लोक में भी सर्वश्रेष्ठ अभ्यर्थी ही पद पाता देखा जाता है, यही न्याय यहाँ है। एक कल्प में विराट् एक ही होता है अतः कोशिश करने वालों में से जिसकी सबसे ज़्यादा भावना होती है, उसे ही परमेश्वर विराट् पद दे देते हैं। साधक भावना बढ़ाने का ही प्रयास करेयह सावधान करने का तात्पर्य है। स्वर्गादि में तो देवतादि अनेक होते हैं अतः वहाँ तो बड़े-छोटे देवता बनाकर अनेकों को स्थान दिया जा सकता है परंतु विराट् तो एक ही होता है अतः एक ही साधक उस स्थिति को पा सकता है। पाप 'आसुर' हैं, असुर-सम्बन्धी हैं। अतः भगवान् ने इन्हें आसुरी सम्पत् में गिना है। पापशीलता ही असुरता है। विराट् बनने के लिये पहले पाप जलाने पड़ेंगे। विराट् जैसा सर्वसमर्थ पद परमेश्वर आसुरी वृत्ति वालों को नहीं देते। लोक में भी प्रयास रहता है कि विस्तृत अधिकारों वाले पद पर पापकारी को नियुक्त न किया जाये। पाप एकत्र

---

[1] भावम् इति पाठान्तरम्।

'सोऽबिभेद्'

दग्धपापोऽप्यनात्मज्ञो देहादावभ्यमन्यत ।
ततः स्वनाशमाशङ्क्य सोऽबिभेद् अस्मदादिवत् ।।१८ ।।
स्रज्यहिं कल्पयित्वाऽऽस्ते तद्भयाद् आकुलेन्द्रियः ।
एवं नश्वरदेहादि प्रतीच्यारोप्य कम्पते ।।१९ ।।

भी अनेक जन्मों में हुए हैं अतः इन्हें दूर करने के लिये भी अनेक जन्मों का प्रयास चाहिये। सभी पाप तो केवल परमार्थबोध से जलेंगे किन्तु विराट् बनने में रुकावट डालने वाले पाप अनेक जन्मों तक की साधना से जलाये जा सकते हैं और उनके जलने पर ही विराट् बना जा सकता है। यह केवल जो विराट् बन चुका उसी की बात नहीं, आगे भी जो विराट् बनना चाहे उसके लिये भी यही नियम है।।१६-७।।

द्वितीय कण्डिका में कहा है 'सोऽबिभेत्। तस्माद् एकाकी बिभेति। स हाऽयमीक्षांचक्रे यद् मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमि? इति। तत एवाऽस्य भयं वीयाय। कस्माद्ध्यभेष्यद्! द्वितीयाद् वै भयं भवति।' अर्थात् वह विराट् डर गया! इसीलिये आज भी व्यक्ति अकेला होने पर डर जाता है। उसने विचार किया 'मुझसे भिन्न कुछ है नहीं तो किससे डर रहा हूँ?' इस यथार्थ बोध से उसका डर मिट गया। वह किससे डरता! उसका डरना युक्तिसंगत नहीं था। कोई दूसरा हो तो ही उससे डर लगता है, जब कोई दूसरा था नहीं तब डर अनुपपन्न था। इकतीसवें श्लोक तक इसकी व्याख्या करेंगे।

विराट् का वर्णन वैराग्योत्पादनार्थ है यह स्पष्ट करते हुए विराट् में पहले भय फिर अरति का वर्णन करते हैं **पाप जला चुकने पर भी आत्मा की यथार्थता नहीं जानता था अतः शरीरादि (कोशों) में अभिमान कर बैठा फिर अपने नाश की आशंका कर वह हमारी तरह ही डर गया।।१८।। माला में साँप कल्पित कर व्यक्ति उसके डर से व्याकुल इंद्रियों वाला हो जाता है। इसी तरह विनाशशील शरीरादि को प्रत्यगात्मा पर आरोपित कर (नाश के भय से) काँपने लगता है।।१९।।** विराट् बनने की कोशिश वाले उपासक ने पाप तो जला लिये पर परमात्म-साक्षात्कार पाया नहीं अतः उस अज्ञान के रहते जैसे ही उसे समष्टि स्थूलादि शरीर मिले, उसने उनमें अभिमान कर लिया कि ये ही मैं हूँ! पाप समाप्त होने मात्र से देहाध्यास नहीं छूटता। शरीरादि में अभिमान होने पर विराट् को नाश का भय हुआ क्योंकि शरीरादि नश्वर हैं, उन्हें अपना रूप समझने वाला उनके नाश को अपना नाश

आलोचयेत् स्रजस्तत्त्वं भीतिध्वस्त्यै यथा नरः।
विराडालोचयत् तद्वत् प्रतीचस्तत्त्वमादरात्।।२०।

समझता है। हम लोग भी शरीरादि के नाश पीडा आदि से ही डरते हैं, ऐसे ही विराट् डरा। भ्रमवश भय में दृष्टांत प्रसिद्ध है : मंदान्धकार में पड़ी माला को हमने साँप समझ लिया तो उससे हमें डर लगता है। वह साँप हमारे द्वारा कल्पित ही है, वहाँ वास्तव में साँप है ही नहीं, केवल माला है, फिर भी हम उससे डरते हैं, हमारी सब इंद्रियाँ आकुल-व्याकुल हो जाती हैं। ऐसे ही विराट् है तो प्रत्यगात्मस्वरूप, एकमात्र चेतन के सिवाय कुछ नहीं है, लेकिन त्रिलोकीरूप शरीर को स्वयं पर आरोपित कर लेने से उनके नाश की संभावना से स्वयं त्रस्त हो गया। समष्टि शरीर कल्पपर्यन्त रहने से हमें भले ही अजर-अमर लगें पर हैं तो नाशवान् ही। कई कीट-पतंगों की कुछ घंटों की ही आयु है। मानव के सौ वर्षों में तो उन कीटादि की असंख्य पीढ़ियाँ बीत जाती हैं। उनकी दृष्टि से मानव शरीर ही अमर लगेगा, पर है नहीं। ऐसे ही हमें स्थायी लगने पर भी विराट् शरीर स्थायी है नहीं। विराट् तो अपनी दृष्टि से देख रहा था अतः उसे नाश की संभावना हुई और भय लगा। भय से काँपना हम लोगों में प्रत्यक्ष है, उससे विराट् में भी भय होने पर कम्प हुआ होगा यह कल्पना होती है।।१८-९।।

विराट् का भय कैसे मिटा यह बताते हैं **जैसे मनुष्य भय मिटाने के लिये (अधिष्ठानभूत) माला की वास्तविकता को जानता है (तभी भय दूर होता है) उसी प्रकार विराट् ने प्रत्यगात्मा की वास्तविकता का गंभीरता से विचार किया।।२०।।** भयनिवृत्ति का उपाय तत्त्वज्ञान है क्योंकि भयहेतु अज्ञान व उसके कारण हुआ भ्रम है। वास्तविक भयहेतु होता तो उसकी निवृत्ति उपायान्तर से भी होती पर क्योंकि भय का कारण भ्रमसिद्ध है इसलिये इसको दूर करने का एक ही उपाय है अधिष्ठान की प्रमा। यह माला है इसके बारे में जो अज्ञान है, जब वह दूर हो जाता है तब उससे पैदा हुए सर्पका भय भी हट जाता है। इसी प्रकार विराट् ने भय का अनुभव करने पर विचार किया क्योंकि उसकी उपाधि अतिसात्त्विक है और सत्त्वगुण स्वभावतः ज्ञान में प्रेरित करता है। अपने से अन्य और कुछ नहीं है यह तो वह पहले ही समझ चुका था। भय होने पर विचार जगना ही उचित था कि 'किससे डर रहा हूँ?' अन्य कुछ न होने से अपने ही बारे में उसने विचार किया तो पूर्व जन्मों के संस्कारों के अनुसार उसे प्रत्यगात्मा का पता चल गया।।२०।।

आलोचन अर्थात् विचार ही तत्त्वज्ञान का उपाय है। जगह-जगह भाष्यकारादि

[1]आलोचयन् यथातत्त्वम् अपास्तध्वान्ततद्भयम्।
अनन्यानुभवं साक्षाद् ददर्शैकात्म्यम् आत्मनि।।२१।।

आचार्यों ने क्या-कैसे विचारना चाहिये यह साफ़ समझाया है। 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' आदि श्रुतियों में यह निर्देश है ही। विराट् के भी विचार का फल ज्ञान हुआ यह व्यक्त करते हैं **प्रत्यक् तत्त्व जैसा है वैसा ही उसे समझने के लिये विचार करते हुए विराट् ने अपने आत्मा में अद्वितीय-स्वरूपता का अपरोक्ष अनुभव प्राप्त किया। उस स्वरूप में अज्ञान और उसके फलस्वरूप होने वाला भय, दोनों नहीं हैं और वह स्वप्रकाश है, खुद ही भासमान है, उसकी जानकारी किसी अन्य पर निर्भर नहीं।।२१।।** (पाठान्तर में भाव है कि विचार किया गया आत्मतत्त्व अज्ञानरहित अर्थात् निरावृत हो जाता है। इस विषय में 'अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव' आदि सुन्दरपाण्ड्य-कारिका अनुकूल है। वार्तिक में (१.४.६१) 'आलोचयन् यथातत्त्वम् अपास्तध्वान्ततद्भवम्' पाठ है। 'तद्भव' अर्थात् उसका, अज्ञान का कार्य; अज्ञान व उसका कार्य जिससे हट चुका है उसका दर्शन किया यह अर्थ है।)

यथातत्त्व आलोचन ही कर्तव्य है। जैसा वह तत्त्व नहीं है वैसा तो उसे अभी ही समझ रहे हैं! सारा सांसारिक विचार, अनुसन्धान आत्मा के अयथावत् रूप को ही विषय कर रहा है जो भय आदि का ही हेतु बनता जा रहा है। इससे कभी कल्याण, भयनिवृत्ति नहीं हो सकती। ग़लत ज्ञान से स्थायी हित संभव नहीं। विराट् ने आत्मा का विचार उसकी यथार्थता समझने के लिये किया। इसके लिये विषयविरक्ति चाहिये। हम प्रायः विषयसुख पाने के लिये ही विचार में प्रवृत्त होते हैं अतः या स्पष्ट ही अनात्मा के बारे में सोचते हैं या आत्मा के भी कर्त्ता-भोक्ता रूप को ही सोचते हैं जिससे अज्ञान-तत्कार्य भयादि की वृद्धि ही होती है, निवृत्ति नहीं। विराट् के सामने विषय तो थे नहीं, सात्त्विक उपाधि होने से विषयासक्ति भी नहीं थी, अतः सचाई जानने के लिये ही उसने यथाशास्त्र विचार किया। 'यथातत्त्व' अर्थात् जैसी वस्तु है वैसा उसे समझना यही ज्ञान है। ज्ञान विषयाधीन बताया गया है। क्रिया तो कर्ता के अधीन है, उसमें कर्ता स्वतंत्र है, पर ज्ञान विषय के परतंत्र है क्योंकि विषयानुसारी न होने पर वह अज्ञान ही रह जाता है, ज्ञान हो ही नहीं पाता। लौकिक ज्ञान भी विषयानुरूप होने पर ही ज्ञान माने जाते हैं, अन्यथा भ्रम कहलाते हैं। बहिर्मुख

---

१. आलोचितं यथा तत्त्वमपास्तध्वान्तवद्भवेत्-इति पाठान्तरम्।

व्यक्ति तो डर का हेतु बाहर ही कल्पित करता चला जाता, उसे ही विचार मान लेता जबकि होता वह दिवास्वप्न ही, किंतु विराट् ने अंतर्मुख होने के कारण भीतर की ओर ही दृष्टि की। बाहर तो अन्य कुछ है नहीं यह पहले ही वह समझ चुका था अतः डर का हेतु अपने में ही देखना संगत भी था और सात्त्विक होने से उसके लिये स्वाभाविक भी था। इससे अन्य साधकों को भी निर्देश है कि भयादि विक्षोभों को दूर करने के लिये आत्मालोचन ही करें। सांसारिक प्रगति के लिये बाहरी वस्तु- व्यक्ति-परिस्थितियों का आलोचन आवश्यक है पर साधक क्योंकि बाहरी प्रगति के प्रति रुचि नहीं रखता इसलिये उसे उस ओर सोचने में नहीं जाकर अपने ही बारे में सचाई पता लगानी चाहिये, तभी क्षोभ का निवारण होगा। विराट् ने आत्मा में एकात्मता देखी। एकात्मता का अभिप्राय है अद्वितीयता। आत्मा अद्वितीय है अर्थात् स्वगत, सजातीय, विजातीय तीनों तरह के भेदों से रहित है। अज्ञानदशा में उसे हम सद्वितीय समझकर भयादि से त्रस्त हैं, उसकी स्वरूपभूत अद्वितीयता समझने पर वे भयादि निवृत्त हो जाते हैं। वह एकात्मता ही अज्ञान-तत्कार्य से रहित व स्वप्रकाश है और आत्मा का स्वरूप है। अतः जो एकात्मता, अद्वितीयता देखी वह आत्मा से पृथक् नहीं, उसका स्वरूप ही है। फिर 'आत्मा में' देखी ऐसा क्यों कहा? यह समझाने के लिये कि आत्मा के बारे में ही उसे ज्ञान हुआ कि वह अद्वितीय है। यह ज्ञान अन्य किसी के बारे में नहीं था, अपने ही बारे में था, इसे व्यक्त करने के लिये 'आत्मा में' ऐसा कहा। जैसे सर्पादि भ्रमसिद्ध पदार्थ रस्सी आदि अधिष्ठान में तादात्म्येन कभी भी नहीं होते, ऐसे अज्ञान-तत्कार्य प्रत्यगात्मा में सचमुच कभी भी नहीं है। उनकी प्रतीतिमात्र है जो आत्मा की सही समझ होने पर दूर हो जाती है। अद्वितीय आत्मस्वरूप स्वप्रकाश है, उसका किसी अन्य को अनुभव नहीं, क्योंकि कोई अन्य है ही नहीं! और जो कल्पित अन्य हैं वे जड होने से अनुभव में अक्षम हैं। अपने अपरोक्ष व्यवहार के योग्य किंतु अविषय वस्तु स्वप्रकाश कही जाती है। आत्मा की निरुपाधिक स्थिति ऐसी ही है। सोपाधिक दशा में तो बुद्धिवृत्ति आदि की ज़रूरत रहती है पर उपाधिरहित परमार्थ में कुछ नहीं चाहिये रहता। इस स्थिति को विराट् ने पा लिया।।२१।।

आलोचना से होने वाला तत्त्वज्ञान अभिलषित स्थिति का हेतु है अतः जीव के लिये योग्य है कि वह उसे प्राप्त करे यह समझाते हैं **प्रत्यगात्मा की वास्तविकता का साक्षात्कार मानो वह आग है जिससे संसारहेतुभूत महत्त्वपूर्ण अज्ञानान्धकार जल जाता, नष्ट हो जाता है। विराट् को उसी ज्ञान से सारे पुरुषार्थ प्राप्त हो**

प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानशिखिप्लुष्टमहातमाः[1]।।
आप्ताऽशेषपुमर्थोऽयं[2] सोऽमन्यत ततो विराट्।।२२।।
देहेन्द्रियमनोबुद्धि-भावाऽभावादिसाक्षिणः।
प्रतीचोऽन्यत् किमप्यत्र नास्ति कस्माद् बिभेम्यहम्।।२३।।

गये। तदनंतर उसने विचार किया।।२२।। आत्मतत्त्व के प्रमाभूत अनुभव से जिसका अज्ञान मिट चुका था उस विराट् को सकल पुरुषार्थ मिल गये क्योंकि उस ज्ञान का प्रभाव ही ऐसा है। (पाठांतर में अर्थ है कि सकल पुरुषार्थ अर्थात् परम पुरुषार्थ वह आत्मा ही है जिसका अज्ञान दूर हो चुका। अविद्यानिवृत्ति से उपलक्षित चेतन ही मोक्ष का स्वरूप बताया गया है।) अज्ञान को भी तम कहते हैं, अँधेरे को भी तम कहते हैं। अँधेरा आग से मिटता है, अज्ञान ज्ञान से मिटता है अतः ज्ञान को आग से उपमित किया जाता है। गीता में (४.३७) भी ऐसा वर्णन है। अज्ञान महान् एक तो इसलिये है कि दृढ बंधन का हेतु है और दूसरा इसलिये कि वह महान् आत्मवस्तु से सम्बद्ध है, उसी को व उसी के बारे में है। अपनी, आत्मा की महान्-ता का, व्यापकता का अज्ञान ही महान् तम या अज्ञान है जिसे अपने अखण्ड स्वरूप के साक्षात्कार से निरस्त करना है। इससे जो निरज्ञान आत्मा रह जाता है वह मोक्षरूप है। पुरुष जिसे चाहे वह पुरुषार्थ है। धर्म-अर्थ-काम भी पुरुषार्थ हैं लेकिन सशेष हैं, इन्हें पाकर भी कुछ-न-कुछ पाने लायक, चाहने लायक रहता ही है। मोक्ष ही अशेष पुरुषार्थ है, उसे पाकर कुछ भी पाने लायक रह नहीं जाता। पूरी कृतकृत्यता, ज्ञातज्ञातव्यता, धन्यता मोक्ष में सिद्ध हो जाती है।।२२।।

उसने क्या विचार किया, यह बताते हैं **शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि के होने-न होने के साक्षी प्रत्यगात्मा से अन्य यहाँ कुछ भी नहीं है तो मैं किससे डर रहा हूँ!।।२३।।** भय शरीरादि के तादात्म्य से ही लगता है क्योंकि इन्हीं की हानि संभव है। जब स्वयं को इनसे सर्वथा अलग समझ लिया तब डर संभव नहीं रहता। इनसे अलग समझने का तरीका यह पहचानना ही है कि इनके होने को भी मैं जानता हूँ और इनके न होने को भी मैं जानता हूँ। यदि मैं देहादिरूप होता तो न इन्हें जानता और इनके न होने पर तो मैं होता ही नहीं कि इनके न होने को जान सकता। साक्षी उससे अलग होता है जिसका वह साक्षी है। देहादि और उनका न होना, दोनों का मैं साक्षी हूँ अतः दोनों से

---

[1] शिखाप्लुष्ट इति पाठान्तरम्।
[2] आत्माऽशेष इति पाठान्तरम्।

अहं ब्रह्मास्मि

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्वमात्मानं यदा पुमान्।
प्रतीच्येवानुसन्धत्ते ब्रह्मास्मीति तदेक्षते।।२४।।
प्रत्यग्दृष्ट्या तदज्ञानं न तज्जं चेक्षते स्वतः।
ब्रह्मप्रतीचोरैकात्म्यात् तद् ऊरीकृत्य[1] गर्जति।।२५।।

पृथक् हूँ। देहादि का अभाव सुषुप्ति में साक्ष्यकोटि का रहता है अतः उसका भी साक्षी मैं ही निर्णीत होता हूँ। 'अत्र', 'यहाँ' अर्थात् तत्त्वज्ञान की स्थिति में। अथवा विराट् की दशा में; विराट् सर्वरूप होने से उस दशा में उससे भिन्न कुछ नहीं तो भयहेतु की संभावना ही नहीं। अपने आप से डर नहीं लग सकता। भ्रम से भले ही लगे; अपनी ही छाया से कदाचित् भय हो जाता है पर तभी तक जब तक उसे कोई स्वतंत्र वस्तु समझें। जैसे ही वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है कि छाया मुझसे स्वतंत्र कुछ नहीं, वैसे ही भय समाप्त हो जाता है। साक्षी को भी जब अपनी अद्वितीयता एवं देहादिसाक्षिता पता चल गयी वैसे ही उसे समझ आ गया कि उसे डराने वाला कुछ नहीं, कोई कारण नहीं कि वह डरे।।२३।।

विराट् का अनुभव सभी ब्रह्मवेत्ताओं के लिये एक-सा है यह बताते हैं **जब पुरुष प्रत्यगात्मा के बारे में अनुसन्धान करता है तब अन्वय-व्यतिरेक द्वारा अपने आपको 'मैं ब्रह्म हूँ' समझ लेता है।।२४।। प्रत्यग्रूप दृष्टि ही रह जाने पर प्रत्यक्सम्बन्धी अज्ञान और उस अज्ञान का कार्य विद्वान् नहीं देखता क्योंकि वह स्वयं ही बचा है, अज्ञानादि कुछ रहा नहीं। क्योंकि ब्रह्म व प्रत्यक्, स्वरूपतः एक हैं इसलिये उस एकता को स्वीकार कर विद्वान् गर्जना करता है (कि 'किससे डरूँ!')।।२५।।** अपने स्वरूप के निर्धारण के लिये विचार का तरीका अन्वय-व्यतिरेक का है। अन्वय अर्थात् एक जैसा बने रहना और व्यतिरेक अर्थात् आते-जाते रहना। जो हमेशा एक-सा रहे उसका अन्वय कहा जाता है, जो कभी हो, कभी न हो उसका व्यतिरेक कहा जाता है। लोक में भी तत्त्वनिर्धारण का यही प्रकार है : सर्वत्र, सब अवस्थाओं में जल में जो समान रहे उसे जल का स्वरूप मानते हैं, बाकी खनिजादि जो किसी जल में मिलें, किसी में न मिलें अर्थात् जिनका व्यतिरेक मिले उन्हें जल का स्वरूप नहीं मानते। देहेन्द्रियादि सभी का व्यतिरेक होता है। जाग्रत् में सब हैं, स्वप्न में

---

[1] दूरी कृत्येति पाठान्तरम्।

शरीर-इंद्रियाँ नहीं, सुषुप्ति में मन-बुद्धि भी नहीं, अतः ये सब व्यतिरेकी हैं। ज्ञानरूप प्रत्यगात्मा साक्षी सर्वदा समान रहता है अतः उसका अन्वय है। मैं अपने को देहादि से एकमेक कर जानता हूँ पर अन्वय-व्यतिरेक से समझ आ जाता है कि मैं देहादिरूप सर्वथा नहीं हूँ, केवल ज्ञानरूप हूँ। अनुसंधान, विचार प्रत्यगात्मा के बारे में ही करना है, बाहरी, पराक् वस्तुओं के विचार से यह मोक्षप्रद बोध होगा नहीं। अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक अनुसंधान ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह तत्त्वज्ञान देता है। सपने से उठकर जैसे पता चलता है कि 'मैं अकेला ही हूँ, बाकी जो कुछ दीख रहा था वह था ही नहीं', वैसे ही आत्मज्ञान होने पर संसार के बारे में निश्चय हो जाता है कि यह है ही नहीं। अविचारशील तो सपने की भी कुछ-न-कुछ सत्यता मानता है! विचारशील को ऐसा भ्रम नहीं होता। आत्मा के बारे में भी विचार न करने तक संसार सत्य ही लगता है पर आत्मज्ञान होने पर यह सर्वथा असत्य निश्चित हो जाता है। सपने से उठकर विचार तो फिर सरल है पर संसार की असत्यता का विचार कठिन है जब तक इस स्वप्न से उठते नहीं अर्थात् आत्मसाक्षात्कार नहीं प्राप्त करते। मुझ प्रत्यगात्मा के रहते ही देहादि सब आते-जाते हैं यह विचार ही जगने का तरीका है। यह जगना विराट् के लिये सरल था क्योंकि वहाँ उससे अन्य कुछ प्रतीयमान था ही नहीं। हमारे लिये यह विचार कठिन है क्योंकि हम परिच्छिन्न हैं, अपने से अलग संसार देख रहे हैं। उसे जैसे 'मुझसे अन्य कुछ नहीं है' पता चल गया, वैसे हमें पता चले यह कठिन साधना से ही संभव है। उसने वैसी कठिन साधना पूर्वभव में कर ली थी अतः उसके लिये वह सरल था। किंतु तत्त्वज्ञान एक ही है 'मैं ब्रह्म हूँ', विराट् को हो या शुकादि को, ज्ञान समान ही होता है।।२४।।

(प्रत्यग्दृष्ट्या आदि श्लोक वार्तिक में (१.४.६५) भी है 'प्रत्यग्दृष्ट्या तदज्ञानतज्जं नैवेक्षते स्वतः। ब्रह्मप्रतीचोरैकात्म्यात्तदूरीकृत्य गर्जति।।' वार्तिकसार में भी 'तदूरीकृत्य' पाठ है। अनुभूतिप्रकाश की पुस्तकों में 'तद्दूरीकृत्य' ही पाठ उपलब्ध है जिसका अर्थ है 'उस अज्ञान को हटा कर', किन्तु वार्तिक और सार दोनों पाठों के अनुरोध से यहाँ अनुभूतिप्रकाश में भी 'ऊरीकृत्य' ऐसा पाठ रख दिया है।) बहिर्दृष्टि से अज्ञान और उसका कार्य जगत् हैं ही, लेकिन प्रत्यगृदृष्टि से अर्थात् जो दृष्टि प्रत्यगात्मा के यथार्थ को देख रही है उस दृष्टि से न अज्ञान है न उसका कार्य। जैसे माला देखने वाली दृष्टि से साँप नहीं वैसे प्रत्यग्दृष्टि से अविद्या नहीं। प्रत्यग् और ब्रह्म अर्थात् साक्षी और भूमा एक ही हैं। ऐसा नहीं कि कुछ करके एक होंगे, वरन् हैं ही एक। साक्षी में चिदाभास द्वारा देहादि से तादात्म्य दीखने पर भी वस्तुतः कोई अंतर नहीं

प्रत्यक्ता ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मता चात्मनः स्वतः।
एवं सति कुतो मे भीरिति विद्वांस्त्रपायते।।२६।।

आता, वास्तव में वह परब्रह्मरूप ही है। इस स्वाभाविक एकता को निःसंदिग्ध हो हृदय से स्वीकार लेने पर विद्वान् की गर्जना होती है कि दूसरा है ही नहीं तो डरना किससे!।।२५।।

तत्त्वज्ञान होने पर ही भयनिवृत्ति होती हो, ऐसा नहीं क्योंकि तब पता यह चलता है कि जब भय लग रहा था तब भी वस्तुतः वह था नहीं! अतः सत्य को जानने पर पूर्वस्थिति लज्जास्पद ही लगती है कि मैंने कैसी ग़लती की! यह बताते हैं **प्रत्यक्ता ब्रह्म का रूप है और प्रत्यगात्मा की ब्रह्मता स्वाभाविक है। यह परिस्थिति होने पर मुझे भय क्यों हुआ! इस तरह विद्वान् को लज्जा आती है।।२६।।** प्रत्यक्ता अर्थात् बिना विषय हुए भासना, यह ब्रह्म का ही स्वरूप है। अभी हमें परिच्छिन्न आत्मा में ही प्रत्यक्ता लगती है, ब्रह्म को परोक्ष (मैं से अलग) समझते हैं। अन्वय-व्यतिरेक से और शास्त्र के अनुसंधान से समझ आता है कि प्रत्यक्ता परमात्मा का स्वरूप ही है, ब्रह्म भासमान भी है, अविषय भी है। इसी प्रकार प्रत्यक् अर्थात् साक्षी स्वभाव से ही ब्रह्म अर्थात् व्यापक, अपरिच्छिन्न, भूमा है। साक्षी को परिच्छिन्न तो साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जाता है, स्वतः उसे ससीम नहीं समझ सकते जैसे आकाश को उपाधि-परामर्श के बिना सीमित नहीं समझ सकते। घट, कमरा आदि उपाधियों की दृष्टि से तो आकाश सीमित है लेकिन स्वतः, उपाधियों के बिना वह असीम ही है। देहादि उपाधियों के कारण इसी तरह प्रत्यक् तत्त्व भी अब्रह्म, अव्यापक प्रतीत हो रहा है, उपाधिदृष्टि छूट जाने पर वह अव्यापकता निरस्त हो जाती है, स्वाभाविक पूर्णता, ब्रह्मता ही रह जाती है। इस प्रकार ब्रह्म की प्रत्यक्ता व प्रत्यक् की ब्रह्मता को जानता हुआ विद्वान् लज्जित ही हो सकता है कि ऐसी स्पष्ट सत्यता को न पहचानकर मैं भयभीत रहा! यह केवल समझाने का तरीका है, क्योंकि लज्जा दूसरा संमुख हो तभी आती है, कोई और है ही नहीं तो जैसे भय संभव नहीं वैसे लज्जा भी संभव नहीं। फिर भी ऐसा इसलिये कहा कि साधक को पता चले कि द्वैत में आग्रह रखते हुए वह कैसा लज्जास्पद कार्य कर रहा है।।२६।।

आत्मा-परमात्मा के अभेद का निश्चय जो व्यापक प्रत्यगात्मा का ज्ञान वही भय आदि संसारबंधन का निवर्तक है, उसी से विराट् की भी निर्भयता संपन्न हुई यह कहते हैं **ब्रह्मविद्या से अन्य कुछ नहीं है जो हेतुसहित भय का विनाश करे। इसलिये इस**

ब्रह्मविद्याम् ऋते नान्यद् भयहेतुविनाशकृत् ।
अतोऽवबोधाद् एवाऽस्य भयं वीयाय सर्वतः । ।२७ । ।
कस्माद् अभेष्यद् ईशोऽयं द्वितीयात् खलु तद् भयम् ।
द्वितीयो नेश्वरस्याऽस्ति ततो निर्भय एव सः । ।२८ । ।

विराट् का भय आत्मा की अवगति से ही पूरी तरह दूर हुआ । ।२७ । । यह प्रभु किससे डरता! वह भय दूसरे से ही होता है। ईश्वर से दूसरा कोई है नहीं अतः वह निर्भय ही है । ।२८ । । भय का तो समय-समय पर निवारण होता रहता है लेकिन उसका कारण द्वैतबुद्धि बनी रहने से पुनरपि भय उत्पन्न होता रहता है। आत्मतत्त्व का साक्षात्कार भय के उस कारण को ही हटा देता है अतः फिर भय संभव नहीं रह जाता। 'मुझसे अन्य कोई या कुछ है' यह प्रतीति रहते ही उस अन्य से भय हो सकता है। जब 'अन्य कोई है ही नहीं' यह पता रहता है तब भय असंभव होता है। द्वैतदर्शन ही भय का मूल कारण है। देश-काल-वस्तु, कुछ भी परमात्मा से भिन्न नहीं यह समझ आते ही विराट् का भय पूर्णतः निवृत्त हो गया। अन्य भी जो ऐसा जान जाता है उसका भय भी समाप्त हो जाता है। विराट् वस्तुतः ईश्वर ही था क्योंकि स्थूल उपाधि वाले ईश्वर को ही विराट् कहते हैं फिर भी 'ईश्वर से भिन्न कुछ है' यह जो द्वितीयता का ग़लत ज्ञान था उसी के कारण उसे भय हुआ। अपनी व्यापकता का ज्ञान जब नहीं रहता तभी अपने से दूसरा कुछ दीखता है। दूसरा-पन ही व्यवहार में भी महान् अंतर ला देता है। मारवाड़ का एक व्यापारी बर्मा जाकर वाणिज्य करने लगा। पुराने समय की बात है, यातायात अत्यंत धीमा था, अतः व्यापार को छोड़कर घर नहीं जा पाता था। उसकी पत्नी बार-बार उसे घर आने को लिखती थी तो वह उसे उत्तर देता कि वही बर्मा चली आये क्योंकि कारोबार छोड़ना संभव नहीं। यों होते-होते ग्यारह-बारह वर्ष बीत गये। एक बार उसे जँचा कि मुनीम के भरोसे काम छोड़कर घर होकर आये। उसी समय उसकी पत्नी को जँचा कि बच्चा ग्यारह साल का हो गया है, उसे साथ लेकर वही बर्मा चली जाये! भगवान् की ऐसी लीला हुई कि दोनों साथ ही कलकत्ता पहुँचे और एक ही धर्मशाला में ठहरे। यात्रादि के कारण वह बालक अत्यंत बीमार हो गया, उदरविकार से पीडित हो गया। उसे दस्त व उल्टी होने लगे। कमरे से पैखाने तक जाने में भी अक्षम हो गया, कमरे में ही मल त्यागने लगा, माँ साफ करती थी, यथासंभव उपचार का प्रयास कर रही थी। बगल के कमरे में व्यापारी ने यह देखा तो सोचा कि वह कोई हैजाग्रस्त रोगी है और हैजा संक्रामक रोग है ही। पहले उसने उन माँ-बेटे को धमकाया कि कमरा न गंदा करें फिर धर्मशाला

के व्यवस्थापक से शिकायत की। व्यवस्थापक ने समझाया कि छोटे बच्चे के साथ अकेली औरत है, मुसीबत में है, उसे धर्मशाला से कैसे निकाला जाये; पर व्यापारी ने उसे उस ज़माने में पचास रुपये का लालच देकर रात को ही उन्हें धर्मशाला से बलात् निकलवा दिया। सुबह होते-होते बच्चा सड़क पर, फुटपाथ पर ही मर गया! मारवाड़ में रिवाज़ है कि किसी के मरने पर उसकी वंशपरंपरा का नाम लेकर ऊँची आवाज़ में रोते हैं। वह औरत भी बालक के पिता दादा आदि का उल्लेखकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। धर्मशाला में वह व्यापारी तब तक जग चुका था, उसने आवाज़ सुनी। गाँव का नाम, पिता-भाई आदि का नाम सुनकर वह घबराकर नीचे आया। ग्यारह-बारह साल बीत चुके थे, औरत के मुँह पर घूँघट भी था अतः पहचान तो सकता नहीं था, उसने औरत से पूछा 'तू कौन है?' अपने देश की भाषा में प्रश्न सुनकर वह भी परिचय देने लगी। व्यापारी ने हतप्रभ होकर औरत का नाम लेकर पूछा 'तू अमुक है?' औरत ने हामी भरी, घूँघट के कोने से आदमी का मुँह देखकर उसे पहचाना और पैड़ पर गयी। जिस व्यापारी ने रात में पचास रुपये देकर उन्हें धर्मशाला से निकलवाया था क्योंकि वह उन्हें अपने से भिन्न समझ रहा था, उसे ही जब पता चला कि वे उसी के पत्नी-पुत्र हैं, कोई और नहीं हैं, तब वह भयंकर दुःख से पीडित हो गया। रात में यही ज्ञान हो जाता तो सारा धन उसके इलाज में ही लगाता, उसको बचाने की ही कोशिश करता। दोनों व्यवहारों में फ़र्क़ का कारण क्या है? भेदबुद्धि और अभेदबुद्धि ही फ़र्क़ का कारण है। अपना होने पर भी दूसरा समझ लेने से व्यवहार बदल जाता है। वास्तव में संसार का कण-कण व क्षण-क्षण सिवाय परमात्मा के कुछ नहीं है। इन्हें परमात्मा से भिन्न समझने से ही इनसे भय लगता है। जब समझ आ जाता है कि ये परमात्मरूप हैं तब भय का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ग़ैरपना आने पर ही भय है व उसके जाते ही अभय है। जैसे अपना नाम सुनते ही उस व्यापारी का ग़ैरपने का भाव तुरन्त दूर हो गया वैसे ही श्रुति के 'तत्त्वमसि' का श्रवण करते ही ब्रह्माण्ड का ग़ैरपना मिट जाता है। भ्रमरूप होने से जैसे सही ज्ञान होते ही व्यापारी का भेदज्ञान दूर हो गया वैसे संसार का भेदज्ञान भी भ्रम है अतः शास्त्रीय अखण्ड बोध से ही निवृत्त हो जाता है। विराट् की भी यह अभय स्थिति तत्त्वज्ञान का ही प्रभाव थी, अन्य भी जो इस तत्त्वज्ञान को पा जाता है वह अभय हो जाता है। ।२७-२८।।

विराट् को तत्त्वज्ञान हुआ यह संगत नहीं लगता क्योंकि तत्त्वज्ञान के प्रसिद्ध उपाय उसे उपलब्ध थे नहीं और उनके बिना उसे हो गया तो अन्यों के लिये भी उपायानुष्ठान व्यर्थ होगा। इस समस्या को उठाकर समाधान करते हैं **प्रश्न होता है कि प्रजापति**

ननु प्रजापतेरैक्यदर्शनं कुत उद्बभौ।
शास्त्राचार्यादितद्धेतोरसत्त्वात् तदसम्भवः।।२६।।
उच्यते, महता पुण्यपुञ्जपाकेन तत्पदम्।
वैराजं लब्धवांस्तेन ज्ञानम् अस्योद्बभौ स्वतः।।३०।।
'ज्ञानम् अप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धम्' इति स्मृतिः।।३१।।
एवं सति स्वयम्भातवेदत्वाद् बुद्धवान् स्वयम्।।

को अभेददर्शन कैसे उत्पन्न हुआ? ज्ञान के हेतु शास्त्र, आचार्य आदि प्रसिद्ध हैं, वे उसे उपलब्ध थे नहीं तो ज्ञान भी असम्भव है।।२६।। उत्तर देते हैंपुण्यों के समूहों के महान् परिणामस्वरूप उसे वह विराट् पद मिला अतः उसे स्वतः ज्ञान उत्पन्न हो गया।।३०।। स्मृति में बताया है कि जगत्पति (प्रजापति, विराट्) को जन्म के साथ ही ये उपलब्ध होते हैंअकुण्ठित ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म।।३१।। ऐसा होने से क्योंकि वेद उसे स्वयं ही पता था इसलिये उसने स्वयं ही तत्त्व को जान लिया।।१/२।। प्रश्न स्पष्ट ही है कि शास्त्रादि में तत्त्वज्ञान के जो प्रसिद्ध हेतु हैं उनके बिना विराट् को आत्मज्ञान कैसे हुआ? 'शास्त्र, आचार्य, आदि' इस आदि में चित्तशोधनहेतु कर्म, शमादिपूर्वक श्रवणादि सभी का संग्रह हो जाता है। उत्तर का तात्पर्य है कि अत्यंत पुण्यवश प्राप्त उपाधि की विशेषता से उसे उन कारणों की ज़रूरत नहीं पड़ी जो साधारण जीवों के लिये अनिवार्य होते हैं। पूर्व कल्प में सर्वाधिक कर्म-उपासना वाला ही विराट् होकर उत्पन्न होता है। उसकी वह व्यापक उपाधि इतनी परिशुद्ध होती है कि उसे स्वयमेव वेद का भान हो जाता है, किसी आचार्य से उसे वेद-वेदार्थ सीखना-समझना नहीं पड़ता। तत्त्व-निरावरण के लिये प्रमाण अनिवार्य है और वह उसे वेद के रूप में स्वतः मिला था जिससे उसने आत्मा के अद्वैत को तुरन्त समझ कर भय को उन्मूलित कर दिया। शास्त्र में विराट् की सामर्थ्य बतायी गयी है कि उसका ज्ञान निरंकुश होता है। यह स्मृति वचन आचार्य शंकर द्वारा बृहदारण्यकभाष्य १.४.२ में उद्धृत है। हर सृष्टि में विराट्पद पर अलग-अलग अधिकारी पहुँचेंगे किंतु वहाँ प्रत्येक का ज्ञान पूरा ही होगा! बाकी जीवों का ज्ञान अत्यन्त सीमित है, दीवाल के ही पीछे क्या है यही हमें मालूम नहीं चल पाता! किंतु विराट् का ज्ञान यों किसी से भी रुकता नहीं। ऐसे ही उसमें वैराग्य भी पूर्ण ही प्रकट होता है। उसमें ऐश्वर्य भी पूरा है, वह सारे संसार का अधिपति है। संसारी प्राणी की सामर्थ्य (ईश्वरता) बहुत ही सीमित होती है। एक

आयकर अधिकारी ही किसी को परेशान करने के लिये पर्याप्त है! विराट् पूर्ण ऐश्वर्य वाला है, उसकी सामर्थ्य निरंकुश है। निरंकुश ज्ञान वाला होने से विराट् को गुरु की ज़रूरत नहीं पड़ी, बाकी लोगों को ऐसा स्वतः वेदज्ञान है नहीं अतः गुरु की ज़रूरत पड़ती ही है। शास्त्र पढ़कर भी, जब तक गुरु हमारी शंकाओं का समाधान न कर दे तब तक हमें शास्त्ररहस्य प्रकट नहीं होता, ग्रहण नहीं होता। विराट् का पूर्व जन्म में ही पर्याप्त अध्ययनादि हो चुका था, इस उच्च पद पर उसकी उपाधि अत्यंत सात्त्विक थी ही अतः वेद-तात्पर्य अद्वितीय आत्मा उसे स्वयं समझ आ गया। कोई पूछ सकता है कि यदि विराट् को वेदज्ञान जन्मजात था तो डर क्यों लगा? उत्तर है कि स्मृति में 'सहसिद्ध' कहने का मतलब है कि उसे ज्ञानादि के लिये किसी अन्य पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। जन्मजात मानने पर भय-बोधक श्रुति का विरोध होगा अतः वैसा नहीं मान सकते। विराट् पद क्योंकि कर्म-उपासना का फल है इसलिये प्राप्त होते समय जीवभाव प्रधान होगा यह स्पष्ट करने के लिये भयवर्णन उचित है। इतने-मात्र से बाकी सबको गुरु आदि नहीं चाहिये यह शंका बेकार की है। बिल्ली अँधेरे में देख पाती है तो इसका मतलब यह नहीं कि मनुष्य भी देख सके! ऐसे ही विराट् को गुरु की ज़रूरत नहीं पर हम सबको है ही। विद्यारण्यस्वामी ने वार्तिकसार में यहाँ साधारण नियम बता दिया है 'एवं यत्साधनफलं सिद्धं यस्यान्यसाधनात्। तस्य तत्साधनं व्यर्थम् इतरस्य च सार्थकम्।।' अर्थात् जिसे जिस साधन का फल प्राप्त ही है उसे उस फल के लिये कोई साधन नहीं करना पड़ता लेकिन दूसरों के लिये साधनानुष्ठान ज़रूरी रहता है। ।३०-३२।।

तृतीय कण्डिका में श्रुति ने बताया है कि भय हटने पर भी विराट् को रति का अनुभव नहीं हुआ; अतः अब भी कोई अकेला रमण नहीं कर पाता। विराट् ने इच्छा की कि अरति नष्ट करने में समर्थ दूसरा हो। इच्छा होने पर वह विराट् उतना हो गया जितना परस्पर आलिंगित स्त्री-पुरुष होते हैं। उसने अपने इसी शरीर को दो टुकड़ों में बाँटकर अलग कर दिया। यों टुकड़े गिरा देने से (लोक प्रसिद्ध) पति व पत्नी हो गये। इसलिये याज्ञवल्क्य ने बताया है कि स्त्री-शरीर आत्मा के आधे टुकड़े जैसा है। विवाह से पूर्व पुरुष को वह खाली जगह महसूस होती है जो स्त्री मिल जाने पर पूरी हो जाती है। विराट् ने यों उत्पन्न उस अर्धभागरूप स्त्री से संपर्क किया जिससे मनुष्य पैदा हुए। श्लोक ४१ तक इस प्रसंग को उपस्थित करते हैं।

कर्म-उपासना के फलस्वरूप उत्पन्न प्रारब्ध इतना प्रबल होता है कि तत्त्वज्ञान को भी प्रतिबद्ध कर सकता है इसे सूचित करते हुए विराट् की अरति बताते हैं **अपनी**

अरतिः

बोधध्वस्तात्ममोहस्याऽप्यरतिः समजायत ।।३२ ।।
स्वाऽभीष्टवस्त्वलाभेन चेतसो याऽनवस्थितिः ।
अरतिः सा, सिसृक्षोः सा वस्त्वलाभादजायत[1] ।।३३ ।।
ननु विज्ञानविध्वस्ताऽवविद्यायाः कुतोऽरतिः ।
ध्वस्तान्ध्यस्याऽपि सा चेत् स्याद् अनिर्मोक्षः प्रसज्यते ।।३४ ।।

अद्वितीयता के बोध से आत्मविषयक मोह जिसका नष्ट हो चुका था उस विराट् को भी अरति का अनुभव हुआ।। ३२।। स्वयं को अभीष्ट वस्तु न मिलने पर चित्त को जो बेचैनी होती है वह अरति है और विराट् को वह इसलिये हुई कि उसे (द्वितीय) वस्तु अर्थात् पत्नी नहीं उपलब्ध थी।।३३।। विराट् को अकेलापन अच्छा नहीं लगा। इसलिये आज भी आदमी अकेला हो तो उसका मन नहीं लगता। काशी में एक महात्मा थे। पढ़ते थे नहीं। साथियों ने ज़ोर दिया तो उन्होंने पढ़ना प्रारंभ किया। लघुकौमुदी की पुस्तक लेकर बैठे बराम्दे में और लगे ऊँघने। एक गाय आयी और उनकी किताब चबा गयी! उन्होंने और साथियों ने भी मान लिया कि वे पढ़ नहीं सकते। बांकी समय तो बातचीत आदि होती रहती थी पर परीक्षा के दिनों में पढ़ने वाले साधु सारा समय पढ़ने में बिताने की कोशिश करते थे तो वे महात्मा अकेले पड़ जाते थे, किससे बोलें! मौका पाकर जिसका कमरा खुला मिल जाये उसी के पास बैठकर गप्पें हाँकने लगते थे। उनसे कहें कि क्यों सबको परेशान करते हो? तो कहते थे 'विराट् को भी अकेले अच्छा नहीं लगा तभी हम सब को पैदा कर सबके लिये परेशानी खड़ी कर दी तो मैं अकेला कैसे प्रसन्न रहूँ!' यह सभी का अनुभव है कि अकेला रहना पसंद नहीं आता। पसंद न आने के लिये यहाँ 'अरति' शब्द का प्रयोग किया है। इष्ट चीज़ न मिलने पर मन की अस्थिरता अरति है। आगे सृष्टि करनी है अतः यहाँ द्वितीय वस्तु स्त्रीरूप समझनी चाहिये।।३३।।

एक महत्त्वपूर्ण शंका उठती है **आत्मज्ञान से जिसकी अविद्या नष्ट हो चुकी उसे अरति क्यों हुई? निवृत्त-अविद्या वाले को भी अरति हो तो (ज्ञान से) मोक्ष होने की व्यवस्था ही भंग हो जायेगी!।।३४।।** सर्वत्र प्रसिद्ध है कि तत्त्वज्ञान अज्ञान मिटाता है तो सारा दुःख दूर होकर परमानन्द प्रकट हो जाता है। उस परमात्मरूप 'रस' को पाकर विद्वान् आनन्दी हो जाता है इत्यादि आत्मवेत्ता के

---

[1] वध्वलाभादजायत इति वार्तिकसारे पाठः, प्रसङ्गानुकूलश्च।

अप्युत्पन्नात्मबोधानाम् आऽधिकारसमाप्तितः ।।[1]
अरत्यादि यथा दृष्टं तथैव स्यात् प्रजापतेः ।।३५ ।।

बारे में बताया गया है। द्वितीय का सद्भाव तो दुःख का हेतु ही समझाया जाता है अतः द्वितीय कोई है ही नहीं यह जानने पर विराट् को परम प्रसन्न रहना चाहिये था, बेचैन कैसे हो गया? और यदि ज्ञान के बाद भी यों बेचैनी बनी रही तो यह बात ही अमान्य है कि ज्ञान से मोक्ष होता है क्योंकि मोक्ष और अरति साथ नहीं रह सकते ।।३४ ।।

मीमांसा की मर्यादा है कि तात्पर्य के अनुसार अर्थवाद को समझना चाहिये। क्योंकि प्रकरण-तात्पर्य मोक्षप्रद ज्ञान का ही है अतः विराट् को तत्त्वज्ञान नहीं हुआ यह तो यहाँ विवक्षित नहीं हो सकता, अरति की उपपत्ति की जा सकती है यह स्पष्ट करते हैं **जिन्हें आत्मज्ञान हो गया है उन्हें भी अधिकार-समाप्त होने तक जैसे अरति आदि देखे जाते हैं वैसे ही प्रजापति विराट् के भी अरति आदि संगत हैं। ।३५ ।।** शास्त्र में स्पष्ट समझाया है कि तत्त्वज्ञान से संचित-आगामी कर्म नष्ट होने पर भी प्रारब्ध कर्म भोग से क्षीण होते हैं। प्रारब्ध तत्त्वबोध में हेतु बना अतः तत्त्वबोध उसका विरोध न करे यह उचित भी है! वसिष्ठ, सनत्कुमार आदि का जीवन व्यवहार इसीलिये संगत है। इसी तरह अधिकार-सम्पन्न सूर्य, यम आदि हैं जिनका प्रारब्ध सृष्टिपर्यंत उन पदों को भोगने का है अतः वे तत्त्वनिष्ठ होने के बावजूद कार्य का निर्वाह करते हैं। इसे यावदधिकाराधिकरण में ब्रह्मसूत्र ३.३.१८ में स्पष्ट स्थापित किया गया है। इसी तरह पूर्व कल्प में विशिष्ट कर्म-उपासना के फलस्वरूप विराट् पद मिलता है। पद पर पहुँचने के बाद आत्मज्ञान हो जाता है किन्तु जिस प्रारब्ध से वह विराट् बना उसे भोगना ही पड़ता है। विराट् को सारी स्थूल सृष्टि करनी है जो प्रारंभ होती है अरति से अतः उसे अरति होना भी संगत है। अधिकार समाप्त होने पर उसका वैसे ही विदेह कैवल्य है जैसे प्रारब्ध समाप्त होने पर अन्य जीवन्मुक्तों का। तत्त्वज्ञान से मोक्ष अवश्य है पर उस मोक्ष का प्रारब्धानुसार भोगे जाते दुःखों से विरोध नहीं क्योंकि दोनों का धरातल ही अलग-अलग है। ।३५ ।।

विराट् की जीवन्मुक्ति बताकर उसकी विदेह मुक्ति भी समझाते हैं **जिसका जितना अधिकार है उतने भोग का अनुभव कर लेने पर मोक्ष की रुकावट हट**

---

[1] यद्यप्यनुभूतिप्रकाशपुस्तकेषु 'अधिकारसमाप्तित' इति पठ्यते तथापि वार्तिकसारे आ-घटितपाठदर्शनात् तस्यैवात्र युक्तत्वात् सोऽत्र स्थापितः। वार्तिके तु 'अधिकाराऽसमाप्तितः' (१.४.१०३) इति पठ्यते।

अधिकारो यस्य यावान् भुक्ते भोगे स तावति।
कुतो न मुच्यते मुक्तिप्रतिबन्धस्य संक्षयात्।।३६।।
सत्यामप्यात्मविद्यायां यो दोषो न निवर्तते।
तेन दोषेणानुमेयोऽधिकारो विदुषाम् असौ।।३७।।

चुकने से वह क्यों न मुक्त होगा!।।३६।। जैसे किसी तत्त्वज्ञ का प्रारब्ध पचीस-पचास सालों में दो-चार शिष्यों को उपदेश दिलाने लायक है तो उतना प्रारब्ध भोग समाप्त कर वह विदेह मुक्त हो जाता है वैसे प्रजापति का कल्पपर्यन्त का प्रारब्ध है तो वह उतने समय बाद विदेह मुक्त हो जायेगा। अधिकार पाना ज्ञान का फल नहीं है, पूर्वकृत कर्म-उपासना का फल है। सूर्य, यम आदि पद मिलना भी कर्म-उपासना का फल है, उनका भी इसी तरह विदेह मोक्ष संगत है। तत्त्वज्ञान इन सबको समान है, वसिष्ठ याज्ञवल्क्यादि को भी वैसा ही तत्त्वज्ञान हुआ, अन्तर प्रारब्ध में है। लोक में भी कोई कार्यविशेष मात्र के लिये स्वल्पकालिक नियुक्ति पाया अधिकारी होता है, कोई उससे दीर्घकाल की नियुक्ति पाता है, कोई सेवानिवृत्ति पर्यंत स्थायी नियुक्ति पाता है; ऐसे ही जीवों के प्रारब्ध विभिन्न होते हैं, अपने-अपने प्रारब्ध के अनुसार सब जीवन बिताकर, यदि ज्ञानी हैं तो विदेह मुक्ति पा जाते हैं। ज्ञान से मोक्ष अवश्य है, प्रारब्ध उस विदेह मोक्ष में रुकावट है, प्रतिबंधक है; प्रारब्ध समाप्त होते ही मोक्ष अनायाससिद्ध है। यह स्मरण रखना चाहिये कि विदेह कैवल्य के लिये प्रारब्ध प्रतिबंधक, रुकावट है। जीवन्मुक्ति तो ज्ञाननिष्ठा के साथ ही हो जाती है, विक्षेप की प्रतीति भी न होना यह जो विदेह स्थिति है इसको रोकने वाला प्रारब्ध है जो पूरा होते ही 'विमुक्तश्च विमुच्यते' के अनुसार विदेह कैवल्य अनिवार्य है। इस ज्ञानकालिक प्रारब्ध और उसकी सफलता को उपपन्न करने के लिये तत्त्वज्ञान से अविद्यानिवृत्ति मानकर भी लेशाविद्या, अविद्यासंस्कार, अविद्याछाया आदि की कल्पना आचार्यों ने की है। 'स्वाऽविद्यायाः बाधितायाः प्रतीतिः' अर्थात् अपनी बाधित अविद्या की प्रतीति - यही लेशाविद्या आदि शब्दों से कही जाती है। यह प्रतीति प्रारब्धवश चलती है, प्रारब्ध पूर्ण होने पर प्रतीति समाप्त होते ही पूर्व में हो चुका तत्त्वज्ञान विदेह मुक्ति प्रदान कर देता है।।३६।।

शास्त्र प्रमाण से यह व्यवस्था स्वीकार्य है यह बताते हैं **आत्मविज्ञान हो चुकने पर भी जो दोष निवृत्त नहीं होता उस दोष से विद्वान् के उस अधिकार का अनुमान हो जाता है।।३७।।** जिसे आत्मज्ञान हो गया, अपने स्वरूप के बारे में उसे कोई संशय-विपर्यय नहीं है, अपने स्वरूप का स्पष्ट भान है, फिर भी यदि कोई दोष

अथ सृष्टिः

प्रबलाऽऽरब्धवेगेन कामुकः सन् प्रजापतिः ।
एकं देहं स्वभोगार्थम् असृजद् मिथुनात्मकम् ।।३८।।

उपलब्ध है तो समझ आ जाता है कि प्रारब्धानुसार उतने अधिकार का पालन करना अनिवार्य है। अरति दोष है, अकेले में शांति से प्रसन्न न रह पाकर बेचैन होना कामनारूप दोष का ही प्रभाव है। संसार उत्पन्न करने की कामना विराट् में थी, उसी से अरतिरूप दोष प्रकट हुआ। जिन आत्मज्ञों का विक्षेपबहुल प्रारब्ध नहीं होता वरन् क्षयोन्मुख प्रारब्ध होता है वे उत्तरोत्तर भूमिकाओं पर आरूढ होते जाते हैं। अन्त में उन्हें खाना, पीना आदि किसी भी चीज़ का भान नहीं रहता। अन्यों को प्रारब्धपर्यंत जीवन व्यतीत करना पड़ता है और जिनकी पूर्व में विशेष तपस्या रही है उन्हें अतिदीर्घकाल के आधिकारिक पद मिल जाते हैं जिन पर आरूढ हो वे सृष्टिसंचालन करते रहते हैं। मुक्त तो वे हैं लेकिन विदेहभाव में उनकी वह नियुक्ति ही प्रतिबंधक है, रुकावट है जो दूर होने पर वे विमुक्त हो जाते हैं। आत्मज्ञान से मुक्ति उसी क्षण हो जाती है किंतु मोक्ष में जो अरति आदि दोषों का अभाव भी होना चाहिये वह प्रारब्धपर्यंत रुका रहता है। शास्त्र में ज्ञान से मोक्ष कहा है, विराट् को ज्ञान हुआ यह भी बता दिया, फिर भी अरति का कथन है तो पता चलता है कि अधिकार (प्रारब्ध) के कारण अरति है। 'अनुमान' से यहाँ अर्थापत्ति समझनी चाहिये कि ज्ञान के बाद अरति प्रारब्ध के बिना अनुपपन्न होने से प्रारब्ध को सिद्ध करती है।।३७।।

अरति मिटाने के लिये विराट् ने प्रपंच का विस्तार शुरू किया यह वर्णन करते हैं **बलवान् प्रारब्ध के प्रवाह से प्रेरित प्रजापति विराट् कामनावान् हुए और उन्होंने अपने भोग के लिये जोड़ा-रूप एक शरीर बनाया।।३८।।** दुर्बल प्रारब्ध का समाधि आदि के विशेष अभ्यास से प्रतीकार हो भी जाये पर प्रबल प्रारब्ध का भोग अनिवार्य है। इतने बड़े ब्रह्माण्ड को, इसमें सारे प्राणियों को बनाना, संसार-व्यवस्था चलाना अत्यंत महत्त्व का कार्य है, इसके लिये ईश्वर जिसे नियुक्त करता है उसका प्रारब्ध सर्वाधिक बलवान् ही होगा, उससे ज़्यादा बल वाला किसी का प्रारब्ध संभव नहीं। हम लोग दस-बीस मकान, पानी का टाँका बनाकर सोचते हैं कि बहुत काम किया और विराट् को तो हिमालय, विन्ध्य, महासागर आदि समेत पृथ्वी और ऐसे अनन्त लोकों वाली सारी दुनिया बनानी है! अतः विराट् का प्रारब्ध सबसे प्रबल होने के कारण उसे अपने अधिकार का उपयोग करना ही था,

तद् द्वेधाऽपातयद् देहम् अभूतां दम्पती उभौ।
मनुः पुमान् वधूर्ज्ञेया शतरूपाऽत्र नामतः।।३९।।
तयोः सम्भोगतो जाता मनुष्या दम्पती पुनः।
नानादेहान् अगृह्णीतां ताभ्यां द्वन्द्वानि जज्ञिरे।।४०।।

वह भूमिकारूढ आदि हो नहीं सकता अतः उसे आगे जो कुछ करना है उसकी कामना हुई यह उचित था। सृष्टि के लिये स्त्री-पुरुष होना ज़रूरी हैं अतः विराट् को वैसे शरीर की कामना हुई। उन्होंने अपने भोग के लिये ही वह शरीर बनाया जिसमें आदमी-औरत के शरीर जुड़े हुए थे अतः वह जोड़ा-रूप शरीर था। जैसे सारा दूध दही बन जाता है ऐसे विराट् से वह शरीर नहीं बना वरन् विराट् वैसा ही बना रहा, उस रूप से पृथक् जोड़ा-रूप शरीर पैदा हो गया।।३८।।

जैसे घड़ा गिराने से फूटकर दो ठीकरे (कपाल) हो जाते हैं या नारियल फोड़ते हैं तो दो टुकड़े हो जाते हैं ऐसे विराट् ने उस जोड़ा-शरीर को गिराकर दोनों टुकड़े अलग-अलग कर दिये, ऐसा जो श्रुतिवर्णन है उसे व्यक्त करते हैं **वह शरीर दो टुकड़ों में बँट जाये इस तरह विराट् ने उसे गिराया। वे दोनों टुकड़े दम्पती हुए। उनमें पुरुष मनु नाम से और वधू (स्त्री) शतरूपा नाम से संसार में जाने गये।।३९।।** मिथुनात्मक अर्थात् जोड़ारूप शरीर विराट् ने गिराया तो वह दो हिस्सों में बँट गया। आदमी वाला हिस्सा मनु और औरत वाला हिस्सा शतरूपा नाम से प्रसिद्ध हैं। अन्य देशों के पुराणों में मानते हैं कि पहले सब चार हाथों - चार पैरों वाले थे, किसी कारण वे दो टुकड़ों में बँट गये, वे दोनों हिस्से एक-दूसरे को खोजते रहते हैं और दोनों आपस में मिल जायें तो उनका कार्य पूरा हो जाता है। जब तक परस्पर मिलें नहीं तब तक अपूर्ण रहते हैं। इसमें ध्वनि है कि भोक्ता-भोग्य अलग हो गये हैं, एक-दूसरे को ढूँढ रहे हैं। यहाँ श्रुति ने आदि दम्पती की उत्पत्ति बतायी। जाया अर्थात् पत्नी और पति इन्हें मिलाकर दम्पती कहते हैं। मनु से आगे सारी सृष्टि हुई। हम उन्हीं की सन्तान होने से मानव कहे जाते हैं। आदि माता का नाम शतरूपा था यह भी वेद बता रहा है।।३९।।

मनुष्यादि सब प्राणी मनु-शतरूपा से बने यह चौथी कंडिका के संग्रह से बताते हैं **उन दोनों के सम्भोग से मनुष्य पैदा हुए। फिर दम्पती ने अलग-अलग देह धारण किये और उन्हीं दोनों (मनु-शतरूपा) से सारे जोड़े पैदा हुए।।४०।।** **गाय, घोड़ा, गधा, बकरा, भेड़ आदि चींटी पर्यन्त जोड़ों में होने वाले सब**

गवाश्वरासभाजाविप्रमुखा आपिपीलिकम्।
प्राणिनो मिथुनात्मानो जाताः कर्मानुसारतः।।४१।।
मुखबाहूरुपादेभ्यो वह्नीन्द्रवसुभूमिकाः।[1]
देवता असृजद् ब्रह्मा चातुर्वर्ण्यनियामिकाः।।४२।।

प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार (मनु-शतरूपा से ही) पैदा हुए।।४१।। जो शरीर उस जोड़ा-शरीर को गिराने से बने थे उन्होंने सम्भोग किया तो मनुष्य पैदा हुए। फिर मनु-शतरूपा ने संकल्प से गाय आदि सब प्राणियों के शरीर क्रमशः धारण कर उन-उन प्रजातियों को पैदा किया। सभी के आदि तो वे ही दोनों हैं। शतरूपा गाय-घोड़ी आदि बनती गयी, मनु साँड-घोड़ा आदि बनते गये और उस योनि के शरीर पैदा करते गये। पैदा होने वाले प्राणी तो अपने कर्मों के अनुसार उन योनियों में जन्म लेते गये लेकिन वे पैदा हो सकें इसके लिये माता-पिता का कार्य मनु-शतरूपा ने किया। उन्होंने स्वातन्त्र्यपूर्वक किया, जन्म लेने वाले कर्मवशवर्ती होकर पैदा हुए। यों उत्पन्न सभी प्राणी मिथुनात्मक हैं, सब में नर-मादा होते हैं। जिन प्रजातियों में शारीरिक संरचना से भेद नहीं दीखता उनमें भी दोनों सामर्थ्य होती हैं जिससे आगे प्रजनन होता है। इस प्रकार विराट् से सब प्राणी उत्पन्न हुए यह बताया।।४०-१।।

पाँचवीं कण्डिका में बताया कि प्रजापति ने विचार किया 'मेरा रचा जगत् मुझसे भिन्न नहीं है। मैं ही सृष्टि हूँ।' इससे यह विधान किया कि अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैव सारा जगत् मैं हूँ यह उपासना कर्तव्य है। छठी कण्डिका में अग्नि देवता की उत्पत्ति बतायी है। १.४.११-१३ में क्षत्रियादि की सृष्टि उपनिषत् में बतायी ही है अतः भाष्यकार ने उसका यहाँ उपसंहार कर लिया है। वर्णों के साथ उनके देवता भी समझने चाहिये। इस प्रसंग को संक्षेप में कहते हैं **ब्रह्मा ने (प्रजापति विराट् ने) चारों वर्णों को नियम में रखने वाले अग्नि, इंद्र, वसु और पृथ्वी देवताओं को मुख, बाहु, ऊरु और पैरों से उत्पन्न किया।।४२।।** अग्नि आदि की सृष्टि संभोग से नहीं वरन् मुख आदि से हुई यह श्रुति ने स्पष्ट किया है। अतः इनमें वैशिष्ट्य है। पुरुषसूक्त में भी यह आशय वर्णित है। ऊरु अर्थात् जाँघों से वैश्य और उनके देवता वसु पैदा किये। इससे यह भी इंगित है कि वर्णी मनुष्यमात्र से अधिक हैं, तत्तत् देवता के नियंत्रण में रहने से ही ये ब्राह्मणादि रहेंगे अन्यथा मनुष्यमात्र रह जायेंगे। देवताओं की सृष्टि ब्राह्मणादि को नियंत्रित रखने के लिये ही की।।४२।।

---

[1] ...वसुभूमयः इति सारे पाठः

तत्रेन्द्रादीन् भिन्नदेवान् मन्यन्ते यागभूमिषु।
कर्मिणस्तद् असज्ज्ञेयं विराडेवाऽखिला इमे।।४३।।

छठी कण्डिकामें ही यह भी बताया है कि अग्नि, इन्द्र आदि को पृथक्-पृथक् देवता समझना उचित नहीं। क्योंकि सभी देवता एक विराट् की ही सृष्टि हैं इसलिये वही सर्वदेवस्वरूप है। उसी के भोक्ता-भोग्य भी रूप हैं। इसे समझाते हैं **कर्मी लोग याग-प्रसंगों में देवताओं के बारे में मानते हैं कि इन्द्रादि विभिन्न देवता हैं। वह मान्यता ग़लत समझनी चाहिये। ये सभी विराट् ही हैं।।४३।।** कर्मी अर्थात् कर्म ही जिनके लिये सर्वस्व है, उसी के सहारे अभ्युदय-निःश्रेयस चाहने वाले। वे यागविधियों में विभिन्न देवताओं के लिये अलग-अलग आहुतियों का विधान सुनकर मानते हैं कि इन्द्रादि सब देवता पृथक्-पृथक् हैं। 'इन्द्राय स्वाहा' से आहुति दी तो इन्द्र को मिलेगी, वसु आदि को नहीं: 'वसवे स्वाहा' से दी आहुति वसु को मिलेगी, इंद्र को नहीं; इस तरह देवता, उनके मन्त्र, द्रव्य आदि सब व्यवस्थित हैं, सबकी अलग-अलग विधि है। 'यागभूमिषु' अर्थात् यज्ञों के स्तर पर, उनके संदर्भ में प्रसंग में, परिप्रेक्ष्य में। या, याग करते हुए यज्ञवेदी पर बैठे हुए कर्मी इन देवताओं को विभिन्न मानते हैं। यह मान्यता ग़लत है क्योंकि ये सब देवता विराट्-रूप ही हैं। सुनने वाला मैं, बोलने वाला मैं, देखने वाला मैं आदि जैसे अलग-अलग नहीं हैं वैसे इंद्रादिरूपों वाला विराट् अभिन्न ही है। आँख से ही देखता हूँ, कान से नहीं; कान से ही सुनता हूँ, आँख से नहीं; लेकिन देखने-सुनने वाला हूँ मैं एक ही। ऐसे ही विराट् अग्निरूप से ब्राह्मणों पर नियंत्रण करता है, इंद्ररूप से क्षत्रियों पर नियमन रखता है, वसुरूप से वैश्यों पर तथा पृथ्वीरूप से शूद्रों पर नियमन करता है; लेकिन नियमन करने वाला तो एक विराट् ही है। सभी देवता विराट् के रूपमात्र हैं, अंशमात्र हैं, अवयवमात्र हैं। कर्म में ही लगे रहने वाले इस एकता को नहीं समझ सकते, इसके लिये उपनिषदों का चिंतन ही आवश्यक है, वहीं यह एकता प्रकट की गयी है। कर्मी से मनुष्य ही नहीं, उन देवताओं को भी समझ लेना चाहिये जो कर्मफलभोग में ही संलग्न हैं। उन्हीं के लिये यमराज ने भी कहा है कि इस एकता के बारे में देवताओं को भी निश्चय नहीं हुआ! विवेकी ही उपनिषत्-विचार से अभेद समझ पाता है।।४३।।

'एक सत् को ही इन्द्र, मित्र, वरुण आदि कहा है' (ऋ.१.१६४.४६) इत्यादि कहने वाला वेद ही यज्ञविधियों में देवताओं को पृथक्-पृथक् क्यों बताता है यह स्पष्ट करते हैं **क्योंकि आत्मविषयक अज्ञानी ही कर्मों में अधिकारी होते हैं इसलिये कर्मकाण्ड**

अविद्वदधिकारित्वात् कर्मणां भिन्नदेवताः।
उच्यन्तां कर्मकाण्डेन वस्तुतस्तु न तत्तथा।।४४।।
विराजो जीवतामाहुः केचिद् अन्ये परात्मताम्।
उभयं युक्तमेवैतद् विवक्षाया विशेषतः।।४५।।

द्वारा विभिन्न देवता भले ही कहे जायें, वस्तुतः वैसा नहीं है।।४४।। अधिकारी के अनुरूप वेद उपदेश देता है। कर्म में वह अधिकारी है जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनजान है, स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता जानता है। उसे विराट् की एकता समझाने का प्रयोजन नहीं क्योंकि उसे यह बात जँचेगी नहीं। उसके चित्त के शोधन के लिये कर्मों का विधान ही उसे समझ आये और वह कर्म करेइतना ही ज़रूरी है। अतः कर्मकाण्ड में वेद देवताओं का ऐसा उल्लेख करता है कि अविचारशील को वे भिन्न प्रतीत होते हैं। उस स्तर की समझ वालों को वैसा समझने देते हुए कर्म में लगे रहने देना ही उचित है, उनसे विवाद करना व्यर्थ है। अनेक लोग लौकिक विषयों में भी विचारपूर्वक निश्चय नहीं कर पाते, फिर भी किसी की आज्ञा मानकर कार्य कर सकते हैं। पृथ्वी गोल है, अपनी धुरी पर और सूर्य के चारों ओर भी घूम रही हैइसे विचारपूर्वक न समझ पाने पर भी 'ऐसा ही मानकर गणनायें कर जहाज आदि चलाओ' इस नियम का पालन चालक आदि करते रह सकते हैं। कर्मी भी समझने में असमर्थ होते हैं, विधि-निषेध का पालन ही कर सकते हैं। अतः उन्हें देवताओं का विराट् से अभेद बताने का उपयोग नहीं, भले ही वह बात सत्य है। शुद्धचेता विवेकी विचारशील ही अभेद समझने में अधिकृत है। कर्मी से उपासक भी समझने चाहिये, वे भी उपासना तो कर सकते हैं, उपास्य तत्त्व का अभेद नहीं समझ सकते। भगवान् ने गीता में बता दिया कि विभिन्न समझकर भी आराधना एक परमेश्वर की ही की जाती है, करने वाले भले ही उस एक तत्त्व को न समझें।।४४।।

इस सन्दर्भ में आचार्य श्री शंकर ने विचार किया है कि यह हिरण्यगर्भ (विराट्) परमात्मा है या संसारी है? निर्णय दिया है कि उसकी औपाधिक संसारिता है, वास्तविक परमात्मता है। यद्यपि सभी जीवों के बारे में यही बात है तथापि विराट् की उपाधि अत्यधिक शुद्ध होने से वह प्रायशः परमेश्वर बताया गया है, कहीं-कहीं उसका जीवरूप भी कहा गया है जैसे यहीं उसे भयभीत बताया था। इस तरह उसके बारे में आयी सब बातें संगत हो जाती हैं। इस विचार का संक्षेप करते हैं **कुछ लोग विराट् को जीव कहते हैं, अन्य लोग उसे परमात्मा कहते हैं। ये दोनों बातें विवक्षाभेद से संगत हैं। ।४५।। सोपाधिक को बताना अभिप्रेत होने पर विराट् जीव ही होगा,**

सोपाधिकविवक्षायां जीव एव विराड् भवेत् ।
निरुपाधिविवक्षायां परमात्मैव नेतरः ।।४६।।

निरुपाधिक बताना अभिप्रेत होने पर वह परमात्मा ही है, जीव नहीं।।४६।। अगर कहो, 'हम भी ऐसे ही हैं', तो वह बात ठीक ही है।।१/२।। शास्त्र में विराट् का वर्णन ऐसा है कि कहीं लगता है वह ईश्वर है, कहीं लगता है जीव है! पुराणों में भी यही बात है : कहीं लगता है कि विष्णु-शंकर आदि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं तो कहीं इनकी लीला जीवोचित ही लगती है। कहीं शिवजी को मुसीबत से विष्णु बचाते हैं जैसे भस्मासुर से मोहिनी अवतार ने बचाया और कहीं विष्णु का उद्धार शिव करते हैं जैसे वराहावतार में किया! प्रश्न होता है कि सच क्या है? इसी का यहाँ उत्तर है कि सच में तो निरुपाधिक सच्चिदानंद है। उपाधियों में भेद है। उपाधि-तादात्म्य से भेदानुभव संगत है, विवेक से वास्तव अभेद संगत है। जहाँ तात्पर्य यह बताने में है कि उपाधि-अनुसार क्या व्यवहार है, वहाँ वर्णन वैसा हो जायेगा जैसा जीवों का होता है जबकि जहाँ तात्पर्य स्वरूप बताने में है वहाँ परमात्मरूपता व्यक्त होगी। विराट् का भी दोनों तरह से वर्णन मिलता है अतः दोनों बातें सोपाधिक-निरुपाधिक दृष्टि से संगत हो जाती हैं। विवक्षा अर्थात् बताने की इच्छा; प्रसंग का जिसमें तात्पर्य होता है उसी की मानी जाती है। पुराणों में जहाँ शंकर के रूप की प्रशंसा का प्रसंग होगा वहाँ उन्हें विष्णु का उद्धारक कह देंगे, जहाँ विष्णु के रूप की प्रशंसा करनी होगी वहाँ उन्हें शंकर का रक्षक बता देंगे। दोनों बातें ठीक इसलिये हैं कि वास्तव में दोनों औपाधिक रूप एक ही तत्त्व के हैं जिसकी ओर उन्मुख करने के लिये उपाधि-प्राधान्य से वर्णन किया जा रहा है। आत्मवस्तु को गुणवाला कहने पर उसका जीवरूप से वर्णन होता है, गुणातीत कहने पर परमात्मरूप से वर्णन होता है। यह बात जैसे विराट् के बारे में वैसे हम सब के बारे में भी है। फिर भी अन्तर है कि हम तो जन्म-जन्मान्तर तक स्वयं को जीव ही समझते रहते हैं जबकि विराट् सृष्टि के आदिकाल में ही तत्त्वसाक्षात्कार पा लेता है। अतः उसका अधिकतर वर्णन ईश्वरोचित होता है, हमारा जीवोचित होता है।।४६।।

कण्डिका ६ में संसार को अग्नीषोमात्मक, अग्नि-सोमरूप, अत्ता-अन्नरूप बताया और दोनों ही विराट् से उत्पन्न होने के कारण विराट् ही सर्वरूप है यह बताया। फिर कहा 'सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः। यच्छ्रेयसो देवान् असृजत। अथ यद् मर्त्यः सन्नमृतान् असृजत तस्माद् अतिसृष्टिः।' अपने से श्रेष्ठ देवताओं का उत्पादन विराट् की अतिसृष्टि है। कर्म-ज्ञानरूप अग्नि से अपने सब पाप जलाकर अमरणधर्मा देवताओं की सृष्टि की, यह विराट् की

वयमप्येवमेवेति यद्युच्येत तथाऽस्तु तत् ।
सृष्ट्वा विराड् भोक्तृवर्गं भोग्यम् अन्नम् अचीक्लृपत् । ।४७ । ।

विराड्वर्णनप्रयोजनम्

पूर्वजन्मनि मर्त्यः सन् कृत्वाऽसौ ज्ञानकर्मणी[1] ।
अमृतान् असृजद् देवान् यद्यप्येतद् महाद्भुतम् । ।४८ । ।
सृष्ट्वाऽखिलम् अवेत् सृष्टम्[2] अहमस्म्यखिलं जगत् ।
ईदृशो महिमा ज्ञेयः कृतयोर्ज्ञानकर्मणोः । ।४९ । ।

अद्भुत विशेषता है। इसे श्लोकों द्वारा व्यक्त करते हैं **विराट् ने भोक्ताओं का वर्ग उत्पन्नकर भोग्य अन्न बनाया । ।४७ । । पूर्व जन्म में यद्यपि मरणधर्मा रहते हुए उसने कर्म-उपासना करके अमरणधर्मा देवताओं को पैदा कियायह अत्यंत अद्भुत बात है! । ।४८ । । सारा जगत् उत्पन्न कर 'मुझसे रचा गया सारा जगत् मैं ही हूँ' इस प्रकार विराट् ने जाना। अनुष्ठित उपासना व कर्म की ऐसी महिमा है (कि सबको अपने से अभिन्न जाना जाता है) । ।४९ । ।** विराट् ने मनुष्य, पशु, देवता, वर्ण आदि वह वर्ग पैदा किया जो भोक्ता है। उसे भोग्य अन्न की आवश्यकता होने से विराट् ने अन्नसृष्टि भी की। आधुनिक मान्यता में भोग्य पहले आता है, भोक्ता बाद में आता है जबकि हमारे सिद्धांत में भोक्ता पहले है तब भोग्य है। केवल सृष्टिप्रक्रिया में ही नहीं, अन्यत्र भी दृष्टिभेद बना रहता है अतः आधुनिकों को लगता है कि भोक्ता अधिक हो गये तो अन्न कम पड़ जायेगा! हमारा मानना है कि भोक्ता के प्रारब्ध से अन्न अवश्य उपलब्ध होगा। ऐसा जो सर्वकारण, सर्वरूप विराट् उसने 'अतिसृष्टि' की, अतिशय विस्मय कराने वाली सृष्टि की क्योंकि उसने ऐसे देवता बना दिये जो अमृत हैं! विराट् पूर्व कल्प में मरणधर्मा था तथा यहाँ भी उत्पन्न तो अज्ञानी अतः मर्त्य हुआ था पर उसने जिन देवताओं को उत्पन्न किया वे अमृत हैं। देवता अमर कहे ही जाते हैं। उसकी ऐसी सृष्टि चकित कर देती है। सारा व्यक्त जगत् विराट् ने अपने में से ही बना दिया अतः 'यह सब मैं ही हूँ' ऐसा उसे ज्ञान रहा। उपासना और कर्म का यह महत्त्व है कि इन्हें सही तरह किया जाये तो सारे जगत् को अपने से अभिन्न देखने की सामर्थ्य आ जाती है। यह केवल समझने से नहीं, उपासना व कर्म के दीर्घकालिक सही अनुष्ठान से ही होगा। ।४८-९ । ।

---

[1] कृत्वा सोऽज्ञानकर्मणी इति पाठान्तरम्। तत्राज्ञानं बहिःकर्म, कर्म तूपासनारूपमिति ज्ञेयम्।

[2] ऽखिलमयं देवम् इति मातृकादौ पाठः। अत्र स्थापितः पाठः सारे दृश्यते, तदनुरोधात् मद्रपुरीप्रकाशितेऽनुभूतिप्रकाशे निवेशितः।

वर्णितोऽयं प्रयत्नेन ज्ञानकर्मफलोर्जितः ।।[1]
उपासितुः प्रवृत्त्यर्थं निवृत्त्यर्थं मुमुक्षतः ।।५० ।।
सृष्ट्यैश्वर्ये[2] स्वतन्त्रत्वं तत्कामी बहु मन्यते ।
दोषान् एव विवेक्यत्र बहून् उत्प्रेक्षते धिया ।।५१ ।।

इस प्रसंग का उपयोग समझाते हैं **उपासना व कर्म के फल से तेजस्वी इस रूप का वर्णन किया ताकि उपासक (उपासना में) प्रवृत्त हो एवं मुमुक्षु (कर्म-उपासना से) निवृत्त हो ।।५० ।।** (सारानुसारी पाठ में‘उपासना व कर्म के उत्कर्ष का वर्णन किया...’ अर्थ है।) वर्णन का प्रयोजन है कि फलेच्छुक साधन के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो एवं विवेकी विराट् की भी भय-अरति आदि समझकर उस पद के प्रति भी विरक्त होकर निवृत्ति में निष्ठा रखे। प्रवृत्तिमार्गी के लिये संसार का रचयिता बनना, देवताओं का भी उत्पादक बनना महत्तम फल है जबकि भवबंध से छूटना चाहने वाले के लिये वह विराट् पद भी अत्यंत झंझटका है, भयादि से ग्रस्त है अतः वह उसके लिये कोई प्रयास करे यह संभव नहीं। कर्म-उपासना से अधिकाधिक विराट्-भाव की प्राप्ति हो सकती है, इससे ज़्यादा नहीं क्योंकि संसारभूमि में यह सबसे बड़ा फल है। यह विषय-रागी को इष्ट है, आत्माराम को अर्थात् विषयों में जिसे राग नहीं उसे अनिष्ट है। वह निवृत्ति में निष्ठा वाला बना रहे यही इस वर्णन का मुख्य प्रयोजन है।।५०।।

उक्त प्रयोजन को उपपन्न करते हैं **सृष्टि के ऐश्वर्य में स्वतंत्र हो जाने को वह बहुत महत्त्व देता है जो उसे चाहता है जबकि विवेकी उस स्वातन्त्र्य में विचार से बहुत दोष ही समझता है।।५१।।** विराट् सारी सृष्टि करता है, इसके हर तरह के शासन में वह स्वतन्त्र है। इस स्वातंत्र्य को चाहने वाले के लिये यह बहुत बड़ा फल है अतः वह इसके लिये प्रवृत्त होता है, साधन करता है। वैकुण्ठादि के भी दिव्य सुखों में आसक्त को उन्हें पाना अत्यंत पसंद आता है और उसके लिये वह साधना करता है। वहाँ भी सांसारिक व्यवहार ही है, गर्व आदि हो जाते हैं जिनके फलस्वरूप शापादि मिलते हैं तो रावणादि बनना पड़ता हैयह सब विचार करने वाला उससे विरक्त हो जाता है। विवेकी स्वयं को नित्य एवं संसार को अनित्य समझता है अतः अनित्य के प्रति उसे आकर्षण कम होता है। विराट् का ऐश्वर्य भी कल्पपर्यन्त ही होने से अनित्य है अतः

---

[1] हिरण्यगर्भस्य विराड्रूप इति शेषः। वार्तिकसारे ‘वर्णितेत्थं प्रयत्नेन ज्ञानकर्मफलोर्जितिः’ इति पठ्यते।

[2] अयं सारे पाठः। प्रकाशपुस्तकेषु ‘सृष्ट्वैश्वर्ये’ इत्येव दृश्यते।

अविद्यापटसंवीतचक्षुषाम् इयद् एव हि।
वैदिकं साधनं ज्ञेयं ज्ञानकर्मस्वभावकम्।।५२।।

विवेकी को आकृष्ट नहीं करता। वह नित्य परमेश्वर को ही पाना चाहता है। 'स्वाराज्यसिद्धि' नामक ग्रंथ में बताया है कि विद्वान् स्वयं को धन्य समझता है कि उसे ब्रह्मा-विष्णु आदि नहीं बनना पड़ा जिन पदों में अत्यन्त झंझटें हैं! दोष स्वतः दीख जायें यह ज़रूरी नहीं, उनकी उत्प्रेक्षा करनी पड़ती है ('उत्प्रेक्षते') अर्थात् विश्लेषणपूर्वक उन्हें समझना पड़ता है। विवेकी ही यों सोच-विचारकर समझ सकता है, अविवेकी तो आपात सुख से आकृष्ट हो उधर प्रवृत्त ही बना रहता है।।५१।।

सर्वातिशय ऐश्वर्य में भी दोष देखने के तरीके को स्पष्ट करते हैं **अविद्यारूप कपड़े से ढकी आँखों वालों के लिये क्योंकि उपासनारूप व कर्मरूप इतना ही कल्याण का वेदोक्त उपाय समझा जा सकता है (इसलिये मुमुक्षु को इसके फल के प्रति वैराग्य उपजाना चाहिये)।।५२।।** कोई आँखों से न देख सके इसके लिये उसकी आँखों पर काला कपड़ा बाँध दिया जाता है। ऐसे ही हमारी विवेकरूप आँख पर अविद्या का कपड़ा है ताकि हम अविवेकग्रस्त रहकर संसरण करते रहें। अविद्या रहते हम कर्त्ता-भोक्ता ही बने रहते हैं। इस दशा में अपने हित का उपाय भी शरीर-मन की क्रियाओं को मानते हैं। लौकिक उपायों से हित न मिलने पर वेद में उपाय ढूँढते हैं। भाष्यकार ने बृहदारण्यक के उपोद्घात में लिखा है 'सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अनवगतेष्टाऽनिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः ... जन्मान्तरेष्टाऽनिष्ट-प्राप्तिपरिहारोपायविशेषे च शास्त्रं प्रवर्तते।' वेद में बाह्य और मानस दोनों कर्मों का विधान है अतः कल्याण के वेदोक्त ये ही उपाय अज्ञानभूमि में समझ आते हैं। याग-दानादि शरीर-व्यवहार और ध्यान-धारणादि मानस व्यवहार शास्त्रीय साधन हैं। इनके सर्वश्रेष्ठ अनुष्ठान से सर्वोत्तम फल विराट्-भाव की प्राप्ति है। स्वतन्त्रतापूर्वक संसार का विस्तार करना, लोक-देव-मनुष्यादि बनाना, इनका संचालन करना ऐसे ऐश्वर्य वाला बनना, यही कर्म-उपासना का अंतिम फल है। इस पद के भयादि दोष देखकर इससे मुमुक्षु को विरक्त होना चाहिये। (वार्तिक में (१.४.१६५) भी यह श्लोक है, वहाँ 'हि' की जगह 'तु' पाठ है।)।।५२।।

कर्म-उपासना रूप साधन के स्वभाव की परीक्षा करते हैं **और वह उपाय कर्त्ता-कर्म आदि पर निर्भर करता है, ब्रह्मा (विराट्) के पद पर्यन्त का फल दे सकता है, उत्पत्ति आदि छह विकारों वाला है, कमी-बेशी वाला और जड**

तच्च कर्त्रादिसापेक्षं विरिञ्च्यन्तफलप्रदम्।
जन्मादिविक्रियाषट्‌कयुतं सातिशयं जडम्।।५३।।
दुःखानि च विचित्राणि सन्त्येव बहुजन्मसु।
अनेकक्लेशयुक्तेन दुर्लभं तपसा विना।।५४।।

है।।५३।। करने वाला, करने का उद्देश्य, करने के सहायक (करण) आदि की अपेक्षा रखने वाले हैं कर्म-उपासना। यह सापेक्षता, निर्भरता आवश्यक कर देता है कि इनका अनुष्ठाता परतंत्र रहे। अनेकों के परतंत्र रहकर ही कर्म-उपासना संभव हैं। इनका सर्वांगपूर्ण संपादन हो भी जाये तो ज़्यादा से ज़्यादा विराट् बना जा सकता है। ये साधन भी जन्मादि वाले हैं और इनका फल भी जन्मादि वाला है। उत्पत्ति, उत्पन्न होकर रहना, बढ़ना, बदलना, क्षीण होना और नष्ट होनाये छह सब भावों में होने वाले विकार यास्क मुनि ने निरुक्त में (२.२) बताये हैं। साधनों में तो ये हैं ही, विराट् पर्यंत इनके फलों में भी ये सब मौजूद हैं। जो निर्विकार को चाहेगा उसे ऐसे विकारी फल दोष वाले दीखेंगे। मानकर तो यह चलते हैं कि कर्म-उपासना का फल पाकर कृतार्थ हो जायेंगे लेकिन फल मिलने पर पता चलता है कि कृतार्थता की कोई संभावना नहीं, जैसी अभी हालत है वैसी ही तब है बल्कि फल जितना बड़ा है, उतनी ही उसके साथ परेशानी भी बड़ी ही है। इसी प्रकार साधनों में न्यूनाधिकभाव होता है अतः फल में भी सातिशयता रह जाती है अर्थात् जो मिले उससे अधिक भी कहीं-न-कहीं उपस्थित पता चल जाता है जिससे मिले हुए का पूरा आनंद नहीं आ पाता। विराट् से अधिक कोई फल नहीं फिर भी तत्त्वनिष्ठ विरक्त का आनंद उससे अधिक है यह शास्त्र से समझ आ ही जाता है। किं च कर्म-उपासना क्रियारूप होने से जड हैं एवं इनका फल भी उपाधिपक्षीय होने से जड है। विराट् की भी उपाधि ही कर्मफल है और उपाधि जड ही है। जड का चेतन से कोई वास्तविक संबंध नहीं अतः चेतन की पूर्ण सन्तुष्टि उससे संभव नहीं। इसलिये ये साधन एवं फल हेय हैं।।५३।।

ऐसे फल के सम्पादन के लिये अपेक्षित साधनों की और भी कठिनाई बताते हैं **किं च बहुत जन्मों में तरह-तरह के दुःख होते ही हैं। अनेक क्लेशों वाले तप के बिना इन साधनों को कर पाना और इनका फल प्राप्त करना दुर्लभ है।।५४।।** विराट्-पद के उपयुक्त साधन सम्पन्न करना एक जन्म में संभव ही नहीं, उसके लिये अनेक जन्मों का अथक प्रयास चाहिये और हर जन्म में नाना प्रकार के दुःख होते हैं यह प्रत्यक्षसिद्ध है। तपस्या के बिना, कष्ट सहे बिना न इन साधनों को कर सकते

कथंचित् साधितेऽप्यस्मिन् परानन्दघनं प्रभुम्।
अन्तर्भाव्य विराट्पिण्डे स्थातव्यं हि जुगुप्सिते।।५५।।

हैं, न विशेष फल पा सकते हैं। इसलिये ये साधन अभीष्ट नहीं और न इनके फल ही सुखरूप हैं।।५४।।

फलावस्था की हेयता व्यक्त करते हैं **किसी तरह साधना कर यह विराट् पद पा लें तो भी अनन्त आनन्दघन प्रभु को घृणित विराट् शरीर के भीतर बटोरकर रहना पड़ता है!।।५५।।** 'किसी तरह' इसलिये कि ऐसा कर्म-उपासना करने वाला युग-युगांतर में कोई एक ही हो सकेगा, ये साधन कर सकना सरल नहीं, अतिकठिन है। कर लेने पर विराट् बनेंगे तो आत्मदेव को समष्टि पिंड के भीतर समझना पड़ेगा जो अपने-आप में हेय स्थिति है क्योंकि जो आत्मा परम आनंदरूप है उसे स्थूल पिंड में बँधा, सीमित समझना अनुचित है। उस आनंदरूप प्रभु को, स्वतंत्र तत्त्व को शरीर के अंतर्भूत (भीतर) सीमित रखना बुद्धिमानी नहीं है। रखना पड़ेगा, अन्यथा विराट् का प्रारब्धभोग बनेगा नहीं। जैसे जीवन्मुक्ति में भी प्रारब्ध भोगने के लिये बहिर्मुखी वृत्ति बनानी ही पड़ती है वैसे विराट् को बनानी पड़ेगी। मनुष्यों की तो जीवन्मुक्ति पचीस-पचास साल में खत्म हो जायेगी पर विराट् को वह स्थिति कल्पांत तक कायम रखनी पड़ेगी जो कोई रुचिकर बात नहीं है। यद्यपि विराट् उस परिस्थिति में दुःखी नहीं तथापि मुमुक्षु की दृष्टि से विचार करें तो वह स्थिति आकर्षक नहीं। बड़े उद्योग के प्रधान व्यवस्थापक को यद्यपि उद्योग के नफे-नुकसान का साक्षात् फल न होने से मालिक की तरह परेशानी नहीं होती तथापि छोटे उद्योग का मालिक तो यह समझता है कि जब छोटे उद्योग को चलाने में वह इतना परेशान है तो बड़े उद्योग को चलाने में वह और ज़्यादा परेशान ही होता होगा! इसी प्रकार मुमुक्षु विराट् के बारे में विचार करता है तो उसे यही लगता है कि उसका पद कठिनाइयों से भरा ही है। इसी प्रकार मोक्षेच्छुक विराट् की मुश्किलें समझकर उससे विरक्त हो यह इस प्रसंग का प्रयोजन है। यद्यपि विराट् या किसी भी जीवन्मुक्त की अपनी दृष्टि से उसके अंतःकरणादि उपाधि में जो कुछ होता है उससे उस मुक्त का कोई लेना-देना नहीं रहता, वह केवल अधिष्ठान बना उस-उस प्रतीति को प्रकाशित करता है, सभी क्लेशों से परे है, पर औरों की दृष्टि में वह सुखी-दुःखी होता ही है। इसलिये कहा कि व्यवहार के लिये उसे अपना आनंदघन स्वरूप दबा कर, छिपाकर रखना पड़ता है। विराट् का भी पिण्ड है जुगुप्सित अर्थात् घृणास्पद ही। यद्यपि व्यष्टि के दोषों से समष्टि दूषित नहीं होता तथापि जडता, नश्वरता आदि दोष समष्टि स्थूल में भी हैं ही।

न केवलं पिण्डवासस्तादात्म्यं चाभिमानतः ।।[1]
ततो भयं भक्षणाय पितुर्मुखविदारणात् ।।५६।।
चाण्डालानां तु नेयं भीः किन्तु पन्नगजन्मनः ।
को भेदः स्याद् विराड्जन्मन्युरगात् पुत्रभक्षिणः ।।५७।।

प्रलयपर्यंत ऐसे शरीर में बँधे रहना मुमुक्षु के लिये आकर्षक नहीं।।५५।।

उपनिषत् में (१.२.४) पहले वर्णन आया है कि हिरण्यगर्भ ने जब विराट् को उत्पन्न किया तब उसे भूख लगी तो वह विराट् को ही खाने लगा जिससे डरकर विराट् 'भाण्' आवाज़ कर रोने लगा। इस सन्दर्भ का यहाँ संग्रह करते हैं **पिण्ड में केवल रहना ही नहीं पड़ता, वरन् उस घृणित शरीर से एकमेक होना पड़ता है और उसे 'मैं' समझना पड़ता है। फिर जब पिता (हिरण्यगर्भ) खाने के लिये मुँह फाड़ता है तब विराट् को डर भी लगता है।।५६।। चाण्डालों को भी यह डर नहीं होता (कि पिता खा जायेगा!) साँप अवश्य यों डरते हैं (क्योंकि सर्पिणी अपनी औलाद को खाती देखी जाती है)। पुत्र खाने वाले साँपों से विराट्-जन्म में क्या विशेषता रही!।।५७।।** जैसे हम शरीर से एकमेक हुए इसे 'मैं' समझते हैं ऐसे ही विराट् भी समष्टि में अभिमानी है। भय के बाद तो तादात्म्याध्यास निवृत्त होकर आहार्य अभिमान रह जायेगा लेकिन प्रारंभ में, जन्म के साथ तो तादात्म्यपूर्वक अभिमान होता है। अनात्मा को मैं, आत्मा समझना यह भी एक दोष है। मनु ने बताया है कि जैसा आत्मा नहीं वैसा उसे जानना महान् दोष है। विराट् से भी यह दोष हो जाता है। फिर उसे डर लगता है। पहले तो अकेलेपन का डर बताया था, अब डर का कारण है कि विराट् को उत्पन्न करने वाला हिरण्यगर्भ, जिसे श्रुति ने मृत्यु नाम से कहा है, वही विराट् को खा जाने को उद्यत हो जाता है! नवजात शिशु को उसका पिता खाने लगे तो बच्चा डरेगा ही। ऐसे ही विराट् भी डरता है। यह परिस्थिति कि पिता ही पुत्र को खाने लगे, मनुष्यों को भी नहीं सहनी पड़ती, केवल सर्पादि जानवरों में प्रसिद्ध है। जाति की दृष्टि से चाण्डाल को निकृष्ट मानते हैं पर उनमें भी ऐसा नहीं होता कि पिता पुत्र को खाने लगे! बच्चे अपने माता-पिता से तो निडर ही रहते हैं। सर्पों में ज़रूर देखा गया है कि अंडों से बच्चे निकलते हैं तो सर्पिणी उन्हें अपनी पूँछ के घेरे में ले लेती है और उन्हें खाने लगती है, जो थोड़े-बहुत बच जाते हैं वे ही आगे बड़े हो जाते हैं। यह भी भगवान् की एक

---

[1] चाभिमानिता इति पाठान्तरम्।

कृच्छ्राद् भये प्रशान्तेऽपि जग्राहाऽथाऽरतिग्रहः।
क्रियमाणे प्रतीकारे गर्दभादिशरीरता।।५८।।
एकयोनौ सकृज्जातः क्लेशं सोढुं न शक्नुयात्
अनन्तयोनिष्वसकृद् जायमानस्य का कथा।।५६।।

सुनियोजित व्यवस्था है! जितने साँप ज़िंदा रह जाते हैं वे ही गाँव आदि में काफी समस्या कर देते हैं तो अगर जितने अण्डे होते हैं उतने साँप जीवित रहने लगें तो न जाने कितनी परेशानी हो! पूर्व जन्मों में मनुष्य रहकर साधना करने वाला ही अब विराट् बना। मानव योनि में भी जो भय नहीं था, कर्मोपासना के फलस्वरूप विराट् बनने पर वह भय झेलना पड़ता है, यह कोई श्रेष्ठ स्थिति नहीं है। मुमुक्षु तो देखता है कि भले ही क्षणभर को डरना पड़ा, उसके बाद तो सारे संसार का असीम ऐश्वर्य मिल गया, पर मोक्षेच्छुक उस साँपों-जैसी हालत को उपादेय नहीं स्वीकार पाता।।५६-७।।

भय की तरह ही १.४.३ में विराट् की अरति बतायी थी, उसके विचार से भी वह पद हेय है यह दिखाते हैं **कठिनायी से भय मिट जाने पर भी तदनंतर अरतिरूप ग्रह ने विराट् को जकड़ लिया। उसको दूर करने पर विराट् को गधे आदि शरीर धारण करने पड़े!।।५८।। एक योनि में एक बार पैदा हुआ जीव वहाँ मिलने वाले क्लेश सह नहीं पाता तो अनंत योनियों में बारम्बार पैदा होने वाले के असह्य क्लेशों का क्या कहना!।।५६।।** भय कठिनाई से मिटा क्योंकि भयकाल में सत्त्वगुण प्रधान था नहीं फिर भी विचार करना पड़ा। सत्त्वदशा में विचार कठिन नहीं होता, सत्त्व दबा हो और सूक्ष्मतम वस्तु का विचार करना पड़े तो मुश्किल होती है। विराट् ने वह कठिनाई भी सहकर भय मिटाया लेकिन स्थायी शांति नहीं मिली, तुरंत अरति हो गयी, अकेलापन अच्छा नहीं लगा। अरति मानो कोई ग्रह था जिसने विराट् को अभिभूत कर लिया। ग्रह से ग्राह (घड़ियाल) भी समझ सकते हैं तथा ज्योतिषप्रसिद्ध क्रूरादि ग्रह भी समझ सकते हैं, दोनों की पकड़ दुःखद होती ही है। उससे बेबस हो विराट् ने अरति मिटाने के लिये अनेक शरीर बनाये। हम तो अरति मिटाने के लिये दूसरे लोगों के पास जाकर बात-चीत, खेल-कूद से मन बहला लेते हैं, विराट् अकेला था, किसके पास जाता! अतः उसे अन्य शरीर ही तैयार करने पड़े। अन्य सामग्री थी नहीं अतः अपने ही शरीर से उसने सब पिण्ड बनाये। अतः गधा-घोड़ा आदि सब उसे ही बनना पड़ा! यों अनंत शरीर धारण किये हुए विराट् की दुर्गति स्पष्ट है। हमें अपना वर्तमान जन्म ही मालूम रहता है, इसी के क्लेश असह्य पीडा देते हैं। एक शरीर के क्लेश जब इतने दुःखद हैं

निस्तरेद् विद्यया चेत् किं बकबन्धप्रयासतः।
अथ[1] विद्याम् उपेक्ष्योर्ध्वं किं विद्यां प्रार्थयिष्यति।।६०।।
क्लेशेन महतोपास्य बहुयोनीः प्रविश्य च।
विद्यान्वेषणतः श्रेय इदानीमेव वेदनम्।।६१।।

तब अनंत शरीरों के क्लेश कितना दुःख देते होंगे इसका क्या ठिकाना! और ये शरीर उसे एक ही बार नहीं, कल्पान्त तक ग्रहण करते ही रहना है। अतः उसके कष्ट अवर्णनीय हैं। मुमुक्षु इस रीति से विचार करे ताकि उपासना-कर्म के फल से विरक्त हो शमादिपूर्वक श्रवणादि से तत्त्वज्ञान पाकर मुक्त हो सके यह प्रसंगतात्पर्य है।।५८-६।।

विराट् को गुरु आदि के बिना तत्त्वावगति हुई यह भी बताया था; ब्रह्मलोक में धूप-छाया की तरह सुविस्पष्ट परमात्मबोध होता है यह भी वेद में कहा है; ऐसे में मोक्ष चाहने वाला भी विराट् बनकर स्वातन्त्र्य से ज्ञान पाने को क्यों न प्रवृत्त हो? यह शंका उठाकर इसका समाधान करते हैं **यदि कहो कि विराट् को अवश्य होने वाले तत्त्वज्ञान से सारे क्लेशों से छुटकारा मिल जायेगा; तो भी सोचो कि बगुला बाँधने की इस कोशिश से क्या फ़ायदा! वर्तमान मानव जन्म में विद्या की उपेक्षा कर उपासना क्यों करना चाहते हो?।।६०।। अत्यन्त कष्ट से उपासना करके, बहुत-सी योनियों में भ्रमण कर तब तत्त्वज्ञान के लिये अन्वेषण करने से बेहतर है कि अभी ही परमात्म-साक्षात्कार कर लो।।६१।।** 'बगुला बाँधना' एक संस्कृत का मुहावरा है : कोई कहे कि बगुले के सिर पर मक्खन रखकर उसे धूप में खड़ा कर दो, मक्खन पिघलकर उसकी आँखों में जायेगा तो वह आँखें मीच लेगा, तब उसे बाँध लेना! तो बात बेकार की है क्योंकि जो उसके सिर पर मक्खन रख सकेगा वह उसे बाँध भी सकेगा ही। इस प्रकार अत्यन्त परिश्रम करके विराट् बनो, फिर तत्त्वज्ञान से मोक्ष पाओ यह बेकार का तरीका है क्योंकि बिना विराट् बने भी तत्त्वज्ञान से मोक्ष सुलभ ही है। मानव शरीर में, अधिकारी देह में रहते हुए ही हम वेद व गुरु द्वारा उसी विद्या की प्राप्ति कर सकते हैं जो विराट् बनकर मिलनी है तो कर्म-उपासना के टण्टे में पड़कर इतना दीर्घकालिक प्रारब्ध क्यों पैदा करें। जो तो विराट् का ऐश्वर्यादि सुख है, वह भी अभिलषणीय नहीं क्योंकि ब्रह्मानन्द का ही वह भी एक छोटा-सा अंश है। तत्त्वज्ञान से मोक्ष मिल जाने पर वह सुख उस मोक्ष के आनंद में अंतर्भुक्त हो ही जायेगा। इसलिये विराट् बनने के लिये महान् क्लेश उठाना बेकार है, अभी ही आत्मज्ञान पाने के प्रयास

---

[1] अद्य इति मुत्तुशास्त्रीपाठः श्रेयान्।

एवं विचार्य बहुशस्तूर्णमेव मुमुक्षति।
निवृत्तः सर्वबाह्यार्थात् प्रमेयं मातुमर्हति।।६२।।
अधिकारी साधितः स्याद् एवं फलविचारतः।
तेन प्रमातुं यद् योग्यं तद् इदानीं निरूप्यते।।६३।।

में जुट जाना चाहिये। विवेकी ही यों विचारकर कर्मत्यागपूर्वक ज्ञानाभ्यास में लगेगा।अविवेकी तो समझ-बूझकर भी विराट् की सविशेष महत्ता से आकृष्ट हुआ कर्म-उपासना में संलग्न हो ही जायेगा। जनमेजय ने एक बार व्यास जी से शिकायत की 'आप सब ने दुर्योधन को सही तरह समझाया नहीं इसी से हमारे कुल का नाश हुआ।' व्यास जी ने कहा 'समझाने पर भी सब बातें जँचती नहीं।' वह न माना तो उन्होंने उसे कहा 'तू दक्षिण मत जाना, जाये तो वहाँ की लड़की से ब्याह न करना, करे तो उसे पटरानी न बनाना, बनाये तो अश्वमेध यज्ञ न करना, करे तो जवान पुरोहित न बुलाना, बुलाये तो उन पर क्रोध न करना। किंतु तू ये सब कार्य करेगा और उन ब्राह्मणों के शाप से कोढी हो जायेगा! समझा मैंने दिया। इतने कदमों तक तू कोशिश कर ले फिर भी तुझसे चूक होगी और कोढ हो जायेगा।' ऐसा ही हुआ तब जनमेजय को विश्वास हुआ कि भवितव्यता प्रबल होती है। ऐसे ही जो ऐश्वर्य की कामना वाला है वह सर्वकर्मत्याग के रास्ते जा नहीं सकता।।६०-१।।

विराट्-प्रसंग का उपसंहार करते हैं **इस प्रकार बहुतेरा विचार कर जब साधक तीव्र मुमुक्षा वाला हो जाता है तब सारे अनात्म पदार्थों से छूटकर जो वस्तुतः जानने योग्य आत्मवस्तु है उसे समझने में समर्थ हो जाता है।।६२।। इस प्रकार, फल के विचार से अधिकारी की सिद्धि हुई। अब वह बतायेंगे जो अधिकारी द्वारा जानने योग्य है।।६३।।** विवेकी ही अनेक तरह से विचार करेगा तभी मुमुक्षा तीव्र होगी। साधारण व्यक्ति, अविवेकी, इतना सब समझाने पर भी यथापूर्व विषयाभिलाषा और विषय पाने के प्रयास नहीं छोड़ पायेगा। अनादि काल के बाह्य संस्कार बिना घोर विचार के दबते नहीं और उनके दबे बिना विषयाकर्षण कम नहीं होता। जब तक बाहर के समस्त विषयों के प्रति निवृत्ति का भाव न आ जाये तब तक संसार की असारता का विचार करते ही रहना चाहिये। आत्मा के लिये जो प्रवृत्ति की जाती है वह भी निवृत्ति है और अनात्मा के लिये जो निवृत्ति की जाती है वह भी प्रवृत्ति है। क्या करते हो इससे प्रवृत्ति-निवृत्ति का निर्णय नहीं होता। प्रवृत्ति-निवृत्ति का निर्णय इससे होता है कि तुम्हारा उद्देश्य परमात्मा है या और कुछ। इस प्रकार जो सर्वथा

अव्याकृतम्

उपादेयस्य मेयस्य वाच्या सम्भावना यथा।
हेयसंसारहेतुश्च वक्तव्यो यत्नतस्तथा।।६४।।
संसाराख्यमहाव्याधेः किं मूलमिति चिन्तिते।
तद्ध्वस्तये चिकित्सेयं तदा फलवती भवेत्।।६५।।

निवृत्तिनिष्ठ है वह आत्मा को समझने का अधिकारी है, समझ सकता है। विराट्-भाव का अर्थात् कर्म-उपासना के चरम फल का यहाँ जो ब्रह्मविद्यारंभ में वर्णन है वह इसलिये कि इसके प्रति विरक्त ही तत्त्वज्ञान में अधिकारी है। उस आत्मा की प्रमा विरक्त को ही संभव है। प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान। जैसी चीज़ है वैसा उसे जानना प्रमा है। सच्चा एक परमात्मा ही है, बाकी सब मिथ्या है। अतः परमात्मा का ज्ञान ही वास्तव में प्रमा है। लौकिक सही ज्ञान व्यावहारिक प्रमा ही हैं, वास्तविक तत्त्वज्ञान नहीं है। ऐसा सत्य परमात्मा ही जानने योग्य है, आगे उसका वर्णन करेंगे।।६२-३।।

सातवीं कण्डिका में कहा है कि जो अब व्यक्त रूप से उपलब्ध जगत् है वही अभिव्यक्ति से पूर्व अव्याकृत, अव्यक्त था। विभिन्न नाम-रूपों से सम्बंध ही अभिव्यक्ति है। जिस अव्यक्तोपाधि वाले ने संसार अभिव्यक्त किया उसी ने शरीरों में जीवरूप से प्रवेश भी किया। सामान्यतः सारे शरीर में चैतन्य स्थित है ही, विशेषरूप से भी उसकी शरीर में तत्र-तत्र स्थिति प्रत्यक्ष है। जहाँ ज्ञान व क्रिया है वहाँ उसकी विशेष स्थिति समझ आती है। पेटी में छुरी की तरह उसकी विशेष उपलब्धि तथा लकड़ी में आग की तरह सामान्य उपलब्धि समझनी चाहिये। किंतु ऐसा आत्मा अज्ञानावृत जीवों को अज्ञात ही रहता है। उसके अपूर्ण रूपों को जानते हुए उसे साकल्येन नहीं जान पाते। जानना चाहिये समग्र आत्मा को, वही सबके लिये विज्ञेय है। श्लोक १८६ तक इसे समझायेंगे।

अव्याकृत-प्रक्रिया की भूमिका रचते हैं **जैसे ग्राह्य प्रमेय संभव है यह बताना आवश्यक वैसे ही हेय (त्याज्य) संसार का हेतु भी प्रयासपूर्वक बताना आवश्यक है।।६४।। संसार-नामक महान् बीमारी का मूल क्या है इसे समझ लेने पर तब उस बीमारी को दूर करने के लिये की गयी यह चिकित्सा सफल होगी।।६५।।** प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान का विषय प्रमेय परमात्मा है, वही अपना स्वरूप होने से ग्राह्य है, बाकी सारा संसार त्यागने के ही लायक है। उस आत्मा की संभवता समझाना ज़रूरी। बिना शास्त्रोक्त विचार के नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप परमात्मा है यह प्रतीत हो नहीं सकता तो उसे जानने की इच्छा भी नहीं होती। पहले शास्त्र से समझ आये

कि ऐसा परमात्मा है, तभी उसे जानने की इच्छापूर्वक अन्य साधन किये जायें। जैसे आत्मवर्णन शास्त्रकृत्य है वैसे संसार का कारण क्या है यह बताना भी शास्त्र का काम है। स्वयं अपनी बुद्धि से संसार-कारण को समझना जीव के लिये संभव नहीं, जो संसार बनने के बाद अस्तित्व में आया वह इसके कारण को जान ही नहीं सकता। अतः जगत्कारण भी शास्त्र से ही समझा जा सकता है। शास्त्र से जानकर तो लगता है यह सीधी बात है किंतु बिना शास्त्रदृष्टि के स्वतन्त्र विचार द्वारा जीव जगत्कारण को समझ नहीं सकता। शास्त्र बताता है कि अज्ञान जगत्कारण है। तदनुरूप विचार करें तो स्पष्ट होता है कि कारणों की खोज करने लगते हैं तो चार-छह कदमों बाद अज्ञान ही कारण मानना पड़ता है! बुखार क्यों हुआ? संक्रमण से। संक्रमण क्यों हुआ? रोगी के पास बैठने से। उसके पास बैठे क्यों? यों प्रश्न उठाते जाने पर अंतिम उत्तर यही होता है 'पता नहीं।' बड़े-से-बड़ा विद्वान् अंत में यही उत्तर देता है। इससे निश्चय हो जाता है कि जगत्का कारण 'पता नहीं' रूप अज्ञान ही है। अज्ञान और वर्तमान में उपलब्ध कार्य, इनके बीच में आने वाली परंपरा के बारे में चाहे जो मतभेद होते रहें, मूल कारण अज्ञान है यह सभी को मानना पड़ता है। बीच की परंपरा के बारे में मतभेद रहेगा ही, डॉक्टर संक्रमणादि को कारण कहेगा, वैद्य धातुकोप आदि को कहेगा, ज्योतिषी मीन-मेष देखकर कहेगा कि चन्द्रमा चतुर्थ भाव में आया यह रोग का कारण है; अपनी चिंतन-रीति के अनुसार ये मध्यवर्ती कारण प्रतीत होंगे, जँचेंगे भी, पर इनके भी 'क्यों?' के प्रश्न का उत्तर 'पता नहीं' ही निकलेगा। मनुष्य का स्वभाव है कारणों की परम्परा में उलझ जाना। यद्यपि वे मूल कारण नहीं तथापि उनमें से किसी- न-किसी में आग्रही होकर लोग विवाद करते रहते हैं। अतः शास्त्र प्रयासपूर्वक स्पष्ट करता है कि परमात्मा से अतिरिक्त यदि संसार का कोई एक कारण है तो वह अज्ञान है। मध्यवर्ती वस्तुओं की, उनके क्रम की, उनके योगदान की मनाही नहीं है, पर वे मूल कारण नहीं हैं यह तात्पर्य है। मूल हटे बिना संसरण से छुटकारा संभव नहीं। अवांतर कारणों में से किन्हीं को हटा भी लें पर मूल बना रहेगा तो वह पुनः किसी-न-किसी को माध्यम बनाकर कार्य संपन्न कर ही लेगा। अतः आवश्यक मूल को समाप्त करना है। संसार महान् रोग है, व्याधि है। जन्म-जन्मांतर एवं अवस्था-अवस्थान्तर में चलते ही रहना संसार है। सरकने वाला होने से इसे संसार कहते हैं। कठिनाई इसलिये है कि चीज़ें सभी सरकने वाली हैं पर इनमें हम न सरकने वाले हैं! इसीलिये हमारी निरंतर कोशिश है कि चीज़ों को भी न सरकने दें। उनका स्वभाव सरकने का है अतः हम सफल हो नहीं पाते, अतः दुःखी रहते हैं। यह ऐसा रोग है

[1]अविज्ञातनिदानेन भिषजा यच्चिकित्सितम् ।
तद् अनर्थकरं यद्वत् प्रकृतेऽप्यवगम्यताम् । ।क । ।
मायामूलं द्वैतमेतद् इत्यज्ञाते कथं त्विदम् ।
अद्वैतं बुद्धिमारोहेत् स्यादतोऽन्या तु नैव धीः । ।ख । ।
देहाऽदृष्टक्रियाकर्तृरागाऽध्यासार्थ-सप्तकात् ।
द्वारा संसारहेतुः स्याद् आत्माऽज्ञानं तु लोकवत् । ।ग । ।
आत्माऽज्ञानम् अनर्थानां मूलं लोकेऽपि नेतरत् ।
स्वपराक्रमम् अज्ञात्वा युध्यन् म्रियत एव हि । ।घ । ।
एवं स्वात्मानम् अज्ञात्वा संसाराऽनर्थम् आप्नुयात् ।
अनर्थाऽज्ञानयोः कार्यकारणत्वं प्रपञ्च्यते । ।ङ । ।

जो चल भी अनादि काल से रहा है और अत्यन्त दुर्लभ तत्त्वज्ञान के बिना मिट भी कभी नहीं सकता। इसे दूर करने के लिये इसके मूल कारण को समझना होगा क्योंकि यदि कारण दूर कर सकेंगे तो कार्यभूत यह संसार रोग स्वतः मिट जायेगा। चिकित्सा कारगर तभी हो जब पहले रोग का निदान हो, कारण पता लगे।

भाण्डारकर संस्थान पुणे में स्थित हस्तलेख के अनुसार मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित अनुभूतिप्रकाश में यहाँ तेरह श्लोक हैं जो अन्य लेखों में नहीं। वार्तिकसार में ये श्लोक हैं ही अतः प्रकरण-स्पष्टता के लिये इनका संग्रह अनुचित नहीं रोग का कारण जाने बिना की चिकित्सा की निरर्थकता की तरह संसारकारण समझे बिना मोक्षप्रयास फलप्रद नहीं हो सकता। ।क। । जब तक यह न पता चले कि द्वैत का मूल माया है तब तक अद्वैत बुद्धि में जम नहीं सकता, तब तक बुद्धि द्वैताकार ही बनी रहेगी। ।ख। । जैसे लोक में अज्ञान किन्हीं माध्यमों से (मध्यवर्ती हेतुओं से) कार्यकारी बनता है वैसे आत्मा का अज्ञान इन सात के द्वारा संसार का हेतु बनता है शरीर, धर्माधर्म, क्रिया, कर्त्ता, राग (-द्वेष), अध्यास और बाह्य पदार्थ। ।ग। । क्योंकि अपनी ताकत बिना जाने लड़ने वाला मारा जाता है इसलिये लोक में भी निश्चित है कि आत्मा का अज्ञान अनर्थों का मूल है, और कुछ नहीं। ।घ। । इस तरह, स्वात्मा को न जानकर व्यक्ति संसाररूप अनर्थ पाता है। अनर्थ कार्य और अज्ञान कारण है। ।ङ। । जिसे छोड़ना चाहते हैं उस अनर्थ का हेतु है शरीर धारण करना क्योंकि कोई शरीरधारी प्रिय-अप्रिय

---

[1] एते श्लोकाः क्वचिदेव मातृकासु विद्यन्ते। सारे तु सन्ति। प्रसङ्गोपयोगात्समावेष एषामत्र प्रशस्त इति मद्रपुरीविश्वविद्यालयात्प्रकाशितेऽनुभूतिप्रकाशे मूलगततयैषां मुद्रणम्।

जिहासितस्याऽनर्थस्य हेतुः स्यात् सशरीरता।
न प्रियाऽप्रियविच्छेदः सशरीरस्य कस्यचित्।।च।।
धर्माऽधर्मौ च देहस्य योनिरित्यागमोऽब्रवीत्।
विहितं प्रतिषिद्धं च कर्म मूलं तयोरपि।।छ।।
कर्त्तुरेव भवेत् कर्म रागद्वेषाच्च कर्तृता।
शोभनाऽशोभनाऽध्यासौ रागद्वेषप्रयोजकौ।।ज।।
उक्ताऽध्यासोऽप्यन्यवस्तुसद्भावात् स्याद् न चान्यथा।
वस्त्वन्तरस्य सद्भाव आत्माऽज्ञानेन कल्पितः।।झ।।
एवं देहादिवस्त्वन्तसप्तकव्यवधानतः।
संसाराऽनर्थहेतुः स्याद् आत्माऽज्ञानं जगत् सृजेत्।।ञ।।
प्रत्यग्याथात्म्यसम्मोहात् जगत् सदिव भासते।
प्रत्यग्याथात्म्यसम्बुद्धौ न सत् तद् नाऽसद् उच्यते।।ट।।
अशेषाऽनर्थरूपस्य प्रत्यगज्ञानरूपिणः।
ध्वस्तौ ध्वस्तिरनर्थानाम् आनन्दश्च समाप्यते।।ठ।।
निरस्ताऽतिशयानन्दरूपता प्रत्यगात्मनि।
यो वै भूमा तत् सुखं स्याद् इत्यादिश्रुतिसम्मतम्।।ड।।

से छूटा नहीं रह सकता।।च।। शास्त्र ने कहा है कि शरीर का कारण धर्म-अधर्म हैं। विहित कर्म करने से धर्म तथा निषिद्ध कर्म करने से अधर्म उत्पन्न होता है।।छ।। कर्म वही करेगा जो स्वयं को कर्त्ता जानता है। राग-द्वेष होने पर ही अपनी कर्तृता स्फुट होती है। राग-द्वेष तभी होंगे जब 'यह अच्छा है, वह बुरा है' ये अध्यास हों।।ज।। मुझसे अन्य कोई वस्तु है ऐसा समझने पर ही उस वस्तु को अच्छा या बुरा जाना जा सकता है। आत्मातिरिक्त कोई वस्तु है यह आत्मा के अज्ञान से ही कल्पित है।।झ।। इस तरह, शरीर से लेकर बाह्य वस्तु के अस्तित्व तक जो सात हैं इन्हीं के माध्यम से जगत् उत्पन्न करता आत्मा का अज्ञान संसाररूप अनर्थ का कारण बनता है।।ञ।। प्रत्यगात्मा की वास्तविकता के बारे में संमोह से, अयथार्थ ज्ञान से, जगत् लगता है मानो सत् (सत्य) हो, प्रत्यगात्मा की वास्तविकता का सही ज्ञान होने पर जगत् सत्-असत् से विलक्षण समझ आ जाता है।।ट।। सब अनर्थों के मूल अज्ञान के नष्ट होने पर सब अनर्थ मिट जाते हैं और आनंद प्राप्त हो जाता है।।ठ।। 'भूमा ही सुख है' आदि वेदवचनों की इसमें संमति है कि प्रत्यगात्मा अनन्त आनंद है।।ड।।)

स्वत आनन्दयाथात्म्येऽप्यबोधाद् दुःखसम्प्लुतिः ।
सोऽबोधोऽनर्थहेतुत्वाद्[1] निर्देष्टव्यश्चिकित्सितुम् । ।६६ । ।

अव्याकृत प्रक्रिया में (सप्तम कण्डिका में) आत्मवर्णन का प्रयोजन स्पष्ट करते है **जिसकी वास्तविकता स्वाभाविक आनंद है उस आत्मा का भी अज्ञान के कारण दुःख से सम्बन्ध हो गया है! अनर्थ का हेतु होने से उस अज्ञान को समझाना ज़रूरी है ताकि चिकित्सा की जा सके। ।६६ । ।** आत्मा का स्वभाव आनंद कैसे समझें? हम दाल, साग, समोसा खाते हैं, तीनों नमकीन हैं। ऐसा नहीं समझते कि दाल से मिलकर नमक नमकीन हो गया या साग-समोसे से मिलकर नमक नमकीन हो गया! तीनों चीज़ों में नमक है अतः उसी के कारण अन्यों में नमकीनपन आता है यही माना जाता है। इसी प्रकार रूप-रस आदि के भोग से हमें सुख होता है। रूप-रस आदि विषय तो बदलते जाते हैं, एक-समान रहता हूँ मैं, जिसे सुख होता है। अतः असल में सुख का कारण मैं हूँ। मेरी सुखरूपता रूप-रस आदि विषयों से नहीं आती वरन् मेरे सम्बंध से विषय सुखभरा हो जाता है! इसलिये सुखरूप मैं आत्मा ही हूँ। इसका विशेष अनुभव सुषुप्ति में, गहरी नींद में होता है, वहाँ असीम आनंद है पर विषय कुछ भी नहीं है, सिर्फ़ मैं हूँ। यों आत्मा सुखरूप होने पर भी भ्रम हो गया है कि अमुक चीज़ मिलेगी तो सुख होगा! यदि किसी को जँचा दो कि पत्नी कभी सुख नहीं दे पाती तो वह अपनी सुंदर सुशील पत्नी की भी उपेक्षा कर वेश्याओं के ही पास सुख ढूँढता रहता है, वैसे अपने हृदय में उपस्थित आनंदरूप आत्मा के अज्ञान से हमें भ्रम है कि सुख तो बाह्य विषयों से ही मिलता है, अपने-आप में कहाँ सुख है! अतः दुनिया-भर के विषयों के लिये प्रयत्न करते हैं, प्रत्यगात्मा को देखने के लिये कोई कोशिश नहीं करते। हमारी इस कुमति का अनुसरण कर ही शास्त्र परमात्मा को ज्ञेय, ध्येय आदि रूप में बताता है ताकि कम-से-कम हम उसकी ओर प्रवृत्त तो हों। एक बार उसे समझना शुरू करेंगे तो धीरे-धीरे पता चल जायेगा कि वही हमारी बुद्धि-गुहा में उपस्थित हमारा निज स्वरूप है। हमें जिस नित्य सुख की अभिलाषा है वह हमारा प्रत्यगात्मा ही है। भ्रममात्र से हम अनित्य असुखरूप विषयों को नित्य और सुखरूप बनाने के प्रयास में लगे हैं। इसी से हम दुःख में डूबे रहते हैं। हम जितने भी पाप करते हैं उनका उद्देश्य क्या है? कि हमें सुख मिले। जैसे ही पता चलता है कि सुख हमारा अयत्नसिद्ध स्वभाव है, वैसे ही अनर्थ-

---

[1] स बोधोऽन इति सारे पाठः। दुःखबोध इति तद्व्याख्या।

अबुद्धमात्मनस्तत्त्वं प्रमातुं योग्यमागमैः।
निर्देष्टव्यं तदप्यत्र सम्भावयितुम् अञ्जसा।।६७।।

प्रवृत्ति स्वयमेव छूट जाती है। अनर्थ का, अधर्म का कारण अज्ञान है। उसे हटाने पर ही संसार-रोग का उन्मूलन होगा। इसीलिये शास्त्र अज्ञान बताता है। ऐसा नहीं कि शास्त्र ने बताया, इसलिये अज्ञान कोई वस्तु है! है वह अवस्तु ही पर उसे दूर करना ज़रूरी होने से उसके बारे में समझाना पड़ता है, अन्यथा जीव अन्यान्य प्रयास करता रहेगा, संसार रोग का मूल कारण उखाड़कर नहीं फैंकेगा तो दुःखी ही बना रहेगा। इसी प्रयोजन से अज्ञान का वर्णन शास्त्र करता है। अज्ञान अनुभवसिद्ध होने से स्वरूपतः शास्त्र द्वारा बोध्य नहीं किंतु वही संसारकारण है यह अनुभवसिद्ध नहीं, इसे शास्त्र समझाता है। यह तो याद रखना ही चाहिये कि शास्त्र परमात्मा को जगत्कारण बताने में प्रवृत्त है; परमात्मा जिस उपाधि से, द्वार से, सहायता से कारण बनता है वह अज्ञान है यह भी शास्त्र समझाता है ताकि इस द्वार को हम बंद कर सकें तो हमारा संसरण समाप्त हो।।६६।।

अज्ञान स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, आत्मा पर आश्रित हुआ ही रहता है, प्रतीत होता है अतः आत्मपरतंत्र मिथ्यावस्तु ही है। अत एव अज्ञात आत्मा को ही अज्ञान बताया गया है। वही आत्मा जान लिया जाने पर अज्ञान निवृत्त हो जाता है। इस अभिप्राय से समझाते हैं **आत्मा की न समझी गयी वास्तविकता ही आगमों द्वारा ठीक-ठीक समझी जाने योग्य है। उसका भी यहाँ निर्देश आवश्यक है ताकि उसकी समीचीनता प्रमाण-युक्ति के अनुकूल समझ आये।।६७।।** आत्मा की वास्तविकता एकमात्र शास्त्र प्रमाण से पता चलती है। आत्मा को 'मैं'-रूप से जानते सब हैं लेकिन किसी-न-किसी उपाधि से जुड़ा ही समझते हैं। जैसे गिरगिट जहाँ हो वहाँ के अनुसार अपना रंग बदल लेता है जिससे यह समझना अतिकठिन है कि उसका अपना रंग क्या है, ऐसे आत्मा उपाधिधर्म ग्रहण करता जाता है जिससे उसकी भी वास्तविकता समझना अतिकठिन है। इसे शास्त्र से ही समझ सकते हैं। शास्त्र आत्मस्वरूप इस तरह उपस्थित करता है कि लौकिक एवं शास्त्रीय प्रमाणों से तथा विचार के मान्य तर्कों से वह विरुद्ध न लगे, अनुकूल लगे। वेद की यह युक्ति-अविरुद्धता उसकी अन्यों की अपेक्षा अधिक प्रमा-जनकता को दृढ रखती है।।६७।।

सप्तम कण्डिका के व्याख्यान के प्रारंभ की प्रतिज्ञा करते हैं **'अव्याकृत'-शब्द से श्रुति ने उस अज्ञान का तथा उस प्रमेय का निर्देश दिया है। उसी श्रुतिका**

तम् अबोधं तच्च मेयम् अव्याकृतगिरा श्रुतिः ।
निरदिक्षच्छ्रुतिः, सा तु न्यायेनाऽत्र विचार्यते । ।६८ । ।
'तद्धेदं' तर्ह्यविस्पष्टम् आसीद् अव्याकृताऽभिधम् ।
इत्येतस्मिन् श्रौतवाक्ये पदार्थस्तावद् ईर्यते । ।६९ । ।

यहाँ युक्तिपूर्वक विचार किया जा रहा है। ।६८ । । जिसे मिटाने के लिये सारी साधना है उस अज्ञान को भी समझना ज़रूरी है। अज्ञान को 'जानना' उस तरह नहीं हो सकता जैसे घड़ा जानते हैं! क्योंकि प्रकाश से अंधेरे की तरह प्रमा से अज्ञान को विषय करते ही वह समाप्त हो जाता है। फिर भी विविध तरहों से उसे समझा तो जा ही सकता है और इसीलिये शास्त्र विविध शब्दों से उसे बताता है। पद्मपादाचार्य ने नाम-रूप, अव्याकृत, अविद्या, माया, प्रकृति, अग्रहण, अव्यक्त, तम, कारण, लय, शक्ति, महासुप्ति, निद्रा, अक्षर, आकाशइतने उसके बोधक शब्द एकत्र (पंचपा. पृ. १७३) किये हैं। अज्ञान को अन्य वादी ज्ञान का अभाव मानते हैं जबकि वेदान्त में उसे अभावविलक्षण स्वीकारते हैं जिसे हृदयंगम करने के लिये, इन सब शब्दों में जिसे विषय करते हैं वह अज्ञान है यह बताना पड़ता है। अज्ञान वास्तविकता को ढक तो सकता है परंतु स्वयं अज्ञान की असलियत का पता नहीं लगता, वह 'है' भी कहते नहीं बनता, 'नहीं है' भी कहा नहीं जा सकता, अतः उसे अनिर्वचनीय बताया गया है। 'मैं अज्ञानी हूँ' इस अनुभव से वह सिद्ध अवश्य है पर उसके स्वरूप के विश्लेषण का कोई ठोस नतीजा नहीं निकलता। अज्ञान के अनुभव से अलग अज्ञान का स्वतंत्र स्वरूप है ही नहीं कि उपलब्ध हो! जैसे ओस की बूँद चाहे जितनी रमणीय लगे पर उसे पकड़ने जाओ तो कुछ हाथ नहीं लगता वैसे लगता है कि सारे संसार का कारण बनने वाला अज्ञान कोई बड़ी भारी चीज़ होगी पर उसकी परीक्षा करते हैं तो पाते हैं कि वह है ही नहीं! इसलिये अज्ञान को यहाँ मेय (प्रमेय) से अलगकर बताया। अज्ञान को समझना पड़ता है पर वह किसी प्रमाण का विषय नहीं बनता। अज्ञान और प्रमेय परमात्मा इन दोनों के बारे में श्रुति अव्याकृत कण्डिका में निर्देश दे रही है जिस पर विद्यारण्यस्वामी यहाँ विचार करने जा रहे हैं। ।६८ । ।

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इस श्रुतिवाक्य का उल्लेख करते हैं **बहिर्मुख प्रमाणों का विषय यह जगत् अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व अव्याकृत-नामक अस्पष्टावस्था में था यह प्रसिद्ध है। इस वेदवाक्य में आये पदों का अर्थ पहले बताते हैं। ।६९ । ।** नाम-रूप के विभाजन वाला होने से पूर्व कार्य अपने कारण में यों छिपा

अज्ञानात्मन्यशेषेण लीनं बीजस्वरूपधृक् ।।[1]
तच्छब्देन जगत् प्रोक्तं परोक्षार्थाऽभिधायिना ।।७० ।।
अव्याकृतस्य जगतो भूतकालाऽभिसङ्गतेः ।
बुभुत्सुं प्रति पारोक्ष्यात् तच्छब्दस्तत्र युज्यते ।।७१ ।।

रहता है कि वह है, कैसा है इत्यादि कुछ स्पष्ट नहीं होता। उसी अस्पष्ट स्थिति को अव्याकृत कहा गया है। व्याकृत अर्थात् स्पष्ट अतः अव्याकृत अर्थात् अव्यक्त, अस्पष्ट। इसे और समझायेंगे; यहाँ तो पूरे वाक्य का अभिप्राय बताया, आगे एक-एक शब्द का अर्थ कहेंगे। लोक में भी ज़रूरी है कि वाक्य में आये शब्दों का सही अर्थ समझा जाये अन्यथा बड़ी-बड़ी भूलें हो जाती हैं। संविधान में लिखा गया 'हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा होगी'; यह नहीं कि वह राष्ट्रभाषा है! अतः हिंदी-विरोधियों को मौका मिलता गया और आजतक 'हिंदी कब राष्ट्रभाषा होगी' इसका हिंदी-पक्षीय लोग इन्तज़ार ही कर रहे हैं। तभी यदि 'होगी' के बजाये 'है' लिखा गया होता तो हिन्दी की यह दुर्दशा न होती, विदेशी भाषा का इतना प्रभाव न पड़ता। लोक में ही ऐसा हो जाता है तो शास्त्र में पद-पदार्थ समझना और ज़्यादा ज़रूरी है इसमें क्या कहना! वेद केवल ध्वनि से ही कल्याण नहीं करता, इस के प्रत्येक अक्षर का अभिप्राय समझने लायक है, उसे समझने से ही पुरुषार्थ-प्राप्ति संभव है। विद्यारण्यस्वामी ने प्रायः इस ग्रंथ में यही तरीका रखा है कि विवेचनीय वाक्यों के शब्दों का अर्थ सुस्पष्ट समझाते हैं।।६९।।

वाक्य में जिस क्रम से शब्द हैं उसी क्रम से उन्हें समझाना प्रारंभ करते हुए 'तत्' शब्द का अर्थ बताते हैं **परोक्ष चीज़ बताने वाले 'तत्' (वह) शब्द द्वारा बीजरूप धारण किया हुआ एवं अज्ञानरूप वस्तु में पूरी तरह छिपा हुआ जगत् कहा गया है।।७०।। क्योंकि अव्यक्त जगत् का भूतकाल से सम्बन्ध जिज्ञासु के लिये परोक्ष है इसलिये उस अर्थ में 'तत्' शब्द का प्रयोग ठीक है।।७१।।** 'तत्' अर्थात् हिंदी में 'वह'। जो चीज़ सामने नहीं उसी को 'वह'-शब्द से कहते हैं। सामने की चीज़ 'यह' कही जाती है, दूर की, देश या काल की दृष्टि से दूर, 'वह' कही जाती है अर्थात् जो साक्षात् या प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष हो, इंद्रियों से ग्रहण न हो रही हो। अव्याकृत अनुमानगम्य ही रहता है अतः 'वह' कहा जाये यह ठीक ही है। जगत् अव्यक्त में बीजरूप से रहता है। अव्यक्त को 'अज्ञानात्मनि' पाठ में अज्ञानरूप कहा है, 'अज्ञातात्मनि' पाठ

---

[1] अज्ञातात्मावशेषेण लीनं ब्रह्मस्वरूपधृक् इति वार्तिकसारे पाठः मुत्तुशास्त्री तु 'अज्ञातात्मन्यशेषेण' इति पठति।

ऐतिह्यार्थे ह-शब्दः स्यात् सुखेनार्थावबुद्धये।
तर्केणोक्ते धियः क्लेशः परमाण्वनुमानवत्।।७२।।

में अज्ञात आत्मरूप कहा है तथा 'अज्ञातात्मावशेषेण' आदि वार्तिकसार के पाठ में कहा है कि जगत् अज्ञात आत्मरूप से लीन होकर 'ब्रह्मस्वरूपधृक्' ब्रह्मस्वरूप हो गया है। पहले भी बता चुके हैं कि अज्ञात आत्मा से अतिरिक्त अज्ञान कुछ नहीं है। बीज वह होता है जिसके बारे में, जब तक उससे पौधा प्रकट न होवे तब तक कुछ निश्चित कहा न जा सके। कौन-सा बीज फलेगा, कितने व कैसे फल देगा आदि कुछ भी पहले से नहीं कहा जा सकता। ऐसे ही अज्ञात आत्मा के रूप में जो बीजभूत जगत् है वह ऐसा नहीं जैसा हम आज (व्यक्तावस्था में) देख रहे हैं। जैसे बीज में तना-जड़-पत्ते-फूल-फल नहीं दीख सकते ऐसे अव्यक्त में जगत् दीखे यह संभव नहीं। किंतु जैसा छान्दोग्योपनिषत् में बताया 'यं वै सोम्य! एतम् अणिमानं न निभालयसे, एतस्य वै सोम्य! एषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धत्स्व सोम्य! इति।' (६.१२.२) जिस अत्यंत छोटे वटबीज को देखना भी मुश्किल होता है उसी में बड़ा भारी बरगद का पेड़ मौजूद है! इस बात में श्रद्धा रखना ही बुद्धिमानी है। सृष्टि होने से पहले यह पता नहीं चल सकता कि क्या पैदा होगा। इसी दृष्टि से 'तत्' कहना बन जाता है। आज क्योंकि व्यक्त जगत् हमारे सामने है इसलिये हम अव्यक्त को 'था' ही समझ सकते हैं, भूतकाल-सम्बन्धी ही समझ सकते हैं। कार्य से ही अव्यक्त का अनुमान होता है अतः वह पूर्वकालिक के रूप में ही समझा जा सकता है। जैसे घड़ा-कपड़ा दीख जाता है ऐसे 'यह अव्यक्त है' यों उसे अनुभव नहीं कर सकते। बुभुत्सु, बोध का इच्छुक, जिज्ञासु, व्यक्त जगत् से व्यवहार कर रहा है। वह जगत्-कारण को समझना चाहता है, उसके लिये कारण परोक्ष ही होगा अतः उसे तत्-शब्द से ही कहा जायेगा। इस प्रकार स्पष्ट किया कि तत्-पद अव्याकृत अवस्था वाले जगत् का विशेषण है।।७०-१।।

'तद्धेदम्' में दूसरा शब्द 'ह' है। भाष्यकार ने माना है 'ऐतिह्यप्रयोगो ह-शब्दः' अर्थात् ह-शब्द से पता चलता है कि किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक तथ्य का वर्णन है। यों कहने से समझने में सुभीता होता है ऐसा मानकर ह-शब्द रखा गया, यह समझाते हैं **यहाँ 'ह'-शब्द इस अर्थ में है कि बतायी जा रही बात ऐतिहासिक है। इस तरह इसलिये कहा ताकि अभिप्राय आराम से समझ आये। तर्क से बताने पर बुद्धि को कठिनाई होती है जैसे परमाणु-बोधक अनुमान समझने में होती है।।७२।।** उपनिषदों ने प्रायः कहानी के रूप में तत्त्व समझाया है, वह इसलिये कि उपदेश ग्रहण

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
नाऽप्रतिष्ठिततर्केण गम्भीरार्थस्य निश्चयः।।७३।।[१]

हो जाये। प्राचीन घटना का वर्णन सुनते समय चित्त पहले उसे ग्रहण करने को उन्मुख होता है जबकि वही बात तर्क के रूप में व्यक्त करें तो चित्त पहले ही सावधान हो जाता है कि कहीं कोई तार्किक त्रुटि तो नहीं। वस्तु की सिद्धि तर्क पर निर्भर नहीं किंतु जब तर्कपूर्वक समझाते हैं तब व्यक्ति से यह भूल हो जाती है कि वह तर्क की कमज़ोरी देखकर मान बैठता है कि वस्तु ही वैसी नहीं है! अतः शास्त्र पहले उपदेशप्रधान होकर तत्त्व बता देता है, फिर उसके उपपादन में तर्क भी सुझाता है। इसमें उदाहरण तार्किक के वे अनुमान-प्रयोग हैं जिनसे परमाणु सिद्ध किये जाते हैं। यदि इतिहास की तरह कह दिया जाये कि दुनिया बनने से पूर्व अत्यन्त छोटे सूक्ष्म कण थे परमाणु, जो जुड़कर सारी दुनिया बन गये या जिन्हें जोड़कर भगवान् ने दुनिया बना दी, तो बात ग्रहण हो जाती है। किन्तु तार्किक परमाणु हैं इसे यों व्यक्त करते हैं छोटी खिड़की से कमरे में आती सूर्य की किरण में जो सूक्ष्म रजःकण उपलब्ध होते हैं वे भी टुकड़ों वाले हैं क्योंकि आँखों से दीखते हैं, आँखों से टुकड़े वाली चीज़ ही दीखती है जैसे कपड़ा। यों वे ऐसे परमाणु सिद्ध करने की कोशिश करते हैं जो आँखों से नहीं दीख सकते। इस प्रकार कहने पर श्रोता को समझ में आना कठिन हो जाता है यह अनुभवसिद्ध है। वेद का उद्देश्य जीवों का कल्याण करना है अतः जिस तरह से जीव विषय को ग्रहण करे उस तरह बताना उचित है। किसी तार्किक दर्शन (फिलोसोफी) की स्थापना करना वेद का प्रयोजन नहीं। वेद तो परमेश्वर की अहैतुकी कृपा से व्यक्त उनका ज्ञान ही है। ईश्वर हमारे उद्धार में ही प्रवृत्त है अतः जब इतिहास की तरह बताना उचित है तब वैसा ही कथन कर देता है।।७२।।

प्रश्न उठ सकता है कि इतिहास के रूप में उल्लेख तो बात को अर्थवाद बना देगा, क्या उसका महत्त्व घट नहीं जायेगा? इसका उत्तर देने के लिये महाभारत (भीष्म. ५.१२) का अनुसरण करते हुए समझाते हैं कि इस ढंग से उल्लेख इस प्रयोजन से है कि शुष्क तर्क का इस विषय में प्रवेश अनिष्ट है यह स्पष्ट हो **जो भाव सांसारिक विचार-प्रक्रियाओं से परे ही हों उन्हें तर्क से निर्णीत करने का प्रयास नहीं करना चाहिये। तर्क प्रतिरुद्ध होकर रुकता नहीं अतः उससे किसी गंभीर अर्थ का निर्णय सम्भव नहीं।।७३।।** 'अचिन्त्य' उसे कहते हैं जिसके स्वरूप का, सामर्थ्य का निर्धारण अन्य वस्तुओं के अनुसार न हो सके। जो चीज़ें सर्वसाधारण नियमों का पालन

---

१. द्रष्टव्य महाभा. भीष्म. ५.१२।।

करती हैं उन्हें चिन्तन के योग्य ही माना जाता है लेकिन जिस पर वे नियम लागू न हों उसका चिंतन संभव ही नहीं। उसके स्वयं के ही नियम होते हैं, उन्हें पता लगाया जा सकता है लेकिन अन्य चीज़ों के नियमों के आधार पर अचिन्त्य वस्तुओं के नियमों का निगमन नहीं होता। या उसी चीज़ के परीक्षण से होता है, या अनुभवी के उपदेश से होता है। परमात्मा एवं उसका जगत्कारण रूप ऐसा ही अचिन्त्य होने से शास्त्र से ही समधिगम्य है अतः उस पर लोकसिद्ध तर्कों से विचार संभव नहीं। यहाँ 'भाव'-शब्द का प्रयोग 'होने वाली वस्तु' के लिये है। यह भी ध्वनि है कि जो वस्तुएँ स्थूल नहीं वे प्रत्यक्ष का विषय न बनने से प्रत्यक्षाधारित तर्क से न समझी जायें यह उचित ही है। मन की काम-क्रोधादि वृत्तियाँ भी भाव कही जाती हैं, उन्हें भी तर्क से उपपन्न नहीं किया जा सकता। जैसे उन भावों को समझा जा सकता है वैसे अव्याकृत आदि तत्त्व समझे तो जा सकते हैं लेकिन तर्क से उन्हें निर्धारित नहीं कर सकते। 'खलु' से कहा कि कुछ चीज़ें साधारण न सही, विशेष तर्क से विषय होती हैं। गणित, भौतिकी आदि में ऐसा विभाजन प्रसिद्ध है कि कोई नियम कितनी सीमा तक लागू होता है। किंतु परमात्मा तो तर्क से सर्वथा अगोचर है, उसे कैसा भी तर्क विषय नहीं करता। तर्क को 'अप्रतिष्ठित' कहा। प्रतिष्ठा अर्थात् रुक जाना, स्थिर हो जाना। तर्क रुकता नहीं, हर तर्कित मत पर पुनः तर्क लागू होता ही रहता है अतः निश्चय पर पहुँचना संभव नहीं होता। हर निर्णय पुनः तर्क का सामना करेगा और तर्क असंख्य है तो तर्क को रुकने का मौका ही कहाँ मिलेगा! उसका प्रतिरोध, विरोध संभव नहीं क्योंकि प्रतिरोधी भी तो तर्क ही होगा! इसी से भगवान् बादरायण ने सूत्र बना दिया 'तर्काऽप्रतिष्ठानाद्' (२.१.११) कि तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। नये-नये तार्किक पूर्व-पूर्व तार्किकों के मत काटते रहते हैं। न यह संभव है कि भूत-भावी सारे तार्किक एकत्र होकर निर्णय करें और न यह कि बाद में उन्हीं तार्किकों को कोई नया तर्क नहीं सूझ जायेगा। अतः यहाँ आचार्य ने कहा कि 'गंभीर' अर्थ का निश्चय तर्कों से नहीं होता। गंभीर अर्थात् जिनका महत्त्व है। साधारण बातों को तर्कित कर एक हद पर रुका जा सकता है क्योंकि वहाँ काम चलाना, व्यवहार-सिद्धि ही प्रयोजन है; जितने से काम चले उतना ही तर्क लगा कर छोड़ा जा सकता है। लेकिन जो गम्भीर अर्थ है, जिसका निर्णय बंध-मोक्ष का भेद करने वाला है, संसारचक्र को रोकने वाला है, उसका किसी व्यवहार में प्रयोग है नहीं कि अंतिम नतीजे तक पहुँचे बिना रुकना संभव हो। इसीलिये धर्म को भी केवल तर्क से समझने को मना किया जाता है। परलोक-सम्बन्धी होने से इस लोक के तर्क उसे समझने-समझाने में अक्षम हैं। जहाँ तक

नामरूपाऽदिविकृतं पराङ्मानेन भासितम्।
इदं-शब्देन निखिलं जगद् 'एतद्' उदीर्यते।।७४।।

शास्त्रानुसारी तर्क मिले वहाँ तक उसका उपयोग तो अवश्य करना चाहिये ताकि निश्चय दृढ रहे लेकिन तर्क पर निर्भर नहीं होना चाहिये, तर्क-विरोध से शास्त्र को अन्यथा नहीं करना चाहिये। धर्म और ब्रह्म ये ही वस्तुतः गंभीर अर्थ हैं। वैसे, लोक में भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें होती हैं जो अनुभव और प्रेरणा के आधार पर निश्चित हो सकती हैं, तर्क के आधार पर नहीं। उनके लिये भी यहाँ कही बात याद रखनी चाहिये। 'तद्ध' में 'ह' के प्रयोग से वेद ने यही चेतावनी दी है।।७३।।

श्रुति के 'इदं' शब्द का अर्थ कहते हैं **नाम, रूप आदि विकारों वाला, अनात्मविषयक प्रमाणों से प्रतीत होने वाला यह सारा जगत् 'इदं' शब्द से कहा जा रहा है।।७४।।** 'इदं' कहते हैं 'यह' को, जो संमुख हो ऐसी चीज़ को। सारा संसार इदम्बुद्धि का विषय बनता है, 'यह' यों उसका भान होता है। वह नाम, रूप और कर्म, इन विकारों वाला ही है। विकार मतलब कार्य, परिवर्तन, विविध आकार। नाम-रूप-कर्म तीनों में विविधता है, विभक्तता है, अलगाव है और ब्रह्मसूत्रों में निर्णय किया है 'यावद् विकारं तु विभागः' (२.३.७) कि विभाग वाली, भेद वाली, सद्वय वस्तु विकार अर्थात् कार्य होती ही है। अतः इन विकारों वाला जगत् स्वयं कार्य ही है। इसे उन्हीं प्रमाणों से जान सकते हैं जो अनात्मा को विषय करते हैं। आत्मविषयक प्रमाण तो एक तत्त्वमस्यादि-वाक्यजन्य अखण्ड वृत्ति ही है, उससे ही आत्म-प्रमा होती है। लौकिक आत्मप्रमायें भी उपाधियुक्त रूप को विषय करने से 'पराङ्मान' ही हैं, पराक् अर्थात् अप्रत्यक्, अनात्मा को गोचर करने वाली प्रमायें ही हैं। स्थूल-सूक्ष्म प्रपंच को जिनसे ठीक-ठीक समझा जाता है वे पराक् प्रमाण हैं, उनसे प्रतीत होता समग्र संसार यहाँ 'इदम्' कहा गया है। इससे वे चीज़ें हटा दीं जो प्रमाणगम्य नहीं हैं। भ्रम से, कल्पनामात्र से जो प्रतीत हो उसे यहाँ 'इदम्' में ग्रहण नहीं करना है वरन् लौकिक प्रमाणों से जो कुछ अनुभव किया एवं समझा जा सकता है उसे 'इदम्' कहा जा रहा है।।७४।।

'तत्' और 'इदम्' अर्थात् 'वह' 'यह' यों श्रुति ने क्यों कहा इस पर भाष्यकार ने लिखा है 'तद्-इदं-शब्दयोः परोक्ष-प्रत्यक्षावस्थ-जगद्वाचकयोः सामानाधिकरण्याद् एकत्वमेव परोक्ष-प्रत्यक्षावस्थस्य जगतोऽवगम्यते' अर्थात् एक ही को 'वह' और 'यह' दोनों कहने से बताया कि जो परोक्ष अवस्था वाला था वही प्रत्यक्ष अवस्था वाला है, अवस्थाओं का भेद होने पर भी जिसकी अवस्थायें हैं उसमें भेद नहीं। इससे सूचित हुआ कि न असत् की

सामानाधिकरण्येन तदिदम्पदयोः श्रुतम्।
कार्यकारणयोरैक्यं व्याकृताऽव्याकृतात्मनोः।।७५।।
एकस्य जगतोऽवस्थे व्याकृताऽव्याकृतात्मिके।
अवस्थयोर्विभेदेऽपि तद्धर्मी न हि भिद्यते।।७६।।
बाल्ययौवनभेदेऽपि देवदत्तो न भिद्यते।
ततो जगदभेदेन सामानाधिकरण्यगीः।।७७।।

उत्पत्ति होती है और न सत् का नाश होता है। यही अभिप्राय श्लोक से बताते हैं **वह और यह शब्दों के सामानाधिकरण्य से यह समझ आता है कि व्यक्त स्वरूप वाले कार्य एवं अव्यक्त स्वरूप वाले कारण की एकता है।।७५।।** सामानाधिकरण्य अर्थात् ऐसा प्रयोग जिसमें एक विभक्ति वाले अलग-अलग शब्द एक अर्थ का बोध करायें। 'नीला कमल' सुनकर पता चलता है कि एक ही चीज़ को नीला भी कहा जा रहा है और कमल भी, शब्द अलग हैं, उनके अभिप्राय अलग हैं लेकिन दोनों बताते एक ही वस्तु को हैं जो नीली भी है, फूल भी है। इसी तरह यहाँ 'वह' 'यह' ये शब्द परोक्षता व प्रत्यक्षता इन स्वतंत्र अभिप्रायों वाले होते हुए भी बात एक जगत् की ही कर रहे हैं। अतः मतलब है कि जो 'वह' वही 'यह' है; जो अभी व्यक्त है वही पहले अव्यक्त था।।७५।।

उक्त बात को और स्पष्ट करते हैं **एक जगत् की दो अवस्थायें हैं व्यक्त एवं अव्यक्त। अवस्थाएँ परस्पर विभिन्न होने पर भी उन अवस्थाओं वाला जगत् विभिन्न नहीं, एक ही है।।७६।। बालकपन व जवानी का भेद होने पर भी देवदत्त अलग-अलग हो जाये ऐसा नहीं! इस तरह जगत् अभिन्न होने से यहाँ सामानाधिकरण्य वचन है।।७७।।** व्यक्त अर्थात् जब विविध नाम-रूप-कर्म प्रकट हैं। इसे ही व्याकृत अवस्था कहते हैं। अव्यक्त अर्थात् जब वे नामादि प्रकट नहीं हैं, जिसे अव्याकृत अवस्था कहते हैं। घड़ा, सिकोरा आदि बर्तन बनने से पूर्व कुम्हार के पास जो तैयार मिट्टी है वही घड़े आदि सब बर्तनों की अव्यक्त अवस्था है और कुम्हार के प्रयास से बन जाने के बाद जब घड़ा आदि दीखने लगें, उन्हें घड़ा आदि कहा जा सके, उनसे घड़े आदि का काम लिया जा सके तब उन्हीं घड़े आदि की व्यक्त, व्याकृत अवस्था है। एक चीज़ की दो या ज़्यादा अवस्थायें होने से उस चीज़ को ही दो या ज़्यादा तो नहीं मान सकते जैसे क्रमशः स्तनन्धय, बाल, कुमार, युवा, प्रौढ, वृद्ध आदि अवस्थाओं वाला कोई देवदत्त नामक व्यक्ति हो तो उसे एक ही स्वीकारा जायेगा, अवस्थाओं की अनेकता से

नामरूपाद्यभिव्यक्तेः प्राक्तनः काल उच्यते।
'तर्ही' त्यनेन शब्देन स कालो लोककल्पितः।।७८।।
यद्यप्यव्याकृते कालव्यक्तिर्नास्ति तथाऽप्यमी।
लोकाः प्रलयकालत्वव्यवहारं प्रकुर्वते।।७९।।

अनेक नहीं माना जायेगा। ऐसे ही व्यक्त व अव्यक्त ये अवस्थाएँ तो दो हैं, परस्पर भिन्न हैं, लेकिन जिसकी ये अवस्थाएँ हैं वह जगत् एक है अतः इसे 'वह' और 'यह' कहा जैसे 'वही यह वृद्ध देवदत्त है जो पहले बालक था' ऐसा कहा जाता है। यहाँ व्यक्त-अव्यक्त अवस्थाओं वाले को 'तद्धर्मी' कहा अर्थात् अवस्थायें जगत् का धर्म हैं। धर्म पराश्रित होता है जैसे गुण, क्रिया आदि। व्यक्त अवस्था है पर होगी किसी की, अव्यक्त भी अवस्था है जो होगी किसी की। बुढ़ापा होगा किसी का, जवानी होगी किसी की। जिसका बुढ़ापा है वह धर्मी या धर्मवाला है तथा बुढ़ापा उसका धर्म है। ऐसे ही जगत् धर्मी है एवं उक्त अवस्थाएँ उसके धर्म हैं। जगत् तो अवस्थाओं से स्वतंत्र है पर अवस्थाएँ जगत् से स्वतंत्र नहीं। आगमापायी धर्म वाला बताकर जगत् को मिथ्या समझाना इष्ट है।।७६-७।।

आगे श्रुति में 'तर्हि' ('तब') शब्द है, उसका अर्थ बताते हैं **'तर्हि' ('तब') इस शब्द से नाम-रूप आदि की अभिव्यक्ति से पहले होने वाला समय कहा जा रहा है। वह समय लोगों द्वारा कल्पित है।।७८।। यद्यपि अव्याकृत में काल की अभिव्यक्ति नहीं है तथापि ये (व्यक्त जगत् में वर्तमान) लोग उसे 'प्रलयका काल' ऐसा कहते-समझते हैं।।७९।।** इतिहास की तरह कहने के लिये श्रुति ने 'तब' शब्द से कोई सुदूर भूत का काल सूचित किया। जिस समय जगत् व्यक्त नहीं था उसे 'तब' कहा है। समय भी क्या तब व्यक्त था, व्यवहार-योग्य था? नहीं। यदि काल तब व्यक्त होता तो वह अवस्था अव्यक्त नहीं रह जाती! काल भी जगत् के अन्तः-पाती होने से काल की व्यक्तता उस अवस्था को अव्यक्त कहलाने योग्य नहीं रखती। अतः हालाँकि काल तब व्यक्त न होने से उस अवस्था को 'तब' अर्थात् 'पूर्ववर्ती काल में' कहना नहीं बनता, काल व्यक्त होता तभी अव्यक्त को अपने में रख पाता, फिर भी व्यक्त दशा में विद्यमान लोग वर्तमान की अपेक्षा से कल्पना करते हैं कि अव्याकृत भी किसी समय में था। मानव चिंतन देश-काल-कार्यकारणभाव इन तीन आयामों को सर्वथा छोड़ पाये यह सरल नहीं। कुछ भी है तो अवश्य जिज्ञासा होगी कहाँ है? कब है? कैसे अर्थात् किससे पैदा होकर है एवं क्यों है अर्थात् उसका कार्य क्या है? ये स्वाभाविक जिज्ञासायें होती हैं जिनका उत्तर समझने तक वह है यह पूर्णतः समझ में नहीं आता एवं इन्हीं

जगतोऽस्याऽनभिव्यक्तिरव्याकृतगिरोच्यते।
न जगत् प्रागवस्थायां व्यक्तं गर्भस्थपुत्रवत्।।८०।।

प्रश्नों का उत्तर जानने का प्रयास सारी विज्ञान आदि की प्रगति है। अतः जगत् की अव्यक्तावस्था इसके बोध के लिये, वह कब है यह भी बताना ज़रूरी हो जाता है। इसी को 'तब' से कह दिया। 'तब' बताने में श्रुति का अभिप्राय नहीं लेकिन लोग कालवासना से युक्त हैं अतः उनके सन्तोष के लिये श्रुति ने 'तब' कह दिया। 'प्रलय काल' यह हम स्थितिकाल में व्यवहार करते हैं, कहते-समझते हैं ; हमें लगता है कि जैसे अभी काल है संवत्सर, मास, पक्ष आदि व्यतीत होते हैं वैसे ही प्रलय में भी होगा! है यह असंभव क्योंकि संवत्सरादि के बीतने के लिये सूर्यादि अनेकों की आवश्यकता है। प्रलय में ये सब हैं नहीं तो ऐसा काल हो कैसे सकता है? लेकिन जगत्काल की वासना से प्रलय के भी काल की कल्पना कर वैसा व्यवहार कर लेते हैं। जो तो मायारूप या मायात्मसंबंधरूप, या ईश्वररूप काल है वह सनातन होने से 'तब' - 'अब' के भेद वाला नहीं। उसे 'तर्हि' से कहने का प्रयोजन नहीं। उससे लौकिक व्यक्ति की 'कब' की जिज्ञासा भी दूर नहीं होती। अतः यहाँ 'तर्हि' से लोक-कल्पित काल को ही कहा है।।७८-६।।

श्रुति में अगला शब्द 'अव्याकृतम्' है, उसका भाव बताते हैं **'अव्याकृत' शब्द से इस जगत् का अभिव्यक्त न होना कहा जा रहा है। जैसे गर्भ में स्थित पुत्र व्यक्त नहीं होता वैसे व्यक्त की अपेक्षा पहले की अवस्था में जगत् व्यक्त नहीं था।।८०।।** अव्याकृत को अवस्था या धर्म कहा था, उसी को यहाँ स्पष्ट किया। जगत् अभिव्यक्त नहीं इसे अव्याकृत कह रहे हैं अर्थात् जगत् के अस्तित्व को मना नहीं कर रहे। जैसे कमरे के भीतर देवदत्त बैठा है, वही फिर बाहर आता है तो भीतर होना और बाहर होना ये दोनों धर्म हैं एक स्थिर देवदत्त के, वैसे अव्याकृत भी है तो जगत् ही जैसे व्याकृत भी जगत् ही है। इसी बात को गर्भस्थ शिशु के दृष्टांत से बताया। जो गर्भ में है वही बाहर निकलेगा। जब तक गर्भ में है तब तक बालक को ही अव्यक्त कहते हैं, जब बाहर आ गया तब उसी को व्यक्त कहते हैं। बालक से अतिरिक्त, उससे स्वतंत्र अव्यक्त या व्यक्त कही जाने वाली कोई चीज़ नहीं। ऐसे ही, अभिव्यक्त न होते जगत् को ही अव्याकृत कहा गया है। 'प्रागवस्था' अर्थात् व्यक्त से अन्य अवस्था; व्यक्त से पूर्व को ही प्राक् कहना संगत है लेकिन व्यक्त की समाप्ति में भी तो अव्यक्त ही रहना है! यहाँ सृष्टि-प्रक्रिया कह रहे हैं इसलिये प्राक् या पहले की अवस्था का

'आसीद्' इति च सत् तत्त्वम् अधिष्ठानतयोदितम्।
तथा च भावरूपत्वाज्जगद् व्याकृतिमर्हति।।८१।।
अव्याकृतवचस्त्वेवम् अवतार्याऽस्य वर्णिताः।
पदार्था अथ वाक्यार्थो न्यायेनैव निरूप्यते।।८२।।

उल्लेख है जिसे व्यक्त के कारणरूप से समझा जाता है। व्यक्त के बाद की भी वही अवस्था है क्योंकि लय भी कारण में ही होता है, किंतु संदर्भ के अनुसार यहाँ पहले की अवस्था कहना उचित होने से प्राक् शब्द का प्रयोग किया।।८०।।

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतम् आसीत्' इस वाक्य का आखरी शब्द है 'आसीत्' 'था', उसका अर्थ कहते हैं **'आसीत्' इस शब्द से सद्रूप परमार्थ का अधिष्ठान रूप में कथन किया गया है। इस तरह, भावरूप होने से जगत् व्यक्त होने योग्य है।।८१।।** 'आसीत्' का हिंदी अनुवाद होगा 'था'। 'था' मतलब भूतकालिक है। है यह सद्रूप परमात्मा का ही नाम है। वह नित्य है, उसे सत् या अस्ति भी कह सकते थे, फिर भी था कहा क्योंकि सूचित करना है कि उसे अधिष्ठान बताया जा रहा है। यद्यपि अध्यास स्वकाल में भी अधिष्ठान में ही है तथापि उस सत्तत्त्व को जगत्का कारण कहने के लिये था कहना ज़रूरी हुआ जिससे यह भी स्पष्ट हो गया कि सद् वस्तु अधिष्ठान कारण है, विकारी कारण नहीं है। भाववस्तु होने से ही सत् अधिष्ठान हो सकता है, कारण बन सकता है और जगत् भी क्योंकि भाव वस्तु है इसलिये व्यक्त हो सकता है। जो है, जैसे गर्भस्थ शिशु, वही व्यक्त हो सकता है; जो है ही नहीं, जैसे बालू में तेल, वह व्यक्त भी नहीं हो सकता। व्यक्त होने से ही व्यक्त होने वाले की अर्थात् जो अभी तक अव्यक्त था उसकी भावरूपता सिद्ध हो जाती है। भावरूप अर्थात् 'है' इस प्रतीति का विषय। जो 'है' ऐसा लगे उसे भावरूप कहते हैं जैसे 'घड़ा है' लगता है तो भावरूप है। अव्यक्तावस्था में भी जगत् है अतः भावरूप है और इसी से उसका अभिव्यक्त होना संगत है।।८१।।

उक्त श्रुतिवाक्य पर श्लोक ८८ तक और विचार करते हैं **इस प्रकार अव्याकृत-वाक्य की भूमिका बताकर उसमें आये शब्दों के अर्थ कहे। अब युक्तियों से ही उस वाक्य का अर्थ समझायेंगे।।८२।।** पूर्वोक्त 'तद्धेदम्' इत्यादि को अव्याकृत-वाक्य कहते हैं। श्लोक ६४ से ६८ तक भूमिका बनाकर ६९ से पदों की व्याख्या की। पद आपस में संबद्ध हों तो वाक्य होता है जिसका अर्थ प्रत्येक पद के अर्थ से पृथक् होता है। चाहे पदार्थ-संबंध, चाहे सम्बद्ध पदार्थ वाक्य से पता चलें अथवा इनसे विलक्षण

यस्य वेदान्तमेयत्वं कारणं जगतश्च यत् ।
अव्याकृतं तदेवाऽत्र वाक्यार्थो द्विविधं हि तत् ।।८३।।

अखण्ड वस्तु पता चले, वाक्यार्थ पदार्थ से कुछ अलग होता ही है तभी पदमात्र के बजाये वाक्य कहा जाता है। तद्, इ इत्यादि हर-एक शब्द का अर्थ तो बता चुके, अब वाक्य का अर्थ समझायेंगे। तद्-इदम् के सामानाधिकरण्य से व्यक्त-अव्यक्त की एकता आदि वाक्यार्थ भी यद्यपि श्लोक ७५ आदि में कह चुके हैं तथापि वाक्यार्थ को युक्तियों से समझाने में अब प्रवृत्त होंगे।।८२।।

संसाररूप वृक्ष को जड़ से उखाड़ देने के लिये ज़रूरी परमात्मदर्शन को संभव बनाने के लिये अव्याकृत वाक्य प्रारंभ हुआ यह श्लोक ६५ में कह आये हैं। अज्ञात आत्मा ही संसार का मूल है। आत्मा स्थायी सत्य है, उसका अज्ञान ही समाप्त किया जा सकता है जिससे फिर आत्मा अज्ञात न रह जाने से संसार का मूल समाप्त हो जाता है। जब तक अज्ञात है तभी तक आत्मा प्रमाणों से विषय किया जाये यह योग्य है, अज्ञात वस्तु ही प्रमाण का विषय बनती है। श्लोक ६७ में यह सूचित किया था। उस अज्ञात आत्मा को ही अव्याकृत के रूप में व्यक्त किया। इस तरह, जिसे समझाने में श्रुति प्रवृत्त है वह जगत्कारण परमेश्वर ही है। अत एव ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा कर जन्मादि के कारण को ही व्यासजी ने ब्रह्म बताया है। अनेक लोग प्रश्न करते हैं कि निर्विशेष की जिज्ञासा होने पर सविशेष कारण ब्रह्म क्यों उपस्थापित किया? उत्तर यहाँ स्पष्ट है कि जिज्ञासा का विषय तो ब्रह्म है जो तभी विषय है जब अज्ञात है और अज्ञात रहते जगत् का कारण है। अत एव पर-अपर दो ब्रह्म नहीं! वही सच्चित्तत्त्व अज्ञात रहते प्रमेय है, 'अपर' है तथा ज्ञात होने पर वही 'पर' है। इसी बात को व्यक्त करते हैं **प्रकृत प्रसंग में (अव्याकृत-वाक्य में) वाक्य का अर्थ वही अव्याकृत है जो वेदान्तों द्वारा प्रमेय है तथा जगत् का कारण है। वह अव्याकृत दो तरह का है।।८३।।** वेदांतों द्वारा प्रमेय होने से अर्थसिद्ध है कि वह अज्ञात है क्योंकि प्रमाण का कार्य ही है अज्ञान मिटाना। अगर अज्ञात अर्थात् अज्ञान से ढका न हो तो प्रमाण के लिये करने को ही कुछ नहीं रह जायेगा जिससे वह प्रमाण का विषय अर्थात् प्रमेय नहीं होगा। अज्ञान स्वानुभवसिद्ध होने से, तर्क से सिद्ध न होने पर भी स्वीकार्य है। अज्ञान का स्वभाव ढाकना है और व्यापक पूर्ण परमात्मा हमारे लिये ढका ही है अतः अज्ञान आत्मा पर अपना प्रभाव दिखा ही रहा है तो उसके बारे में विवाद का क्या प्रयोजन! आत्मा स्वरूप से निर्विकार चित्स्वभाव, ज्ञानरूप है। वही प्रमाणादि सब वृत्तियों को प्रकाशित करता है। अत एव ज्ञानमात्ररूप

चित्प्राधान्याद् अविद्यायाः प्राधान्याच्च द्विधाऽद्वयम्।
यच्चिद्वस्तु प्रमेयं तद् अविद्या तु विकारकृत्।।८४।।

साक्षिचैतन्य को प्रमाण नहीं विषय करते क्योंकि स्वयं उससे विषय किये जा रहे हैं। अज्ञान भी प्रमाण-गोचर नहीं, उसकी प्रमाणों से सिद्धि नहीं, वह भी साक्षिभास्य ही है। इस तरह स्वतः सिद्ध आत्मा पर आश्रित हुआ ही सकल विश्व उपलब्ध है। आत्मा का ज्ञानस्वरूप नित्य है। जगत् का वह कारण बने यह तभी संभव है जब वह अज्ञात है। अज्ञात आत्मा ही कारण-कार्य रूपों से प्रतीत होता है जिसे श्रीकृष्ण ने 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते' (गी. ९.१०) से व्यक्त किया है। तमःप्रधान होकर जड प्रपंच का एवं चित्प्रधान होकर चेतन प्रपंच का कारण वह एक ही अज्ञात आत्मा है। चेतनों में भेद उनकी वासनाओं, उपासनाओं और कर्मों के भेद के अनुसार होता है। आचार्य सुरेश्वर ने (बृ.वा.१.४.३४२) यह समझाया है।।८३।।

अव्याकृत किस तरह दो प्रकार का है यह बताते हैं **चेतन की प्रधानता से और अविद्या की प्रधानता से अव्याकृत दो प्रकार का है। जो द्वैत-रहित ज्ञानरूप वास्तविक तत्त्व है वह प्रमेय है। अविद्या तो सारे कार्य रचने वाली है।।८४।।** अव्याकृत अज्ञात आत्मा है अतः वह आत्मा है इस दृष्टि से एक तरह का है एवं अज्ञात है इस दृष्टि से दूसरी तरह का है, यों अव्याकृत दो तरह का संगत है। गर्म पानी एक तरह से आग है तभी उससे भोजन गर्म कर लिया जाता है, दूसरी दृष्टि से पानी है तभी उसे पीकर प्यास बुझती है या धधकती लकड़ी पर डालने से ज्वाला बुझती है। इसी तरह अव्याकृत दो तरह का है। वेदांतसम्मत अभिन्न-निमित्तोपादानता इसीलिये उपपन्न है। चेतन की प्रधानता से वही निमित्त है एवं अविद्या की प्रधानता से वही उपादान है। शुद्ध चेतन तो निमित्त भी नहीं। निमित्त होने के लिये भी उपाधि चाहिये किंतु प्राधान्य उपाधिका नहीं चेतन का रहेगा। मनुष्य कुल्हाड़ी चलाता है, इसके लिये हाथ तो चाहिये लेकिन प्रधानता चेतन की है। शरीर में बाल, नाखून उगते हैं, इसके लिये भी शरीर ज़िंदा तो चाहिये लेकिन प्रधानता शरीर की है। इसी तरह अव्याकृत में दोनों की उपस्थिति रहते प्रधानता का अन्तर है। अज्ञात आत्मा वेदांतों द्वारा प्रमेय भी है लेकिन इसमें प्रधानता आत्मा की है तथा जगत् भी वही अज्ञात आत्मा बनता है लेकिन इसमें प्रधानता अज्ञान की है। यों प्रधानता में अंतर होने पर भी अव्याकृत एक ही है।।८४।।

अव्याकृत के बारे में प्रमाण पूछना बेकार है! चेतन स्वतः प्रसिद्ध है, प्रमाणों का

न चिद्वस्तु विवादार्हं तेन सर्वार्थसिद्धितः ।
अज्ञोऽहम् इत्यविद्याऽपि प्रसिद्धैवाऽनुभूतितः ।।८५।।
'नाऽसद् आसीन्नो सद् आसीत् तम आसीद्' इति श्रुतिः ।
'आसीद् इदं तमोभूतम् अप्रज्ञातम्' इति स्मृतिः ।।८६।।

साधक है, उनसे सिद्ध होने वाला नहीं। अज्ञान भी स्वानुभवगम्य है, प्रमाण से मिट तो जायेगा पर जाना नहीं जायेगा। अज्ञात वस्तु, अज्ञान, भ्रम और संशयये प्रमाणसिद्ध संभव नहीं। वार्तिकसार (१.४.२७३) में इसे स्पष्ट किया गया है। अतः वेदोक्त इस अव्याकृत को जैसा बताया वैसा समझने का ही प्रयास करना चाहिये, इस अभिप्राय से कहते हैं **चेतन वस्तु विवाद के योग्य नहीं है क्योंकि सभी अर्थ उस चेतन से ही सिद्ध होते हैं। अविद्या, अज्ञान भी 'मैं अज्ञानी हूँ' इस अनुभूति से सब को पता ही है।।८५।।** 'सभी अर्थ' का मतलब सारा अनात्म जगत् है। ज्ञानस्वरूप आत्मा से ही प्रकाशित होने पर किसी भी अनात्मा की सिद्धि है, खुद तो आत्मा ही सिद्ध है, अनात्मा स्वयमेव सिद्ध नहीं यही उसकी अनात्मता या जडता है। अविद्या का सबको 'नहीं जानता' इस तरह अनुभव है ही। सभी को किसी-न-किसी चीज़ के बारे में लगता ही है कि 'नहीं जानता'। कारण की खोज करने चलें तो चार-छह कोटियों बाद सभी को लगता है कि 'इसके कारण का तो पता नहीं।' पता न होना ही अज्ञान है। इसलिये अज्ञान भी विवाद-योग्य नहीं, सबको मान्य है।।८५।।

केवल लोकप्रसिद्ध ही नहीं, शास्त्र भी अविद्या का अस्तित्व स्वीकारता है **वेद में (ऋ.१०.१२६.१) कहा है 'न असत् था, न सत् था, तम था'। स्मृति में (मनु. १.४) कहा है 'यह तमोरूप था, प्रज्ञात नहीं था'।।८६।।** 'तम' शब्द से अज्ञान को ही कहा गया है। पंचपादिका में (पृ.१३५ म.अ.सं.) श्रुति एवं अर्थापत्ति से अविद्या की नैसर्गिकता बतायी है जिस पर विवरण में स्पष्ट किया है कि ऐसे स्थलों पर अविद्या को प्रमाणगम्य नहीं कहा जाता, केवल इतना बताया जाता है कि वह कोई अभाव नहीं है। बृहदारण्यक-सम्बन्धभाष्यवार्तिक (श्लोक ८०-८१) में घोषित है 'वस्तुनोऽन्यत्र मानानां व्यापृतिर्न हि युज्यते। अविद्या च न वस्त्विष्टं मानाघातासहिष्णुतः।। अविद्याया अविद्यात्व इदमेव तु लक्षणम्। मानाघाताऽसहिष्णुत्वम् असाधारणम् इष्यते।।' अविद्या सर्वानुभवसिद्ध है, उसका अनादित्व, मिथ्यात्व, बन्धकरत्व, ज्ञान-निवर्त्त्यत्व आदि शास्त्रों में स्थापित है। अतः अनुभवगम्य अज्ञान प्रामाणिक नहीं कि वह कोई वास्तविक चीज़ हो ताकि द्वैतापत्ति हो। इस तरह अव्याकृत को शास्त्र-समर्थित किन्तु व्यावहारिक समझाया।।८६।।

अज्ञातत्वात् प्रमाणेन ज्ञातव्यम् इति मेयता।
अज्ञानस्य विकारित्वात् कारणत्वं च सम्भवेत्।।८७।।
मायां तु प्रकृतिं विद्याद् ईशो मायीति हि श्रुतिः।
देवी ह्येषा गुणमयी मम मायेति च स्मृतिः।।८८।।

श्लोक ८३ में जो अव्याकृत को वेदान्तों द्वारा प्रमेय एवं जगत् का कारण कहा था उसमें हेतु सूचित करते हैं **क्योंकि (अव्याकृतरूप) ब्रह्म अज्ञात है इसलिये वह प्रमाण से (वेद से) प्रमित किया जाने योग्य है एवं क्योंकि (अव्याकृतरूप) अज्ञान परिवर्त्तनशील है इसलिये यह सम्भव है कि वह जगत् का कारण बने।।८७।।** अव्याकृत में अज्ञान और ब्रह्म दोनों आ गये। इनमें ब्रह्म वाला हिस्सा वेदान्त-प्रमेय है क्योंकि वह अज्ञात है। अज्ञात का ज्ञापक ही प्रमाण होता है। अज्ञान क्योंकि परिणामशील है, बदलने वाली चीज़ है इसलिये जगत् के आकार में परिणत हो, यह उचित है। इसलिये अव्याकृत को प्रमेय एवं कारण कहना ठीक है। अज्ञान को परिवर्तित होने वाला कैसे मानें? जब हमें रस्सी की वास्तविकता का अज्ञान होता है तब वहाँ साँप आदि जो दीखते हैं उनके रूप में बनकर दीखने वाला रस्सी-विषयक अज्ञान ही तो है! जादूगर जितनी चीज़ें दिखाता है उन सब आकारों को अज्ञान ही ग्रहण करता है। हमारा वह अज्ञान ही जादूगर की माया है। अज्ञान और माया एक के ही नाम हैं। दर्शकों की दृष्टि से उसे अज्ञान और जादूगर की दृष्टि से माया कहते हैं। इसलिये अज्ञान को परिवर्तनशील मानना संगत है।।८७।।

अनुभवसिद्ध एवं युक्तियुक्त इस अज्ञानरूप माया को शास्त्र का भी समर्थन प्राप्त है यह दिखाते हैं **'माया को तो प्रकृति जानो, ईश्वर मायावी है ऐसा जानो' यह प्रसिद्ध वेदवचन है। स्मृति भी बताती है 'यह गुणात्मिका प्रकृति मेरी देवसम्बन्धिनी माया है'।।८८।।** श्रुति श्वेताश्वतर उपनिषत् में आयी है (४.१०)। अनुभूतिप्रकाश अ. १२ श्लो ७१ में इसे समझा चुके हैं। प्रकृति कहकर माया को जगत् का कारण बताया। माया जगत्कारण है इस बात में यह श्रुति प्रमाण है। मायी, मायावी अर्थात् माया का शासक परमेश्वर है। सांख्यों की प्रकृति की तरह माया कोई स्वतंत्र चीज़ नहीं, ईश्वराश्रित उनकी शक्ति ही है। स्मृति गीता अ. ७.१४ में उपलब्ध है। सत्त्वादि गुणों का संमिलित रूप होने से प्रकृति गुणमयी है। है वह 'मम' मुझ ईश्वर की यह श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया। अतः ईश्वर से स्वतंत्र प्रकृति कुछ नहीं है। उसे 'दैवी' कहा, इससे भी देवाश्रितता बतायी। किं च 'मम' से स्वातंत्र्य का निषेध कर 'दैवी' से बताया

इत्यव्याकृतवाक्यार्थो न्यायेन सुनिरूपितः।
अथ व्याकृतवाक्यार्थः क्रमात् प्राप्तो निरूप्यते।।८६।।

कि उसी के द्वारा परमेश्वर जगत्क्रीडा करते हैं, उनकी वह सामर्थ्य है। इस तरह पूर्वोक्त विषय श्रुति-स्मृति के प्रमाण से निर्णीत हुआ।।८८।।

श्लोक ६६ से प्रारंभ किये प्रसंग को पूरा कर श्रुति के अगले अंश के व्याख्यान की प्रतिज्ञा करते हैं **इस प्रकार अव्याकृत-वाक्य के अर्थ का युक्तिपूर्वक भली-भाँति वर्णन किया। श्रुति में इसके बाद आया है व्याकृत-वाक्य, अब उसका अर्थ समझाया जाता है।।८६।।** उपनिषत् में आया है 'तद् ह इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत्। तद् नामरूपाभ्याम् एव व्याक्रियत' अर्थात् यह सब पहले अव्याकृत था और वह अव्याकृत ही नाम-रूप द्वारा, नाम-रूप धारण कर व्याकृत अर्थात् व्यक्त हुआ। 'आसीत्' तक अव्याकृत-वाक्य एवं उसके बाद व्याकृत-वाक्य है। व्याकृति अर्थात् व्यक्ती भवन बताने वाले को व्याकृत-वाक्य है। श्रुति में आये क्रम से तो यहाँ क्रम रखना ठीक ही है, सामान्य दृष्टि से भी कारण के वर्णन के बाद कार्य का वर्णन करना संगत होता ही है। अभिव्यक्ति का ढंग ही अब समझायेंगे।।८६।।

अव्यक्त अर्थात् अज्ञान से व्यक्त अर्थात् संसाररूप अनर्थ की सृष्टि बताने में श्रुति का करुणामय प्रयोजन है कि साधक जो इस भयावह संसार से त्रस्त है, उसके बारे में आश्वस्त हो जाये कि यह कोई वास्तविक चीज़ नहीं, केवल माया का विलास है। ग्रंथकार ने वार्तिकसार (१.४.३४६,५०) में कहा है 'आगता बहवश्चोरा इति श्रुत्वाऽतिविह्वलः। स्वप्नप्रलापं तं ज्ञात्वा भवेत् स्वस्थो यथा तथा।। महासम्भ्रमसंसारं दुरुच्छेदत्वशंकया। विह्वलो मूलशैथिल्यं ज्ञात्वोच्छेदे प्रवर्तते।।' अचानक कोई चिल्लाया 'अरे! बहुत-से चोर आ गये!' जिसने सुना वह घबरा गया, लाठी आदि लेकर उस ओर गया तो देखता है कि वह तो खाट पर सोता हुआ चिल्ला रहा है, सपना देखकर बोल रहा है। यह समझते ही कि वह बात सपने की थी, इस व्यक्ति की घबराहट दूर हो जाती है। ऐसे ही, 'इतना स्थिर, विचित्र, व्यवस्थित, किसी के बस में न आने वाला संसार तो मेरा पिण्ड नहीं ही छोड़ेगा, इससे कैसे बचूँ?' इस बात से विह्वल हुआ साधक जब प्रमाणभूत वेद से समझता है कि यह संसार अज्ञानात्मक, मायामय है, इसका मूल केवल अविद्या है जो ज्ञान से निवृत्त हो जाती है, उससे अतिरिक्त इसका कोई मज़बूत मूल नहीं है; वैसे ही उसे तसल्ली मिलती है कि मायिक मिथ्या वस्तु को तो अवश्य उच्छिन्न किया जा सकता है और वह इसे जड़मूल से उखाड़ने के लिये तत्पर हो जाता है। इस अभयतापूर्वक प्रवृत्ति के लिये

व्याकृतम्

व्याकृतं द्विविधं देहसृष्टिर्जीवप्रवेशनम्।
देहादिर्विषयत्वेन प्रवेशात् पूर्वम् उच्यते।।६०।।
अव्याकृतं यत् पूर्वोक्तम् अरूपकम् अनामकम्।
तद् इदं नामरूपाभ्याम् एव व्याक्रियते स्वयम्।।६१।।

यहाँ व्याकृत को अव्याकृत से निःसृत कहा जा रहा है **व्याकृत (व्यक्त) दो तरह का है एक है शरीर की उत्पत्ति और दूसरा है जीव का प्रवेश। क्योंकि देह आदि प्रवेश का विषय है इसीलिये प्रवेश से पहले देहादि का कथन किया जाता है।।६०।।** अव्यक्त से व्यक्त होने वाला तो आकाशादि सारा ब्रह्माण्ड है लेकिन जो संसार हमें बाँधे है, जिससे हमें छूटना है वह प्रधानतः देह-द्वयरूप है अतः यहाँ शरीर की उत्पत्ति का उल्लेख किया। श्रुति ने तो सामान्यतः कह दिया कि विभिन्न नाम-रूप धारण कर अव्याकृत व्यक्त हो गया किंतु उसके बाद बताया 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' (बृ.१.४.७) कि नाखून की नोक तक परमेश्वर घुस गया, जिससे स्पष्ट होता है कि जिसमें प्रवेश हुआ उस शरीर की ही अभिव्यक्ति को व्याकृत मुख्य रूप से कह रहा है। उपाधि-निर्माण एक तरह की अभिव्यक्ति है एवं उसमें परमेश्वर का जीवरूप से प्रवेश दूसरी तरह की अभिव्यक्ति है। परमेश्वर ने प्रवेश किया यह कहने से पूर्व बताना चाहिये कि किसमें प्रवेश किया अतः पहले शरीर की अभिव्यक्ति कह दी।।६०।।

अव्याकृत और व्याकृत को समझाकर व्याकृत-वाक्य के शब्दार्थ स्पष्ट करते हैं **पहले वर्णित जो नाम-रूपरहित अव्याकृत वह यह खुद नाम-रूप के आकार में व्यक्त हो गया।।६१।।** श्रुति में कहा 'तत् नामरूपाभ्यां', उस 'तत्' (वह) का अर्थ है अव्याकृत। उसे 'वह यह' यों कहने से बताया कि जो व्यक्त है वह कोई और नहीं अव्यक्त की ही अवस्था है। अभिव्यक्ति का मतलब स्पष्ट किया कि विभिन्न नामों और रूपों के विभाग वाला हो जाना ही व्यक्त होना कहा जाता है। स्वर्णपिण्ड में अव्यक्त अनेक गहने हैं किंतु जब मुकुट-नाम एवं उसी रूप वाला उसे कहा-देखा जाये तब मुकुट व्यक्त कहा जाता है। यही सर्वत्र अभिव्यक्ति है। ऐसी अभिव्यक्ति स्वयमेव हुई, अनायास हुई यह श्रुति के प्रयोग से प्रकट है। भाष्य में कहा है 'व्याक्रियत इति कर्मकर्तृप्रयोगात् स्वयमेव आत्मैव.... व्यक्तीभावमापद्यत'। अत्यन्त सुकरता (अनायास) द्योतित करने के लिये कर्त्ता की चेष्टा न बतानी हो तो अन्य

सुषुप्ताद् उत्थिती राज्ञः स्वयमेव यथा तथा।
जग्धाऽशेषजगन्मूर्तेरव्यक्ताद् व्याकृतिर्मुहुः।।६२।।

कारक भी कर्त्ता मान लिये जाते हैं क्योंकि कर्त्ता का उन पर नियंत्रण नहीं जैसा है, तथा तब धातु-उत्तरवर्ती लकार (प्रत्यय) कर्त्ता अर्थ कहता है। जैसे कहते हैं कि 'यह तलवार अच्छा काटती है'; तलवार तो काटती नहीं, उसके द्वारा कोई आदमी ही काटता है लेकिन अच्छी तलवार से काटने पर आदमी को ज़ोर नहीं पड़ता, अनायास काट पाता है इस बात को कहने का ढंग है कि तलवार खुद काट लेती है। ऐसे कहना 'कर्मकर्तृप्रयोग' नाम से व्याकरणशास्त्र में प्रसिद्ध है। श्रुति के इस अभिप्राय को भगवान् वार्तिककार ने स्पष्ट किया है 'हेत्वन्तराऽनपेक्षं सत् तद् अव्याकृतरूपकम्। व्यक्ततां स्वयम् एवैति निमित्तं नास्त्यसंहृतम्।।' बृ.वा.१.४.३८७।। खुद से अतिरिक्त किसी कारण के बिना अव्यक्त व्यक्त हो गया। यद्यपि कर्म आदि निमित्त हैं तथापि वे अव्याकृत में उपसंहृत ही थे, उससे अलग नहीं। 'देवदत्त ने बिना किसी सहायता के बक्सा उठाया' कहने पर उसके स्वरूपभूत हाथ-पैर की सहायता का निषेध नहीं, उससे पृथक् यज्ञदत्तादि की सहायता का ही निषेध होता है। ऐसे ही कर्मादि तो अव्याकृतरूप ही थे अतः उनकी सहायता को 'अन्य की सहायता' नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अव्याकृत व्यक्त हुआ यह बताया।।६१।।

अज्ञात प्रत्यगात्मा अपने से अन्य किसी निमित्त के बिना स्रष्टा कैसे बना यह उदाहरण से समझाते हैं **जैसे राजा सुषुप्ति से खुद ही जग जाता है वैसे सारे जगत् को खा जाने वाले अव्याकृत से बार-बार अभिव्यक्ति हो जाती है।।६२।।** प्रायः राजा को स्तुति-गीत आदि सुनाकर जगाया जाता है, वैसा जगना यहाँ दृष्टांत नहीं किंतु जब बिना किसी के जगाये वह जगता है, वह दृष्टांत है। यद्यपि सभी यों जगते हैं तथापि बाकी लोग तो संकल्पादिपूर्वक सोते हैं कि 'अमुक समय उठूँ', क्योंकि किसी उठाने वाले के भरोसे नहीं रह सकते, अतः उनके उठने में उतना प्रयास माना भी जा सकता है, किंतु राजा निश्चिन्त सोता है अतः उसका निर्निमित्त उठना सर्वथा निमित्तरहित है। अतः राजा के जगने को दृष्टांत बनाया। अव्याकृत को 'सारा जगत् खाने वाला' कहा यह बताने को कि जिसमें व्यक्त का विलय है उसी से फिर अभिव्यक्ति है एवं 'मुहुः', यह क्रम अनवरत है, अनादि है।।६२।।

सारे जगत्की न कहकर वेद ने नाम-रूप की ही अभिव्यक्ति क्यों कही? इसका उत्तर देते हैं **शब्द और अर्थ को नाम और रूप कहते हैं। इन दो से अतिरिक्त तो**

नामरूपे तु शब्दार्थौ न ताभ्याम् अतिरिच्यते।
जगत् किञ्चिद् घटादौ हि द्वयमेव समीक्ष्यते।।६३।।
प्रक्रियानियमो नात्र पुंव्युत्पत्तिप्रधानतः।
अतः श्रुतिषु सृष्ट्यादिविगानं बहुधेक्ष्यते।।६४।।

जगत् कुछ है नहीं। घड़े आदि में ये दो ही देखे जाते हैं।।६३।। जगत् में नाम व नामी (जिसे प्रायः ऐसे प्रसंग में रूप कहते हैं) से अन्य कुछ नहीं मिलता। यद्यपि कहीं-कहीं क्रिया को अलग से कहते हैं तथापि क्रिया नामी के ही अंतःपाती है, उससे स्वतंत्र कुछ नहीं। घड़ा इस नाम, मोटा पेट-लम्बी गर्दन इस रूप से अतिरिक्त घड़ा क्या है? ऐसे ही हर चीज़ की परीक्षा करें तो नाम-रूप ही मिलते हैं, अन्य कुछ 'जगत्' नहीं मिलता। इसलिये व्याकृत होने का अर्थ ही श्रुति ने बता दिया नाम व रूप से युक्त हो जाना। अव्याकृत तत्त्व जब नाम-रूप धारण करता है तब उसे व्यक्त होना कहते हैं।।६३।।

अनेकत्र श्रुति-स्मृति में बताया है कि प्रलय के बाद सृष्टि कैसे-कैसे होती है अतः यहाँ भी अव्याकृत से व्याकृत होने के सभी कदम बताने चाहिये या कम-से-कम अन्यत्र से यहाँ जोड़ लेने चाहिये इस संभावना को हटाते हैं **वेदान्तों में प्रक्रिया का नियम नहीं है क्योंकि यही प्रधान तात्पर्य है कि साधक को परमात्मा समझ आये। इसलिये वेदों में सृष्टि के बारे में अनेक विविध प्रकार का वर्णन है।।६४।।** 'ढंग' या 'तरीका' प्रक्रिया है। रोटी बनाने के कई ढंग हो सकते हैं, खेती करने के कई तरीके हो सकते हैं; सब तरीकों में फायदे-नुकसान होंगे, सरलता-कठिनाई होगी; किसी को तथा किसी समय कोई बेहतर लगेगा, दूसरों को कोई और बेहतर लगेगा। प्रधान उद्देश्य रोटी तैयार होना या अनाज तैयार होना सम्पन्न हो जाना चाहिये, किसी तरीके का आग्रह मायने नहीं रखता। ऐसे ही उपनिषत् समझाना चाहती है अद्वैत आत्मा को। इसी के लिये तरीका अपनाया यह बताने का कि आकाशादि सृष्टि परमात्मा से हुई। यदि आकाशादि के ढंग से न समझकर इस तरीके से समझें कि एक ही अज्ञात परमात्मा सारे नाम-रूप धारण कर लेता है इसलिये एकमात्र वही तत्त्व है, उससे अन्य कुछ है नहीं, तो भी अद्वैत की समझ उपलब्ध हो जायेगी। अतः वेदांत-दर्शन में यह आग्रह नहीं रखा जाता कि एक ही ढंग से समझा जाये; जो समझना है वह तो निश्चित है लेकिन जैसे समझना है उसमें कई विकल्प संभव हैं। अनेक विकल्प तो श्रुतियों में ही प्रकट हैं, कुछ और स्मृतियों में

'यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वी सा चाऽनवस्थिता ।।९५ ।।

बोधित हैं, बहुत-से विकल्प आचार्यों ने सुझाये हैं एवं विचारक स्वयं भी अन्य प्रक्रियायें खोज सकते हैं। प्रक्रिया में दोष हो तो भी कोई हर्ज नहीं, अगर वह प्रक्रिया अद्वैतबोध कराने में सक्षम है तो वह निर्दोष है क्योंकि प्रक्रिया का काम तो इतना ही है कि अद्वैतबोध हो जाये। वैष्णवादि दार्शनिक वेदान्त की प्रक्रियाओं में ही दोषानुसंधान करते रहते हैं, उसी से मानते हैं कि सिद्धांत खण्डित कर दिया! जबकि प्रक्रिया में तो तात्पर्य ही नहीं है, वह सदोष है यह सिद्धांती को स्वीकार ही है। 'प्रक्रियानियम' अर्थात् अमुक ही प्रक्रिया से प्रतिपादन होना चाहिये ऐसा नियम। किसी-न-किसी प्रक्रिया को तो अपनाना होगा लेकिन ऐसी कोई खास प्रक्रिया नहीं जिसे अपनाना अनिवार्य हो। 'पुंव्युत्पत्ति' अर्थात् अधिकारी को पूर्ण तत्त्व का ज्ञान। प्रक्रिया के अनियमको ही व्यक्त करने के लिये स्वयं वेद ने विविध प्रक्रियाएँ स्वीकार कर तत्त्व व्यक्त किया है। आचार्य गौडपाद ने अद्वैतप्रकरण श्लोक १५ में यह रहस्य प्रकट किया है।।९४।।

क्यों प्रक्रिया-बंधन नहीं, प्रक्रिया का कार्य क्या हैइसे समझाते हैं **जिस-जिस तरीके से लोगों को प्रत्यगात्मा की समझ आ जाये वह-वह तरीका ही इस संदर्भ में समुचित है इसलिये कोई एक तरीका निश्चित नहीं है।।९५।।** साधकों की सोच के ढंग अलग-अलग होते हैं इसलिये उनकी समझ में आये इसके लिये समझाने के तरीके भी अलग-अलग अपनाये जाते हैं। जिसे जैसे समझ आ गया उसके लिये वही तरीका ठीक है। अतः 'अनवस्थित' अर्थात् अनिश्चित है कि कौन-सी प्रक्रिया किसके लिये ठीक होगी। गुरु एवं साधक मिलकर यह निर्धारित कर सकते हैं कि साधक किस तरीके से समझे। कोई-न-कोई तरीका अपनाना पड़ेगा इतना अवश्य है, बिना प्रक्रिया के समझ नहीं आयेगी, लेकिन साधक की योग्यतानुसार वह प्रक्रिया अपनाये यही ठीक है, ज़बर्दस्ती उस पर प्रक्रिया लादी जाये यह अनुचित व निरुपयोग है।।९५।।

गर्भ से बालक का बाहर आना, अंधेरा मिटने पर पेड़-पौधों का दीखना, मनोभावों को शब्दों में प्रकट करना आदि अनेक तरह की अभिव्यक्तियाँ प्रसिद्ध हैं; प्रकृत में अव्याकृत की कैसी अभिव्यक्ति, व्यक्तता, व्याकृतता श्रुति 'व्याक्रियत' से कह रही है इसे उदाहरण सहित स्पष्ट करते हैं **साफ-साफ प्रतीत होने का नाम अभिव्यक्ति है। सींप जब साफ-साफ चाँदी दीखती है तब कह सकते हैं कि चाँदी व्यक्त**

विस्पष्टत्वं व्याकृतत्वं शुक्तिकारजतादिवत् ।
स्पष्टम् अव्याकृताद् मोहाद् मिथ्या ज्ञानमिदं जगत् ।।९६ ।।

जीवप्रवेशः

नामरूपाऽध्यास एवं व्याकृतः प्रतिपादितः ।
प्रवेश्यः, तत्र[1] जीवस्य प्रवेशः प्रतिपाद्यते ।।९७ ।।

(व्याकृत) है। अव्याकृत अज्ञान से स्पष्ट हुआ यह जगत् मिथ्याज्ञान है।।९६ ।। नाम-रूप से युक्त होकर प्रतीत होना जो अभिव्यक्ति कही थी उसी को यहाँ 'विस्पष्टता' या 'साफ-साफ प्रतीत होना' बताया। नामविशेष और रूपविशेष जाना जाये तभी वस्तु स्पष्ट कही जाती है। 'रूप' से केवल तेजोगुण या चक्षुर्ग्राह्य आकार नहीं वरन् सभी निरूपक समझने चाहिये। 'सामने कुछ पड़ा है' यह अव्यक्त हुआ, 'वह साँप है' यह व्यक्त हुआ। सींप अव्यक्त रहेगी, साफ प्रतीत नहीं होगी, तभी उससे चाँदी व्यक्त होगी, साफ लगेगा कि वहाँ चाँदी है, चाँदी यह नाम उसे विषय करेगा व चाँदी का रूप दीखेगा। अतः अव्यक्त से अभिव्यक्ति के लिये सींप से चाँदी या रस्सी से साँप उचित दृष्टान्त हैं। चाँदी दीखती तो सींप ही है, और तो कुछ है नहीं जो वहाँ दीखे, और साफ दीखता है कि चाँदी है; अतः यह मानना ठीक है कि अव्यक्त सींप चाँदी रूप में व्यक्त हुई। ऐसे ही अव्याकृत ही जगद्-रूप में व्यक्त है। 'अव्याकृत' का ही व्याख्यान 'अज्ञान' है। अथवा अव्याकृत आवरण शक्ति की प्रधानता से कहा जो 'मोहात्' अर्थात् विक्षेपशक्ति से जगत् रूप में व्यक्त है। विक्षेपशक्ति-प्रधान उसी अव्याकृत को मोह कह दिया। यों स्पष्ट हुआ यह जगत् मिथ्या ज्ञान अर्थात् सर्प की या चाँदी की तरह भ्रम ही है। अनुभव से अन्य अर्थाध्यास भी कुछ है नहीं अतः जगत् को मिथ्या ज्ञान कहना संगत हो जाता है। कुछ लोग 'मिथ्याज्ञान के विषय को यहाँ मिथ्याज्ञान कहा है' ऐसा मानते हैं; उसका तात्पर्य भी अर्थाध्यास से ही है; घटज्ञान का जैसे घट विषय है वैसे तो भ्रम का विषय होता नहीं है!।।९६।।

श्लोक ९० में दो तरह की अभिव्यक्ति का प्रसंग उठाकर उनमें से उपाधि की अभिव्यक्ति बता चुके, अब दूसरी तरह की अभिव्यक्ति बताना प्रारंभ करेंगे। यही बात व्यक्त करते हैं **इस प्रकार, नाम-रूप का अध्यास ही जिसका स्वरूप है वह व्याकृत समझाया, जो आत्मा के प्रवेश के योग्य स्थान है। अब वहाँ जीव का प्रवेश समझाया जाता है।।९७।।** अभिव्यक्ति एक भ्रम

---

[1] प्रवेश्यस्यात्र इति अनुभूतिप्रकाशग्रन्थेषु, परं 'प्रवेश्यस्तत्र' इति वार्तिकसारपाठः साधीयान्।

सर्वशास्त्रारम्भ एव यदर्थस्तद्विबुद्धये।
स एष इह देहेषु प्रविष्ट इति गीयते।।९८।।

है; विभिन्न नाम-रूपों के भ्रम का ही नाम अभिव्यक्ति या व्याकृत है। व्याकृत जगत्, सारी ही उपाधियाँ कोई ‘वस्तु’ नहीं, एक भ्रम ही है। उसमें प्रवेश तो सुतरां भ्रम है इसमें क्या कहना! ‘जीव का प्रवेश’ अर्थात् जीवरूप से ब्रह्म का प्रवेश। प्रवेश के कारण जीव-ऐसा व्यवहार होता है। प्रवेश के बारे में ही और खुलासा करने जा रहे हैं।।९ ७।।

इस प्रसंग में आचार्य श्रीशंकर ने लिखा है ‘यदर्थः सर्वशास्त्रारम्भो यस्मिन्नविद्यया स्वाभाविक्या कर्तृक्रियाफलाध्यारोपणा कृता, यः कारणं सर्वस्य जगतः, यदात्मके नामरूपे सलिलादिव स्वच्छाद् मलमिव फेनम् अव्याकृते व्याक्रियेते, यश्च ताभ्यां नामरूपाभ्यां विलक्षणः, स्वतो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः, स एषोऽव्याकृते आत्मभूते नामरूपे व्याकुर्वन् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु देहेष्विह कर्मफलाश्रयेषु अशनायादिमत्सु प्रविष्टः।’ (१.४.७ पृ. ६८ म.अ.सं.) अर्थात् प्रवेश करने वाला वही है जिसके अनावरण के लिये सारा शास्त्र प्रारम्भ हुआ है। उसी में स्वभावसिद्ध अविद्या है जिससे कर्ता-क्रिया-फल का भ्रम उपलब्ध है। सारे जगत् का कारण वही तत्त्व है। साफ जल से भी जैसे मैल-सा फेन पैदा होता है वैसे जो अव्यक्त नाम-रूप व्यक्त होते हैं उनकी वास्तविकता वही तत्त्व है जो जगत्कारण एवं प्रवेश करने वाला है। स्वयं वह तत्त्व नाम-रूप से सर्वथा स्वतन्त्र है, खुद उसका स्वभाव नित्य, शुद्ध, ज्ञान और मुक्त है। कर्म-फल के आश्रय भूख आदि वाले सभी प्राणिशरीरों में वही प्रविष्ट हुआ है। अपने से भिन्न नहीं ऐसे अव्यक्त नाम-रूपों को व्यक्त करते हुए वह शरीरों में भी प्रवेश कर लेता है। इस भाष्यपंक्ति का स्मरण कर प्रवेश-प्रसंग प्रारंभ करते हैं **जिसके ही लिये सारे शास्त्र का प्रारम्भ है, उसी के बारे में यहाँ कहा जाता है कि वही यह परमात्मा सब शरीरों में घुसा है।।९८।।** शास्त्र अर्थात् समस्त प्राणियों के हित का प्रकाशक वेद। वेद का ‘प्रारम्भ’ अर्थात् प्रवृत्ति इसीलिये है कि जगत्कारण परमेश्वर का साक्षात्कार हो। मनुष्य उस साक्षात्कार के योग्य बने इसके लिये धर्म बताया और योग्य अधिकारी को परमात्मदर्शन हो इसके लिये ब्रह्म बताया। वही ब्रह्म सब शरीरों में घुसकर जीव बना बैठा है यह इस प्रसंग में श्रुति ने कहा।।९८।।

व्याख्येय वाक्य उद्धृत कर समझाने का क्रम बताते हैं **‘वह यह यहाँ नखों की नोंक तक घुसा’ यह वेद का वचन है। पहले एक-एक शब्द का अर्थ बताते**

स एषोऽत्रानखाग्रेभ्यः प्रविष्ट इति वेदगीः।
व्याख्यायतेऽसौ पदश आदौ मीमांस्यते त्वथ।।९९।।
स इत्यनेन शब्देन प्रकृतार्थावमर्शिना।
अव्याकृताऽध्यक्ष आत्मा यः पुरोक्तः स उच्यते।।१००।।

हुए इसे समझाते हैं फिर इसके बारे में विचार करेंगे।।९९।। श्रुति में 'इह' है, उसकी जगह 'अत्र' लिखा, बाकी वाक्य वही है। 'यहाँ' अर्थात् शरीर में। वाक्य के प्रत्येक शब्द का अर्थ पहले बता देंगे फिर उसमें निहित विचार स्पष्ट करेंगे। जो कहा है वह ठीक ही है यह स्वीकार कर किया जाने वाला विचार 'मीमांसा' कहा जाता है। प्रवेश हुआयह ठीक है मानकर 'कैसे हुआ?' इसे समझना यहाँ मीमांसा है।।९९।।

'सः' (वह) शब्द किसे विषय कर रहा है यह पहले कहते हैं **जिसका प्रसंग चल रहा है उसे सूचित करने वाले 'सः' इस शब्द से अव्याकृत का साक्षी जो पूर्वोक्त आत्मा वह कहा जा रहा है।।१००।।** 'तद्धेदं' आदि वाक्य में कहा अव्याकृत अज्ञानमात्र नहीं, अज्ञात आत्मा है यह बता चुके हैं, उसी आत्मा को 'सः' शब्द बता रहा है। अव्याकृत रूप से प्रसंग आत्मा का चल ही रहा है। अव्याकृत से आत्मा को समझने के लिये सीधा तरीका बताया कि अव्याकृत भी असाक्षिक तो सम्भव नहीं, उसका साक्षी आत्मा ही है जिसे मुखतः न कहा होने पर भी समझना ठीक है। अव्याकृत खुद ही व्यक्त हुआ ऐसा जो कहा था उसमें भी चेतन की स्थिति नकारकर अभिव्यक्ति नहीं कही थी, सुकरता में ही तात्पर्य था। भाष्य में कहा है 'सामर्थ्याद्, आक्षिप्त-नियन्तृकर्तृ-साधनक्रियानिमित्तम् (व्यक्तीभावमापद्यत)।' अर्थात् नियंता अर्थसिद्ध है, वही परमात्मा यहाँ 'सः' शब्द से कहा जा रहा है। जिस परमेश्वर ने अव्याकृत को व्यक्तरूप धारण कराया उसी ने शरीर में प्रवेश किया यह अर्थ है।।१००।।

यदि आग्रह हो कि पुल्लिँग 'सः' शब्द नपुंसकलिंग वाले अव्याकृत-शब्द से सम्बद्ध होना ठीक नहीं एवं अव्याकृत से अर्थसिद्ध उसका साक्षी शब्दतः प्रकृत न होने से 'सः' से समझा जाना ठीक नहीं; तो इस चतुर्थ ब्राह्मण के प्रारंभ में उक्त आत्मा का 'सः' से परामर्श समझना चाहिये। प्रारंभ वाक्य है 'आत्मैवेदम् अग्र आसीत्', वहीं से आत्मा का प्रकरण प्रारंभ हो गया है। यह विकल्प वार्तिक में (१.४.५२८) बताया है, इसका भी संग्रह करते हैं **अथवा, ब्राह्मण के प्रारंभ में 'आत्मा' शब्द से विराट् का जो अधिष्ठान कहा गया है उसको यहाँ 'सः' शब्द से समझा**

यद्वा विराडधिष्ठानं ब्राह्मणादावुदीरितम् ।
आत्मशब्देन तस्याऽत्र परामर्शो भविष्यति । ।१०१ । ।
तच्छब्देन परामृष्टः साक्ष्यव्याकृतभासकः ।
एतच्छब्देन कार्यस्थः प्रत्यक्ष उपदिश्यते । ।१०२ । ।
अद्वितीयम् अधिष्ठानं कार्यस्थः सद्वयस्तयोः ।
'स एष' इत्यभेदोक्तिर्दुष्करेति न चोद्यताम् । ।१०३ । ।

जायेगा । ।१०१ । । अनुभूति-प्रकाश अध्याय १३ श्लोक ५ में इस आत्मा का उल्लेख आया था। वह परम प्रकृत है ही अतः बुद्धिस्थ-परामर्शक सर्वनाम उसका ग्रहण कराये यह ठीक है। वाक्यार्थ में कोई अन्तर नहीं, केवल कहाँ कहे आत्मा को 'सः' बता रहा है इसका भेद है । ।१०१ । ।

श्रुति में 'स एषः' अर्थात् 'वह यह' प्रविष्ट हुआ ऐसा कहा। वह परोक्ष को बताता है, यह अपरोक्ष को बताता है तो दोनों को कैसे कह दिया? इस सहज प्रश्न को उपस्थापित कर उत्तर देते हैं **'सः' शब्द से सूचित साक्षी अव्याकृत को प्रकाशित करने वाला है। 'एषः' शब्द से उसका उपदेश है जो कार्य में (शरीर में) स्थित हुआ प्रत्यक्ष है। (अव्याकृत का साक्षी) अधिष्ठान समस्त द्वैत से रहित है जबकि कार्य में स्थित आत्मा द्वैत-सहित है। अतः 'वह यह' यों इनका अभेद कहना ठीक नहीं? ऐसा नहीं कहना चाहिये । ।१०२-३ । ।** परमेश्वर और शरीर में स्थित आत्मा एक ही है यह कहना विरुद्ध लगता ही है। यद्यपि साक्ष्य अलग होने पर भी साक्षी एक रह सकता है तथापि प्रश्नकर्त्ता की दृष्टि से साक्ष्य-सापेक्ष ही साक्षी है अतः अव्याकृत या माया का साक्षी और व्याकृत या मन का साक्षी एक नहीं हो सकते, इसलिये प्रश्न है। किं च अव्याकृत से अज्ञात आत्मा के ग्रहण से परोक्ष आत्मा का कथन था और प्रविष्ट जीव ज्ञायमान अतः अपरोक्ष है, इसलिये भी दोनों में भेद लगता है। 'सः' से कहा आत्मा अव्याकृत का नियन्ता है जबकि 'एषः' से कहा नियम्य है, व्यक्त स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में सीमित हुआ सुख-दुःखादि बन्धनों में जकड़ा है। इसलिये दोनों का अभेद अस्वीकार होना स्वाभाविक है। सद्वय और अद्वय दोनों भाव कालभेद से संभव होने पर भी युगपत् संभव नहीं। वेद ने यह नहीं कहा कि पहले अद्वय था, अब सद्वय है वरन् 'स एषः' से सद्वय-अद्वय को हमेशा ही अभिन्न कहा जो समझ नहीं आता इसलिये प्रश्न उठता है। क्योंकि यह प्रश्न अभेद के स्वरूप को न समझने से है इसलिये कहा कि 'ऐसा नहीं कहना चाहिये' । ।१०२-३ । ।

अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य दुष्करं नास्ति किञ्चन।
नीलीकृतं नभः पश्येच्चक्षुषा नीलवस्त्रवत्।।१०४।।
योग्याऽयोग्यव्यवस्थेयं मानव्यवहृतौ भवेत्।
कल्पनामात्रनिष्पत्तेर्नाऽपेक्षाऽज्ञानभूमिषु।।१०५।।
इहेत्यनेन सूत्रादिस्थाणुपर्यन्तविग्रहाः।
उच्यन्ते तेषु जीवोऽयं विस्पष्टम् उपलभ्यते।।१०६।।

क्यों नहीं कहना चाहिये यह बताते हैं **वस्तु की सचाई न जानने वाला न कर सके ऐसा कुछ भी नहीं है! (आकाश का स्वरूप न जानने वाला व्यक्ति) आँख से जैसे नीला कपड़ा देखता है वैसे नीला किया आसमान देख लेता है!।।१०४।।** सर्वज्ञात्ममहामुनि ने लिखा है 'भ्रमादलभ्यं न हि किञ्चिदस्ति' (३.१९५) ऐसा कुछ नहीं है जो भ्रम से न समझा जा सके। प्रकृत एवं अगला श्लोक वार्तिक के (१.४.४९९-५००) हैं। आकाश नीरूप है, आँख से दीख नहीं सकता, फिर भी लोगों को नीला आकाश आँखों से स्पष्ट दीखता है! भ्रम की अचिन्त्य सामर्थ्य है अतः अखण्ड आत्मवस्तु में प्रतीयमान सर्वशक्ति-अल्पशक्ति आदि भेद कोई महत्त्व नहीं रखते क्योंकि अखण्डता शास्त्रों द्वारा सत्यापित और युक्तियुक्त है।।१०४।।

जैसे आकाश इस लायक नहीं कि आँखों से दीखे, फिर भी दीखता है, ऐसे ही जगत्कारण का शरीर में सीमितरूप से अनुभव होना भी संगत है क्योंकि भ्रम से ऐसा लग रहा है, यह स्पष्ट करते हैं **प्रमाणों से व्यवहार होने पर योग्य-अयोग्य की यह व्यवस्था हो सकती है। अज्ञान की भित्ति पर केवल कल्पना से निष्पन्न होने के लिये योग्यता की कोई ज़रूरत नहीं होती।।१०५।।** आँख से दीखने के अयोग्य आकाश जैसे भ्रम से नीला दीखता है ऐसे भ्रम से जीव परमेश्वर से भिन्न अनुभव में आ रहा है भले ही अखण्ड आत्मा इस योग्य नहीं कि यों प्रतीत होवे। 'स एषः' का अभिप्रेतार्थ तो अखण्ड है पर आपात अर्थ विरुद्ध है। वह विरुद्ध अर्थ भी भ्रम से संभव ही है, यह भाव है।।१०५।।

'स एष' के बाद उपनिषत् में शब्द है 'इह', उसका अर्थ निर्धारित करते हैं **'इह' ('यहाँ') इस शब्द से सूत्रात्मा से स्थावर पर्यन्त शरीर कहे जा रहे हैं। उनमें यह जीव विशेषतः साफ-साफ मिलता है।।१०६।।** 'वह यह यहाँ घुसा' ऐसा जो श्रुतिकथन है उसमें 'यहाँ' मायने सभी शरीरों में। शरीर चाहे सूत्रात्मा का हो, ब्रह्मा का हो, या पेड़-पौधे का हो, उसमें जीवरूप से घुसा वही है जो जगत्कारण है। समष्टि सूक्ष्म

प्रविष्ट इति शब्देन चिदाभासतमोऽन्विता।
जीवत्वेनोपलब्धिर्या चितः सैषाऽभिधीयते।।१०७।।
चिदाभासप्रवेशस्तु प्रत्यङ्मोहे स्वतोऽभवत्।
तत्कार्येष्वनुवृत्तः स उपाधिश्चित्प्रवेशने।।१०८।।

शरीर वाला सूत्रात्मा कहा जाता है। वहाँ भी अभिमान होने से जीवभाव है, भले ही आदिमुक्त होने से प्रधानतः ईश्वरभाव रहे। शरीर उन्हें कहते हैं जहाँ साफ़-साफ़ लगे कि यहाँ जीव की विशेष स्थिति है। जहाँ यों न लगे उन वायु, नदी आदि को शरीर मानें या न भी मानें पर जहाँ यों लगता है उन्हें तो शरीर सभी स्वीकारते हैं। 'जीव है' ऐसी उपलब्धि साफ़ होती है, भले ही हम इसमें कोई प्रमाण न दे पायें! प्रमाण से परीक्षा करने पर आत्मा व्यापक ही निकलेगा, परिच्छेद उपाधियों में ही मिलेगा, 'जीव' कोई प्रमाणसिद्ध वस्तु नहीं है, फिर भी जब उपलब्ध होता है तब लगता है कि साफ़ पता चल रहा है, संशय का कोई अवसर नहीं। ऐसा जहाँ भी प्रतीत हो वे सभी शरीर समष्टि-व्यष्टि दोनों तरह के शरीर 'इह' कहे गये हैं।।१०६।।

'इह' के बाद शब्द है 'प्रविष्टः', उसका अर्थ कहते हैं **चिद्-आभास और अज्ञान से युक्त जो जीवरूप से चेतन की अपरोक्ष अनुभूति है वह 'प्रविष्ट' इस शब्द से कही जा रही है।।१०७।। प्रत्यगात्मा के अज्ञान में चेतन के अभास का प्रवेश खुद हुआ, अज्ञान के कार्य बुद्धि आदि में अनुगत वह साभास अज्ञान ही चेतन के प्रवेश में उपाधि है।।१०८।।** प्रविष्ट मायने घुसा हुआ। घड़े में पानी, जैसे तो व्यापक अमूर्त चैतन्य का शरीर में प्रवेश संभव नहीं, शरीर में सीमित रूप से जो अपनी अनुभूति है उसी को प्रवेश के रूप में शास्त्र ने कहा है जैसे घड़े में आकाश का या दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप से मुखादि का प्रवेश कहा जाता है। जीव अर्थात् कर्ता, भोक्ता, प्राणों को धारण करने वाला इस तरह जो चेतन की, आत्मा की, मेरी, प्रत्यक्ष अनुभूति है उसे 'प्रविष्ट' कहा गया है। जीवरूप में चित् अर्थात् चेतन का आभास भी है, जीव चेतन जैसा लगता है; वह चेतन *ही* नहीं लगता, अचेतन के परिच्छिन्नत्वादि भी उसमें प्रतीत होते ही हैं; एवं वह अज्ञान से सम्बद्ध, अज्ञान वाला, अज्ञानी प्रतीत होता है। यह जो प्रत्यक्सम्बन्धी अज्ञान है, इसमें प्रवेश अर्थात् 'मैं अज्ञानी' ऐसी अनुभूति, यह खुद ही है, बिना निमित्त के नैसर्गिक है, निरुपाधिक भ्रम है। चेतन का अज्ञान में यह प्रवेश भी आभास-विधया है अर्थात् जैसे मुख दर्पण 'में' प्रतीत-मात्र होता है वैसे चेतन अज्ञान 'में', अज्ञान से ढका हुआ, अज्ञानसमुद्र में डूबा हुआ प्रतीत ही होता है, वास्तव में चेतन में

जपाकुसुमरक्तत्वं स्फटिके कल्प्यते यथा।
चिदाऽऽभासप्रवेशोऽयं चित्यध्यारोप्यते तथा।।१०६।।

कोई फर्क़ आया हुआ नहीं है। अज्ञान आगे अनेक कार्यों के आकार लेता है जैसे अंतःकरण, इन्द्रिय, शरीर आदि। उनमें भी आत्मा प्रविष्ट लगता ही है लेकिन वह प्रवेश सोपाधिक भ्रम है तथा उपाधि है साभास अज्ञान ही। अर्थात् साभास अज्ञान क्योंकि उन आकारों में है इसलिये उनमें प्रविष्टता का भान है। अज्ञान तो आत्मा का आभास ग्रहण करने में सक्षम है, शरीरादि में वह क्षमता अज्ञान के कारण है। अतः अज्ञान में जो प्रवेश है उसकी निवृत्ति हो जाने पर मनआदि से 'निकलने' के लिये अन्य कोई प्रयास नहीं चाहिये। किं च, शरीर में प्रविष्टता तो केवल जाग्रत् में अनुभव में आती है, मन में प्रविष्टता जाग्रत्-स्वप्न में ही अनुभव में आती है, लेकिन अज्ञान में प्रविष्टता तीनों अवस्थाओं में अनुभव में आती रहती है, मोक्ष-पर्यन्त वह प्रवेश स्थायी है। 'अनुवृत्तः सः' का अर्थ वार्त्तिकसार टीका में है 'मोहकार्येषु बुद्ध्यादिषु चित्प्रतिबिम्बे उपाधिभूतो यः साभासमोहः सोऽप्युपादानत्वात् तेषु अन्वेति इति बुद्धिस्थजीवस्य तमःसाहित्यम् उपपन्नम्'। कुछ व्याख्याता 'सः' से चिदाभास का ही परामर्श करते हैं किन्तु आभास तो प्रवेशरूप है, उसे ही प्रवेश की उपाधि समझना कठिन है। अथवा उनका भाव है कि बुद्धिआदि में आभास के प्रति अविद्या में आभास उपाधि है, तब साभास-अविद्या वाले पक्ष से कोई फ़र्क नहीं रह जाता। अज्ञानकर्मों में प्रवेश अर्थात् तादात्म्य हट भी जाये तो भी अज्ञान में प्रवेश हटे बिना मोक्ष संभव नहीं।।१०७-८।।

प्रविष्ट कौन हुआ? चेतन व्यापक होने से प्रविष्ट कहना नहीं बनता इसलिये पूर्वश्लोक में कहा कि 'आभास का प्रवेश खुद हुआ'। इसका मतलब निकला कि चेतन का प्रवेश हुआ नहीं, केवल आभास का प्रवेश हुआ, फिर श्रुति जो जगह-जगह चेतन का प्रवेश कहती है वह कैसे संगत होगा? इसका उत्तर देते हैं **जिस प्रकार जपा-फूल की लालिमा के बारे में कल्पना होती है कि वह स्फटिक पर है उसी प्रकार चिदाभास के इस प्रवेश का चेतन पर आरोप हो जाता है।।१०६।।** लाल रंग का जपा-नामक फूल प्रसिद्ध है। वह पास पड़ा हो तो स्फटिक लाल दीखता है। लाली है फूल में पर भ्रम से लगती स्फटिक में है। इसी तरह प्रवेश हुआ तो चेतन के आभास का फिर भी व्यवहार होता है कि चेतन ने प्रवेश किया। श्रुति तो संगत ही है क्योंकि प्रवेश चेतन का है लेकिन है आभासरूप से। जैसे मुख दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से घुसता है ऐसे आभासरूप से चेतन अविद्या में घुसता है। स्मरण रखना चाहिये कि आभास, प्रवेश आदि

सूत्रादिस्थाणुपर्यन्तं जगत् सृष्ट्वाऽऽत्ममायया।
स्वाभासैकसहायेन स एव प्राविशत् परः।।११०।।
'आनखाग्रेभ्य' इत्युक्त्या मर्यादाऽस्य प्रवेशने।
उक्ता स्पर्शेन चैतन्यं नखाग्रावधि लक्ष्यते।।१११।।

विचार यह समझाने के लिये हैं कि उपाधिस्थरूप से मिथ्या प्रतीति है, इससे अतिरिक्त इन रूपकों का प्रयोजन नहीं। आभास कोई 'वस्तु' नहीं जिसका सच्चा प्रवेश हुआ हो और उस प्रवेश का आत्मा पर आरोप कहा जा रहा हो! आत्मा प्रविष्ट है ऐसी अनुभूति और श्रुति को समझने का यह ढंग है कि आत्मा असम्बद्ध रहते हुए ही आभास के रूप में उपाधिस्थ है एवं आभास की उपाधिस्थता को ही आत्मा की उपाधिस्थता समझा व श्रुति द्वारा कहा जा रहा है।।१०६।।

प्रवेश किसमें व कहाँ तक हुआ इसे श्रुतिवाक्य में 'आ नखाग्रेभ्यः' से कहा, उसे समझाते हैं **सूत्रात्मा से स्थावर तक जगत् को अपनी माया से उत्पन्न कर उसी परमेश्वर ने केवल अपने आभास की सहायता से (उस जगत् में) प्रवेश किया।।११०।। 'नाखून की नोक तक' यह कहने से उसके प्रवेश की सीमा बतायी। नख की नोक तक छूने पर (शरीर में) चेतनता प्रतीत होती है।।१११।।** सूत्रात्मा का शरीर वह है जिसमें समष्टि ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति प्रकट होती है। स्थावर वे शरीर हैं जहाँ इन दोनों शक्तियों की सर्वाधिक कुण्ठित स्थिति प्रकट होती है। समष्टि-व्यष्टि दोनों ही शरीरों में प्रवेश हुआ। इससे बता दिया कि किसमें प्रवेश हुआ। अगला प्रश्न है कि इन शरीरों में क्या किसी खास जगह प्रवेश हुआ या सारे शरीरों में प्रवेश हुआ? क्या हृदय आदि किसी विशिष्ट स्थान में आत्मा आकर बैठा या पूरे शरीर में आ गया? इसके जवाब में कहा कि 'नाखून की नोक तक' अर्थात् सारे ही शरीर में आ गया। पूरा ही शरीर सचेतन लगता है, कोई एक ही अंग चेतन लगे, बाकी हिस्सा अचेतन लगे ऐसा नहीं है। इसमें अनुभव ही प्रमाण है : किसी के शरीर के बाहरी हिस्से को छूते हैं तो उसे पता लगता है कि 'मुझे छुआ', नाखून की नोक छूने से भी पता लगता है, इसलिये वहाँ तक शरीर में चेतन भरा हुआ है यह निश्चित हो जाता है। अथवा अपने ही शरीर की दृष्टि से चेतना की अनुभूति नखाग्र-पर्यंत होती है, वहाँ तक स्पर्शेन्द्रिय कार्यकारी रहती है, अतः वहाँ तक प्रवेश निश्चित है। 'नखाग्र-पर्यन्त' व्यष्टि देह की दृष्टि से कहा है, सूत्रात्मा की दृष्टि से सीमा वहाँ तक समझनी चाहिये जहाँ तक ज्ञान-क्रियाशक्ति का विस्तार है।।११०-१।।

सामान्येन विशेषाच्च चिद् देहं व्याप्य वर्तते।
दृष्टान्ताभ्यां द्वयी वृत्तिर्द्विविधाभ्याम् इहोच्यते।।११२।।
दारु कृत्स्नम् अभिव्याप्य यथाऽग्निर्दारुणि स्थितः।
संव्याप्य तद्वदखिलं देहम् आत्मा व्यवस्थितः।।११३।।

प्रवेश समझाने के लिये उपनिषत् ने उदाहरण दिये हैं, 'यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्, विश्वम्भरो वा विश्वम्भर कुलाये (बृ.१.४.७)। क्षुर अर्थात् उस्तरा, क्षुरधान अर्थात् उस्तरा आदि रखने की पेटी। क्षुरधान में जैसे अंदर स्थित क्षुर मिलता है वैसे शरीर में आत्मा मिलता है अतः पेटी में उस्तरे की तरह उसे प्रविष्ट समझ सकते हैं। यह एक उदाहरण है। विश्वम्भर अग्नि को कहते हैं। 'कुलाय' अर्थात् रहने का स्थान। आग का रहने का स्थान लकड़ी आदि ईंधन है। आग जैसे लकड़ी में रहती है वैसे शरीर में आत्मा रहता है। यह दूसरा उदाहरण है। इन उदाहरणों का तात्पर्य व्यक्त करते हैं **चेतन सामान्यतः भी शरीर को व्याप्त कर रहता है और विशेषतः भी देह में स्थित है। इस दो तरह से रहने को यहाँ दो प्रकार के दृष्टान्तों से कहा जा रहा है।।११२।।** 'मैं' की अनुभूति प्रायः हृदय में स्फुट होती है। 'मैं' कहते हुए छाती का स्पर्श किया भी जाता है। यह उसकी विशेष स्थिति और उसका स्थल हुआ। साधारणतः 'सारा शरीर मैं हूँ' यह अनुभव होता ही, यह सामान्य दृष्टि से शरीर को व्याप्त करना हुआ। 'इस कमरे में रहता हूँ' यों पूरे कमरे को अपने द्वारा प्रयुक्त, अधिष्ठित मानते हैं तथा 'इस पलंग पर सोता हूँ, इस कुर्सी पर बैठता हूँ' यों पलंग-कुर्सी को खासकर अपने द्वारा प्रयोग में लाया गया, अधिष्ठित मानते हैं। इसी तरह पूरे शरीर में तथा शरीर के खास स्थान पर, दोनों तरह अपनी अनुभूति होती है जिसे समझाने के लिये श्रुति ने उस्तरा व उसकी पेटी तथा आग और ईंधन (लकड़ी) ये दो दृष्टान्त दिये।।११२।।

श्रुति में क्षुर-विश्वम्भर (उस्तरा-अग्नि) यह क्रम है किंतु उन दृष्टांतों से सामान्य और विशेष अवस्थिति विवक्षित है यह मानकर पहले सामान्यतः रहने में दृष्टान्तभूत अग्नि वाले उदाहरण को समझाते हैं **जैसे सारी लकड़ी को घेर कर उसमें आग रहती है वैसे सारा शरीर घेरकर उसमें आत्मा भलीभाँति रहता है।।११३।।** लकड़ी पूरी ही जल जाती है, इससे पता चलता है कि पूरी में ही आग थी, तभी उसमें प्रकट हुई। ऐसे, शरीर में आत्मा है, जहाँ भी शरीर को छुआ जाये, पता लगता है; कहीं भी पीडा हो तो पता लगती है; शरीर के हर कोषा का जीवन-संचालन इसमें प्रमाण है कि सर्वत्र चेतना

तस्थावसंव्याप्य यथा क्षुरपात्रं क्षुरस्तथा।
श्रोत्रादिनाडीमध्यस्थः तनुम् अव्याप्य संस्थितः।।११४।।
क्षुरपात्रे स्थानभेदाद् विभिद्यन्ते यथा क्षुराः।
चैतन्यानि विभिद्यन्ते तथा नाडीविभेदतः।।११५।।

है, उसके न रहने पर पूरा देह सड़ना शुरू हो जाता है। इस तरह, लकड़ी में आग जैसे शरीर में आत्मा है।।११३।।

दूसरे दृष्टान्त से विशेषतः अवस्थिति बतायी है यह समझाते हैं **जैसे उस्तरे की पेटी में उसे पूरा बिना घेरे उस्तरा रहता है वैसे कान आदि की नाडियों में आत्मा विशेषतः रहता है तथा उस तरह वह सारे शरीर को व्याप्तकर नहीं रहता।।११४।।** कान आदि की नाडियों में आत्मा की खास अवस्थिति है। ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ शरीर में जहाँ कार्य करती हैं वहाँ विशेष नाडियाँ हैं, उनमें आत्मा की ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति व्यक्त होती है, जो शक्तियाँ शरीर में वहाँ व्यक्त नहीं जहाँ वे नाडियाँ नहीं। उस्तरा पेटी में तो होता है लेकिन उसमें किसी खास जगह में ही होता है, पूरी पेटी में उस्तरा हो ऐसा नहीं जैसे पूरी लकड़ी में आग होती है। इसलिये आत्मा की जहाँ ज्ञान-क्रियाशक्तियाँ अधिक स्पष्ट होती हैं उन स्थानों पर उपस्थिति भी विशेष है यह उस्तरे के उदाहरण से बताया।।११४।।

अवस्थिति का वैशिष्ट्य इसी से है कि अलग-अलग तरह से उपलब्धि हो रही है। चेतन एकरस होने पर भी आँख में उसकी जैसी उपलब्धि है उसकी अपेक्षा कान में उपलब्धि अलग है, हाथ में अलग है। इन अलगावों को ही 'विशेष' कहा जाता है, अन्यथा चेतन तो सारे शरीर में समान है। इस बात को भी उस्तरे के दृष्टांत से व्यक्त करते हैं **उस्तरे की पेटी में अलग-अलग जगह रखे होने से जैसे उस्तरे अलग-अलग होते हैं वैसे ही (शरीर में) नाडियाँ अलग-अलग होने से उनमें प्रकट चेतन अलग-अलग लगते हैं।।११५।।** पेटी में विभिन्न आकारों के उस्तरों के लिये नियत स्थान होते हैं। 'उस्तरे' से नाई के उपयोग में आने वाले सभी उपकरण समझ सकते हैं। अलग जगहों पर रखे रहते हैं इसी से वे परस्पर अलग हैं यह निश्चित है, उनके उपयोग भी अलग-अलग होते हैं। इसी तरह शरीर में अलग-अलग नाडियों में जो चेतन प्रकट होता है वह विभिन्न उपयोगों वाला होने से लगता है मानो परस्पर विभिन्न हों। चेतन का स्वरूप ज्ञान होने पर भी द्रष्टा व श्रोता परस्पर विलक्षण ही लगते हैं, पकड़ने वाला व चलने वाला अलग-अलग ही प्रतीत होते हैं। यद्यपि सबको अपने से एक करने वाला

प्राप्नोति वृत्ती द्वे जीवः स्वप्नजाग्रदवस्थयोः।
सामान्यवृत्तिमेवैकां सुषुप्ते प्रतिपद्यते।।११६।।
सामान्यवृत्तिर्या साऽत्र जीवनायोपपद्यते।।[1]
विशेषवृत्तयो देहे शब्दाद्यालोचनोद्यताः।।११७।।

अहंकार एक ही अनुभव में आता है तथापि आँख में प्रकट चेतन (ज्ञान) और कान में प्रकट चेतन तो अलग लगते ही हैं। क्रिया की इंद्रियों में प्रकट चेतन भी ऐसे ही विभिन्न लगते हैं। उन नाडियों में चेतन की क्रियाशक्ति व्यक्त होती है, वह भी प्रकटीकरण है चेतन का ही। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के मानसोल्लास में कुछ नाडियों का इंद्रियसंबंध बताया है गान्धारी व हस्तिजिह्वा का नेत्रों से, पूषा व अलम्बुषाका कानों से, सरस्वती का वाक् से, विश्वोदरी का रसना से, राका का जननेन्द्रिय से, सिनीवाली व कुहू का विसर्गेन्द्रिय से संबंध वहाँ चौथे उल्लास में कहा है। आत्मपुराण अध्याय ११ श्लोक १५० आदि में भी नाडी-गोलक सम्बन्ध बताया है। वर्णनों में यत्किंचिद् भेद मिलता है जो परंपरा-भेद से संगत समझना चाहिये।।११५।।

चेतन की सामान्य-विशेष द्विविध उपस्थिति को अवस्थाओं के अनुसार भी समझाते हैं **स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में जीव (सामान्यतः एवं विशेषतः) दोनों तरह वर्तमान रहता है जबकि सुषुप्ति में एक सामान्य तरह से ही वर्तमान रहता है।।११६।। यहाँ कही द्विविध वर्तमानता में जो सामान्यतः वर्तमानता है वह जीवन के लिये उपयोगी है एवं विशेष तरह से शरीर में रहना शब्दादि विषयों के व्यवहार के लिये उपयोगी है।।११७।।** सुषुप्ति में भी शरीर जीवित रहता है, वह जिस तरह से चेतना रहने पर सम्भव है उसे सामान्य वृत्ति (सामान्य तरह से रहना) कहा। जिस तरह से रहने पर विषय-व्यवहार होता है वह विशेष वृत्ति (विशेष तरह से रहना) कही जाती है। विशेष वृत्ति अनेक तरह की है क्योंकि व्यवहार अनेक तरह के हैं। वे वृत्तियाँ विषय-व्यवहार में संलग्न होती हैं, व्यवहार रहते ही उनकी स्थिति है। जाग्रत् व स्वप्न में ये विशेष वृत्तियाँ होती हैं, सुषुप्ति में नहीं। स्वप्न में बाह्य विषयों से न सही, अन्दर ही उत्पादित विषयों से मानो व्यवहार चलता रहता है इसलिये स्वप्न में भी केवल सामान्य नहीं विशेष वृत्ति को स्वीकारना पड़ता है। इंद्रियाँ वहाँ नहीं काम करतीं किंतु विभिन्न अर्थाध्यास व ज्ञानाध्यास होते रहते हैं जो तब तक संभव नहीं जब तक जीव की

---

[1] जीवनायोपयुज्यते इति सारे पाठः।

प्रवेशवाक्यं पदशस्तात्पर्याच्च स्फुटीकृतम्।
तदनुग्राहको न्याय इदानीं प्रविचार्यते।।११८।।

प्रवेशोपपादनम्

देवदत्तः परिच्छिन्नः सांशश्चाऽतो गृहं विशेत्।
निरंशः सर्वगश्चात्मा कथं देहे विशेद् असौ।।११९।।

शरीर में विशेष अवस्थिति न हो। इस प्रकार चित् का आभास-विधया प्रवेश एवं सामान्य-विशेष दो तरह से व्यवस्थित अवस्थान बताया।।११६-७।।

शास्त्र-श्रवणानन्तर मनन का प्रसंग आता है और मनन से ही बोध में दृढता भी आती है इसलिये वेद में जो परमेश्वर का व्यष्टिभाव बताया उस पर और चिंतन व्यक्त करने की प्रतिज्ञा करते हैं **प्रवेश-बोधक वाक्य का (उसमें आये) शब्दों के अनुसार और अभिप्राय के अनुसार स्पष्टीकरण किया। अब उसे उपपन्न करने वाली युक्तियों का विस्तृत विचार किया जाता है।।११८।।** 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' यह यहाँ प्रवेश-वाक्य है। अन्यत्र भी उपनिषदों में अनेक जगह परमेश्वर का जीवरूप से प्रवेश कहा गया है। आगे बताये जाने वाली युक्तियाँ सर्वत्र लगेंगी, जहाँ-कहीं परमेश्वर का प्रवेश कहा है उसे इसी तरह संगत समझ लेना चाहिये। भोक्त्रापत्त्यधिकरण (२.१.५), इतरव्यपदेशाधिकरण (२.१.७), आत्माधिकरण (२.३.११) अंशाधिकरण (२.३.१७) आदि ब्रह्मसूत्र-प्रसंगों में इस सन्दर्भ में काफी विचार है तथा तैत्तिरीय (ब्रह्म.६) ऐतरेय (१.३) और यहीं बृहदारण्यक में प्रवेश का काफी खुलासा मिलता है।।११८।।

आत्मा ने शरीर में प्रवेश किया यह मान लेने में क्या कठिनाई है, यह बताते हैं **देवदत्त सीमित और सावयव होता है इसलिये घर में घुस सकता है, आत्मा तो निरवयव एवं सर्वव्यापक है, वह शरीर में घुस कैसे सकता है?।।११९।।** आत्मा ने शरीर में प्रवेश किया यह इस तरह हो सकता है जैसे देवदत्त आदि कोई व्यक्ति घर में प्रवेश करता है। लेकिन ऐसा संगत नहीं क्योंकि देवदत्त का शरीर ही घर में घुसता है और शरीर अवयवों वाला तथा सीमित आयाम (परिमाण) का है जबकि आत्मा इससे विपरीत बिना अवयवों का एवं असीम है। व्यावृत्त व अनुवृत्त दोनों ही न होने से आत्मा की कोई सीमा संभव नहीं। व्यापक आत्मा का कहीं से विभाग होकर कहीं अन्यत्र संयोग हो यह भी असंभव है जैसा देवदत्त का होता है, बाहर-देश से विभाग होकर घर के भीतर-देश से संयोग हो जाता है। प्रवेश क्योंकि

अप्रविष्टस्वभावोऽयं दिग्देशाद्यनभिप्लुतेः।
कल्पितोऽस्य प्रवेशः स्याज्जलपात्राऽर्कबिम्बवत्।।१२०।।

परमेश्वर का ही बताया है इसलिये यह भी कल्पना नहीं कर सकते कि किसी परिच्छिन्न जीवात्मा ने ही शरीर में प्रवेश कर लिया होगा! एवं च आत्मा का प्रवेश कैसे समझा जाये यह विचारणीय है।।११६।।

उक्त समस्या का समाधान करते हैं **दिशा, स्थान आदि से असीमित होने के कारण जिसका स्वभाव ही ऐसा नहीं कि वस्तुतः किसी सीमित जगह में घुस सके, उसका भी कल्पना से प्रवेश हो सकता है जैसे जल-भरे बर्तन में सूर्य-बिम्ब का 'प्रवेश' हो जाता है।।१२०।।** इस प्रसंग में श्रीसुरेश्वराचार्य ने कहा है कि राग-द्वेष आदि मलों से रहित बुद्धि वाले ब्रह्मनिष्ठ भाष्यकार ने जो युक्तियुक्त वचन कहे हैं तदनुसार अप्रविष्ट स्वभाव का कल्पना से प्रवेश स्वीकार है। भाष्य में कहा है 'जलसूर्यादिप्रतिबिम्बवद् आत्मप्रवेशः' तथा 'न तु सर्वगतस्य निरवयवस्य दिग्देशकालान्तरापक्रमणप्राप्तिलक्षणः प्रवेशः' (पृ ७३, म.अ.सं.)। इसी बात को वार्तिक में 'अप्रविष्टस्वभावस्य दिग्देशाद्यनभिप्लुतेः। प्रवेशो व्याकृते क्लृप्तो जलपात्रार्कबिम्बवत्।।' १.४.६०८।। से कहा है जिसका सार में अनुवाद है। आत्मा को पूर्वादि दिशाओं से सीमित नहीं समझ सकते, किन्हीं खास स्थानों में सीमित नहीं समझ सकते, वस्तु और काल से सीमित नहीं समझ सकते। 'प्रवेश' लोक में यों सीमित होने को ही कहते हैं जैसे सूर्यादि ग्रहों का पूर्वादि दिशाओं में प्रवेश होता है या लोगों का गृह आदि स्थानों में प्रवेश होता है या दिन का सन्ध्यादि काल में प्रवेश होता है अर्थात् दिशा, स्थान, काल से सीमित हो जाना यही लोकसिद्ध प्रवेश है। जो स्वरूपतः इनसे अपरिच्छेद्य है उसका ऐसा प्रवेश संभव नहीं। इसलिये कहा कि आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि कहीं वास्तव में घुस नहीं सकता। फिर भी शास्त्र ने प्रवेश कहा है तो कल्पना से प्रवेश ही संभव है जिसे प्रतिबिम्बन के दृष्टांत से समझ सकते हैं। सूर्यादि का बिम्ब वस्तुतः तो दर्पण में नहीं घुसता पर लगता है मानो घुसा हो। या आकाश लगता है मानो घड़े में घुसा हो। ऐसे ही लगता ही है कि आत्मा शरीर में घुसा है, वास्तव में घुसा हो ऐसी बात नहीं।।१२०।।

प्रतिबिम्बन भी कैसे संभव है? सूर्यमंडल और दर्पण परस्पर अलग, दूर-दूर स्थित हैं तब सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जबकि आत्मा व्यापक है, किसी उपाधि से अलग, दूर है नहीं; तब उसका प्रतिबिम्ब-जैसा प्रवेश कैसे? इसका समाधान करते हैं **यद्यपि दृष्टान्त में 'अलग-अलग स्थित होना' आदि अंश दार्ष्टान्त आत्मा में नहीं है**

विभागाद्यंशवैषम्येऽप्यस्ति साम्यं विवक्षितम्।
उपाधिस्थोपलब्ध्यादि साम्यं केन निवार्यते।।१२१।।
उपाधावुपलभ्यत्वम् अन्यथात्वेन भासनम्।
बहुत्वभानम् इत्येतद् दृष्टदार्ष्टान्तयोः समम्।।१२२।।

तथापि जो बताना चाहते हैं वह समानता है ही। 'उपाधि में स्थित रूप से प्रतीति' इत्यादि समानता प्रतिबिम्ब और प्रविष्ट आत्मा में है इसे नहीं नकार सकते।।१२१।। दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में समग्र समानता तो होती ही नहीं है, जो प्रधान प्रतिपाद्य हो उतनी बात समान होने से दृष्टांतरूपता संगत समझी जाती है। आत्मा उपाधि से दूर, अलग है यह प्रतिपाद्य ही नहीं कि इस अंश में समानता मिले। प्रतिपाद्य इतना ही है कि वास्तव में जैसा है वैसा ही रहते हुए उपाधि में प्रविष्ट प्रतीत हो। यह समानता प्रतिबिम्बन व आत्मप्रवेश में है ही। अव्यापक बिम्ब का ही प्रतिबिम्ब पड़ सके यह नियम नहीं क्योंकि आकाश का भी प्रतिबिम्ब दीखता ही है। किं च, प्रतिबिम्बन अर्थात् बिम्ब पर पड़ी प्रकाशरश्मियों का उपाधि से प्रतिफलित हो आँख में पड़कर बिम्ब को स्वस्थान से अन्यत्र प्रतीत कराना यह आत्मप्रसंग में न संभव है न बताया जा रहा है क्योंकि आत्मा न चाक्षुष है, न उसपर प्रकाशरश्मियाँ पड़कर अन्यत्र टकराती हैं! प्रतिबिम्बन के रूपक के अनुसार आत्मा का प्रवेश समझाना है, यह नहीं कि आत्मा का प्रतिबिम्ब ही पड़ता हो! अनुभूतिस्वरूप आचार्य ने माण्डूक्य टीका (३.३) में स्पष्ट किया है कि निरुपाधिक पूर्णता कायम रहते ऐसी मिथ्या प्रतीति कि वस्तु उपाधि में है इसे ही प्रतिबिम्बन कहते हैं। अतः प्रतिबिम्ब इस शब्द का प्रयोग उदाहरण की दृष्टि से है, अन्य उदाहरण की दृष्टि से अन्य भी शब्द का प्रयोग संभव है पर चाहे जिस उदाहरण से हो, प्रतिपाद्य वही बात है। इस तरह समझ आता है कि पूर्ण आत्मा का वेदोक्त देह-प्रवेश संगत है।।१२१।।

'उपाधिस्थोपलब्ध्यादिसाम्यम्' यों जो 'आदि' शब्द रखा था उसका खुलासा करते हैं **'उपाधि में है' ऐसा लगना, जैसी वस्तु सचमुच में है उससे अन्य तरह का प्रतीत होना, और (वस्तु एक रहते हुए भी) अनेक लगना ये तीनों बातें दृष्टांत व दार्ष्टान्त में समान हैं।।१२२।।** सूर्यमंडल आकाश में रहते हुए ही लगता है मानो दर्पण में हो। आत्मा भी व्यापक रहते हुए ही 'शरीर में है' ऐसा लगता है। सूर्य वास्तव में जैसा है, दर्पण में पड़कर वैसा नहीं, अन्य तरह का लगता है। पूर्व में उदित सूर्य का मुख पश्चिम की ओर हो तो दर्पणस्थ सूर्य पूर्व की ओर मुख

तेजोऽधिकं रवेर्बिम्बम् अशक्यं द्रष्टुमञ्जसा।
तथाऽपि जलमध्ये तद् बिम्बं सम्यगवेक्ष्यते।।१२३।।
स्वयम्प्रकाश आत्मैवं नोपलभ्योऽनुपाधिकः।
जडदेहाद्युपाधौ तु विस्पष्टम् उपलभ्यते।।१२४।।

करता है। और भी अनेक तरह से प्रतिबिम्ब वास्तविक सूर्य से अन्य प्रकार का होता है। इसी तरह शरीर में प्रविष्ट हुआ आत्मा वास्तविक आत्मा से अन्यथा ही मिलता है। वास्तव में अपरिच्छिन्न आत्मा शरीर में परिच्छिन्न प्रतीत होता है। वास्तव में सनातन आत्मा शरीर में कादाचित्क (आगमापायी) प्रतीत होता है। किं च सूर्य बिम्ब एक है पर हज़ारों दर्पणों में प्रतिबिम्बित होने पर हज़ारों प्रतिबिंब दीखते हैं। ऐसे ही असंख्य उपाधियों में अनन्त जीव प्रतीत होते हैं जबकि आत्मा एक ही है। इस तरह प्रतिबिम्ब की समानता स्पष्ट है।।१२२।।

प्रवेश के पीछे प्रयोजन भी है अतः सप्रयोजन होने से भी यह स्वीकारना उचित है कि आत्मा का प्रवेश हुआ यह समझाने के लिये आत्मा उपाधि में उपलब्ध होता है इस पूर्वसूचित बात को स्पष्ट करते हैं **सूर्य का बिंब अत्यधिक तेजस्वी होता है अतः सीधे ही साफ़-साफ़ नहीं देखा जा सकता, फिर भी जल में पड़ा उसका प्रतिबिम्ब भलीभाँति दीख जाता है।।१२३।। इसी तरह स्वयम्प्रकाश आत्मा उपाधि से असम्बद्ध रूप में समझ नहीं आता किंतु देहादि जड उपाधियों में एकदम साफ़ समझ आ जाता है।।१२४।।** आत्मा का निरुपाधिक स्वरूप समझने के लिये उसे पहले उपाधि में समझना अनिवार्य है। जैसे संख्येय वस्तुओं के माध्यम से ही संख्या समझी जा सकती है या व्यक्तियों के माध्यम से ही जाति समझी जा सकती है या रोशनी-हवा आदि कार्यों के माध्यम से ही बिजली समझी जा सकती है, ऐसे ही सोपाधि आत्मा के माध्यम से ही निरुपाधि आत्मा समझा जा सकता है। आत्मा है इतना भी सजीव शरीरों को, उनके व्यवहारों को, जन्मने-मरने को देखने से ही पता लगता है, अन्यथा ईंट-पत्थरों को देखकर आत्मा है यह भी पता नहीं लगता। किं च आत्मा का यथार्थ स्वरूप बुद्धिवृत्ति जब श्रवणादि से अखण्डाकार बने तभी पता चल सकता है; इसलिये भी प्रवेश आवश्यक है। प्रविष्ट आत्मा ही साधनाभ्यास से तत्त्वसाक्षात्कार कर सकता है। आधुनिक तर्कशास्त्र की मान्यता है कि उपयोगिता भी वस्तु की सत्यता सिद्ध करती है। इस दृष्टि से यहाँ, प्रवेश हुआ - इसमें प्रमाण के रूप में प्रवेश का उपयोग बताया है कि आत्मज्ञान के लिये प्रवेश आवश्यक है। 'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय'

जीवत्वभ्रान्तिरेषैवं प्रत्यग्बोधोपयोगतः ।
जलपात्राऽर्कसाम्येन प्रवेश इति[1] कल्प्यते । ।१२५ । ।

(बृ.२.५.१६) 'जीवन्मुक्तिसुखप्राप्तिहेतवे जन्म' आदि श्रुति-स्मृति इस तरह उक्त विषय व्यक्त करती हैं। ।१२३-४ । ।

यह समझाया कि जैसे दर्पण में बिम्ब विपरीत दिशा की ओर उन्मुख दीखता है वैसे ही देहोपहित आत्मा को ग्रहण करती बुद्धि उसे विक्रियादि वाला समझती है जब कि वस्तुतः वह अविक्रियादि है। ऐसे ही एक अद्वितीय रहते ही उपाधि-भेद से आत्मा अनेक लगता है। शरीरों में प्रवेश के भ्रम से ही ऐसा विपरीत ग्रहण हो रहा है। नाम-रूप की सृष्टि होते ही उनका सम्बंध आत्मा से प्रतीत होने पर वह द्रष्टा कर्त्ता भोक्ता आदि प्रतीत होने लगता है। उसी की अपेक्षा से फिर, जो द्रष्टा आदि नहीं वह असंसारी ईश्वर माना जाता है। यों जीव-ईश्वर दोनों उपाधि-सापेक्ष हैं पर स्वयं आत्मा उससे निरपेक्ष चिन्मात्ररूप है। यद्यपि इस तरह चिन्मात्र को ईश्वर से पृथक् समझा जाये यह उचित है तथापि उसका बोध तभी होगा जब पहले ईश्वर को समझा जाये जैसे शाखाग्र पर दृष्टि एकाग्र होने पर ही आकाश में द्वितीया की चंद्रकला अभिलक्षित होती है। इसी तरह प्रत्यङ्मात्र के बोध के लिये प्रमाता का बोध आवश्यक है। इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिये श्रुति ने प्रवेश का उल्लेख किया। अब प्रवेश-वाक्य की व्याख्या का उपसंहार करते हैं **उक्त तरीके से प्रत्यगात्मा के ज्ञान में उपयोगी होने से इस प्रसंग में इस जीवरूपता के भ्रम को प्रवेश के रूप में कल्पित किया गया है क्योंकि जलपात्र में 'प्रविष्ट' सूर्य की समानता उपाधि में प्रविष्ट आत्मा में सुलभ है । ।१२५ । ।** संसारभ्रम हमें स्वतः उपलब्ध है, उसके निवर्तन के लिये ही शास्त्र की प्रवृत्ति है अतः हमें जैसे आत्मा की नित्य-शुद्ध-मुक्तरूपता स्पष्ट समझ आये वैसे ही शास्त्र उपदेश देता है। हमें समझाने के लिये प्रवेश का रूपक उपयोगी होने से वेद ने जगह-जगह प्रवेश का वर्णन किया है। जिस तरह प्रतिबिम्ब का उपाधि में घड़े में बेर जैसा प्रवेश नहीं, केवल प्रवेश-जैसा है, उसी तरह आत्मा का यह प्रवेश भी प्रवेश-जैसा है, यह तात्पर्य है। ।१२५ । ।

जिसका स्वभाव ही ऐसा है कि परिच्छिन्न में प्रवेश न कर सके ऐसे आत्मा का प्रवेश वास्तविक नहीं मिथ्या ही संभव है जैसे घड़े-जितने जल में प्रविष्ट न हो सकने वाले सूर्य

---

[1] इह इति निर्णयसागरपाठः।

यथा सृष्ट्यादयः क्लृप्ताः प्रवेशोऽपि तथेक्ष्यताम्।
युक्त्या नैवोपपद्यन्ते सृष्ट्याद्याः कल्पितास्ततः।।१२६।।

प्रविष्टोऽज्ञातः

नन्वेवं पर एवाऽत्र प्रविष्टश्चेत् तदा जनाः।
पश्यन्त्येतं[1] विना शास्त्रम् इति शास्त्रं वृथा भवेत्।।१२७।।
अहं प्राणिम्यहं वच्मि पश्याम्येतच्छृणोमि तत्।
मन्येऽहम् इत्यहंबुद्ध्या दृष्ट एवाऽखिलैः परः।।१२८।।

का उसमें प्रतीयमान प्रवेश मिथ्या ही होता है। सत्य के वर्णन के लिये मिथ्या का उपयोग प्रसिद्ध ही है। इसी को स्पष्ट करते हैं **जैसे सृष्टि आदि कल्पित हैं, वैसे ही प्रवेश भी कल्पित ही समझना चाहिये। युक्ति से समर्थनीय न होने से सृष्टि आदि सभी कल्पित (मिथ्या) ही हैं।।१२६।।** सृष्टि आदि अर्थात् स्थिति, लय, फलदान आदि ईश्वरकृत्य। इसी तरह प्रवेश से कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि समझने चाहिये। इन सभी का शास्त्र अनुवाद इसीलिये करता है कि अद्वितीय तत्त्व समझा जा सके।।१२६।।

श्रुति ने सोदाहरण प्रवेश कहकर 'तं न पश्यन्ति' से संसारदशा में आत्मयाथार्थ्य को अज्ञात बताया है। इस श्रुतिभाग का श्लोक १३५ तक व्याख्यान करेंगे। आत्मा का अज्ञान है यह वेद को बताना ही क्यों पड़ा यह समझाते हैं **यदि इस प्रकार परमेश्वर ही शरीर में प्रविष्ट है तो शास्त्र समझे बिना ही लोग इसे जान ही रहे हैं अतः प्रश्न उठता है कि क्या शास्त्र व्यर्थ नहीं हो गया?।।१२७।। 'मैं साँस ले रहा हूँ, मैं बोलता हूँ, इसे देख रहा हूँ, उसे सुन रहा हूँ, विचार करता हूँ' यों मैं-के आकार वाले ज्ञान से परमेश्वर ही सब द्वारा जाना जा रहा है (तो शास्त्र का क्या प्रयोजन?)।।१२८।।** घर में देवदत्त घुसा हो तो उसे वहाँ जिसने देख लिया उसे देवदत्त को देखने के लिये अन्य प्रयास नहीं करना पड़ता। इसी तरह परमेश्वर शरीर में घुसा तथा हम 'मैं' के रूप में उसी का अनुभव कर रहे हैं तो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आदि श्रुतियाँ क्यों कहती हैं कि आत्मा को देखो? शास्त्र पढ़े बिना ही सभी जीव खुद को जान रहे हैं और जिसे जान रहे हैं वह शरीर में प्रविष्ट परमात्मा है तो परमात्मा को ही जान रहे हैं, फिर शास्त्र पढ़ने से क्या लाभ? आत्मज्ञान ही शास्त्र से उपलभ्य है, वह यदि

---

[1] पश्यन्ति तम् इति सारे पाठः।

उच्यते, तन्न पश्यन्ति प्रविविक्तं[1] स्वतो जनाः ।
नों श्वासभाषणे दृष्टिश्रुती वा स्तोऽस्य नो मतिः । ।१२६ । ।

शास्त्र के बिना ही प्राप्त है तो शास्त्र क्यों पढ़ा जाये? जैसे जीव के ज्ञान से परमेश्वर के ज्ञान की गतार्थता लगती है ऐसे ही 'तद् नाम-रूपाभ्यां व्याक्रियत' आदि श्रुति से यदि परमेश्वर ही संसार के आकार में उपलब्ध है तो संसार का ज्ञान हो ही रहा है, यह परमात्मा का ज्ञान है, पुनरपि शास्त्र से लभ्य कोई ज्ञान नहीं रह जाता। जो वल्लभादि दर्शन ईश्वर का विकार (परिणाम) जगत् को मानते हैं उन पर यह आक्षेप उचित भी है एवं कुछ लोग इसीलिये सांसारिक व्यवहार से अन्य ईश्वराराधना मानते नहीं। ऐसी सब शंकाओं को यहाँ उपलक्षणया समझ लेना चाहिये। ।१२७-८ । ।

इस शंका के समाधानार्थ ही श्रुति ने बताया कि 'तं न पश्यन्ति' अर्थात् परमेश्वर को लोग नहीं जानते, उसका याथात्म्य नहीं समझते। इस श्रुति का तात्पर्य बताते हैं **(उक्त प्रश्न का उत्तर) बताते हैं : लोग खुद अर्थात् बिना शास्त्रानुसन्धान किये, अनात्मा से अलग उस परमेश्वर को नहीं जानते। साँस लेना, बोलना, देखना, सुनना, विचार करना ये सब परमेश्वर के नहीं हैं। ।१२६। ।** यद्यपि प्रविष्ट के रूप में परमेश्वर जाना जा रहा है तथापि उसका उपाधिविशिष्ट रूप ही अनुभव में आ रहा है, उपाधि अर्थात् अनात्मा से स्वतंत्र उसका सच्चा रूप अनुभव में नहीं आ रहा। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के धर्मों वाला इसी रूप में हम आत्मा को समझ पा रहे हैं जबकि वास्तव में वह इन धर्मों वाला नहीं है। साँस लेना प्राण का धर्म है, बोलना आदि इंद्रियों के धर्म हैं, विचार करना मनका धर्म है, आत्मा के ये धर्म ही नहीं कि इन के ज्ञान को आत्मा का ज्ञान माना जाये। ('प्रविविक्तं' की जगह 'प्रविविक्षुं' वार्तिकसार का पाठ है। प्रविविक्षु अर्थात् घुसना चाहने वाला। श्रीमहेश्वरतीर्थ ने लघुसंग्रह-नामक वार्तिकसार-टीका में लिखा है 'प्रवेष्टुम् इच्छन्तं बिम्बात्मानम् इत्यर्थः'। प्रवेश के पूर्व ही प्रवेश की इच्छा होने से अप्रविष्ट को ही प्रविविक्षु कह सकते हैं अतः परमेश्वर का जो प्रवेश से पूर्व का अर्थात् उपाधितादात्म्य-रहित स्वरूप है उसे हम लोग बिना शास्त्र के नहीं जानते यह श्लोकार्थ है। अनुभूति प्रकाश की पुस्तकों में प्रविविक्तम् ही पाठ है।) । ।१२६ । ।

प्रश्न होगा कि साँस लेना आदि धर्म हैं तो शरीरादि में घुसे हुए आत्मा के ही अतः उन धर्मों वाले के रूप में जान तो उसी को रहे हैं? इसका उत्तर देते हैं **साँस लेना,**

---

[1] प्रविविक्षुम् इति सारे पाठः प्रवेष्टुमिच्छन्तं बिम्बात्मानमिति तद्व्याख्या।

प्रविष्टस्याऽस्ति चेच्छ्वासभाषणाद्यस्तु तावता।
प्रवेष्टरि किमाऽऽयातं शास्त्रबोध्यः स एव हि।।१३०।।
प्रविष्टस्य प्रवेष्टुश्च रूपाऽभेदेऽपि भिन्नताम्।
प्रविष्टत्वाऽप्रविष्टत्वधर्माभ्यां को निवारयेत्।।१३१।।

बोलना आदि घुसे हुए के धर्म भले ही हों, उससे घुसने वाले में क्या विशेषता आयी! शास्त्र-द्वारा बोध्य तो घुसने वाला है।।१३०।। 'घुसने वाला' अर्थात् घुसने से निरपेक्ष जिसका स्वरूप है। शास्त्र-प्रतिपाद्य निरुपाधि आत्मस्वरूप है। सोपाधि आत्मा तो बिना शास्त्रोपदेश के भी सभी को पता है अतः उसे बताने से शास्त्र प्रमाण नहीं बनता। जो उसका सच्चा स्वरूप है, उपाधियों पर निर्भर नहीं, उनसे असम्बद्ध है, वही बताने से शास्त्र अज्ञातज्ञापकरूप प्रमाण होगा। घुसा आत्मा भले ही कर्त्ता-भोक्ता हो लेकिन जो घुसा है वह तो कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। आत्मा अलग-अलग हों ऐसा नहीं, एक ही आत्मा स्वरूप से अकर्ता-अभोक्ता एवं उपाधि से कर्त्ता-भोक्ता है। तक्षाधिकरण में (२.३.१५.सू.४०) यह स्पष्ट किया गया है।।१३०।।

उक्त समाधान के बारे में शंका होगी कि 'स एष इह प्रविष्टः' से कहा था कि घुसने वाला और घुसा हुआ एक ही है; लोकानुसारी भी यही बात है; फिर घुसे हुए को जानना ही घुसने वाले को जानना क्यों न माना जाये? कमरे के बाहर देखें या भीतर, देखा तो देवदत्त को ही जाता है। इस शंका का समाधान करते हैं **घुसे हुए और घुसने वाले का स्वरूप अभिन्न होने पर भी 'घुसा होना' और 'न घुसा होना' इन विशेषताओं के कारण उनमें फ़र्क़ को कौन मना कर सकता है!।।१३१।।** जैसे कमरे की रोशनी आदि में देवदत्त का सही वर्ण नहीं भी दीखता जो बाहर सूर्य की रोशनी में दीख जाता है, वैसे ही 'घुसा होना' इस विशेषता के रहते आत्मा का निर्विकार व्यापक स्वरूप पता नहीं चलता जो 'न घुसा होना' इस विशेषता के रहते पता चल जाता है। स्वरूप से आत्मा एक ही है पर उक्त विशेषताओं के रहते जो उसके बारे में ज्ञान होता है वह अलग-अलग है। 'घुसा होना' विशेषता रहते हुआ ज्ञान बन्धन कायम रखता है जबकि 'न घुसा होना' विशेषता रहते हुआ ज्ञान बन्धन से छुड़ा देता है। अतः अप्रविष्ट का ज्ञान ही सफल है।।१३१।।

जीवरूप से आत्मदर्शन परमात्मदर्शन नहीं हो जाता यह सोदाहरण बताते हैं **अविद्यादशा में जो लोग आत्मा को शरीर में घुसा हुआ ही समझते हैं वे वस्तुतः न घुसे हुए आत्मा को नहीं जानते जैसे किसी को 'यह व्याधा है' इस**

प्रविष्टं येऽत्र पश्यन्ति नाऽप्रविष्टम् अमी विदुः ।
व्याधत्वेन प्रपश्यन्तो न विदू राजपुत्रताम् । ।१३२ । ।
व्याधोऽयम् इत्यसावुक्तिर्योजयेत् प्राणसङ्कटे ।
राजदेवादिकोक्तिस्तु भवेद् बहुफलप्रदा । ।१३३ । ।
तद्वत् प्रविष्टदृष्टिर्या सा संसारे नियोजयेत् ।
अप्रविष्टात्मदृष्टिस्तु मोचयेत् सर्वसङ्कटात् । ।१३४ । ।

तरह अच्छी तरह जानते हुए भी यह नहीं जानते कि वह राजकुमार है । ।१३२ । । किसी राजा के असमय मर जाने पर उसके शत्रुओं से शिशु राजकुमार को बचाने के लिये उसे जंगल में किसी व्याधे के घर छिपा दिया। वह स्वयं को एवं अन्य लोग भी उसे व्याधे का बच्चा ही समझते रहे। जान सभी उसे रहे थे लेकिन वह राजकुमार है यह उन्हें नहीं मालूम था। ऐसे ही कर्त्ता-भोक्ता आत्मा हमें पता होने पर भी वह सच्चिदानन्द अद्वय वस्तु है यह हमें नहीं पता । ।१३२ । ।

दोनों ज्ञानों का प्रभाव भी विभिन्न है यह समझाते हैं **'यह व्याधा है' यह कथन प्राणों को संकट में डाल देता है जबकि 'यह राजा है, देव है' इत्यादि कथन बहुत फल प्रदान करता है । ।१३३ । । इसी तरह जो प्रविष्ट का दर्शन है वह संसार-चक्र में घुमाता है तथा अप्रविष्ट आत्मा का दर्शन सभी संकटों से छुड़ा देता है । ।१३४ । ।** जब तक उस बालक को व्याधा कहा जाता है तब तक वह भी व्याधे जैसा व्यवहार करते हुए जंगलों में भटक कर जानवरों का शिकार करता है जिस कार्य में प्राण हमेशा संकट में पड़े रहते हैं। उसे समझा दें कि 'तू राजा है, नृदेव है' तो वह अपने पिता-पितामहादि का राज्य पुनः हासिल कर महान् लाभ पा लेगा। ऐसे ही आत्मा को प्रविष्ट अर्थात् उपाधिवशीभूत देखने पर वह कर्त्ता-भोक्ता सुखी-दुःखी आदि संसारधर्मों वाला, संसार चक्र में भटकता रहता है। हम स्वयं को कर्त्तादि मानते हैं तो तदनुसार कर्म करते-फल भोगते रहते हैं। जब समझ लेते हैं कि हम वस्तुतः अप्रविष्ट अर्थात् उपाधि से स्वतंत्र ही हैं, कर्तृत्वादि हमारा स्वभाव ही नहीं है, तब स्वतः ही संसार-चक्र से हम बहिर्भूत हो जाते हैं। संसरण ही सारे संकट हैं, इससे पृथक् हो जाना ही संकटों से छूटना है । ।१३३-४ । ।

श्रुति ने 'तं न पश्यन्ति' अर्थात् 'उसे नहीं देखते' यह बताने के लिये ही कहा कि आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता समझना ग़लत ज्ञान है, यह कहते हुए श्लोक १२८ से शुरू हुई बात पूरी करते हैं **इसलिये अप्रविष्ट आत्मा का दर्शन किया जाये इसलिये ही**

अतोऽप्रविष्टदृष्ट्यर्थं निन्द्यते हि[1] प्रविष्टदृक्।
प्रविष्टदर्शनं यत् स्यान्न तद् दर्शनमात्मनः।।१३५।।
स्वतः परोऽपि देहादौ प्रविष्टोऽकात्स्न्र्यदोषतः।
दूषितो दर्शनं तस्य न भवेत् परदर्शनम्।।१३६।।

प्रविष्ट आत्मा के दर्शन की निंदा की जा रही है। जो प्रविष्ट का दर्शन है वह आत्मा का (सही) दर्शन नहीं है।।१३५।। 'इसलिये' अर्थात् आत्मा का अप्रविष्ट स्वरूप देखना ही सफल होने के कारण वैसा दर्शन पाने का यत्न किया जाये यह शास्त्र विधान कर रहा है। अभी जो हमारी आत्मा के बारे में समझ है वह भ्रम ही है अतः उसके लिये श्रुति ने कह दिया कि वह 'न देखना' ही है! इसं तरह उस दर्शन की निंदा की ताकि हम उसे छोड़ने को उद्यत हों। शास्त्र जिसकी निंदा करता है वह हेय है ऐसा श्रोता को बोध होता है। सही ज्ञान पाने की कोशिश ही ग़लत ज्ञान को छोड़ने का प्रयास है। इस तरह समझाया कि 'उसे नहीं देखते' से श्रुति अप्रविष्ट आत्मा अर्थात् आत्मा की वास्तविक परमात्मरूपता के अज्ञान का कथन कर रही है।।१३५।।

प्रविष्ट भी आखिर है तो आत्मा ही तो उसके दर्शन को आत्मा का अदर्शन ही कह देना कैसे संगत है? इसका उत्तर देते हैं **स्वरूप से परमात्मा होता हुआ भी शरीर आदि उपाधि में प्रवेश पाकर अपूर्णतारूप दोष से सदोष हो चुका है इसलिये उस प्रविष्ट को देखना परमेश्वर देखना नहीं है।।१३६।।** जैसे कुत्ते के चमड़े की थैली में रखे गंगाजल को 'यह गंगा जल नहीं है' कहना उचित है क्योंकि उसमें रख देने पर जल में गंगाजल वाली पवित्रता नहीं रह जाती अथवा जैसे अशुद्ध दशा वाले ब्राह्मण का आशीर्वादादि फलीभूत न हो सकने से उसे 'यह ब्राह्मण नहीं, यह नमस्कार्य नहीं' कहना उचित है, वैसे ही स्वभाव से पूर्ण आत्मा भी क्योंकि प्रवेशवश अपूर्ण हो गया है इसलिये उसका दर्शन पूर्णात्मा का दर्शन नहीं है यह ठीक ही कहा है।।१३६।।

श्रुति ने स्वयं प्रविष्ट आत्मा की अपूर्णता व्यक्त की है 'अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति, वदन् वाक्, पश्यँश्चक्षुः, शृण्वञ्श्रोत्रं, मन्वानो मनः तानि अस्य एतानि कर्मनामानि एव' अर्थात् वह प्रविष्ट आत्मा अपूर्ण है। साँस लेते हुए वह प्राण नाम वाला होता है, बोलते हुए वाक्, देखते हुए चक्षु, सुनते हुए श्रोत्र, सोचते हुए मन नाम वाला होता है। प्राण आदि नाम एक-एक क्रिया के परिप्रेक्ष्य को ही कहने से पूर्ण के उपस्थापक नहीं।

---

१. 'हि' इत्यस्य स्थाने अत्र इति सारे पाठः।

अकृत्स्नत्वं यथाऽस्य स्याद् व्यवहारे तथोच्यते।
श्वासयोगात् प्राणिता स्याद् वक्ता वदनयोगतः।।१३७।।
द्रष्टा दर्शनयोगेन श्रोता श्रवणयोगतः।
मन्ता मननयोगेन स्प्रष्ट्रादौ योजयेत् तथा।।१३८।।
एवं चाऽहं प्राणितेति ज्ञाते वक्त्राद्यसङ्ग्रहः।
वक्ताऽहम् इत्यपि ज्ञाते प्राणित्रादेरसङ्ग्रहः।।१३९।।

चक्षु-श्रोत्र कहकर विज्ञानशक्ति का उद्भव दिखाया। क्रिया प्राण में रहती है जिस की अभिव्यक्ति के करण वाक् आदि इंद्रियाँ हैं। मन ज्ञान व क्रिया दोनों कार्यों के लिये चाहिये, उसका उपयोग करने वाला इस रूप से आत्मा को समझना भी उसका पूर्ण ज्ञान नहीं है। अतः वाक् आदि को 'कर्मनाम' कहा गया है अर्थात् ये कर्म-निमित्तक नाम हैं, वस्तुमात्र को विषय नहीं करते। इस श्रुतिभाग को श्लोक १४० तक समझाते हैं **व्यवहार में इस प्रविष्ट आत्मा की अपूर्णता जैसे व्यक्त होती है वैसे बताते हैं साँस लेने की क्रिया के सम्बंध से आत्मा 'प्राणिता' (साँस लेने वाला) होता है, बोलने की क्रिया के सम्बन्ध से वक्ता होता है,।।१३७।। देखने के सम्बन्ध से द्रष्टा, सुनने के सम्बन्ध से श्रोता, मनन करने अर्थात् सोचने के सम्बन्ध से मन्ता होता है। इसी तरह वह स्प्रष्टा (छूने वाला) आदि होता है यह समझ लेना चाहिये।।१३८।। इस प्रकार 'मैं प्राणिता हूँ' यह जानने पर वक्ता आदि का संग्रह नहीं होता, 'वक्ता हूँ' यह जानने पर भी प्राणिता आदि का संग्रह नहीं होता।।१३९।।** चार्वाक जैसे देह को आत्मा मानने वाले हुए हैं ऐसे ही इंद्रियों को आत्मा मानने वाले भी हुए हैं। वे सभी आत्मा को अकृत्स्न, अपूर्ण, परिच्छिन्न ही जानते हैं। आत्मा को द्रष्टा समझते समय वह श्रोता आदि नहीं समझा जाता, श्रोता समझते समय वह द्रष्टा आदि नहीं समझा जाता, इसलिये उसे श्रोता आदि समझना उसे परिच्छिन्न, अपूर्ण समझना ही है यह भाव है। कोई कहे कि द्रष्टा-श्रोता-प्राणिता आदि सभी एक़-साथ समझ लें तो क्या पूर्ण का ज्ञान हो जायेगा? तो उत्तर है कि तब भी 'पूर्ण' का ज्ञान नहीं होगा क्योंकि पहले तो प्रत्येक शरीर में ही आत्मा असंख्य तरह से व्यक्त है एवं उन सब तरहों को एक साथ उपस्थित ही नहीं किया जा सकता, और दूसरा असंख्य शरीरों में उसकी अभिव्यक्ति तो फिर भी अज्ञात ही रह जाती है! आत्मा ने प्रवेश किया तो किसी एक देवदत्तादि शरीर में ही नहीं वरन् समस्त शरीरों में किया अतः उन समस्त शरीरों में वह जैसे-जैसे व्यक्त है वैसे उसे समझे बिना

यतिदीक्षितचोरादिभूमिकां[1] धारयेन्नटः।
तत्र दृष्टे दीक्षितेऽन्ये दृष्टा यत्यादयो न हि।।१४०।।
प्राणनादिकृतां मध्य एकैकं यः समीक्षते।
न स जानात्यकृत्स्नत्वाद् एतदीक्षितवस्तुनः।।१४१।।

उसका पूर्ण रूप ज्ञात नहीं मान सकते। इसलिये द्रष्टा वक्ता आदि आत्मा के अपूर्णरूप का ही ज्ञान है।।१३७-६।।

यों अपूर्ण को जानने की श्रुति ने ही निंदा की है 'स योऽत एकैकम् उपास्ते न स वेद, अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति'। एक परिच्छिन्न रूप को जानने से दूसरे परिच्छिन्न रूप ही नहीं जाने जाते तो वास्तविक रूप नहीं पता चलता इसमें क्या कहना! यह उदाहरण से स्पष्ट करते हैं **नट (अभिनेता) संन्यासी, याज्ञिक, चोर आदि अनेक स्वाँग (क्रमशः) धारण करता है। उनमें से याज्ञिका का स्वाँग देखने पर संन्यासी आदि अन्य स्वाँग नहीं दीखते।।१४०।। (इसी तरह) साँस लेना आदि करने वालों में एक-एक को जो देखता है वह पूर्ण को नहीं जानता क्योंकि उसको दीखी वस्तु ही अकृत्स्न, अपूर्ण, परिच्छिन्न है।।१४१।।** जब तक नट से व्यक्तिगत परिचय नहीं होता तब तक बहुधा यह पहचानना ही संभव नहीं होता कि संन्यासी और चोर एक ही है! अमेरिका में एक युवक ने अपने दादा से किसी अभिनेत्री का नाम लेकर कहा कि वह उसी से विवाह करना चाहता है। दादा हँसकर बोला 'तेरी ग़लती नहीं, मैं भी तेरी उम्र का था तो उसी से ब्याह करना चाहता था!' सजी-धजी अभिनेत्री के चित्र देखकर युवक उसकी उम्र ही नहीं पहचान पाया था। ऐसे ही संन्यासी, याज्ञिक आदि को विभिन्न लोग ही समझ लिया जाये तो कोई आश्चर्य नहीं। अतः संन्यासी आदि रूप वाले को जानना वस्तुतः उस नट को जानना नहीं हो जाता। सब स्वाँगों से रहित जो उसका देवदत्तादि रूप है उसे जानना ही वास्तव में उसे जानना है। ऐसे ही प्राण आदि रूपों का ज्ञान वस्तुतः आत्मा का ज्ञान नहीं, इन सब रूपों से स्वतंत्र जो उसका निरुपाधिक रूप है उसे जानना ही आत्मा का ज्ञान है। प्राण आदि प्रत्येक क्योंकि आत्मा का अपूर्ण ही रूप है अतः उसका ज्ञान अपूर्ण का ही ज्ञान है, पूर्ण का नहीं।।१४०-१।।

श्लोक १२७ से चले प्रसंग का उपसंहार कर आगे के सन्दर्भ का सूत्रपात करते हैं

---

[1] भूमिकाः इति सारे पाठ।

इत्युक्तं व्याकृतं सर्वं जडाऽजडविभागवत्।
आरोपोऽयं तन्निवृत्त्यै विद्यासूत्रम् इहोच्यते।।१४२।।

जड-चेतन के विभाजन वाले सारे व्यक्त प्रपंच का इस प्रकार कथन किया। यह अध्यारोप हुआ। इसकी निवृत्ति के लिये इसी प्रसंग में विद्यासूत्र कहा जा रहा है।।१४२।। उपनिषत् के अनुसार पहले अव्याकृत बताया, फिर नाम-रूप की अभिव्यक्ति अर्थात् व्याकृत समझाकर शरीर में आत्मा का प्रवेश उपपन्न किया। नाम-रूप आदि उपाधियाँ जड प्रपंच है एवं चेतन प्रपंच है प्रविष्ट आत्मा। अव्यक्त और उसका व्यक्तीभावये दोनों परमार्थ चेतन पर आरोपित हैं। जो चीज़ जहाँ हो नहीं उसे वहाँ मानकर कहना अध्यारोप कहलाता है। जैसे किसी समीकरण को हल करने के लिये उसमें कोई संख्या जोड़ देते हैं; वस्तुतः उस समीकरण में वह संख्या है तो नहीं, हल करने के लिये जोड़ी गयी है। अतः हल होने पर उस संख्या को पुनः घटा देना पड़ता है तभी वास्तविक नतीजा मिलता है। इसी प्रकार सृष्टि, स्थिति, लय, प्रवेश, नियमन ये सब चेतन पर आरोपित हैं ताकि उसका अद्वैत स्वरूप अनावृत हो सके। द्वैत दीखते परमात्मा अद्वैत है यह समझ नहीं आता किंतु जब पूर्वोक्त आरोपदृष्टि से बताया जाता है कि एक ही परमात्मा ने सारे जड रूप धारण किये फिर प्रवेश कर चेतन रूप धारण किये इसलिये द्वैत के रूप में विस्तृत सारा प्रपंच परमात्मा से अतिरिक्त कुछ न होने से वह अद्वैत है, तब समझना संभव होता है। यों उसकी अद्वैत-रूपता संगत हो जाने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा की वास्तविकता इस व्यक्त-अव्यक्त प्रपंच से अस्पृष्ट है। यह अपवाद है अर्थात् अध्यारोप को हटा देना। अब तक श्रुति ने अध्यारोप का वर्णन किया, आगे अपवाद का वर्णन करेगी। निष्प्रपंच आत्मा को समझाने का तरीका यही है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि पूर्व में जो प्राण आदि प्रत्येक के ज्ञान को अज्ञान कहा वह इसलिये नहीं कि सारी उपाधियों से युक्त आत्मा का ज्ञान उचित समझा जाये! हर-एक का ज्ञान अपूर्ण है तो सबको मिलकर जानना पूर्ण ज्ञान होगा ऐसी बात नहीं। नानात्वदर्शन की तो श्रुति ने स्वयं निंदा की है। अतः सब उपाधियाँ हटाकर स्वरूपमात्र का ज्ञान पूर्ण का ज्ञान कहा जा रहा है इसलिये अपवाद का वर्णन प्रसंगानुरूप है। ब्रह्म के बोध के लिये द्वार के रूप में ही आत्मा का प्रवेश कहा गया है, वास्तव में प्रवेश हुआ यह बताने के लिये नहीं विद्यासूत्र अर्थात् उक्त प्रसंग में आया यह श्रुति वाक्य 'आत्मेत्येवोपासीत' अर्थात् 'आत्मा' की इसी प्रकार उपासना कर्तव्य है।।१४२।।

विद्यासूत्रम्

आत्मेत्येवम् उपासीतेत्येतत् सूत्रमुदाहृतम् ।
उक्त्वा पदार्थं सूत्रानुग्राहको न्याय उच्यते ।।१४३ ।।
यच्चाप्नोति यदाऽऽदत्ते यच्चाऽत्ति विषयान् इह ।
यच्चाऽस्य सन्ततो भावस्तस्माद् आत्मेति कथ्यते ।।१४४ ।।

उक्त सूत्र का उदाहरण देकर व्याख्या के क्रम की प्रतिज्ञा करते हैं **'आत्मा'बस यों उपासना करो;इस वाक्य को विद्या का सूत्र कहा गया है। इसके शब्दों का अर्थ बताकर वे युक्तियाँ समझायेंगे जिनसे इस सूत्र का अभिप्राय सुसंगत समझ आये ।।१४३ ।।** श्रुति में 'एव'-कार है, यहाँ 'एवम्' कहा है। क्योंकि आगे (श्लो १५७ में) स्वयं एवकार का व्याख्यान करना ही है अतः यहाँ यत्किंचिद् अंतर से फ़र्क नहीं पड़ता। छन्दोनुरोध से ऐसा परिवर्तन किया ही जाता है। बृहदारण्यक में इस वाक्य का बड़ा महत्त्व है। आनंदगिरिस्वामी, विद्यारण्यस्वामी जैसे आचार्यों ने इसे 'विद्यासूत्र' कहा है। इस सन्दर्भ में 'उपासीत' पद पर भाष्यादि में काफी विचार है। क्या यह उपासना की विधि है? जो जैसा हो नहीं उसे वैसा मानना उपासना है जैसे शालग्राम को विष्णु मानना उपासना है। यदि आत्मा की भी उपासना विहित हो तो मतलब होगा कि सारा संसार आत्मा पर ही कल्पित हैऐसी बात है तो नहीं पर यों मानना चाहिये, बारंबार ऐसी भावना करनी चाहिये। भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि यहाँ विधि नहीं है। इससे पूर्व श्रुति है 'स योऽत एकैकम् उपास्ते, न स वेद' अर्थात् जो प्राण, वाक्, चक्षु आदि एक-एक को ही आत्मा समझता है वह आत्मा को नहीं जानता। भाष्य में 'उपास्ते' का अर्थ 'चिन्तयति' किया है। अतः 'आत्मेत्येवोपासीत' का भी अर्थ है कि प्राणादि को व्याप्त कर रहने वाले को ही आत्मा समझना उचित है क्योंकि वही आत्मा का सही ज्ञान है।।१४३।।

आत्मा - इस शब्द की लिंगपुराण (१.७०.९६) में प्रसिद्ध व्याख्या का उल्लेख कर विस्तार से उसे समझायेंगे। पहले पुराणोक्ति बताते हैं **क्योंकि विषयों को व्याप्त करता है, क्योंकि ग्रहण करता है, क्योंकि यहाँ विषयों को खाता है, क्योंकि इसकी सत्ता सदा है, इसलिये 'आत्मा' कहा जाता है।।१४४।।** कठभाष्य में (२.१.१) यह श्लोक उद्धृत है। रस्सी जैसे सर्पादि को व्याप्त करती है ऐसे अधिष्ठान आत्मा सब विषयों को व्याप्त किये है। अतः 'आप्नोति' इस व्युत्पत्ति से आत्मा कहलाता है। सुषुप्ति में सारे विषयों को ग्रहण कर लेता है, अपने में समेट लेता है इसलिये 'आदत्ते' इस व्युत्पत्ति से आत्मा है। सभी धीवृत्तियों का साक्षात्कार करना यहाँ 'खाना' कहा है,

व्याप्नोत्यनवशेषेण सर्पादीन् स्रग् इवाऽखिलान् ।
कल्पनाऽधिष्ठानतया प्रत्यङ्ङात्मा भवेत् ततः ।।१४५।।
सर्वाधिष्ठानसन्मात्र इत्यशेषजगत्प्रति ।
अधिष्ठानतया व्याप्तिं श्रुतिर्ब्रूते सदात्मनः ।।१४६।।
स्वचिदाऽऽभासमोहेन तदुत्थान् अखिलान् यतः ।
आदत्तेऽनात्मनः प्राज्ञस्तत आत्मेति तं विदुः ।।१४७।।

यों खाने वाला होने से 'अत्ति' व्युत्पत्ति से आत्मा है। निरन्तर सत्स्वभाव होने से 'अतति' व्युत्पत्ति से आत्मा है। बृहद्वार्तिक १.४.७३७-४६ में इस श्लोक की व्याख्या है।।१४४।।

'आप्लृ' धातु से निष्पत्ति का प्रकार दो श्लोकों से समझाते हैं **जैसे माला (स्वयं पर अध्यस्त) सर्पादि सभी को व्याप्त करती है वैसे सारी कल्पना का अधिष्ठान होने से प्रत्यग्वस्तु सारे संसार को व्याप्त करने के कारण आत्मा है।।१४५।। 'सन्मात्र सबका अधिष्ठान है' यह श्रुति बताती है कि सद्रूप आत्मा सारे जगत् का अधिष्ठान होने से सबको व्याप्त किये है।।१४६।।** अधिष्ठान अध्यस्तों को व्याप्त किये रहता है अर्थात् अध्यस्त अपने अधिष्ठान से हटकर रह ही नहीं सकता। अधिष्ठानभूत माला हट जाये तो अध्यस्त सर्पादि सब स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। प्रकृत में प्रत्यग्रूप से स्फुरित होता चेतन अधिष्ठान है, उसके बिना द्रष्टा-दृश्य कुछ भी नहीं रह सकता। बिना ज्ञान के द्रष्टा-दृश्य किसी की सिद्धि नहीं। इस तरह ज्ञानरूप प्रत्यक् क्योंकि सबको व्याप्त किये है इसलिये 'आप्नोति' व्युत्पत्ति से आत्मा कहलाता है। 'सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः' नृसिंहोत्तरतापनीय के द्वितीयखंड के अन्त में श्रुति ने कहा है। सभी नाम-रूप कर्मों का अधिष्ठान वही है जिसका स्वरूप सत् है। सत् अर्थात् है। पहले कुछ है, तभी वह घड़ा-सिकोरा आदि कहलायेगा, दीखेगा, प्रयोग में आयेगा। पहले ही यदि 'नहीं है' तो घड़ा आदि कहोगे किसे, देखोगे किसे, प्रयोग में कौन आयेगा? क्योंकि 'है' ही सब नाम-रूपों वाला उपलब्ध हो रहा है इसलिये जो कुछ हमें उपलब्ध है उसके ज़र्रे-ज़र्रे में 'है' मौजूद है। अतः सन्मात्र सर्वका अधिष्ठान है। इसीलिये वह सर्वत्र व्याप्त है। ऐसा उसे समझना ही ठीक समझ है।।१४५-६।।

'आ-दा' (आङ्पूर्वक डुदाञ्) धातु से निष्पत्ति का प्रकार भी दो श्लोकों से व्यक्त करते हैं **क्योंकि प्राज्ञ अपने स्वरूपभूत चैतन्य के आभास से युक्त अज्ञान द्वारा उन सब अनात्माओं को ग्रहण कर लेता है जो उसी अज्ञान से उत्पन्न हैं अतः उसे आत्मा-शब्द से समझते हैं।।१४७।। अथर्ववेद में यह वचन भी है कि पृथ्वी**

पर आत्मनि सर्वेऽपि सम्प्रतिष्ठन्त एकले।
पृथिव्याद्या अनात्मान इति चाऽऽथर्वणे वचः।।१४८।।
आत्माऽऽभासाः पराचीना धीवृत्तीर्विषयोन्मुखाः।
प्रत्यङ्ङत्ति यतोऽतोऽसावात्मेत्युक्तो मनीषिभिः।।१४६।।

आदि सभी अनात्मा अकेले परमात्मा में भलीभाँति प्रतिष्ठित होते हैं (प्रश्नो. ४.७)।।१४८।। सब नाम-रूप का 'आदान', ग्रहण होता है सुषुप्ति में। वहाँ अज्ञान और उसमें चिदाभास ये दो ही रह जाते हैं, बाकी सारा संसार उस साभास अज्ञान में ही विलीन हुआ रहता है। चेतन के आभास से युक्त अज्ञान इसीलिये अव्यक्त भी कहा जाता है। उसी में से फिर संसार बाहर आकर जाग्रत्-स्वप्न के रूप में फैल जाता है। रोज़ प्राज्ञदशा में हमें यह अनुभव होता है, प्रलय में यह ईश्वर का अनुभव है। सुषुप्ति में हमारे स्थूल-सूक्ष्म शरीर केवल साभास-अज्ञान के रूप में रह जाते हैं एवं प्रलय में समष्टि स्थूल-सूक्ष्म साभास-अज्ञान के रूप में रह जाते हैं। यों सबको ग्रहण करने से सच्चिदानन्द 'आत्मा' कहा जाता है। यह बात अथर्ववेद की प्रश्न उपनिषत् में 'स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते' द्वारा कही गयी है। पक्षी रहने के लिये (रात बिताने के लिये) जैसे वृक्ष पर स्थित होते हैं वैसे सब महाभूत और उनके कार्य अक्षररूप परमात्मा में स्थित होते हैं। वहाँ सुषुप्ति के प्रसंग में यह कहा है। जब हम गहरी नींद में जाते हैं तब सब कुछ आत्मा में ही लीन हो जाता है। जैसे ही जगते हैं वैसे ही सब उसी से प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार प्रलय में सब लीन रहकर सृष्टिकाल में पुनः प्रकट हो जाता है। सृष्टि होते ही ऐसा नहीं कि नरक-स्वर्ग खाली रहें, जब कोई पाप-पुण्य करे तब वहाँ पहुँचे। वरन् सृष्टि होने पर जिनके पुण्य हैं वे स्वर्ग में ही प्रकट होते हैं, जिनके पाप हैं वे नरक में ही प्रकट होते हैं। जो जहाँ के योग्य है वह वहीं उत्पन्न होगा, अपने योग्य वासियों सहित लोक प्रकट होते हैं। इस तरह इस प्रश्न-वाक्य से आदान करने वाले के रूप में आत्मा का वर्णन प्रसिद्ध है।।१४७-८।।

'अद भक्षणे' धातु से बने आत्मशब्द का अर्थ बताते हैं **क्योंकि विषयों की ओर जाती बहिर्मुख बुद्धिवृत्तियों को जो कि वृत्तियाँ चेतन के आभास से युक्त रहती हैं प्रत्यग्रूप आत्मा खा लेता है इसलिये मनीषी उसे आत्मा कहते हैं।।१४६।। आगमशास्त्र (माण्डूक्य कारिका १.४) का ऐसा निर्देश भी है कि विश्व-नामक आत्मा हमेशा स्थूल को खाता है, तैजस नामक आत्मा प्रविविक्त**

'विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञ' इति चागमशासनम्।।१५०।।
अव्यावृत्ताऽननुगतः पूर्णः स्वात्मन्यवस्थितः।
यतोऽस्य सन्ततो भावस्तस्माद् आत्मेति शब्यते।।१५१।।
'तद्विष्णो'रिति मन्त्रोऽपि तद्विष्णोः परमं पदम्।
चक्षुर्वद् आततं व्योम्नि व्याचष्टे प्रत्यगात्मनि।।१५२।।

अर्थात् सूक्ष्म को खाता है और प्राज्ञ नामक आत्मा आनन्द को खाता है।।१५०।। यहाँ खाना अर्थात् साक्षात्कार करना। बुद्धिवृत्तियाँ स्वभाव से बहिर्मुख अर्थात् अनात्मग्रहण के लिये उतावली रहती हैं। अनादि संस्कारवश सभी की बुद्धि ऐसी होती है कि उसकी वृत्ति अनात्माकार बन जाती है। भगवद्विग्रह के भी दर्शनार्थ जाने पर दृष्टि शृंगार, साज-सज्जा पर ही पड़ती है, विग्रह का अवलोकन गौण हो जाता है। स्वयं जड होने पर भी सत्त्वकार्य होने से बुद्धि चैतन्य का आभास ग्रहण कर 'ज्ञान' कहलाती है। उस बुद्धिवृत्ति को खाने वाला आत्मा है अर्थात् वृत्ति का साक्षात् दर्शन आत्मा ही करता है। आत्मा का वृत्ति में जब प्रतिफलन होगा तब वृत्ति को आत्मा के सामने रहना ही पड़ेगा जिससे उसका आत्मा को साक्षात् ग्रहण हो जायेगा। इसे ही कहते हैं कि आत्मा भोग करता है। अतएव गौडपादाचार्य ने जाग्रत् के अभिमानी आत्मा को 'स्थूलभुक्', स्थूल विषयों का भोग करने वाला कहा है। जाग्रत् अवस्था में प्रधानतः भोग स्थूल अर्थात् पंचीकृत महाभूतों के कार्यों का होता है। यद्यपि विचारकों ने माना है कि 'आशामोदक' (मन के लड्डू) से भी तृप्ति आदि वैसी ही होती है जैसी स्थूल लड्डू से, तथापि वह द्विविध सत्ता स्वीकारने पर ही समझना सरल होता है। स्वप्न में प्रविविक्त अर्थात् स्थूल से पृथक् सूक्ष्म, संस्कारजन्य, कल्पनारूप, भ्रमात्मक भोग है। सुषुप्ति में विषय और उनकी कल्पना दोनों का नहीं, केवल आनन्द का ही भोग है। वहाँ आनंद है पर किसी चीज़ का नहीं। किंतु तीनों अवस्थाओं में खाने वाला, उपभोग करने वाला प्रत्यग्रूप ही है अतः उसे आत्मा कहा जाता है।।१४९-५०।।

'अत सातत्यगमने' से निष्पन्न आत्मशब्द समझाते हैं **व्यावृत्त और अनुवृत्त न होने से, पूर्ण एवं अपने ही स्वरूप में स्थित होने से तथा सर्वत्र विद्यमान होने से इसे 'आत्मा' इस शब्द से कहते हैं।।१५१।। 'तद् विष्णोः' आदि मंत्र भी कहता है कि वह विष्णु का परम पद है। जैसे आँख सारे आकाश में व्याप्त हो जाती है वैसे वह विष्णु अपने आत्मा में व्याप्त है।।१५२।।** आत्मा पूर्ण है अर्थात्

उससे अलग कुछ भी है नहीं। वह व्यावृत्त अर्थात् किसी से अलग नहीं अतः कोई दूसरा नहीं जिसमें वह अनुवृत्त, अनुगत हो। इसी को गीता में कहा कि 'सब भूत मुझ में हैं पर मैं किसी में नहीं'। ऐसे को ही पूर्ण माना जाता है। वह पूर्ण परमात्मा अपने स्वरूप में ही स्थित है। क्योंकि वह किसी अन्य में स्थित नहीं इसी से कहते हैं कि अपने ही स्वरूप में स्थित है। छांदोग्य में नारद ने पूछा कि परमात्मा कहाँ प्रतिष्ठित है? सनत्कुमार ने जवाब दिया कि वह किसी में प्रतिष्ठित नहीं। सब-कुछ उसमें है, वह किसी में नहीं। लौकिक दृष्टि से सारे ग्रह-नक्षत्र आकाश में पर वह आकाश किसमें कहा जाये! वह किसी में स्थित नहीं कहा जा सकता। ऐसे ही आत्मतत्त्व किसी में स्थित नहीं है। फिर भी यदि जिज्ञासा रहे ही कि उसे कहीं तो स्थित होना चाहिये, तो सनत्कुमार ने कहा कि ऐसा समझ लो कि वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है। बात में अंतर नहीं, अर्थ एक ही है, कहने के ढंग का फ़र्क़ है। 'अपनी महिमा में' सुनकर लगता है मानो उसकी प्रतिष्ठा का पता चल गया। वास्तव में तो वह प्रतिष्ठा भी कहाँ स्थित कही जा सकती है! अतः तात्पर्य में नहीं, कहने के तरीके में ही भेद है। इसलिये यहाँ 'स्वात्मा में अवस्थित' कहा। यह उसका हमेशा एक-सा रहने वाला भाव, स्वरूप है। जाग्रत् में वह स्थूल विषय-भोग करता लगता है, स्वप्न में सूक्ष्म का भोग करता लगता है, सुषुप्ति में आनंद का भोग करता लगता है पर इन सब रूपों में प्रतीत होते हुए भी वह आत्मवस्तु निर्विकार रहती है। अधिष्ठान तत्त्व अपरिवर्तित रहते हुए ही उसमें सारे परिवर्तन प्रतीत होते ही हैं। अतः आत्मा सतत, लगातार एकरूप है। उसका भाव, सद्भाव कूटस्थ है, सनातन है जिससे आत्म-शब्द का वह अर्थ है। अधिष्ठान नित्य सत् है, बाकी सारे भाव, रूप अध्यस्त हैं। आत्मा के आभास तो विश्वादि तीन हैं, वह स्वयं तुरीय है। इस बारे में प्रमाणरूप से ऋचा का उद्धरण दिया। मन्त्र है 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।।' नृसिंहपूर्वतापनीय की समाप्ति में भी यह मंत्र है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के सूक्त २२ में यह बीसवाँ मंत्र है। विष्णु के कार्य-कारण रूप तो व्यक्त और अव्यक्त हैं। चिदाभास भी क्योंकि इन्हीं उपाधियों वाला है अतः वह भी विष्णु के अपर रूपों में आ गया। ये उसके सीमित रूप हैं। कार्य-कारणभाव से अस्पृष्ट उसका स्वरूप ही परमपद है। इसे सूरि अर्थात् विद्वान् सदा देखते हैं, जानते हैं। जैसे आँख से आकाश स्पष्ट 'दीखता' है वैसे वे विष्णु के अपरिच्छिन्न स्वरूप को 'देखते' हैं। आकाश की तरह वह सदा सर्वत्र फैला है, यही उसका सततभाव है।।१५१-२।।

चतुर्विधनिरुक्त्याऽत्र चत्वारोऽर्थाः प्रकीर्तिताः।
अधिष्ठानं कारणत्वं जीवभावो विमुक्तता।।१५३।।
यन्मुक्तरूपं साक्षित्वाद् व्याकृतेऽव्याकृतेऽपि तत्।
अतिरोहितम् अत्रात्मशब्देनैतद्धि सूत्रितम्।।१५४।।
आत्मशब्दधियोरात्मा विषयो नेति भाषितुम्।
सूत्रेऽस्मिन्निति शब्दोऽयं यथैतत् स्यात् तथोच्यते।।१५५।।
यत्रेतिपरशब्दः स्यात् तत्रोपचरितं वचः।
ज्येष्ठं पितेति पश्यन्तीत्यादावेवम् अवेक्षणात्।।१५६।।

पूर्वोक्त चारों अर्थों का संग्रह करते हैं **आत्मशब्द के चार प्रकार के निर्वचन से ये चार अर्थ प्रकट किये गये - १) आत्मा अधिष्ठान है, २) उसमें कारणता, ३) जीवरूपता और ४) विमुक्तरूपता है।।१५३।।** 'आत्मेत्येवोपासीत' इस विद्यासूत्र में आये आत्मशब्द का अभिप्राय चार तरह समझना चाहिये। 'आत्मा' सुनने पर ये चार भाव प्रकट होते हैं। जीवभाव अर्थात् विषयोपभोग। विमुक्तरूपता वास्तविक है, बाकी अवास्तविक हैं।।१५३।।

विद्यासूत्र में आये आत्मशब्द से कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है यह बताते हैं **आत्मा का जो मुक्तस्वरूप है वह साक्षिरूप होने से व्यक्त-अव्यक्त दोनों दशाओं में प्रकट रहता है और वही 'आत्म'-शब्द से विद्यासूत्र में कहा गया है।।१५४।।** संसार व्यक्त हो या अव्यक्त, उसकी सिद्धि जिससे होती है वह साक्षिरूप आत्मा सदा अ-तिरोहित अर्थात् प्रकट रहता है। कमरे में लोग हों या कमरा खाली हो, दीपक तो प्रकाशरूप से बना ही रहता है, लोग नहीं तो दीपक भी बुझ जाये ऐसा नहीं। ऐसे ही साक्षी सदा भासमान बना रहता है। बन्ध-मोक्ष दोनों से वस्तुतः असम्बद्ध साक्षिरूप आत्मा सदा मुक्त ही है। बन्ध-मोक्ष का सम्बन्ध चिदाभास से ही है, चित् से नहीं। चिदाभास के निमित्त से इनका आत्मा पर आरोप है। स्वयं वह चिन्मात्र है।।१५४।।

विद्यासूत्र में 'आत्मा इति एव' यों 'इति' शब्द का उद्देश्य व्यक्त करते हैं **इस सूत्र में यह 'इति'-शब्द यह सूचित करने के लिये है कि आत्मा न आत्मा-शब्द का और न आत्मा-ज्ञान का विषय है। जैसे यह बात है वैसा (अगले श्लोक से) समझाते हैं।।१५५।। जहाँ किसी शब्द के आगे 'इति' ('ऐसा') लगा हो वहाँ वचन गौण होता है क्योंकि 'बड़े भाई को 'पिता'-ऐसा समझते हैं' इत्यादि कथन में इसी तरह का अभिप्राय समझा जाता है।।१५६।।** भाष्य में इति शब्द

व्याकृताऽव्याकृते ये द्वे कल्पिते तेऽविचारतः[१]।
एते वारयितुं सूत्र एवकारम् असूत्रयत्।।१५७।।

के प्रयोग का ऐसा ही भाव कहा है 'यस्तु आत्मशब्दस्य इतिपरः प्रयोगः, आत्मशब्द-प्रत्यययोः आत्म-तत्त्वस्य परमार्थतोऽविषयत्वज्ञापनार्थम्' (पृ ८३ म.अ.सं.)। अतएव, वार्तिककार ने कहा है 'अभिधा-ज्ञानगम्यत्वनिषेधायेति-शब्दनम्' (१.४.७१८)। इसलिये 'आत्मेति' कहकर श्रुति बता रही है कि वस्तुतः उसे आत्मा कहना-समझना भी बनता नहीं। इसी में दृष्टांत दिया कि यदि कहें 'देवदत्त अपने बड़े भाई को पिता-ऐसा मानता है' तो स्पष्ट है कि बड़ा भाई वास्तव में देवदत्त का पिता नहीं है अर्थात् उसमें पितापने का उपचार ही है।

इति-शब्द का यहाँ महत्त्व है क्योंकि इसे ठीक न समझने से इस वाक्य को उपासना-विधि के रूप में ग्रहण करना सहज है। इति-से भाव है कि आत्मा ऐसा यद्यपि कहते-समझते हैं फिर भी वह यों कहने-समझने का विषय नहीं बनता। आत्मवस्तु शब्द और बुद्धि से अगम्य है। आत्मा-शब्द व ज्ञान अनात्मा की व्यावृत्ति कर देते हैं, इसी से उनका उपयोग है। इसमें ऐसा उदाहरण समझना चाहिये : वनवास के दौरान एक बार सीता जी से ऋषिपत्नियों ने पूछा 'इन दोनों आदमियों में से तुम्हारा पति कौन-सा है?' सीता जी ने जवाब दिया 'गोरा वाला मेरा देवर है।' ऋषिपत्नियाँ समझ गयीं कि सीता जी के पति राम कौन से हैं। 'गोरा वाला मेरा देवर है' इस वचन का और इससे जन्य ज्ञान का विषय तो राम नहीं बने लेकिन इसी वचन से उन्हें समझा जा सका। अथवा दो व्यक्ति हों और कहा जाये 'बड़े वाले को पिता ऐसा समझते हैं' तो छोटा वाला उसका पुत्र है यह स्वतः समझ लिया जाता है। इसी प्रकार मैं - अनुभूति में चेतन और वृत्ति दोनों हैं, उनमें वृत्ति को पृथक् करने के लिये अहम्-शब्द का प्रयोग कर देने से चेतनमात्र स्पष्ट हो जाता है। इस तरह, 'आत्मा इति' सुनने से स्पष्ट हुआ कि आत्मा-शब्द-वृत्ति के विषय को छोड़कर जो वास्तव में आत्मा है उसकी उपासना कही जा रही है।।१५५-६।।

'आत्मा' और 'इति' के बाद पद है 'एव', उसका अर्थ बताते हैं **अविचार से कल्पित जो व्यक्त-अव्यक्त दोनों हैं, इनका कारण कहने के लिये विद्यासूत्र में एव-शब्द का प्रयोग है।।१५७।।** अविचार अर्थात् अज्ञान से परमात्मा में व्यक्त और अव्यक्त की कल्पना है, इन दोनों का आरोप है। व्यक्त अर्थात् कार्य, अव्यक्त अर्थात्

---

[१] व्याकृताव्याकृते इत्थं कल्पिते हि विचारतः। इति सारे दृश्यते।

उपेति सामीप्यवाची तन्निष्ठा प्रत्यगात्मनि।
कार्यकारणरूपाभ्यां प्रत्यङ् नेदीय ईक्ष्यते[1]।।१५८।।

कारण। 'एव', 'ही' शब्द से बताया कि कार्य-कारण दोनों भावों से रहित केवल आत्मा का अवबोध प्राप्तव्य है। व्यक्त-अव्यक्त दोनों जिसमें कल्पित हैं वह ब्रह्म है। न वह वस्तुतः कारण है, न कार्य ही है। लौकिक दृष्टि से जो स्वर्ण-तत्त्व है उसमें सारे गहनों के आकार एवं पासा, बिस्किट आदि आकार एक-समान कल्पित हैं जबकि साधारण व्यक्ति को पासा आदि कारण लगता है, चूड़ी हार आदि कार्य लगते हैं। विचार करें तो स्पष्ट होगा कि स्वर्णनामक रसायन में दोनों ही कल्पित हैं। इसी तरह ब्रह्मतत्त्व में, आत्मवस्तु में, कारणता भी कल्पित है और सारे कार्य भी कल्पित हैं, न वह यह सारा व्यक्त जगत् है, और न वह इसका कारण ही है! है वह अद्वितीय कूटस्थ, हमें संसार उपलब्ध है अतः इसके कारणरूप में हम उस ब्रह्म को स्वीकार लेते हैं। अद्वितीयता न जानने के कारण ही आत्मा में कारणता की, अव्यक्तता की और प्रपंच में कार्यता की कल्पना है। यहाँ जिसकी उपासना करने को, जिसे समझने को कहा जा रहा है वह शुद्ध आत्मा है, न कारणरूप से कल्पित और न कार्यरूप से कल्पित। इन दोनों कल्पित, औपाधिक रूपों की व्यावृत्ति के लिये एव-कार का, 'ही'-शब्द का प्रयोग है।।१५७।।

'आत्मेत्येव' के बाद श्रुति में कहा 'उपासीत'। इसमें दो हिस्से हैं 'उप' और 'आसीत'। इनमें 'उप' का भाव बताते हैं **'उप'-शब्द समीपता का कथन करता है। समीपता की समाप्ति प्रत्यग्भूत आत्मा में है। कार्य और कारण की अपेक्षा प्रत्यक्स्वरूप अधिक निकट स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है।।१५८।।** 'उप'-शब्द समीपता के लिये हिंदी में भी प्रचलित है जैसे राष्ट्रपति के बिलकुल समीप का अधिकारी उपराष्ट्रपति कहलाता है। भक्ति की दृष्टि से उपासना मायने इष्ट को बिलकुल नज़दीक देखना। मन हमारे सबसे नज़दीक है, मन में बार-बार कृष्ण के आकार की वृत्ति बनाते हैं तो उपासना हो जाती है। किन्तु यों वृत्ति बनाकर देखने पर भी देखने वाला और दीखने वाला ये तो विभिन्न रह ही जाते हैं। समीपता तो होती है पर थोड़ी-सी दूरी भी रह जाती है; हमारे और इष्ट के बीच और तो कुछ नहीं, पर हम दोनों अलग रहते ही हैं। किंतु यहाँ जब उप-आसीत कहा तब ऐसी किसी सीमा को बाँधने की ज़रूरत नहीं क्योंकि परमेश्वर ही हमारे भी भीतर है। इस तरह समीपता की पूर्णता 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बोध में

---

[1] प्रत्यङ् हृदि य ईक्ष्यते इति निर्णयसागरपाठः।

एतस्य ब्रह्मसामीप्यं तत्त्वमस्याऽदिनोच्यते।
आसीतेति तु शब्देन कूटस्थत्वम् असूत्रयत्।।१५९।।
व्युत्थाय कारणात् कार्यात् तत्तत्त्वज्ञानवर्त्मना।
उपेत्य कूटस्थम् अजम् आसीताऽपरिणामवान्।।१६०।।

हो जाती है। अद्वितीयता में ही असली समीपता है। अतः कहा कि सामीप्य की अंतिम स्थिति प्रत्यगात्मा में है। शरीर-मन आदि कार्य भी कुछ समीप तो हैं, अज्ञानरूप कारण उससे कुछ और समीप है, परंतु जिसके ये सब समीप हैं वह प्रत्यगात्मा तो मैं ही हूँ, उससे ज़्यादा तो मेरे समीप कुछ हो ही नहीं सकता! यह तत्त्व हृदय में स्पष्ट अपरोक्ष होने से 'हृदि ईक्ष्यते' भी इस श्लोक में कहीं पाठ है। 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह अपना कार्य-तादात्म्य वाला रूप है। 'मैं अज्ञानी हूँ' यह कारणतादात्म्य वाला रूप है। इन दोनों को छोड़ सिर्फ़ 'मैं' प्रत्यगात्मा है। यह सबसे निकट है।।१५८।।

उक्त प्रकार की ही समीपता वास्तविक है यह प्रमाण से सिद्ध करते हैं **'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से बताया जाता है कि प्रत्यगात्मा की ब्रह्म से ऐसी समीपता है।** 'आत्मा इति एव उप' के बाद आये 'आसीत' शब्द का अर्थ बताते हैं **'आसीत' (बैठे) - इस शब्द से तो कूटस्थता को सूत्ररूप में कहा है।।१५९।।** कूटस्थ अर्थात् अविकृत। विकार अर्थात् कार्यभाव की प्राप्ति, वह कल्पनामात्र है, मिथ्या है। वास्तविकता इसीलिये कूटस्थ है। कार्य-कारणभाव से निर्मुक्त कूटस्थता को यहाँ 'आसीत' कह दिया। लोक में 'आसीत' मायने बैठना किंतु निर्विशेष आत्मप्रसंग में स्थूल बैठना तो संभव नहीं अतः जैसे बैठने में हम कोई क्रिया नहीं करते, विकृत नहीं होते वैसे प्रत्यक्तत्त्व निर्विकार है, यह यहाँ अभिप्राय है। यथावस्तु ज्ञापन यहाँ समझना चाहिये, ऐसा नहीं कि कुछ करने को कहा जा रहा हो।।१५९।।

'उप-आसीत' को जोड़ने पर व्यक्त अर्थ कहते हैं **कार्य और कारण से हटकर आत्मा की वास्तविकता के ज्ञानरूप उपाय से अजात कूटस्थ को प्राप्त कर परिवर्तनरहित हुआ स्थित होवे।।१६०।।** तत्त्व के सही ज्ञान के बल पर कार्य अर्थात् जगत् और इसके कारण अर्थात् अज्ञान से हटा जा सकता है। तत् अर्थात् कारण उपाधि वाला ईश्वर और त्वम् अर्थात् कार्य-उपाधि वाला जीव, इन दोनों में समान रूप से स्थित ज्ञान ही तत्त्व है जिसकी प्रमा मोक्षप्रद है। वही कूटस्थ है अर्थात् सारे परिवर्तनों के अधिष्ठानरूप से हमेशा मौजूद है। 'अधिष्ठान' इसलिये कि परिवर्तन भी वास्तव में है नहीं। ऐसा नहीं कि किसी सच्चे परिवर्तन के होते आत्मवस्तु अपरिवर्तन वाली रहती

इत्यात्मसूत्रे शब्दार्थो वाक्यार्थश्चोपवर्णितः।
तदनुग्राहको न्याय आशंकापूर्वम् उच्यते।।१६१।।
व्याकृताऽव्याकृताभ्यां तद् वस्तुतत्त्वं तिरोहितम्।
इति यच्छङ्कितं तन्न स्वरूपस्याऽतिरोहितेः।।१६२।।

हो वरन् वह तो स्वरूप से ही अपरिवर्तनशील है, फिर भी हमें प्रतीत होते परिवर्तनों की अपेक्षा से उसे अधिष्ठानरूप से कूटस्थ कहा जाता है। इसी सनातन कूटस्थता को 'उपासीत' से बताया।।१६०।।

उक्त विषय का युक्तियों से समर्थन प्रारम्भ करते हैं **'आत्मसूत्र' में आये शब्दों के अर्थ तथा सारे वाक्य का अर्थ इस तरह समझाकर बता दिया। इस बात को युक्तियुक्त समझाने वाले तर्क अब शंका-समाधान करते हुए बताये जाते हैं।।१६१।।** शब्दों को अलग-अलगकर बताना, शब्दों का अर्थ बताना, शब्दों का परस्पर सम्बन्ध बताना, समूचे वाक्य का अभिप्राय बताना, अभिप्राय के बारे में उठे आक्षेप और उनका समाधान बताना ये सभी काम 'व्याख्यान' के हैं। आत्मसूत्र (विद्यासूत्र) के व्याख्यान में प्रवृत्त आचार्य ने बाकी सब बता दिये, अब आखिरी बात बची आक्षेप-समाधान, उसका वर्णन आगे करेंगे।।१६१।।

आत्मसूत्र का उपन्यास होने पर शंका होती है कि जाग्रदादि में उस आत्मा का स्फुरण होता नहीं जिसका शास्त्र प्रतिपादन करता है तो उस वस्तु की सिद्धि कैसे? वार्तिकसार में इसे कहा 'व्याकृते हेतुकार्याभ्याम्, अव्यक्ते कारणेन तत्। तिरोहितं वस्तुतत्त्वं, कथं तत्त्वं विबुध्यताम्?।।' (१.४.५७३)।। स्वयं वार्तिककारने यों कहा है 'अव्याकृतेऽनभिव्यक्तेर्न चेत् तत् तत्त्वम् ईक्ष्यते। व्यक्तौ च हेतुकार्याभ्यां, कथं तर्हीक्ष्यतां परम्?।।' १.४.७११।। इसी शंका को उपस्थित कर समाधान करते हैं **यह जो शंका की जाती है कि व्यक्त और अव्यक्त के द्वारा वह सच्चा तत्त्व छिपा है, वह शंका ठीक नहीं क्योंकि आत्मस्वरूप छिपा है ही नहीं।।१६२।। आत्मा की अपनी वास्तविकता किसी के द्वारा भी छिपायी नहीं जा सकती।।१/२।।** शंका तो स्पष्ट है कि हमें या व्यक्त जगत् मिलता है या सुषुप्ति में अव्यक्त जगत् मिलता है, जैसा आत्मा उपनिषत् ने बताया वैसा तो कभी मिलता नहीं अतः आत्मा सचमुच वैसा है यह कैसे माना जाये? इसीलिये योगी कहते हैं कि समाधि में दुनिया न दीखने पर ही आत्मा का सही रूप पता चलेगा। किंतु वेदसिद्धांत है कि आत्मा के सच्चे रूप को न व्यक्त जगत् ढाँक सकता है, न अव्यक्त जगत् ढाँक सकता है। जो जिसका स्वकीय रूप होता है वह कभी ढँकता नहीं

स्वस्वरूपं तिरोधातुं न हि केनाऽपि शक्यते।
विस्फार्यन्ताम् इहाऽक्षाणि किमक्षैरपराध्यते।।१६३।।
आपादयेयुः शब्दादीन् यद्यक्षाणि तथापि ते।
का हानिस्तस्य शब्दादेरेव तत्त्वं विबुद्ध्यताम्।।१६४।।

है। गहनों से सोना ढँक नहीं जाता क्योंकि गहनों का वास्तविक रूप है ही सोना। सोने का स्वरूप ढँकने पर गहना दीखेऐसा नहीं है। इसी प्रकार सच्चिदानन्द आत्मा व्यक्त या अव्यक्त से ढँकता नहीं। फिर भी हमें नहीं दीखता क्योंकि हमने उसे देखना सीखा नहीं। जिसने सोना देखना सीखा नहीं वह गहने खरीदते समय धोखा खा जाता है क्योंकि गहना ही देखता है, गहना जिससे बना है वह सोना कैसा हैयह नहीं देखता। ऐसा नहीं कि वह सोना कोई अदृश्य हो! लेकिन देखने वाला अशिक्षित है इसलिये उसे दीखता नहीं। इसी तरह हम पूछते हैं 'हमें तो व्यक्त या अव्यक्त दीखता है, परमात्मा है कहाँ?' और जानकार आश्चर्य से जवाब देता है 'परमात्मा कहाँ नहीं है!' सुनार से पूछें 'हमें गहना दीख रहा है, सोना कहाँ है?' तो जैसे उसे आश्चर्य होगा, वैसे तत्त्ववेत्ता को होता है। कारण हो या नाम-रूपात्मक कार्य, वह आत्मस्वरूप को छिपाये यह सम्भव नहीं।

वार्तिकसार में (१.४. ५७६) प्रश्न उठाया है कि मुक्तस्वरूप तुरीय आत्मा को कब जाना जाये? जाग्रत् में तो 'विस्फारिताक्षो जानाति शब्दाद्येव न तत् परम्। आपीत करणैरेभिः शब्दाद्यपि न वेत्ति हि।।' आँखें फाड़ने पर भी विषय ही दीखते हैं, वह परतत्त्व तो दीखता नहीं और सारी इन्द्रियाँ विलीन कर देने पर (सुषुप्ति और समाधि में) शब्दादि भी नहीं दीखते! आत्मा तो हर हालत में पता नहीं चलता। इस प्रश्न का उत्तर देते है **इन्द्रियों का पूरी तरह उपयोग कीजिये, इन्द्रियों का क्या कसूर है?।।१६३।। यदि इन्द्रियाँ शब्दादिका ही ग्रहण करती हैं तो भी आपका क्या नुकसान है! उस शब्दादि की जो वास्तविकता है उसे समझिये।।१६४।।** वेदान्त-उपदिष्ट आत्मा समझने के लिये इंद्रियों को अपना व्यापार रोकना पड़े यह ज़रूरी नहीं। यद्यपि इन्द्रिय-नियन्त्रण चाहिये तथापि उनका व्यवहार सर्वथा रोका जाये अर्थात् योग मार्ग का आश्रयण किया जाये यह ज़रूरी नहीं। गीतागूढार्थदीपिका में भगवत्पाद के अनुयायियों के लिये पातंजल-प्रक्रिया अनावश्यक है यह स्पष्ट किया है। अतः यहाँ कहा कि इन्द्रियाँ शब्दादि ग्रहण करें तो करती रहें, उससे तत्त्व समझने में रुकावट नहीं। इसी से किसी हिंदी के कवि ने कहा है 'आँख न मूँदूँ, कान न रूँदूँ, हँस-हँस रूप निहारूँ'। कौड़ी जितनी

आँख बँद करें तो आत्मबोध और खोलें तो बोध चला जायेऐसा कमज़ोर औपनिषद आत्मा नहीं है!

इन्द्रियों को कार्य करने दें तो विषयज्ञान ही होता है, आत्मा का तो ज्ञान होता नहीं, यही क्या बड़ा नुकसान नहीं? आखिर· निर्गुण परब्रह्म जो शब्दादि विषयों के रूप में अवभासित हो रहा है वह इंद्रियों के ही कारण, अतः इन्हें उपयोग में लेने से लाभ नहीं हानि ही है। पुराणकारने कहा ही है

'ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा।।'

इसपर आचार्य ने उत्तर दिया कि ग़लती इंद्रियों की नहीं आपकी है जो विचार नहीं करते, इंद्रियों द्वारा प्राप्त पूरे ज्ञान का परीक्षण नहीं करते। कान से सिर्फ शब्द नहीं, 'शब्द है' इतना पता चलता है। आप शब्द में ही रुक जाते हैं, है का विचार नहीं करते जो वास्तव में सद्रूप परमेश्वर है। वही शब्द की भी वास्तविकता है। पहले है, तब शब्दादि सब हैं; यदि है न हो तो शब्दादि कुछ न हो सकें। ऐसे ही शब्द का भान भी है। यों चिद्रूप परमात्मा भी प्रकट होता है। इसी तरह शब्द अच्छा लगता है तो आनंदरूप परमात्मा स्फुट होता है। अतः इंद्रियाँ शब्दादि ग्रहण करती हैं तो हमें आत्मचिंतन का ही मौका देती हैं, कोई नुकसान नहीं करतीं। बल्कि इंद्रियों से कोई ज्ञान न हों तो भगवच्चिंतन कठिन हो जाये! ये तो विषयों के ज्ञान होते रहते हैं तभी उनमें अनुस्यूत सच्चिदानंद का भान होता रह सकता है। जैसे बिना हाथ में माला लिये जप करो तो मन जल्दी भटक जाता है और पता भी नहीं चलता जबकि माला फेरो तो जाता भी कम है और जाने पर माला रुक जाती है तो पता भी लग जाता है कि मन भटक गया, ऐसे ही विषयग्रहण होता रहे तो सच्चिदानंद समझने का मौका मिलता रहता है, बिना विषयज्ञान के केवल सच्चिदानंद का भान कायम रखना कठिन है। माला का मनका चलने पर मंत्र दुहराने की स्मृति जैसे कायम रहती है वैसे विषयबोध होने पर उसकी सच्चिदानंदरूपता का अनुसंधान करना सहज हो जाता है। इस प्रकार, इंद्रियाँ जो शब्दादिका ज्ञान कराती हैं वह वास्तविकता के बोध के लिये अनुकूल ही है, विरोधी नहीं। ग़लती यह होती है कि उनसे उत्पन्न ज्ञान के बारे में जो विचार करना चाहिये वह नहीं किया जाता। कहा भी है कि विषय-इंद्रियसम्बंध विवेकी-अविवेकी का एक-सा होता है पर विवेकी सावधान रहता है तो उसी सम्बंध से सत्य का अनुसंधान करता रह पाता है, अविवेकी असावधान रहकर नाम-रूप में ही उलझकर दुःख पाता है।।१६४।।

तैः शब्दादितया भाति तत्त्वरूपतया न तु।
इति चेद् अत एवैतद् वेदवाक्येन बुद्ध्यताम्।।१६५।।
न परोक्षत्वमाशङ्क्यं स्वस्वरूपत्वहेतुतः।
शब्दादितत्त्वं यद् बोद्धुः स्वरूपं तन्न चेतरत्।।१६६।।

इन्द्रियों का अपराध नहीं यह सिद्ध किया लेकिन उनसे उत्पादित अनुभव का विचार कैसे किया जाये यह पता न होने तक उक्त लाभ नहीं उठाया जा सकता अतः विचार-शिक्षा का उपाय बताते हैं **यदि कहो कि इन्द्रियों द्वारा शब्दादिरूप से ही भान होता है, शब्दादि की वास्तविकता के रूप से तो भान होता नहीं, तो हमारा कहना है कि इसीलिये वास्तविकता को वेदवाक्य से समझा जाये।।१६५।।** यह ठीक है कि इंद्रियों द्वारा भान होगा तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनका भान होगा, इनकी वास्तविकता सच्चिदानंद है ऐसा तो भान होगा नहीं, लेकिन यदि वेद-विचार से तत्त्व समझ चुके हैं तो शब्दादि के भान में ही मौजूद सच्चिदानंद के भान को पहचान सकेंगे जैसे स्वर्ण-परीक्षा सीखा व्यक्ति गहने को देखते हुए ही स्वर्ण को पहचान पाता है। शिक्षित के लिये सुबोध भी अशिक्षित के लिये अबूझ रह जाता है, ऐसे ही वेदशिक्षा पाये को परमेश्वर स्पष्ट उपलब्ध होता है जबकि अन्यों को उसका पता ही नहीं लगता।।१६५।।

केवल वेद से वास्तविक तत्त्व कैसे पहचानें, वेद से तो उसका परोक्ष ही बोध होगा जबकि शब्दादि से मिले उसके रूप को समझने के लिये उसकी अपरोक्ष पहचान ज़रूरी है? इस शंका को मिटाते हैं **यह शंका नहीं करनी चाहिये कि शब्दादि की वास्तविकता कोई परोक्ष वस्तु है, क्योंकि वह स्व का स्वरूप ही है। शब्दादि को जानने वाले का जो निजी रूप है वही शब्दादि की वास्तविकता है, अन्य कुछ नहीं।।१६६।।** शब्द से परोक्ष ही ज्ञान हो सके ऐसी बात नहीं, यदि विषय अपरोक्ष है तो शब्द से भी उसका अपरोक्ष हो सकता है। सामने नीम का पेड़ है, हम तुम्हें उसे दिखाकर कहें 'यह नीम है' तो तुम्हें अपरोक्ष ही तो होगा, हमने कहा इसलिये परोक्ष होवे ऐसा तो नहीं। यहाँ अनुक्रम सिंह बैठे हैं, तुम उनसे अपरिचित हो, आकर पूछते हो 'क्या यहाँ अनुक्रम सिंह हैं?' हम कहें 'हैं', तो तुम्हें अनुक्रम सिंह का क्या परोक्ष ज्ञान होगा, या अपरोक्ष ही होगा? क्योंकि वे मौजूद हैं इसलिये अपरोक्ष ही होगा। इसी तरह सच्चिदानंद परमेश्वर क्योंकि वस्तु अपरोक्ष है इसलिये वेद से उसका अपरोक्ष ही होगा, फिर इंद्रियों से उसे

एकस्याऽप्यत्र चित्तस्य सहकारिविभेदतः।
क्रमेण ग्रहणं तत्त्वे शब्दादौ च कुतो न हि।।१६७।।

शब्दादि से मिला-जुला देखकर भी पहचान सकना संभव होगा। क्योंकि सच्चिदानंद हमारा खुद का स्वरूप है इसलिये वह नित्य अपरोक्ष है। शब्दादि को हम ही जानते हैं और हमारा ही स्वरूप सच्चिदानंद है अतः शब्दादि की वास्तविकता हमारा स्वरूप ही होने से उसका हमें अपरोक्ष ज्ञान हो इसमें कोई रुकावट नहीं। हमारे स्वरूप से अन्य कुछ हो जो शब्दादि की वास्तविकता हो ऐसी बात नहीं। हमारे स्वरूप से अन्य जो कुछ होगा वह अवास्तविक, मिथ्या, मायारूप ही होगा। वास्तविक तो हमारा सच्चिदानंद स्वरूप ही है।।१६६।।

प्रश्न उठता है कि मन इंद्रियों से लाये शब्दादि को ग्रहण करते हुए सच्चिदानंद कैसे ग्रहण करेगा? इंद्रियाँ तो सच्चिदानंद को ग्रहण कर नहीं सकतीं क्योंकि वे रूप-रसादि ही ग्रहण करने में समर्थ हैं जबकि सच्चिदानंद रूप-रसादि से रहित है। इसलिये यह कैसे संभव है कि इंद्रिय-व्यापार रहते परमात्मस्वरूप भी भासे? उत्तर देते हैं **सहकारी हेतु के भेद के अनुसार एक चित्त भी क्रमशः तत्त्वविषयक और शब्दादिविषयक ग्रहण क्यों नहीं कर सकता!।।१६७।।** मन इंद्रियरूप सहकारी से शब्दादि का और वेदरूप सहकारी से सच्चिदानंद का ग्रहण कर सकता है अतः इन्द्रियव्यापार और तत्त्वबोध दोनों का समन्वय संभव है। सहकारी की कमी से बोध न हो पाना भी लोकसिद्ध है। जिन्हें सुनने के लिये कान में यंत्र लगाना, पड़ता है वे यदि बिना यंत्र लगाये नाटक देखने पहुँचें तो नटों की क्रिया, हाव-भाव देख सकते हैं पर उनका वार्त्तालाप सुन नहीं सकते। जब यंत्र लगा लें तो देखने के साथ सुन भी पाते हैं। ऐसे ही वेदशिक्षाहीन केवल शब्दादि का अनुभव करता है जबकि वेद से शिक्षित को सच्चिदानंद भी भासता है। आँख से फूल दीखता है, नाक से सुगंध आती है इत्यादि सर्वानुभवसिद्ध है। ऐसे ही प्रकृत में समझना चाहिये। 'क्रमशः' इसलिये कहा कि प्रायः माना जाता है कि मन एक बार में एक ही वृत्ति बनाता है। सुगंधि सूँघते हुए फूल देखना या नाटक देखते हुए वार्त्तालाप सुनना इत्यादि में भी सूक्ष्म क्रम है ही यह प्रायः मान्यता है, तदनुसार ही यहाँ क्रम कहा है। विवक्षित इतना ही है कि अकेली इंद्रियाँ शब्दादि का भले ही ज्ञान करायें पर वेदरूप सहकारी से युक्त चित्त सच्चिदानंद को भी ग्रहण कर लेता है। लोक में भी 'यह देवदत्त' तो सबको दीख जायेगा, जिसे पूर्वकालिक देवदत्त के स्पष्ट स्फुट संस्कार हैं उसे 'वही यह देवदत्त है'

इति शङ्कोत्तरं प्रोक्तम् एतत्सूत्रेण सूचितम्।
स्वरूपवाच्यात्मशब्दाद् अतिरोधानभासनात्।।१६८।।

शुद्ध आत्मा

ननु प्राणादियुक्ताऽऽत्मबोधोऽकार्त्स्न्येन दूषितः।
सोऽकार्त्स्न्यदोषः शुद्धात्मबोधे कस्मान्न सम्भवेत्।।१६९।।

यों अखण्ड देवदत्त भी दीखता है। इसी तरह वेदसंस्कार वालों को सच्चिदानंद भी दीखे इसमें कोई विरोध नहीं।।१६७।।

उक्त व्यवस्था का आधार बताते हैं **श्लोक १६२ में इंगित शंका का यह जो उत्तर दिया वह 'आत्मेत्येवोपासीत' सूत्र में सूचित है। स्वरूप का कथन करने वाले 'आत्मा' इस शब्द से क्योंकि 'कभी न छिपने' का भान होता है (इसलिये व्यक्त-अव्यक्त से वस्तुतत्त्व छिपता नहींयह समझाया।)।।१६८।।** सूत्र अनेक अभिप्राय सूचित करता ही है। आत्मा-शब्द से सूचित जो सदा भासमान प्रत्यक् स्वरूप उसी को ध्यान में रख पूर्वोक्त शंका का समाधान हो पाया। अनात्मा को देखना तो स्वभाव से चल ही रहा है, उसके लिये वेद-विधान नहीं चाहिये, वेद ने इसीलिये 'आत्मा' बस यही देखने को कहा अर्थात् जब शब्दादि दीखें तब भी उनकी वास्तविकता जो सच्चिदानन्द उसे देखने, समझने का प्रयास करना चाहिये यह तात्पर्य है। वह दीख तभी सकता है जब वह छिपा न रहे अतः उसका व्यक्त-अव्यक्त से न छिपना भी उक्त वेदवाक्य से ज्ञात हो गया।।१६८।।

सूत्र के अनन्तर श्रुति में वचन है 'अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति'। इसके व्याख्यान से शुद्धात्मा का वर्णन प्रारंभ करते हैं **आत्मा को प्राणादि से सम्बद्ध समझना सदोष है क्योंकि इस ज्ञान में असमग्रता है तो शुद्ध आत्मा के ज्ञान में वह असमग्रता-दोष कैसे नहीं है?।।१६९।।** श्रुति में कहा कि प्राणनादि क्रिया से विशिष्ट रूप अपूर्ण ही है। श्लोक १३७ के संदर्भ में इस वेदवाक्य का संग्रह कर आये हैं। प्राण आत्मा है, आँख आत्मा है इत्यादि आत्मा के एक-एक रूप को जानना अपूर्ण ज्ञान है। अतः वैसा ज्ञान मोक्ष नहीं दे पाता। यहाँ प्रश्न उठाया जा रहा है कि इसी प्रकार क्या शुद्ध आत्माका ज्ञान भी उसका अपूर्ण ज्ञान नहीं है? उसे शुद्ध जाना तो उसके प्राण-आँख आदि रूप बिना जाने रह गये अतः ज्ञान में वैसी ही असमग्रता क्यों न मानी जाये? शुद्ध के ज्ञान से भी मोक्ष होता है यह क्यों माना जाये?।।१६९।।

श्रुति से ही समाधान बताते हैं **उक्त शंका के निवारण के लिये ही इसी क्रम**

इत्याशङ्कापनुत्त्यर्थम् अत्रेदं श्रूयते स्फुटम्।
'अत्र ह्येते सर्व एकीभवन्ती'ति श्रुतेर्वचः।।१७०।।
प्राणाद्युपाद्ध्युपहिताः सर्वेऽप्यात्मान ईश्वरे।
शुद्धात्मन्येकतां यान्ति पुत्रभ्रात्रादयो यथा।।१७१।।
पुत्रो भ्राता पितेत्येको भिद्यते प्रतियोगिभिः।
पुत्रादयस्त एकस्मिंस्तस्मिन् यान्त्येकतां ततः।।१७२।।

में श्रुति का यह स्पष्ट वचन सुना जाता है 'आत्मा में ही ये सब एक हो जाते हैं'।।१७०।। अपूर्ण ज्ञानों की पूर्णता आत्ममात्र के ज्ञान में है। शुद्ध आत्मा से अतिरिक्त उसके वे अपूर्ण रूप नहीं हो सकते। जैसे रस्सी में सर्पादि सब एक हो जाते हैं, सर्प-माला-आदि का ज्ञान पूर्ण नहीं पर रस्सी का ज्ञान पूर्ण है, वैसे आत्मा में द्रष्टा-श्रोता आदि सब एक हो जाते हैं, द्रष्टा समझना या श्रोता समझना अपूर्ण समझ है किन्तु आत्मा समझना पूर्ण समझ है। अत एव श्रुति ने बताया है कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने से सब कुछ जान लिया जाता है। इस तरह स्पष्ट है कि प्राण आदि से विशिष्ट के ज्ञानों को जोड़कर आत्मा की पूर्ण जानकारी नहीं होगी वरन् आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझना ही उसकी पूर्ण जानकारी है।।१७०।।

एक हो जाने को सोदाहरण समझाते हैं **प्राण आदि उपाधियों से सम्बद्ध सभी आत्मा ईश्वररूप शुद्ध आत्मा में वैसे ही एक हो जाते हैं जैसे पुत्र-भाई आदि मनुष्य में एक हो जाते हैं।।१७१।।** 'सभी आत्मा' अर्थात् आत्मा के सब विशिष्ट रूप। प्राणन करता हुआ वह प्राण कहलाता है, बोलता हुआ वाक् कहलाता है अतः प्राण, वाक् आदि उपाधि-सम्बद्ध आत्मा हैं। ऐसे सभी आत्मा, शुद्ध में एक हैं। 'ईश्वररूप' कहकर सूचित किया कि जैसे सब प्रतिबिम्ब बिम्ब में एक होते हैं वैसे औपाधिक रूप निरुपाधि में एक हैं। सुषुप्ति में आत्मा का ईश्वररूप रहता है और उसमें बाकी सारे रूप एकमेक हो जाते हैं तभी जगने पर उससे निकल कर प्रकट होते हैं। जब ईश्वर में ही वे एक हो जाते हैं तब शुद्ध में एक होते हैं इसमें क्या कहना! अथवा शुद्ध निरुपाधि को ही ईश्वर कहा है।।१७१।।

उक्त दृष्टांत स्पष्ट करते हैं **सम्बन्धियों की दृष्टि से एक ही व्यक्ति पुत्र, भाई, पिता आदि रूपों में विभिन्न हो जाता है इसलिये उस एक में ही वे पुत्रादि अभिन्न हो जाते हैं।।१७२।।** व्यक्ति अखण्ड है, पिता की अपेक्षा पुत्र, बहन की अपेक्षा भाई, पुत्र की अपेक्षा पिता इत्यादि अलग-अलग तरह से व्यवहृत होता है। क्योंकि व्यक्ति

आत्मनोऽनवशेषेण सम्बन्धोऽनात्मवस्तुनः।
रज्जुसर्पादिवन्नातः प्रतीचः शिष्यते पराक्।।१७३।।

में भेद नहीं, केवल सम्बंधियों की दृष्टि का भेद है इसलिये पुत्रादि सबकी एकता उस व्यक्ति में है ही। माँ ने कहा 'बेटे को भोजन करा देना।' बहन ने कहा 'भाई को भोजन करा देना।' बेटे ने कहा 'पिताजी को भोजन करा देना।' जिसने उस देवदत्त को भोजन करा दिया उसने एक-साथ ही तीनों की बात मान ली। अतः एक देवदत्त में तीनों एक हो गये यह कहा जा सकता है। इसी प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व जान लिया तो द्रष्टा-श्रोता आदि सभी जान लिये अतः कोई अपूर्णता नहीं रही। सिर्फ द्रष्टा जाना तो अपूर्ण ज्ञान रहा जैसे किसी को केवल पुत्र जाना तो अपूर्ण जाना क्योंकि वह भाई, पिता आदि भी है लेकिन उस व्यक्ति को जान लिया तो यह नहीं कह सकते कि उसे अमुक का जेठ नहीं जाना, अमुक का मामा नहीं जाना, अमुक का भतीजा नहीं जाना तो व्यक्ति के बारे में ज्ञान अपूर्ण रह गया, कारण कि जेठ-मामा-भतीजा आदि सब उस व्यक्ति में एक हो जाते हैं।।१७२।।

अनात्मा से अलग समझा आत्मा अपूर्ण कैसे नहीं समझा गया, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं **अनात्म वस्तुओं का आत्मा से ऐसा सम्बन्ध है कि वे आत्मा से अवशिष्ट कुछ नहीं रहतीं जैसे रज्जु से अवशिष्ट सर्पादि कुछ नहीं रहते। अतः प्रत्यग्रूप आत्मा से पृथक् पराग्रूप अनात्मा रहता ही नहीं कि आत्मज्ञान में उसकी कमी रह जाये।।१७३।।** रस्सी में भ्रम से साँप, माला, जलधारा आदि देखने वाले आखिर देख किसे रहे हैं? रस्सी को ही। जिसने उसे रस्सी जान लिया उसने, उन सबको जिसके बारे में ज्ञान हो रहा है, उसे जान लिया। इसलिये अधिष्ठान जान लेने पर अध्यस्त भी जान लिये गये यह व्यवहार हो जाता है। इसी तरह जिसने प्रत्यगात्मा की सही जानकारी पा ली उसके लिये पराक्, अनात्मा कुछ रहा नहीं जिसका ज्ञान उसे नहीं हुआ, जिससे उसका आत्मज्ञान अधूरा रह जाये। अज्ञान दशा में हम जिन सबको अलग-अलग समझ रहे हैं, अज्ञान मिटने पर पता चलता है कि वह सब हम खुद ही हैं, हमसे अन्य संसार कुछ है ही नहीं।

एक राजकुमार ने जवान होने पर अपने पिता के कागज़ात में एक अतिसुन्दर लड़की का चित्र देख ठान लिया कि उसी से ब्याह करेगा। मंत्री आदि को चित्र देकर उस लड़की को खोजना शुरू किया किंतु वह कहीं मिली नहीं। अन्त में एक वृद्ध पुरोहित ने चित्र ध्यान से देखकर याद किया कि जब राजकुमार छोटा बालक था तब किसी नाटक

सर्वम् अज्ञात एव स्याद् यस्मिन्नज्ञात आत्मनि ।
ज्ञाते ज्ञातं च कृत्स्नोऽसौ तावत्त्वात् सर्ववस्तुनः ।।१७४।।

के प्रसंग में उसे लड़की जैसा सजाया गया था और वह उसी समय का चित्र था! धीरे-धीरे अन्यों को भी वह घटना याद आ गयी, राजकुमार ने भी चेहरे में पूर्ण समानता पहचान कर हठ छोड़ा। ऐसे ही हम स्वयं आनंदरूप हैं पर ढूँढते उसे बाहर हैं जहाँ न वह कभी है, न मिल सकता है। वेदरूप पुरोहित ही हमें यह रहस्य बताता है कि वह तो हमारा स्वरूप है। प्रत्यक्तत्त्व ही जड जगत् बना, उसी ने इसमें प्रवेश किया अतः जीव- जगत् कुछ भी प्रत्यग्वस्तु से अलग है नहीं कि प्रत्यक् का ज्ञान अपूर्ण माना जाये।।१७३।।

परमेश्वर को, प्रत्यगात्मा को जानने से सब कुछ जाना गया हो जाता है आदि बताती श्रुति से इसे समर्थित करते हैं **जिस आत्मा को न जानने पर सभी कुछ न जाना रह जाता है और जिस आत्मा को जान लेने पर सब जाना गया हो जाता है, वह परिपूर्ण है क्योंकि सभी वस्तुएँ आत्ममात्र हैं।।१७४।।** सच्चिदानंद परमात्मा को न जाना तो सब अज्ञात है। जो कुछ हमें संसार का विस्तार दीख रहा है यह अज्ञान का ही कार्य है। अतः अनादि काल से लोग चीज़ों की सचाई खोजने में लगे हैं पर आज तक कुछ पता नहीं लगा पाये। जितना समझकर सोचते हैं 'जान लिया', उसे सूचीबद्ध करते-करते ही नयी जानकारी उपलब्ध होकर पहले की समझ को नासमझी घोषित कर देती है। यही क्रम चलता है, इसी को सांसारिक लोग ज्ञान का विकास मान लेते हैं! विज्ञान के गंभीर अध्येता तो मानवीय समझ का यह छिछलापन कुछ-कुछ पहचानते-स्वीकारते हैं पर साधारण जन तकनीक के करिश्मों से प्रभावित हो सोचते हैं कि विज्ञान ने कुछ वास्तविकता पता लगायी होगी जबकि सच यह है कि विज्ञान इसी ओर बढ़ रहा है कि वास्तविकता पता लग नहीं सकती। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति चमत्कार देखकर चमत्कार दिखाने वाले में आध्यात्मिक उत्कर्ष स्वीकारता है जबकि वस्तुतः अध्यात्ममार्ग में आगे बढ़ा साधक भी चमत्कार-प्रदर्शन से दूर रहता है तो सिद्ध का क्या कहना! उसी प्रकार तकनीकी उपयोगों को अतिमहत्त्व देने वाले विज्ञान पर अंधश्रद्धालु हो आशा रखते हैं कि कुछ सत्य पता चलेगा। किन्तु क्योंकि संसार अज्ञान का फैलाव है इसलिये एक प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त इसमें कोई सत्य है ही नहीं जो मिल सके। आधुनिक विज्ञान क्योंकि पराक् को ही ढूँढता है, विषय को ही खोजता है, इसलिये इसे कभी सत्य पता चले यह संभव ही नहीं। अतः आचार्य ने कहा कि जब तक प्रत्यगात्मा को नहीं जाना

प्रमाभासत्वम् एतेन वाक्येनाऽस्य निवारितम्।
मात्वं सम्भाव्यते तस्य पदनीयत्ववाक्यतः।।१७५।।
अस्य सर्वस्य जगत आत्मेति यदुदीरितम्।
तदेतत् पदनीयं स्याद् इति वाक्यस्य योजना।।१७६।।
पदनीयेति शब्देन प्रमातुं योग्यतोच्यते।
अज्ञातत्वात् पुमर्थत्वात् प्रमातुं योग्यताऽऽत्मनः।।१७७।।

तब तक सभी कुछ अज्ञात ही रहना है। इसी तरह उसे ठीक-ठीक जान लिया तो सभी कुछ जान लिया क्योंकि उसके सिवाय 'सब कुछ' कहलाने वाला कुछ है ही नहीं। आत्मज्ञान से जब अज्ञान ही दूर हो गया तब अज्ञानकार्य रहा कहाँ जिसे ज्ञात-अज्ञात कहा जाये? अतः द्रष्टा-श्रोता आदि समझना तो आत्मा को अपूर्ण समझना है पर प्रत्यङ्मात्र समझना अपूर्ण नहीं, परिपूर्ण समझ है।।१७४।।

सबकी आत्मा में एकता बताकर श्रुति में वाक्य है 'तदेतत् पदनीयम् अस्य सर्वस्य यद् अयम् आत्मा' अर्थात् जो यह अन्तरतर (सर्वाधिक भीतरी) आत्मा है वह सबका पदनीय, प्राप्तव्य है। इसे अवतरित करते हैं **'अत्र ह्येते सर्वे एकं भवन्ति' इस वाक्य से यह शंका हटायी कि प्रत्यक् का ज्ञान भी अपूर्ण है। अगले 'पदनीयत्व' वाक्य से उस बोध को प्रमाण सिद्ध किया है।।१७५।।** प्रत्यङ्मात्र के ज्ञान को कुछ विचारक इस दृष्टि से भ्रम कह देते हैं कि उस-मात्र का तो ज्ञान संभव नहीं, जब होगा तब उसके आकार की बुद्धिवृत्ति से सम्बद्ध उसके स्वरूप का ज्ञान होगा। किंतु यह तर्क ऐसा है जैसे यह कहना कि सूर्यमात्र का ज्ञान नहीं होता, आँख से बनी वृत्ति-युक्त सूर्य का ज्ञान ही होता है! जैसा प्रत्यक्तत्त्व है वैसी वृत्ति रहते उसका ज्ञान ही प्रत्यङ्मात्र का व्यवहारोपयोगी ज्ञान है। उस अकेले की भासमानता पारमार्थिक है, व्यवहारान्तर्गत नहीं। जैसे घोड़े के पदचिह्नों से घोड़ा मिल जाता है वैसे द्रष्टा श्रोता मन्ता आदि के परीक्षण से आत्मस्वरूप उपलब्ध हो जाता है। उस आत्मस्वरूप का बोध इसीलिये पूर्ण है कि उसका बाध संभव नहीं।।१७५।।

पदनीय-वाक्य समझाते हैं **जिसे इस सारे जगत् का आत्मा कहा, उसी को कहा कि वह यह पदनीय है।।१७६।। 'पदनीय' अर्थात् वह इस योग्य है कि उसकी प्रमा हो। अज्ञात और पुरुषार्थ होने से आत्मा इस लायक है कि उसकी प्रमा हो।।१७७।।** जगत् को 'इस' कहा क्योंकि यह हम सभी को स्पष्ट उपलब्ध है।

इसका वास्तविक स्वरूप परमात्मा है। इसीलिये सारा संसार हमें परमात्मा को दिखाने का साधन बन जाता है। सबसे बड़ा साधन अपने अंदर बैठा अहम्-तत्त्व है। उसे जानने के बाद ही हम अन्य कुछ जान पाते हैं, सबसे पहले 'मैं' को ही जानते हैं। उस मैं के अंदर सच्चिदानंद की छाप मिल जाती है। 'मैं नहीं हूँ' यह बोध तो क्या, कल्पना भी असम्भव है। कल्पना करने वाला रहते, वह नहीं है यों कैसे कल्पना भी हो? शरीर-प्राण-मन आदि का न होना तो समझा जा सकता है, मैं का न होना समझना संभव नहीं है। इसी तरह मैं का ज्ञानहीन अर्थात् जड होना भी समझा नहीं जा सकता। मैं का अप्रिय होना भी समझना संभव नहीं। अतः आत्मा की सच्चिदानंदरूपता हमेशा भासमान रहती है। मैं की अनुभूति में उपलब्ध सच्चिदानंदरूपता आत्मा की छाप है जिससे आत्मा की वास्तविकता पहचान में आ जाती है। श्रुति के 'पदनीय' शब्द का अर्थ है कि आत्मा इस योग्य है कि उसकी प्रमा हो। अहम् में दीखने से आत्मा के बारे में पता चल जाता है जैसे पदचिह्न से घोड़े का पता चल जाता है। प्रमा के योग्य वही होता है जो प्रमा से पूर्व अज्ञात हो, अज्ञात-ज्ञापकता प्रमाण में हुआ करती है, अनधिगत का ज्ञान ही प्रमा हो सकता है। जिसका पता नहीं है उसी को प्रमाण से जानेंगे, जिसका पता ही है उसे जानने के लिये प्रमाण-व्यापार काहे को करेंगे? इसी तरह प्रमा के योग्य को 'पुरुषार्थ' भी होना चाहिये, उससे फल उपलब्ध होना चाहिये, प्रमाता का कोई प्रयोजन वह सिद्ध करे ऐसी वस्तु होनी चाहिये। जिसका कोई फल, प्रभाव नहीं उसका ज्ञान सच्चा हुआ यह पता कैसे चलेगा? आईंस्टाइन ने सापेक्षता-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो सारा वैज्ञानिक जगत् उसको समझ-बूझकर स्वीकारने, उसे और परिष्कृत तो करने लगा लेकिन आईंस्टाइन को उस सिद्धांत का पता लगाने के लिये नोबल पुरस्कार नहीं दिया जा सका क्योंकि उसके सिद्धांत का फल देखा नहीं जा पाया था। करीब नौ साल बाद पड़ने वाले सूर्यग्रहण के दौरान उस सिद्धान्त का फल दीखा और सिद्धांत को विधिवत् सत्यापित माना गया। अतः आईंस्टाईन को नोबल पुरस्कार 'क्वाण्टम थ्योरी' पता लगाने के लिये दे दिया गया यद्यपि सापेक्षता की अपेक्षा वह कम महत्त्व की खोज थी। इस प्रकार, लोक में भी मान्य है कि सही ज्ञान सफल होता है। अनुभवमात्र को यथार्थ कहना नहीं बनता क्योंकि भ्रम का भी अनुभव होता ही है, अज्ञातविषयक और पुरुषार्थ-साधक हो तभी उसे यथार्थ कहना बनता है। आत्मा अज्ञात है ही तथा उसका अनुभव भवबन्ध से छुड़ाता है ही अतः वह प्रमा के योग्य है इसमें सन्देह नहीं।।१७६-७।।

अव्याकृतव्याकृतयोरज्ञानात्मकता यतः।
अत आत्माऽतिरेकेण नाऽज्ञातार्थोऽस्ति कश्चन।।१७८।।
ज्ञेयार्थानन्दयोर्यस्मात् समाप्तिः प्रत्यगात्मनि।
परमः पुरुषार्थोऽत आत्मा भवति नेतरः।।१७६।।

प्रमा-योग्यता सम्पन्न करने वाले उक्त हेतुद्वय आत्मा में प्रदर्शित करते हैं **क्योंकि अव्यक्त और व्यक्त दोनों अज्ञानरूप हैं इसीलिये आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है जो अज्ञात विषय हो।।१७८।। क्योंकि ज्ञेयार्थता तथा आनंदरूपता की पूर्णता प्रत्यगात्मा में ही है इसलिये आत्मा ही परम पुरुषार्थ है, अन्य कुछ नहीं।।१७६।।** अज्ञात अर्थात् अज्ञान का विषय। अज्ञान स्वयं अपना तो विषय हो नहीं सकता। व्यक्त-अव्यक्त जगत् अज्ञानरूप है अतः अज्ञानविषय हो नहीं सकता। फलतः एक आत्मा ही अज्ञात हो सकता है। अव्यक्त अर्थात् कारणभूत प्रकृति की वह स्थिति जिसमें विभिन्न कार्यों के नाम-रूप-कर्म विभाजित नहीं थे। कार्यों के नामादि विभाजित हुए प्रतीत हों यही व्यक्त कहा जाता है। परमात्मस्वरूप का अज्ञान ही अव्यक्त है, वही क्योंकि व्यक्त आकार में प्रकट होता है इसलिये स्वरूप से भी, व्यक्त भी, अज्ञान ही है। भ्रमहेतु अधिष्ठान-अज्ञान प्रसिद्ध ही है, रस्सी सही न समझने पर ही सर्पादि का भ्रम होता है। हमें प्रत्यगात्मा के वास्तविक अपरिच्छिन्न स्वरूप का अज्ञान है, वह हमें इस रूप में प्रतीत हो रहा है 'मैं जन्मने-मरने वाला, कर्त्ता-भोक्ता हूँ' तथा 'यह सारा भूत-भौतिक प्रपंच वस्तुभूत है'। क्यों मानें कि आत्मा का अज्ञान है? क्योंकि वेद आत्मा का स्वरूप व्यापक, निष्क्रिय, असंग, निर्विकार बता रहा है। एवं तत्त्ववेत्ता आत्मा का ऐसा साक्षात्कार करते और उससे मोक्ष पा जाते हैं इसलिये मानना पड़ता है कि आत्मा का सच्चा रूप हमें अज्ञात है। विचार से भी सिद्ध हो जाता है कि विकार उपाधि में ही हैं, हम तो उनके साक्षी ही रहते हैं, केवल अध्यास से उपाधि के विकारों को अपना समझते हैं। बड़े नेता-अभिनेता का अपमान हो जाये तो अनेक उनके अनुयायी-प्रशंसक आत्मदाह कर लेते हैं! वे नेता आदि उन व्यक्तियों को जानते तक नहीं, उनका परस्पर कोई पारिवारिकादि सम्बंध नहीं, कभी मिले नहीं, फिर भी अध्यासवश अपने नेता आदि का अपमान असह्य हो जाता है। ऐसे ही शरीर-मन आदि से हमारा तादात्म्याध्यास ऐसा दृढ है कि इनके किसी भी विकार को हम अपना ही महसूस करते हैं। परमेश्वर के स्वरूप का अज्ञान रहते अध्यात्म-अधिभूत जगत् सर्वथा सत्य प्रतीत होने से हम प्रत्यक्स्वरूप पर पूर्ण एकाग्रता से निष्ठा नहीं रख सकते। अज्ञान मिटते ही वह निष्ठा स्वतः रहती है। अतः

भी निश्चय हो जाता है कि व्यक्त प्रपंच का कारण परमात्मा का अज्ञान ही है। इस तरह सारा अनात्मप्रपंच कार्य-कारणभेद से है अज्ञान ही अतः अनात्मा तो अज्ञान का विषय अर्थात् अज्ञात हो सके यह संभव नहीं क्योंकि अज्ञान खुद को ही विषय करे यह असंगत और अनुभवविरुद्ध है। अनात्मा से भिन्न तो केवल आत्मा ही है अतः वही अज्ञात हो यही संगत है और हमें लगता भी है कि परमात्मा की सचाई हमें पता नहीं। वास्तविकता है परमात्मा, हमें वही अज्ञात हुआ कारण और कार्य लग रहा है, ज्ञात होने पर कार्य-कारण प्रपंच बाधित हो जाता है। इसलिये आत्मा ही अज्ञात होने से वही प्रमाण के द्वारा समझा भी जा सकता है, अनात्मा कल्पित होने से प्रमाण से परीक्षा के अयोग्य है, प्रमाण-प्रयोग होते ही वह निवृत्त हो जाता है।

प्रमा-योग्य को पुरुषार्थ (सफल) होना चाहिये। पुरुष-अर्थ मायने जीव जिसे चाहे। सभी प्राणी सुख चाहते हैं, सुख के लिये ही सुख-साधन भी चाह लेते हैं लेकिन चाहना सुख की है, वह जैसे मिले वे उपाय गौणरूप से चाहे जाते हैं अतः उनमें फेर-बदल होती रहती है किंतु सुख चाहिये इस बात में कभी परिवर्तन नहीं होता। सभी कुछ सुख के लिये चाहते हैं तथा सभी कुछ, सुख भी अपने लिये चाहते हैं। कहने को आधुनिक नेता बोलते हैं कि सर्वहरा-वर्ग के लिये चाहते हैं लेकिन नेताओं की गतिविधि देखते ही स्पष्ट हो जाता है कि उनमें एक भी ऐसा नहीं होता जो नेता बना रहते सर्वहरा वर्ग में रह जाये, वरन् सभी का वैयक्तिक धन बढ़ा ही मिलता है, जीवन शैली धनाढ्यों वाली ही मिलती है, उनके बच्चों की शिक्षा महँगे संस्थानों में ही होती दीखती है। पीलू मोदी नामक एक मज़ाकिया नेता ने एक बार कहा था कि इक्कीस साल की उम्र में जो कम्युनिस्ट न हो वह हृदयहीन है तथा इकतालीस की उम्र में जो कैपिटलिस्ट (पूँजीवादी) न हो वह बुद्धिहीन है! तात्पर्य यही है कि शुरू भले ही दूसरों के लाभ से करो लेकिन अंत में पहुँचोगे अपने लाभ पर ही। यदि कोई सर्वहरापन कायम रखता भी है तो इसीलिये कि उसे वैसा रहना सुखद लगता है अर्थात् अपने लिये, अपने सुख-संतोष के लिये ही वह ग़रीब भी बना रह सकता है। इस तरह हम जो चाहते हैं वह जैसे सुख के लिये, वैसे अपने लिये। अतः सनातनी जब किसी सिद्धांत को ठीक समझता है तब उसे स्वयं पर लागू करता है। इसमें ज्वलन्त उदाहरण गाँधीजी का है, उन्होंने न्यूनतम वस्त्र वह भी खादी का पहनना ठीक समझा तो खुद भी वही पहनते रहे, साफ-सफाई होनी चाहिये यह माना तो खुद भी सफाई करते रहे। जो ठीक समझूँ वह खुद करूँ यह भारतीय विचार है, दूसरों को मूर्ख बनाकर लाभ

अज्ञातत्वं पुरा प्रोक्तम् अव्याकृतगिरा यथा।
ज्ञेयार्थस्य समाप्तिं तां वक्त्यनेनेति वाक्यतः।।१८०।।
अनेनैतद् वेद सर्वम् इत्यात्मज्ञानमात्रतः।
सार्वज्ञ्यम् उक्तम् आनन्दसमाप्तिस्तु प्रवक्ष्यते।।१८१।।

उठाऊँयह अभारतीय पद्धति है। क्योंकि सब कुछ हम अपने लिये चाहते हैं इसी से संभव है कि हम सब कुछ वास्तव में उत्तम कर और रख सकते हैं। भारत के विकास का बीज ही रहा कि भारतीयों को यह बोध था कि जो कुछ करेंगे उसका फल हमें ही मिलेगा, ग़लत किया तो हमें ही कष्ट मिलेंगे। अहिंदू संस्कृति ने इस सत्य को छिपाया कि हमें सब अपने ही लिये चाहिये तो मिथ्याचार पनपा, जैसा धीरे-धीरे 'आगे किसने देखा है' के रूप में भारत में भी देखने में आ रहा है। प्रत्यगात्मा ही पुरुषार्थ की सीमा है, हर वस्तु किसके लिये चाहिये इस प्रश्न की समाप्ति 'मैं' में होती है अर्थात् बाकी सब मैं के लिये चाहिये, आगे मैं किसी के लिये या किसी प्रयोजन से नहीं चाहिये। इस चरमता को ही श्लोक में 'समाप्ति' शब्द से कहा। है आत्मा नित्य ही आनन्दरूप पर अभी यह तथ्य अज्ञात है, शास्त्रीय प्रमा से वह निरावृत हो जाता है। इस प्रकार, प्रमेय होने के लिये आवश्यक पुरुषार्थता आत्मा में ही है, अन्यत्र वह गौण ही है, अतः आत्मा ही अज्ञात है, वही प्रमेय है।।१७८-९।।

उपनिषत् में अगला वाक्य है 'अनेन हि एतत् सर्वं वेद' अर्थात् 'इसी से यह सब जान लेता है'। 'इसी से' अर्थात् इस आत्मा के ज्ञान से। आत्मज्ञान से ही सब कुछ जान लिया जाता है। इसका अर्थ संगृहीत करते हैं **पहले जैसे अव्याकृत-वाक्य द्वारा अज्ञातता बतायी वैसे 'अनेन' आदि वाक्य से ज्ञेय अर्थ की वह समाप्ति बता रहे हैं।।१८०।। 'इसी से यह सब जान लेता है'यों केवल आत्मज्ञान से सर्वज्ञता कही। आनन्द-समाप्ति (श्लो. १८७ से) आगे बतायेंगे।।१८१।।** पूर्व में विचार आया था कि वह सारा नाम-रूपात्मक जगत् पहले 'अव्याकृत' था जिसे समझाया था कि आत्मा अज्ञात है (श्लो ६८, ८३ आदि)। जैसे वह अज्ञातता कोई पारमार्थिक विवक्षित नहीं वैसे यहाँ जो बताया कि आत्म-ज्ञान से सर्वज्ञान हो जाता है उसका यह मतलब नहीं कि जैसे हम घट-मठ-पट आदि चीज़ें देखते हैं ऐसे परमेश्वर-साक्षात्कार से हम सारी चीज़ें जान जायेंगे, किसी की खोयी हुई भैंस का हमें पता लग जायेगा! यहाँ तात्पर्य है कि परमात्मा से अन्य कुछ है यह भ्रम मिट जाने से और कुछ ज्ञेय रह नहीं जायेगा। सत्य के ज्ञान का ही महत्त्व है, मिथ्या के बारे में जानकारी को कहीं महत्त्वपूर्ण ज्ञान नहीं माना

अन्यज्ञानेन नान्यस्य क्वचिदप्यवबुद्धता।
आत्मज्ञानेन सर्वस्य ज्ञानं कथम् उदीर्यते।।१८२।।

जाता। संसार मिथ्या होने से इसकी चीज़ों का ज्ञान वस्तुतः ज्ञान कहलाने ही लायक नहीं है। है ही एकमात्र परमात्मा अतः उसी के ज्ञान से सर्वज्ञता कही। सारे ब्रह्माण्ड की वास्तविकता परमात्मा है, वही सच्चिदानंदरूप से सर्वत्र अनुस्यूत उपलब्ध है। पाश्चात्य विचारकों ने द्रव्य और आकार ('मैटर' एवं 'फार्म') के भेद पर चिंतन किया ही है। तदनुसार सोचो तो भी द्रव्य वास्तविक और आकार काल्पनिक है। सोना द्रव्य है, गहना आकार है, सोना सत्य है, गहना कल्पित है। जानने लायक सोना है, गहना जानते तो हो लेकिन जानने के वह 'लायक' नहीं क्योंकि महत्त्वहीन है। व्यवहार तो गहने से ही चलेगा, अनघड़ सोने का लोंदा खरीदने-बेचने-रखने मात्र के तो काम का है, पहनने आदि किसी काम का नहीं। व्यवहार स्वयं अवास्तविक होने से उसके लिये वैसा ही आकार प्रधान है फिर भी महत्त्व सोने का ही है यह लोक में भी मान्य है। स्वर्णका ज्ञाता सही जानकार होता है, ऐसे ही सच्चिदानंद का ज्ञाता ही वास्तविक जानकार है। अव्यक्तावस्था में अज्ञान को जानने वाला, व्यक्तावस्था में अज्ञानकार्यों को जानने वाला, मोक्षावस्था में परमात्मा को जानने वाला एक ही है। जाग्रत् में जो है उसे हम देखते हैं, स्वप्न में जो नहीं है उसे देखते हैं, सुषुप्ति में कुछ देखते ही नहीं, कुछ न देखने वाले हम रहते हैं, पर तीनों में हम तो एकरस मौजूद ही हैं। इसी प्रकार अव्यक्त-व्यक्त-मुक्त तीनों वाला आत्मा एक ही है।

'ज्ञेय अर्थ की वह समाप्ति' अर्थात् जो यह विवक्षित था कि एकमात्र परमात्मा ही ज्ञेय है, जिसे समझाने के लिये कहा था कि वही अज्ञात है, उसी विवक्षित ज्ञेयता को यहाँ कहा है। वेद ने किस वाक्य से कहा? 'अनेन एतत् सर्वं वेद' इस वाक्य से कहा कि केवल आत्मज्ञान से सर्वज्ञता सम्पन्न हो जाती है जिसका अभिप्राय है कि आत्मा ही ज्ञेय अर्थ की समाप्ति अर्थात् पूर्णता, समग्रता है। वही आनंद की भी पूर्णता है इसे श्लोक १८७ आदि से बतायेंगे।।१८०-८१।।

एक-विज्ञान से सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा पर आक्षेप उठता है **एक वस्तु जानने से अन्य वस्तु समझ आ जाये यह कहीं नहीं देखा गया तो यह कैसे कहा जा रहा है कि आत्मा के ज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है?।।१८२।।** प्रश्न स्पष्ट है कि घड़ा जानने से कपड़ा समझ आये ऐसा नहीं होता तो आत्मज्ञान से सर्वका जिसमें अनात्मा भी आ जाता है ज्ञान होना कैसे संगत है? वस्तुतः विभिन्न विषयों में

सत्यम् एवं भवेद् एतद् यद्यात्माऽप्यन्य इष्यते।
आत्माऽसावन्य इति च नाऽनुन्मत्तस्य गीरियम्।।१८३।।

यह देखा गया है कि एक का ज्ञान दूसरे के बारे में कुछ नहीं प्रकाशित करता किंतु यही स्थिति वहाँ नहीं जहाँ एक विषय सत्य एवं बाकी विषय उस पर आरोपित हों। इस अंतर को बिना समझे यह प्रश्न उठा है।।१८२।।

उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं **उक्त नियम उक्त ढंग से लागू होता यदि आत्मा भी अन्य माना जाता परन्तु जो उन्माद-ग्रस्त नहीं वह ऐसा कह नहीं सकता कि यह आत्मा है, और अन्य भी है!।।१८३।।** एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान तो नहीं हो सकता लेकिन घट से पट की तरह आत्मा से अन्य तो कुछ है नहीं, आत्मा ही सर्वरूप है, इसलिये आत्मज्ञान से सर्वज्ञान ठीक ही कहा गया है। अध्यस्त चाहे जितने हों, अधिष्ठान के ज्ञान से ही सबका 'ज्ञान' गतार्थ है क्योंकि वास्तव में ज्ञान है ही अधिष्ठान का, अध्यस्तों के तो भ्रम ही हैं। जिसने रस्सी समझ ली उसने साँप की भी वास्तविकता जान ली, माला-जलधारा-भूछिद्र आदि सभी की वास्तविकता का ज्ञान पा लिया। यदि घट से पट की तरह रस्सी से अलग सर्पादि होते तब यह कहना नहीं बनता कि रस्सी के ज्ञान से सबका अर्थात् सबके यथार्थ का ज्ञान हो गया। चूँकि सर्पादि का भान वस्तुतः रस्सी का ही ग़लत भान है इसलिये रस्सी के स्वरूप की प्रमा होने से सभी कुछ अपने यथार्थरूप में जान लिया गया। अतः आत्मा क्योंकि किसी से 'अन्य' नहीं है इसलिये पूर्वोक्त प्रश्न उठता नहीं। आत्मा कहते ही स्वरूप को हैं, सबका स्वरूप सबसे एक ही होता है, अतः आत्मा सब से एक है। उन्माद-ग्रस्त अर्थात् नशे में धुत या पागल; वह तो बिना समझे शब्द-व्यवहार कर सकता है लेकिन समझदार यों नहीं बोला करते। वादी को सचेत कर रहे हैं कि आत्म-शब्द का अभिप्रेत अर्थ बिना समझे उसके ज्ञान से सर्वज्ञान को असंगत कहना अशोभनीय है।।१८३।।

श्रुति में अगला वाक्य है 'यथा ह वै पदेनानुविन्देद् एवं कीर्तिं श्लोकं विन्दते य एवं वेद'।।७।। अर्थात् जैसे पदचिह्नों से पशुआदि मिल जाते हैं वैसे ही आत्मलाभ से सर्वलाभ हो जाता है। आत्मा नाम-रूप में प्रवेश करने से ख्याति और प्राणादि संहति रूप श्लोक को प्राप्त हुआ उसी प्रकार जानकार को कीर्ति एवं मुक्ति मिलती है। इस श्रुति का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं **प्रत्यगात्मा की वास्तविकता का पूर्णतः ज्ञान होने पर जगत् की वास्तविकता समझ आ जाती है** **इस विषय में पद का (पैर या पैर**

प्रत्यक्तत्त्वे परिज्ञाते जगत्तत्त्वं प्रबुद्ध्यते।
इत्यत्र पददृष्टान्तो यथावत् स विविच्यते।।१८४।।
एकं पादं यथाऽश्वस्य दृष्ट्वाऽश्वत्वम् अशेषतः।
दृष्टवान् एव भवति 'दृष्टोऽश्व' इति वर्णनात्।।१८५।।
एवं स्वदेहमात्रस्थे साक्षितत्त्वेऽवलोकिते।
अशेषजगतस्तत्त्वं लभ्येतैव न संशयः।।१८६।।
आनन्दस्य समाप्तिर्या प्रत्यगात्मनि साऽधुना।
प्रदर्श्यतेऽनुभूत्याऽत्र स्पष्टं सार्वजनीनया।।१८७।।

की छाप का) उदाहरण है, जिसका यथार्थ विवेचन किया जा रहा है।।१८४।। जैसे घोड़े का एक पैर देखकर घोड़ा-पना पूरी तरह देखा हुआ ही हो जाता है क्योंकि 'घोड़ा दीख गया' ऐसा ही कहा जाता है, वैसे केवल अपने शरीर में स्थित साक्षिरूप तत्त्व का अवलोकन हो जाने पर सारे जगत् की सचाई प्राप्त होती ही है, इसमें संदेह नहीं।।१८५-६।। घोड़े के पदचिह्न के सहारे घोड़ा मिल जाता है इस तरह भी दृष्टांत युक्त है एवं कहीं घोड़ा झाड़ियों में छिपा हो तो उसका पैर ही दीखने पर 'घोड़ा दीख गया' व्यवहार होता है इस तरह भी दृष्टान्त संगत है। मनुष्य का भी मुख ही देखने से 'देवदत्त दीख गया' व्यवहार लोकसंमत है, सारा शरीर भीतर-बाहर से देखना पड़े यह कोई ज़रूरी नहीं समझता तथा असंभव भी है! इसी प्रकार आत्मदर्शन से सर्वदर्शन हो जाता है। सारे जगत् की वास्तविकता सच्चिदानन्द है, वही अपने शरीर में उपलब्ध साक्षी की वास्तविकता है अतः साक्षी को जान लिया तो सचमुच ही संसार की वास्तविकता को जान लिया। घोड़े के पैर और शरीर में फिर कुछ भेद भी है, पदचिह्न से घोड़ा मिलनाइस व्याख्या में पदचिह्न और घोड़े के ज्ञान में, भेद है भी; किन्तु साक्षी और जगद्-अधिष्ठान में किंचित् भी अंतर नहीं है अतः साक्षी समझना जगदधिष्ठान समझना ही है। वेदान्त-प्रक्रियाओं में बिम्बचैतन्य, शुद्धचैतन्य, अविद्या में पड़ा चिदाभासइन तीन तरह से साक्षी को प्रायः समझाया गया है। ईश-जीव में अनुगत मायोपाधिक चैतन्य साक्षी है ऐसा भी वर्णन है। सर्वथाऽपि जो साक्षी है वह अखण्ड एकरूप है अतः कहीं भी उसे जाना तो पूरा ही ज्ञान होता है।।१८४-६।।

श्लोक १८१ में प्रतिज्ञात विषय-वर्णन प्रारम्भ करते हैं **आनन्द की जो सम्-आप्ति (समग्रता, सम्पूर्णता) प्रत्यगात्मा कही थी उसे अब जनसामान्य के अनुभव के सहारे स्पष्ट कर दिखाया जाता है।।१८७।।** उपनिषत् की आठवीं

वित्तात् पुत्रः प्रियः पुत्रात् पिण्डः पिण्डात् तथेन्द्रियम्।
इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राणः आत्मा प्रियतमस्ततः।।१८८।।

कण्डिका के अर्थ का वर्णन प्रारंभ किया जा रहा है। इस प्रसंग में साफ किया गया है कि क्योंकि प्रत्यग्भूत आत्मा ही निरुपाधि निरतिशय प्रिय है इसलिये वही आनंद की आखिरी सीमा है, सम्पूर्ण आनंद वही है। आत्मा की प्रमाणसिद्धता के लिये उसकी अज्ञातता की तरह पुरुषार्थता भी ज़रूरी कही थी (श्लो १७६), उसी का अब उल्लेख आ रहा है कि परमानंदरूप होने से आत्मा ही परम पुरुषार्थ है।।१८७।।

अष्टम कण्डिका का प्रारंभ है 'तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्माद् अन्तरतरं यद् अयमात्मा।' अर्थात् पुत्र, धन इत्यादि सबसे आत्मा अधिक प्रिय है क्योंकि सर्वाधिक भीतरी है। इसका उपन्यास करते हैं **धन से अधिक प्रिय होता है पुत्र। पुत्र से अधिक अपना शरीर प्रिय होता है। उससे अधिक प्रिय इंद्रियाँ एवं उनसे अधिक प्रिय होते हैं प्राण! किंतु आत्मा प्राणों से भी अधिक प्रिय होने से प्रियतम है।।१८८।।** श्रुति में पुत्रादि का कथन विवक्षित क्रमानुसार नहीं यह सूचित करने के लिये बताया कि धन से पुत्र अधिक प्रिय है। धन से मानुष वित्त गाय-स्वर्ण आदि भी जानने चाहिये और दैववित्त उपासना भी जाननी चाहिये। देवलोक की प्राप्ति का साधन होने से उपासना दैव वित्त कही जाती है। दोनों वित्त प्रिय हैं क्योंकि सुख-प्राप्ति के उपाय हैं। आधुनिक काल में दैव वित्त से कम भी प्रेम होता है लेकिन मानुष वित्त से तो अत्यधिक प्रेम प्रत्यक्ष है। संभवतः कलिकाल की यह विडम्बना सूचित करने के लिये श्रुति ने पुत्र के बाद वित्त कहा हो! किंतु अभी भी प्रायः धन से अधिक प्रिय होता है पुत्र। पुत्र के सुख के लिये लोग धन व्यय कर देते हैं, पुत्र की शिक्षा आदि के लिये धन कमाकर खर्च करते हैं, पुत्र का अपहरण आदि हो जाये तो धन देकर उसे छुड़ाते हैं। अतः धन से पुत्र ज़्यादा प्रिय है। दैव वित्त अर्थात् उपासना में भी कटौती पुत्र के निमित्त देखी जाती है, पुत्र न होने तक उपासना में ज़्यादा समय दिया जाता है, पुत्र होने पर उसकी साक्षात् या परंपरा से सेवा के लिये समय लगने से उपासना में कम समय दिया जाता है। उपासनापूर्वक पुत्र के निमित्त प्रार्थना की जाती है अर्थात् उपासना से दैववित्त संचय न कर उतना व्यय पुत्रार्थ किया जाता है। इस तरह वित्त से पुत्र अधिक प्रिय स्पष्ट है। पुत्र से अधिक प्रिय अपना शरीर है। धन-पुत्र गौण आत्मा है पर शरीर मिथ्या-आत्मा है अतः उनसे अधिक इसमें तादात्म्य स्वाभाविक होने से उनसे यह ज़्यादा प्रिय है। कभी-कभी लोग अपने शरीर को पुत्र के लिये कष्ट देते

स्वात्मभोगस्य हेतुत्वात् प्राणादौ प्रीतिरिष्यते।
न स्वतोऽतो न सा मुख्या वेश्याप्रीतिर्यथा तथा।।१८९।।

दीखते हैं या शरीर के अवयव पुत्र को प्रदान करते दीखते हैं जिससे किसी को लग सकता है कि पिण्ड से पुत्र ज़्यादा प्रिय होगा, लेकिन ऐसा व्यवहार एक सीमा तक ही होता है अतः इस व्यवहार के पीछे भी पिण्डप्रेम ही हेतु है। कदाचित् प्रियता की भ्रान्ति भी ऐसा करा देती है, पिण्ड से ज़्यादा कुछ और प्रिय है ऐसा भ्रम होने पर उसके निमित्त देह का उत्सर्ग भी हो सकता है। अतः प्रकृत क्रम में पुत्रातिरिक्त सम्बंधी न कहे होने पर भी यद्यपि उनका उपलक्षण इष्ट है तथापि पिण्ड से अधिक पुत्र की तरह पत्नी आदि को भी प्रिय समझकर तदर्थ देहका नुकसान झेलने आदि की प्रवृत्ति समझ आ जाती है। हर हालत में, प्रायशः तो धन-पुत्र-पिण्ड यही प्रियता-वृद्धि का क्रम दीखता है। शरीर से ज़्यादा इंद्रियों से और उनसे भी ज़्यादा प्राणों से प्रेम होता है यह भी सर्वानुभवसिद्ध है। शरीर की हानि से इंद्रिय की कार्यकारिता कायम रह सके तो सभी लोग शारीरिक हानि सह लेंगे और प्राण-रक्षार्थ देह-इंद्रिय का नुकसान भी स्वीकार लेंगे। प्राणों से भी प्रिय आत्मा है, प्राण भी आत्मा के लिये चाहिये, अनात्मा के लिये नहीं! अतः जिसे हम स्वयं से सर्वथा अन्य समझें उसके प्राणों से हमें कोई सुख नहीं मिलता, जहाँ अपनत्व हो उसी के प्राण बचने से सुख होता है तथा निज के प्राणों से और अधिक प्रेम होता है। इसलिये प्राणों से ज़्यादा प्रिय निज स्वरूप है, आत्मतत्त्व है। श्रुति में 'प्रेयः' अर्थात् प्रियतर कहा है लेकिन वार्तिककार ने उसका अभिप्राय प्रियतम बताना माना है। दो में से एक कहने के लिये 'तर' का प्रयोग एवं अनेकों में से एक कहने के लिये 'तम' का प्रयोग व्याकरणादि-संमत है। अथवा हर कदम पर दो में से एक को ज़्यादा प्रिय कहा होने से 'तर' कहना भी उचित ही है।।१८८।।

प्राणादि प्रिय हैं, आत्मा अधिक प्रिय है यह मानकर व्याख्या की। अब समझाते हैं कि प्राणादि के प्रति प्रेम वास्तव में 'प्रेम' कहलाने योग्य नहीं क्योंकि अपने मतलब से ही होता है जबकि प्रेम उस वृत्ति को कहते हैं जो मतलब से न हो। **अपने आत्मा के भोग का हेतु होने से प्राणादि में प्रेम माना जाता है, खुद प्राणादि के लिये प्रेम नहीं हुआ करता। अतः जैसे वेश्या के प्रति आकर्षण वास्तविक प्रेम नहीं वैसे प्राणादि के प्रति होने वाली वृत्ति प्रेम-शब्द का मुख्य (वास्तविक) अर्थ नहीं है।।१८९।।** यह सत्य है कि धन, पुत्र, पिण्ड, प्राण आदि सब प्रिय हैं लेकिन हैं इसीलिये प्रिय कि उनका हमसे संबंध है। अन्यथा जहाँ-कहीं जिस-किसी के

प्रतीचि निर्निमित्तैव सर्वावस्थास्वपीष्यते।
प्रीतिरग्न्युष्णवत् तस्माद् मुख्याऽसाविति गम्यताम्।।१९०।।

धन-पुत्र-पिण्डादि से तो प्रेम होता नहीं! इसलिये धनादि से प्रेम अपने लिये है, हमें अच्छे लगते हैं, इसलिये उनसे प्रेम है। हमसे विपरीत हो जायें, हमें पसंद न रहें तो धन-पुत्र-पिण्डादि सभी त्याग दिये जाते हैं। अतः सिद्ध होता है कि उनसे जो प्रेम है वह निष्कारण नहीं, कारणविशेष से है। इसलिये उसे प्रेम कहना नहीं बनता। वेश्या के प्रति आकर्षण उसके रूप-लावण्यादि के निमित्त होता है, दुर्घटना-रोगादि से वह कुरूप अपाहिज आदि हो जाये तो उससे प्रेम समाप्त हो जाता है। ऐसी वृत्ति प्रेम नहीं कही जाती। पत्नी आदि से प्रेम इसीलिये कहा जाता है कि उसके रूप-लावण्य की समाप्ति आदि के पश्चात् भी उससे प्रेम बना रहता है। अथवा, वेश्या जो जारों के प्रति प्रदर्शित करती है वह प्रेम दृष्टान्त है। जब तक जार धन-यौवन सम्पन्न होता है तभी तक उसके प्रति वह प्रेम दिखाती है, धनादि समाप्त होने के बाद नहीं। वार्तिक में 'पण्यस्त्री-संगत' को अस्थिरता में उदाहृत किया ही है। वार्तिकसार में यहाँ 'ह्यात्मप्रीतिर्यथा तथा' (श्लो. ८९०) यों व्यतिरेकी दृष्टांत दिया है। वार्तिक में (१.४.१०३३) 'प्रीतिसाधनहेतुत्वात् प्राणादौ प्रीतिरिष्यते। बन्धकीप्रीतिवद्, मुख्या नैवाऽनात्मसु युज्यते।।' यों बन्धकी अर्थात् वारवनिता के प्रेम का ही उदाहरण है। प्रीति अर्थात् मानसिक प्रसन्नता का हेतु रहते ही प्राणादि प्रिय होते हैं, अन्यथा व्यक्ति प्राण-बंधन से छूटना चाहने लगता है जैसा वहीं वार्तिक है 'व्याध्याद्युपप्लुतो यस्माद् वक्ति निर्विण्णमानसः। अद्यैव मरणं श्रेयो मम दुःखार्दितात्मनः।।' इस तरह यही मान्य है कि प्राणादि सर्वत्र गौण प्रेम है, मुख्य प्रियता है ही आत्मा की। अतः 'प्रेय' का तात्पर्य है कि अन्यत्र गौण एवं आत्मा में ही मुख्य-प्रियता है।।१८९।।

बिना किसी प्रयोजन के हमेशा प्रिय होने से आत्मा ही प्रिय कहलाने के सचमुच योग्य है इसे व्यक्त करते हैं **क्योंकि सभी अवस्थाओं में बना रहता है इसलिये प्रत्यगात्मा के प्रति प्रेम बिना कारण है। जैसे आग में गर्मी स्वाभाविक है वैसे आत्मा की प्रियता स्वाभाविक है। अतः आत्मा के प्रति होने वाला ही मुख्य प्रेम है।।१९०।।** यहाँ यह अनुमान सूचित है : आत्मा बिना कारण प्रिय है, हर हालत में प्रिय होने से, जो हर हालत में बना रहे वह बिना कारण होता है जैसे आग़ की गर्मी आग स्वभाव से गर्म है, उसमें गर्मी किसी कारण से तो आती नहीं। अतः आग कैसी भी अवस्था में हो, उसमें गर्मी बनी रहती है। आत्मा भी हमेशा प्रिय है अतः उसकी प्रियता

सर्वान्तरतरत्वेन युज्यते निर्निमित्तता।
बाह्येषु सनिमित्तत्वं प्रीतेः स्पष्टं गवादिषु।।१६१।।

बिना कारण किं वा स्वाभाविक है। 'सभी अवस्था' अर्थात् बाल्यादि, जाग्रद् आदि, सुखी-दुःखी-मोही आदि जो कोई भी स्थिति हो उसमें आत्मा अर्थात् स्वयं अपने प्रति हमारे प्रेम में अंतर नहीं आता जो उस प्रेम को स्वाभाविक सिद्ध करता है। इससे निश्चय हो जाता है कि आत्मा आनंदरूप है।।१६०।।

सदा रहना जैसे एक हेतु है वैसे और भी हेतु है जिससे आत्मा की बिना कारण प्रियता है यह बताते हैं **भीतरी वस्तुओं में सर्वाधिक निकट होने से संगत है कि आत्मा के प्रति प्रेम बिना कारण हो। बाहरी गाय आदि वस्तुओं में प्रेम हेतु-विशेष से होता है यह सर्वानुभवसिद्ध है।।१६१।।** भीतरी अर्थात् हमें जिनसे भिन्नता कम प्रतीत होती है। साधारण दृष्टि से 'भीतरी' अर्थात् शरीर के भीतर होने वाली जो प्राण-इंद्रियाँ-मन-अविद्या हैं उनसे भी भीतर आत्मा है जैसा कोश-वर्णन आदि में प्रसिद्ध है। जिससे भेद ज़्यादा व्यक्त हो उतना वह बाहरी कहा जाता है, इस लोकसिद्ध रीति से आत्मा सर्वाधिक भीतरी है ऐसा कहना बनता है, न कि वास्तव में भीतर-बाहर का विभाजन मानकर। यहाँ यह अनुमान है आत्मा से प्रेम बिना हेतु के है क्योंकि आत्मा सबसे ज़्यादा भीतरी है, जो भीतरी नहीं होता उसी से प्रेम हेतुवश होता है जैसे गाय आदि से प्रेम इसीलिये होता है कि वह हमें दूध आदि देती है। बाह्य से प्रेम हेतुवश होता है इस तथ्य को याद रखना चाहिये। यदि हम गाय के ताज़े शुद्ध दूध को पीकर पुष्ट-स्वस्थ होते रहें तो उसके प्रति प्रेम होगा, गोसेवा स्वाभाविक-सी हो जायेगी। इससे विपरीत यदि हमें न ताज़े, न शुद्ध और न वास्तविक दूध की ही आवश्यकता रह गयी तो न गाय से प्रेम होगा और न उसकी सेवा के प्रति कोई सद्भाव जगेगा। जीवन में प्रतिदिन गाय का सम्पर्क रहे तभी गोसेवा को महत्त्व दें यह संभव है। गाय की धार्मिक महत्ता भी तभी समझ आये जब उसकी सेवा से हमें पुण्य होता है यह जँचे। पुण्य भी एक निमित्त है प्रीति का। यदि धर्म के प्रति भी संशय दृष्टि रहे, उपयोग भी भैंस-बकरी के समान हो जाये, तो गाय के प्रति प्रेम भी रहता नहीं यह प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः ग्रंथकार ने 'गवादिषु' लिखा जबकि आज का शहरी लेखक दृष्टांत देता तो संभवतः कुत्ते-बिल्ली का उल्लेख करता! आधुनिक नगर-वासी कुत्ते आदि पालते हैं उनसे प्रेम करते हैं, गाय के प्रति उनकी कोई प्रेम-भावना नहीं होती। कुत्ते से खेल लेते हैं, उसके साथ समय व्यतीत कर लेते हैं, कुछ सुरक्षा भी महसूस करते हैं अतः उनसे प्रेम करते हैं। इस तरह,

व्याध्याद्युपद्रुतो लोको मृतिमप्यभिवाञ्छति।
निर्निमित्तप्रियत्वे तु देहादेस्तद् न युज्यते।।१६२।।
अनात्मा प्रिय इत्येवं यो मुह्यति स पामरः।
विनाशित्वम् उदाहृत्य मूढं तं बोधयेद् बुधः।।१६३।।

बाहरी चीज़ों से प्रेम सनिमित्त होता है, निमित्त न रहे तो प्रेम भी नहीं रहता। आत्मा से प्रेम बिना निमित्त है अतः वह बाह्य नहीं हो सकता। जितना ज़्यादा भीतरी होगा उतना उससे प्रेम अधिक होगा। आत्मा से सर्वाधिक प्रेम है ही इसलिये कि वह सबसे ज़्यादा भीतरी है।।१६१।।

आत्मा से अन्यत्र प्रेम निमित्तवश ही होता है अतः चाहे जितना प्रिय हो, दुःखद होने पर अप्रिय हो जाता है यह दिखाते हैं **बीमारी आदि से परेशान व्यक्ति मरने की भी इच्छा कर लेता है। अगर शरीरादि से प्रेम निष्कारण होता तो यह संगत नहीं था कि कोई शरीर से वियोग चाहता।।१६२।।** बीमारी दुश्चिकित्स्य हो तो व्यक्ति चाहने लगता है कि मर जाये ताकि शरीरदुःख से वह स्वयं छूट जाये। साधारणतः जीवन-काल में लगता है मानो शरीर से प्रेम निष्कारण है परंतु ऐसा होता तो किसी हालत में यह इच्छा नहीं होती कि शरीर छूट जाये। इसी प्रकार अपना अहंकार हमें अतिप्रिय है लेकिन वह भी दुःखदायी हो जाये तो लोग नशा आदि करके उससे भी छूटना चाहते हैं। मृत्यु से भी अहंकार में आमूल परिवर्तन हो जाता है इसलिये अहंकार से परेशान होकर भी लोग मरने की इच्छा करते देखे जाते हैं। विचार करें तो रोज़ जो गहरी नींद में जाने की इच्छा है वही बता देती है कि अहंकार-पर्यन्त सभी से प्रेम आत्यंतिक नहीं है। नींद में धन-पुत्र-पिंड-मन आदि सभी तो छूट जाते हैं! यदि उनसे स्थायी प्रेम होता तो नींद की इच्छा ही न होती! इसलिये उपाधियों से प्रेम सकारण ही है यह निश्चित है।।१६२।।

आगे श्रुति वाक्य है 'स योऽन्यम् आत्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् - प्रियं रोत्स्यतीति। ईश्वरो ह, तथैव स्यात्' अर्थात् आत्मा से अन्य को प्रिय बताने वाले से आत्मप्रियवादी कहे 'तुम्हारा वह प्रिय नष्ट हो जायेगा।' क्योंकि वह यों कहने में समर्थ है इसलिये ऐसा ही होता भी है। इसे समझाते हैं **'अनात्मा प्रिय है' ऐसा जिसे मोह (विपरीत निश्चय) है वह पामर (अज्ञ) है। आत्मज्ञ को चाहिये कि अनात्मा की नश्वरता का उल्लेख कर उस मूर्ख को वास्तविकता समझाये।।१६३।।** साधारण लोग पत्नी-पुत्र आदि ग़ैर-मैं (अनात्मा) को ही प्रिय कहते-समझते हैं। कुछ दार्शनिकंमन्य भी ऐसा मानते हैं कि भगवान् से प्रेम तभी रहेगा जब भगवान् ग़ैर-मैं हों! अर्थात् वे भी

अनात्मा भोगकालेऽस्य सुखं यावत् प्रयच्छति ।
तत्सहस्रगुणं दुःखं नाशकाले प्रयच्छति ।।१६४ ।।

अनात्मा ही प्रिय होता है ऐसा समझते हैं। आचार्य ऐसे सभी को पामर कह रहे हैं। घृणास्पद को पामर कहा जाता है। अत्यन्त बदतमीज़ से भी शिष्टों को घृणा होती है। परब्रह्म परमात्मा स्वयं प्रत्यग्रूप से उपस्थित रहते जो अप्रत्यक् को प्रिय कहे वह अतिबदतमीज़ है ही अतः पामर है। अथवा अत्यंत अज्ञानी भी पामर है। अज्ञानवश ही मोह अर्थात् ग़लत निश्चय होता है। असत् को सत् समझना, अशुद्ध को शुद्ध समझना, अनात्मा को मैं समझना एवं महान् दुःख को भी सुख मान बैठना यह अविद्याविलास प्रसिद्ध है। ऐसे पामर को प्रबोधित करने के लिये शास्त्रनिर्देश है। पंचदशी में (१२. ६३-६८) इस श्रुति का व्याख्यान किया गया है। आचार्य जब शिष्य को समझाता है कि जिस अनात्मा को वह प्रिय समझ रहा है वह अनित्य होने से वास्तव में दुःख का ही हेतु है, तब शिष्य इस विषय-अनित्यता को समझने का प्रयास करता है। पंचदशी-टीकाकार ने 'रोत्स्यति रोदयिष्यति' ऐसी व्याख्या की है। अनात्मा प्रिय होगा तो दुःख देकर रुलायेगा ही, यह भाव है। पुत्र से प्रेम हो तो जब तक वह गर्भ में न आये तब तक क्लेश रहता है कि न जाने पुत्र होगा या नहीं; गर्भ में आ गया तो भी चिन्ता लगी रहती है कि गर्भ टिकेगा या नहीं; प्रसव के समय तो माता को क्लेश देता ही है; फिर रोग दुर्व्यसन आदि से दुःख देता रहता है और मर गया तब तो दुःख का क्या ठिकाना! इस प्रकार विचारकर शिष्य अनात्मा से प्रेम हटा सकता है। पंचदशीकार ने माना है कि यदि कोई वादी हठ करे कि अनात्मा ही प्रिय होता है, तो जो विद्वान् का 'प्रियंत्वा रोत्स्यति' वाक्य है वह शाप का काम करता है : अनात्मभूत प्रिय, सद्गति के द्वारों का रोधक हो जायेगा यह उस वाक्य का तात्पर्य निकलता है। ईश्वराभिन्न होने से तत्त्वज्ञ का वचन सफल ही होगा अतः वादी को नरक और अनेक जन्मों तक दुःख भोगना पड़ेगा। तात्पर्य है कि तत्त्ववेत्ता से वादी को भी हठ नहीं करना चाहिये, समझने का प्रयास करना चाहिये।।१६३।।

अनात्मा की निश्चित दुःखदता व्यक्त करते हैं **भोग के समय अनात्मा भोक्ता को जितना सुख देता है, नाश के समय वह उससे हज़ार गुणा अधिक दुःख प्रदान करता है।।१६४।।** अनात्मा का भोग तो अवश्यम्भावी है, उससे प्रेम करना-न करना हमारे हाथ में है। प्रेम किया तो वह दुःख का हेतु बनेगा ही। अनात्मा से मिलने वाला सुख कम और दुःख ज़्यादा होता है। दाल का सीरा (हलुवा) खाने पर सुख होता है लेकिन बढ़िया सीरा बनाने में कम-से-कम तीन घंटे का परिश्रम लगता है और उसे

'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी'।
व्युत्थाप्य विषयेभ्यस्तां प्रतीच्येव निवेशयेत्।।१६५।।
विषया इव न प्रत्यक् कदाचिदपि नश्यति।
अतो दुःखप्रदत्वं तु शङ्कितुं न च शक्यते।।१६६।।

खाने में मुश्किल से आधा घंटा भी नहीं लगता! उसके बाद सुख तो ख़त्म हो जाता है, संस्कार पड़कर आगे के लिये दुःख तैयार हो जाता है : स्वतंत्रता आने के पश्चात् धीरे-धीरे हालत यह हो गयी है कि शुद्ध गाय ही नहीं रही तो शुद्ध घी कहाँ मिले और बिना बढ़िया ताज़े घी के सीरे में स्वाद कैसे आये! जिन्होंने अच्छा घी चखकर उसका मज़ा लिया उन्हें यह स्थायी परेशानी भी झेलनी पड़ेगी कि आजकल घी नहीं मिलता। इस दुःख में हेतु पूर्व भोग से पड़े संस्कार ही हैं। अतः कहा कि भोग से सुख की अपेक्षा, मिटकर दुःख हज़ार गुणा देना यह अनात्मा का स्वभाव है।।१६४।।

अतः श्रुति ने निर्देश दिया 'आत्मानम् एव प्रियम् उपासीत' अर्थात् आत्मा को ही प्रिय समझना उचित है। इसका भाव स्पष्ट करते हैं **अज्ञानियों का जो विषयों में कभी न हटने वाला प्रेम है उसे विषयों से हटाकर प्रत्यगात्मा में ही लगाना चाहिये** ।।१६५।। ('व्युत्थाय' ऐसा अनुभूति प्रकाश-पुस्तकों में प्रायः छपा है पर वार्तिकसारानुसार मुत्तुकृष्णशास्त्री ने 'व्युत्थाप्य' यह सही पाठ छापा है। 'व्युत्थाय' ही पाठ मानें तो अर्थ है कि अधिकारी स्वयं विषयप्रीति से व्युत्थान करे और 'तां' प्रीति को प्रत्यगात्मा में लगावे। अभिप्राय एक ही है किंतु 'तां व्युत्थाप्य निवेशयेत्' यों अन्वय लघुभूत पड़ता है।) विष्णुपुराण १.२०.१६ में 'या प्रीतिः' आदि इसी प्रथमार्ध के बाद उत्तरार्ध है 'त्वाम् अनुस्मरतः सा मे हृदयाद् माऽपसर्पतु' अर्थात् भगवान् का अनुस्मरण करने वाले मुझ भक्त के हृदय से वह प्रेम न हटे। प्रह्लाद-विष्णु संवाद में यह वचन है। तात्पर्य है कि वैषयिकों के विषयप्रेम की तरह भक्त का परमात्मा में स्थिर प्रेम रहे। प्रेम कोई नया नहीं चाहिये, उसे अभी हम विषयों पर उडेल रहे हैं, वहाँ व्यर्थ न गँवाकर प्रत्यग्रूप परमात्मा पर ही अर्पित करें तो सनातन आनंद मिल जायेगा।।१६५।।

श्रुति ने सामान्यतः सभी प्रियों को दुःखद कहा तो आत्मा भी प्रिय होकर दुःख क्यों नहीं देगा? इसका उत्तर देते हैं **विषयों की तरह प्रत्यगात्मा कभी भी नष्ट नहीं होता इसलिये यह शंका भी नहीं की जा सकती कि वह दुःखदायी होगा।।१६६।।** दुनिया की सभी चीज़ें नश्वर होने से उनसे प्रेम करने पर वे नष्ट होकर दुःख देंगी लेकिन प्रत्यग्रूप आत्मा स्वरूप से नित्य है अतः नष्ट होता ही नहीं कि उसका वियोग हो सके

जिससे दुःख की संभावना हो अतः उसे प्रिय समझने का विधान संगत है। 'न नश्यति' कहा क्योंकि नाश का प्रधान अर्थ है न दीखना। वस्तु का दर्शन न होना ही उसका नाश है। विषयों का दर्शन अर्थात् प्रतीति तो सदा रह नहीं सकती, घट की प्रतीति के बाद जैसे ही पट देखा वैसे ही घट-प्रतीति बंद हो जाती है। परन्तु जिसे सब प्रतीतियाँ हो रही हैं वह मैं तो लगातार एक-सा भासमान रहता ही हूँ। अतः दर्शनस्वरूप होने से इसका अदर्शन कभी नहीं होता। विषय-दर्शन तो निर्भर करता है विषय-विषयी के संबंध पर लेकिन प्रत्यगात्मा का भान किसी संबंधादि पर निर्भर न करने से सनातन है। सर्वथा नाश-रहित होने से आत्मा कभी दुःख नहीं दे सकता। आत्मा से भिन्न वस्तु ही रुलायेगी, आत्मा कभी रुला नहीं सकता। यदि परमेश्वर के भी सोपाधिक, सविशेष, साकार रूप से प्रेम करेंगे तो रोना पड़ेगा! राधा के सामने से भगवान् लुप्त हुए, नारद को दर्शन देकर भगवान् लुप्त हुए, और भी अनेक भक्तों को दर्शन देकर जब अन्तर्धान हुए तब राधा नारद आदि सभी भक्त दुःखी हुए, रोये। अतः यहाँ केवल आत्मा से प्रेम करने को कहा, उसकी उपाधियों से नहीं। आत्मा दर्शन करने वाला है, उसके कारण ही अन्य चीज़ें दीखती, ज्ञात होती हैं। जैसे प्रकाश देखे बगैर हम रूप नहीं देख सकते ऐसे आत्मा का भान न हो और विषयज्ञान हो जाये यह संभव नहीं। परमात्मा क्योंकि प्रत्यक्स्वरूप है इसीलिये उससे वास्तविक विरह संभव नहीं। परमेश्वर को स्वयं से भिन्न समझने पर उसे परिच्छिन्न, विषय आदि मानकर उससे हमें विरह प्रतीत होता है। इसीलिये केवल आत्मा को प्रिय समझने का निर्देश देकर श्रुति ने स्पष्ट फल कहा 'स य आत्मानम् एव प्रियम् उपास्ते न ह अस्य प्रियम् प्रमायुकं भवति।।' आत्मानम् एव अर्थात् सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त आत्मा के प्रेमी का प्रिय 'प्रमायुक' अर्थात् मरणशील नहीं है। इस श्रुति वाक्य का ही प्रकृत श्लोक में तात्पर्य प्रदर्शित किया है।।१९६।।

आत्मा ही वस्तुतः प्रेमयोग्य है यह समझाकर उस आत्मा की पूर्णता समझाना शुरू करते हुए उपनिषत् में वाक्य है 'तदाहुः यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते; किमु तद् ब्रह्म अवेद्, यस्मात् तत् सर्वम् अभवत्?' (१.४.९) अर्थात् जिज्ञासुओं का प्रश्न है कि लोग मानते हैं कि ब्रह्मविद्या से हम सर्वरूप हो जायेंगे, लेकिन उस ब्रह्म ने क्या जाना जिससे वह सर्वरूप हो गया? तात्पर्य है कि यदि उसने कुछ जाने बिना सर्वरूपता पायी तो हम भी वैसे क्यों न पा लें और यदि उसने किसी को जानकर पायी तो उस दूसरे ने क्या जानकर पायी यों अनवस्थावश ब्रह्म की ही सर्वरूपता असिद्ध हो जायेगी। इस प्रश्न को उठाकर श्रुति ने आत्मबोध का वर्णन किया है। यहाँ भी

आत्मबोधः

सूत्रार्थज्ञमनुष्याणां मतिं विज्ञाय केचन।
मुमुक्षवो गुरुं प्राप्य चोदयन्त्यतिसम्भ्रमात्।।१६७।।
यद् ब्रह्मविद्यया सर्वभावाप्तिं मन्वते नराः।
तद् ब्रह्म किं विदित्वाऽभूत् सर्वम् इत्येतद् ईर्यताम्।।१६८।।
एवं मुमुक्षुभिश्चोद्ये कृते करुणया गुरुः।
अनायासेन तच्चोद्यं परिहर्तुं वचोऽब्रवीत्।।१६६।।
ब्रह्मैव बोधात् प्राग् जीवो भूत्वाऽऽत्मानम् अवेत् पुनः।
अहं ब्रह्मेति तद्बोधात् सर्वात्मकमभूत् तदा।।२००।।

पहले प्रश्न रखते हैं **विद्यासूत्र के अभिप्राय के जानकार मनुष्यों की भावना समझकर कुछ मोक्षेच्छु गुरु के पास जाकर अति-आश्चर्य से पूछते हैं 'लोग जिस ब्रह्म के ज्ञान से मानते हैं कि सर्वभाव मिल जाता है, वह ब्रह्म क्या जानकर सब कुछ हुआ? यह बताइये।'** ।१६७-८।। 'आत्मेत्येवोपासीत' यह विद्यासूत्र था जिसका श्लो. १४३ में उल्लेख आया था। उसका अभिप्राय परमेश्वर ही है जिसको जानने वालों की भावना है कि ब्रह्मज्ञान से सर्वरूपता प्राप्त होती है। आत्मज्ञता से सर्वज्ञता का कथन इसीलिये है कि सर्वरूपता सिद्ध हो जाने पर ज्ञरूप आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है। इस भाव को समझकर यहाँ प्रश्न है अर्थात् शास्त्रश्रद्धालुओं की जिज्ञासा है। इसका उद्देश्य यह स्थिर करना है कि ब्रह्म की सर्वरूपता कैसी है? जन्य हो तो अस्थायी होगी, नित्य हो तो दूसरों को दुष्प्राप होगी। असर्व यदि सर्व बने तो सर्वता अनित्य होगी ही और बिना बने ही सर्व हुआ जा सके तो असर्व जीव कभी सर्व हो ही नहीं सकेगा। इस प्रकार आत्मज्ञान से मोक्ष के बारे में ही यह विचार है।।१६७-८।।

उक्त प्रश्न के उत्तर में श्रुति ने कहा है 'ब्रह्म वा इदम् अग्र आसीत् तद् आत्मानम् एव अवेद् - अहं ब्रह्मास्मीति, तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्।' (१.४.१०) अर्थात् जिसके बारे में पूछा जा रहा है वह ब्रह्म पहले भी ब्रह्म ही था, उसने खुद को ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ' उस जानने से ही वह सर्वरूप हुआ। इसी की व्याख्या से पूछे सवाल का जवाब देते हैं **मोक्षेच्छुकों द्वारा यों प्रश्न करने पर करुणा से गुरु ने बिना प्रयास उस शंका के समाधानार्थ ये वचन कहे : ।।१६६।। ज्ञान से पूर्व भी यह जीव ब्रह्म ही था। उस आत्मा ने स्वयं को जब 'मैं ब्रह्म हूँ' जाना तब वह उस ज्ञान से सर्व हो गया।।२००।।** मुमुक्षु के प्रति गुरु में स्वाभाविक करुणा होती है। बिना मुमुक्षा के

कोई पूछे तब तो उपेक्षाभाव हो भी सकता है लेकिन मोक्ष की चाह वाले की उपेक्षा गुरु से नहीं होती। ब्रह्मवेत्ता का उपदेश-व्यवहार करुणा से ही होता है, हेत्वन्तर से नहीं। उन्हें आत्मसंबंधी बोध इतना सुस्पष्ट होता है कि उस बारे में चाहे जैसी शंका हो वे बिना किसी आयास या श्रम के उसका परिहार कर देते हैं। उन्होंने जवाब दिया संसार चक्र में पड़ा हुआ और उससे निकला हुआ यों दो ब्रह्म नहीं हैं! शैवों ने भी मोक्ष में जीव-शिव की एकता मानी लेकिन फिर भी उनमें यह भेद स्वीकारा कि शिव तो आदिमुक्त या नित्यमुक्त है और जीव साधना से मुक्त होता है। जैसे जो न्यास (ट्रस्ट) स्थापित करता है वह तो उसका सदस्य स्वयं बन सकता है जबकि औरों को सदस्य वह बनाता है। सदस्य तो सभी हैं पर एक स्वयं बना और दूसरे बनाये गये हैं। ऐसे ही एक स्वयं शिव है, बाकी मोक्ष में ही शिव हैं। किन्तु औपनिषदों का ऐसा मानना नहीं। हमारा मन्तव्य है कि शिव-जीव में वास्तव में कोई अंतर नहीं। ब्रह्म ही जीवरूप से प्रविष्ट हुआ, वही अपने ब्रह्मरूप को जानता है। ज्ञान से पूर्व ब्रह्म ही जीव हुआ और उसने अपने आप को जाना। जानने से पहले तक संसरण करने वाला भी है ब्रह्म ही और जानकर मुक्त होने वाला भी है ब्रह्म ही। श्लोक के 'पुनः' का अर्थ 'फिर से' नहीं वरन् 'जब' है। मेदिनी कोष में पुनः का एक अर्थ 'पक्षांतर' कहा है। उसी भाव से यहाँ प्रयोग है अतः मूलकार ने 'तदा' तो लिखा, 'यदा' नहीं लिखा क्योंकि पुनः से यदा का अर्थ प्रकट हो जाता है। 'फिर से' इसलिये अर्थ नहीं कि ज्ञान होने के बाद फिर अज्ञान हो नहीं सकता कि उसकी निवृत्ति के लिये फिर से ज्ञान उत्पन्न होवे। अज्ञान अनादि है, हमेशा से है जैसे हमारा जर्मन भाषा का अज्ञान हमेशा से है। हम जर्मन कब से नहीं जानते? हमेशा से नहीं जानते। ज्ञान कब हुआ यह तो कहा जा सकता है पर अज्ञान कब हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म ने जैसे ही स्वयं को ब्रह्म जाना, वह सर्वरूप 'हो गया'; था वह हमेशा ही सर्वरूप, जाना नहीं था अतः परिच्छेद का भ्रम था, जानने से भ्रम दूर हो गया। सारा प्रपंच-विस्तार उसका खुद का था, किसी और उपादान से तो कुछ बनाया था नहीं, अतः खुद के ज्ञान से ही सर्वरूपता हासिल हो गयी।।१९९-२००।।

जानने वाला जिसे जानता है उससे अलग होता है यह लोकसिद्ध है अतः जानने वाले जीव और जिसे जाना उस ब्रह्म में कोई अंतर होना चाहिये। इस व्यवस्था को उपपन्न करते हुए पूर्वोक्त प्रतिज्ञा का विस्तार करते हैं **उपाधियुक्त आत्मा ने उस आत्मा को जाना जो उपाधि से असंबद्ध है। इस तरह ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का अन्तर कायम रह जाने से 'आत्मा ने स्वयं को जाना' इस बात में थोड़ा भी दोष नहीं**

अवेत् सोपाधिरात्माऽयम् आत्मानं निरुपाधिकम्।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदाद् न दोषोऽत्र मनागपि।।२०१।।
अविविक्तस्तु देहाद्यैरात्मा भवति वेदिता।
विविक्तात्मा वेदितव्यो धीवृत्तिर्वेदनं भवेत्।।२०२।।

है।।२०१।। उपाधि अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर, इनसे युक्त अर्थात् तादात्म्याध्यास वाला आत्मा अर्थात् जीव। उसने जाना स्वयं को, आत्मा को ही लेकिन यों कि वह सभी उपाधियों से सर्वथा असम्बद्ध है। काँच में अपना ही मुख दीखता हैइसमें कोई विरोध नहीं क्योंकि देखने वाला ग्रीवास्थ मुख और दीखने वाला दर्पणस्थ मुख, यों एक ही मुख में दर्पणरूप उपाधि के सम्बंध-असंबंध से द्रष्टा-दृश्यभाव संगत हो जाता है। ऐसे ही उपाधि में प्रविष्ट चेतन जान रहा है उसे जो उपाधि से बाहर है। जैसे प्रतिबिंब में दीखने वाला वास्तव में ग्रीवास्थ मुख ही है वैसे जीव जिसे देखता है वह वस्तुतः निरुपाधि ब्रह्म ही है। जीव देखता है यह वैसे ही है जैसे बच्चे को लगता है कि 'प्रतिबिम्ब मुझे घूर रहा है'। सोपाधिक आत्मा जीव है, निरुपाधि आत्मा ब्रह्म है। द्रष्टा-दृश्य में अंतर भले ही चाहिये हो, वह अंतर वास्तविक होना आवश्यक नहीं, काल्पनिक अंतर से भी यह व्यवहार चल जाता है जैसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब का। प्रतिबिंब में दीखता है कि मुँह पर दाग है तो बिम्ब खुद पर से दाग पौंछ देता है। इसी तरह ब्रह्म देखता है कि जीवरूप में अज्ञानादि दोष हैं तो खुद उन्हें दूर कर देता है।।२०१।।

ब्रह्म ने स्वयं को जाना तो एक जानने वाला, एक जिसे जाना वह और एक जानना ये तीन होने चाहिये अतः इन तीनों का प्रदर्शन करते हैं **शरीरादि से एक-मेक हुआ आत्मा तो जानने वाला है, शरीरादि से अलग समझा आत्मा वह है जिसे जानता है और बुद्धि की वृत्ति 'जानना' है।।२०२।।** 'शरीरादि' में 'आदि'-से अहंकार-पर्यन्त समझना चाहिये। जीव की उपाधिरूप से अभिमत जो कुछ भी, उससे पृथक् न समझा आत्मा अर्थात् जीव ही ज्ञाता है। ज्ञेय है आत्मा का वह सच्चिदानन्द परिपूर्ण स्वरूप जिसका उपाधि से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। वस्तु एक ही है। जैसे मुख एक ही है, वही बिम्ब भी है, वही प्रतिबिम्ब भी है, वैसे आत्मा एक ही है। इसीलिये शास्त्र में जहाँ आता है कि ईश्वर जीव का उद्धार कर देता है, वहाँ भी यही न्याय है; ऐसा नहीं कि जीव से सर्वथा अन्य कोई ईश्वर हो जो उद्धार करे। जो अविविक्त है उसी का विवेक करके उसका निरुपाधिक स्वरूप समझना है। ज्ञान अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध होता है वह है बुद्धि की अखण्डाकार वृत्ति। आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान तो अनादि-अनंत

अविद्यारूपनिह्नुत्यै तद् आत्मानम् अवेद् इति।
आत्माऽभिमुखधीवृत्तिरात्मवेदनम् उच्यते।।२०३।।

है, अविद्या का अधिष्ठान है न कि निवर्त्तक। अविद्यानिवृत्ति का हेतु बनने वाला है उक्त वृत्ति से निरूपित ज्ञान। अकेली वृत्ति यद्यपि ज्ञान नहीं तथापि क्योंकि प्रमाणजन्य बुद्धिवृत्ति ज्ञान को निरूपित करती हुई ही बनती है इसलिये उसे ज्ञान कहा जाता है। जैसे कहते हैं कि घड़े में पानी भरा जाता है। पानी तो घड़े में जो जगह है उसमें भरा जाता है! फिर भी क्योंकि घड़ा बनते हुए ही अपने में जगह घेरे रहता है इसलिये कह दिया जाता है कि घड़े में पानी भरा जाता है। आगन्तुक कारण वृत्ति होने से उसी में कारण - ऐसा व्यवहार हो जाता है। वह वृत्ति ही यहाँ ज्ञान कही गयी है।।२०२।।

बुद्धिवृत्ति का कृत्य दिखाते हैं **अविद्यारूप आरोप के बाध के लिये ब्रह्म ने आत्मा को जाना अतः आत्मा को विषय करती बुद्धिवृत्ति आत्मज्ञान कही जाती है।।२०३।।** श्रुति ने सृष्टि का वर्णन ऐसा ही किया कि प्रकट होने से पूर्व सब ब्रह्म था जिसने आत्मस्वरूप को जाना तो वह सर्वरूप हो गया; इससे समझ आता है कि नाम-रूप विभाजनात्मक सृष्टि अविद्या से हुआ विवर्त्त है क्योंकि अन्यथा कोई तरीका नहीं कि सर्वविशेषशून्य एक अद्वितीय तत्त्व से यह सारी विशेषों में बँटी द्वैतात्मक सृष्टि हो सके। अतः आत्मा अविद्या से शरीरादि सब कल्पित कर उनसे तादात्म्य सम्बंध भी कल्पित कर लेता है। यह आरोप हटता भी एकमात्र उपाय ज्ञान से है, आत्मा की सचाई जानने से ही अविद्या दूर होती है। आत्मा की वास्तविकता का ज्ञान जिस बुद्धिव्यापार से होता है उसी को आत्मज्ञान कहते हैं। आत्मा उस वृत्ति का विषय बन जाता है यह इसलिये कहा जाता है कि वृत्ति द्वारा वही अज्ञान हटता देखा गया है जो वृत्ति-विषय का आवरक हो, ऐसा नहीं कि जो वृत्तिविषय नहीं उसका निरावरण वृत्ति कर दे, घटविषयक वृत्ति पटावरणनिवर्तक नहीं देखी जाती। आत्मावरण निवृत्त होता है अतः उसे वृत्ति-विषय भी कहा जाता है। किंतु घटादि की तरह आत्मा में कोई विषयता आती हो, ऐसा नहीं। जहाँ भाष्य में 'अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्' कहा है अर्थात् मैं-अनुभव में आत्मस्फुरण बताया है वहाँ प्रकटार्थ-कार ने व्याख्या की है 'स्वरूपेण अविषयत्वेऽपि अध्यस्ताहं-कर्तृत्वादिविशिष्टरूपेण विषयो भवति, अधिष्ठानत्वयोग्यो भवति इत्यर्थः' (पृ. २२ म.अ. सं.)। इसी रीति से समझ सकते हैं कि वृत्तिविषयता के व्यवहार के योग्य बनने से उसे वृत्तिविषय कहा जाता है। अतएव वाचस्पति शुद्ध ब्रह्म को वृत्तिविषय नहीं मानते किंतु उसका यह तो मतलब नहीं कि वे शुद्धब्रह्म का ज्ञान ही न मानते हों क्योंकि तब तो

आत्मानमेव तद् अवेद् इत्युक्ताद् एवकारतः ।
निर्माल्यवत् परित्याज्यं देहादीत्यवगम्यते । ।२०४ । ।
त्यज्यमाने तु देहादावात्मैवैकोऽवशिष्यते ।
परित्यक्तुम् अशक्यत्वाद् आत्मानं निह्नुतेऽत्र कः । ।२०५ । ।

अखण्डसाक्षात्कार के कोई मायने नहीं रहेंगे। इसलिये वृत्ति का वास्तविक विषय नहीं बनता, वृत्तिविषय बनने पर जैसे अविद्यानिवृत्ति होती है वैसे अविद्यानिवृत्ति होने के कारण वृत्तिविषय बना कहा जाता है यही तात्पर्य है। इस वेदन का, वृत्ति का प्रयोजन अविद्यारूप आवरण को मिटाना ही है। जड वस्तुओं को जब जानते हैं तब उन वस्तुओं से परिसीमित आत्मा का आवरण दूर होकर वृत्ति में गृहीत प्रकाश से जड वस्तुओं का स्फुरण होता है किन्तु चेतन स्वयं ज्ञानस्वरूप है अतः आवरण मिटना ही पर्याप्त है, वृत्ति-से सीमित प्रकाश से कोई स्फुरण नहीं चाहिये। इसी से कहा जाता है कि आत्मा में वृत्तिव्याप्ति होती है, फलव्याप्ति नहीं। फल अर्थात् वृत्ति में ग्रहण किया ज्ञान, उसकी व्याप्ति अर्थात् विषयता। सेव घड़े से ढका हो तो उसे देखने के लिये घड़ा हटाना तथा रोशनी डालना दो काम करने पड़ते हैं पर जलता दिया ढका हो तो केवल घड़ा हटाना पड़ता है, रोशनी नहीं डालनी पड़ती क्योंकि दिया खुद प्रकाशरूप है। ऐसे ही अनात्मज्ञान में फलव्याप्ति चाहिये, आत्मज्ञान में नहीं। इसमें केवल बुद्धिवृत्ति का उपयोग है। ।२०३ । ।

आत्मज्ञान में ज्ञाता आदि की व्यवस्था बतायी। अब विचार्यमाण 'आत्मानम् एव अवेत्' वाक्य में आये एवकार का अभिप्राय व्यक्त करते हैं **'उसने आत्मा को ही जाना' इस वाक्य में कहे 'ही' शब्द से समझा जाता है कि देहादि को वैसे ही छोड़ देना चाहिये जैसे निर्माल्य छोड़ा जाता है। ।२०४ । । देहादि छोड़ने पर एक आत्मा ही बचता है क्योंकि उसे छोड़ा जा ही नहीं सकता। स्वयं का निषेध कौन करता है! । ।२०५ । ।** 'ही' अर्थात् आत्मातिरिक्त को छोड़कर। देहादि जो कुछ अनात्मा है उसे हटाकर अकेले आत्मा का ज्ञान विवक्षित है। 'छोड़ना' भी स्थूलतः तो हो नहीं सकता क्योंकि आत्मा व्यापक है, उससे कुछ दूर किया नहीं जा सकता, अतः विवेक से यह निश्चय करना विवक्षित है कि शरीरादि आत्मा नहीं हैं। दृष्टांत दिया निर्माल्य का : पूजनादि के अनन्तर दर्शनीय रूप से उपलब्ध रहते जो पुष्पादि शृंगार मूर्ति आदि पर रहता है वही शयन काल में मूर्ति से हटाया जाता है जो निर्माल्य कहलाता है। इसी प्रकार अध्यारोप में जो कुछ कल्पित हुआ उसका अपवाद करने पर ही पुनः स्वरूपदर्शन

अहं ब्रह्माऽस्मि नो जीव इत्यवेद् ब्रह्मरूपताम्।
शोधितस्याऽहमर्थस्य युज्यते ब्रह्मरूपता।।२०६।।

होगा। अज्ञानकार्य जगत् परमात्मा पर किया शृंगार है। इसे हटाना ही पदार्थ-शोधन है। शरीर से अहंकार पर्यंत उपाधियाँ हटाने से त्वमर्थ का और विराट् से कारणपर्यंत उपाधियाँ हटाने से तदर्थ का शोधन सम्पन्न हो जाता है। क्या-क्या हटाया जाये? जो कुछ हटाया जा सके, सभी हटाना पड़ेगा। जो हटाया जा ही न सके, वही परमात्मस्वरूप है। जैसे मूर्ति से अतिरिक्त सभी शृंगार हटाकर शयन कराते हैं, मूर्ति तो प्रतिष्ठित होने से हटायी नहीं जा सकती, ऐसे सभी उपाधियाँ हटानी हैं, उन्हें हटाने वाला जो प्रत्यक्स्वरूप वही आत्मा है जो विज्ञेय है। इसे समझाने के लिये दक्षिण में चिदम्बर में 'आकाश लिंग' का दर्शन कराते हैं, नृत्य करती नटराज मूर्ति के बगल में एक झरोखा-सा है, पर्दा हटाकर कहते हैं 'दर्शन करो।' वहाँ दीखे ऐसा कुछ नहीं! केवल खाली जगह, आकाश है। नाम-रूप हटने पर जो रहे वही परमेश्वर है यह बताने में तात्पर्य है।।२०४-२०५।।

आगे श्रुतिवचन है 'अहं ब्रह्मास्मीति' अर्थात् उसने आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। इसे समझाते हैं **'मैं जीव नहीं ब्रह्म हूँ' यों उसने आत्मा की ब्रह्मरूपता समझी। अहम्पदार्थ का शोधन हो चुकने पर उसकी ब्रह्मरूपता संगत है।।२०६।।** अहम्पदार्थ या त्वम्पदार्थ अर्थात् जीव, उसका शोधन अर्थात् उसका उपाधियों से विविक्त रूप समझ लेना। एक बार सब उपाधियाँ हटा दीं तो जो आत्मा रह जाता है वह ब्रह्म अर्थात् व्यापक हो इसमें कोई असंगति नहीं। खान से निकलते समय सोने के साथ बहुत-सी चीज़ें रहती हैं, उन्हें साफ कर देने पर बचा पदार्थ शुद्ध सोना है। है तो वह पहले भी शुद्ध लेकिन अशुद्धि से मिला-जुला होने से अशुद्ध कहा-समझा जाता है, अशुद्धि दूर करने से यद्यपि सोने में कोई फर्क आया हो ऐसा नहीं पर व्यवहार यही होता है कि सोना शुद्ध हो गया। इसी प्रकार उपाधियाँ अशुद्धि हैं जिनके साथ मिला-जुला हम स्वयं को जान रहे हैं इसलिये अभी हमें अशुद्ध कहा जाता है, उपाधियों से पृथक् स्वयं को जानने पर हमें शुद्ध कहा जाता है। हममें कोई परिवर्तन नहीं आता, हमारी अपने बारे में समझ में ही परिवर्तन आता है जिसे शोधन कहते हैं। यों जो सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त आत्मा उसे ब्रह्म ही कहना उचित है। आत्मा में उपाधि-अध्यास ही परिच्छिन्नता है, उसकी निवृत्ति हो जाये तो व्यापकता स्वाभाविक है, व्यापक आत्मा ही ब्रह्म है।।२०६।।

ब्रह्मता नात्मनोऽन्यत्र नात्मता ब्रह्मणोऽन्यतः ।
तद्याथात्म्याऽप्रबोधात्तु तयोरेष विपर्ययः ।।२०७।।
अब्रह्माऽनात्मताहेतौ प्रत्यग्ध्वान्ते निवर्तिते ।
आत्मानमेव ब्रह्मेति निर्विघ्नं प्रतिपद्यते ।।२०८।।

शुद्ध त्वमर्थ ब्रह्म है यही उपपन्न करते हैं **आत्मा से अन्य में ब्रह्मरूपता नहीं हो सकती और न ब्रह्म से अन्य में आत्मरूपता ही होना संभव है। इनकी वास्तविकता न समझने से ही इनके बारे में यह विपरीत बोध है (कि दोनों में अन्तर है)।।२०७।।** आत्मा से अन्य अनात्मा होता है, वह ब्रह्म होना संगत नहीं क्योंकि ब्रह्म चेतन का ही नाम है। ब्रह्म से अन्य परिच्छिन्न होगा और वह आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि परिच्छिन्न घट आदि सब जड, अनात्मा होते हैं। इस तरह निश्चित है कि आत्मा व ब्रह्म परस्पर विभिन्न वस्तुओं के नाम संभव नहीं। किन्तु क्योंकि हम आत्मा क्या है, ब्रह्म क्या है यह सही तरह नहीं समझ पाये हैं इसलिये हमें लग रहा है कि ये दोनों परस्पर स्वतंत्र, विभिन्न पदार्थ हैं। आत्मा से हम चेतन तो समझते भी हैं पर यह नहीं कि वह व्यापक है। ब्रह्म से हम व्यापक तो समझते भी हैं पर यह नहीं कि वह प्रत्यक् है। इसी से हमारा विपरीत निश्चय है कि मैं ब्रह्म नहीं, ब्रह्म मैं नहीं! जो श्रद्धालु यह भी कह देते हैं कि कण-कण क्षण-क्षण में परमात्मा है, वे भी 'मुझ में भी वही परमात्मा है' यह नहीं स्वीकार पाते क्योंकि आत्मा व ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या है यह नहीं समझते।।२०७।।

इस विपरीत बोध के समूल निवारण का तरीका बताते हैं **आत्मा की ग़ैर-ब्रह्मता और ब्रह्म की ग़ैर-आत्मता इनका हेतु है प्रत्यगात्म-सम्बन्धी अज्ञान। वह अज्ञान जब मिट जाता है तब बिना विघ्न के यह समझ आ जाता है कि आत्मा ही ब्रह्म है।।२०८।।** प्रत्यग् अर्थात् जो कभी विषय बने बगैर हमेशा भासता रहे। वाचस्पति मिश्र 'प्रत्यगात्मनि अविषये' इस अध्यासभाष्य के प्रयोग का अर्थ बताते हुए लिखते हैं 'अशक्यनिर्वचनीयेभ्यो देहेन्द्रियादिभ्यः आत्मानं प्रतीपं निर्वचनीयम् अंचति जानाति इति प्रत्यङ्, स चात्मेति प्रत्यगात्मा' (पृ.३७ कल्प.परि.संस्करण) अर्थात् देहादि उपाधियों का सदसत्त्वादिरूप से निर्वचन अशक्य है, उनसे विपरीत है आत्मा जो सच्चिदानन्दरूप से निर्वचन के योग्य है, उसे जो यों अर्थात् उपाधियों से विपरीत स्वभाव वाला जानता है वह प्रत्यक् है, वही आत्मा है। जिसे हम हमेशा सिर्फ मैं समझते ही हैं वही प्रत्यगात्मा है। उपाधियों को तो बहुधा 'यह' (ग़ैर-मैं, मेरा)

निवर्त्यभेदाद् भिन्नोऽर्थो ब्रह्माऽहम्पदयोर्भवेत् ।
अब्रह्माऽनात्मते वार्ये एकस्मिन्नेव वस्तुनि ।।२०९।।
स्वानुभूत्यवसेयेऽस्मिन् प्रतीच्यब्रह्मतां जनाः ।
आरोप्य शास्त्रगम्येऽस्मिन्ननात्मत्वमकल्पयन् ।।२१०।।

समझते ही हैं अतः वे मिथ्यात्मा ही हैं जबकि प्रत्यक् है मुख्यात्मा। उसके बारे में जो हमारा अज्ञान है उसी के चलते हमें आत्मा लगता है कि ब्रह्म नहीं हो सकता और ब्रह्म लगता है कि आत्मा अर्थात् मैं नहीं हो सकता। अतः अज्ञाननिवृत्ति होने पर आत्मा ही ब्रह्म है, ब्रह्मातिरिक्त आत्मा कुछ नहीं यह समझने में कोई रुकावट नहीं रह जाती।।२०८।।

यद्यपि आत्मज्ञान ही अज्ञाननिवर्तक है तथापि आत्मा की सम्पूर्ण जानकारी मिले बिना उसकी वह प्रमा होगी नहीं जो तत्सम्बद्ध समस्त अज्ञान-निवर्तक हो। आचार्य बादरायण ने निर्णय बताया है कि सत् चिद् आनन्द अनन्त और प्रत्यक् ये पाँच बातें आत्मा के बारे में मालूम हों तो जानकारी पूरी होती है। हमें स्वयं के बारे में सत् चित् प्रत्यक् लगभग मालूम है, शास्त्रानुसार विचार करने से प्रियता के रास्ते आनंद का भी कथंचिद् बोध हो जायेगा किन्तु अनन्त का ज्ञान तभी हो जब शास्त्र जिसे अनन्त, व्यापक कहता है, उसे आत्मरूप जानें अर्थात् परमेश्वर से आत्मा का अभेद पता चले। उसके लिये शास्त्र महावाक्य का उपदेश देता है जिसमें परमेश्वर और जीव की एकता कही है। उन महावाक्यों में जीव-ईश्वर दोनों का उल्लेख कर अभेद बताया जाता है ताकि जीव के बारे में जो हमें परिच्छिन्नता का भ्रम है और ईश्वर के बारे में परोक्षता का भ्रम है वे दोनों भ्रम दूर हों। वस्तु आत्मा एक ही होने पर भी उसके बारे में भ्रम दो तरह के हैं अतः महावाक्य में दोनों पदार्थ कहकर उनका अभेद व्यक्त करते हैं। इसी उपयोग को स्पष्ट करते हैं **महावाक्य में आये ब्रह्म-शब्द और अहं-शब्द के अर्थ परस्पर अलग हैं क्योंकि इनके अर्थ समझकर जिन भ्रमों को दूर करना है वे भ्रम अलग-अलग हैं। एक ही आत्मवस्तु के बारे में यह भ्रम दूर करना है कि वह अब्रह्म अर्थात् अव्यापक है और दूसरा भ्रम यह मिटाना है कि वह व्यापक वस्तु अनात्मा अर्थात् अप्रत्यक् है।।२०९।। लोग अपने स्वाभाविक अनुभव से सिद्ध इस प्रत्यगात्मा में यह आरोप करके कि यह ब्रह्म (व्यापक) नहीं है, यह भी आरोप करते हैं कि शास्त्र से समझा जाने वाला परमेश्वर अनात्मा (= अप्रत्यक्, परोक्ष) है।।२१०।।** चेहरा एक ही है, काँच में दीखने पर उसे प्रतिबिम्ब कहते हैं और

अनुभूत्यवसेयोऽहं ब्रह्म शास्त्रसमर्पितम्।
अस्मीति बोधाद् आरोपद्वयम् अत्र निवर्तते।।२११।।

तभी गर्दन पर स्थित को बिम्ब कहते हैं; बिम्ब-प्रतिबिम्ब दो वस्तुएँ नहीं हैं, एक चेहरे के ही दो सापेक्ष व्यवहार्यरूप हैं। चेहरा हम स्वयं अपनी आँखों से देख नहीं सकते, दृश्य नहीं, पर प्रतिबिम्ब उसकी अदृश्यता को हटाकर हमें अपना चेहरा देखने देता है। इस तरह, हमारा चेहरा हमें परोक्ष (आँखों से न दीखने वाला) है यह भ्रम प्रतिबिम्ब मिटाता है। इसी तरह यदि हमें बीस प्रतिबिम्ब दीख रहे हैं तो वस्तुतः मुख एक है यह पता चलता है बिम्ब की एकता समझने पर, अन्यथा दीखते तो बीस ही हैं। ऐसे ही ब्रह्म की परोक्षता का भ्रम जीवरूप के ज्ञान से और आत्मा की परिच्छिन्नता का भ्रम ईश्वर के ज्ञान से यह प्रक्रिया मान्य है। ब्रह्म अहं से भिन्न नहीं, अहं भी ब्रह्म से भिन्न नहीं यों समझने पर अद्वैत परमार्थ निरावृत होता है। आत्मा हमें अपने निजी अनुभव से ही प्रकाशमान है, इसकी व्यापक परिपूर्णता भी अनुभव में ही समाप्त होती है अर्थात् व्यापकता भी अनुभवरूप ही रहती है। 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य समझने का नतीजा शुद्ध ब्रह्म में स्थिति है। पता इसका चलता है शास्त्र से ही, उसके बिना यह रहस्य अज्ञात ही बना रहता है। जो जिस प्रमाण के योग्य है उसे उसी प्रमाण से समझा जा सकता है, अन्य प्रमाण से भी नहीं व बिना प्रमाण के भी नहीं। शास्त्र को छोड़ दें तो आत्मा के बारे में कोई-न-कोई ग़लत ही भावना बनती है जैसे सांख्यवादी प्रत्यगात्मा तक पहुँचे भी तो उसे अनेक मान बैठे! शास्त्र-प्रतिपाद्य आत्मा वही है जो अभी कर्त्ता-भोक्ता लग रहा है, यही सत्य महावाक्य से अवगम्य है।।२०९-१०।।

अज्ञावस्था में ब्रह्म परोक्ष और जीव परिच्छिन्न लगता है यह बताकर अब समझाते हैं कि महावाक्य से उस भ्रम का निवारण हो जाता है **अनुभव की चरम सीमा मैं ही शास्त्रतात्पर्य-विषय ब्रह्म हूँइस ज्ञान से पूर्वोक्त दोनों भ्रम मिट जाते हैं।।२११।।** वेदोक्त परमेश्वर मैं-रूप अनुभूति से ही सिद्ध है, उसे मैं न मानें तो उसका वेदोक्त वर्णन घटता ही नहीं है। मैं ही अनुभव की चरम सीमा हूँ अर्थात् अनुभूति क्या हैइसका परीक्षण करते जायें तो मैं में जाकर समाप्त होगा, मैं ही अनुभूति हूँ, अन्य कुछ अनुभूति नहीं है।।२११।।

इस अविद्या निवृत्ति की स्वानुभवरूपता प्रकट करते हैं **('अहं ब्रह्म अस्मि' इस वाक्य में आये) 'अस्मि' ('हूँ') - शब्द से वर्त्तमानता कही जाने से सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञान के समय ही मोक्ष-उपलब्धि है अतः अग्निहोत्रादिकर्मों के फल**

अस्मीति वर्तमानोक्तेर्विद्याकालैव मुक्तता।
सिद्धाऽतोऽसौ न साध्या स्याद् अग्निहोत्रादिकार्यवत्।।२१२।।

सर्वभावः

तस्मात् तत् सर्वमभवद् इति वाक्येन वेदनात्।
उच्यते सर्वभावाप्तिरसर्वत्वापवादतः[1]।।२१३।।
स्वतः सर्वात्मकं ब्रह्म भात्यसर्वमिव भ्रमात्।
विद्यया भ्रान्तिबाधेऽस्य सर्वत्वम् अवशिष्यते।।२१४।।

स्वर्गादि की तरह मोक्ष साधनों से प्राप्तव्य नहीं है।।२१२।। 'अस्मि', 'हूँ' से पता चलता है कि बात वर्त्तमान काल की हो रही है। इससे निर्णय हो जाता है कि जैसे ही आत्मबोध होता है वैसे ही अपनी वास्तविक ब्रह्मता प्रकट होने से मोक्ष अनावृत हो जाता है, कोई विलम्ब नहीं रहता। अन्यथा 'मैं ब्रह्म हो जाऊँगा' ऐसा कथन संगत होता। यदि केवल सृष्टि-प्राक्कालिक आत्माऽद्वैत कहना होता तो 'अहं ब्रह्म बभूव' आदि कहते कि मैं ब्रह्म था। अहं ब्रह्मास्मि और तत्त्वमसि इन दो महावाक्यों में क्रियापदका प्रयोग है तथा दोनों जगह वर्त्तमान का प्रयोग किया गया है जिससे श्रुति स्पष्ट कहती है कि आत्मा की ब्रह्मरूपता सनातन है। अतएव वह अज्ञानावृतमात्र है और तत्त्वबोधमात्र से अनावृत होना ही उसकी उपलब्धि है, किसी क्रिया के फलस्वरूप उसकी प्राप्ति होती हो ऐसा नहीं। ज्ञान तो श्रवण से होगा लेकिन हमारी ब्रह्मरूपता उससे हो ऐसा नहीं, वह स्वभावसिद्ध है।।२१२।।

प्रश्न उठाया था (श्लो. १९८) कि जिसे जानकर सब मुमुक्षु सर्वरूप होने को उत्सुक हैं, उस ब्रह्म ने क्या जाना था कि वह सर्वरूप है? उत्तर दिया कि उसने स्वयं को ही जाना। इसी ज्ञान का प्रभाव है कि 'तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्' वह सर्वरूप है। इस वाक्य को व्यक्त करते हैं **'उस ज्ञान से ही वह सर्वरूप हो गया' इस वाक्य से कहा गया है कि आत्मज्ञान से सर्वरूपता मिल जाती है क्योंकि आत्मा की असर्वता का इस ज्ञान से अपवाद हो जाता है।।२१३।। ब्रह्म स्वयं सर्वरूप है पर भ्रम से लगता है मानो सर्वरूप न हो। तत्त्वज्ञान से भ्रम का बाध हो जाने पर ब्रह्म की स्वाभाविक सर्वता रह जाती है।।२१४।।** ज्ञान से ही प्राप्ति उसी की होती है जो

---

[1] १. उच्यते सर्वभावाप्तिः सर्वज्ञत्वापवादतः इत्यन्यत्र पाठः। तत्र, सर्वविषयं ज्ञातृत्वमेवापोद्यते, न सर्वत्वम् इति व्याचष्टे गोदावरीशमिश्रः (आंग्लभाषानुवादकः)। परं वार्तिकसारमनुसृत्यपाठोऽत्र मूले स्थापितः, अयमेवोत्तरश्लोकानुरोधेनापि संगतः।

नन्वसौ सर्वभावाप्तिर्न विद्यामात्रतो भवेत्।
विनोत्तमत्वाऽनुष्ठानकालदेवाद्यनुग्रहम्।।२१५।।

वस्तुतः प्राप्त ही हो, केवल भ्रम हो जाये कि अप्राप्त है। श्रुति ने केवल ज्ञान से सर्वता का लाभ कहकर बता दिया कि असर्वता मात्र भ्रम है, सचमुच तो आत्मा सदा सर्व ही है। जैसे अप्राप्त स्वर्गादि अग्निहोत्रादि क्रिया से उपलब्ध होता है ऐसे मोक्ष की, सर्वरूप आत्मा की उपलब्धि नहीं। ज्ञान तो साध्य है, शमादिपूर्वक श्रवणादि से अखण्डवृत्तिरूप ज्ञान प्राप्य है, लेकिन उसके प्रभावरूप से मानी गयी सर्वरूपता प्राप्य या साध्य (साधन का फल) नहीं है। कर्मों का तो ज्ञान भी चाहिये और ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान भी चाहिये जबकि आत्मा का ज्ञान ही चाहिये, ज्ञानपूर्वक कोई बाह्य-आभ्यंतर अनुष्ठान नहीं चाहिये। इसीलिये अपवाद से अर्थात् आरोप-बाध से ही सर्वभाव-प्राप्ति कही। ब्रह्म सर्वरूप तो खुद-ब-खुद है ही, उसे सर्व होना नहीं कि कोई उपाय ज़रूरी हो। भ्रम से प्रतीत असर्वता का बाधमात्र अपेक्षित है। सर्प के बाध से ही निश्चय हो जाता है कि हमेशा रस्सी ही रही, ऐसे ही असर्वता के, परिच्छिन्नता के बाध से ही सर्वता निरावृत हो जाती है।।२१३-४।।

सर्वभावप्राप्ति बताकर श्रुति में वचन है 'तद् यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत, स एव तद् अभवत्। तथर्षीणां, तथा मनुष्याणाम्। तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। तदिदम् अप्येतर्हि य एवं वेदाहम्ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति।' अर्थात् देवताओं में जिस-जिस ने उस ब्रह्म को समझा वही ब्रह्म हो गया। इसी तरह ऋषियों और मनुष्यों में जिसने समझा वह ब्रह्म हो गया। इसी ब्रह्म को देखते हुए वामदेव ऋषि ने समझा 'मैं मनु था, सूर्य भी था'। आज भी जो 'मैं ब्रह्म हूँ' यों समझता है वह सर्वरूप होता है। देवता भी उसकी सर्वरूपतारूप वैभव को नहीं हटाते क्योंकि वह देवताओं का भी आत्मा होता है। इस श्रुति का व्याख्यान करने के लिये पहले दिखाते हैं कि किन प्रश्नों के उत्तर के रूप में यह वाक्य आया है। संक्षेप में चार संभावनाएँ बताते हैं जिनसे ब्रह्मविद्या ही सर्वभाव के प्रति पर्याप्त नहीं **प्रश्न होता है कि उक्त सर्वता का लाभ केवल विद्या से होना संभव नहीं जब तक १) उत्तमता, २) अनुष्ठान, ३) काल एवं ४) देवादि की कृपा न हो।।२१५।।** उत्तमता अर्थात् जन्मादिकृत श्रेष्ठता। काल अर्थात् सत्त्यादि युग अथवा योग्य समय। इन्हीं विकल्पों को श्लोक २२० तक स्पष्ट करेंगे।।२१५।।

विप्रस्य फलदो वेदो न शूद्रस्याऽधमत्वतः।
देवादेरुत्तमस्यैव तथा विद्या फलप्रदा।।२१६।।
यागज्ञानम् अनुष्ठानाद् विना न स्वर्गदं यथा।
ब्रह्मज्ञानम् अनुष्ठानाद् विना सर्वाप्तिदं कथम्।।२१७।।

उत्तमता की अपेक्षा से सर्वभाव होगा, न कि केवल विद्या से, यह उक्त प्रश्न का प्रथम विकल्प उपस्थित करते हैं **वेद ब्राह्मण के लिये फलप्रद होता है न कि शूद्र के लिये क्योंकि वह अधम है। इसी तरह देवता आदि उत्तम योनि हो तभी ब्रह्मज्ञान सर्वभाव दे यह उचित लगता है।।२१६।।** अधिकार में जन्म का भी उपयोग है। राजा का पुत्र राजपुरुष को आज्ञा दे तो तुरन्त मानी जाती है, वही शब्दावलि कोई रास्ते चलता वणिक्पुत्र प्रयोग करे तो आज्ञा मानी नहीं जाती इतना ही नहीं, उस वणिक्पुत्र को भी दण्डित किया जा सकता है। इसी तर्क से शंका है कि देवादि उत्तम जन्म वालों को भले ही तत्त्वसाक्षात्कार एवं उससे सर्वभावप्राप्ति हो जाये पर मनुष्यादि अधम योनि वाले, अशुद्ध भोजनादि वाले बहिर्मुख लोग ब्रह्मज्ञान में अधिकारी कैसे? श्रुति ने 'ब्रह्म ने स्वयं को जाना' कहकर भी यही सूचित किया कि ब्रह्मा जी जैसों को ही ज्ञान हो सकता है। केनोपनिषत् में भी इंद्र को ज्ञान बताया। कठ-प्रश्न-मुण्डक में ऋषियों को या ऋषिपुत्र को ज्ञान बताया, छान्दोग्य में इन्द्र को ब्रह्मा के उपदेश से ज्ञान बताया। इन सब से इस बात को बल मिलता है कि मनुष्य ज्ञान नहीं पा सकते यह इस प्रश्न का भाव है।।२१६।।

अनुष्ठान-सापेक्षता का पक्ष व्यक्त करते हैं **बिना अनुष्ठान किये, केवल याग का ज्ञान जैसे स्वर्गप्रद नहीं होता वैसे बिना किसी अनुष्ठान के ब्रह्मज्ञान सर्वभाव की प्राप्ति कराने वाला कैसे हो जाता है?।।२१७।।** यागादि का सारा ढंग चाहे-जितनी अच्छी तरह से समझा हो, उस जानकारी से ही स्वर्गादि फल नहीं मिलता, उस जानकारी से जब यथाविधि यागादि का अनुष्ठान करते हैं तभी फल मिलता है। ऐसे ही शास्त्रीय ज्ञान होने से ब्रह्मावबोध को किसी अनुष्ठान की अपेक्षा से ही फलप्रद होना उचित है, उसके बिना नहीं। यदि संन्यासी यागादि करने में अधिकारी नहीं तो भी ध्यानादि कर ही सकता है। हर हालत में, किसी-न-किसी क्रिया को माध्यम बनाकर ही ज्ञान फलदायी होना चाहिये, उसके बिना नहीं यह इस विकल्प का तात्पर्य है।।२१७।।

गर्भाधानम् ऋतावेव नान्यकाले तथोत्तमे।
विद्या कृतयुगे सर्वभावं यच्छति नान्यदा।।२१८।।
राज्ञा कृषिफलं यद्वत् करार्थं प्रतिबध्यते।
सर्वभावस्तथा देवैर्यागभुग्भिर्निवार्यते।।२१६।।
तस्माद् अनुत्तमे जन्मन्यननुष्ठायिनः कलौ।
युगे देवाद्यृणवतो न विद्या सर्वभावदा।।२२०।।

श्लोक २१५ में आये तीसरे पक्ष को प्रस्तुत करते हैं **ऋतुकाल में ही गर्भाधान सफल होता है, अन्य समय में नहीं, इसी तरह श्रेष्ठ सत्य युग में ही ब्रह्मविद्या सर्वरूपता प्रदान करती है, अन्य युगों में नहीं।।२१८।।** स्त्री रजोवती हो चुकने के अनन्तर कुछ दिनों का समय उसका ऋतुकाल कहा जाता है जिसमें वह गर्भ धारण कर पाती है, अन्यकाल में वह गर्भ नहीं धारण कर सकती। ऐसी ही बात पशुओं के प्रजनन में, पौधों के अंकुरित होने आदि में है। इसी दृष्टांत से शंका है कि सत्यादि उत्तम युगों में भले ही ज्ञान व सर्वलाभ हो जाये, कलि आदि में वैसा कैसे हो सकता है?।।२१८।।

देवादि की कृपा के बिना ज्ञान सर्वभाव नहीं दे सकता इस अंतिम विकल्प को बताकर प्रश्न का उपसंहार करते हैं **जैसे राजा कर वसूलने के लिये खेती की उपज अपने लिये सुरक्षित रख लेता है वैसे याग पर निर्भर भोग वाले देवताओं द्वारा सर्वभाव मनुष्यों को मिलने से रोक दिया जाता है।।२१६।। इसलिये जो उत्तम जन्म वाला नहीं, यज्ञादि-अनुष्ठान नहीं करता, देवादि के प्रति ऋणी है, उसे कलियुग में विद्या सर्वभाव नहीं दे सकती।।२२०।।** राज्य को कर (लगान) लेना हो और कृषक के पास रुपये न हों तो उसकी खेती की उपज का सरकार अधिग्रहण कर लेती है। खेती का फायदा सरकार ले जाती है खेतिहर को नहीं मिलता। ऐसे ही देवताओं के प्रति मनुष्य ऋणी है जो ऋण यज्ञों द्वारा वह चुकाता है। यज्ञों से ही देवताओं का पोषण होता है। यदि मनुष्य को सर्वभाव मिल गया तो वह यज्ञ करेगा नहीं, यज्ञ में अधिकारी ही नहीं रहेगा। अतः देवता, उसे वह फल न मिलेऐसा विधान बनाते हैं ताकि वह यज्ञादि करता रहे, ऋण चुकाता रहे। इस तरह देवकृपा के बिना सर्वभाव होगा नहीं और देव क्योंकि निर्भर हैं मनुष्यकृत यागपर इसलिये वे मनुष्यों के सर्वभावलाभ को होने नहीं दे सकते अन्यथा उनका भोजन ही बंद हो जाये। इस सारे विचार का नतीजा निकला कि आज के ज़माने में तत्त्वज्ञान

इति चोदयितुर्येऽत्र चत्वारश्चोद्यहेतवः ।
'तद्यो य' इत्यादि वाक्यैश्चतुर्भिस्तान्निरस्यति । ।२२१ । ।
न तावद् उत्तमं जन्म सर्वभावप्रयोजकम् ।
उत्तमस्याऽपि देवादेः सर्वत्वं ब्रह्मबोधतः । ।२२२ । ।
यो देवानाम् ऋषीणां वा मध्ये ब्रह्म व्यबुद्ध्यत ।
असावसावेव सर्वम् अभून्नान्यस्तु कश्चन । ।२२३ । ।

से सर्वभाव हो नहीं सकता! न हम देवता हैं, न सत्य युग में पैदा ही हुए हैं, न इस युग में यागादि अनुष्ठान कर ही सकते हैं क्योंकि उचित सामग्री योग्य ऋत्विक् आदि ही अनुपलब्ध हैं; अतः हम देवताओं का ऋण चुका नहीं सकते कि उनकी कृपा मिले और हमारी विद्या हमें सर्वभाव दे। इसलिये श्रवणादि का परिश्रम बेकार है, कर्म-उपासना से ही यथासंभव कल्याण प्राप्त कर लेना चाहिये। श्लोक २१५ से शुरू हुआ प्रश्न यहाँ पूरा हुआ। ।२१६-२०। ।

इन विकल्पों का निरास करने के लिये ही श्रुति ने 'तद् यो यः' आदि कहा। वाक्य श्लोक २१५ में दिखा चुके हैं। 'तथा मनुष्याणाम्' पर्यन्त वाक्य से प्रश्नोक्त प्रथम विकल्प का परिहार किया यह दिखाते हैं **उक्त ढंग से पूछने वाले द्वारा कहे जो चार कारण, उनका निरास 'तद् यो यः' इत्यादि वाक्यों से करते हैं। ।२२१। ।** यद्यपि यों व्यवस्थित शंका सामने रख न पायें तथापि अनेकों के मन में ये बातें रहती हैं कि देव-ऋषि आदि, अत्यंत कर्मकुशल, ध्यानकुशल, एकान्तवासी, उत्तम आचार्यों से शिक्षा पाने वाले तपस्वी ही ज्ञानी हो सकते होंगे, हम लोग नहीं। अतः वेद में इन संभावनाओं को हटाकर हमेशा के लिये स्पष्टता कर दी। आचार्य शंकर ने 'चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु' आदि मनीषापंचक में भी इसी तरह की शंका दूर की यह दिखाकर कि तत्त्वनिष्ठा चाहे-जिस वर्णाश्रम में संभव है। इससे आचार की उच्छृंखलता की अनुमति नहीं मिलती क्योंकि व्यवहार उपाधि-अनुरूप ही श्रेयस्कर संभव है। ।२२१। ।

देवताओं में जिसने जाना वह सर्वात्मा हो गया इससे जन्म की कारणता का निरास स्पष्ट करते हैं **उत्तम जन्म सर्वरूपता का हेतु नहीं क्योंकि जन्मतः उत्तम देवतादि को जो सर्वात्मता मिली वह भी (जन्म से नहीं वरन्) ब्रह्मज्ञान से ही। ।२२२। । देवताओं व ऋषिओं में जिस-जिसने ब्रह्मानुभव पाया वह-वह ही सर्वरूप हुआ, अन्य देव-ऋषि आदि सर्वात्मा नहीं हो पाये। ।२२३। । इसी प्रकार मनुष्यों में जो भी ब्रह्मवेत्ता होता है वही सर्वरूप हो जाता है। अतः विद्या ही**

मनुष्याणां तथा मध्ये ब्रह्मवित् सर्वभावभाक्
विद्याऽविद्ये एव तस्मात् सर्वत्वाऽल्पत्वकारणे।।२२४।।
ब्रह्म वा इदमग्रेऽभूद् इति विद्याऽधिकारिता।
श्रूयते ब्रह्मणो ब्रह्म सर्वजातिषु तत् समम्।।२२५।।
न पश्वादेः सर्वभावप्रसङ्गो बोधवर्जनात्।
शूद्रजातिश्च विदुरः सति बोधे व्यमुच्यत।।२२६।।

सर्वभाव का तथा अविद्या ही अल्पता का कारण है।।२२४।। 'यह सब पहले ब्रह्म था' आदि से कथित ब्रह्म को विद्या में अधिकारी बताया और सारी योनियों में ब्रह्म एक-सा है।।२२५।। फिर भी जानवर आदि को सर्वभाव मिलना संभव नहीं क्योंकि उन्हें बोध नहीं होता लेकिन शूद्र जाति वाले विदुर बोध होने पर मुक्त ही थे।।२२६।। यदि जन्म से सर्वता मिलती तो देवताओं को ज्ञान न चाहिये रहता जबकि केन, छांदोग्य आदि से स्पष्ट है कि उन्हें भी ज्ञान से ही वह मिली। प्रकृत बृहदारण्यक में भी कहा है कि ब्रह्म भी जानकर ही सर्व हुआ। यही बात ऋषियों के बारे में है, उन्हें भी बोधलाभार्थ यत्न करने वाला बताया गया है। ऐसे ही मनुष्यों में अज्ञान रहते असर्वता, और ज्ञान से सर्वता स्वीकार है तथा प्रतर्दन आदि की कथा से शास्त्र में यह वर्णित है। विचाराधीन प्रसंग तो स्वयं ब्रह्म को ज्ञान-अधिकारी कहकर व्यक्त कर रहा है कि चाहे जो जीव सर्वभाव पा सकता है क्योंकि सब जीवों के रूप में मौजूद ब्रह्म ही है! यद्यपि इस तर्क से, पशु योनियों में भी ब्रह्म ही उपस्थित रहने से वहाँ भी सर्वभाव लाभ संभव है तथापि प्रकृत श्रुति में देव-ऋषि-मनुष्य ही कहे हैं, जानवरादि कहे नहीं हैं, अतः यही सीधा मार्ग है कि पशु आदि को ज्ञान होना मुमकिन न होने से उन्हें सर्वभाव भी दुर्लभ है, ऐसा नहीं कि उनकी पशुता इसमें कारण हो। इससे पुराणादि में प्रसिद्ध पश्वादि योनि वालों की विद्वत्ता भी उपपन्न हो जाती है। मनुष्यों में तो सभी को तत्त्वानुभव संभव होने से श्रुति ने 'तथा मनुष्याणाम्' कहा। शूद्र होने पर भी विदुर तत्त्ववेत्ता प्रसिद्ध हैं। अन्य भी पुराणों में ऐसे लोग परमात्म-बोध से संपन्न बताये हैं जो अन्य दृष्टियों से हीन माने जाते हैं। गीता में (९.३२) भी परा गति की सर्वसुलभता कही है। ज्ञान के साधन में भले ही फ़र्क़ हो किन्तु तत्त्वानुभव और उससे सर्वता-लाभ एक-सा है। इस प्रकार, प्रश्न के प्रथम विकल्प का परिहार हुआ कि देवादि खास योनि की अपेक्षा से सर्वभाव नहीं, ज्ञान से ही है।।२२२-६।।

सर्वभाव अनुष्ठान-विशेष से मिलता होगा, ज्ञानमात्र से नहींइस द्वितीय विकल्प के

यागविद्येवात्मविद्या नानुष्ठानम् अपेक्षते।
फलदान इति ज्ञेयं वामदेवनिदर्शनात्।।२२७।।
ब्रह्मात्मत्वं वामदेवः पश्यन् मन्वादिरूपताम्।
प्रतिपेदे ह्यनुष्ठानावसरस्तत्र को वद।।२२८।।
न चितो वामदेवे वा मनौ वाऽन्येषु वा भिदा।
तेन मन्वादिचिद् वामदेवेन प्रत्यपद्यत।।२२९।।

निषेधार्थ वामदेव का दृष्टांत वेद ने सुनाया यह बताते हैं **याग-ज्ञान जैसे सफल होने के लिये अनुष्ठान पर निर्भर रहता है वैसे आत्मज्ञान नहीं, यह वामदेव के दृष्टान्त से सिद्ध है :।।२२७।। वामदेव ने (गर्भ में ही) ब्रह्म की आत्मरूपता का दर्शन करते हुए समझ लिया कि वही मनु आदि (सभी) रूपों वाला हुआ। बताओ, वहाँ (गर्भ में) अनुष्ठान का कौन-सा मौका था?।।२२८।। वामदेव, मनु या अन्यों में चैतन्य का कोई भेद नहीं अतः वामदेव ने उसी चैतन्य को समझ लिया जो मनु आदि से भी निरूपित है।।२२९।।** ऐतरेय में (२/५) 'गर्भे नु सन्नन्वेषाम् अवेदम् अहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जरसा निरदीयम्'। गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवम् उवाच'यों वामदेव की कथा वर्णित है, अनुभूतिप्रकाश अध्याय १ के श्लोक ५८ में यह प्रसंग आ भी चुका है। एषाम् अर्थात् देवताओं के विश्वा अर्थात् सब जनिमानि अर्थात् जन्मों को मैंने जाना। लोहे की साँकलों जैसे मुझे सैकड़ों शरीर मानो बाँधे हुए थे, बाज की तरह मैं उन साँकलों को तोड़कर मुक्त हुआ। प्रकृत बृहदारण्यक में 'गर्भ में' ऐसा नहीं कहा, इतना ऐतरेय से जोड़ लेना चाहिये। गर्भ में अनुष्ठान का तो मौका था नहीं! अतः सर्वभाव के लिये अनुष्ठान नहीं चाहिये यह सिद्ध होता है। भाष्यकार ने गर्भस्थता के परामर्श के बिना ही 'पश्यन्' इस शतृ-प्रयोग से यही भाव समझाया है 'पश्यन् सर्वात्मभावं फलं प्रतिपेद इत्यस्मात् प्रयोगात्, ब्रह्मविद्याऽसहाय-साधनसाध्यं मोक्षं दर्शयति, भुंजानस्तृप्यतीति यद्वत्'। जैसे भोजन करते हुए भूख मिटती है, मध्य में कोई और अनुष्ठान नहीं चाहिये, वैसे ब्रह्मज्ञान और सर्वभाव के मध्य में कोई अनुष्ठान नहीं चाहिये। यद्यपि वामदेव ने मनु व सूर्य का नाम लिया तथापि तात्पर्य सर्वभाव से है क्योंकि यह अर्थ नहीं कि मनु या सूर्य के रूप में वामदेव ने अवतार लिया था वरन् यह कि वामदेव ने स्वयं को वह चेतन जाना जो सूर्य, मनु आदि के रूप में माना जाता है। इस प्रकार यहाँ 'वामदेव ने ब्रह्मदर्शन करते हुए सर्वभाव पाया' यों बताकर वेद ने स्पष्ट किया कि अनुष्ठान की अपेक्षा के बिना ही विद्या फलप्रद है।।२२७-९।।

यत्तु पुण्ययुगे सर्वभावो न तु कलाविति।
तदसद् बोधसाध्यस्य पुण्यकालाऽनपेक्षणात्।।२३०।।
न सूर्यग्रहणापेक्षो बोधान्निद्राक्षयः क्वचित्।
तथा न सर्वभावोऽयं कालभेदम् अपेक्षते।।२३१।।
य एतर्ह्यपि वेदाऽहं ब्रह्माऽस्मीति तदैव सः।
इदं सर्वं भवत्येव यदिदं जगद् ईक्ष्यते।।२३२।।
अविचारितरम्यस्य नामरूपात्मकस्य यत्।
जगतो वास्तवं रूपं सत्तत्त्वं ब्रह्मतद् भवेत्।।२३३।।

प्रश्न में तीसरा विकल्प काल की महत्ता को लेकर था, उसके लिये 'य एतर्हि अपि वेद' से बताया कि जो अब भी जानता है वह भी सर्व ही होता है अतः सभी कालों में विद्या सफल है, यह समझाते हैं **जो तो यह विकल्प था कि पुण्यबहुल युग में ही सर्वता सुलभ है, कलियुग में नहीं; वह ग़लत है क्योंकि बोध का फल पुण्यबहुल काल पर निर्भर नहीं है।।२३०।। जैसे जगने से नींद टूटना, सूर्यग्रहणादि कालविशेष पर निर्भर नहीं वैसे ब्रह्मज्ञान से सर्वभाव कालविशेष पर निर्भर नहीं।।२३१।। जो इस समय भी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा समझ लेता है वह तत्काल वह सब हो जाता है जो कुछ यह जगत् दीख रहा है।।२३२।। जिसके बारे में विचार न करने तक ही जो रमणीय है ऐसे इस नाम-रूपात्मक जगत् का वास्तविक स्वरूप जो ब्रह्मरूप तत्त्व, वही वह हो जाता है (जो 'मैं ब्रह्म हूँ' जान लेता है)।।२३३।।** सत्यादि युग में ही ज्ञान सफल हो ऐसा इसलिये नहीं कह सकते क्योंकि शास्त्र में कहीं ज्ञान को यों कालप्रतिबद्ध फल वाला नहीं कहा गया है। ज्ञान का फल दृष्ट है जैसे नींद से जगना, हल्ला होने पर व्यक्ति जैसे सत्य युग में जगता था वैसे आज जगता है, इसी प्रकार ज्ञान से सर्वभाव भी हो जाये, इसमें रुकावट डालने वाला कुछ नहीं। यद्यपि प्रतिबन्धकवश ज्ञान की सफलता में विलम्ब संभव है तथापि ऐसे स्थल में फलदानक्षम ज्ञान की उत्पत्ति में ही विलम्ब होता है न कि फलोत्पत्ति में। इस बारे में ऐहिकाधिकरण (३.४.१६.५१) द्रष्टव्य है। पंचदशी (८.३९) में भी यह समझाया गया है। केवल ज्ञान की उत्पत्ति से अविद्यानिवृत्ति हो जाती है, कालविशेष की उसके लिये ज़रूरत नहीं। श्रुति में 'एतर्हि' अर्थात् 'इस समय' कहकर इसे व्यक्त कर दिया है। सर्वता स्वाभाविक होने से अज्ञानहानि से अन्य उसके लाभ में अनपेक्षित है। जो कोई ऐसा वचन मिले कि

नराणाम् अधमर्णत्वात् सर्वभावं दिवौकसः ।
वारयन्ति हविर्भोक्तुं तैर्दत्तम् इति चेन्न तत् । ।२३४ । ।
तस्य ज्ञातात्मतत्त्वस्य प्रध्वस्ततमसो यतेः ।
इन्द्रादयोऽपि नैवालं सर्वभावाप्तिवारणे । ।२३५ । ।
यद्यपीशा नृणां देवास्तथापि ब्रह्मवेदिनः ।
अनीशाः प्रत्युतैतेषाम् आत्मा भवति तत्त्ववित् । ।२३६ । ।

कलियुग में ज्ञान संभव नहीं आदि, वह दुर्लभता में अर्थवाद ही है, अन्यथा 'एतर्हि'-श्रुति से विरुद्ध होने पर अप्रमाण होगा। ।२३०-३ । ।

देवकृपा पर निर्भरता रूप चौथे विकल्प का परिहार करते हैं **यह जो शंका की थी कि क्योंकि मनुष्य ऋणी हैं इसलिये देवता उनके सर्वभाव को रोके रखते हैं ताकि मनुष्यों द्वारा दी हवि का भोग करते रहें, वह शंका अनुचित है। ।२३४ । । जिस संन्यासी ने आत्मा की वास्तवता समझ ली, जिसका अज्ञान नष्ट हो गया, उसे सर्वभाव का लाभ रोकने में इन्द्र आदि भी समर्थ नहीं हैं। ।२३५ । । यद्यपि देवता मनुष्यों के शासक हैं तथापि वे ब्रह्मवेत्ता पर शासन नहीं कर सकते बल्कि तत्त्वज्ञ ही उनका आत्मा हो जाता है। ।२३६ । ।** श्लोक २१६ में शंका बतायी थी। जैसे देवताओं के प्रति, वैसे ऋषियों व पितरों के प्रति भी ऋणी होने से उनके ऋण चुकाये बिना मोक्षमार्ग पर नहीं चलना चाहिये आदि शंका का भी यहाँ संग्रह समझ लेना चाहिये। समाधान का भाव है कि ज्ञान से पूर्व देवकृपा भले ही चाहिये हो पर ज्ञान होने पर उसकी ज़रूरत नहीं। जहाँ फल अनात्मा हो वहाँ विघ्नादि संभव है, आत्मरूप फल में नहीं। ज्ञान से पूर्व तो मुमुक्षु को देवताओं को प्रसन्न करना ही चाहिये ताकि उनकी कृपा से निर्विघ्न ज्ञानलाभ हो सके। देवता जिस अधिकारी पर प्रसन्न होंगे उसे ज्ञानयोग्य बना देंगे। भाष्यकार ने (बृ.१.४.१०) इसी प्रसंग में कहा है 'यं तु मुमोचयिषन्ति तं श्रद्धादिभिर्योक्ष्यन्ति, विपरीतम् अश्रद्धादिभिः। तस्माद् मुमुक्षुः देवाराधनपरः, श्रद्धाभक्तिपरः, प्रणेयः, अप्रमादी स्याद्'। श्रद्धादिपूर्वक देवताओं को प्रसन्नकर उनकी कृपा से वैराग्य पाते ही सर्वकर्म-त्याग कर देना चाहिये। गृहस्थ ही ऋणी संभव है। संन्यासी पर कोई ऋण नहीं रहता। अतः यहाँ भी आचार्य विद्यारण्य ने 'यतेः' कहा। वैराग्य-लाभ तक देवार्चनादि अवश्य करे, विरक्त होने पर सारी बहिर्मुखता छोड़ दे। तब देवकृपा बनी रहती है। बहिर्मुखता रखने पर तो देवताओं की कृपा नहीं रहने से वे विघ्न कर ज्ञान ही उत्पन्न नहीं होने देते। व्यास जी ने इसीलिये बताया है कि 'कषायों'

अविद्या

इत्थमादेयविद्यायाः सूत्रवृत्ती उदाहृते।
हेयाऽविद्या स्वकार्येण युक्ता सूत्रयति श्रुतिः।।२३७।।

का निवारण होने पर मोक्ष-साधना निर्विघ्न होती है। कषाय अर्थात् बहिर्मुखता के संस्कार। ऐसा यति ही आत्मानुभव पायेगा और उसके बाद उसके फल को कोई रोक नहीं सकता। लोक में भी देखा गया है कि जानकारी तो छिपायी जा सकती है पर जानकारी उपलब्ध हो जाने पर भी व्यक्ति को अज्ञान बना रहे यह नहीं किया जा सकता! अनेक वैज्ञानिक प्रक्रियाओं को, व्यापारिक योजनाओं को अत एव गुप्त रखते हैं किन्तु यदि जाहिर हो जायें तो उनसे सभी लाभ उठा लेते हैं। देवता भले ही शासक हैं लेकिन तत्त्ववेत्ता क्योंकि देवताओं का भी प्रत्यगात्मा हो चुकता है इसलिये वे उस पर शासन नहीं कर सकते। प्रथमतः तो अपने प्रत्यक्स्वरूप की मुक्ति में कोई भी क्यों विघ्न करेगा! दूसरी बात, देवता अनात्मा पर नियंत्रण द्वारा ही शासन करते हैं सूक्ष्मादि शरीर पर उनका नियंत्रण रहता है जबकि तत्त्वज्ञ के मोक्ष में किसी अनात्मा का विनियोग नहीं। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि तत्त्वज्ञान कैवल्यप्रदान में सक्षम है।।२३४-६।।

उपनिषत् ने जैसे विद्यासूत्र व्यक्त किया, वैसे अविद्या को भी सूत्ररूप में उपस्थित किया 'अथ योऽन्यां देवताम् उपास्ते, 'अन्योऽसावन्योऽहम् अस्मि' इति, न स वेद, यथा पशुरेवं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युः एवम् एकैकः पुरुषो देवान् भुनक्ति। एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति, किमुत बहुषु! तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः।।' (१.४.१०) अर्थात् जो देवता को स्वयं से पृथक् समझकर उसकी उपासना करता है, वह सत्य को नहीं जानता। वह देवताओं का मानो पशु है। मनुष्य बहुत-से पशु पालता है, सभी उसके उपभोग में, उपयोग में आते हैं; ऐसे ही प्रत्येक मनुष्य देवताओं के उपयोग में आता है अतः मानो अनेक पशुओं का प्रतिनिधि प्रत्येक मनुष्य है। हम लोगों का कोई एक पशु चुरा ले तो हमें पसंद नहीं, यदि अनेक पशु चोरी हो जाये तो अप्रसन्नता का क्या कहना! इस तरह बहुपशुस्थानीय मनुष्य परमार्थ समझकर मुक्त हो जायें यह देवताओं को प्रिय नहीं है। इस श्रुतिप्रसंग को उपस्थापित करते हैं **ग्रहण करने योग्य विद्या के सूत्र और व्याख्यान को इस तरह उद्धृत किया। अब श्रुति अपने कार्यों समेत उस अविद्या का सूत्र व्यक्त करती है जो अविद्या त्यागने योग्य है।।२३७।। जो देवता को अपने से भिन्न समझकर उसकी उपासना करता है वह स्वयं को नहीं जानता**

स्वस्माद् अन्यं देवतां य उपास्ते स्वं न वेद सः।
इति सूत्रम् अविद्यायाः सकार्यायाः श्रुतीरितम्।।२३८।।
अचिन्त्यशक्तिश्चिन्निष्ठा स्वाश्रयं मोहयेत् क्वचित्।
अविद्या साऽबोधनात् स्याज्जीवत्वभ्रान्तिकारिणी।।२३९।।

यह कार्य-समेत अविद्या का सूत्र वेद में बताया गया है।।२३८।। उपादेय की तरह हेय भी शास्त्र द्वारा समझाया जाता है। उपादेय विद्या है, हेय अविद्या और उसका कार्य है। भेदबुद्धि अविद्या है, वही हेय है। परमेश्वर को स्वयं से अलग समझना अविद्या है, चाहे उसे मालिक समझें, पिता-सखा-पुत्र आदि समझें; भिन्न समझते हैं तो निश्चित है कि ग़लत समझ रहे हैं। परमेश्वर को स्वयं से अभिन्न मानकर ही उपासना भी कर्त्तव्य है तभी क्रम-मोक्ष मिल सकता है। भेद- उपासना से केवल सद्गति प्राप्त होगी। परा देवता अर्थात् परमात्मा को भिन्न इसीलिये मानते हैं कि हम स्वयं को ठीक-ठीक नहीं जानते। जैसे स्वर्ण से भिन्न गहना नहीं हो सकता ऐसे आत्मा अर्थात् प्रत्यक्तत्त्व से भिन्न परमेश्वर नहीं हो सकता क्योंकि तब वह अनात्मा (जड) हो जायेगा। अतः भेदबुद्धि अज्ञान है।।२३७-८।।

सूत्रोक्त हेय अविद्या का वर्णन प्रारम्भ करते हैं **चेतन में स्थित एवं सद्-असद् आदि रूपों में अनिर्धारणीय शक्ति अविद्या है जो कहीं अपने आश्रय को मोह में डाल सकती है। क्योंकि वह अज्ञानरूप है इसलिये जीवता का भ्रम पैदा करती है।।२३९।।** अविद्या चेतन पर आश्रित है, उसकी शक्ति है। अविद्या को है-नहीं है आदि कोटियो में बाँटकर नहीं समझा जा सकता। वह क्या-क्या कर सकती है, यह भी विचार से परे है। सोने पर सपना देखते हैं तो चंद मिनटों में कितनी बड़ी दुनिया खड़ी कर लेते हैं! चेतन अपनी उसी अविद्या-शक्ति से यह कर पाता है। अपनी अविद्याशक्ति का अचिन्तनीय, कल्पनातीत महत्त्व स्वप्नादि में पहचानने से परमेश्वर की माया की अपार महिमा समझना सरल हो जाता है। हम संसार में अकस्मात् कुछ होता देखकर हतप्रभ हो जाते हैं क्योंकि भूल जाते हैं कि परमेश्वर की वह शक्ति है ही ऐसी कि जो कुछ हो सकने जैसा न लगे, उसे हुआ जैसा दिखा दे। कार्य-कारण के बंधन से वह शक्ति सर्वथा उन्मुक्त है। केवल मन के मानदण्डों से सोचने पर यह तथ्य ग्रहण नहीं होता क्योंकि मन देश-काल-कार्यकारणभाव में बँधकर ही सोच-समझ सकता है। मन से ज़्यादा व्यापक, कारणशरीर-रूप अज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ही कार्यकारणता से छुटकारा मिलता है। तभी परमेश्वर की माया की

नाश्रयं मोहयेद् याऽसावीश्वरत्वस्य कल्पिका।।
वस्तुत्वभ्रान्तिरेवाऽस्या हेया सा त्ववतिष्ठते।।२४०।।

कुछ संकल्पना स्पष्ट होती है। अविद्यारूप वह शक्ति अपने आश्रय को मोहग्रस्त करती है। 'क्वचित्' अर्थात् कहीं, कभी, किसी परिस्थिति में। कहीं अर्थात् जहाँ जीवभाव व्यक्त होता है, कभी अर्थात् तत्त्वज्ञान से पूर्व, किसी परिस्थिति में अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न में। सुषुप्ति में कार्यभूत मोह अव्यक्त रहता है। मोहवश हम न केवल स्वयं से अनभिज्ञ हैं वरन् यह तक नहीं समझते कि खुद को जान नहीं रहे! कौन हूँ, कहाँ से आया, क्यों आया, कहाँ जाना है यह तक जो न जाने उसे अत्यन्त मूर्ख ही कहा जायेगा। सेवाल जिस जल पर आश्रित होती है उसी को ढाँकती है ऐसे ही अविद्या आत्मा पर रहकर उसी को ढाँकती है। अत एव आत्मा स्वयं का ठीक स्वरूप नहीं जानता एवं खुद को जीव समझता रहता है।।२३९।।

जीवता के भ्रम की तरह ही अविद्या परब्रह्म में ईश्वरता का व्यवहार कराती है किंतु वैसा करती हुई वह आत्मा को मोह में नहीं डालती अर्थात् ईश्वर को किसी प्रकार का भ्रम नहीं रहता यह बताते हैं **ईश्वरता की कल्पना करने वाली वही अविद्या अपने आश्रय को मोह में नहीं डालती। उस माया के बारे में 'यह वस्तु है' यह भ्रम ही हटाने योग्य है, वह तो बनी रहती है।।२४०।।** एक ही काँच एक ही मुख में बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों व्यवहार करा देता है; काँच से प्रभावित को प्रतिबिम्ब तथा अप्रभावित को बिम्ब कह देते हैं। इसी प्रकार अविद्या से प्रभावित को जीव तथा अप्रभावित को ईश्वर कह देते हैं। जिस अविद्या से ऐसा होता है उसे वस्तु अर्थात् सत्य नहीं समझना चाहिये। उसके बाध से जीव का आवरण तो निवृत्त हो जाता है किन्तु ईश्वर में आवरण तो है नहीं जो निवृत्त हो अतः मुक्त को यही समझ आ जाता है कि ईश्वर का वैभव माया का विस्तार है। इसके बावजूद ईश्वर में वैभव उपलब्ध होता रहे इसमें कोई विरोध नहीं। अचिन्त्य, अनिर्वचनीय होने से उसकी अनुभूति निवृत्त हो या न हो, इसका महत्त्व नहीं, उसे सच्चा समझना अवश्य समाप्त होना चाहिये। 'अवतिष्ठते' अर्थात् जैसी मिथ्या अभी है वैसी ही बनी रहती है, सच में तो न अब है, न रह सकती है। 'माया बनी रहती है' का यह मतलब नहीं कि वह कोई वस्तु हो जो रहे वरन् इतना ही अर्थ है कि अवमत अर्थात् बाधित हुई रह जाती है।।२४०।।

अव्याकृत, अविद्या एक ही अज्ञान के ये विभिन्न आकार हैं यह स्पष्ट करते हैं **प्रारंभ में, सृष्टि के प्रसंग में अज्ञान का माया-आकार अव्याकृत-शब्द से बताया**

सृष्टिप्रकरणे तत्र मायाकारः पुरोदितः ।
अव्याकृतगिरा तस्य कार्यं व्याकृतम् ईरितम् । ।२४१ । ।
कर्मिप्रकरणे[1] त्वस्मिन्नविद्याकार ईर्यते ।
स्वस्माद् भिन्ना देवतेति धीरविद्याविजृम्भिता । ।२४२ । ।
स्वस्य तत्त्वम् अविज्ञाय यागदानादिकर्मभिः ।
स्वतोऽन्या देवताः पाति ह्यनड्वान् वणिजं यथा । ।२४३ । ।

था, उसी का कार्य व्याकृत कहा था । ।२४१ । । इस कर्म (या कर्मी) के प्रकरण में तो अज्ञान का अविद्या-आकार कहा जा रहा है। 'देवता मुझसे भिन्न है' ऐसा निश्चय अविद्या का फैलाव है । ।२४२ । । अज्ञान को ही जगत्कारण के रूप में देखने पर माया या अव्याकृत कहते हैं तथा जीव को होते परिच्छेदादि भेदभ्रम के हेतुरूप से अविद्या कहते हैं। अज्ञान का कार्य व्यक्त है जैसे अविद्या का कार्य प्रातिभासिक सर्पादि के रूप में व्यक्त होता है। जैसे रस्सी की अविद्या से व्यक्त होने वाले सर्पादि सचमुच में रस्सी ही हैं वैसे अज्ञान से उत्पन्न होने वाला नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्म ही है। अविद्याकार्य कर्म से व्याप्त होता है; जहाँ नाम-रूप है वहाँ कुछ-न-कुछ कर्म भी होगा। अतः अविद्याकार्य के प्रसंग को कर्म-प्रकरण समझा जाता है। देवता अर्थात् आराध्य चेतन को स्वयं अर्थात् आराधक चेतन से भिन्न मानना यह अविद्या का विस्तार है, परमेश्वर को एवं स्वयं को सही तरह से न जानने का नतीजा है। जैसे मुँह में मौजूद दाँत-जीभ आदि जँभाई लेने पर दीख जाते हैं वैसे भेदबुद्धि अज्ञान में निहित है जो व्यक्तावस्था में प्रकट हो जाती है। जैसे जँभाई स्वभावतः आ जाती है ऐसे अविद्या का भेदरूप में व्यक्त होना स्वाभाविक है। भेदबुद्धि से ही कर्तृत्व-अध्यास संगत होता है । ।२४१-२ । ।

भेदबुद्धि से कर्मप्रवृत्ति प्रकट करते हैं **अपनी वास्तविकता न जानकर मनुष्य याग-दान आदि कर्मों द्वारा देवताओं का वैसे ही पालन करता है जैसे बैल बनिये का पालन करता है । ।२४३ । ।** खेत जोतना, सामान ढोना आदि द्वारा बनिये का पालन बैल करता है, यज्ञादि-अनुष्ठान से अधिकारी देवताओं का पालन करता है। यह इसीलिये संभव है कि मनुष्य को यह पता नहीं कि वह साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है। अतएव वह खुद को शरीरादि समझकर इनसे प्रतिबद्ध कर्त्तव्यों के निर्वाह में उलझा रहता है तथा इनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता को स्वयं का सुख-दुःख समझता रहता है। खुद को

---

[1] कर्मप्रकरणे-इति सारानुसारी मुतुशास्त्रीपाठः ।

अपि भूरिपशोः पुंसः एकस्मिन्नपि तस्करैः।
ह्रियमाणे पशौ दुःखं किमु सर्वापहारतः।।२४४।।
सर्वस्वतुल्ये नृपशौ ब्रह्मधीपरिमोषिणा।
ह्रियमाणे महद्दुःखं सर्वेषां च दिवौकसाम्।।२४५।।
तस्मादेषां न प्रियं तद् यन्मनुष्या विजानते।
ब्रह्मात्मत्वम् अतो देवाः प्रतिबध्नन्ति वेदनम्।।२४६।।

सीमित-सामर्थ्य का एवं देवताओं को अतिसमर्थ मानकर ही मनुष्य अपनी समझी जाने वाली कामनायें पूरी करने के लिये देवताओं को पूजता है। जैसे मालिक अपने बैल को खिलाता-पिलाता है ताकि उससे काम लिया जा सके ऐसे देवता भी फल देते रहते हैं ताकि मनुष्य उनकी सेवा करता रहे।।२४३।।

देवताओं का सेवक होने से ही मनुष्य देवताओं द्वारा ब्रह्मज्ञान से दूर रखा जाता है, वे नहीं चाहते कि मनुष्य को ब्रह्मज्ञान हो यह श्रुतिबोधित अर्थ बताते हैं **जिसके पास अनेक पशु हों, उसके किसी एक पशु को भी यदि चोर चुरा लें तो दुःखी होता ही है, तो यदि सारे ही पशु चोरी हो जायें तो दुःख का क्या ठिकाना!।।२४४।। देवताओं का पशुभूत मनुष्य उनके सर्वस्व जैसा है, इसे ब्रह्मज्ञानरूप चोर चुरा ले तो सभी देवता अत्यंत दुःखी होते हैं।।२४५।। इसलिये देवताओं को यह पसंद नहीं कि मनुष्य ब्रह्म की आत्मरूपता समझें अतः वे ज्ञान में रुकावट डालते हैं।।२४६।।** दृष्टांत स्पष्ट है कि अनेक पशु वाले का एक पशु चोरी होने पर जो दुःख होता है, उसके सब पशु चोरी हों तो उससे अत्यधिक दुःख होता है। दार्ष्टांत में देवताओं के लिये मनुष्य ही सब पशुओं के बराबर है : बनिये की सेवा तो बैल, गाय, भैंस, घोड़ा आदि अनेक पशु करेंगे लेकिन देवताओं की सेवा एक मनुष्य ही करेगा, बाकी प्राणी तो शास्त्राधिकारी नहीं कि उनकी सेवा कर भी सकें। अतः बनिये के सब जानवरों की जगह देवताओं के लिये मनुष्य है। यद्यपि आज पृथ्वी पर छह अरब मनुष्य हैं तो लग सकता है कि एक-दो के मुक्त होने में देवताओं का क्या हर्जा तथापि छह अरब देवताओं के सेवक नहीं हैं। उनकी सेवा करने वाले तो हैं ही गिने-चुने, उन्हीं की चित्तशुद्धि संभव होने से मोक्ष संभव है, अतः उनमें से एक का जाना भी देवताओं को असह्य हो यह उपपन्न ही है। बनिये के पशु चुराने वाले चोर होते हैं, उसी तरह देवपशुओं का अपहर्त्ता है परमात्मज्ञान। चोर पशुओं को चुरा न सके इसकी व्यवस्था जैसे बनिया करता है ऐसे देवता कोशिश करते हैं कि मनुष्यों को ब्रह्मज्ञान न

स्पष्टीकृतं पारतन्त्र्यं पशुदृष्टान्ततो नृणाम्।
वर्णाश्रमादितद्धर्मसृष्टिः कर्मार्थमीरिता।।२४७।।

मिले, मिले भी तो प्रतिष्ठित न हो सके। देवताओं को तो सभी जीवों की देख-रेख करनी पड़ती है; मक्खी-मच्छर की भी आँखें देखें यह तभी संभव है जब आदित्य की उन पर कृपा रहे; ऐसे ही विभिन्न देवताओं को व्यवस्था करते रहना पड़ता है; किन्तु उन देवताओं की सेवा करने वाले बहुत कम ही होते हैं अतः प्रत्येक मनुष्य क्योंकि अनेक देवताओं का सेवक हुआ करता है इसलिये उसे ब्रह्मज्ञान न हो सके इसके लिये भी एक ही नहीं, सभी देवता सावधान रहते हैं! सभी का प्रयास ऐसे विघ्न पैदा करना होता है जो ज्ञान और निष्ठा न हो सके। वार्त्तिककार ने इसी प्रसंग में कहा है कि देवताओं की अनुकूलता न रहने से ही संन्यासी लोग भी प्रमादी, बहिर्मुख एवं कलहोन्मुख होकर पुरुषार्थ से च्युत हो जाते हैं। इंद्रिय-मन की रुग्णता, विषय-सेवा-परायणता आदि अनेक तरीके हैं जिनसे जीव मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।।२४४-६।।

कर्माधिकारी जीव को होने वाले भ्रम के हेतु अज्ञान के बाध से जीव की देवता-परतंत्रता हट जाती है। इस बाध से पूर्व परतंत्रता रहती ही है यह पूर्व प्रकरण में बताया। इसी संदर्भ में ब्राह्मणादि वर्णों अग्नि आदि देवताओं और धर्म की सृष्टि का वर्णन किया गया है (१.४.११-१४)। इस ग्रंथभाग का परिचय देते हैं **पशुओं के उदाहरण से मनुष्यों की परतंत्रता स्पष्ट की तथा वर्ण-आश्रम आदि और उनके धर्मों की सृष्टि बतायी ताकि अधिकारी कर्म करे।।२४७।।** जैसे पालतू पशु-पक्षी को भोजन आदि की सुविधा रहती है लेकिन परवशता बनी रहती है वैसे देवताओं के सेवकों को भोगादि की उपलब्धि भले ही रहे, परतंत्रता रहती ही है। फिर भी, जो स्वतंत्रता की जोखिम उठाने में सक्षम नहीं, वे कम-से-कम देवाराधन से उपलब्ध सुख-सुविधा का तो लाभ ले ही सकते हैं। इस उद्देश्य से वेद ने वर्णादि और धर्म की उत्पत्ति कही जिसे समझ कर लोग धर्माचरण करें। जो जिसके लिये विहित है वही उसका धर्म है, न कि जो जिस कार्य को अच्छी तरह कर सके वह उसके लिये धर्म हो जाये! धर्म यथाविधि ही संमत है। श्रुति में आश्रमों का नाम न लिया होने पर भी धर्म की उत्पत्ति कही है और धर्म वर्णों की तरह आश्रमों के अनुसार होता है अतः यहाँ आश्रम भी कह दिये। भाष्य में 'किं पुनर्देवादिकर्मकर्त्तव्यत्वे निमित्तम्? वर्णा आश्रमाश्च। तत्र के वर्णा इत्यत इदमारभ्यते' (पृ. १०४ म.अ.सं.) यों इस प्रसंग में आश्रमों का संकेत है हालाँकि सृष्टि उनकी नहीं कही है।।२४७।।

नन्वेवं तस्य मुक्तिश्च स्यादेवात्मधियं विना।
अज्ञानकर्मणोः श्रुत्या सादरेणोपवर्णनात्।।२४८।।
मैवम् आत्मा किमज्ञातो मुक्तिदः कर्म वा महत्।
आम्नायकृषिवद् नाऽयम् अज्ञातात्मा फलप्रदः।।२४९।।

उक्त सृष्टि बताकर उपनिषत् कहती है 'अथ यो ह वा अस्माल्लोकात् स्वं लोकम् अदृष्ट्वा प्रैति, स एनम् अविदितो न भुनक्ति, यथा वेदो वाऽननूक्तोऽन्यद् वा कर्माऽकृतम्।' अर्थात् स्वात्म-दर्शन किये बिना मर जायें तो यह आत्मा की नित्यमुक्तता कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करती क्योंकि जानी नहीं गयी है। जैसे पढ़ा न हो तो वेद, या किया न हो तो कर्म कोई लाभ नहीं देता वैसे समझा न हो तो आत्मा से कोई लाभ नहीं। यों आत्मज्ञान की आवश्यकता बतायी है, इसी को स्पष्ट करते हैं **क्योंकि श्रुति ने आदर से (विस्तार से) अज्ञान और कर्म का वर्णन किया है तो क्या आत्मज्ञान के बिना ही मोक्ष हो जाता है?।।२४८।।** वेद के अतिविस्तृत कर्मकाण्ड को देखकर यह स्वाभाविक शंका होती है कि कर्म ही मोक्ष के लिये भी पर्याप्त होगा। इसका परिहार यहाँ श्रुति ने किया है। कर्म-विधान तो इसलिये कि कर्म से देवताओं को अनुकूल कर आत्मबोध निर्विघ्न पा सकें। मनुष्य जानेगा तभी कर्म करेगा और तभी चित्त-शुद्धिपूर्वक आचार्य की शरण लेकर ज्ञान से मुक्त होगा।।२४८।।

नित्य मुक्त होने पर भी अज्ञात आत्मा हमारे मोक्ष को सम्भव नहीं करता यह समझाते हैं **आत्मज्ञान के बिना मोक्ष संभव नहीं। प्रश्न होगा कि क्या न समझा गया आत्मा मोक्ष देता है? अथवा क्या कोई महान् कर्म मोक्ष देता है? अज्ञात आत्मा वैसे ही फल नहीं देता जैसे न पढ़ा वेद या न की गयी खेती।।२४९।।** पूर्वश्लोकोक्त प्रश्न का उत्तर दिया कि मोक्ष ज्ञानैकलभ्य है, साधनान्तरलभ्य नहीं। आत्मा स्वतः (स्वरूपसत्) मोक्षहेतु नहीं, अन्यथा बंधन होता ही नहीं! आत्मा का यथार्थ ज्ञान ही मोक्षप्रद है। द्वितीय प्रश्न है कि क्या अश्वमेधादि कोई महान् कर्म ऐसा है जिससे मोक्ष हो? इसका भी निषेधात्मक उत्तर श्लोक २५३ आदि में दिया जायेगा। प्रथम प्रश्न का उत्तर यहाँ से शुरू किया कि आत्मज्ञान मोक्षप्रद है। वेद का हमें तभी लाभ होता है जब हम उसे विधिवत् ग्रहण करें जैसे खेती करें तभी लाभ है, केवल खेत व बीज पड़े रहें तो कोई फ़ायदा नहीं।।२४९।।

उक्त दृष्टान्त स्वयं व्यक्त करते हैं **अपने अर्थ के ज्ञान द्वारा अधिकारी का पालन करने वाला वेद (यदि) पढ़ा ही न गया हो (तो) पालन नहीं कर सकता।**

अनधीतो यथा वेदो नाऽर्थज्ञानेन पालयेत्।
अकृता वा कृषिः पाति नाऽकर्तारं फलार्थिनम्।।२५०।।
तथा स्वात्माऽप्यविज्ञातो मुमुक्षुं मोक्षदानतः।
न पालयत्यतो मुक्तिरज्ञस्य न हि कस्यचित्।।२५१।।
स्वात्माख्यलोकमज्ञात्वा यो देहाख्यस्वलोकतः[1]।
प्रैत्यसौ पुनरप्यन्यं देहलोकं व्रजेद् दृढम्।।२५२।।

जिसने खेती की नहीं ऐसे फलेच्छु का पालन न की गयी खेती नहीं करती।।२५०।। इसी प्रकार सही तरह से अपरोक्ष न समझा गया निज आत्मा भी मोक्ष देकर पालन नहीं करता। इसलिये किसी अज्ञानी को मुक्ति नहीं मिलती।।२५१।। स्वात्मा-नामक लोक बिना जाने जो शरीर-नामक लोक से चला जाता है वह फिर किसी और शरीर-रूप लोक को ही प्राप्त करता है, यह ध्रुव है।।२५२।।

वेद हमारा असीम हित कर सकता है पर तभी जब हम उसे पढ़ें! यूरोप में प्रसिद्धि है कि वहाँ कोई घर ऐसा नहीं जहाँ बाइबल न हो लेकिन घर में कोई ऐसी पुस्तक नहीं होती जिस पर बाइबल जितनी धूल न जमी हो! बाइबल रखते तो हैं, पढ़ते नहीं। इसी प्रकार हमारी धरोहर तो वेद है लेकिन हम उसे पढ़ते नहीं तो उससे लाभ भी नहीं उठा पाते। वेद के अर्थ को जानें, उसके अनुसार कर्म-उपासना करें, चित्त स्वच्छ बनायें जिससे वेदानुसार परमात्मदर्शन पायें तब कल्याण हो। वेद निज अर्थ के बोध द्वारा ही कल्याण कर सकता है। यद्यपि वेद के अक्षरों को भी सीखकर रोज़ स्वाध्याय करने से पुण्य है तथापि वह अत्यल्प लाभ है, उसकी अपेक्षा असीम लाभ हम वेद का उठा सकते हैं यदि उसका अर्थ समझें तो। इसी तरह खेती करें तो वह हमें फ़ायदा देती है। लोग जैसे वेद-लभ्य स्वर्गादि तो चाहते हैं पर वेदाध्ययन का श्रम नहीं करते, ऐसे कृषि का फल चाहते हैं पर कृषि का श्रम नहीं करते तो लाभ से वंचित रहते हैं। अज्ञात वेद, अकृत खेती की तरह अविज्ञात आत्मा कल्याण नहीं करता। भले ही हम मोक्षार्थी हों, आत्मा मोक्ष दे तभी सकता है जब उसका यथार्थ अपरोक्ष करें। वह आत्मा स्वयं 'लोक' है क्योंकि ज्ञानरूप है। उसे न जानने तक यह शरीर ही 'लोक' है क्योंकि सारे संसार से हमारा सम्बन्ध इस शरीर को ही लेकर है। यहाँ तक कि सामान्य लोग 'मरने के बाद कुछ नहीं रहता' ऐसा मानते हैं। हर हालत में, चाहे राज-पाट हो, चाहे भस्म-कौपीन हो, शरीर रहते ही उनसे संबंध है, शरीर छूटने पर नहीं। आत्मरूप लोक के यथार्थ के साक्षात्कार

---

[1] यो देहादस्वलोकतः इति सारे पाठ।

अनात्मविद् महत् पुण्यम् अश्वमेधादिकं यदि ।
कुर्याद् नित्यफलायैतद् अथाऽप्यन्ते विनश्यति ।।२५३।।
कृतस्य हि क्षयोऽवश्यं कोष्ठागारादिवद् भवेत् ।
न मोक्षायादरस्तस्मात् श्रुतावज्ञानकर्मणोः ।।२५४।।

के बिना केवल शरीररूप लोक के ज्ञान तक सीमित रहकर मर गये तो पुनः शरीरान्तर को अपना रूप मानकर पैदा हो जायेंगे। मिस्र में तो यहाँ तक मान्यता थी कि मृत देह ही पुनः सजीव हो जायेगा! ईसाई आदि मानते हैं कि कयामत के दिन सब गड़े मुर्दे उठ खड़े होंगे, जिन्हें ईसा आदि 'अपने जानवर' कह देगा वे स्वर्ग और बाकी सब नरक भेज दिये जायेंगे। भारत में ऐसी नासमझी प्रायः नहीं है। बौद्ध-जैन भी इतना समझते ही हैं कि मृत शरीर पुनरुज्जीवित नहीं होता। मोक्षपर्यन्त शरीर अवश्य मिलता है और चौरासी लाख योनियों में से यथाकर्म - यथासंस्कार कोई-न-कोई शरीर मिलता है। जो स्वयं को चिन्मात्र समझ लेता है, उसे वर्तमान शरीर में अहंभाव नहीं रह जाता तो भावी शरीर मिलने का प्रसंग ही नहीं।।२५०-२।।

श्लोक २४९ में प्रश्न उठा था कि क्या कर्म से मोक्ष होगा? कर्म की सफलता पर हमें इतना अधिक भरोसा है कि मोक्ष भी उसी से होगा ऐसा मानना सहज लगता है। कर्म-वादी यहाँ तक स्वीकारने को तैयार हो जाते हैं कि ईश्वर है ही नहीं, कर्म स्वयं ही फल दे देता है! कर्म-वादी यदि ईश्वर मानते भी हैं तो एक यंत्र जैसा, जो कर्म का फल ही दे सकता है, अपनी ओर से कुछ और नहीं कर सकता। अतः यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, इसका उत्तर देने के लिये प्रकृत श्रुति में कहा 'यदि ह वा अप्यनेवंविद् महत् पुण्यं कर्म करोति, तद्धास्यान्ततः क्षीयत एव' (१.४.१५) कि आत्मा को न जानने वाला चाहे जितना महान् कर्म कर ले उसका वह अर्जित पुण्य आखिर ख़त्म होता ही है। इसी वेदवचन का भाव समझाते हैं **आत्म-याथार्थ्य से अनभिज्ञ व्यक्ति अगर अश्वमेध आदि महान् पुण्य नित्य फल के उद्देश्य से करे तो भी वह पुण्य आखिर समाप्त ही होता है।।२५३।। जैसे कोठार आदि का क्षय ज़रूर होता है ऐसे जो कुछ भी क्रिया से निर्वृत्त होता है उसका अवश्य क्षय (समापन) होता है, इसलिये श्रुति में मोक्ष के उपयोगार्थ अज्ञान व कर्म को महत्त्व नहीं दिया है।।२५४।।** जैसे पापों में सबसे बड़ा ब्रह्महत्या वैसे पुण्यों में सबसे बड़ा अश्वमेध; उसका भी यदि नित्य फल के लिये अनुष्ठान, किया जाये तो बेकार है क्योंकि कर्म नित्य का साधन है ही नहीं। कर्म से जो भी मिलता है वह सातिशय होता है, इसलिये भी निरतिशय मोक्ष में कर्म का

किन्तु जीवन्मुक्तिकाले बोधहेयं विवेचितम्।
मुक्तिस्तु विद्यासूत्रेण सूचिता स्याद् विचारतः।।२५५।।

विनियोग नहीं। कर्म से पुण्य अर्जित होगा, पुण्य का फल मिलने पर वह पुण्य व्यय होने लगेगा अतः पुण्य पूरा व्यय होने पर फल समाप्त भी हो जायेगा। इसलिये कर्म से मोक्ष नहीं होता। उपासना भी मानस कर्म ही है, उससे भी मोक्ष संभव नहीं। जो लोकविशेष की प्राप्ति मोक्ष कही जाती है, वह तो कर्म से ही होगी लेकिन कर्मफलभूत होने से क्षयिष्णु होगी यह भाव है। नित्य मोक्ष अर्थात् कैवल्य कर्म से दुर्लभ है। कोठार में सामान भरते हैं तो धीरे-धीरे खर्च होकर कोठार खाली भी होता है। कहीं 'गोष्ठ' पाठ है, अर्थ है कि जैसे जानवर घटने से गोष्ठ (गौशाला) खाली होता है क्योंकि जानवर लानारूप क्रिया से ही वह भरता है, ऐसे सभी क्रिया-साध्य समाप्त भी होते ही हैं। ज्ञान क्रिया नहीं है। व्याकरण की दृष्टि से कुछ लोग उसे भले ही क्रिया कहें पर 'कर्त्ता के अधीन होना' यह क्रिया की विशेषता ज्ञान में नहीं, वह प्रमाण-प्रमेय के अधीन होता है अतः दार्शनिक उसे क्रिया नहीं मानते हैं। परमात्मा जैसा है वैसा उसे प्रकट करना यही ज्ञान का प्रयोजन है, कुछ 'करना' अर्थात् जो नहीं है उसे है बनाना यह ज्ञान का उद्देश्य नहीं। परमात्मा नित्य मुक्त है, ज्ञान से यही प्रकट होता है। क्योंकि कर्म-फल नित्य संभव नहीं इसलिये नित्य मोक्ष के संदर्भ में वेद ने कर्म को कोई महत्त्व नहीं दिया, तत्त्वसाक्षात्कार को ही मुख्य बताया। जहाँ तो सांसारिक फलों का, कामनायुक्त लोगों का प्रसंग है वहाँ शास्त्र ने भूरिशः कर्म-उपासना का विस्तार किया। ज़्यादा लोग ऐसे हैं अतः वेद का ज़्यादा हिस्सा कर्म-विधायक है भी। जो अभी केवल मोक्ष नहीं चाहता, इतनी ही अभिलाषा रखता है कि मोक्ष हो जाये तो अच्छा है, उसकी मोक्षेच्छा तीव्र हो ताकि वह मोक्षाधिकारी, मोक्षसाधनभूत ज्ञान का अधिकारी बने इसके लिये भी कर्मादिका विधान उपलब्ध है किंतु साक्षात् मोक्ष के हेतुभूत किसी कर्म का उल्लेख नहीं क्योंकि मोक्ष कर्मकार्य है ही नहीं।।२५३-४।।

तथापि विद्या के प्रसंग में 'अथ योऽन्याम्' आदि से (१.४.१०) अविद्या का सूत्रण और फिर विस्तार किया ही क्यों? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं **(मोक्षोपयोगी के रूप में कर्म-उपासना को आदर नहीं दिया) किन्तु जीवन्मुक्ति-काल में ज्ञान से जो त्याज्य है उसका विवेचन मात्र (अविद्यासूत्रादि से) किया। मोक्ष तो विद्यासूत्र के विचार से ही होता है।।२५५।।** विद्यासूत्र के बाद अविद्या का उल्लेख उसकी हेयता बताने के लिये है। मुक्त को जो पता चलता है कि वह किस-किस से छूटा, इसी का वर्णन अविद्यासूत्र में है। अज्ञानी भी इस वर्णन से समझ सकता है कि मोक्ष पाने पर वह

आत्मानमेव निर्द्वैतं स्वप्रभं प्रविचारयेत् ।
विचारयति यस्तस्य फलं न क्षीयते क्वचित् ।।२५६।।

किस-किस से छूट जायेगा। कर्म से ही मोक्ष भी मिल जायेगा यह भ्रम भी अविद्या-कार्य की हेयता जानने से मिट जाता है, अतः भी अविद्यासूत्रण उपादेय है।।२५५।।

आगे श्रुति है 'आत्मानम् एव लोकम् उपासीत। स य आत्मानमेव लोकम् उपास्ते, न हाऽस्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत् कामय़ते तत्तत् सृजते।' (१.४.१५) अर्थात् आत्मरूप लोक की ही उपासना करनी चाहिये। ऐसा करने वाले का कर्म क्षीण नहीं होता। आत्मोपासक जो चाहे वह आत्मा से ही बना लेता है। इस श्रुतिभाग का संग्रह करते हैं **अद्वैत स्वप्रकाश आत्मा का ही विशेषतः विचार करना चाहिये। जो उसी का विचार करता है उसका फल कभी कम नहीं होता।।२५६।। कामुक पुरुष स्वर्गादि जो-जो सुख चाहता है उस-उसका उत्पादन कर्म-आराधित इस आत्मा से ही कर लेता है।।२५७।।** अज्ञान से द्वैत उपलब्ध है जिसका वास्तविक असत्त्व परमात्मा में होने से वह अद्वैत है। फिर भी स्वयं ज्ञानरूप होने से उसकी प्रकाशमानता किसी पर निर्भर नहीं। अस्वप्रकाश होता तो अद्वैत रहते उसका भान न होता क्योंकि अस्वप्रकाश वस्तुओं का भान मन आदि द्वैत रहते ही हुआ करता है। अतएव मोक्ष अवस्था में कोई ज्ञान नहीं रह जाता ऐसा मानने वाले भी दार्शनिक हैं क्योंकि वे आत्मा को स्वप्रकाश, चिद्रूप नहीं समझ पाते। घड़ा आदि देखने के लिये रोशनी भले ही चाहिये रहे, रोशनी देखने के लिये कोई रोशनी नहीं चाहिये रहती; ऐसे ही परमात्म-प्रकाश अन्तःकरणादि पर निर्भर नहीं। ऐसे अद्वितीय चिन्मात्र का 'उपासीत' अर्थात् 'प्रविचारयेत्' बारम्बार यथाशास्त्र चिंतन कर्तव्य है। यही यहाँ 'उपासना' कही जा रही है। जैसे तत्तद् देवता को तत्तद् उपचार पसंद होते हैं ऐसे अद्वैत शिव को विचार पसंद है। विचार से प्रसन्न हुआ प्रत्यगात्मा अपना स्वरूप स्पष्टतः प्रकट करता है। विचारक को प्राप्य फल जो प्रत्यगभेद वह सत्त्य होने से कभी क्षीण नहीं होता। श्रुति में 'कर्म' कहा है जिसका अर्थ है फल अर्थात् अद्वैतभाव की प्राप्ति। यहाँ यह भी द्योतित है कि आत्मविचारक को उपलब्ध फल अक्षय होने से यदि एक जीवन में संपूर्ण सफलता न मिले तो भी जो हासिल होता है वह कायम रहकर अगले जन्म में वहीं से आगे बढ़ने का मौका मिलता है और ऐसा तब तक होता है जब तक परमात्मभाव उपलब्ध न हो जाये। इस बारे में गीता (६.४०-५), ब्रह्मसूत्र (३.४.अधि.१६) आदि में विस्तार उपलब्ध है। अद्वैत स्थिति पुरुषार्थ है, कमनीय है, यह समझाने के लिये श्रुति ने कहा कि साधारण्ण लोगों को जो कामनायोग्य लग सकता है

कामी कामयते यद्यत् सुखं स्वर्गादिजं पुमान् ।
अस्मादेवात्मनस्तत्तत् सृजते कर्मपूजितात् ।।२५७।।
अविनाशोऽखिलानन्दहेतुत्वं चेत्यदो द्वयम् ।
न कर्मणां फले युक्तं युक्तं विद्याफले तु तत् ।।२५८।।
सिद्धस्य व्यंजिका विद्या व्यक्तात्मा फलमुच्यते ।
न ह्यात्मनो विनाशोऽस्ति नित्यं विद्याफलं ततः ।।२५९।।

वह स्वर्गादि सभी कुछ मुक्त के लिये सुलभ है क्योंकि वह आत्मा से ही उस सबकी रचना कर लेता है। तात्पर्य इतना ही है कि विषय-सुखों की समग्रता से भी कहीं अधिक सुखस्वरूप आत्मा है। ऐसा नहीं कि मुक्त को कोई कामना होवे तथा वह तदनुसार विषय बनाये! उसे असीम आनंद सुलभ होने से विषयाभिलाषा संभव ही नहीं। विषय-सुख भी आत्मा का ही परिच्छिन्न सुख है जैसे घड़े का पानी भी कुएँ के पानी का सीमित अंश है; जैसे कुँए को प्राप्त व्यक्ति घड़े के जल का अभिलाषी नहीं होता क्योंकि उतना या उससे कहीं ज़्यादा पानी वह कुएँ से पा सकता है, ऐसे आत्मस्वरूप को प्राप्त मुक्त सारा ही सुख आत्मा से ही पा लेता है अतः निराकांक्ष रहता है, यह अर्थ है। 'कर्मपूजितात्' का एक भाव है कि 'कामी कर्मपूजिताद् आत्मनः (=परमात्मनः) यत् कामयते' अर्थात् कामुक कर्म से पूजित परमात्मा से जो चाहता है वह उसी परमात्मा से उत्पन्न कर लेता है। कामनापूर्वक कर्म करने से जो मिलता है वह परमात्मा से ही मिलता है। दूसरा भाव है कि कर्म-पूजित परमात्मा से कामी जो चाहता है वह सब तत्त्वज्ञ इसी स्वरूपभूत आत्मा से उत्पन्न कर लेता है। कामी को तो कर्म के हिसाब से मिलता है, इसे यों सीमित नहीं वरन् असीमित मिल जाता है।।२५६-७।।

श्रुति में 'न क्षीयते' कहा वह मोक्षाभिप्राय से ही है यह उपपन्न करते हैं **विनाश न होना और समस्त आनंद का हेतु होना ये दोनों विशेषताएँ कर्मों के फल में संगत नहीं, ज्ञान के फल में तो संगत हैं।।२५८।।** कर्मफल क्षयी एवं परिच्छिन्न होता है अतः 'न क्षीयते' और 'यद्यत् कामयते' ये बातें मोक्ष के संदर्भ में ही हैं यह स्पष्ट है।।२५८।।

उक्त उपपत्ति ही व्यक्त करते हैं **स्थित वस्तु को ही विद्या व्यक्त करती है तथा विद्या से व्यक्त आत्मा ही (ज्ञान का) फल कहा जाता है। क्योंकि आत्मा का विनाश नहीं होता इसलिये विद्या का फल नित्य (सनातन) है।।२५९।।** चीज़ जैसी है वैसी अनावृत हो जाये, प्रकाशित हो जाये इतना ही विद्या करती है।

सार्वभौमादिकाः प्रोक्ता उत्तरोत्तरवृद्धितः ।
हिरण्यगर्भपर्यन्ता आनन्दा आत्मबिन्दवः ।।२६० ।।
ब्रह्मानन्दस्य भूतानि मात्रां यान्तीत्युदीरणात् ।
तत्तत्कर्मानुसारेण ब्रह्मानन्दः स्फुरेन्नृणाम् ।।२६१ ।।
तत्तद्विषयकामेन चित्तेऽस्मिन् व्याकुलीकृते ।
आनन्द आत्मभूतोऽपि स तिरोधीयते नृणाम् ।।२६२ ।।
पुण्येन विषये लब्धे चित्ते स्वास्थ्यम् उपागते ।
आत्मानन्दः स्फुरेत् तावद् यावद् व्याकुलतान्तरम्[1] ।।२६३ ।।
एवं च विषयानन्दा ब्रह्मानन्दस्य बिन्दवः ।
सर्वानन्दनिधिर्विद्याफलम् इत्येतद् ईरितम् ।।२६४ ।।

विद्यासूत्रोक्त विद्या जिसे यों व्यक्त करती है वही उस विद्या का फल कहा जाता है। कहा ही जाता है, सचमुच फल नहीं क्योंकि सदा स्वरूप होने से प्राप्त है, इसलिये 'उच्यते' कहा। नित्य शुद्धादि आत्मा विद्या से प्रकट होता है, आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं आता। क्योंकि आत्मा अनश्वर है इसलिये विद्याफल अव्यय कहा जाये यही उचित है।।२५९।।

आत्मरूप आनन्द में सारे वैषयिक आनंदों का अन्तर्भाव समझाते हैं **सार्वभौम के सुख से शुरू कर सौ-सौ गुणा अधिक होते-होते हिरण्यगर्भ के सुख तक जो आनंद हैं वे सब आत्मरूप आनंदसागर की बूँदें हैं।।२६०।। 'सभी प्राणी ब्रह्मरूप आनंद के हिस्से ही पाते हैं'ऐसा श्रुति में कहा होने से पता चलता है कि विभिन्न कर्मों के अनुसार ब्रह्मानंद ही लोगों को (विषय-सुख के रूप में) प्रतीत होता है।।२६१।। विभिन्न विषयों की कामना से प्राणियों का यह चित्त व्याकुल होने पर स्वरूपभूत भी आनंद लोगों के लिये छिप जाता है।।२६२।। पुण्य से विषय प्राप्त होने पर चित्त स्वात्मा में ही स्थिति पाता है तब आत्मरूप आनंद का ही स्फुरण होता है। किंतु यह दशा तभी तक रहती है जब तक विषयकामनारूप अन्य व्याकुलता उत्पन्न नहीं हो जाती।।२६३।। इस तरह निश्चित होता है कि विषय-सम्बद्ध प्रतीत होते सुख भी हैं ब्रह्मरूप आनंद की ही बूँदें, अतः समग्र आनन्द का समुद्र-स्थानीय आत्मा विद्या का फल कहा गया है।।२६४।। आनंद की बूँद-से विषय-सुखों के प्राकट्य का कारण है कर्म**

---

[1] यावन्न व्याकुलान्तरम् इति मुद्रितपुस्तकेषु। सारीयपाठ इह मूले स्थापितो मुत्तुशास्त्रिणा। आन्तरं चित्तं यावन्न व्याकुलं तावदित्यर्थः।

आनन्दबिन्द्वभिव्यक्तिहेतुकर्मप्रसिद्धये।
ब्रह्मक्षत्रादिवर्णानां सृष्टिर्यत्नेन वर्णिता।।२६५।।

जिनका स्वरूप समझाने के लिये ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्णों की उत्पत्ति का सप्रयत्न वर्णन किया गया।।२६५।। मानुष आनंद अर्थात् मनुष्यों को मिल सकने वाला सर्वाधिक वैषयिक सुख सार्वभौम का आनंद कहा गया है। सारी भूमि पर निष्कण्टक राज्य करने वाला सार्वभौम होता है। उससे सौ गुणा अधिक सुख पितृलोक वालों का होता है। इस प्रकार गंधर्वों का, कर्मदेवों का, आजानदेवों का, प्रजापति का और ब्रह्मा का ये आनंद सौ-सौ गुणा बढ़ते जाते हैं। बृ.४.३.३३ में यह वर्णन है। किन्तु ब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ का भी आनंद परमात्मानंद का अत्यल्प हिस्सा है; परमात्मा का आनंद यदि सुमद्र है तो ब्रह्मा का आनंद एक बूँद है! या अधिकाधिक अगर मानुषानंद को एक बूँद मानें तो ब्रह्मा का आनंद उक्त हिसाब से दस खरब बूँदें ही तो होगा (१ के आगे १२ शून्य जितनी हो तो संख्या होगी); समुद्र की तुलना में इतनी बूँदें जैसे महत्त्वहीन हैं वैसे परमात्मानंद के समक्ष सारे सांसारिक सुख निःसार हैं यह भाव है। अतः सभी जीवों को जो सुख मिलते हैं वे परमात्मरूप सुख की बूँदों के भी अत्यल्प अंश, मानो फुहारमात्र हों। क्योंकि जीव पुण्यानुसार ही सुख पाता है अतः जैसे बर्तनानुसार ही सागर से भी जल मिलता है वैसे जीव को परमात्मा से भी थोड़ा-सा ही सुख मिल पाता है। परमात्मा नित्य व्यापक होने पर भी जीव उसका अंशांशभूत भी आनंद कदाचित् ही ले पाता है क्योंकि जीव का चित्त कामना से व्याकुल रहता है! चित्त शान्त हो तभी सुख का स्फुरण हो, हमारा चित्त एक-के-बाद एक यों लगातार कामनाओं से व्याकुल रहता है अतः जो बीच में क्षण-दो क्षण शांति आती है बस, उतनी ही देर सुख लेता है, वह भी पूरा ले सके इसके पूर्व ही अन्य कोई कामना पुनः व्याकुल कर सुख लेने नहीं देती! व्याकुलता रहते मौजूद आनंद भी छिप जाता है, अनुभव में नहीं आता। हमें लगता है कि कामना करें, वह पूरी हो तब सुख हो; इसी सोच से हम अधिकाधिक कामना करते जाते हैं। शास्त्र कहता है कि कामना न रहे तो सुख प्रकट हो। कामना पूरी करने के बजाये उसे उठने ही न दें तो सुख बना ही रहेगा। उठाकर पूरी करना तो कभी-कभार ही संभव होगा, उठने न दें यह हमारे हाथ में है, अतः सदा सुखी रहने के लिये 'अकामहत' बनने का निर्देश दिया कि जो कामना से पीडित नहीं, वह पूर्ण सुखी है। विषयभोग से सुख नहीं, उससे जो क्षणभर को कामना-उपशान्त होती है वह उपशान्ति ही सुख प्रकट होने देती है। कामना करें ही नहीं तो शांति स्वभाव से बनी रहेगी। आत्मा तो स्वरूप से ही पूर्ण आनंद है। किन्तु

इसका हमें अज्ञान होने से कामना होती है। शास्त्र जानता है कि एकाएक हम निष्काम होंगे नहीं अतः हम सही तरीके से कामनापूर्ति कर सकें इसके लिये कर्मों का एवं उपासनाओं का विधान किया और उसमें अधिकार बताने के लिये ब्राह्मणादि वर्णों का कथन किया। श्लोक २४८ में प्रश्न उठा था कि अज्ञान व कर्म के वर्णन का प्रयोजन क्या? श्लो. २५४ तक स्पष्ट किया कि कर्म साक्षात् मोक्षोपाय नहीं। जीवन्मुक्तिकाल में क्या हेय है यह बताने के लिये अज्ञान-कर्म का कथन है यह श्लोक २५५ में उत्तर दिया। एक और उपयोग कर्मों का यहाँ बताया कि अज्ञानदशा में मिल सकने वाली सुख-बूँदों को पाने का सही तरीका बताना भी कर्मोपदेश का प्रयोजन है। किं च यदि विविदिषा-श्रुति से प्रेरित हो कर्म करें, गीतोक्त निष्काम कर्म करें, तो कर्म मोक्षोपयोगी ज्ञान में अधिकार दिलाने वाले भी बन जाते हैं, यह भी इनके वर्णन का, उपनिषत् में उल्लेख का उद्देश्य है। श्रुति तो आनंदप्राप्ति का तरीका बता रही है, जब तक पूरा आनंद न ले सकें तब तक थोड़ा कैसे लें यह कर्मविधान से बताया है यह भाव है। इस तरह श्रुति का आदर आनंद में ही है। उसकी पूर्णता ज्ञान से ही सुलभ है इसलिये श्रुति ज्ञान को आदर देती है। कर्म भी थोड़ा-बहुत आनंद दे देता है इसलिये आदर से तो नहीं पर श्रुति उसका भी विधान कर देती है, यह तात्पर्य है।।२६०-५।।

सोलहवीं कण्डिका में 'अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः' इत्यादि से विस्तार से बताया है कि जीव कैसे सबका उपभोग्य है अधिकारी मानव होमादि से देवों का उपभोग्य बनता है, वेदानुवचन से ऋषियों का, श्राद्ध-तर्पणादि से एवं प्रजोत्पादन से पितरों का, रहने की जगह और भोजन प्रदान करने से मनुष्यों का, घास-पानी आदि देने से पशुओं का, तथा कुत्ते पक्षी आदि को पालने से उनका एवं जो दाने बिखेरता है, जूठन फैंकता है आदि उस सबसे चींटी-पर्यन्त सभी प्राणियों का उपभोग्य बनता है। अतः जैसे किसी भी अपने उपभोग्य की लोग सुरक्षा-व्यवस्था करते हैं वैसे देवादि-चींटी-पर्यन्त सारे प्राणी इस प्रयास में रहते हैं कि ऐसे सर्वोपकारक गृहस्थ की सुरक्षा हो। इसी से पहले कहा था कि कोई नहीं चाहता कि ऐसा व्यक्ति मुक्त हो जाये। इस प्रसंग का श्लो. २७३ तक वर्णन करेंगे। मुमुक्षा-वर्धन तो इसका प्रधान प्रयोजन है किन्तु संसारोन्मुख लोगों को दिग्दर्शन देना भी अभीष्ट है कि समर्थ को यथाशक्ति सभी की सेवा करनी चाहिये। वैदिक संस्कृति की इस समग्रता की दृष्टि का सनातन महत्त्व है। पहले, तीन श्लोकों से जीव की सबके प्रति उपभोग्यता व्यक्त करते हैं **आत्मतत्त्व से अनभिज्ञ जीव वर्ण और आश्रम में अभिमान रखते हुए बहिर्मुख हो चींटी-पर्यंत देवता आदि का आश्रय**

वर्णाश्रमाऽभिमानी सन्नतत्त्वज्ञः पराङ्मतिः ।
देवादीनाम् आश्रयः स्यात् सर्वेषाम् आपिपीलिकम् ।।२६६ ।।
देवानां यागहोमाभ्याम् ऋषीणां वेदपाठतः ।
पितॄणां श्राद्धतो नृणां वस्त्रान्नगृहदानतः ।।२६७ ।।
पशूनां तृणनीराभ्याम् उच्छिष्टकणधान्यतः ।
स्वाखुटिट्टिभमुख्यानाम् एवं सर्वाश्रयो गृही ।।२६८ ।।

(= सेवक) बना हुआ है ।।२६६ ।। याग व होम कर यह देवताओं का आश्रय बनता है, वेद पढ़ते रहने से ऋषियों का, श्राद्ध से पितरों का, वस्त्रदान गृहदान अन्नदान से मनुष्यों का, घास-पानी देने से पशुओं का, जूठन तथा दाने बिखेरने से कुत्ता-चूहा-टिटहरी आदि का, यों गृहस्थ सभी का आश्रय बनता है ।।२६७-८ ।।

अज्ञानी भी वर्णाश्रमाभिमानी होगा तभी देवादि का आश्रय बनेगा। जिसे वर्णादि में अभिमान नहीं उसे देवादि की भी परवाह नहीं होगी, वह उनकी सेवा करे इसकी संभावना नहीं। दूसरे मनुष्य भी वहीं सहायता आदि लेने जाते हैं जहाँ उन्हें कुछ मिलने की संभावना हो। वर्णादि में अभिमानी धार्मिक ही लोकोपकार में भी प्रवृत्त होता है। सर्वथा चार्वाक सिद्धांत मानने वाले खुद के भोग में ही संलग्न रहते हैं, उससे परे उन्हें कुछ महत्त्व का नहीं लगता क्योंकि उसका उन्हें कोई फल नहीं जँचता। वर्णाद्यभिमानी भी अगर प्रत्यङ्मति, अन्तर्मुख हुआ तो ब्रह्मनिष्ठा में प्रवृत्त होने से देवादि की सेवा में लगेगा नहीं। जो बाह्य जगत् को सत्य, प्राप्य समझता है वही 'इष्टान् भोगान् हि वो देवा' आदि से प्रेरित हो उन सबका उपकार करेगा। देवसेवा का तरीका याग-होमादि हैं। देव-पूजा को याग कहते हैं। अग्नि में समर्पण को होम कहते हैं। देवता के उद्देश्य से हवि का त्याग याग एवं त्यक्त वस्तु का वह्नि में प्रक्षेप होम होता है ऐसा प्रसिद्ध है। याग-होम से देवताओं को मिलने से वे पुष्ट प्रसन्न हो जाते हैं तथा न मिलने पर दुर्बलादि हो जाते हैं। पुराणों में यह सब विभिन्न कथानकों द्वारा प्रदर्शित है। विधिवत् अध्ययन कर नियमानुसार वेदपाठ करने से ऋषियों को तृप्ति मिलती है। विविध श्राद्धों से एवं योग्य सन्तानोत्पत्ति से पितर तृप्त होते हैं। तृप्त हुए देवादि ही हम लोगों का कल्याण भी करते हैं। ज़रूरतमंद मनुष्यों को अन्न-वस्त्र-गृह (रोटी-कपड़ा-मकान) प्रदान करने से वे सन्तुष्ट होते हैं। धनाढ्य व्यक्ति आवश्यकता वालों की यों सेवा करे तो वे भी उसका उत्कर्ष चाहते हुए उसकी प्रगति में सहयोगी बनते हैं और यदि कोई सिर्फ़ अपना ही भोग चाहे, अन्यों की उपेक्षा ही करे, तो लोग उसकी संपन्नताके प्रति ईर्ष्यालु होकर उसका अहित चाहते हैं,

कर्मणा नार्जितो यस्माद् न कश्चिद् उपकारकृत्।
गृही देवादिभिस्तस्माद् अर्जितोऽभूत् स्वकर्मभिः।।२६९।।
स्वस्वकर्मार्जितत्वेन देवाद्याः स्वस्वदेहवत्।
अविनाशं सदेच्छन्ति गृहिणः स्वोपकारिणः।।२७०।।
तत्त्वं बुद्ध्वाऽननुष्ठानं नाशोऽयं गृहिणो महान्।
एष देवादिभिः सर्वैर्न हि शक्यश्चिकित्सितुम्।।२७१।।
कर्मणाम् अननुष्ठानं मृतिरोगादिना तु यत्।
नाऽसावात्यन्तिको नाशो यस्मात् पश्चात् करिष्यति।।२७२।।

उसकी प्रगति में रुकावटें डालते हैं। धार्मिक मनुष्य जानवरों को घास-चारा आदि देता-दिलाता है, भूमि को गोचर के रूप में विकसित करता है, पशु पी सके इसके लिये तालाब आदि खुदवाता है, यों वह उनका भी पोषण करता रहता है। केवल अपने ही पालतू पशुओं की नहीं, जो अन्यों के पशु हैं या आवारा पशु हैं उनकी भी यथाशक्ति सेवा धर्मशील लोग किया करते हैं। चूहा चिड़िया आदि को मिले इस तरह जूठन आदि फैंकना भी धार्मिक की दृष्टि है। अधार्मिक तो जूठनादि भी यों फैंकेगा कि किसी को मिले नहीं! नाली में बहा देगा, प्लास्टिक आदि में बाँधकर डालेगा, जलाने आदि के लिये देगा किन्तु चूहे आदि का गुजारा चले इस तरह उसका विनियोग नहीं करेगा। धार्मिक ऐसा करके चूहे आदि का भी आश्रय बनता है। इस तरह बताया कि गृहस्थ अधिकारी देवादि सभी का आश्रय, सेवक, उपभोग्य है।।२६६-८।।

देवादि का आश्रय बनकर मनुष्य उन पर कोई अहसान नहीं करता वरन् उनका हक ही उन्हें देता है यह बताते हुए निगमन करते हैं कि देवादि मोक्षमार्ग में प्रतिबंधक बनें यह कोई आश्चर्य नहीं **क्योंकि कर्मद्वारा जो न मिला हो वह उपकारक भी नहीं होता इसलिये यह मान्य है कि देवादि द्वारा अपने-अपने कर्मों से गृहस्थ प्राप्त किया गया है (तभी वह उनका उपकारक बनता है)।।२६९।। अपने-अपने कर्मों से प्राप्त होने के कारण देवादि अपने उपकारक गृहस्थ का सदा अविनाश चाहते हैं जैसे स्वकर्मार्जित शरीर का सभी अविनाश चाहते हैं।।२७०।। (देवादि की दृष्टि से) गृहस्थ का महान् नाश यही है कि वह आत्मतत्त्व जानकर (अकर्तृरूप में प्रतिष्ठित हुआ) अनुष्ठान न करे। यह नाश 'महान्' इसलिये कि देवादि इसका उपाय से निवारण नहीं कर सकते।।२७१।। मौत, बीमारी आदि के कारण जो कर्मानुष्ठान से विराम होता है वह हमेशा के लिये नहीं, क्योंकि**

मा भूत् सर्वस्वहानिर्नो ब्रह्मयाथात्म्यविद्यया।
इति देवादयो विद्यां प्रतिबध्नन्ति यत्नतः।।२७३।।

जन्मांतर में या स्वस्थ होकर वह जीव पुनः अनुष्ठान करेगा (अतः देवादि के लिये वह जीव सर्वथा नष्ट हो गया ऐसी बात नहीं)।।२७२।। 'ब्रह्म की वास्तविकता के साक्षात्कार से हमारे सर्वस्व की हानि न हो' यह समझकर देवादि कोशिश कर इस विद्या में रुकावट डालते हैं।।२७३।। कर्मानुरूप ही फलप्राप्ति होती है इस नियम से गृहस्थ देवादि की सेवा करता है तो निश्चित है कि गृहस्थ के अस्तित्व में देवादि के कर्मों का भी विनियोग है। जैसे घड़ा बनाने में भले ही कुम्हार की चेष्टा कारण है लेकिन जो उसे खरीदकर लाकर उसमें पानी आदि भरता है उसका जो उस घड़े पर स्वत्व है वह उसके क्रय आदि कर्म का फल है, वैसे ही गृहस्थ स्वयं भले ही अपने कर्मों से पैदा हुआ हो लेकिन जो वह सबका उपकारक बनता है यह इसीलिये कि सबके किसी कर्म का गृहस्थ से सम्बंध है। इसी से गृही को श्लो. २७३ में 'सर्वस्व' कहा अर्थात् सबका उसपर स्वत्व है। कोई पूछ सकता है कि यदि कोई गृही देवादि का उपकार नहीं कर रहा तो यही क्यों न मान लें कि उस पर देवादि का स्वत्व है ही नहीं, अतः उसका दायित्व ही नहीं कि वह सबकी सेवा करे? इसका जवाब उपनिषत् मधुविद्या में देगी, जिसे अनुभूति प्रकाश के सोलहवें अध्याय में समझायेंगे। गृही क्योंकि देवादि सभी 'का' है, सभी की उसपर मिलकियत है, इसीलिये सभी कोशिश करते हैं कि गृही ऐसा बना रहे कि सभी का उपकार करता रहे। जैसे वे अपने शरीरों की रक्षा करते हैं ऐसे ही गृहस्थ की भी रक्षा करते हैं। रक्षा की जाती है उससे जो नाश कर सके। रोग-मृत्यु आदि किंचित् काल का ही नाश करते हैं क्योंकि कुछ समय बाद नये शरीर में या स्वस्थ होकर उसी शरीर में रहता हुआ गृही पुनः सेवाकार्य प्रारंभ करता है। अतः इन स्वल्प नाशों से रक्षा करना देवादि को अधिक ज़रूरी नहीं लगता। किन्तु तत्त्वसाक्षात्कार हो जाये तो क्योंकि कर्तृताभिमान ही बाधित हो जाता है इसलिये सेवाकार्य की संभावना ही मिट जाती है, अतः इसी महान् नाश से गृही को सुरक्षित रखने का प्रयास देवादि करते हैं। अतः यह प्रश्न नहीं बनता कि गृही के रोगादि को भी देवादि क्यों प्रतिबद्ध नहीं करते; क्योंकि देवादि की दृष्टि में वह कोई बड़ा नाश है नहीं। बड़ा नाश तत्त्वज्ञान है अतः उसी में रुकावट डालते हैं। उन्हें लगता है कि 'वर्णाद्यभिमानी यदि अपने अध्यासरूप अभिमान से बाहर निकल गया तो हमारा सब कुछ डूब जायेगा!' इसी से वे उसे ज्ञान होने देना नहीं चाहते।।२६९-७३।।

कामना

नन्वनर्थकरे केन गृही त्वेवं[1] प्रवर्तितः।
पारतन्त्र्यमृ ऋते नैव[2] धीमानत्र प्रवर्तते।।२७४।।
देवादिपारतन्त्र्यं तु गृहिणामृ अधिकारिणामृ।
मिथ्याधीमात्रहेतुत्वाद्र नाऽप्यविद्या प्रवर्तिका।।२७५।।

सत्रहवीं कण्डिका में बताया है : यह पहले अकेला आत्मा ही था। उसने कामना की 'मेरी पत्नी होवे ताकि मैं प्रजनन करूँ। फिर मेरे पास धन हो ताकि मैं कर्म करूँ।' बस, इतना ही कमनीय होता है, चाहकर भी कोई इससे अतिरिक्त नहीं पा सकता। अतः आज तक अकेला मानव पत्नी-प्रजा-धन-कर्म ही चाहता है। इन सबको पाये बिना व्यक्ति स्वयं को अपूर्ण ही मानता है। जो बाह्य उपलब्धि से ऐसी पूर्ति न कर सके, उसे मन, वाक्, प्राण, चक्षु श्रोत्र और शरीर में क्रमशः आत्मा, पत्नी, प्रजा, धन और कर्म की दृष्टि करनी चाहिये। इस प्रसंग का संग्रह करते हैं मनुष्य सर्वोपकार में प्रवृत्त होता क्यों है इसे यथाश्रुति बताने के लिये प्रश्न उठाते हैं **अनर्थकारी ऐसी प्रक्रिया में गृहस्थ किस कारण मानो बलात् प्रवृत्त किया जाता है? परतंत्रता के बिना बुद्धिमान् ऐसे कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता।।२७४।।** सभी की सेवा करते रहना कोई सुखद स्थिति नहीं। सेवा ऐसा कार्य है जिससे सेव्य को संतुष्टि मिलना दुर्लभ ही होता है, चाहे-जैसा प्रयास करें, कुछ-न-कुछ कमी रह ही जाती है। एक व्यक्ति की सेवा कठिन तो जिसे देव-ऋषि- पितर्-मनुष्य-पशु सबकी सेवा करनी पड़े उसका क्या हाल होता होगा! ऐसे सदा मुश्किल के काम में गृहस्थ लगा ही क्यों? कौन उसे बलपूर्वक इस में संलग्न रखे है? खुद तो क्यों कोई बुद्धिमान् ऐसी मुसीबत मोल लेगा!।।२७४।।

सारे संसार का कारण अविद्या ही जीव की इस प्रवृत्ति में भी पर्याप्त हेतु होगी इस संभावना को दूर करते हैं **गृहस्थ अधिकारी, देवताआदि के परतंत्र हैं इसमें कारण अज्ञानहेतुक मिथ्या अभिमान है यह तो ठीक लेकिन अविद्या (आवरणात्मिका होने से) प्रवृत्त नहीं कर सकती।** स्वस्वरूप नहीं समझा अतः खुद

---

[1] गृहीत्वाऽयं प्र...इत्यनुभूतिप्रकाशपुस्तकेषु पाठ। गृहीत्वा हस्तग्रहणमिव कृत्वा, बलाद् इत्यर्थः। इह मूले सारपाठो निवेशितः।

[2] पारतन्त्र्येऽमृतेनैव इत्यनुभूतिप्रकाशपुस्तकेषु। तदार्थोऽस्पष्टः। अत्र वार्तिकसारीयः पाठः समादृतः।

तर्हि प्रवर्तकं ब्रूमः काम एव प्रवर्तकः ।
'काम एष क्रोध एष' इत्यादिस्मृतिवाक्यतः ।।२७६ ।।

को परिच्छिन्न मानकर देवादि के हम परतंत्र रह गये यहाँ तक तो अविद्या से संभव है लेकिन बिना किसी और हेतु के स्वयं अविद्या कहीं प्रवर्त्तक नहीं देखी जाती। प्रवर्त्तक का वह बीज तो होती है : अंधेरे में न दीखे और हम गड्ढे में गिर पड़ें यह होता है पर इसमें कारण है हमारा चलना; केवल न दीखने से हम गिर नहीं पड़ते। इसी तरह देवोपभोग्य बनाने वाला कुछ अविद्यातिरिक्त विशेष होगा तभी संभव है कि मनुष्य यों सबकी सेवा में संलग्न है। यह भी कहना नहीं बनता कि देवादि के परतंत्र होने से वे ही इसे प्रवृत्त करते होंगे; क्योंकि देवादि भी उसी को प्रवृत्त कर सकते हैं जो स्वयं को कर्माधिकारी मानकर उनके संमुख सेवा पूछने पहुँचे। यदि ऐसा न होता तब सभी मानव देवादि के विधिवत् सेवक होते जबकि लोक में दीखता है कि यों सबकी सेवा में तत्पर गृही कम-से-कम आज तो दुर्लभ होते जा रहे हैं! वर्त्तमान लोग वर्णादि के अभिमानी नहीं तो देव-ऋषि आदि उन्हें यज्ञ-वेदाध्ययन आदि में प्रवृत्त भी नहीं कर पा रहे। इस प्रकार अज्ञान को सर्वसेवक बनाने वाला कहना या देवादि ही हमें यों जोत देते हैं कहना, दोनों ही ग़लत है।।२७५।।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं **उक्त प्रश्न होने पर बताते हैं कि प्रवर्त्तक कौन है : कामना ही गृही को उपभोग्य बनने में प्रवृत्त करती है। (किससे प्रयुक्त हुआ पुरुष न चाहकर भी मानो बलात् पाप करता है? इस प्रश्न के उत्तर में आये) 'यह कामना, यह क्रोध' आदि स्मृतिवाक्य से उक्त निर्णय मिलता है।।२७६।।** श्रुति ने 'सोऽकामयत' से प्रवर्त्तक कहा कि आत्मा ने कामना की। श्लोक २७४ के परिचय में श्रुत्यर्थ बता आये हैं। गीता (३.३७) से भी यही निर्णय होता है कि कामना ही प्रवर्त्तक है। यद्यपि वहाँ प्रश्न में पाप का कथन है तथापि संसार में बाँधे रखने वाले कर्म भी वास्तविक सुखरूप फल न देने वाले होने से पाप ही हैं! स्वर्गादि फलों की कामना है तभी गृही उक्त सेवा कार्यों में लगा रहता है, अन्यथा नहीं लगता। यजुर्वेद में (७.४८) कहा है 'कोऽदात्? कस्मा अदात्? कामोऽदात्, कामायादात्। कामो दाता, कामः प्रतिग्रहीता' अर्थात् 'किसने दिया? किसे दिया? कामना ने दिया, कामना को दिया। कामना ही देती है, वही लेती है'। ब्राह्मण दक्षिणा लेते समय इसी बात को कहता है कि उसे कामना है इसीलिये उसने यजमान के लिये कर्म किया और दक्षिणा ले रहा है। इस तरह वेद व गीता दोनों के अनुसार कामना ही प्रवर्त्तक है।।२७६।।

'अकामतः क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कस्यचित्।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्।।२७७।।
तस्मात् कामयते पूर्वं ब्रह्मचारी चतुष्टयम्।
जाया मे स्याद्, अथाऽपत्यम्, अथ वित्तम्, अथ क्रिया।।२७८।।

यही मनु महाराज ने (मनुस्मृ. २.४) कहा है **संसार में किसी की कोई क्रिया नहीं देखी जाती जो बिना कामना के हो। जन्तु जो कुछ करता है वह कामना का ही प्रभाव है।।२७७-७८।।** यद्यपि बहुधा परोपकार किया जाता दीखता है तथापि मनु का भाव है कि 'दूसरे का उपकार करूँ' इस कामना से ही वह प्रवृत्ति भी है। कभी तो ऐसी मनःस्थिति होती है कि यदि परोपकार न करें तो खिन्नता रहती है जिससे बचने के लिये परोपकार आवश्यक होता है। अमेरिका के एक पुराने राष्ट्रपति के जीवन की एक घटना प्रसिद्ध है : दफ्तर जाते हुए उन्हें दलदल में फँसा एक सुअर दीखा, वे अपनी गाड़ी से उतरे, कीचड़ में जाकर किसी तरह सुअर को खींचकर बाहर निकाला, फिर दफ्तर चले गये। पत्रकारों को घटना मालूम पड़ी तो उनसे साक्षात्कार लेने पहुँचे, पूछा 'आपको जानवरों पर ऐसी करुणा आती है इसका स्रोत क्या है?' उन्होंने जवाब दिया 'अरे उस पर करुणा की क्या बात! उसे उस हालत में छोड़कर दफ्तर आ जाता तो दिनभर उसी की चिंता करता, कोई काम सावधानी से, उत्साह से नहीं कर पाता, ऐसा न हो इसलिये थोड़ा समय लगाकर, थोड़ा श्रम करके उसे निकाल आया ताकि तसल्ली से काम कर सकूँ।' इस तरह परोपकार भी कामचेष्टित है यह स्पष्ट होता है। धर्म, यश आदि सूक्ष्म विषयों की ही सही पर कामना हो तभी व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त होता है अतः सर्वोपभोग्य बनने में भी वही प्रवर्त्तक है।।२७७।।

कामना के विषयों को श्रुति ने गिन कर रख दिया 'एतवान् वै कामः' कि इतनी ही चीज़ें चाही जाती हैं; उन्हीं का उल्लेख करते हैं **इसलिये ब्रह्मचारी इन चारों की कामना करता है पहले मेरी पत्नी हो, फिर औलाद हो, फिर धन हो, फिर कोई कार्य (रोजगार आदि) हो। संसार में इतनी ही कामना होती है, इससे ज़्यादा कहीं नहीं होती। कर्मफल के रूप में जो लोकांतर चाहे जाते हैं वे भी 'कार्य' कहने से कह ही दिये गये।।२७८।।** ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता ही इसलिये है कि उक्त चार कामनायें उसे होती हैं। यदि ये कामनायें न होतीं तो गार्हस्थ्य में प्रवेश ही न करता। अतः 'पूर्वं' अर्थात् पहले कामना करता है तदनंतर गृही बनता है यह अर्थ है। अथवा पहले पत्नी चाहता है इत्यादि सम्बन्ध है। श्रुति ने कहा है कि इतनी

एतावान् एव संसारे कामो नाऽतोऽधिकः क्वचित् ।
लोकान्तरं कर्मफलं कर्मोक्त्यैवेरितं भवेत् । ।२७६ । ।
असम्भवे तु जायादेर्मनोवागादिषु क्रमात् ।
आत्मा जायादि[1] सङ्कल्प्य ध्यायेज्जायादिसिद्धये । ।२८० । ।

ही चीज़ें कोई चाहता है। यद्यपि आधुनिक काल में कोई पहले क्रिया (रोजगार) तो कोई धन चाह लेता है तथापि चाहते चार ही चीज़ें हैं इस श्रुति की बात में फ़रक नहीं आया है। अथवा आधुनिक काल की दृष्टि से श्रुति का क्रम इस अभिप्राय से है पत्नी हो ताकि प्रजा हो; पत्नी मिले व प्रजा पले इसके लिये धन हो; क्रिया करूँ तो धन मिले; इस तरह क्रिया-धन-पत्नी-प्रजा यह अर्थक्रम है। सर्वथापि, संसार, संसार में चाहने लायक इतना ही है। सारे पदार्थों का इन्हीं में अन्तर्भाव मान लेना चाहिये। लोकांतर भी कर्मफल होने से कर्म में ही उसका अन्तर्भाव है। ।२७८-६ । ।

प्रसंगवश श्रुति ने एक उपासना बता दी है कि जिसे बाह्य जाया आदि न मिलें वह यों अध्यात्म में जाया आदि दृष्टि करके स्वयं की पूर्णता महसूस करे। इसका भी यहाँ संग्रह कर लेते हैं **बाह्य पत्न्यादि मिलना सम्भव न हो तो आत्मा को (अधिकारी जीव को) चाहिये कि (मन आदि के बारे में 'ये ही मेरे) आत्मा पत्नी आदि हैं' ऐसा संकल्प कर ध्यान करे ताकि उसे (संकल्परूप) पत्नी आदि उपलब्ध हो जायें। ।२८० । ।** ('आत्मजायादि' पाठ में आत्मा का, जाया का, ऐसे ही बाकी का मन आदि पर आरोप करके ध्यान करे यह अर्थ है।) श्रुतिवाक्य है 'मन एवास्यात्मा, वाग् जाया, प्राणः प्रजा, चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद् विन्दते श्रोत्रं दैवं, श्रोत्रेण हि तच्छृणोति, आत्मैवास्य कर्म' (१.४.१७)। इसे यहाँ सूचित किया : मन में आत्मदृष्टि करनी है, वाक् में पत्नीदृष्टि, प्राणों में औलाद दृष्टि, चक्षु और श्रोत्र में धन दृष्टि तथा शरीर में कर्म दृष्टि करनी है। पत्नी आदि के अभाव में खुद में जो कमी महसूस होती है उसकी पूर्ति के लिये यह उपासना है। यों उपासना ही एक यज्ञ हो जाती है जिसका फल बताया है सारे जगत् की आत्मरूप से प्राप्ति। क्योंकि ब्रह्मविद्या के संदर्भ में इस उपासना का विशेष महत्त्व नहीं इसलिये अनुभूतिप्रकाश में इसका कोई विस्तार नहीं कर रहे। ।२८० । ।

---

[1] आत्मजायादीति अनुभूतिप्रकाशपुस्तकेषु पाठः। अत्र सारपाठः स्थापितः।

एवं कामप्रेरितः सन् याति कर्माधिकारिताम्।
अवरुन्धन्ति गृहिणं देवाद्या अधिकारिणम्।।२८१।।
इत्यविद्यासूत्र उक्तोऽनर्थो यत्नेन विस्तृतः।
अयं निवर्त्यो विदुषा जीवतेति श्रुतेर्मतिः।।२८२।।

उपसंहारः

कर्मोपास्तिफलं कण्वः प्राहात्मब्राह्मणे तथा।
अव्याकृतं व्याकृतं च विद्याऽविद्ये ह्यतिस्फुटम्।।२८३।।

श्लोक २७४ में उठाये प्रश्न के उत्तर का समापन करते हैं **इस प्रकार श्रुति ने निश्चित किया कि कामना से प्रेरित हुआ गृहस्थ ही कर्मों में अधिकार पाता है तथा वैसे अधिकारी गृही के ही मोक्षमार्ग में देवता अवरोध डालते हैं।।२८१।।** ऐसा नहीं कि अनधिकारी का मार्ग निष्कण्टक हो! जो कर्माधिकारी ही नहीं बन पाया वह मोक्षाधिकारी तो बन ही नहीं सकता अतः मोक्ष-मार्ग का पथिक ही नहीं कि देवताओं को रुकावट डालनी पड़े। कर्माधिकारी ही कर्म द्वारा चित्त शुद्ध करके ज्ञानाधिकारी बनता है। यह तो हो सकता है कि पूर्व जन्म में कर्म कर चुकने से इस जन्म में शुद्ध मन वाला हो गया अतः यहाँ कर्म बिना किये ज्ञानमार्ग पर चल पड़ा, लेकिन कर्मानुष्ठान से रहित का ज्ञान के रास्ते चलना संभव नहीं। इसलिये वे थोड़े-से ही लोग संभव हैं जो कर्माधिकारी बनें और उनमें से ही कोई दुर्लभ ज्ञानाधिकारी होगा; क्योंकि कर्माधिकारी ही कम हैं अतः उनमें से एक-आध भी ज्ञानाधिकारी न बने यह देवताओं का अभिप्राय है।।२८१।।

श्लोक २३७ से प्रारंभ किये अविद्यासूत्र के प्रसंग का उपसंहार करते हैं **इस प्रकार 'अविद्यासूत्र' में विस्तृत अनर्थभूत विषय बताया। वेद का मत है कि विद्वान् को जीवित रहते ही इसे निवृत्त कर लेना चाहिये।।२८२।।** इस प्रसंग में बताया संसार त्यागने लायक है, उसकी त्याग-योग्यता ही श्रुति को अभिप्रेत है।।२८२।।

बृहदारण्यक प्रथमाध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण को 'आत्मब्राह्मण' भी कहते हैं। इसमें वर्णित विषयों का स्मरण दिलाते हैं **आत्मब्राह्मण में कण्व ऋषि ने कर्म-उपासना का फल, अव्याकृत, व्याकृत, विद्या और अविद्या इनका अतिस्पष्ट वर्णन किया।।२८३।।** श्लोक ६३ तक कर्म-उपासना का फल, श्लो. ६४-८६ तक अव्याकृत, श्लोक ९०-१४२ तक व्याकृत, श्लोक १४३-२३६ तक विद्या और तदनन्तर अविद्या का वर्णन किया गया।।२८३।।

अथाऽध्याये चतुर्थे च कण्वः पञ्चमषष्ठयोः ।
उपाख्यानानि बहुधा वक्ष्यत्यात्माऽवबुद्धये । ।२८४ । ।
अजातशत्रुर्मैत्रेयी दध्यङ्ङित्युक्तनामभिः ।
आख्यानान्यङ्कितानि स्युश्चतुर्थाध्यायगानि हि । ।२८५ । ।
आश्वलश्चार्तभागश्च भुज्यूषस्तकहोलकाः ।
गार्ग्युद्दालकशाकल्याः पञ्चमाध्यायगा इमे । ।२८६ । ।
आख्यानान्येतदीयानि स्युः षष्ठाध्याय ईरितम् ।
जनकस्य ह्युपाख्यानं संग्रहाद् विस्तरादपि । ।२८७ । ।
उपाख्यानेषु सर्वेषु प्रत्येकं ब्रह्म वर्णितम् ।
श्रुतैरेतैरुपाख्यानैर्ब्रह्मविद्या दृढा भवेत् । ।२८८ । ।

उपनिषत् के प्रथम अध्याय के प्रधान वर्णनीय विषय का व्याख्यान कर चुकने पर आगे के अध्यायों का संकेत देते हैं **कण्व ऋषि इसके अनंतर चौथे-पाँचवें-छठे अध्यायों में आत्मा के अवगम के लिये बहुत तरह से कथायें सुनायेंगे । ।२८४ । । चौथे अध्याय की कथाएँ अजातशत्रु, मैत्रेयी और दध्यङ्ङाथर्वण के नामों से चिह्नित हैं । ।२८५ । । पाँचवें अध्याय में उल्लिखित ऋषि हैं आश्वल, आर्तभाग, भुज्यु, उषस्त, कहोल, गार्गी, उद्दालक और शाकल्य। इनसे सम्बद्ध कथायें पंचमाध्याय में हैं। छठे अध्याय में संक्षेप और विस्तार से जनक-संबंधी कथा उपलब्ध है । ।२८६-७ । । इन सब कथाओं में हर-एक में ब्रह्म का ही वर्णन है। इन कथाओं का श्रवण करने से ब्रह्मविद्या दृढ होती है । ।२८८ । ।** 'चौथा' आदि आरण्यक-क्रम से कहा है, उपनिषत्-क्रम से इन्हें दूसरा-तीसरा-चौथा अध्याय समझना चाहिये। बताने के तरीके विभिन्न होने पर भी बताया सब में एक ही अखण्ड तत्त्व है। क्योंकि अतिसूक्ष्म दुर्बोध तत्त्व तभी हृदयंगत हो सकता है जब उसे अनेक दृष्टियों से समझने का प्रयास किया जाये इसीलिये मुख्य बात की पुनः पुनः आवृत्ति वेदान्तशास्त्र में साहित्य की तरह दोष नहीं वरन् तात्पर्यग्राहक आवश्यक गुण है। अनुभूतिप्रकाश के अध्याय १४ में अजातशत्रु का, १५ में मैत्रेयी का, १६ में दध्यङ्ङाथर्वण का, १७ में आश्वलायनादि का तथा १८ में जनक का उपाख्यान वर्णित किया जायेगा। इन सभी प्रसंगों का बारम्बार श्रवण-मनन आत्मबोध की दृढता का हेतु बनता है । ।२८४-८८ । ।

सद्गुरु को समर्पित करते हुए त्रयोदशाध्याय पूरा करते हैं **ऋषि कण्व ने 'आत्मब्राह्मण' में जो विद्या सुनाई वह स्पष्ट कर समझा दी। हमारे इस प्रयास**

याम् आत्मब्राह्मणे विद्यां कण्वः प्रोवाच सा स्फुटम् ।
व्याख्याता प्रीयतां तेन विद्यातीर्थमहेश्वरः ।।२८६ ।।

।।इति श्रीविद्यारण्यविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे बृहदारण्यके काण्वविद्याप्रकाशो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।।

से महेश्वररूप श्रीविद्यातीर्थ-नामक आचार्य प्रसन्न हों।।२८६।। कण्व ने भी स्पष्ट ही उपदेश दिया था, फिर भी हमने उसे और अधिक विस्तार से समझाया है यह तात्पर्य है। हर अध्याय की तरह आचार्य विद्यारण्य ने इसे भी अपने गुरु की प्रसन्नतार्थ समर्पित किया है।।२८६।।

।। तेरहवाँ अध्याय ।।

ॐ

अनुभूतिप्रकाशे

अजातशत्रुविद्याप्रकाशः

चतुर्दशोऽध्यायः

सन्दर्भः

अजातशत्रुरध्याये चतुर्थे ब्राह्मणैस्त्रिभिः ।
विद्यां बालाकये प्राह तां विस्पष्टम् इतो ब्रुवे । ।१ । ।
अजातशत्रुर्ब्रह्मात्मवेदनाच्छौर्यतोऽपि च ।
अन्तर्बहिश्च निःशत्रुः काश्यां राजा बभूव ह । ।२ । ।
गर्गगोत्रजविप्रोऽयं बालाकिर्नैव तत्त्ववित् ।
किन्तु प्राणोपासकोऽयं दर्पेण महता वृतः । ।३ । ।

अजातशत्रुविद्याप्रकाश : चौदहवाँ अध्याय

बृहदारण्यक उपनिषत् के पहले अध्याय का विवरण अनुभूतिप्रकाश के तेरहवें अध्याय में किया। उसे अध्यारोपस्थानीय मानें तो उपनिषत् का दूसरा अध्याय अपवाद-स्थानीय है, जिसके तीन ब्राह्मण इस चौदहवें अध्याय में समझाये गये हैं। इसके प्रथम तीन ब्राह्मण अपवाद-प्रधान हैं, तदनन्तर आत्मविद्या का साक्षाद् वर्णन है जो पंद्रहवें अध्याय में आयेगा। प्राणादि मुख्य आत्मा नहींयह पहले सिद्धकर तभी आत्मा क्या हैय्ह बता सकते हैं, इस दृष्टि से पहले अजातशत्रु - बालाकि के संवाद का संग्रह कर रहे हैं। अनुभूतिप्रकाश के नौवें अध्याय में भी कौषीतकी के अनुसार इसी प्रसंग पर विचार किया था। बृहदारण्यक में वाक्य है 'दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस। स होवाचाजातशत्रुं काश्यं 'ब्रह्म ते ब्रवाणी' ति'। इसका अनुवाद करते हुए कथारम्भ करते हैं **चौथे अध्याय में तीन ब्राह्मणों द्वारा अजातशत्रु ने बालाकि को जो विद्या सुनाई उसे विशेषतः स्पष्ट करते हुए यहाँ से बताते हैं। ।१। । परमेश्वर को स्वात्मा जानने से और अपनी शूरवीरता से भीतरी-बाहरी शत्रुओं से रहित अजातशत्रु काशी में प्रसिद्ध राजा था। ।२। । गर्ग गोत्र में उत्पन्न यह बालाकि नामक वेदज्ञ, तत्त्वज्ञ नहीं ही था पर प्राण का उपासक था और बहुत घमण्ड से भरा हुआ था। ।३। ।**

अध्यात्मम् अधिदैवं च ब्रह्म स्यात् प्राणदेवता।
समष्टिव्यष्टिरूपाऽसाविति गार्ग्यस्य निश्चयः।।४।।

'चौथा अध्याय' अर्थात् उपनिषत्क्रम में दूसरा अध्याय, उसके प्रारंभिक तीन ब्राह्मण जिनके प्रचलित नाम हैं १) अजातशत्रु ब्राह्मण, २) शिशुब्राह्मण और ३) मूर्तामूर्त ब्राह्मण; इनमें आये उपदेश का इस चौदहवें अध्याय में संग्रह है। श्लोक ६६ से शिशुब्राह्मण का तथा ८१ से मूर्त्तामूर्त्त ब्राह्मण का प्रसंग आयेगा। 'विशेषतः' इसलिये स्पष्ट करेंगे क्योंकि जब ऋग्वेद में आयी विद्या यजुर्वेद में भी आयी है तो श्रुति स्वयं इसकी महत्ता द्योतित कर रही है अतः इसका पुनः वर्णन संगत है जिसमें कुछ ऐसी बातें स्पष्ट होंगी जो कौषीतकी में न हुई हों। इस प्रसंग में तत्त्वोपदेष्टा अजातशत्रु है। पैदा ही नहीं हुए शत्रु जिसके उसे अजातशत्रु कहते हैं। शूर-वीर था अतः बाहरी दुश्मन कोई नहीं था, उससे दुश्मनी करने को कोई तैयार नहीं होता था। आत्मज्ञ था अतः काम-क्रोध आदि भीतरी शत्रु भी सिर उठा सकें यह संभव नहीं था। इस तरह निःशत्रु अर्थात् निर्विरोध जो काशीराज वह यहाँ गुरुस्थानीय है। वह उपदेश देगा बालाकि को जो परमार्थ का जानकार न होने पर भी 'प्राण' का श्रेष्ठ भक्त था। प्राण अर्थात् समष्टि सविशेष, हिरण्यगर्भ उपास्यों में सर्वोत्कृष्ट है हिरण्यगर्भ, उसका इसे साक्षात्कार था इसलिये इसमें दर्प, अभिमान आ गया कि 'अहो! मैं इतने बड़े देवता का भक्त हूँ, उपासक हूँ।' उपासक में, भक्त में देवता को लेकर तथा अपनी भक्ति को लेकर दर्प देखा ही जाता है अतः उससे सावधान करने के लिये श्रुति ने इस कथा में गार्ग्य की निंदा में उसे दृप्त, दर्पयुक्त कहा है।।१-३।।

बालाकि ने घोषणा की 'राजन्! आपको ब्रह्मोपदेश देता हूँ।' राजा सुनने को उत्सुक हुआ तो बालाकि ने आदित्य, चन्द्र, विद्युत् आदि बारह उपाधियों का उल्लेख किया कि इन्हें ब्रह्म समझना चाहिये। राजा परतत्त्वज्ञ था अतः उसने हर-एक उपाधि के बारे में बालाकि की जानकारी की कमी उजागर की तथा अन्त में कहा कि इन उपाधियों में बँधे को जानने से ब्रह्म नहीं जान लिया जाता। बालाकि विनयी होकर राजा से ज्ञान लेने को तैयार हुआ तो जिस प्राण-वस्तु की इन उपाधियों में गार्ग्य ने उपासना की थी उस की अनात्मरूपता स्पष्ट कर आत्मतत्त्व का उपदेश राजा ने दिया। गार्ग्यावगत ब्रह्म का यहाँ विस्तार अनावश्यक समझकर अजातशत्रु के उपदेश का ही खुलासा करेंगे। तथापि बालाकि की समझ और राजा ने किस स्तर से उसे ग़लत बताया यह स्पष्ट करना ज़रूरी होने से प्रारंभिक वार्त्तालापका सार बताते हैं **गार्ग्य को निश्चय था कि प्राण-नामक देवता ही ब्रह्म है, वही अध्यात्म में (शरीर में) व्यष्टिरूप से और**

रव्याद्या व्यष्टयः प्रोक्ताः समष्टिस्तु विराड् भवेत् ।
न मुख्यब्रह्मतैतेषाम् इति राज्ञो विनिर्णयः ।।५।।

अधिदैव में (देवताओं में) समष्टिरूप से विद्यमान है।।४।। राजा का विवेकपूर्ण शास्त्रानुसारी निर्णय था कि सूर्यादि भी व्यष्टि ही हैं, समष्टि तो विराट् है। ये वह वस्तु नहीं हैं जो 'ब्रह्म'-शब्द का प्रधान अर्थ है।।५।। प्राण-सूत्रात्मा का बहुत महत्त्व शास्त्रों में व्यक्त है जिससे गार्ग्य को भ्रम हुआ जो आश्चर्य नहीं है। ब्रह्म कहते हैं व्यापक को किंतु ऐसे व्यापक को जो चेतन हो तथा चेतन हम समझते हैं क्रिया करने वाले को अतः सर्वत्र क्रियाहेतु प्राण को बालाकि ने ब्रह्म समझा। अध्यात्म में, हम सभी के शरीरों में प्राण की मौजूदगी प्रत्यक्ष है ही, यह उसका व्यष्टि रूप है, परिच्छेद में उपलब्ध रूप है जबकि जो उसका समष्टि अर्थात् अपरिच्छिन्न रूप है वह मिलता है सूर्यादि देवताओं में, उन सब उपाधियों में जिन्हें गार्ग्य ने गिनाया। समष्टि रूप को 'वायु' भी कहा जाता है, उसका भी गार्ग्य ने कथन किया है, किंतु सूर्यादि भी प्राण के ही समष्टि रूप होने से उसने सभी का उल्लेख किया। इसके विरुद्ध, राजा का मानना था कि सूर्यादि तो पुनः व्यष्टि-विशेष ही हैं! यद्यपि हम लोगों की अपेक्षा सूर्यादि की उपाधि अतिमहान् है तथापि है तो परिच्छिन्न ही अतः व्यष्टि ही कहला सकती है, अत एव उसे चंद्रादि अन्यान्य उपाधियों से पृथक् कहा-समझा भी जाता ही है। इसलिये राजा की समझ से गार्ग्य ने जिन्हें समष्टि समझा वे तो सब विभिन्न व्यष्टि ही हैं! समष्टि तो विराट् है। यद्यपि प्राण के स्तर पर समष्टि हिरण्यगर्भ होना चाहिये तथापि गार्ग्य ने क्योंकि स्थूल उपाधियाँ ही कहीं इसलिये राजा समझ गया कि गार्ग्य को विराट् के व्यष्टिरूपों का ही बोध है। आत्मा का अज्ञान रहते हमें स्थूल-सूक्ष्म जगत् की ही उपलब्धि है जिसमें सूक्ष्म ही व्यवहार में अमृत और स्थूल ही मर्त्त्य कह दिया जाता है। अमृत को ही शास्त्र 'प्राण' कहते हैं और उसकी स्थूल अभिव्यक्तियाँ नाना स्थलों पर मिलती है जिन्हें मिलाकर विराट् कहते हैं। विराट्-हिरण्यगर्भ सर्वथा पृथक् हों ऐसा नहीं किंतु उक्त प्रकार से उनका बाहरी-भीतरी भाव है जैसे ईंट और प्लास्टर ये दीवार के ही बाहरी-भीतरी रूप हैं। प्रकृत ब्राह्मण के परिचय में आचार्य श्रीभगवान् भाष्यकार ने ऐसा ही दृष्टांत देकर यह तथ्य व्यक्त किया है '...अविद्याविषयः सर्व एव द्विप्रकारः i) अन्तः प्राणः, उपष्टम्भकः; गृहस्येव स्तम्भादिलक्षणः प्रकाशकोऽमृतः ii) बाह्यश्च कार्यलक्षणोऽप्रकाशकः, उपजनाऽपाय-धर्मकः; तृणकुशमृत्तिकासमो गृहस्येव; सत्त्यशब्दवाच्यो मर्त्त्यः। तेन अमृतशब्दवाच्यः प्राणश्छन्न इति चोपसंहृतम्। स एव च प्राणो बाह्याधारभेदेषु अनेकधा विस्तृतः प्राण एको

तस्माद् उपासको गार्ग्यो न मुख्यं ब्रह्म वेत्त्यतः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बोधयामास तं नृपः।।६।।

विवेकस्थानम्

स्याद् विज्ञानमयो भोक्ता न प्राण इति जागरे।
विवेको दुःशको यस्माद् अत्र द्वावपि सुस्थितौ।।७।।

देव इत्युच्यते। तस्यैव बाह्यः पिण्ड एकः साधारणो विराड्, वैश्वानर, आत्मा, पुरुषविधः, प्रजापतिः, को, हिरण्यगर्भःइत्यादिभिः पिण्डप्रधानैः शब्दैः आख्यायते सूर्यादिप्रविभक्तकरणः।' इसी दृष्टि से राजा ने सूर्यादि के रूप में प्रविभक्त को विराट् कहा जो गार्ग्य के हिसाब से हिरण्यगर्भ है। हर हालत में, राजा का मतलब इतना ही है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते... तद् ब्रह्म' आदि शास्त्रसन्दर्भों में ब्रह्म-शब्द का अभिप्रेत अर्थ यह समष्टि-व्यष्ट्यात्मक तत्त्व नहीं, अविद्याविषय नहीं, वरन् विद्याविषय अखण्डतत्त्व है।।४-५।।

राजा ने गार्ग्य को कैसे समझाया इसका वर्णन करते हैं **पूर्वोक्त विचार से निश्चित है कि गार्ग्य उपासक ही था, मुख्य ब्रह्म का वेत्ता नहीं था। अतः राजा ने उसे अन्वय-व्यतिरेक के सहारे ब्रह्म समझाया।।६।।** उपास्य के वर्णन से गार्ग्य को जानकारी मिल गयी, उसने स्वयं भी 'उपासे' कहा कि 'मैं यों इसकी उपासना करता हूँ', तथा उपासना के प्रभाव से उसका चित्त इतना शुद्ध भी हो चुका था कि ब्राह्मण होते हुए भी, लोकप्रसिद्ध एवं साधना से पर्याप्त सन्तुष्ट होते हुए भी, उसे जैसे ही समझ आया कि परमेश्वर को वह नहीं जान सका है और राजा से वह उसे जान सकता है, वैसे ही वह निरभिमान होकर तत्त्वज्ञान ग्रहण करने को उपस्थित हो गया। राजा ने उसे समझाया कि प्राण क्योंकि स्वयं चेतन नहीं इसलिये वह ब्रह्म नहीं हो सकता। इसी को स्पष्ट करने के लिये राजा ने अन्वय-व्यतिरेक का सहारा लिया। निश्चित साथ वालों का सम्बन्ध अन्वय कहा जाता है एवं जिनका वैसा सम्बन्ध नहीं उनमें परस्पर व्यतिरेक कहा जाता है। प्राण रहते भी ज्ञान नहीं मिलता अतः प्राण - ज्ञान का निश्चित सम्बन्ध नहीं, जिससे निश्चित सम्बन्ध है वही ब्रह्म है - यह समझाना राजा का उद्देश्य है।।६।।

उपनिषत् में कहा है 'तौ ह पुरुषं सुप्तम् आजग्मतुः। तम् एतैर्नामभिः आमन्त्रयाञ्चक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोम राजन् इति। स नोत्तस्थौ। तं पाणिनाऽऽपेषं बोधयांचकार। स होत्तस्थौ।' (२.१.१५) गार्ग्य को लेकर राजा चला तो किसी सोते व्यक्ति के पास पहुँचने पर राजा ने प्राण के प्रसिद्ध नामों से पुकारा पर वह व्यक्ति उठा नहीं जबकि हाथ हिलाकर

यो विज्ञानमयः सुप्तावसावुपरतिं गतः।
वर्त्तते पूर्ववत् प्राणो विवेकः सुशकस्तदा।।८।।
तस्मात् सुषुप्तं पुरुषम् आमन्त्र्य प्राणनामभिः।
अप्रबोधाद् अभोक्तृत्वं प्राणस्याऽस्पष्टयद् नृपः।।९।।

अन्वय-व्यतिरेकौ

यदि भोक्ता भवेत् प्राणो जाग्रद्वच्छब्दम् आगतम्।
अश्रोष्यद्, नाऽशृणोत्, तस्माद् न स्याद् भोक्तोपलादिवत्।।१०।।

जगाते ही उठ बैठा। इससे राजा ने स्पष्ट किया कि गहरी नींद में भी उपस्थित जो प्राण वह ज्ञानवान् नहीं अतः वस्तुतः ब्रह्म नहीं। इस प्रसंग का कथन करते हैं **विज्ञानमय ही भोक्ता हो सकता है, न कि प्राण यह विवेक जाग्रत् में कर पाना कठिन है क्योंकि जाग्रत् में प्राण व विज्ञानमय दोनों कार्यकारी होकर मौजूद रहते हैं।।७।। सुषुप्ति में विज्ञानमय उपरत हो जाता है जबकि प्राण जाग्रत् की तरह कार्यकारी रहता है, इसलिये सुषुप्ति के बारे में विचार करने पर उक्त विवेक कर पाना सरल है।।८।। इसलिये सोये पुरुष को प्राण के नामों से पुकारकर उसके न उठने से राजा ने स्पष्ट कर दिया कि प्राण भोक्ता (जानने वाला) नहीं है।।९।। यदि प्राण भोक्ता होता तो जैसे जाग्रत् में वैसे सुषुप्ति में भी आये शब्दों को सुनता लेकिन क्योंकि सुन नहीं पाया इसलिये पत्थर आदि की तरह वह भोक्ता नहीं (जड ही) है।।१०।।** जिस चित्तत्त्व को ब्रह्म जानना है उसे समझने के लिये वैसा औपाधिक रूप चाहिये जिसमें चित् का परिचय हो। जैसे मुख का चित्र देखकर तो व्यक्ति पहचाना जा सकता है, पीठ आदि के चित्र से वैसी पहचान संभव नहीं, वैसे विज्ञानमय के द्वारा तो साक्षी को समझ सकते हैं, प्राणमय के द्वारा नहीं। भले ही प्राण भी उसी की उपाधि है लेकिन क्योंकि प्राण में ज्ञान नहीं मिलता इसलिये प्राण के माध्यम से ज्ञानरूप परमेश्वर का अधिगम नहीं होता। जाग्रत् में मन-प्राण आदि इतनी ज़्यादा उपाधियाँ कार्यकारी रहती हैं कि किसका ज्ञान में (भोक्तृत्व में) विनियोग है यह समझ नहीं आता। सुषुप्ति में मन-इंद्रियाँ विलीन हो जाते हैं, प्राण कार्यकारी रहता है अतः वहाँ परीक्षा हो जाती है कि प्राण का ज्ञान में (भोक्तृत्व में) उपयोग है या नहीं। इसी से अवस्थात्रय का सहारा लेने की शास्त्रीय पद्धति है। दर्शनान्तर जाग्रत्-मात्र पर निर्भर रहने से ही अधूरी जानकारी पर चिंतन कर पाते हैं, जीव के समग्र अनुभवों का सामरस्य नहीं बैठा पाते। जाग्रत् में हम जैसे मन को वैसे ही प्राण

श्रोत्रादीनाम् उपाधीनां सुप्तावुपरतत्वतः ।
यथा जीवो न वेत्त्येवं प्राणोऽपीत्यसद् उच्यते ।।११।।
नेन्द्रियाणां भवेत् स्वापो यदि प्राणप्रधानता ।
नाऽमात्याः शेरते यस्माद् राज्ञि स्वामिनि जाग्रति ।।१२।।

को 'मैं' समझते हैं अतः 'मैंने जाना' में 'मैं' मतलब मन या प्राण? यह भेद नहीं कर पाते। किंतु गहरी नींद में विज्ञानमय नहीं रहता। जिसे हम 'मैं' कहते हैं वह साहंकार मन वहाँ नहीं रहता। जबकि प्राण तो चलते ही रहते हैं। वहाँ क्योंकि भोग नहीं होता चंदन लगाओ तो सोते को सुख नहीं होता, गाली दो तो दुःख नहीं होता इसलिये स्पष्ट हो जाता है कि प्राण भोक्ता, जानने वाला नहीं है। गार्ग्य ने प्राण के जो नाम जाने थे, जिन्हें राजा भी जानता था, जो उपासना के अंगरूप से कहे गये थे, उन्हीं से पुकार कर राजा ने समझाया कि यदि प्राण 'देवता' होता तो इन अपने नामों को तो सुनता। जो अपने नाम भी न सुन सके वह अन्य क्या भोग करेगा! जैसे पत्थर को पुकारो तो वह सुनता नहीं ऐसे न सुनने वाले प्राण की जडता स्फुट है।।७-१०।।

प्रश्न होगा कि आखिर सो तो जीव भी रहा था, उसी ने क्यों नहीं सुन लिया? यही सवाल उठाकर विचार करते हैं **कान आदि उपाधियाँ सुषुप्ति में कार्यकारी न रहने से जैसे जीव नहीं जानता वैसे प्राण नहीं जान पाता यह कहना ठीक नहीं।।११।। अगर प्राण सर्वाधिक प्रधान (अर्थात् भोक्ता) होता तो (उसके जगे रहते) इन्द्रियाँ सो न पातीं। राजारूप मालिक के जगे रहते मंत्री सोते नहीं।।१२।।** जीव इंद्रियों के द्वारा ही जानता है अतः इंद्रियों के उपरत अर्थात् निश्चेष्ट हो जाने से जीव नहीं जान पाता यह कथन जीव को भोक्ता मानने वाला कर सकता है। इसी तर्क को प्राणवादी ग्रहण करे तो संगत नहीं। इंद्रियाँ जीव के प्रति गौण हैं अतः जीव के सोने पर वे भी उपरत हो जायें यह ठीक है लेकिन सुषुप्ति में भी प्राण तो जगा रहता है, यदि इंद्रियाँ उसके प्रति गौण होतीं तो वे भी तब जगतीं जैसे मालिक कार्य पर डटा रहते सब कर्मचारी एक-साथ विरत नहीं होते। इस तरह, सुषुप्ति में भोक्ताभाव की अनुपलब्धि तथा प्राण की सक्रियता से यही पता चलता है कि प्राण नहीं वरन् विज्ञानात्मा भोक्ता है, मन-रूप उपाधि के सम्पर्क से ही चेतना व्यक्त होती है न कि सिर्फ प्राण-संपर्क से।।११-२।।

राजा ने 'बृहन्!' आदि नामों से क्यों पुकारा? इसका जवाब देते हैं **प्राण देवता है इस मान्यता का निषेध करने के लिये चन्द्र-नामों से प्रबोधन का प्रयास**

देवता प्रतिषेधार्थं बोध्यते चन्द्रनामभिः ।
तदबोधाद् अभोक्तृत्वं देवतायाः सुनिश्चितम् ।।१३।।

अथ विज्ञानमयः

प्राणस्याऽभोक्तृतां गार्ग्यो व्यबुद्ध्यत ततो नृपः ।
विज्ञानमयबोधाय चक्रे यत्नम् उपायतः ।।१४।।

किया क्योंकि जब प्राण को कोई बोध नहीं हुआ तब सुनिश्चित हो गया कि देवता समझे गये प्राण में भोक्तृभाव नहीं है।।१३।। उपास्यमान प्राण देवता होने से चेतन है इसलिये उसे ब्रह्म क्यों न समझें? इसके उत्तर में राजा ने समझाया कि प्राण में जानना-रूप चेतनधर्म न मिलने से, चेतनरूपता जिसकी विशेषता है ऐसा ब्रह्म उसे समझना असंगत है। उपास्य होने से भले ही वह देवता है लेकिन वह ब्रह्म अर्थात् चिद्रूप नहीं है यह अभिप्राय है। यद्यपि प्राण में भी प्राणवान् जीव अर्थात् जो देवदत्तादि सो रहा है उसका अभिमान रहा करता है, 'मेरे प्राण' यों वह प्राणों को समझता है, तथापि जीव अर्थात् उसकी चेतनाऽभिव्यंजक उपाधि तब लीन होने से वह पुकार न सुने यह संगत है। किं च उसे तो केवल प्राण में नहीं, सारे संघात में अभिमान है इसलिये प्राण को पुकारने पर 'मुझे पुकारा' ऐसा उसी तरह नहीं लगता जिस तरह 'हाथ' पुकारा जाये तो सारे शरीर वाले को नहीं लगता कि 'मुझे पुकारा'। विशेषतः प्राण के शास्त्रीय नामों का प्रयोग किया, लौकिक नामों का नहीं क्योंकि राजा समझाना चाहता था कि जो देवता हमारे शरीर में प्राणरूप से मौजूद है वह भोक्ता नहीं। हमारे शरीर में आँखरूप से मौजूद सूर्य जैसे हमें होते दृश्यानुभवों का भोक्ता नहीं वरन् संघाताभिमानी जीव ही भोक्ता है, वैसे प्राणदेवता नहीं वरन् विज्ञानात्मा भोक्ता है। 'चन्द्रनाम' इसलिये कि उपासनावर्णन में (२.१.३) जिसे 'चंद्रमा में पुरुष' कहा था उसी के ये नाम राजा ने बताये थे। प्राण ही अन्नाद होने से भोक्ता समझा जाये यह उचित लग सकता है, उसके अधिदैवरूपों में चंद्रमा मुख्य है क्योंकि प्राण के पोषक ओषधियों में पोषक तत्त्व चंद्र ही डालता है जैसा भगवान् ने कहा 'पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः' (गी.१५.१३)।।१३।।

प्राणमात्र तो भोक्ता नहीं यह समझाकर भोक्ता का स्पष्टीकरण प्रारंभ करते हैं

प्राण में भोक्ता-भाव नहीं है यह गार्ग्य ने समझ लिया। फिर राजा ने तरीके से विज्ञानमय के बारे में समझाने के लिये यत्न किया।।१४।। बहुत बार उस सोये व्यक्ति को हिलाया, झकझोरा, यों राजा ने उसे जगाया। हिलाये जाने से हुई परेशानी के बाद वह उठा।।१५।। 'तरीके से' इसलिये कि विज्ञानमय इंद्रियगम्य तो

आपिष्यापिष्य बहुशः सुप्तं राजा व्यबोधयत्।
आपेषणोत्थसंक्षोभात् ततोऽसौ प्रत्यबुध्यत।।१५।।
मृतकल्पमिमं देहं स्वचिताऽऽवेशयन्निव।
ज्वलन्निव समुत्तस्थौ यः स भोक्तेति गम्यताम्।।१६।।

है नहीं, उसे किन्हीं कार्यों के आधार पर ही समझा जा सकता है। व्यतिरेक तो सुषुप्ति में दिखा दिया, अन्वय जाग्रत् में दिखाना है, यही उसके अधिगम का 'तरीका', उपाय है। प्रत्यक्ष के अयोग्य को भी प्रत्यक्ष के सहारे समझाने के लिये किया प्रयास यहाँ उपाय है। हिला-डुलाकर राजा ने सुप्त व्यक्ति को जगाया।।१४-५।।

सोते को यों जगता देखकर क्या समझा जाये यह स्वयं बताते हैं : **मरे जैसे इस शरीर को अपने ज्ञानरूप से मानो भरते हुए, जलता हुआ-सा जो जग गया, वह भोक्ता है यह समझा जाये।।१६।।** सुषुप्ति में गये जीव का स्थूल देह जो दूसरों को उपलब्ध होता है वह क्योंकि कुछ अनुभव नहीं करता इसलिये मुर्दे जैसा लगता है। यद्यपि प्राणों के चलते मुर्दा तो नहीं तथापि उसकी तरह दीखता है। जैसे ही जीव, विज्ञानमय, मन सुषुप्ति से बाहर आता है वैसे ही सारे शरीर में चेतना फैल जाती है। सोये को हल्के हाथ से छुएँ तो उसे पता नहीं लगता पर जगने पर छूएँ तो तुरंत पता चलता है। रोशनी हो गयी यह सोये को पता नहीं चलता, जगते ही चलता है। अतः जगने पर शरीर में जो चेतना, ज्ञानसामर्थ्य मिलती है वह विज्ञानमय ने उसमें भरी हो ऐसा लगता है। इसे आग के दृष्टांत से भी कहा : आग को राख में दबा देते हैं तो पता नहीं लगता कि 'यहाँ आग है', राख हटा देते हैं तो तुरंत दीख जाती है। इसी तरह गहरी नींद में राख से ढके-सी स्थिति होती है, अज्ञान से सारी सामर्थ्य ढक जाती है। जगने पर अज्ञान की राख इधर-उधर होती है, मन आदि प्रकट होते हैं तो उनमें प्रतिबिम्बित होने से सामर्थ्य स्फुट हो जाती है। अग्नि-उदाहरण से यह भी समझाया कि भोक्तृभाव, ज्ञानशक्ति सर्वथा न रह गयी हो यह सुषुप्ति की स्थिति नहीं; आग हो ही नहीं तो राख हटाने से कैसे प्रकट हो! मौजूद आग ही छिपी व उघाड़ी रह सकती है। अतः मृत्यु से कोई उसी शरीर में नहीं जगता, सुषुप्ति से जगता है यह व्यवस्था संगत है क्योंकि मृत्यु में उस शरीर के परिच्छेद में आग नहीं रह गयी है जबकि सुषुप्ति में मौजूद किंतु छिपी है। सोते से जगे को देखकर निश्चय यह करना है कि भोक्ता वह है जो सोया था, न कि प्राण। प्रश्नोपनिषत् के चतुर्थ प्रश्न में (अनु.प्र.७.श्लो ५४ आदि) सौर्यायणी गार्ग्य को इसी संदर्भ में समझाया गया है।।१६।।

विज्ञानमन्तःकरणं तस्मिन्नात्मोपलभ्यते।
राहुश्चन्द्रे यथा तद्वद् विज्ञानमयता ततः।।१७।।
स्वाभासवदविद्योत्थ-बुद्ध्यादिव्याप्तिविभ्रमात्।
तदात्मत्वाभिमानी सन्नहम् इत्युपलभ्यते।।१८।।

सोते को उठाने के बाद राजा ने बालाकि से पूछा 'यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषः, क्व एष तदाऽभूत? कुत एतद् आगाद्? इति' कि जब यह सो रहा था तब यह विज्ञानमय पुरुष कहाँ था? जगने पर कहाँ से आया? यहाँ प्रयुक्त 'विज्ञानमय' शब्द के तीन अर्थ हैं। पहला अर्थ बताते हैं **विज्ञान मायने अन्तःकरण, उसमें आत्मा मिलता है जैसे चंद्र में राहु मिलता है अतः आत्मा विज्ञानमय है।।१७।।** 'विज्ञानमय' में आये विज्ञान-शब्द का अर्थ है अंतःकरण क्योंकि आत्मा का स्फुट अनुभव वहीं होता। ज्ञानस्वरूप आत्मा की उपलब्धि अन्यत्र नहीं अंतःकरण में ही होती है। जहाँ 'मैं' की अनुभूति होती है उस हृदय में ही प्रधानतः विज्ञान रहता है। व्यापक होने पर भी उपलब्धि उसकी बुद्धि में, अंतःकरण में होती है। और कहीं न मिलने वाली वस्तु भी कहीं मिलती है इसमें प्रसिद्ध दृष्टांत राहु का है जो आकाश में और कहीं दीखता नहीं, सिर्फ़ तब दीखता है जब चन्द्र या सूर्य का ग्रास करता है। यद्यपि राहु का वास्तविक सम्बन्ध चन्द्र सूर्य से कुछ नहीं तथापि दीखता वह वहीं है, ऐसे ही वास्तव में आत्मा का विज्ञान से कोई संबंध न होने पर भी मिलता वह वहीं है। इसलिये 'विज्ञानमय' शब्द में मयट्-प्रत्यय का अर्थ प्राचुर्य समझाया गया है अर्थात् जहाँ आत्मा का प्रचुर बोध हो वह विज्ञानमय है। 'विज्ञायतेऽनेनेत्यन्तःकरणं बुद्धिरुच्यते, तन्मयः तत्प्रायो विज्ञानमयः' यह इस श्रुति में भाष्य है। वहीं प्रायस्ता के तीन रूप दिखाये हैं 'तस्मिन्नुपलभ्यत्वं, तेन चोपलभ्यत्वम्, उपलब्धृत्वं च।' इनमें प्रथम अर्थ का इस श्लोक में ग्रहण है।।१७।।

बुद्धि में उपलब्धि कुण्ड में बेर आदि की तरह तो संभव नहीं अतः विवक्षित ढंग स्पष्ट करते हैं **अपने आभास से युक्त अविद्या से जन्य बुद्धि आदि में व्याप्ति के विभ्रम से उसमें आत्मता का अभिमान रखने वाला होता हुआ 'मैं' यों आत्मा मिलता है।।१८।।** 'अपने' अर्थात् आत्मा के। अविद्या क्योंकि आत्मच्छाया-युक्त है इसलिये उसके सारे कार्यों में आत्मा की अनुगति प्रतीत होती है। आभास, छाया आदि का अर्थ तो अध्यास ही है। 'बुद्धि आदि' में आदि से मनआदि एवं इन्द्रियादि भी समझने चाहिये। 'व्याप्ति का विभ्रम' अर्थात् जो व्याप्ति प्रतीत होती है वह विभ्रमरूप है। वि-भ्रम

यद्वोपलब्धिमात्रोऽपि विज्ञानाध्यस्तकर्तृताम् ।
प्राप्योपलब्ध्या स्यात् तेन विज्ञानमय उच्यते ।।१९।।

इसलिये कि उसकी निवृत्ति केवल परमेश्वरबोध से संभव है। ऐसे अध्यास से बुद्धि आदि को ही मैं समझ लेना यही बुद्धि आदि में आत्मा की उपलब्धि है। अविद्या और बुद्धि में यहाँ जो दो भ्रम बताये एक आभास-शब्द से और दूसरा विभ्रम-शब्द से वे इसलिये कि अविद्या से हमारा तादात्म्य सुषुप्ति में भी रहता है लेकिन हमें तब उसका भान स्पष्ट नहीं होता तथा यों भी, अविद्या अर्थात् अखण्डतत्त्व का अज्ञान हमें है ऐसा हमें प्रतीत नहीं होता, यहाँ तक कि कोई अखण्ड तत्त्व है भी यह बहुतेरों की संकल्पना में नहीं है! इससे विलक्षण बुद्धि की प्रतीति सभी को स्पष्ट है, जाग्रत् में हमें भी, सदा इसका भान रहता है तथा बुद्धि के स्वरूप में मतभेद भले ही हो पर वह है इतना सभी को प्रतीत है। 'तदात्मत्वाभिमान' अर्थात् उसे ही मैं समझना यह तो बुद्धि के साथ ही होता है न कि अज्ञान के साथ। बुद्धि अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति हमें मैं ही लगती है, अज्ञान कभी भी मैं नहीं लगता। 'मैं अज्ञानी' तो लगता है, 'मुझे अज्ञान है' भी अनुभव होता है, पर 'अज्ञान मैं हूँ' यह प्रतीति नहीं होती। अतः यहाँ आभास, विभ्रम से अतिरिक्त अभिमान बताया। है ये सब अध्यास के ही स्फुटतर रूप।।१८।।

'विज्ञानमय' कहने का एक तात्पर्य बताया। भाष्य में जो 'उपलब्धृत्वम्' से अन्य अभिप्राय कहा है, उसे स्पष्ट करते हैं **अथवा, वस्तुतः उपलब्धिमात्र, विज्ञानमात्र रहता हुआ भी आत्मा, विज्ञान अर्थात् अंतःकरण में अध्यस्त कर्तृत्व पाकर उपलब्धा अर्थात् अनुभवकर्त्ता हो जाता है इसलिये विज्ञानमय कहा जाता है।।१९।।** आत्मा में सीधे ही कर्तृता (ज्ञानकर्तृता, ज्ञातृता) अध्यस्त नहीं, वरन् अंतःकरण में वह पहले अध्यस्त है क्योंकि कर्तृत्व लिये हुए ही अन्तःकरण अध्यस्त है; उस कर्तृत्व वाले अंतःकरण में तादात्म्य से आत्मा स्वयं पर उसी कर्तृत्व को ओढता है। जो आत्मा में कर्तृत्व है वह तो अध्यस्त है लेकिन जिस कर्तृत्व को स्वयं पर आत्मा अध्यस्त कर रहा है वह अंतःकरणगत कर्तृत्व भी अध्यस्त ही है क्योंकि अंतःकरण ही अध्यस्त है, यह तात्पर्य है। अंतःकरण में कर्तृता का स्वरूपाध्यास है और आत्मा का उसमें संसर्गाध्यास है यों अन्योन्याध्यास का यह प्रदर्शन किया गया है। स्वयं तो आत्मा उपलब्धि, जानना, ज्ञानरूप ही है; जानने 'वाला' वह तादात्म्यवश ही बनता है। ज्ञानरूप होते हुए भी वह ज्ञाता हो गया है। यद्यपि हमें विवेकदशा में ज्ञाता-रूप से ही आत्मा को समझना पड़ता है तथापि अंत में पहुँचना ज्ञानरूप में होगा।।१९।।

स्फटिको रक्ततां प्राप्य जपाकुसुमकल्पिताम्।
पद्मरागायते तद्वद् उपलब्धृत्वम् आत्मनः।।२०।।
यद्वोपलभ्यो देहादेर्विज्ञानेन विवेचितः।
स्याद् विज्ञानमयस्तेन पुरुषः परिपूरणात्।।२१।।

उक्त उपलब्धा-पन आत्मा में कैसे आता है यह उदाहरण से स्पष्ट करते हैं **जपा-पुष्प से प्रतिफलित ललाई पाकर जैसे स्फटिक माणिक्य-सा बन जाता है, वैसे आत्मा का उपलब्धा-पन है।।२०।।** जपा एक पुष्प है जो प्रायः लाल रंग का होता है। उस पर रोशनी पड़कर जब निकटस्थ स्फटिक पर पड़ती है तब वह लाल दीखता है मानो माणिक्य हो। यद्यपि स्फटिक न लाल हुआ, न माणिक्य बना, तथापि पहले लाली का भ्रम होता है फिर वह माणिक्य है ऐसा भ्रम होता है। 'जपाकुसुमकल्पिताम्' में भाव है कि जपा उपाधि बनकर स्फटिक में लाली की कल्पना का हेतु होता है। 'पद्मरागायते' अर्थात् पद्मराग (माणिक्य) की तरह आचरण करता है, प्रतीत होता है। जैसे स्फटिक शुद्ध ही रहा फिर भी लाली के आरोपवश पद्मराग 'बन' गया वैसे आत्मा उपलब्धा, उपलब्धिकर्त्ता, विज्ञाता, प्रमाता बना हुआ है यह तात्पर्य है। जपा की लालिमा भी स्फटिक में नहीं आती! बुद्धि में भी वास्तविक कर्तृत्व नहीं है, प्रातीतिक ही है, उसी से तादात्म्य वाला लगता आत्मा स्वयं को विज्ञाता जानता है। विज्ञानमय रहते ही यह लीला होती है इसलिये आत्मा को विज्ञानमय कहना बन जाता है। 'उपलब्धृत्व' को सुरेश्वराचार्य ने 'साक्षित्वेनोपलभ्यत्वात् साक्ष्यबुद्ध्यादिसंश्रयात्' (२.१.१८८) से समझाया है। क्योंकि साक्षित्व निर्भर करता है साक्ष्य पर इसलिये वह सोपाधिक स्थिति है। उसी रूप में आत्मा अर्थात् जीव प्रतीति-सिद्ध है, यह तात्पर्य है। इस प्रकार प्रथम विकल्प प्रमातृरूप का व द्वितीय विकल्प साक्षी का उपस्थापक समझा जा सकता है।।२०।।

भाष्योक्त 'तेन चोपलभ्यत्वम्' का संग्रह करते हैं **अथवा, विज्ञानद्वारा शरीरादि से विविक्तरूप में समझने पर ही आत्मा की सही उपलब्धि होती है इसलिये उसे 'विज्ञानमय' कहते हैं। उसे 'पुरुष' इसलिये कहा क्योंकि वह सभी को परिपूर्ण करता है।।२१।।** आत्मा वस्तुतः जैसा है वैसा उसे समझना ही 'उपलब्धि' कहलाने योग्य है। आत्मा अभी शरीरादि से एकमेक प्रतीत हो रहा है जबकि सचमुच में इनसे एकमेक है नहीं। इनसे उसे पृथक् करें तभी उसका असली रूप दीखे। अलग करें कैसे? इसका उपाय यही है कि बुद्धि से विवेक करें। दाल-चावल की तरह तो

अशेषान् कल्पितान् एष विज्ञानादीन् अनात्मनः।
आत्मा पूरयति प्रत्यक् सर्पादीन् रशना यथा।।२२।।

शरीर-आत्मा को पृथक् नहीं कर सकते, समझमात्र से पृथक् कर सकते हैं। वह समझ अर्थात् विवेक ही यहाँ विज्ञान है, विवेकरूप ज्ञान है। उसी से पता चलने के कारण आत्मा विज्ञानमय कहा गया। जैसे आधुनिक भौतिकी गणित से ही समझ आती है तो कह देते हैं कि वर्तमान भौतिकी गणितमय है अथवा नव्यव्याकरणादि को न्यायमय कह देते हैं, वैसे आत्मा को विज्ञानमय कहा, यह भाव है। श्लोक में 'तेन' पर्यन्त 'विज्ञानमय'-पद का अर्थ बताया। आगे श्रुति में आया है 'पुरुषः', उसकी व्याख्या प्रारंभ की 'पूरणात्' से। अगले श्लोक में इस पूरण का स्पष्टीकरण है। परमात्मा से ही संसार पूरा है इसलिये परमात्मा पुरुष है। अध्यात्म-अधिभूत कहीं भी बिना आत्मतादात्म्य के सत्-चित्-आनंद असंभव होने से तथा इनके बिना नाम-रूप अपूर्ण रह जाने से, आत्मा ही सबको पूरा बनाने वाला बताया। जैसे पंखा, लट्टू आदि उपकरण बिजली से ही 'पूरे' होते हैं वैसे सब कुछ आत्मा से ही पूरा होता है। अकेली बिजली कुछ 'करती' नहीं लेकिन उसके बिना पंखे आदि भी चलते नहीं, ऐसे ही आत्मा खुद कुछ नहीं करता, उसकी उपस्थिति में ही सारी उपाधियाँ सत्ता-स्फूर्ति वाली हो जाती हैं, कार्यकारी हो जाती है।।२१।।

'परिपूरणात्' इस सूत्र को ही समझाते हैं **विज्ञान आदि सभी कल्पित अनात्माओं को प्रत्यगात्मा उसी तरह पूरा करता है जिस तरह सर्पादि को रस्सी!।।२२।।** यद्यपि भाष्य में 'पुरि शयनात्' इस प्रसिद्ध प्रकार से पुरुष-शब्द को समझा दिया है तथापि उपक्रम-उपसंहार का विचार कर वार्तिककार ने (२.१.१६२-३) 'पूरयन् पुरुषः' व्युत्पत्ति को ही यहाँ अभिप्रेत माना है जिसका अनुभूतिप्रकाशकार ग्रहण कर रहे हैं। अहंकार, बुद्धि, शरीर आदि सभी अनात्मा हैं जिन्हें पूरा करने वाला आत्मा है, उसकी ही तादात्म्यापत्ति से इनमें सचेतनता, सात्मता, सजीवता आती है। इसमें दृष्टांत सर्पादि भ्रमों की अधिष्ठानभूत रस्सी है। जितने भी पदार्थ भ्रम से दीखते हैं उन्हें भ्रमवश ही सही, सत्ता देने वाली रस्सी ही है। रस्सी हटते ही सर्पादि सभी भ्रमसिद्ध वस्तुएँ निवृत्त हो जाती हैं। प्रत्यगात्मा का तादात्म्य हटते ही बुद्धि आदि की अनुपलब्धि हो जाती है जैसे सुषुप्ति में। इस प्रकार बताया कि राजा ने 'विज्ञानमयः पुरुषः' से आत्मवस्तु का उल्लेख किया।।२२।।

श्लोक १७ के अवतरण में आये श्रुतिवाक्य में विज्ञानमय पुरुष के बारे में पूछा गया कि विज्ञानमय के सोते समय पुरुष कहाँ था और जगने पर कहाँ से आया? इस प्रश्न के उत्तर द्वारा आत्मा का स्वभाव ही पूछा जा रहा है यह समझाना शुरू करते हैं **स्वप्न**

यो विज्ञानमयस्तस्य द्वैतधीः स्वप्नजाग्रतोः ।
अस्ति सुप्तौ तु सा नास्ति स्वभावोऽस्याऽत्र को भवेत् ।।२३ ।।
तस्य स्वभावं निर्णेतुं सुप्तौ क्वाऽभूद् अयं पुनः ।
कुत आगाद् इमं देहम् इत्येतद् इह चिन्त्यते ।।२४ ।।

और जाग्रत् में विज्ञानमय को द्वैत का ज्ञान होता है, सुषुप्ति में तो होता नहीं अतः प्रश्न उठता है कि इन दोनों में से विज्ञानमय का स्वभाव कौन-सा है?।।२३।। उसके स्वभाव का निर्णय करने के लिये यहाँ यह विचार किया गया है कि सुषुप्ति में यह कहाँ था तथा फिर जाग्रत् में शरीर में कहाँ से आया।।२४।। विज्ञानमय अर्थात् अहंकारयुक्त चेतन जिसे 'मैं' कहते हैं। मैं जाग्रत् और स्वप्न में रहता है। सुषुप्ति में तो मैं का भान है नहीं। जाग्रत्-स्वप्न में द्वैतबुद्धि रहती है, गहरी नींद में रहती नहीं। अहं के रहते द्वैत-बुद्धि, अहं न रहने पर द्वैत-बुद्धि भी नहीं यह स्थिति है। साधारण लोग मानते हैं कि द्वैत का ज्ञान करने वाला जीव है, थका-माँदा होने से सुषुप्ति में भले ही दबा रह जाता है। किंतु प्रश्न है कि द्वैतज्ञान छोड़कर सुषुप्ति में जाना क्यों चाहता है? अचानक जगने पर भी फिर सो जाता है। ऐसा भी मान सकते हैं कि आत्मा का स्वभाव सुषुप्ति में प्रकट होता है और प्रारब्ध कर्म जबर्दस्ती धक्के मारकर उसे जगा देता है! प्रारब्ध का प्रभाव खत्म होते ही फिर स्वाभाविक स्थिति अर्थात् सुषुप्ति में पहुँच जाता है। अतः विचारणीय है कि क्या स्वाभाविक है और क्या कारणविशेष से है, उपाधि से है। इसे राजा ने इस ढंग से व्यक्त किया कि सोते समय कहाँ था तथा जगने पर कहाँ से आया।।२३-२४।।

उक्त प्रश्न का श्रुति में उत्तर प्रारंभ हुआ 'स होवाचाऽजातशत्रुः यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषः तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानम् आदाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिञ्छेते।' अर्थात् जब विज्ञानमय सोता है तब हृदय के अंदर जो आकाश है उस में सोता है। 'विज्ञान से' प्राणों का 'विज्ञान' लेकर सोने जाता है। 'विज्ञान से' अर्थात् चिदाभास से, 'प्राणों का' अर्थात् वाक् आदि करणों का जो 'विज्ञान' अर्थात् विषय-प्रकाशन-सामर्थ्य उसे साथ ले जाता है। करण जब तक साभास हैं तभी तक कार्यकारी हैं, आभास वहाँ से हटता है तो वे निर्वीर्य हो जाते हैं। सुषुप्ति में जाते समय 'आत्मा' क्योंकि करणों से तादात्म्यरूप अध्यास छोड़ देता है इसलिये उनमें पड़ा आभास मानो ले जाता है। इस भाग का निरूपण करते हैं **यह ज्ञानरूप आत्मा बुद्धि में और इन्द्रियों में प्रतिबिम्बित होता है। सप्रतिबिम्ब बुद्धि व इंद्रियाँ रूप उपाधि वाला**

बुद्धावक्षेषु चात्माऽयं चिद्रूपः प्रतिबिम्बति।
तादृग्बुद्धीन्द्रियोपाधिर्जागर्त्यात्मेति भण्यते।।२५।।
कर्मक्षये बुद्धिरक्षैः सहाऽज्ञाने विलीयते।
चैतन्यप्रतिबिम्बाश्च लीयन्ते स्वाश्रयान् अनु।।२६।।
तदेन्द्रियाणां विज्ञानं धीविज्ञानेन संयुतम्।
विज्ञानमय आदत्ते इति श्रुत्योपवर्ण्यते।।२७।।

आत्मा 'जग रहा है' ऐसा कहा जाता है।।२५।। (जाग्रत् - स्वप्न में फल देने वाले) कर्म समाप्त होने पर इन्द्रियों समेत बुद्धि अज्ञान में विलीन होती है तथा उनमें पड़े चेतन के प्रतिबिम्ब भी अपने आश्रयभूत बुद्धि व इंद्रियों के लय के अनन्तर विलीन हो जाते हैं।।२६।। तब बुद्धि-विज्ञान सहित इंद्रिय-विज्ञान को विज्ञानमय ग्रहण कर लेता हैऐसा श्रुति द्वारा वर्णन किया जा रहा है।।२७।।

बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है इससे यह भी विवक्षित है कि बुद्धि की ही वृत्ति जो अहंकार उसमें चेतन प्रतिबिम्बित होता है अर्थात् बुद्धि से यहाँ प्रधानतः अहंकार समझना चाहिये। आगे इंद्रियों में भी आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। प्रतिबिम्ब एक रूपक है यह समझाने के लिये वस्तुतः असम्बद्ध रहते भी आत्मा बुद्धि-इंद्रियों से एकमेक हुआ लगता है। इस एकमेकता के रहते ही बुद्धि आदि कार्य करती हैं, अन्यथा नहीं जैसे बिजली रहते ही उपकरण कार्य करते हैं अन्यथा नहीं। जीव की उपाधि जो बुद्धि-इंद्रियाँ वे आत्मा से एकमेक हुई लगें तभी जीव जगा हुआ कहा जाता है। उपाधि को ही जीव या आत्मा कह देते हैं, भले ही वह है अनात्मा। आँख देखती है ऐसा कहते-समझते हैं जबकि वास्तव में आँख से देखता आत्मा है, चेतन है। ऐसे प्रयोगों से ही चार्वाक आदि को भ्रम हो जाता है कि शरीरादि ही आत्मा है। गार्ग्य भी प्राण की ब्रह्मता कहकर इसी तरह का भ्रम व्यक्त कर रहा था। इंद्रिय, मन, अहम् आदि को आत्मा यों ही समझा जाता है। किंतु सुषुप्ति का अनुभव उपाधि-भिन्न आत्मा को सिद्ध करता है। प्रारब्ध शेष रहते कुछ काल के लिये फलदान के योग्य न रहे तब सुषुप्ति होती है। बिजली का कनेक्शन कटना अलग है, फ्यूज़ उड़ जाना अलग है; ऐसे ही प्रारब्ध समाप्त होने पर तो मृत्यु होती है जबकि यहाँ जिस क्षय को कह रहे हैं उसके होने पर सुषुप्ति होती है। सुषुप्ति के दौरान आत्मा कर्त्ता-भोक्ता नहीं रह जाता, उसके उपकरण इंद्रियाँ व अंतःकरण अपने परम कारण अज्ञान में लीन हो जाते हैं अर्थात् इंद्रियादि भेद न रहकर एक अज्ञान ही बचा रहता है। इंद्रियादि तब लीन इसलिये माननी पड़ती हैं कि उठने पर पुनः व्यक्त होती हैं, जो

आत्मवर्णनम्

धीविज्ञानोपसंहारे विज्ञानमयताक्षतौ।
निर्विकारात्मचैतन्यं केवलं परिशिष्यते।।२८।।
एतद् एव विवक्षित्वा प्रतिपादयति श्रुतिः।
य एषोऽन्तर्हृदयाकाशस्तस्मिन् शेत इतीदृशी।।२६।।

अव्यक्त न रह जाये वह पुनः व्यक्त भी होता नहीं। जब बुद्धि-इन्द्रियाँ लीन हो गयीं तब उनमें पड़ते प्रतिबिम्ब भी लीन ही माने जायेंगे, उपलब्ध तो होंगे नहीं क्योंकि जिनमें उपलब्ध हो रहे थे वे उपाधियाँ ही उपलब्ध नहीं हैं। प्रतिबिम्ब का आश्रय जो बुद्धिवृत्ति, वही न रहने पर प्रतिबिम्ब नहीं ही रहेगा। घड़े में भरे पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, पानी निकल जाये तो प्रतिबिम्ब कहाँ जायेगा? यही कहना पड़ेगा कि विलीन हो गया। बिम्ब में लौट गया ऐसा कह भले ही दें लेकिन प्रतिबिम्ब ऐसी कोई चीज़ तो है नहीं जो चलकर सूर्य तक जाये! अतः, नहीं रह गया इतना ही अभिप्राय है। ऐसे ही जाग्रत् आदि में बुद्धि व इंद्रियों में चित्प्रतिबिम्ब रहता है; वह जिसका प्रतिबिम्ब है वही विज्ञानमय जीव कहा गया है; सुषुप्ति में जब बुद्धि-इंद्रियाँ नहीं रहीं तब उनमें पड़े प्रतिबिम्ब के लिये कह दिया गया है कि विज्ञानमय ने उसे ग्रहण कर लिया। श्रुति ने जो 'विज्ञानम् आदाय' कहा उसका तात्पर्य इतना ही है कि उपाधि-विलय के बाद उपहित अनुपलब्ध होने से आत्मा को उपहित नहीं माना जा सकता। इससे निश्चित हो जाता है कि आत्मा स्वरूप से सोपाधिक नहीं है।।२५-७।।

राजा ने सुषुप्ति में आत्मा के बारे में जो विचार करने के लिये प्रेरित किया उसका फल बताते हैं **बुद्धि और उससे होने वाला विषय-विज्ञान, इन दोनों का उपसंहार होने पर आत्मा की विज्ञानमयरूपता नहीं रह जाती अतः केवल ऐसा आत्मरूप चैतन्य बचता है जिसका कार्यप्रपंच से कोई सम्बन्ध नहीं।।२८।। यही बताने के तात्पर्य से उक्त श्रुति ने प्रतिपादन किया है कि यह आत्मा उसमें सोता है जो हृदय में आकाश (ब्रह्म) है।।२६।।** आत्मा विज्ञानमय तभी तक कहा-समझा जा सकता है जब तक बुद्धि-इंद्रियाँ मौजूद हैं, उनके न रहने पर नहीं, जैसे नौकरी रहते अफसर होता है, नौकरी छूटने पर नहीं। लेकिन जैसे नौकरी छूटने पर भी व्यक्ति रह ही जाता है वैसे विज्ञानमयता हटने पर भी आत्मा रह ही जाता है। वह उसकी स्वाभाविक स्थिति है, किसी विकार (बिगाड़) से युक्त नहीं है। सुषुप्ति में जो आत्मा की स्थिति उसे प्रत्यगात्मा का स्वभाव कहा जाता है। वहाँ अज्ञान भी है किंतु कार्यभूत कोई

बुद्धिर्हृदयशब्देन हृन्निष्ठत्वाद् विवक्ष्यते।।
आ समन्तात् काशतेऽयम् इत्याकाशोऽत्र चिद्वपुः।।३०।।
बुद्धेरन्तः प्रतीचोऽन्यो नार्थः सम्भाव्यते यतः।
तस्माद् आकाशशब्देन प्रत्यगात्मेह गृह्यते।।३१।।
प्राणादीनां यतो जन्म वक्ष्यते प्रत्यगात्मनः।
तस्माद् आकाशशब्देन ब्रह्मैवाऽत्राऽभिधीयते।।३२।।

उपाधि नहीं, परमार्थतः आत्मस्वभाव अत्यन्त अद्वैतात्मक है जिसका अज्ञान से भी सम्बंध नहीं। किंतु व्यक्त उपाधि से स्वतंत्र आत्मा को समझाने के लिये सुषुप्ति की स्थिति को स्वाभाविक कहना बन जाता है। हृदयस्थ आकाश अर्थात् परमेश्वर से अभेद बताने के लिये श्रुति ने 'य एषः' ये दो शब्द रखे; 'यः' अर्थात् तत्पदार्थ से 'एषः' अर्थात् त्वम्पदार्थ का अभेद यहाँ श्रुति ने कहा। प्रायः आत्मा हृदय में उपलब्ध माना गया है, जीवभाव वहीं व्यक्त है और दहरविद्यादि में वही ब्रह्म का भी स्थान बताया गया है। इस प्रकार स्वरूप और स्थान दोनों दृष्टियों से एकता है यह भाव है।।२८-९।।

उद्धृत श्रुतिवचन की स्वयं व्याख्या करते हैं **हृदय में स्थित होने के कारण 'हृदय' इस शब्द से बुद्धि बताने में तात्पर्य है तथा यहाँ कहा 'आकाश' चेतनस्वरूप है क्योंकि 'आ' अर्थात् पूर्णतः वह प्रकाशमान है।।३०।। बुद्धि के अन्दर क्योंकि प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु होना संभव नहीं इसलिये यहाँ आकाश-शब्द से प्रत्यग्रूप आत्मा का ग्रहण है।।३१।। किं च क्योंकि प्रत्यग्भूत आत्मा से प्राणादि की उत्पत्ति कही जायेगी इसलिये यहाँ आकाश-शब्द से ब्रह्म ही कहा गया है।।३२।।** श्रुति ने 'हृदय के भीतर' कहकर सूचित किया कि बुद्धि से प्रत्यग्भूत आत्मा की बात चल रही है। शब्द 'हृदय' रखा पर तात्पर्य है बुद्धि से। हृदय में रहने वाली होने से बुद्धि हृदय कह दी जाती है। आकाश भी प्रायः महाभूत-विशेष को कहते हैं लेकिन यहाँ यौगिक अर्थ में तात्पर्य है। पूरी तरह ज्ञानरूप से मानो चमकता है, सब तरफ ज्ञान से भरा हुआ है इस भाव से चिन्मात्र वस्तु को आकाश कहा। मैं के अंदर ज्ञान ही भरा हुआ है। मैं में ऐसा कुछ नहीं जो ज्ञान वाला न हो। मैं स्वयं अनुभवात्मक है इसमें किसी को संदेह नहीं। इसीलिये ब्रह्मसूत्र में (१.१.२२) माना है कि आकाश और उसके पर्याय ब्रह्म के लिये कई जगह प्रयुक्त होने से ब्रह्म को आकाश-शब्द कहे यह संगत है। आकाश का ध्यान इसका मतलब 'कुछ नहीं' का ध्यान समझना ग़लत है वरन् परमात्मा का ध्यान अर्थ है। ऐसे ही

अधिष्ठानत्वम् अन्तस्त्वम् अपरिच्छिन्नवस्तुनः।
अन्तर्बहिर्विभागोऽयं न मुख्य उपपद्यते।।३३।।

भूताकाश का भी ध्यान अभिप्रेत नहीं है, परमात्मा का ही ध्यान कर्त्तव्य है। हृदय-शब्दित बुद्धि के अन्दर हो भी प्रत्यगात्मा ही सकता है। उपाधि-परम्परा में सबसे भीतर बुद्धि (अहं) ही है, उसके अंदर कहा है तो आत्मा ही अभिप्राय होना ठीक है। इंद्रियों व बुद्धि के अंदर 'मैं' ही हूँ, आगे उस 'मैं' के अंदर प्रत्यक्स्वरूप के अलावा कुछ नहीं है। यह भी हेतु है कि आकाश-शब्द आत्मा के लिये आया है। वह आत्मा परमात्मस्वरूप है यह भी इस प्रसंग में स्वीकार्य है क्योंकि उसी से प्राणादि का जन्म आगे बताया जायेगा, 'अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' यह वाक्य (२.१.२०) आयेगा। सोते समय प्राणादि सब इसी में लीन होते हैं अतः जगने पर इसी से निकलते हैं। जैसे स्वर्णरूप कारण से ही गहना-रूप कार्य पैदा होते हैं वैसे आत्मा से प्राणादि पैदा होते हैं। अतः जागते ही व्यक्ति देखने सुनने लग जाता है। इस तरह हृदयस्थ आकाश में जगत्कारणता-रूप ईश्वर-लक्षण भी उपलब्ध है। अतः प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का यहाँ प्रतिपादन स्पष्ट हुआ।।३०-२।।

प्रकृत आकाश-पद ब्रह्मपरक है इसका निगमन करते हैं **त्रिविध अन्त से रहित वास्तविक तत्त्व से प्राणादि आन्तर विकार तथा लोकादि बाह्य विकार अलग-अलग व्यक्त हों यह वास्तविक कार्य-कारण-भाव में संभव नहीं अतः यहाँ जो आकाश का भीतरीपन कहा है वह इसी अभिप्राय से कि वह अधिष्ठान है। किं च 'हृदय के अंदर' का भी मतलब है कि वह हृदय (बुद्धि) का अधिष्ठान है क्योंकि व्यापक वस्तु में भीतर-बाहर का सच्चा विभाजन असंगत है।।३३।।** जैसे 'सर्प में रस्सी है' कहने का मतलब यह नहीं कि सर्प के मुख में या पेट में रस्सी है वरन् यह है कि सर्प का अधिष्ठान रस्सी है, वैसे यहाँ आत्मा को सभी के, बुद्धि के भी भीतर कहने से उसे सबका अधिष्ठान कहा। अत एव उसकी जो प्राणादि व लोकादि के प्रति कारणता कहनी है वह विवर्त्तरूप ही संभव है। उदाहरणार्थ भूताकाश व्यापक है, उसमें भीतर-बाहर का कोई स्वाभाविक विभाजन नहीं, औपाधिक ही विभाजन है, कमरा आदि उपाधि की अपेक्षा से भीतर की जगह और बाहर की जगह ऐसा भेद कर सकते हैं, केवल आकाश में कोई भेद नहीं कर सकते। इसी तरह परमात्मा व्यापक होने से बाहर-भीतर के विभाग वाला नहीं, बुद्धि, शरीर आदि उपाधि की अपेक्षा से ऐसा व्यवहार हो जाता है। अधिष्ठान होना भी ब्रह्म में सचमुच असंभव है : अधिष्ठान अध्यस्त से भिन्न होता है जबकि ब्रह्म

पराक्प्रमेयभूमिभ्यो मनसि व्युत्थिते सति।
अनन्यबोधप्रात्यक्ष्याद् य एष इह भण्यते।।३४।।
स्वतोऽवगमरूपेऽस्मिन् कूटस्थे निर्द्वयात्मनि।
कात्स्न्र्येनाऽवस्थितिर्भोक्तुः शेत इत्यभिधीयते।।३५।।

किसी से सचमुच भिन्न हो नहीं सकता अन्यथा परिच्छिन्न हो जायेगा! अतः उसकी अधिष्ठानता भी एक व्यवहार ही है। इसीलिये यहाँ जो हृदयस्थ आकाश को बाह्य-आन्तर जगत् का हेतु कहा वह समझने के लिये ही है, उसे वस्तुतः कैसा भी कारण बताने के लिये नहीं। ऐसा निर्विकार सत्य तत्त्व ब्रह्म ही है अतः आकाशपद उसी का उपस्थापक है।।३३।।

श्रुति के 'य एषः' (जो यह) पदों का भाव बताते हैं **अनात्मरूप प्रमेय विषयों से जब मन विपरीत ओर उन्मुख हो जाता है तभी स्वप्रकाश अनुभवस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होने से यहाँ 'य एषः' ऐसा कहा गया है।।३४।।** स्वभाव से मन बहिर्मुख है अतः जब बहिर्मुखता छोड़ता है तब लीन हो जाता है, सुषुप्ति आ जाती है, इसीलिये आत्मा जैसा है वैसा उसे समझ नहीं पाते। उसे समझने के लिये मनको पराक् अर्थात् अनात्मा जो प्रमा के विषय, उनसे मोड़कर आत्मा पर, उत्तम पुरुष पर एकाग्र करना पड़ेगा, तभी जो किसी अन्य पर निर्भर नहीं ऐसे बोध के स्वरूप वाला वह आत्मा प्रत्यक्ष होगा, उसका साक्षात्कार होगा। सुषुप्ति में आत्मा भले ही अनन्यबोधरूप ही है लेकिन तब मन उसे ग्रहण नहीं करता अतः तब 'आत्मा का प्रत्यक्ष हो गया' ऐसा नहीं कह सकते। यद्यपि यहाँ प्रकरण सुषुप्ति का है तथापि आचार्य 'व्युत्थित' पद के प्रयोग से उक्त अभिप्राय सूचित कर रहे हैं। वार्तिककार ने यह स्पष्ट किया है 'पराक्प्रमेयभूमिभ्यो व्युत्थाप्य मन आदरात्। प्रत्यक्प्रवणया दृष्ट्या पश्यात्मानं त्वमंजसा।।' २.१.२३५।। श्रुति में 'यः' से स्वप्रकाश तत्पदार्थ को तथा उसे ही 'एषः' यों प्रत्यग्रूप वाला कहकर आत्मा के साक्षात्कार की प्रेरणा दी गयी है यह भाव अनुभूतिप्रकाशकार का है। 'जो यह हृदय के अंदर आकाश है' इससे सूचित है कि व्यापक परमेश्वर का प्रत्यग्रूप से साक्षात्कार करना उचित है।।३४।।

आगे वेदवाक्य में शब्द आया है 'तस्मिन् शेते' अर्थात् उस आकाश में सोता है। इस शयन को समझाते हैं **स्वयम्प्रकाश अवगतिस्वरूप इस अपरिवर्त्तनीय अद्वितीय आत्मा में सर्वात्मरूप से भोक्ता जीव का अवस्थान 'शयन' कहा जाता है।।३५।। घड़ा फूटने पर घटाकाश महाकाश से अलग नहीं रहता, ऐसे विज्ञान (उपाधि) की निवृत्ति होने पर विज्ञानमय (जीव) की परमात्मरूपता रह जाती**

घटभङ्गे घटाकाशो महाकाशाद् न भिद्यते।
विज्ञानलोपे विज्ञानमयस्यैवं परात्मता।।३६।।
देहाद्यध्यक्षतां हित्वा सुप्तौ स्वात्मनि वर्तते।
इत्येतत् साध्यते श्रुत्या समाख्यायाश्च युक्तितः।।३७।।

है।।३६।। देहादि में अभिमान छोड़कर सुषुप्ति में स्वात्मा में रहता हैयह बात नाम और तर्क से श्रुति द्वारा सिद्ध की जा रही है।।३७।। भोक्ता की स्थितिविशेष को 'सो रहा है' ('शेते') कहते हैं। जाग्रत् - स्वप्न भी उसी की स्थिति हैं, सुषुप्ति भी उसी की स्थिति है किंतु जाग्रत्-स्वप्न में भोक्तृभाव रहता है जबकि सुषुप्ति में सत् से सम्पन्नता, परमात्मा से अभेद होने से भोक्तृभाव नहीं रहता। अज्ञान रहने से भोक्तृता के बीज बचे रहते हैं अतः वह मोक्षदशा नहीं है। उस समय आत्मा कूटस्थ है, किसी अनात्मा से कैसे भी सम्बन्ध वाला नहीं है। यद्यपि कूटस्थ होने से अनात्मसंबंध की प्रतीति के समय भी वह वस्तुतः असम्बद्ध ही रहता है, तथापि सुषुप्ति में तो सम्बंध-प्रतीति भी नहींयह विशेषता है। जैसे सर्पादि दीखने पर भी रस्सी अप्रभावित रहती है ऐसे प्रपंच-सम्बन्ध की अनुभूति हो या न हो, परमात्मा निर्विकार रहता है। इस तथ्य को समझना सुषुप्ति की स्थिति के चिंतन से सरल होने के कारण 'निर्द्वयात्मनि' कहा अर्थात् तब तो कूटस्थ आत्मा सब द्वय अर्थात् नाम-रूपात्मक जगत् से अस्पृष्ट है। अन्यदा भी है असंबद्ध लेकिन कम-से-कम लगता सम्बद्ध है अतः काम-क्रोध, सुख-दुःख आदि विकारों वाला लगता है पर सुषुप्ति में वैसा लगता भी नहीं। ज्ञानमात्र ही उसका स्वरूप है। इसी स्वरूप से रहने का नाम शयन है। वहाँ सभी प्रकार के जीवभेद एवं जगद्भेद बेमानी हैं।।३५।। सोनेमात्र से जीव परमात्मा से एक कैसे हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर है कि जैसे घड़ा न रहे तो घटाकाश महाकाश से एक होता है वैसे जिस कार्यरूप उपाधि से जीवभाव था, उस उपाधि के न रहने पर यह जीवभाव भी रह नहीं जाता तो परमात्मा ही रहेगा। सुषुप्ति में अहंकार न रहने से जिसे अन्यदा विज्ञानमय समझते हैं वह परमात्मा हो जाता है। मोक्ष फिर भी इसलिये नहीं कि अहंकार का संस्कार बचा रहता है।।३६।। जाग्रत् आदि में आत्मा देहादि का अध्यक्ष बना रहता है, उन्हें अपना स्वरूप मानता है, उनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता से सुखी-दुःखी होता है। 'अध्यक्ष' शब्द आजकल की दृष्टि से भी सार्थक है। बड़ी कम्पनी के मालिक सचमुच तो उसके भागीदार (शेयरधारक) होते हैं परंतु कम्पनी का अध्यक्ष (चेयरमैन) उसे अपनी कंपनी मानता है, उसके अच्छे-बुरे से प्रभावित होता है, संमानित-अपमानित होता है। भले ही वास्तव में उसके पास सात-आठ प्रतिशत से

सुप्तस्य स्वपितीत्येषा समाख्या सर्वसंमता।
निरुक्तिमाहुश्छन्दोगाः स्वमपीत इतीदृशीम्।।३८।।
अतः समाख्यया सुप्तौ स्वाभाविक्यात्मनि स्थितिः।
युक्तिश्चोपाधिसंहारः संसारित्वनिवृत्तये।।३९।।
वागाद्युपाधिसम्बन्धात् संसारित्वमिवेक्ष्यते।
ते तूपसंहृताः सर्वे ततोऽसंसारितात्मनः।।४०।।

ज़्यादा भागीदारी न हो, फिर भी उसे अभिमान होता है 'मैं मालिक हूँ'। ऐसे ही हम लोग शरीरादि के अध्यक्ष हैं, उसमें अभिमानी हैं, वास्तव में हमारा उस पर स्वामित्व नहीं है, वह हमारे निर्देशानुसार चलता नहीं, हम उसके चलने की प्रक्रिया जानते भी नहीं। शरीरादि हमारे अनुसार नहीं चलते, हम ही उनके पीछे सुखी- दुःखी होते रहते हैं! कंपनी-अध्यक्ष भी कंपनी के नुकसान से ऐसे ही दुःखी होता है। सुषुप्ति के समय हमारी अध्यक्षता छूट जाती है। तब मच्छर काटे या गुलाब की खुशबू हो, कुछ पता नहीं चलता। अध्यक्षता छूटने पर भी आत्मा तो रहता ही है, वह उसका स्वाभाविक रूप है। अहंकार हटने पर चिन्मात्र ही रहता है। श्रुति इसे दो तरह समझाती है एक तो सोये आत्मा के नाम से, दूसरा तर्क से। इन दोनों का अगले श्लोकों में वर्णन है।।३७।।

सत्रहवीं कण्डिका का शेषभाग है 'तानि यदा गृह्णाति अथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम, तद् गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः।।१७।।' अर्थात् जब वाग्-आदि विज्ञानों को खींच लेता है तब यह पुरुष 'स्वपिति' नाम वाला होता है। तब प्राण-वाक्-श्रोत्र-मन सब गृहीत होते हैं, उपसंहृत होते हैं। यहाँ जो 'स्वपिति' नाम कहा उसपर छांदोग्य-विवरण में अर्थात् अनुभूतिप्रकाश अध्याय ३ श्लोक ७९ आदि में विचार कर चुके हैं। अतः यहाँ उल्लेखमात्र करके युक्ति का विस्तार करते हैं **यह सभी को स्वीकार है कि 'स्वपिति' यह सोये हुए का नाम है। छान्दोग्य-शाखा वाले इस शब्द का ऐसा निर्वचन करते हैं'खुद की ओर आता है, खुद में विलीन होता है'।।३८।। इसलिये स्वीकार्य है कि उक्त नाम के अनुसार सुषुप्ति में जीव की आत्मा में स्वाभाविक स्थिति होती है। सुषुप्ति में संसारिता निवृत्त होती है यह सिद्ध करने के लिये उपाधियों का उपसंहाररूप युक्ति भी है।।३९।। आत्मा में जो संसारिता जैसी लगती है वह वाग् आदि उपाधियों के संबंध से। सुषुप्ति में वे तो सब उपसंहृत हो चुकते हैं इसलिये तब आत्मा की असंसारिता निश्चित है।।४०।।** समाख्या

सर्वेन्द्रियवियोगेऽपि सुखिदुःखित्वम् आत्मनः।
स्वप्ने दृष्टम् अतः सङ्ग आत्मनस्तात्त्विको भवेत्।।४१।।
मैवं मृषात्वात् स्वप्नस्य मनोमात्रविजृम्भणात्।
बाह्येन्द्रियविलोपेऽपि न मनो लुप्यते तदा।।४२।।
महाराजादयस्तस्य स्वप्नानुभवगोचराः।
न वास्तवा इति ज्ञेयाः शयानेभ्यः पृथक्त्वतः।।४३।।

अर्थात् नाम, वह भी अर्थ का स्वरूप बताता ही है। यद्यपि हमेशा नाम अर्थानुसारी हो यह नियम नहीं तथापि समझ-बूझकर विद्वानों द्वारा रखा हो तो नाम अर्थबोधक होता ही है जैसे योगिहृदयों में रमण करने वाले होने से वसिष्ठादि ने भगवान् का 'राम' नाम रखा। सोते समय के आत्मा का नाम श्रुति ने ही रखा है अतः अर्थानुसारी ही है। 'अपीत', 'अप्यय' कहते हैं विलय को। 'स्व' अर्थात् स्वयम् में। स्वयं में ही बाकी सब विलीन हो जाते हैं इसलिये तब स्वपिति नाम पड़ता है। यद्यपि प्रायः 'स्वपिति' से 'सोता है' समझते हैं लेकिन श्रुति उसे संज्ञा मान रही है। पूर्व में (३.७६) यह सब कह चुके हैं। नाम से अतिरिक्त युक्ति भी है कि जिन उपाधियों के रहते संसारिता है वे तब रहती नहीं अतः संसारिता न होना ही उचित है। अंधे को चाहे जितनी बदसूरत किन्तु मीठा बोलने वाली सेवा करने वाली पत्नी मिले तो उसकी बदसूरती से अंधे को कोई दिक्कत नहीं, रूप उसे बाँधता नहीं, क्योंकि रूपग्राहक उपाधि उसकी कार्यकारी नहीं। संसारिता उपाधियों पर ही निर्भर है, सुषुप्ति में वे हैं नहीं तो संसारिता नहीं ही होनी है। संसारिता प्रतीत होते हुए भी वास्तविक नहीं यह बताने के लिये 'संसारित्वम् इव' कहा जैसे अन्यत्र श्रुति ने 'लेलायतीव' कहा है।।३८-४०।।

सुषुप्ति का ही यहाँ उल्लेख क्यों, स्वप्न में क्या कमी है कि तब जीव 'स्वपिति' नाम वाला नहीं होता? इसका उत्तर देते हुए पूर्वोक्त युक्ति का ही विस्तार करते हैं **सारी इंद्रियों का वियोग होने पर भी सपने में आत्मा सुखी-दुःखी देखा जाता है अतः आत्मा का संग अर्थात् संसरण तात्त्विक होगा?।।४१।। ऐसी बात नहीं है क्योंकि सिर्फ मन का फैलाव होने से सपना मिथ्या होता है। किंच स्वप्न में बाह्य इन्द्रियों का वियोग होने पर भी मन तब लुप्त नहीं होता।।४२।। जीव को स्वप्न में जिन महाराज आदि का अनुभव होता है वे सच्चे नहीं हैं यह समझना ही पड़ता है क्योंकि सोये पड़े शरीर से वे अलग होते हैं।।४३।।**

दृश्यं मिथ्याऽस्तु तद्द्रष्टुर्द्रष्टृता वास्तवी ततः।
दृश्यं साऽपेक्षतेऽप्येषा[1] शंकाऽत्र विनिवार्यते।।४४।।
न किञ्चन यदा वेद तदा सुप्त इतीरणात्।
आत्मनो ज्ञानकर्तृत्वं सुप्तौ नास्तीति गम्यते।।४५।।

सुषुप्ति में उपाधि-असम्बद्ध रूप सच्चा है सुनकर प्रश्न होता है कि स्वप्न में भी उपाधियाँ नहीं होती लेकिन आत्मा को सुख-दुःख होते रहते हैं, विषयों का चिंतन चलता रहता है अतः आत्मा का संग, अनात्म-पदार्थों से सम्बन्ध सच्चा क्यों न माना जाये? उत्तर है कि स्वप्न क्योंकि मिथ्या है यह सर्वसंमत है इसलिये उससे कथंचित् यदि संग सिद्ध होगा भी तो मिथ्या होगा; अर्थात् आत्मा में संग मिथ्या ही है इतना ही सिद्ध होगा। वस्तुतस्तु स्वप्न में आत्मा मन-रूप उपाधि से सम्बद्ध ही है अतः तब जो संग आदि है वह औपाधिक होने से उसका सत्य स्वरूप नहीं है। स्वप्न के अनुभव इसलिये मिथ्या हैं कि उनके विषयरूप से जो प्रतीत होते हैं वे वास्तविक नहीं। देवदत्त सपने में देखता है 'मैं महाराजा हूँ'। देवदत्त तो दरिद्र ब्राह्मण खाट पर सोया पड़ा है, उसके मित्र उसे वैसा ही देख रहे हैं, उस अपने व्यावहारिक शरीर से भिन्न ही वह जो महाराजा का शरीर देख रहा है वह मिथ्या ही है अतः खुद को उससे संबद्ध समझना भी मिथ्या ही अनुभव है, सत्य नहीं। इस प्रकार स्वप्नगत आत्मा का ससंगरूप वास्तविक नहीं है यह स्पष्ट किया।।४१-३।।

सर्पभ्रम होने पर सर्प मिथ्या होते हुए ही उसे देख डरना आदि सत्य होता है, ऐसे ही भ्रमजन्य सुख-दुःख सत्य मिलते हैं, फिर स्वप्न के पदार्थ मिथ्या होने पर आत्मा का संग भी अवास्तविक क्यों माना जाये? इस प्रश्न को उठाकर उत्तर देते हैं **दृश्य भले ही मिथ्या हो पर उसे देखने (अनुभव करने) वाले की द्रष्टृता (अनुभव-कर्तृत्व अर्थात् भोक्तृत्व) वास्तव हो सकती है और इसलिये वह दृश्य पर निर्भर भी रहेगी? इस शंका को यहाँ हटा रहे हैं।।४४।। 'जब कुछ नहीं जानता तब सोया होता है' ऐसा कहने से समझ आता है कि सुषुप्ति में अनुभव-कर्तृत्व (भोक्तृत्व) नहीं होता (अतः वह आत्मा की वास्तविकता नहीं है)।।४५।।** सांख्यवादी आत्मा को सचमुच भोक्ता मानते हैं। उस संस्कार से प्रश्न होता है कि दृश्य

---

[1] अयं सारपाठः। 'दृश्यसापेक्ष्यतेत्येषा' इति नि.सा. अनुभूतिप्रकाशपाठः। 'दृश्यं सापेक्षतेत्येषा' इति मुत्तुशास्त्रि-मद्रसंस्करणयोः पाठः।

मिथ्या हो पर आत्मा उसका भोग कर ही रहा है तो आत्मा में भोक्तृत्व सत्य मानने में क्या हर्ज है? द्रष्टा होने के लिये दृश्य चाहिये, वह दृश्य सत्य ही हो ऐसा तो नियम है नहीं। इसलिये आत्मा स्वरूपतः भोक्ता क्यों न हो? इस शंका का समाधान दिया कि भले ही जाग्रत्-स्वप्न में भोक्तृता मिलती है लेकिन सुषुप्ति में न मिलने से पता चलता है कि वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। यही समझाने के लिये सुषुप्ति-पर्यन्त विचार करना पड़ता है। समझाने के लिये जब आत्मा को द्रष्टा, साक्षी के रूप में बताते हैं तब यह शंका होती ही है कि चाहे दृश्य, साक्ष्य अलग हैं, बदल रहे हैं, पर मैं उन्हें जान तो रहा ही हूँ और जानने का मुझपर प्रभाव भी होता है, मैं सुखी-दुःखी होता हूँ, तो आत्मा दृश्य से अलग होने पर भी निर्विकार कैसे? इसीलिये श्रुति सुषुप्ति का विचार कराती है जहाँ आत्मस्फुरण तो है लेकिन किसी दृश्य का अनुभव नहीं ताकि समझ आ जाये कि द्रष्टृता अर्थात् दर्शनकर्तृत्व या आगन्तुकज्ञानवत्त्व आत्मा का स्वभाव नहीं, औपाधिक ही है। आत्मा का जो स्वरूपभूत ज्ञान है वह दृश्य-सापेक्ष नहीं अतः सुषुप्ति में दृश्य न रहने पर भी ज्ञान रहता ही है। 'सोया हुआ' कहते ही तब हैं जब व्यक्ति सुषुप्ति में हो तथा उस समय वह द्रष्टा नहीं रहता जिससे समझ आता है कि ज्ञानस्वरूप होने पर भी आत्मा द्रष्टा नहीं है। अन्य अवस्था में मन आदि रहते वह द्रष्टा (सविषयज्ञान वाला) बन जाता है। इस अन्वय-व्यतिरेक का बार-बार चिंतन करना चाहिये कि मनआदि से ही द्रष्टा-पना है, इनके बिना स्वरूप से केवल ज्ञान है, स्फुरण है। वेदांतों में इसीलिये सुषुप्ति का महत्त्व बताते हैं। ।४४-५ ।।

श्रुति में अठारहवीं कण्डिका में स्वप्न का वर्णन कर उन्नीसवीं में सुषुप्ति कही है। उसे समझाने के लिये 'हिता' कहलाने वाली बहत्तर हज़ार नाडियों का उल्लेख आया है जो हृदय से निकलकर सारे शरीर में फैली हैं। सोते समय बुद्धि को नाडियों द्वारा विषयों से हटाकर केवल शरीर में जीव स्थित होता है अर्थात् बाह्य जगत् से कोई संपर्क नहीं रखता तभी नींद आती है। स्तनन्धय बालक, योग्य सफल सम्राट्, परिपक्व विद्वान् जैसे स्वभावतः प्रसन्न रहते हैं वैसी प्रसन्नता सभी को सुषुप्ति में मिलती है। श्रुतिवचन है 'अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद' (-इतने का व्याख्यान श्लो. ४५ में हो चुका) 'हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात् पुरीततम् अभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते। स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीम् आनन्दस्य गत्वा शयीत, एवम् एवैष एतच्छेते' ।।१९ ।। (अतिशेयन दुःखं हन्तीति अतिघ्नी तादृशीमवस्थां गत्वा)। इस प्रसंग को पाँच श्लोकों द्वारा कहते हैं **सुषुप्ति होने पर**

सुप्तौ केन क्रमेणाऽयम् उपाधिः प्रविलीयते।
तत्क्रमस्यावबोधाय हृदयादि विविच्यते।।४६।।
आनाभितस्तथाऽऽकण्ठाद्धृदयं मध्यतः स्थितम्।
सनालं पद्मकोशाऽऽभं पञ्चच्छिद्रम् अधोमुखम्।।४७।।
कदम्बकुसुमोद्भूतकेसरा इव सर्वतः।
प्रसृता हृदयाद् नाड्यो बह्वन्नरसपूरिताः।।४८।।
निर्गत्य हृदयाद् बुद्धिस्तासु स्वप्नं प्रपश्यति।
ताभिर्देहाद् बहिर्गत्वा जागर्तीत्यभिधीयते।।४९।।
पुनः प्रत्यवसृप्यैषा पुरीतद्वेष्टिते हृदि।
प्रविश्य लीयते देहं व्याप्य सामान्यवृत्तितः।।५०।।

किस क्रम से यह उपाधि प्रविलीन होती है? इस प्रश्न के उठने पर, उसका क्रम समझाने के लिये हृदयादि का विवेचन किया गया है।।४६।। नाभि और कण्ठ के बीच हृदय स्थित है। नाल अर्थात् डण्डी सहित कमल के भीतर के कोश के समान वह प्रतीत होता है। उसमें पाँच छेद हैं एवं उसका मुख नीचे की ओर है।।४७।। कदम्ब-पुष्प के किंजल्क अर्थात् केसर जैसे चारों ओर होते हैं वैसे बहुतेरे अन्नरस से भरी नाडियाँ हृदय से निकलकर शरीर में सब ओर फैली हैं।।४८।। बुद्धि हृदय से निकलकर उन नाडियों में सपने देखती है। उन्हीं के द्वारा जब देह के बाहर जाती है तब कहते हैं कि 'जग रहा है'।।४९।। यह बुद्धि फिर लौटकर पुरीतत्-नामक झिल्ली से घिरे हृदय में घुसकर विलीन हो जाती है फिर भी सामान्यवृत्ति से शरीर को घेरे रहती है।।५०।। यद्यपि मूल प्रसंग जीव-स्वरूप का है तथापि प्रसंगवश उपाधिलय का क्रम बताया है। हृदय का स्थान कण्ठ व नाभि के ठीक बीच में है। कमल-पुष्प जैसा उसका रूप है किंतु साधारण व्यक्ति का हृदय ऐसा लगता है मानो कमलपुष्प नीचे की ओर झुका हो। बुद्धि हृदय से निकलकर नाडियों द्वारा चलकर इंद्रियों तक पहुँच जाती है। जब तक इंद्रियों में पहुँचकर विषयों से सम्पर्क करती है, तब तक जाग्रद् अवस्था कही जाती है एवं जब केवल नाड़ियों में विचरती है तब स्वप्नावस्था कही जाती है तथा जब लौटकर हृदय में घुसकर विलीन हो जाती है तब सुषुप्ति कही जाती है। किन्तु तब भी बुद्धि 'सामान्यवृत्ति' से देह घेरे रहती है, वैसी न रहे तो शरीर मर जाये! अज्ञान में यों लीन रहना कि जाग्रदादि के उचित प्रारब्ध के उदय होते ही प्रकट हो जाये, 'सामान्यवृत्ति' का भाव है। इसी को कारण-शरीर

सर्वसंसारदुःखानाम् अत्यन्तोपरमात् तदा।
आनन्दस्य परा निष्ठा दृष्टान्तैः सोपमीयते।।५१।।
इन्द्रियस्याप्ररूढत्वात् स्वेष्टप्राप्तेर्विवेकतः।
नीरागाणां बालराजब्राह्मणानां क्रमात् सुखम्।।५२।।

कहते हैं। जैसे तिल में तेल होता है पर यों नहीं दीखता, पेरने पर निकलता है वैसे अज्ञान में बुद्धि जब रहती है तब उसे अज्ञान में बुद्धि की सामान्य वृत्ति (साधारण वर्त्तमानता) कहते हैं। उस स्थिति में वह सारे शरीर में फैली रहती है जैसे पूरे तिल में तेल रहता है। मरने पर तो बुद्धि शरीर छोड़कर चली जाती है इसलिये शरीर में, कारण में विलीन नहीं है।।४६-५०।।

श्रुतिप्रोक्त बालकादि दृष्टांतों का भाव समझाते हैं **सुषुप्ति में संसार के सारे दुःख सर्वथा निवृत्त रहने से आनन्द की सर्वोत्तम स्थिति होती है जिसके लिये यहाँ दृष्टान्त दिये हैं।।५१।। उनका क्रमशः अभिप्राय है कि बालक का सुख इसलिये है कि उसकी इंद्रियाँ विषयभोग की ओर लोलुप नहीं होती; राजा का सुख इसलिये है कि उसे अपना इच्छित सब मिल चुका है; ब्राह्मण का सुख इसलिये है कि वह विवेकी है।।५२।।** स्तनन्धय बालक को सांसारिक रागादि से परेशानी नहीं, इंद्रियाँ विषयों की ओर आकृष्ट नहीं, अतः दैहिक आवश्यकता परिपूर्ण होने पर वह प्रसन्न रहता है। चक्रवर्ती सामर्थ्यवान् राजा जो कुछ चाहता है वह सब जब पा चुकता है तब प्रसन्न होता है, निश्चिन्त सुखी होता है। विवेकी ब्राह्मण सब अनित्यों से विरक्त हुआ आत्मनिष्ठ होने से प्रसन्न होता है। जैसे मंगली लड़की का गैरमंगली लड़के से ब्याह नहीं करते क्योंकि मानते हैं कि लड़का जल्दी मर जायेगा तो लड़की विधवा रह जायेगी, वैसे हमारे साथ स्थायी रहने वाली बुद्धि अस्थायी विषयों में संलग्न न कर स्थायी आत्मा में ही जोड़ने वाला ब्राह्मण प्रसन्न रहता है। सुषुप्ति में इंद्रिय-लोलुपता, इच्छाओं का उद्रेक एवं अनात्म-प्रावण्य नहीं रहते यों तीनों दृष्टान्तों की समानता है। विषय-सुख की समानता न दिखाकर इन सुखों की समानता दिखायी ताकि सुषुप्ति-सुख की निर्विषयता स्पष्ट हो।।५२।।

श्रुति ने अनेक दृष्टान्त क्यों दिये इसे स्पष्ट करते हैं **दुःख राग-द्वेष से उत्पन्न होता है, राग-द्वेष न होने पर स्वतः आत्मा सुख की स्थिति में ही रहता है। इस व्याप्ति के ग्रहण के लिये बहुत दृष्टान्तों का वर्णन किया है।।५३।।** व्याप्ति अर्थात् यह नियम कि राग-द्वेष हों तो दुःख होगा ही, वे न हों तो खुद-ब-खुद

दुःखं रागद्वेषजन्यं तदभावे सुखं स्वतः।
इति व्याप्तिगृहीत्यर्थं बहुदृष्टान्तवर्णनम्।।५३।।
अद्वयानन्दरूपत्वम् इत्थं सुप्तौ प्रदर्शितम्।
एतावता स्वभावोऽस्य निर्णीतः प्रत्यगात्मनः।।५४।।

सृष्टिः

क्वाऽभूद्द् एष इति प्रश्नं निर्णीय, कुत आगतः।
इति प्रश्नं विनिर्णेतुम् ऊर्णनाभ्यादिका श्रुतिः।।५५।।

सुख ही रहेगा। नियम तब समझ आता है जब साहचर्य कई जगह मिले। बालकादि अनेकों में देखने में आता है कि रागादिरहित रहते ही वे सुखी हैं एवं यह भी प्रत्यक्ष है कि रागादि होते ही दुःख होता है। यदि एक ही दृष्टान्त होता तो शंका हो सकती थी कि आकस्मिक साहचर्य भी हो सकता है, किन्तु अनेक जगह जब दिखा दिया कि वही सुखी है जिसमें रागादि नहीं, तब उक्त नियम स्पष्ट हो गया। यद्यपि महाराजा में रागादि संभावित हैं तथापि यहाँ उसकी वैसी अवस्था विवक्षित है जब उसे जो चाहिये वह उपलब्ध है तथा उसके द्वेष के योग्य कोई रह नहीं गया है। इस तरह वह भी दृष्टांत रागादि व दुःख के सम्बंध के स्पष्टीकरण के लिये ही है।।५३।।

अब तक बताये प्रसंग का निष्कर्ष बताकर आगे का विषय प्रारंभ करते हैं **इस प्रकार बताया कि सुषुप्ति में अद्वैत एवं आनन्दस्वरूप का अवस्थान है तथा इस प्रत्यगात्मा के स्वभाव का निर्णय किया।।५४।। 'सोते समय कहाँ था?' इस प्रश्न का उत्तर बताकर, 'कहाँ से आया?' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये ऊर्णनाभि (मकड़ी) के उदाहरण से प्रारंभ होने वाला श्रुतिवाक्य है।।५५।।** सुषुप्ति में आत्मा उपाधि-रहित है अतः अद्वैत, अकेला तथा आनंदरूप है। सोते समय उसी रूप से रहता है। जाग्रदादि में उसका सोपाधिक ही रूप मिलता है अतः सद्वय, सशोक स्थिति अस्वाभाविक ही है। सोते समय कहाँ था? जवाब हुआ कि ब्रह्म में था, ब्रह्मरूप से था। दूसरा प्रश्ना था कि जगने पर कहाँ से आया? इसके जवाब में कहा है 'स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति एवम् एवाऽस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।' अर्थात् जैसे मकड़ी अपने से अभिन्न तन्तु के साथ चलती है, जैसे आग से छोटी चिन्गारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस आत्मस्वरूप से वागादि सब प्राण, पृथ्वी आदि सब लोक, सब देवता, सब प्राणी प्रकट होते हैं।।५४-५।।

यः सुप्तौ निश्चितः स्वात्मा तस्य ब्रह्मत्वसिद्धये।
जगत्सृष्टिर्वर्ण्यतेऽस्मात् सृष्टौ दृष्टान्त उच्यते।।५६।।
अचेतनो यथा तन्तुरूर्णनाभेः सचेतनात्।
जातश्चिदात्मनस्तद्वत् प्राणलोकाद्यचेतनम्।।५७।।
विस्फुलिङ्गा यथा चाग्नेर्जायन्तेऽग्निस्वभावतः।
तथा सुप्तात्मनो जीवा विज्ञानमयनामकाः।।५८।।
स्वरूपतो जन्मतश्च प्राणादिर्भ्रान्तिकल्पितः।
जीवस्य कल्पितं जन्म स्वरूपं तु न कल्पितम्।।५९।।
उद्भूतिस्थितिनाशाः स्युर्जगतोऽस्य प्रतिक्षणम्।
अविद्यामात्रहेतुत्वाद् नाऽमीषां विद्यते क्रमः।।६०।।

उक्त श्रुति समझाते हैं **सुषुप्ति में जिस स्वरूप वाला निजात्मा निर्धारित हुआ, उसे ब्रह्मस्वरूप समझाने के लिये जगत् की सृष्टि का वर्णन किया है। इस आत्मा से सृष्टि के बारे में दृष्टान्त बताते हैं।।५६।। सचेतन मकड़ी से जैसे अचेतन तन्तु (जाल) पैदा होता है वैसे चेतन आत्मा से प्राण, लोक आदि अचेतन जगत् उत्पन्न होता है।।५७।। जैसे आग से अग्नि-स्वभाव वाली चिन्गारियाँ पैदा होती हैं वैसे सोये (अर्थात् अज्ञात) आत्मा से विज्ञानमय-नामक जीव पैदा होते हैं।।५८।। प्राणादि का स्वरूप और जन्म दोनों भ्रांतिरूप कल्पना है जबकि जीव का जन्म ही भ्रांति है, स्वरूप भ्रममात्र नहीं है।।५९।। इस जगत् के जन्म-स्थिति-नाश हर क्षण होते रहते हैं। क्योंकि इनमें अविद्या ही कारण है इसलिये इनका कोई वास्तविक क्रम नहीं है।।६०।।** गहरी नींद में जीव अज्ञात ब्रह्म से एक हुआ रहता है, अज्ञात ब्रह्म ही जगत्कारण है अतः उसी से फिर निकलकर भी आता है। सुषुप्ति में अज्ञान तो कारणता की उपाधि होती है, बाकी जो आत्मा है वह निर्विकार परमात्मा ही है अतः जीव का सत्य स्वरूप ब्रह्म निश्चित हो जाता है। वही कारण-उपाधि रहते कर्मफलवश कार्योपाधि वाला अर्थात् विज्ञानमय बनता रहता है। जब कारणोपाधि का बाध कर देता है तब मुक्त हो जाता है। सुषुप्ति में जो अव्यक्तरूप उपाधि थी उसी से नाम-रूप की सृष्टि हो गयी जिसमें अध्यास के द्वारा आत्मा का 'प्रवेश' हो गया। यों 'कहाँ से आया' का जवाब समझाया। सुप्त आत्मा से विश्वोत्पत्ति को वेद ने मकड़ी व आग के उदाहरणों से बताया। परमेश्वर चेतन है तो उससे जड दुनिया कैसे बनी? इसके लिये मकड़ी का उदाहरण है। मकड़ी का शरीर सजीव होता

है। लेकिन उससे बनने वाला जाला निर्जीव होता है। ऐसे ही ईश्वर से जड जगत् बन गया। इस तरह जड का हेतु जड ही होगा यह सांख्यादिवादियों की मान्यता निरस्त हो गयी तथा जो कुछ लोग सभी कुछ चेतन है ऐसा मानते हैं उनका भी निराकरण हो गया। वेद के अनुसार पैदा एक चेतन से ही हुए, लेकिन जड अलग हैं, चेतन अलग है। मनुष्य-देह से भी बाल नख आदि जड पैदा होते देखे जाते हैं। मुर्दा मकड़ी से जाल नहीं बनता अतः सचेतन से ही जाल भी बना लेकिन है जड। अध्यात्म-अधिभूत सारा जड प्रपंच ईश्वर से ऐसे ही बना। दूसरा दृष्टांत आग से चिन्गारियों का है जहाँ चिन्गारी भी होती आग ही है। मकड़ी स्वयं चेतन और जाल स्वयं जड है अर्थात् स्वभाव में अंतर है लेकिन आग-चिन्गारी का स्वभाव एक ही होता है। चिन्गारी परिच्छिन्न, अत्यल्प भले ही हो पर है आग ही, रूई, भूसे आदि पर पड़ जाये तो सारी ढेरी जला देती है! ऐसे ही चेतन से चेतन ही जीव भी पैदा होते हैं। जिससे होते हैं वह अपरिच्छिन्न चेतन है, जो जीव पैदा होते हैं वे परिच्छिन्न हैं, जिस उपाधि से तादात्म्य वाले होते हैं उसी से सीमित बने रहते हैं। उपाधि चाहे समष्टि की हो अर्थात् अत्यन्त बड़ी हो या व्यष्टि अर्थात् छोटी हो पर है उपाधि अर्थात् सीमा ही। समष्टि में जीव (हिरण्यगर्भ) सर्वज्ञ-सर्वशक्ति प्रतीत होगा, व्यष्टि अर्थात् हम जैसों के अंतःकरणों में अल्पज्ञ अल्पशक्ति प्रतीत होगा। इन सब भेदों वाले जीवों को ही विज्ञानमय कहते हैं और ये सोये आत्मा से ही अर्थात् कारणभूत अज्ञान उपाधि वाले आत्मा से ही पैदा होते हैं ।।५७-८।। यद्यपि जड-चेतन दोनों आत्मा से उत्पन्न होते हैं तथापि इतना भेद है कि जड जगत् का स्वरूप और जन्म दोनों भ्रम हैं जबकि जीवों का जन्म ही भ्रम है, स्वरूप तो चेतन सत्य ही है। रस्सी में साँप दीखा तो साँप भी भ्रम और वह पैदा हुआ यह भी भ्रम। काँच में मुँह देखते हैं तो उसका 'काँच में होना' तो भ्रम है लेकिन मुँह भ्रम नहीं, सत्य है। ऐसे ही उपाधियाँ स्वयं कल्पित हैं पर उनमें अध्यास किया हुआ चेतन कल्पित नहीं केवल उसका उनमें अध्यास कल्पित है। प्रकृत श्रुति ने आत्मा से सृष्टि तो कही लेकिन किस क्रम से सृष्टि होती है यह नहीं कहा। इसमें एक कारण तो है कि सुषुप्ति से उठते समय जो सृष्टि प्रतीत होती है उसमें कोई क्रम नहीं मिलता। दूसरा कारण यहाँ बताया कि जगत् के जन्मादि हर क्षण हो रहे हैं, इनमें क्रम मानना निरर्थक है! यद्यपि अन्यत्र क्रम स्वीकारा भी गया है तथापि श्रुति का भाव है कि मिथ्या में क्रम आदि व्यवस्था को स्वीकारने का कोई प्रयोजन नहीं। जैसे रस्सी में साँप न किसी क्रम से पैदा होता है, न किसी कर्मफल से स्थित रहता है, न किसी क्रम से मरता है, वैसे सर्वत्र समझना चाहिये। आत्मपुराण में शंकरानंद स्वामी ने इसीलिये

सत्यस्य सत्यम्

यस्माद् अविद्ययैवात्मा प्राणक्षेत्रज्ञरूपभाक् ।
स्वतोऽतः स परं ब्रह्म तस्योपनिषद् उच्यते । ।६१ । ।
यद् गुह्यं ब्रह्मणो नाम बोधायोपासनाय वा ।
तत् स्याद् उपनिषच्छब्दवाच्यं तच्चात्र बुद्ध्यते[1] । ।६२ । ।
सत्यस्य सत्यम् इत्येतद् नाम ब्रह्मावबोधकम् ।
प्राणा आपाततः सत्याः सत्यं ब्रह्मैव वस्तुतः । ।६३ । ।

कहा है कि जो दृष्टि से ओझल हो उसे नष्ट जानना चाहिये, प्रतीत हो तो पुनरुत्पन्न जानना चाहिये! अज्ञायमान की सत्ता स्वीकारने से ही चिंता, आशा आदि होती हैं, मिथ्यात्व की दृढ भावना होने पर उनके लिये स्थान नहीं रहता। अन्यत्र जो क्रमव्यवस्था कही है वह बाध के उपयोग से, लयप्रक्रिया के अनुरोध से है, स्वयं क्रम में तात्पर्य नहीं, यह माण्डूक्य कारिका आदि में व्यक्त है। इस प्रकार समझाया कि अज्ञात चेतन से ही जड-चेतनात्मक सारी सृष्टि उत्पन्न होती है अतः 'कहाँ से आया?' यह जो राजा ने प्रश्न किया था, उसका उत्तर हो गया। ।५९-६० । ।

द्वितीयाध्याय प्रथम ब्राह्मण की अंतिम कण्डिका का समापन इस वाक्य से हुआ है 'तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यम् इति। प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्।' (२०)। । अर्थात् पूर्ववर्णित आत्मा की उपनिषत् (रहस्य-नाम) है 'सत्य का सत्य'। इन दोनों को आगे के ब्राह्मणों में श्रुति को बताना है लेकिन संक्षेप में यहीं कह दिया कि प्राण अर्थात् उपाधिभूत जगत् आपाततः या व्यावहारिक सत्य है जबकि उनकी भी वास्तविकता अर्थात् उनसे भी अधिक सत्य उक्त आत्मा है। इस वाक्य का अभिप्राय चार श्लोकों से कहते हैं **क्योंकि आत्मा अविद्या से ही प्राणादि क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञात्मक जीव इन रूपों वाला बनता है अतः स्वयं वह परम ब्रह्म ही रहता है। उसकी 'उपनिषत्' यहाँ कही गयी है। ।६१ । । ब्रह्म को समझने या उसकी उपासना के लिये जो उसका गुप्त नाम है उसे यहाँ उपनिषत् - शब्द का अर्थ जानना चाहिये जो यहाँ समझा जा रहा है। ।६२ । । 'सत्य का सत्य' यह नाम ब्रह्म का उपस्थापक है। प्राण आपाततः, अविचारतः सत्य हैं, वस्तुतः सत्य ब्रह्म ही है। ।६३ । । शरीर तो एक ही जन्म में समाप्त हो जाता है अतः उसे असत्य माना गया। उसकी**

---

[1] 'बुद्ध्ये' - इति सारे पाठः।

असत्यो देह उदित एकजन्मन्युपक्षयात्।
सत्याः प्राणा लिङ्गरूपा आमोक्षम् अनपक्षयात्।।६४।।
मोक्षेऽप्यक्षीण आत्मा तु सत्यसत्य[1] उदाहृतः।
सत्यस्य सत्यं प्रोवाच ब्रह्म बालाकये नृपः।।६५।।

अपेक्षा प्राण अर्थात् लिंगशरीर को सत्य कहा क्योंकि मोक्ष तक लिंग देह बना रहता है।।६४।। मोक्ष में भी समाप्त न होने वाला आत्मा तो सत्य से भी सत्य कहा गया है। इस प्रकार बालाकि को राजा अजातशत्रु ने सत्य के सत्य ब्रह्म का उपदेश दिया।।६५।। यहाँ जो 'प्राणाः' कहा उससे गीतोक्त क्षेत्र समझ सकते हैं, सभी उपाधियाँ समझी जा सकती हैं। प्राणों के रूप में प्रतीत होने वाला आत्मा ही है तथा प्राणियों के (क्षेत्रज्ञों के, जीवों के) रूप में प्रतीत होने वाला भी वही है। किन्तु इन रूपों वाला वह बनता है अविद्या से ही अतः वास्तव में वह परब्रह्म ही रहता है जैसे अविद्या से सर्पादि बनने वाली रस्सी वस्तुतः रस्सी ही बनी रहती है। उस परब्रह्म को यहाँ 'सत्य का सत्य' कहा। यह परब्रह्म का 'नाम' है अर्थात् इसका अर्थ परब्रह्म है। इसका उपयोग ब्रह्म को समझने के लिये भी है और ब्रह्म की उपासना के लिये भी है। ज्ञेय ब्रह्म की उपासना भी संभव मानी ही गयी है। यह ज़रूर है कि वह उपासना विद्या के उदय में ही फलीभूत होती है, तत्त्वनिष्ठा का विरोधी (अर्थात् सांसारिक) उसका फल अमान्य है। प्रकृत नाम की व्याख्या में वार्तिक में (२.१.४२१) यह स्पष्ट है। इसे 'गुह्य' इस दृष्टि से कहा कि अयोग्य व्यक्ति 'सत्यस्य' सुनकर मान लेगा कि वेद ने प्राणादि प्रपंच को सत्य कहा है अतः इसे मिथ्या स्वीकारना ग़लत है! इसलिये जो तात्पर्य समझ सके उसे ही बताने योग्य होने से यह गुह्य है। जैसे छांदोग्य में क्रमशः अनेक 'रस' या सार बताकर अंतिम रस परमेश्वर समझाया है वैसे यहाँ जो हमें सत्य प्रतीत हो रहा है उस प्रपंच की अपेक्षा जो उसका अधिष्ठान है उसे परमात्मरूप सत्य बताया जा रहा है। यद्यपि अनात्ममात्र कह सकते थे तथापि बालाकि को जहाँ तक की समझ थी वहाँ तक की दृष्टि रखकर प्राण का ही कथन किया। प्राण अर्थात् सूक्ष्म शरीर मोक्षपर्यन्त कायम रहने से सत्य लगता ही है। तत्त्वबोधपर्यन्त बना रहने से इसे आपातदृष्टि से अर्थात् परमार्थ का निश्चय न प्राप्त करने तक सत्य समझा जाता है। सर्वथा सत्य तो परब्रह्म ही है। इस तरह प्रथम 'सत्य' से प्राण कहने पर स्थूल शरीर असत्य कह दिया गया क्योंकि उसकी

---

[1] 'सत्यात् सत्य' इति सारे।

प्राणोपासना

प्राणा वै सत्यम् इत्युक्तं यत् सत्यं व्यावहारिकम् ।
बालाक्यभिमतं तत्तु द्वितीयब्राह्मणे स्फुटम् । ।६६ । ।

अस्थिरता सर्वलोकप्रसिद्ध है। जल स्थिर अतः सत्य जबकि लहर अस्थिर अतः असत्य कही ही जाती है। शरीर की असत्यता समझकर इसे सत्य की उपलब्धि में लगाना चाहिये, शरीर के कष्टों के पीछे सत्य-प्राप्ति से वंचित नहीं रहना चाहिये। यमराज ने कठोपनिषत् में बताया ही है कि अनित्यों के उपयोग से नित्य की प्राप्ति हो जाती है। अति-अनित्य दूध-आटा आदि का होम करने से कम-अनित्य स्वर्गादि की प्राप्ति भी प्रसिद्ध ही है। उपासना, तपस्या आदि से ब्रह्मलोक आदि की प्राप्ति शास्त्रोक्त है। ऐसे ही शमादिपूर्वक श्रवणादि से कैवल्य-लाभ कर लेना चाहिये। ब्रह्मलोकादि फल वस्तुगत्या असत्य होने पर भी कुछ स्थायी होने से सत्य कहे जाते हैं, ऐसे ही प्राणों को सत्य कहा है। उनका भी सत्य, उन्हें भी सत्यता प्रदान करने वाला आत्मा 'सत्य का सत्य' कहा गया है। मोक्ष में प्राण तो क्षीण हो जाते हैं, आत्मा क्षीण नहीं होता। (वार्तिकसार में 'सत्यात्' पाठ है अर्थात् प्राणरूप सत्यों की अपेक्षा अधिक सत्य आत्मा है।) इस प्रकार प्रथम ब्राह्मण का वर्णन हुआ। ।६१-५ । ।

प्राणों से अर्थात् व्यावहारिक से आत्मा अन्य है, पारमार्थिक है यह विविध तरीकों से एवं 'सत्य का सत्य' इस नाम से समझाया। संक्षेप में बताया कि 'सत्य का' अर्थात् प्राणों का और 'सत्य' अर्थात् आत्मा। इन्हीं अभिप्रायों का स्पष्टीकरण अगले दो ब्राह्मणों में किया गया है। प्राण क्योंकि आत्मा के जन्म-मरणादि की उपाधि है इसीलिये बालाकि को भ्रम हुआ था कि वही आत्मा है। प्राण वस्तुतः आत्मा नहीं इसे द्वितीय ब्राह्मण में समझाया है। यही प्रतिज्ञा व्यक्त करते हैं **जिसे 'प्राण ही सत्य हैं' ऐसा कहा वह बालाकि को ज्ञात व्यावहारिक सत्य है, उसे द्वितीय ब्राह्मण में स्पष्ट वर्णित किया गया है। ।६६ । ।** व्यावहारिक के अंतर्गत सविशेष, सगुण ब्रह्म समझ लेना चाहिये क्योंकि उसकी भी सत्यता है निर्विशेष से ही। ।६६ । ।

द्वितीय ब्राह्मण का सार श्लोक ७७ तक कहेंगे। वहाँ का प्रथम वाक्य है 'यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद, सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यान् अवरुणद्धि। अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः, तस्येदमेवाधानम्, इदं प्रत्याधानं, प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम। ।१। ।' अर्थात् आधानादि-सहित शिशुशब्दित प्राण का उपासक अपने सात शत्रुओं पर विजय पा जाता है। आधान से शरीर कहा, प्रत्याधान से सिर कहा, स्थूणा उस शक्ति को कहा जो

शिशुवद् विषयासङ्गरहितः प्राण इष्यते।
वागादीनामिव यतो विषयोऽस्य न दृश्यते।।६७।।
शरीरमस्याधानं स्याद् देहम् आ पादमस्तकम्।
सामान्यवृत्त्या संव्याप्य चेष्टयत्यनिशं यतः।।६८।।

अन्न-पान से पैदा होती है, दाम अर्थात् रस्सी अन्न को कहा। शत्रु हैं सिर में स्थित चक्षु आदि जिन पर प्राणोपासक विजय प्राप्त कर लेता है। इसका व्याख्यान करते हैं **जैसे वाग् आदि के विषय होते हैं वैसे प्राण का कोई विषय न दीखने से उसे शिशु की तरह विषयासक्ति से रहित स्वीकारा गया है।।६७।।** शिशु-रूपक से शुरू होने के कारण इस ब्राह्मण को 'शिशु ब्राह्मण' कहा जाता है। शिशु में विषयासक्ति नहीं होती। भूख, ठण्ड आदि आवश्यकता पड़ने पर उपलब्ध विषय से पूर्ति करना आसक्ति नहीं है वरन् पदार्थ-विशेष का आग्रह रखकर अनावश्यक भी भोग या संग्रह करना आसक्ति है। शिशु दूध पीता है, ठण्ड लगे तो रोता है, कंबल आदि उस पर डाल दें तो चुप होता है, इत्यादि भोग तो करता है लेकिन उसे आसक्ति नहीं होती। यही प्राण में विशेषता है। वाक् आदि इंद्रियों में तो आसक्ति है, प्राण में नहीं। इंद्रियाँ अपने-अपने कार्य ही करती हैं यही उनकी आसक्ति समझ सकते हैं। प्राण यों एक ही कार्य में नहीं रुकता, सभी कार्य करता है, सारे शरीर को, सब इंद्रियों को सामर्थ्य देता रहता है। अथवा वाग् आदि जो असत्यादि का भाषण आदि करती हैं वह उनकी आसक्ति है, प्राण यों कोई ग़लती नहीं करता अतः अनासक्त है। अन्यत्र, इंद्रियों ने असुरों के प्रलोभन में आकर आसक्ति का आश्रयण किया ऐसी विस्तृत आख्यायिका उपनिषदों में प्रसिद्ध है। (द्रष्टव्य छान्दो० १. २ ब्राह्मण)। वहीं कहा है कि जब असुरों ने प्राण को प्रलोभन दिया तब प्राण उनके प्रलोभन में नहीं आया, उल्टा असुर ही नष्ट हो ग़ये! इससे भी समझाया कि प्राण में आसक्ति नहीं। अतः यहाँ उसे शिशु के दृष्टांत से कहा।।६७।।

असंग प्राण की जिन विशेषताओं से युक्त रूप में उपासना कर्त्तव्य है, उन्हें बताते हैं **पैर से माथे तक शरीर को सामान्य वृत्ति से भरकर लगातार क्योंकि यह सचेष्ट बनाता है इसलिये शरीर इसका आधान है।।६८।।** आधान अर्थात् रहने की जगह। सारे शरीर में प्राण रहता है तभी शरीर जिन्दा है। शरीर की जीवितमात्र संभव करना ही प्राण की 'सामान्य वृत्ति' है।।६८।।

दूसरी विशेषता है **'प्रत्याधान' सिर समझना चाहिये क्योंकि वह सिर में खास स्थलों पर विशेष रूप से रहते हुए नेत्रादि इंद्रियों को उनके विषयों-पर्यन्त**

प्रत्याधानं शिरो ज्ञेयं प्रतिच्छिद्रं व्यवस्थितः ।
प्रसारयति नेत्रादीन् प्राणो मूर्ध्नि व्यवस्थितः[1] । ।६९ । ।
प्राणस्य बन्धनस्तम्भः शरीरबलम् इष्यते ।
दौर्बल्ये सति देहस्य प्राणोत्क्रान्तिर्हि दृश्यते । ।७० । ।
बन्धनायाऽस्य दामान्नं वत्सबन्धनरज्जुवत् ।
अन्ने त्रिधा विभक्तेऽस्मिन् भागाभ्यां बद्ध्यते द्वयम्[2] । ।७१ । ।

फैलाता है । ।६९ । । सर्वाधिक विशेष कार्य जीव सिर में स्थित साधनों से करता है तथा यह तभी संभव होता है जब वहाँ खास तरह से सामर्थ्य देते हुए प्राण कार्यरत रहे। नेत्रादि जो अपने विषय ग्रहण करने के कार्य को कर पाते हैं वह इसीलिये कि प्राण उन्हें शक्ति दे रहा है। यह सामान्य जीवन-मात्र की शक्ति से अधिक है। जीवनमात्र से कोई थकता नहीं जबकि नेत्रादि के दीर्घ प्रयोग से थक जाता है! अतः उन कार्यों के लिये विशेष शक्ति का क्षय होता है जो प्राण से मिलती है। इसके लिये प्राण को जो प्रयास करना पड़ता है वही उसकी विशेषतः सिर के तत्तत् स्थान में उपस्थिति है। (सारगृहीत 'विशेषतः' पाठ ही अच्छा है।)। ।६९ । ।

तीसरी विशेषता है कि प्राण स्थूणा-सहित है, खूँटे-सहित है। इसे समझाते हैं **शरीर का बल प्राण के लिये खूँटे की जगह समझा जाता है। देह दुर्बल होने पर क्योंकि प्राण-पखेरु उड़ जाते हैं इसलिये (मानना पड़ता है कि बल खूँटा है)। ।७० । ।** जैसे खूँटा टूट जाये तो गाय भाग जाती है वैसे शरीर में बल न रहे तो प्राण शरीर से निकल जाते हैं। रोग न होने पर भी दुर्बलता असीम हो जाये तो व्यक्ति मर ही जाता है। इसलिये शरीर-बल में स्थूणा-दृष्टि कर्त्तव्य है। ।७० । ।

चौथी विशेषता है कि उक्त खूँटे से इसे बाँधने वाली रस्सी भी है। इसे बताते हैं **जैसे बछड़ा बाँधने की रस्सी होती है वैसे इस प्राण को बाँधने की रस्सी है अन्न। रस्सी-सा यह अन्न जब तीन तरह बँट जाता है तब दो भागों से शरीर और प्राण परस्पर बँधे रहते हैं। ।७१ । । खाये अन्न का स्थूलतम भाग मल बन जाता है, मध्यमभाग स्थूल शरीर को पुष्ट करता है एवं सूक्ष्म अंश प्राण को तृप्त करता है। इस प्रकार स्थूल - सूक्ष्म दोनों शरीर अन्न से बँधे हैं। ।७२ । ।** अन्न

---

[1] व्यवस्थित इत्यस्य स्थाने 'विशेषतः' इति सारे पाठः।

[2] स्वयम् इति नि.सा. पाठः।

स्थूलो भागः पुरीषः स्याद् मध्यमो देहपोषकः।
प्राणं तर्पयते सूक्ष्म इति बद्धं वपुर्द्वयम्।।७२।।
एवं विवेचितं प्राणं य उपास्ते रुणद्धि सः।
भ्रातृव्यान् द्विषतः सप्त मूर्ध्नि छिद्रव्यवस्थितान्।।७३।।
भ्रातृव्याः स्युः सहोत्पत्तेः शब्दाद्यासङ्गवृत्तयः।
द्विषन्ति च मुमुक्षुं ताः प्रत्यग्दृष्ट्यपहारतः।।७४।।

खाना - पचाना चलता रहे तो प्रायः मृत्यु नहीं होती, इनमें रुकावट आने पर ही मृत्यु होती है। अन्न वह रस्सी है जो प्राण को शरीर में बलरूप खूँटे से बाँधे रखती है। यहाँ बछड़ा इसलिये कहा कि वही भागता है, गाय प्रायः यों भागती नहीं! पूर्व में शिशु कहा था, उसी प्रवाह में होने से भी बछड़ा कहा है। खाया अन्न तीन तरह बँटता है यह छांदोग्य में बताया है। उनमें स्थूल हिस्सा मल बनकर निकल जाता है। मल आवश्यक तो है क्योंकि इसी में से रसका आकर्षण शरीर करेगा लेकिन वह आकृष्ट रसांश ही शरीर-पोषण के काम का है, मल तो बाहर ही किया जायेगा। आधुनिक शरीर विज्ञानी यहाँ तक कहते हैं कि कण्ठ से गुदा-पर्यन्त का पाचन-तन्त्र देह से बाहर है यह भी समझ सकते हैं! तात्पर्य है कि इस मार्ग में पड़ी वस्तु का जब तक रसांश ग्रहण न हो तब तक उसका शरीर को लाभ नहीं मिलता। सूक्ष्म बालों जैसे तंतु आँत आदि में होते हैं जो रसाकर्षण कर शरीर में पहुँचाते हैं। अन्न का मध्यम भाग स्थूल शरीर का पोषक है एवं सूक्ष्म भाग प्राण का पोषक है, सूक्ष्म शरीर का पोषक है। इस तरह स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर अन्नरूप रस्सी से बलरूप खूँटे से शरीर में बँधे हैं। (श्लोक ७१ में 'बद्ध्यते स्वयम्' भी पाठ मिलता है जिसका अर्थ है कि स्वयं अर्थात् प्राण इन दो अंशरूप रस्सी द्वारा खूँटे से बँधता है।)७१-२।।

उक्त विशेषताओं वाले प्राण की उपासना का फल कहते हैं **इस प्रकार के निश्चित रूप वाले प्राण की जो उपासना करता है वह खोपड़ी में तत्तत् छिद्रों में बँटकर स्थित सात द्वेषी भतीजों को नियंत्रित कर लेता है।।७३।। शब्दादि के प्रति आसक्ति की वृत्तियाँ मानो भतीजे हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति के साथ ही हमारा उनसे सम्बंध है तथा वे वृत्तियाँ मुमुक्षु से द्वेष भी रखती हैं क्योंकि उसकी अन्तरुन्मुख दृष्टि को बहिर्मुख कर देती हैं।।७४।।** परमात्म-प्रतिपादनार्थ आया होने पर भी यहाँ उपासना का विधान मान्य है फिर भी मुख्य तात्पर्य में अंतर नहीं आता। उपासना का फल है कि इंद्रियाँ जो विषयासक्ति से प्रवृत्ति होती हैं, वे नियंत्रण में

सेवन्तेऽक्षिस्थितं प्राणं सप्त रुद्रादिदेवताः ।
अक्षीणा इत्युपास्ते यः सोऽन्नमक्षयम् अश्नुते । ।७५ । ।

आ जाती हैं। भ्रातृव्य भतीजा और शत्रु दो अर्थों में प्रसिद्ध है। 'भ्रातुर्व्यच्च' सूत्र से बनायें तो भतीजा अर्थ है, 'व्यन् सपत्ने' से बनायें तो शत्रु अर्थ है। यहाँ 'द्वेषी शत्रु' भी व्याख्या हो सकती है लेकिन शत्रु द्वेषी होगा ही अतः भतीजा अर्थ किया। भतीजे द्वेषी और प्रेमी दोनों हो सकते हैं। तात्पर्य तो आसक्ति-युक्त इंद्रियों से है लेकिन भतीजा इसलिये कहा 'तत्प्रभवविषयरागाः सहजत्वाद् भ्रातृव्याः' (भाष्य)। इंद्रियों के कारण होने वाले विषय-रागों की सहजता बताने को उन्हें भतीजा कहा। जन्म से ही सम्बद्धता यहाँ सहजता है; न हम भतीजे के साथ ही उत्पन्न होते हैं, न इंद्रियाँ जीव के साथ उत्पन्न हुई हैं क्योंकि जीव तो अनादि है! सात छिद्र होने से सात की गिनती कह दी, इंद्रियों की अपेक्षा से नहीं। आँखों से ही उपनिषदादि पढेंगे, उन्हीं से संसारवर्णन पढ़ेंगे, संसारवर्णन पढ़ने में प्रवृत्त आँख दुश्मन है, उपनिषत् पढ़ती आँख प्रेमी भतीजा है। ऐसे ही बोलने आदि में भी समझ लेना चाहिये। शब्दादि सभी विषयों के प्रति जो आसक्ति होती है वही वस्तुतः दुश्मन है, स्वयं इंद्रियाँ नहीं, किन्तु वह आसक्ति इंद्रियों में ही कार्यकारी होती है अतः उन्हें भी दुश्मन मानना पड़ता है। 'शीर्षण्यप्राणसंस्था ये शब्दाद्यासंगलक्षणाः। भ्रातृव्यास्ते सहोत्पत्तेः प्रत्यग्दृष्ट्यपहारतः ।।' यह वार्तिक में (२.२.१०) कहा है। आसक्ति सहज अर्थात् स्वाभाविक है, सीखनी तो अनासक्ति पड़ती है। आसक्तिवश इंद्रियाँ बहिर्मुख होती ही हैं जिससे हमारी प्रत्यग्दृष्टि बन नहीं पाती, बने भी तो टिक नहीं पाती। ।७३-४ । ।

प्रसंगवश एक और विशेषता कही है जिसकी उपासना का फल अक्षय अन्नलाभ है यह सूचित करते हैं **रुद्र आदि सात देवता नेत्र-स्थित प्राण की सेवा करते हैं। वे अक्षिति (अक्षीण) हैं ऐसा समझने वाला अक्षय अन्न पाता है। ।७५ । ।** सातों इंद्रियाँ सतत प्राण की उपासना करती हैं ऐसी भावना से प्राण की उपासना का यह फल है। रुद्र, पर्जन्य, आदित्य, अग्नि, इंद्र, पृथ्वी और द्यौः ये सात देवता आँखों के तत्तद् अंश की सेवा द्वारा प्राण की ही सेवा करते हैं यह इसी प्रसंग में कण्डिका २ में कहा है। ।७५ । ।

उपनिषत् में तृतीय कण्डिका में सिर को नीचे छेद वाले चमस (सोमरस का आधारभूत पात्रविशेष) जैसा कहा है क्योंकि मुखरूप छिद्र सिर से (पेंदे से) नीचे है! उसमें विश्वरूप यश रखा है। यहाँ प्राणों को ही यश कहा। सिर के किनारे सात ऋषि हैं। प्राणों को ही यहाँ ऋषि भी कहा। सिर के सात छिद्रों में स्थित प्राण ऋषि हैं। ब्रह्मप्रतिपादक

कर्णादिसप्तच्छिद्रेषु गौतमाद्यृषिनामकाः।
स्थिताः प्राणा इति ध्यायेद् वाचं च ब्रह्मवादिनीम्।।७६।।
हिरण्यगर्भरूपेण सर्वभुक् स्याद् उपासकः।
इति गार्ग्यमतं ब्रह्म ब्राह्मणेऽस्मिन् प्रपञ्चितम्।।७७।।

शब्दराशि से सम्बद्ध वाणी को आठवाँ ऋषि गिनना चाहिये। ऋषियों के नाम दिये हैं गोतम, भारद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि। (जीभ में वाक् और रसना दोनों काम करती हैं अतः सात में आठ का अंतर्भाव है।) इस तरह से जो उपासना करता है वह सबके प्रति प्रधान बना रहता है। इस प्रसंग का संक्षेप करते हैं **कान आदि सात छिद्रों में गोतमादि सात ऋषि रहते हैं, वे प्राणरूप ही हैं ऐसा ध्यान करना चाहिये। ब्रह्म का कथन करने वाली वाणी का भी ध्यान करना चाहिये।।७६।।** दोनों कान, दोनों आँखें, दोनों नासिकाएँ और मुख ये सात छिद्र हैं। इनमें पूर्वोक्त ऋषि क्रमशः विराजमान हैं। आठवीं ब्रह्मप्रतिपादक वाणी भी ध्येय है, स्थान उसका मुख-छिद्र ही है।।७६।।

इस खास उपासना का प्रभाव बताते हुए शिशु ब्राह्मण के तात्पर्य का उपसंहार करते हैं **उक्त प्रकार से उपासना करने वाला हिरण्यगर्भ-स्वरूप होकर सब का उपभोग कर लेता है। इस तरह इस ब्राह्मण में बालाकि को समझ आये ब्रह्म का वर्णन हुआ।।७७।।** श्रुति में फल कहा है 'सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति' अर्थात् उपासक सब कुछ खा जाता है, सब उसका अन्न हो जाता है। मुख्य वृत्ति से यदि खाना समझें तो कोई उपासक मानुष आदि विशिष्ट शरीर में ही होगा अतः विशिष्ट व्रीहि आदि ही उसका अन्न होगा, सारी दुनिया उसका अन्न भी नहीं होगी और वह सब कुछ खायेगा भी नहीं। इसलिये तात्पर्य बताया कि उपासक समझ लेता है कि वह हिरण्यगर्भ से एक है। हिरण्यगर्भ तो सब का भोक्ता है ही क्योंकि वह समष्टि है। उक्त उपासना से हिरण्यगर्भभाव प्राप्त होता है यह अभिप्राय है। इस प्रकार गार्ग्य बालाकि जिसे ब्रह्म जानता था वह यहीं तक था, परब्रह्म उसे अज्ञात था। शिशु ब्राह्मण में गार्ग्य की जानकारी तक का विषय बताया।।७७।।

बृहदारण्यक द्वितीयाध्याय का तीसरा ब्राह्मण है 'मूर्तामूर्त ब्राह्मण' जिसमें ब्रह्म के दो रूपों का विस्तार कर सभी के निषेधपूर्वक सत्य के सत्य का निगमन किया है। इस प्रसंग को प्रारंभ करते हैं **बालाकि द्वारा समझे ब्रह्म का रूप समझाकर अब उसकी अब्रह्मता बताने के लिये तीसरे ब्राह्मण में राजाद्वारा समझाये ब्रह्म को विस्तार**

मूर्तामूर्तविवृतिः -ं

गार्ग्योक्तं ब्रह्म विस्तृत्य तन्निरासाय साम्प्रतम्।
तृतीयब्राह्मणे प्राह राज्ञोक्तं ब्रह्म विस्तृतम्।।७८।।
प्रथमब्राह्मणे राजा ब्रह्म यद्यप्यशेषतः।
उवाचाऽथाऽपि सत्यस्य सत्यता नैव विस्तृता।।७६।।
सत्यसत्यत्वविस्तारमुखेन प्रतिपाद्यते।
निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्वं तृतीयब्राह्मणे स्फुटम्।।८०।।
द्वे एव ब्रह्मणो रूपे प्रपञ्चत्वम् उपागते।
मूर्तामूर्तात्मके याभ्याम् अरूपं ब्रह्म रूप्यते।।८१।।

से कहा गया है।।७८।। प्रथम ब्राह्मण में यद्यपि राजा ने ब्रह्म का पूर्ण कथन कर दिया था तथापि वह सत्य का सत्य है इसका विस्तार से वर्णन नहीं किया था।।७६।। सत्य का सत्य इसके स्पष्टीकरण द्वारा तीसरे ब्राह्मण में प्रपंचरहित ब्रह्म तत्त्व साफ-साफ प्रतिपादित किया जा रहा है।।८०।। सूत्ररूप में पूर्वोक्त विषय का यहाँ और समझाकर वर्णन करना है, सर्वथा नया तत्त्व कहना हो यह बात नहीं।।७८-८०।।

श्रुति है 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवाऽमूर्तं च, मर्त्यं चाऽमृतं च, स्थितं च यच्च, सच्च त्यच्च।।'१।। अर्थात् मूर्त और अमूर्त ये दो ही ब्रह्म के रूप हैं। मूर्त मरणशील, (स्थित=) परिच्छिन्न और (सत्=) प्रत्यक्षोपलब्ध है जबकि अमूर्त अमरणशील, व्यापी और परोक्ष है। इसे बताते हैं **मूर्त्त और अमूर्त्त ये दो ही ब्रह्म के 'रूप' हैं जो प्रपंचभाव (संसारभाव) को प्राप्त हुए हैं तथा इन्हीं के द्वारा ब्रह्म का निरूपण, बोधन हो पाता है।।८१।।** अरूप ब्रह्म भी इसलिये कल्पना से सरूप है कि उसे समझा जा सके। बालक को अमूर्त संख्या समझ नहीं आती तो कंचे आदि मूर्त्त को संख्या बताकर समझाना पड़ता है। ऐसे ही वस्तुओं के चित्रों द्वारा अक्षरों का उच्चारण सिखाना पड़ता है। ऐसे ही ब्रह्म अतिसूक्ष्म है अतः उसे समझा जा सके इसके लिये 'रूपों' का सहारा ज़रूरी है। जिनसे ब्रह्म समझाया जाता है, जो उसका निरूपण करते हैं उन्हें ब्रह्म के रूप कहा। ये दो रूप हैं तथा ये ही सारा प्रपंच हैं। नीरूप रहते हुए ही ब्रह्म इन आरोपित रूपों वाला उपलब्ध है ताकि हम उसकी नीरूपता समझ सकें।।८१।।

मूर्त से पृथ्वी, जल, तेज तथा अमूर्त से वायु और आकाश कहे जाते हैं, इन्हीं का फैलाव संसार है। इससे अन्य भी मूर्ताऽमूर्त का भाव है यह बताते हैं **मूर्त्त एवं अमूर्त**

मूर्त्तामूर्त्तं प्रपञ्चश्च वासना चेति वा द्वयम् ।
सवासनम् इदंरूपम् अनिदं चेति वा द्वयम् ।।८२।।
संनिवेशो नेत्रदृश्यो यस्य तद् मूर्त्तम् उच्यते ।
क्षित्यम्ब्वग्नित्रयं मूर्त्तम् अमूर्त्तम् इतरद् द्वयम् ।।८३।।
मूर्त्तं मर्त्त्यं शीघ्रनाशात् परिच्छेदात् स्थितं तथा ।
प्रत्यक्षत्वात् सद् इत्युक्तम् अमूर्ते तु विपर्ययः ।।८४।।

प्रपंच यह एक राशि, तथा प्रपंच की वासना यों भी ब्रह्म के दो रूप समझ सकते हैं। अथवा वासना समेत 'यह' (जड) तथा (वासनासमेत) 'गैर यह' (चेतन) ये दो रूप हैं।।८२।। दो रूप हैं इसे उक्त तीन तरह समझाया १) भूतत्रय - भूतद्वय; २) प्रपंच और वासना; ३) (वासनासमेत) जड और चेतन। यहाँ प्रतिपाद्य तो ब्रह्मतत्त्व है जिसका प्रकाशन करने के लिये उस पर अध्यस्त सारी उपाधियों का निषेध 'नेति नेति' से करना है अतः सभी सम्भव उपाधियों का दो में अंतर्भाव आवश्यक ही है। अमूर्त से वासना समझें तो मूर्त से सारा ही व्यक्त प्रपंच समझ आ सकता है। वासना अव्यक्त होने से अमूर्त कही जाये यह संगत भी है। नेत्यादि वीप्सा से कहना है ही कि 'यद्यत् प्राप्तं तत्तद् निषिध्यते' (भाष्य) जो भी 'रूप' समझ आये उस सबको हटाकर आत्मा का अवगम करना है, इसलिये यदि वासनाओं का संग्रह उचित है तो किया ही जाना चाहिये लेकिन स्वयं श्रुति ने जो मूर्त्त-अमूर्त्त की व्याख्या की है वह भूतत्रय-भूतद्वय के अनुसार है। फिर भी विचारकों में प्रसिद्ध होने से अन्य पक्ष भी ग्राह्य हैं।।८२।।

मूर्त्त-अमूर्त्त की यथाश्रुति व्याख्या करते हैं **जिसका सन्निवेश अर्थात् अवयवों का गठन आँखों से दीखता है वह मूर्त्त कहा गया है। पृथ्वी, जल, तेज ये तीन मूर्त्त हैं। बाकी दो महाभूत अमूर्त हैं।।८३।। जल्दी नष्ट होने वाला होने से मूर्त्त मर्त्त्य (मरणशील) है, परिच्छिन्न (सीमित) होने के कारण स्थित (गतिपूर्वक रुकने वाला) है एवं प्रत्यक्ष (इंद्रियगोचर) होने से 'सत्' (है) ऐसा कहा गया है। अमूर्त्त में तो उक्त विशेषताओं से विपरीतता मिलती है।।८४।। अमूर्त्त देर से नष्ट होता है इसलिये अमृत है, व्यापक होने से 'यत्' (स्थित से विपरीत) है एवं परोक्ष (इंद्रियाविषय) होने से 'त्यत्' (वह) है। इस प्रकार यह जगत् ही मूर्त्त-अमूर्त्तरूप है, (इसी को ब्रह्म का 'रूप' कहा है)।।८५।।** 'सन्निवेश' अर्थात् व्यवस्थित रूप से मिले हुए हिस्सों वाला, जिसे प्रायः शरीर कहते हैं। भूतत्रय

तद् नश्यति विलम्बेनेत्यमृतं व्याप्तिमत्त्वतः ।
यत् परोक्षम् अतस्त्यत् स्याद्[1] मूर्त्ताऽमूर्त्तात्मकं जगत् । ।८५ । ।

आँखों से ही दीख जाते हैं और इनके टुकड़े भी स्पष्ट हैं। आकाश - वायु न दीखते हैं, न उनके टुकड़े पता लगते हैं इसलिये वे इन तीन से अलग तरह के हैं। वायु में टुकड़े हों तो भी दीखते नहीं, स्पष्ट पता नहीं चलते। मरणधर्मा, नश्वर तो सारा संसार है पर मूर्त कुछ जल्दी नष्ट हो जाता है इसलिये इसे मर्त्त्य कहा। अन्तमें तो अमूर्त भी नष्ट होता है लेकिन मर्त्य अर्थात् इसके संनिवेश शीघ्र नष्ट होते हैं। पृथ्वी भले ही बनी रहे पर उसके जो तत्तद् आकार मकान, घड़ा आदि हैं वे जल्दी समाप्त हो जाते हैं, ऐसे ही नदी-तालाब आदि जल के सन्निवेश सूखते देखे जाते हैं, आग की लपटें शांत होती अनुभव में आती हैं परंतु आकाश-वायु का क्योंकि ऐसा कोई संनिवेश नहीं इसलिये वे नष्ट होते भी दीखते नहीं। 'स्थित' अर्थात् रुका हुआ। जो चलकर रुके, उसे ही रुका हुआ कहना बनता है। मर्त्त्य रुका है अतः स्पष्ट है कि चल सकता है अर्थात् परिच्छिन्न है क्योंकि चल वही सकता है जो व्यापक न हो। 'सत्' या है उसे कहते हैं जो प्रत्यक्ष दीख जाये क्योंकि उसके बारे में 'है या नहीं' ऐसा कोई संशय आदि नहीं उठता। इसीलिये मूर्त सत् है। अमूर्त इनसे विपरीत है, अमर्त्य, यत् (व्यापी), त्यत् (परोक्ष) है। अमर्त्त्य से नित्य न समझ लें इसलिये आचार्य ने कह दिया कि विलंब से नष्ट होता है इतने मात्र को यहाँ श्रुति ने अमर्त्य कहा है। इसी तरह वे यत् अर्थात् व्यापक हैं। आधुनिक लोग अंतरिक्ष में वायु नहीं मानते लेकिन जहाँ क्रिया होती है वहाँ वायु अवश्य है क्योंकि वायु ही क्रिया को संभव करती है। अंतरिक्ष में ग्रह नक्षत्र आदि सब चल रहे हैं तो वायु का अस्तित्व अवश्य है। यद्यपि वायु में गति भी है तथापि ऐसा नहीं कि सर्वथा जहाँ वायु नहीं वहीं वायु जाती हो वरन् जहाँ वायु कम है वहाँ ज़्यादा की तरफ से वायु आ जाती है और जहाँ से आती है वहाँ भी कुछ वायु रह ही जाती है। इसलिये उसे व्यापक कहना ठीक है। परोक्ष तो ये दोनों भूत हैं ही अतः त्यत् अर्थात् 'वह', ('यह' से विपरीत) कहे जायें यह उचित है। ।८३-५ । ।

द्वितीय आदि कण्डिका में मूर्त्त-अमूर्त्त का परिचय देकर मूर्त्त का रस (=कार्य) इस तपने वाले सूर्यमण्डल को कहा है तथा अमूर्त्त का रस उस हिरण्यगर्भ को कहा है जो आदित्यमण्डल में करणात्मक (सूक्ष्म) पुरुष है। जैसे प्रपंच में फैले हुए ये मूर्त्तामूर्त्त हैं

---

[1] 'तत् स्याद्' इत्येवान्यत्र मुद्रितं परं मुत्तुशास्त्री 'त्यद्' इति पठति, तथैव साधीयान् पाठः।

अध्यात्ममधिदैवं च द्विधा सत्यं व्यवस्थितम्।
प्रसिद्धम् उभयत्राऽपि स्थूलसूक्ष्मवपुर्द्वयम्।।८६।।
स्थूलसारतया ज्ञेये चक्षुरादित्यमण्डले।
मूर्त्त-मर्त्त्य-परिच्छिन्न-प्रत्यक्षत्वविशेषिते।।८७।।
अमूर्त्ता-ऽमृत-संव्याप्त-परोक्षत्वैस्तु संयुतम्।
उभयत्र स्थितं लिङ्गम् अमूर्त्तरस उच्यते।।८८।।

वैसे शरीर में भी जो प्राण वायु और खाली जगह है वह अमूर्त तथा बाकी भूतों से बना शरीर मूर्त है। अध्यात्म में मूर्त का रस चक्षु है एवं अमूर्त का रस दायीं आँख में स्थित पुरुष (लिंगाभिमानी जीव) है। इस संदर्भ की सूचना देते हैं **सत्-त्य दो तरह मौजूद हैं अध्यात्म (शरीर में) और अधिदैव (अर्थात् समष्टि से अधिष्ठित)। दोनों दृष्टियों से स्थूल व सूक्ष्म दोनों शरीर प्रसिद्ध (स्वीकृत) हैं।।८६।। स्थूल के साररूप में चक्षु और सूर्यमण्डल समझने चाहिये क्योंकि उनमें मूर्त्तता, मर्त्त्यता परिच्छिन्नता और प्रत्यक्षता स्पष्ट हैं।।८७।। अध्यात्म व अधिदैव में स्थित जो लिंग (सूक्ष्म शरीर) वह अमूर्त का रस है, वह लिंग अमूर्त, अमृत, व्यापक और परोक्ष है।।८८।।** 'सत्य' अर्थात् व्यावहारिक सत्य कहलाने वाला कार्य प्रपंच। इसमें सत् (भूतद्वय) और त्यत् (भूतत्रय) हैं अतः भी यह सत्त्य है। यह अध्यात्म अर्थात् व्यष्टि-अभिमानी से अधिष्ठित एवं अधिदैव अर्थात् समष्टि अभिमानी से अधिष्ठित यों दो रूपों में मिलता है। यह 'व्यवस्थित' है अर्थात् व्यवस्थामात्र से समझ आता है। वस्तुतस्तु जो व्यष्टि है वह भी समष्टि के अंतर्गत है ही तथा जो समष्टि है वह सब व्यष्टिओं से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है! अध्यात्म स्थूल का सार चक्षु एवं अधिदैव स्थूल का सार सूर्यमंडल है। अध्यात्म सूक्ष्म का सार लिंगदेह और अधिदैव सूक्ष्म का सार हिरण्यगर्भ है। यद्यपि लिंग पांचभौतिक है, दो ही भूतों से बना नहीं है, तथापि उसमें अमूर्ततादि होने से उसे त्यत्-सम्बद्ध कहना बन जाता है। ब्रह्मज्ञान पर्यंत अनश्वर होने से लिंग को अमर्त्त्य मानना उचित है। व्यष्टि लिंग भी पूरे व्यष्टि स्थूल में भरा होने से 'संव्याप्त' कहा गया है। साक्षिभास्य होने पर ऐंद्रिय प्रत्यक्ष का अविषय होने से लिंग परोक्ष कहलाता है। इस तरह मूर्त्तामूर्त का विस्तार बताया।।८६-८।।

उक्त वर्णन का प्रकृत में उपयोग बताते हैं **सार और असार से युक्त मूर्त्त और अमूर्त्त बताये (क्योंकि) रूपहीन ब्रह्म व्यवहारभूमि में इन रूपों के द्वारा समझाया जाता है।।८६।।** ब्रह्म वस्तुतः अरूप है, उसका निरूपण बिना उपाधि-परामर्श के हो

साराऽसारयुते रूपे मूर्त्ताऽमूर्त्ते उदीरिते।
अरूपं ब्रह्म रूपाभ्यां व्यवहारे निरूप्यते।।८९।।
मूर्त्ताऽमूर्त्ते ब्रह्मरूपे इति पक्षो निरूपितः।
प्रपञ्च-तद्वासने द्वे रूपे इत्येष वर्ण्यते।।९०।।

ii तत्रैव द्वितीयविवृतिः

प्रपञ्चो नाम पूर्वोक्तं मूर्त्तामूर्तं द्वयं भवेत्।
तद्वासना विचित्राः स्युरनन्ता लिङ्गम् आश्रिताः।।९१।।

नहीं सकता, इसीलिये उसके निरूपणार्थ जो व्यष्टि-समष्टिरूप प्रपंचोपाधि है उसका मूर्त्त-अमूर्त्त के विभाजन से वर्णन किया। मूर्त्त का सार आदित्य कहा तो आदित्य से अतिरिक्त जो मूर्त्त बचा वह असार सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अमूर्त्त का सार लिंग हुआ तो बचा सारा अमूर्त्त असार रह गया। अथवा स्थायी होने से अमूर्त्त ही सार एवं अस्थायी होने से मूर्त्त ही असार है। हर हालत में, जो यों बताया प्रपंच उसे माध्यम बनाकर समझना ब्रह्म को है।।८९।।

श्लो. ८२ में कहे प्रकार का विस्तार प्रारंभ करते हैं **मूर्त्त और अमूर्त्त ब्रह्म के रूप हैं यह पक्ष बता दिया। प्रपंच और उसकी वासना ब्रह्म के दो रूप हैं इस पक्ष का अब वर्णन करते हैं।।९०।।** आकाश-वायु दृश्य न हों तो भी उनका स्पष्ट पता लगता ही है अतः उन्हें भी मूर्त्त-कोटि में रखा जा सकता है। वासना तो कार्यैकानुमेया है अतः उसका कैसा भी प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये वह स्पष्ट ही अमूर्त है। इस दृष्टि से पूर्व में वह विकल्प कहा था, अब श्रुति-अनुसार इसे समझाते हैं।।९०।।

करणात्मक लिंग का वासनामय रूप श्रुति ने इस तरह बताया है 'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् यथा माहारजनं वासो, यथा पाण्ड्वाविकं, यथेन्द्रगोपो, यथाऽग्न्यर्चिः, यथा पुण्डरीकं, यथा सकृद् विद्युत्तं; सकृद् विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेद।' अर्थात् जैसे हल्दी से रंगा कपड़ा हो या भेड़ की ऊन हो, या इन्द्रगोप-नामक कीटविशेष हो, या आग की लपट हो, या सफेद कमल हो या जैसे एक-बार हो जाने वाली बिजली की चमक हो ऐसे उस लिंग के रूप होते हैं। हिरण्यगर्भ की (समष्टि लिंग की) इस उपासना का श्रीलाभरूप अवान्तर फल भी यहाँ कहा है। विभिन्न हेतुओं से विभिन्न वासनाएँ पड़ती हैं इसे समझाने के लिये अनेक उदाहरण दिये। इसका संकेत करते हैं **पूर्वोक्त मूर्त्त और अमूर्त्त - ये दोनों प्रपंच हैं। प्रपंच की विचित्र अनंत वासनाएँ लिंग पर पड़ती हैं।।९१।। जैसे कपड़े या दीवाल पर चित्र आँका**

अनेकवासनाचित्रं तल्लिङ्गं पटभित्तिवत् ।
मायेन्द्रजालसदृशं व्यामोहास्पदमात्मनः ।।६२।।
एतावन्मात्र आत्मेति तत्र भ्रान्ता निरागमाः ।
बौद्ध-काणाद-साङ्ख्याद्यास्तर्कमात्रोपजीविनः ।।६३।।

जाता है वैसे पूर्वोक्त लिंग अनेक वासनाओं से चित्रित है। माया, इन्द्रजाल की तरह मिथ्या लिंग से आत्मा को व्यामोह (अभेदाध्यास) हो रखा है।।६२।। इस व्याख्या में मूर्त्त से सारा प्रपंच तथा अमूर्त से उसकी वासनाओं का कथन है। प्रायः वासना चित्त में कही जाती है लेकिन मन, बुद्धि, इंद्रियाँ भी वासना का आश्रय बनती हैं इसीलिये भगवान् ने इंद्रिय-मन-बुद्धि को कामना का स्थान माना। कामना वहीं होगी जहाँ वासना है। क्योंकि कब कौन वासना उद्बुद्ध हो यह कहा नहीं जा सकता इसलिये उन्हें 'विचित्र' कहा। इन वासनाओं से लिंग पर मानो चित्र बने हैं! अर्थात् वासना जिस अनुभवसे पड़ती है, केवल उतना ही उसका प्रभाव नहीं रहता वरन् अन्य वासनाओं से मिल-जुलकर नया-सा ही उसका रूप प्रकट होता है। रंग तो गिने-चुने होते हैं पर चित्र उनसे असंख्य बन जाते हैं, ऐसे ही वासनाओं से अनेक चित्र तैयार होते रहते हैं। अतएव सोचकर भी पता नहीं चलता कि यह वासना कब-कहाँ-कैसे पड़ी! इसलिये यह माया या बाजीगर के खेल-जैसी स्थिति है जिसका कोई भी निर्वचन असंभव है। 'माया' से कारणरूपता एवं 'इन्द्रजाल' से कार्यरूपता कही। जादूगर की भी माया अर्थात् सामर्थ्य तो बीसियों खेल दिखाने की है लेकिन एक बार में तो एक ही खेल दिखायेगा, ऐसे ही लिंग पर पड़ी असीम वासनाएँ हैं पर प्रकट एक-एक चित्र ही होगा। ऐसे लिंग से हम सभी खुद को एकमेक समझते हैं, हमें व्यामोह, भ्रम हो रखा है। हमारा यह भ्रम इसीलिये संभव है कि यह लिंग हमारे सामने मौजूद है। सुषुप्ति में यह नहीं रहता तो हमें व्यामोह भी नहीं रहता! जैसे जादूगर का खेल देख लोग मुग्ध हो जाते हैं, सच-झूठ का भेद नहीं समझ पाते, वैसे इस लिंग से जीव मुग्ध है अतः संसार में भटक रहा है।।६१-६२।।

लिंग को आत्मा समझ लेने से ही विभिन्न वादी आत्मा के बारे में विभिन्न मत रखते हैं। यदि लिंग-साक्षी पर एकाग्र हों तो उसे अखण्ड सच्चिदानंद ही पहचानें। यह रहस्य बताते हैं **बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य आदि केवल तर्क का सहारा लेने वाले, वेदों को न समझ पाने वाले, आत्मा के बारे में भ्रमित हुए 'इतना ही आत्मा है' ऐसा मानते हैं।।६३।।** आत्मा वेदैकसमधिगम्य है, उसे स्वतंत्र तर्क से विषय करना ही ग़लत है। अतः वैसा करने पर वादी आत्मा को न समझकर लिंग को ही आत्मा मान बैठते हैं।

एकैकां वासनां तत्र प्रतिक्षणविनश्वरीम् ।
आहुः क्षणिकमात्मानं बौद्धा विज्ञानवादिनः ।।६४।।

लिंग अनेकरूप है ही अतः वे अलग-अलग उसका वर्णन करते रहते हैं। 'इतना ही' अर्थात् जो-जैसा-जितना उन्होंने लिंग को, लिंग के रूपों को समझा है, उतना ही। बौद्ध नास्तिक होने से निरागम हैं और वैशेषिक-सांख्य इसलिये कि वे तर्कसिद्ध अर्थ को ही मानते हैं, तर्कित बात का ही वेद भी कथन करता है यों वेद को तर्कानुसार लगाते हैं। बुद्धिमानी है तर्क को वेदानुसार प्रयोग करने में, जैसा कि कहा है 'श्रुतिमतस्तर्कोनुसन्धीयताम्'। वैसा न करने पर तो स्पष्ट बताया है 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' कि आत्मबोध तर्क से संभव नहीं।।६३।।

सर्वप्रथम बौद्धमत दिखाते हैं **उक्तवादियों में से विज्ञानवादी बौद्ध हर क्षण नष्ट होने वाली एक-एक वासना को क्षणिक आत्मा कहते हैं।।६४।।** शून्यवादी तो कैसा भी आत्मा समझाने की कोशिश नहीं करता किन्तु विज्ञानवादी (योगाचार-मतवाला) कहता है कि क्षणिक विज्ञान ही आत्म-शब्दार्थ हैं। क्षणिक अर्थात् हर क्षण नष्ट होने वाला। नैयायिक चीज़ों को कम से कम रहने वाला मानेगा तो भी एक क्षण में उत्पत्ति, अगले क्षण में स्थिति, तब तीसरे क्षण में नाश मानेगा। बौद्ध कहते हैं कि उत्पत्ति के क्षण में ही वस्तु का नाश भी हो जाता है! यह असंभव है, अबोध्य है, इसमें उदाहरण भी नहीं, फिर भी बौद्ध ऐसा स्वीकारते ही हैं और आश्चर्य है कि आज भी ऐसे लोग दीख रहे हैं जो बौद्धों की ऐसी बातों से प्रभावित होते हैं। जो लोग 'ऊर्जा या द्रव्य उत्पन्न या नष्ट नहीं किया जा सकता, केवल उनके रूप परिवर्तित हो सकते हैं' इत्यादि स्थिरता की मान्यताओं के अनुसार जीवन चलाते हैं, वे भी अध्यात्मविचार में बौद्धों की ऐसी निरर्थक बातों का आदर करते हैं यह एक आश्चर्य ही है। यहाँ भाष्य में 'एतावन्मात्रम्' ही कहा है जिसकी आनंदगिरिव्याख्या है 'बुद्धिमात्रम् एव अहंवृत्तिविशिष्टं स्वरसभङ्गुरं रागादिकलुषितम् आत्मा, नान्यः स्थायी क्षणिको वा' अर्थात् अहंवृत्तियुक्त बुद्धि को वे आत्मा कहते हैं। वह बुद्धि स्वरसभंगुर अर्थात् प्रतिक्षण विनाशी, जिसका भंग या नाश बिना किसी हेतु के होता है अतः हेतु की इन्तज़ार की ज़रूरत के बिना उत्पन्न होते ही जो नष्ट हो जाती है। तथा बुद्धि रागादि से कलुषीकृत है ही। ऐसी बुद्धि से अन्य कोई स्थायी या अस्थायी चीज़ नहीं जिसे आत्मा कहा जा सके। संस्कार, वासनाओं से युक्त क्षणिकविज्ञान की संतति (धारा) को वे आत्मा बताते हैं यही भाव है। क्योंकि बौद्ध क्षणिक विज्ञान या क्षणिक बुद्धि शब्द का ज़्यादा

आत्मनो द्रव्यभूतस्य गुणा बुद्ध्यादयो नव।
वासनात्वेन वेदोक्ता इति वैशेषिकादयः।।६५।।
त्रिगुणं यत् प्रधानं तत् पुरुषार्थेन हेतुना।
प्रवर्त्तते वासनात्वक्लृप्तिस्तत्रेति कापिलाः।।६६।।

प्रयोग करते हैं इसलिये यहाँ मूल में आये 'वासना' शब्द से क्षणिकविज्ञान ही समझना चाहिये। यदि वेदान्तदृष्टि से समझना हो तो जिसे हम बुद्धिवृत्ति कहते हैं उसे यहाँ वासना कह दिया है। कहा इसलिये है कि प्रकृत श्रुति ने लिंग में भेद वासनात्मक ही कहे हैं अतः श्रुति का मत लगता है कि बौद्धों को जो विभिन्न वासनाएँ प्रतीत होती हैं उन्हीं को वे आत्मा मान बैठे हैं। हर हालत में, आत्मा बिना समझे लिंग को ही आत्मा मानने से वे भ्रांत हैं, यह भाव है।।६४।।

वैशेषिक (काणाद), नैयायिक आदि तार्किक यहाँ आये वर्णन से स्वसंमत आत्मा का समर्थन समझते हैं! यह बताते हैं **द्रव्यरूप आत्मा के ज्ञान आदि नौ गुणों को वासना-रूप से वेद में कहा गया है ऐसा वैशेषिकादि मानते हैं।।६५।।** गुणवान् को द्रव्य कहते हैं। आत्मा में बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये नौ खास गुण हैं, सिर्फ आत्मा में रहते हैं और द्रव्यों में नहीं। इससे अतिरिक्त संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच गुण भी आत्मा में रहते हैं लेकिन ये अन्यत्र भी रहने से उसके खास गुण नहीं हैं। प्रकृत श्रुति में कही वासनाओं के रूपों से वैशेषिकों को लगता है कि बुद्धि आदि नौ को ही सूचित किया है! इससे उनकी तर्काश्रितता तो स्पष्ट ही है, साथ ही यह भी व्यक्त हो जाता है कि जिसे श्रुति लिंग शरीर कह रही है उसी को वे आत्मा माने हुए हैं।।६५।।

सांख्यों को यह वर्णन क्या ज्ञान कराता है यह दिखाते हैं **जो गुणत्रय वाली प्रकृति है वही पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त होती है, उसी में वासनाएँ हैं ऐसा कपिलानुयायी मानते हैं।।६६।।** इनकी मान्यता है कि जड प्रकृति ही चेतन आत्मा के भोग या मोक्षार्थ चेष्टा करती है! विचार्यमाण श्रुति की व्याख्या में वार्तिक है 'त्रिगुणं सत् प्रधानस्थं पुरुषार्थेन हेतुना। प्रवर्त्तते स्वतंत्रं सद् इदमित्यपि कापिलाः।।' (२.३.८६)।। यद्यपि सांख्य अंतःकरण ही आत्मा है यह नहीं मानते तथापि आत्मा के लिये सब करने वाली प्रकृति को सत्य, स्वतंत्र, त्रिगुणात्मिका मानते हैं। यहाँ जो श्रुति ने 'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्' कहकर वर्णन किया है उसे सांख्यवादी उसी प्रकृति का वर्णन समझते हैं। उसमें जो गुणकृत वैषम्य है उसी को

अनन्तकल्पोपचिता अनन्ता एव वासनाः ।
उदाहरणमात्रं तु दृष्टान्तैरिह वर्ण्यते । ।६७ । ।
हारिद्रं वसनं यद्वत् संसर्गात् पीततां व्रजेत् ।
तद्वद् नार्यादिसंसर्गाल्लिङ्गं रागादिमद् भवेत् । ।६८ । ।

विभिन्न रूपों द्वारा व्यक्त किया है। यद्यपि क्षेत्र का, लिंगोपाधि का वर्णन सिद्धांती भी कह रहा है तथापि सांख्य जो उस क्षेत्र को सत्य, स्वतंत्र मानते हैं, उसको ग़लत बताने के लिये भ्रान्त मतों में इसकी गणना की। ।६६ । ।

चार श्लोकों से ग़लत तात्पर्य बताये। इन के दोषों का स्पष्टीकरण अन्यत्र प्रसिद्ध होने से यहाँ छोड़ दिया। भाष्यकार ने भी भ्रान्तियों का उल्लेख कर सबका इसी से निरास किया है कि कल्पना-बल से श्रुति का अर्थ बदलना अनुचित है 'न चासां श्रुतीनां श्रुतादर्थान्तरकल्पना न्याय्या'। उक्त मतों के परीक्षण में न पड़कर, जिस बारे में वे मत भ्रांत हैं उस वस्तु का वर्णन श्रुति ने किया ऐसा इस श्रुति का तात्पर्य समझाना प्रारंभ करते हैं **असंख्य कल्पों में एकत्र की गयी होने से वासनायें अनंत ही हैं, यहाँ दृष्टान्तों से वासनाओं के कुछ नमूनों का ही वर्णन है। ।६७ । । हल्दी से रंगा कपड़ा जैसे हल्दी-संपर्क से पीला होता है ऐसे लिंग (मन) नारी-आदि के संसर्ग से रागादि वाला हो जाता है। ।६८ । ।** ब्रह्मा की आयु पूरी हो तब एक कल्प समाप्त होता है। ऐसे अनंत कल्प बीत ही चुके हैं। हर कल्प में हमने अच्छी-बुरी वासनाएँ बटोरी हैं। वासना या संस्कार नष्ट नहीं होती, दबे-उभरे यह बात अलग है। सभी वासनाएँ कही जा सकें यह तो संभव नहीं पर उनमें से कुछेक प्रकार की वासनाओं का वर्णन हो ही सकता है जिससे अन्यों के बारे में समझना संभव है। सांख्यों ने तीन गुणों के अंतर्गत सभी को मानने का प्रयास किया लेकिन अनन्त प्रकार की चीज़ों को तीन-मात्र में सीमित करना सर्वथा अस्वाभाविक है। श्रुति ने भी ऐसा कोई प्रयास नहीं किया। अतः आचार्य ने यहाँ यही माना कि कुछ नमूने बताये गये हैं। प्रथम दृष्टांत हल्दी से पीले हुए कपड़े का है। नारी, धन आदि के संबंध से जो उनके प्रति राग हो जाता है, उसमें यह उदाहरण है। विषयध्यान से उनमें संग होता है यह श्रीकृष्ण ने भी बताया है। बचपन से कड़वी चीज़ खाते हैं तो बंगाली उसके शौकीन हो जाते हैं, अन्यत्र के लोग न खाने से उसमें रुचि वाले नहीं बनते। इसी तरह प्रायः विषय-सम्पर्क राग का उत्पादक होता ही है। ।६७-८ । ।

द्वितीय दृष्टान्त दिखाते हैं **स्वतः सफेद भी कम्बल (धूल आदि के सम्पर्क से) थोड़ा पीला और कड़ा हो जाता है वैसे स्वयं रागादि वाला भी मन थोड़ी श्रद्धा**

ईषत्पाण्डुश्च परुषः स्यात् स्वच्छः श्वेतकम्बलः ।
तथेषच्छ्रद्धया युक्तं स्वतो रागादिभागपि[1] ।।९९।।
इन्द्रगोपोऽतिरक्तः स्यात् स्वत एव तथा मनः ।
विविक्तदेशस्थस्यापि विषयप्रवणं क्वचित् ।।१००।।
अग्नेरर्चिर्यथा भास्वद् दहत्यपि यथा क्वचित् ।
वेदशास्त्रविदप्यन्यान् बाधेतेर्ष्याद्युपद्रवैः ।।१०१।।

से संपन्न हो जाता है।।९९।। सफेद भेड़ की ऊन से बना कम्बल सफेद ही होगा लेकिन धूलादि से युक्त होने पर लगेगा मानो पीला पड़ गया हो जबकि उसकी स्वाभाविक सफेदी गयी नहीं है। ऐसे हमारा मन राग आदि वाला रहते भी शास्त्रादि पर थोड़ी-बहुत श्रद्धा वाला हो तो लगता है कि कुछ परिवर्तित है। इस स्थिति में जानने पर भी कि रागादि बुरे हैं, 'थोड़ा तो कर ही लें' ऐसा उनके प्रति आकर्षण बना रहता है।।९९।।

तृतीय दृष्टांत बताते हैं **जैसे इन्द्रगोप खुद ही बहुत लाल होता है वैसे एकान्त स्थान में स्थित व्यक्ति का भी मन कभी विषयों की ओर झुक जाता है।।१००।।** इन्द्रगोप को 'वीरबधूटी' हिंदी में कहते हैं, गहरा लाल बरसाती कीड़ा होता है। पूर्वोक्त उदाहरण में पीलापन धूलादि से था, यहाँ लाली स्वाभाविक है। हमारे मन ऐसे भी हैं; बिना उद्दीपक के भी मन में कामना उद्बुद्ध हो जाती है क्योंकि मन खुद विषय के प्रति रुचि वाला है। जहाँ तो हेतुविशेष से मनोविकार (अच्छा या बुरा) हो वहाँ पूर्व दृष्टांत तथा जहाँ बिना कारण हो वहाँ यह दृष्टांत समझना चाहिये।।१००।।

चौथा दृष्टांत समझाते हैं **जैसे अग्नि की ज्वाला प्रकाशमान होने पर भी कभी जलाती भी है, वैसे वेद-शास्त्रों का जानकार भी ईर्ष्या आदि विक्षेपकों द्वारा अन्यों को पीडित करता है।।१०१।।** आग प्रकाश करती है लेकिन जला भी देती है। वैसे कदाचित् जीव शास्त्रादि समझता है लेकिन अन्यों को जला भी देता है! यदि ज्ञान ही उसमें ईर्ष्या आदि का उत्पादक हो जाये तो उससे अन्यों को पीडा होनी ही है। कई बार विद्वान् अपने से ज़्यादा विद्वान् को सहन नहीं कर पाता तो अपने ज्ञान के दुरुपयोगकुतर्क, चालबाजी आदिसे अन्यों को पीडा देता है। इसी दृष्टि से विद्यारण्य स्वामी ने पंचदशी में कहा है 'वेदाभ्यासात् पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता। पश्चात्त्वभ्यास-विस्मार-भंगगर्वैश्च शोकिता।।'११.१९।। कि पढ़ाई से पूर्व तो आध्यात्मिकादि तीन ही

---

[1] 'रोषादिभाग्' इति अनु. प्र.; 'रागादिभाग्' इति सारे।

सिताम्भोजं यथा सौम्यं सुगन्धि मृदु च स्वतः ।
जन्मनैव तथा चित्तं युक्तं शमदमादिभिः ।।१०२।।
तीव्रविद्युद् यथाऽत्यन्तं घनध्वान्ताऽपनोदकृत् ।
तथा हिरण्यगर्भस्य सर्वज्ञा वासना भवेत् ।।१०३।।
ताम् उपासीन आप्नोति श्रियम् अत्यन्तम् ऊर्जिताम् ।
रजःसत्त्वतमोयोगाद् वासनानां विचित्रता ।।१०४।।

ताप थे, पढ़ने पर तीन और जुड़ गये अभ्यास करते रहने का कष्ट, भूलने पर कष्ट और अपने से अधिक द्वारा तिरस्कार का कष्ट; किं च अपने से कम जानकार को देखकर गर्व भी हो जाता है जो अनेक शोकों का मूल है। ऐसे ही मन में रहता है कि कोई शास्त्र न रह जाये जिसे मैंने पढ़ा न हो, क्योंकि कोई पूछे और कहना पड़े 'नहीं जानता हूँ' तो लज्जा आती है। बे-पढ़े-लिखे को ये कष्ट नहीं होते। इस प्रकार के मन को आग के दृष्टांत से कहा।।१०१।।

पाँचवाँ उदाहरण क्या दिखाता है यह बताते हैं **सफेद कमल जैसे देखने में रमणीय, सुगंधित और स्वभाव से ही कोमल होता है वैसे कोई चित्त जन्म से ही शम-दम आदि से युक्त होता है।।१०२।।** पैदा हुए बच्चों के स्वभावों में भेद प्रत्यक्ष है। जो जन्म से ही शांत आदि हो उसके लिये श्वेत कमल का उदाहरण है। इससे विपरीत के लिये इंद्रगोप का उदाहरण था, वह भी जन्म से ही लाल होता है।।१०२।।

छठे दृष्टांत का कथन करते हैं **तेज़ बिजली जैसे अत्यंत घने अँधेरे को मिटा देती है वैसे हिरण्यगर्भ की सब कुछ जानने वाली वासना (सर्वविषयक अज्ञान दूर करती) है।।१०३।।** बिजली चमके भले ही थोड़ी देर के लिये लेकिन उसमें रोशनी इतनी ज़्यादा होती है कि सारा अँधेरा एक ही बार में मिट जाता है। इसी तरह हिरण्यगर्भ की वासना में सर्वज्ञता होती है, सभी विषयों के बारे में सारी जानकारी उसमें निहित रहती है, तभी वह यथापूर्व सब कुछ उत्पन्न कर पाता है।।१०३।।

इस अंतिम दृष्टांत के आधार पर प्रसंगवश उपासना की विधि भी कर देते हैं **हिरण्यगर्भ की ऐसी वासना की उपासना करने वाले को ऊर्जस्वी धन की प्राप्ति होती है। रजोगुण, सत्त्वगुण, तमोगुण के सम्बंधों से वासनाओं में विविधता संगत है।।१०४।।** हिरण्यगर्भ की उक्त तरह की वासना वाले के रूप में उपासना का यह फल है। केवल वासना की नहीं वरन् उपासना हिरण्यगर्भ की करनी है किंतु उसे इस

प्रपञ्च-वासने ब्रह्मरूपे इत्येतद् ईरितम्।
तथेदम्-अनिदंरूपे इति पक्षोऽधुनोच्यते।।१०५।।

iii तत्रैव तृतीया विवृतिः

सवासनं जगत् सर्वं तत्रेदंरूपम् ईरितम्।
सच्च त्यच्चेति सत्त्यं तत् प्रोच्यते पाञ्चभौतिकम्।।१०६।।
सत्यस्य सत्यम् अनिदं वक्तव्यं शिष्यते ततः।
आदेशोऽनन्तरं तस्य क्रियतेऽनन्यमानिनः।।१०७।।

विशेषता वाला समझते हुए कि उसकी वासना में एक-साथ सबको प्रकाशित करने की सामर्थ्य है। फलरूप में कही 'श्रीः' से भाष्यकार ने 'ख्याति' समझी है। तथापि प्रसिद्ध होने से धन भी फल समझा जाये तो ग़लत नहीं। उसमें भी ऊर्जस्वी धन को फल कहा। ऊर्जा अर्थात् निहित शक्ति, सामर्थ्य। किसी का धन चाहे जितना हो उसमें कोई प्रभाव उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं होती जबकि किसी के पास थोड़ा भी धन हो तो प्रभावी होता है, कार्यकारी होता है, असरदार अनुभवमें आता है। ऐसे को ऊर्जस्वी कह रहे हैं। ख्याति का भी इसी तरह का वैशिष्ट्य अभिप्रेत है। वासनाओं का भेद गुणसम्बंध-निमित्तक है यह तो स्पष्ट ही है।।१०४।।

श्लोक ८२ में बताये विभाजन का अनुसंधान करते हुए यह प्रसंग पूरा कर अगला आरंभ करते हैं **प्रपंच और वासना - ये ब्रह्म के दो रूप हैं, इस पक्ष का कथन किया। अब इस पक्ष को समझाते हैं कि इदं ('यह') और अनिदं ('गैर यह') ये दो रूप ब्रह्म के हैं ऐसा प्रकृत श्रुति में सूचित है।।१०५।।** पूर्वोक्त विस्तार वासना (संस्कार) और प्रपंच (व्यक्त जगत्) परमेश्वर के दो रूप हैं इस मान्यतानुसार था। अब समझायेंगे कि इदम् अर्थात् जो 'यह' यों समझा जाये वह परमात्मा का एक रूप है और जो कभी इदं न समझा जाये वह दूसरा रूप है।।१०५।।

उक्त पक्ष का विस्तार करते हैं **उक्त दोनों रूपों में से इदं-रूप है वासनाओं समेत सारा जगत्। उस पंचभूतात्मक जगत् को सत् और त्यत् होने से सत्त्य कहा जाता है।।१०६।। इसके बाद बताना बचा अनिदं-रूप जो पूर्वोक्त सत्त्य का भी सत्य है। अन्य किसी प्रमाण के अविषय उस अनिदं-रूप का उपदेश अब (आगे) किया जाता है।।१०७।।** वासनाएँ भी चित्त में रहने से भौतिक हैं। हिरण्यगर्भ भी सूक्ष्मोपाधिक होने से उसकी वासना भी भूताश्रित अतः भौतिक है। भूत-संबंधी होने से भी (अर्थात् भूत-भौतिक जगत् को विषय करने वाली होने से भी)

नेति नेति

आदेशो नेति नेतीति ब्रह्मतत्त्वाऽवबोधकः।
यथाऽयम् उपपद्येत तथा सम्यङ् निरूप्यते।।१०८।।
इतिशब्देन चिद्भास्यम् अनूद्य प्रतिषिध्यते।
नकारेण, द्विरुक्तिस्तु वीप्सा कृत्स्ननिषिद्धये।।१०६।।
मूर्त्तं वा यदि वाऽमूर्तम् अज्ञानं वासनाऽथ वा।
अध्यात्मम् अधिदैवं वा तत् सर्वं प्रतिषिध्यते।।११०।।

वासनाओं को पंचभूतात्मक कहना ठीक है। भूतों के विभाजन के अनुसार सत्-त्यत् को मिलाकर सत्त्य कहा, फिर 'सत्त्य का सत्य' यों दूसरे सत्य का कथन किया। वह जो दूसरा सत्य है उसे 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' में द्वितीय रूप बताया है। वही अनिदम् (गैर-यह) से विवक्षित है। उसमें वेदातिरिक्त कोई प्रमाण न होने से उसे वेदोपदेश से ही बताया जा सकता है।।१०६-१०७।।

श्रुति में आया वह आदेश (उपदेश) है 'अथात आदेशो नेति नेति, न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति।' अर्थात् अब उपदेश देते हैं 'यह नहीं, यह नहीं'। इससे अतिरिक्त कोई अन्य उपदेश नहीं। इससे परे कोई (तत्त्व या उपदेश) नहीं। 'नेति' में 'इति' से जो कुछ भी इदंरूप में संभावित है उस सबका संग्रह कर परमेश्वर को उससे विलक्षण अनिदंरूप कहा है। इस वाक्य का स्पष्टीकरण करते हैं **'नेति नेति' यह आदेश ब्रह्म की वास्तविकता का प्रकाशक है। जैसे कि यह संगत है वैसा भलीभाँति बताया जाता है।।१०८।। 'इति'-शब्द से चेतन के विषयभूत अनात्मा का अनुवाद (उपस्थापन) कर न-कार से उसका निषेध किया गया है। दो बार इसलिये कहा ताकि यह नियम व्यक्त हो कि जो कुछ भी 'इति' है वह परमेश्वर नहीं। इस प्रकार, समस्त अनात्मा के निषेध की सिद्धि के लिये दो बार कहा है।।१०६।। मूर्त्त हो या अमूर्त, अज्ञान हो या वासना, अध्यात्म हो या अधिदैव इस सबका निषेध किया जा रहा है।।११०।।** 'नेति नेति' अत्यंत प्रसिद्ध वेदोपदेश है। इसका भाव समझाया कि इसमें सारे अनात्मा से अन्य आत्मा का वर्णन है जिसके स्तर पर अनात्म है ही नहीं। इस तरह यद्यपि सुनाई केवल निषेध देता है तथापि इससे बोध सच्चिदानन्द अखण्ड वस्तु का हो जाता है। क्योंकि ब्रह्म निर्धर्मक है इसलिये सारे धर्मों के निषेध से ही उसका उपदेश पूरा हो जाता है। स्वयंसिद्ध प्रत्यग्रूप होने से उसका साक्षात् उल्लेख अनिवार्य नहीं, फिर भी किसी ग़लत फ़हमी की संभावना न रखने

के लिये आगे (३.९.२६,४.२.४,४.४.२२ बृहदारण्यक) 'नेति नेतीत्यात्मा' यों आत्म-पद भी श्रुति रखेगी। 'नेति' में 'न' और 'इति' दो शब्द हैं।

'इति हेतु-प्रकार-स्वरूप-समाप्ति-विवक्षाऽनियम-शब्दप्रादुर्भाव-एवमर्थेषु' यह अव्ययकोश में कहा है। इससे अतिरिक्त 'वक्ष्यमाणपरामर्श' भी इति का अर्थ वहाँ सूचित है। इसी दृष्टि से यहाँ इति-शब्द है कि जो कुछ भी कहा-समझा जा सके उस सबको बटोर ले। इति अव्यय-पद है लेकिन इसका एक प्रयोग ऐसा है जैसा सर्वनामों का होता है : सर्वनाम हालाँकि उपस्थित का परामर्श (बोधन) करता है फिर भी किसी खास उपस्थित से ही उसका संबंध नहीं, जो कोई भी उपस्थित हो उसका परामर्श सर्वनाम कर सकता है यदि तात्पर्य संगत हो। इसी तरह यहाँ 'इति' उन सब चीज़ों को स्थूल-सूक्ष्म आदि सभी संभव विभाजनों वाले प्रपंचको सूचित करता है जो परमेश्वर नहीं, अनात्मा हैं। यही स्पष्ट करने के लिये इति का द्योत्य 'चिद्भास्य' (श्लो १०९) कहा अर्थात् चेतन का जो कुछ विषय हो वह सब यहाँ 'इति' अर्थात् अनात्मा विवक्षित है। न-कार तो निषेध में प्रसिद्ध ही है। चूँकि शास्त्राभिप्राय निषेध में है इसलिये इति को अनुवाद-कोटि में रखा। वाक्य में विधेय (बोध्य) एक ही होगा, बाकी सब उद्देश्य रहेंगे। जिसके बारे में बताया जाये वह उद्देश्य एवं उसके बारे में जो बताया जाये वह विधेय होता है। यहाँ इति-से कहे अनात्मा के बारे में बताया जा रहा है कि वह (आत्मा) नहीं है। अतः इति उद्देश्यभाग होने से अनुवादक है अर्थात् वाक्यतात्पर्य-विषय नहीं है वरन् अन्य प्रमाणों से पता जो अनात्मा उसका उल्लेख कर रहा है। वीप्सा अर्थात् दो बार या बार-बार कहकर हमेशा का नियम बताना जैसे 'जो-जो धुएँ वाला स्थान होता है वह-वह आग वाला होता है' में 'जो-जो' से भाव है कि नियमतः धुएँ-आगका संबंध है। ऐसे ही 'गाँव-गाँव में प्रसिद्ध है' अर्थात् हर गाँव में प्रसिद्ध है। इसी तरह यहाँ दो इति-शब्द रखकर सारे अनात्मा को कहा तथा दो नकारों से निषेध किया। दो बार मना करने पर मनाही पक्की समझी जाती है। दो गाँठें लग जायें तो गाँठ भी पक्की हो जाती है। दो निषेधों से स्पष्ट होता है कि वेद इस बारे में कोई ढील नहीं देता कि परमात्मा विषय नहीं है। किं च यह भी सूचित है कि साधक को जो-कुछ भी विषयतया उपस्थित हो, उसका वह निषेध करे। 'यद्यत् प्राप्तं तत्तद् निषिध्यते' ऐसा भाष्य है। इसका वार्तिककार यहाँ तक भाव बताते हैं कि यह निषेध भी क्योंकि ज्ञेय है इसलिये 'इति'-कोटि का है अतः यह भी निवृत्त हो जाता है (२.३.१९५ आदि)। सर्वापहार व्यक्त करने के लिये यहाँ (श्लो. ११०) मूर्त्तादि सब विभाजन याद दिलाये, इन्हीं में प्रपंच बँटा

ii तत्रैव व्याख्यान्तरम्

अथवाऽत्रेति-शब्दौ द्वौ जीवेशोपाधिवाचिनौ।
नकाराभ्याम् उपाधी द्वौ निषिध्य ब्रह्म लक्ष्यते।।१११।।

है, इनके निषेध से सभी निषिद्ध हो गया। क्योंकि इसे 'आदेश' (उपदेश) कहा है इसलिये स्पष्ट है कि इससे परमात्मा का ज्ञान कराया जा रहा है; केवल मना नहीं कर रहे, सब-कुछ मना करने पर जो (मना करने वाला, मनाही को जानने वाला) बचा रहता है, जिसे मना किया ही नहीं जा सकता, उसे समझाया जा रहा है। अतः 'नेति' का मतलब यह नहीं कि 'परमात्मा के विषय में कुछ नहीं कह सकते' वरन् यह है कि जो अनात्मा नहीं वह परमात्मा है।।१०८-१०।।

'नेति नेति' के प्रसिद्ध अर्थ का वर्णन किया, अब एक वैकल्पिक अर्थ कहते हैं **अथवा इस वाक्य में इति-शब्द जीव और ईश्वर की उपाधियों के बोधक हैं एवं दोनों नकारों से दोनों उपाधियों का निषेधकर लक्षणा से परमेश्वर सूचित है।।१११।।** परब्रह्म में जीवभाव-ईश्वरभाव दोनों कल्पित हैं जिन्हें यहाँ निवृत्त किया। अहंकार (या अंतःकरण) जीव की उपाधि और माया ईश्वर की उपाधि है। ईश्वर माया से सृष्टि करता है तथा जीव अहम् के द्वारा उस संसार का भोग करता है। वस्तुएँ जीव नहीं बना सकता, ईश्वर ही बनाता है। ईश्वर की बनाई चीज़ों को ऊपर-नीचे करके भले ही जीव खुश हो ले कि कुछ बना लिया, लेकिन बनाया कुछ नहीं है। जीव वस्तुओं का भोग करता है अर्थात् राग-द्वेष के अनुसार उनसे सुख-दुःख पाता है क्योंकि तदनुकूल कर्म करता रहता है। भोग कराना ईश्वरता तथा भोग करना जीवरूपता हैं और ये दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं, सापेक्ष हैं अतएव सत्य नहीं, व्यावहारिकमात्र हैं। पिता, पुत्र आदि सापेक्ष धर्म हैं, व्यवहारसाधक हैं लेकिन ऐसा नहीं कि एक व्यक्ति किसी का बाप भी है, दूसरे का बेटा भी है, तीसरे का पति भी है, चौथे का भाई भी है तो उसे चार व्यक्ति ही मान लें, चौगुणा भोजन खिलायें! निरपेक्ष ही सत्य होता है और वह शुद्ध चेतन ही है। नेति में न-कार से उपाधियों का निषेध है और दोनों न-कारों की ब्रह्म में लक्षणा है अर्थात् न-कार शक्ति से निषेध करके लक्षणा से निषेध की अवधिरूप ब्रह्म को बताता है।।१११।।

निषेध-द्वारा लक्षणा उपपन्न करते हैं **जैसे प्रमाता आदि की इस (प्रसिद्ध) सत्ता में प्रत्यक् संवित् ही साक्षी है वैसे प्रमाता आदि के अभाव में वही साक्षी है अतः अभाव से उस संवित् की लक्षणा संगत है।।११२।।** साधारणतः भावात्मक

यथा मात्रादिसत्तेयं प्रत्यक्संवित्तिसाक्षिका।
प्रमात्रादेरभावोऽपि तथाऽतस्तेन लक्ष्यते।।११२।।

'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में लक्षणा का प्रयोग होने से वह प्रचलित है तो उसे दृष्टांत बनाकर समझा रहे हैं। तत् पद की शक्ति ईश्वर में, शुद्ध ब्रह्म ईश्वर का भासक, अतः तत्-पद की लक्षणा शुद्ध में; त्वं-पद की शक्ति प्रमाता में, शुद्ध ब्रह्म प्रमातृत्व का भासक, अतः त्वं-पद की लक्षणा शुद्ध में यही प्रसिद्ध ढंग है। वाच्य का लक्ष्य से भास्य-भासकभाव सम्बन्ध है जिससे लक्षणा संभव है। इसी प्रकार न-कार से लक्षणा हो जायेगी : 'न' ने प्रमाता आदि का अभाव बताया, वह अभाव प्रत्यक् संवित् से ही प्रकाशित है, उसी के साक्षी रहते अभाव की सिद्धि है। इसलिये भास्य-भासकभाव तुल्य होने से लक्षणा संभव है। लक्षणाबीज भी है : 'आदेश' से प्रारंभ किया अतः निषेधमात्र में पर्यवसान अनुपपन्न है, शून्यता भी अनुपपन्न है, मुच्यमान न रहने पर पुरुषार्थता भी अनुपपन्न है इत्यादि। कुछ वेदान्तविचारक, अभाव से चेतन का कोई संबंध नहीं क्योंकि भाववस्तुएँ परस्पर ही सम्बद्ध हो सकती हैं ऐसा मानते हैं अतः अभाव रहने पर भी द्वैतापादक नहीं यों भावाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। लेकिन भाष्यादिकार साफ समझाते हैं कि भाव की तरह अभाव भी साक्षी से प्रकाशित होने पर ही सिद्ध है अन्यथा अभाव है यही अमान्य होगा! अतः ब्रह्म से जैसा सम्बन्ध भाव का वैसा अभाव का; सच्चा संबंध तो दोनों का नहीं क्योंकि ब्रह्म से अन्य तो न भाव है, न अभाव है, किन्तु मिथ्या सम्बन्ध दोनों का है। अतः यदि अभाव को भी है मानें तो द्वैत होगा ही, इसलिये परमात्मा से अतिरिक्त भाव-अभाव कुछ नहीं है यही अद्वैत का सिद्धान्त है। सत् चिद् आदि शब्द भी वास्तव में लक्षणा से ही ब्रह्म को बताते हैं क्योंकि शक्ति से तो ये सविशेष सत्ता, ज्ञान आदि के वाचक हैं जबकि ब्रह्म ऐसी सत्ता या ऐसा ज्ञान है नहीं। सविशेष सत्ता अर्थात् घड़ा है, कपड़ा है आदि में प्रतीत होता है-पना। हम लोक में ऐसा ही है-पना पाते हैं, केवल 'है' तो लक्षणा से ही समझेंगे। ऐसे ही घटज्ञान, पटज्ञान आदि ही लोकसिद्ध हैं, केवल ज्ञान तो लक्षणा से ही समझ आयेगा। इसी प्रकार न-कार शक्ति से भले ही निषेध या अभाव बताये पर उसके प्रकाशक को, साक्षी को लक्षणा से कह देगा। अभाव का प्रकाशक साक्षी है, यह हमें स्वयं अनुभव भी होता है : सपने के पदार्थ जाग्रत् में नहीं हैं, जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न में नहीं थे, दोनों तरह के पदार्थ सुषुप्ति में नहीं थे, सुषुप्ति का आनंद दोनों अवस्थाओं में नहीं है यह सब साक्षी के आधार पर ही कहा-समझा जाता है, यदि अभाव उसी साक्षी का भास्य न हो जिसका साक्ष्य भाव होता है तो उक्त अनुभव

अतिरोहितसंवित्को दृष्टिमात्रात्मकत्वतः ।
विनैव वाचकं शब्दं बोध्यो लक्षणयाऽप्यतः ।।११३।।

ही संभव न रहें! इसलिये आचार्य ने यह यथानुभव बताया कि अभाव भी प्रत्यक् संवित् से प्रकाशित होने के कारण न-कार उस संवित् का लक्षणा से बोधक बन जाता है।।११२।।

प्रश्न होता है कि आत्मा है आखिर यही तो इसलिये मानते हैं कि प्रमाता को उसका पता है, अहं का भान है तभी आत्मा को है समझते हैं, अतः आत्मा से प्रमाता को भासित, प्रकाशित कहना कैसे ठीक होगा? और तब पूर्वोक्त संबंध भी सिद्ध न होने से लक्षणा कैसे होगी? किं च वाच्य ही तट आदि लक्ष्य भी बनता देखा जाता है, आत्मा वाच्य नहीं तो लक्ष्य कैसे? इन दोनों का उत्तर देते हैं **कभी न छिपने वाला जिसका ज्ञान ऐसी केवल दृष्टि जिसका स्वभाव है वह ब्रह्म, वाचक शब्द के बिना ही लक्षणा से पता चलता है। क्योंकि उसका कोई वाचक नहीं इसलिये भी उसे लक्षणा से ही समझ सकते हैं।।११३।।** यह जो प्रश्न था कि प्रमाता से आत्मा सिद्ध है, उसका जवाब दिया कि आत्मा है ही वह जिसका स्वभाव वह दृष्टि, अनुभूति है जिसका स्वरूप है कभी न छिपने वाला ज्ञान। तात्पर्य है कि वह स्वयंप्रकाश है अतः प्रमाता से भास्य नहीं हो सकता। अथवा, क्योंकि दृष्टिमात्रात्मक है इसलिये अतिरोहित-संवित्क है ऐसा अन्वय समझ सकते हैं, तात्पर्य एक ही है। कोई ऐसी स्थिति नहीं जब ज्ञानरूप ब्रह्म छिप जाये, क्योंकि उसी के प्रकाश से तो अन्य सब भाव-अभाव जाना जायेगा। जाग्रत्-स्वप्न में भावों को एवं सुषुप्ति में सबके अभाव को वही प्रकाशित कर रहा है। प्रमाता तो सुषुप्ति में नहीं रहता, यदि उसी से आत्मसिद्धि होती तो सुषुप्ति का अनुभव ही न होता! अतः आत्मा को प्रमातृभास्य मानना ग़लत है। इससे आत्मा को प्रमेय मानने वाले तार्किकों का भी निरास हो गया। 'एतदप्रमयम्' आदि श्रुति उसे अप्रमेय कह ही रही है। अतः प्रकाश्य-प्रकाशकभाव संबंध से ही त्वं आदि शब्द उसे लक्षित करते हैं तथा उसी संबंध से न-कार भी लक्षित करता है।

दूसरा भ्रम है कि दुनिया में सब वाच्य है, जो वाच्य नहीं उसे नैयायिक प्रामाणिक ही नहीं मानना चाहता! किन्तु लोक में ही ऐसी चीज़ें बहुतायत में मिलती हैं जो वाच्य नहीं, जिनका वाचक शब्द नहीं। उदाहरण प्रसिद्ध है कि घृत-दूध-द्राक्षा-शहद सभी मीठे तो हैं लेकिन सबका मिठास अलग-अलग है अतः सिर्फ 'मीठा' शब्द का अर्थ क्या, अर्थात् मीठा-शब्द किसका वाचक है, उसका वाच्य क्या है? घृत का मिठास ही वाच्य है यह

अनन्यानुभवेनैव भावाभावात्मभूमिषु।
प्रत्यक्कूटस्थमात्मानं पश्यन्नास्ते फलात्मना[1] ।।११४।।

नहीं कह सकते; ऐसे ही अन्य मिठासों में से भी किसी को नहीं कह सकते और इन सबसे अतिरिक्त कोई केवल मिठास कहीं मिलती नहीं, तब मीठा-का वाच्य क्या माना जाये? फिर भी मीठा-सुनकर समझ तो आती है कि क्या कहा जा रहा है अतः वह समझ लक्षणा से ही संभव है। अथवा, घी का मिठास इसका कोई वाचक शब्द नहीं, वाक्य से ही कह सकते हैं, लेकिन घी के मिठास को लक्षणा से समझते ही हैं, जब कहते हैं 'यह घी जैसा है' तो पता चलता है कि उसका कैसा स्वाद है, उस घृतस्वाद को लक्षणा से ही समझ पाते हैं। दोनों ही तरह से भाव है कि जिस अर्थ का वाचक न हो उसे भी लक्षणा से समझा जाता है। बल्कि यह एक बड़ा कारण है कि उसे लक्षणा से समझा जाये, अन्यथा वह समझा ही न जा पायेगा! 'अपि' से बताया कि एक तो यह हेतु है कि वह वाच्य बिना हुए लक्ष्य होता है क्योंकि वह स्वप्रकाश है। वाच्य इसीलिये होना पड़ता है कि उसका पता चल सके। जिसका पता हमेशा है, उसे वाच्य होने की क्या ज़रूरत! जो चीज़ हमेशा हमारे पास है, जिसे कभी किसी से मँगाना नहीं, ठीक कराना नहीं, किसी से उसके बारे में कहना-सुनना नहीं, उसका कोई नाम (वाचक) हो इसकी आवश्यकता ही कहाँ है! और पता वह सदा है, इसलिये उसमें लक्षणा संभव है। दूसरा हेतु हुआ कि अवाच्य होने से ही लक्ष्य है अन्यथा उसे समझा नहीं जा सकता। वस्तुतस्तु नैयायिक की शंकाओं का यहाँ समाधान है अतः साधारण दृष्टि से प्रश्न-उत्तर दोनों समझने कुछ कठिन हैं।।११३।।

स्वप्रकाशता ही स्पष्ट करते हैं क्योंकि यह न मानें तो अनन्त प्रकाशकों की कल्पना रूप अनवस्था होगी **जहाँ भावभूत वस्तुएँ विषय हैं ऐसी आत्मभूमिकाओं में अर्थात् जाग्रत् व स्वप्न में तथा जहाँ अभाव विषय है उस आत्मभूमिका में अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में 'अनन्यानुभव' के रूपमें उपस्थित प्रत्यग्भूत कूटस्थ आत्मा को वह स्वयं ही चिद्-एकरस रूप से देखते हुए रहता है।।११४।।** (वार्तिक (२.१.२२७) में 'प्रत्यक्कूटस्थ आत्मानं' पाठ है जिससे 'पश्यन्नास्ते' ठीक से अन्वित होता है।) 'भावाभावात्मभूमिषु' से सामान्य भावविषय और अभावविषय भी समझ सकते हैं, भावों के भेद से बहुवचन भी संगत है। लेकिन 'आत्म'-शब्द के स्वारस्य

---

[1] 'फलात्मतः' इति सारे पाठः 'चिदेकरसरूपेण' इति तद्व्याख्या।

अतो मात्रादि सम्भेदो यत्र यत्र निवर्तते ।
तत्र तत्रैकलः[१] प्रत्यक् स्वमहिम्नैव सिद्ध्यति ।।११५।।

से अवस्थाओं का उल्लेख स्वरसतर प्रतीत होता है। स्वप्रकाश में ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का भेद नहीं इसलिये '(स्वयं) फलात्मना पश्यन्' कहा। देखने वाला, दीखने वाला और देखना सब एक ही है। उसी को 'अनन्यानुभव' कहा अर्थात् उसका अनुभव उसके निज स्वरूप से अतिरिक्त कुछ नहीं है। तात्पर्य है कि मन भी जानता है, आत्मा भी जानता है। लेकिन मन का जानना अर्थात् मन में होने वाला ज्ञान, मन से अलग है, जबकि आत्मा का जानना अर्थात् आत्मा को जो ज्ञान है वह आत्मा से अलग नहीं है। जैसे दर्पण की रोशनी दर्पण से अलग है, सूर्य की रोशनी सूर्य से अलग नहीं या भुजिया की नमकीनता उससे अलग है पर नमक की नमकीनता नमक से अलग नहीं वैसे मन में होने वाला अनुभव मन से अलग है पर आत्मा से अनुभव अलग नहीं है। इसी अनन्यानुभव को फल शब्द से भी बताया। सिद्धान्तबिंदु प्रथमश्लोक व्याख्या में मधुसूदन स्वामी ने 'प्रमेयं तु विषयगतं ब्रह्मचैतन्यमेव अज्ञातं, तदेव ज्ञातं सत् फलम्' यों अभिव्यक्त आत्मा को ही फल कहा है। स्वयं पंचपादिक में (पृ.२०१) भी 'विषयानुभवसंशब्दितो विषयस्थाऽपरोक्षैकरसः फलम्' कहा है। 'फलात्मना' से सूचित किया कि 'पश्यन्' अर्थात् देखने से जो होता है वह भी आत्मा ही है। गीताभाष्य (१३.१७) में यह बताया है 'ज्ञेयमेव ज्ञातं सज्ज्ञानफलम् इति ज्ञानगम्यम् उच्यते। ज्ञायमानं तु ज्ञेयम् ।' ।।११४।।

यद्यपि आत्मा सदा स्वप्रकाश से ही प्रकाशमान है तथापि उसकी स्वप्रकाशता अकेले में स्पष्ट होती है यह बताते हैं **इसलिये जहाँ-जहाँ प्रमाता आदि का सम्बन्ध हट जाता है वहाँ-वहाँ अकेला रहा प्रत्यगात्मा अपनी महिमा से ही सिद्ध होता है ।।११५।।** प्रमाता एवं 'आदि' अर्थात् प्रमाण, इनके रहते लगता है मानो आत्मा इनके कारण पता चल रहा होगा। जब सुषुप्ति - समाधि में प्रमाता आदि रह नहीं जाते तब भी क्योंकि आत्मभान कायम रहता है इसलिये समझ आता है कि उसका पता किसी और से नहीं चलता, खुद वही इसके लिये पर्याप्त है कि उसका भी पता चले। वर्तमान में हमें उसका पता नहीं इसका कारण अज्ञान है, न कि ब्रह्म की अस्वप्रकाशता। इसी दृष्टि से 'अविद्यानिवृत्ति के लिये ही प्रयास कर्त्तव्य है, विद्यालाभ के लिये नहीं' इत्यादि आचार्यों का कथन प्रसिद्ध है।।११५।।

---

[१] 'तत्रैककः' इति प्रायो मुद्रितम्। एकल इति सारे।

एतद् वस्तु स्वतः सिद्धं प्रमात्राद्यनपेक्षतः ।
सर्वस्यैव ततः सिद्धेः कथं सिद्ध्येत् तदन्यतः । ।११६ । ।

उपसंहारः

तदित्थं नेति नेतीति वाक्यं ब्रह्मात्मबोधकम् ।
जीवेशोपाधिनिह्नुत्या लक्ष्याऽखण्डावसानतः । ।११७ । ।
इत्येवमनिदंरूपं ब्रह्मणः प्रतिपादितम् ।
निर्नाम्नस्तस्य नामैतत् सत्यसत्यम् इति श्रुतम् । ।११८ । ।
सच्च त्यच्चेति सत्याख्याः प्राणास्ते ब्रह्मणात्मना ।
आत्मवन्तस्ततो ब्रह्म सत्यसत्यम् इतीरितम् । ।११६ । ।

उक्त वक्तव्य का समापन करते हैं **प्रमाता आदि की ज़रूरत के बिना यह आत्मवस्तु खुद ही भासमान है। सभी कुछ उस आत्मा से प्रकाशित है अतः अन्य किसी से वह प्रकाशित हो यह कैसे संभव है! । ।११६ । ।** जैसे अन्य चीज़ें चीनी से मीठी होती हैं, वह चीनी किसी और से मीठी नहीं, खुद ही मीठी है, वैसे आत्मा अन्य से नहीं स्वयं ही ज्ञान है, बल्कि अन्यों को ज्ञान से वही संपन्न करता है। ।११६ । ।

'नेति नेति' की श्लो.१११ से शुरू की गयी व्याख्या का उपसंहार करते हैं **इस प्रकार 'नेति नेति' यह वाक्य जीव और ईश्वर की उपाधियों का बाध कर लक्ष्यभूत अखण्ड वस्तु में पर्यवसित होने से ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मा का बोध कराता है। ।११७ । ।** इति-शब्दों से उपाधियों को कहकर 'न' से उनका निषेध करता है किंतु 'आदेश' से उपक्रम के अनुरोध से निषेधमात्र में न रुककर स्वप्रकाश को लक्षणा से बताया है यह नेति नेति वाक्य के बोधन का ढंग इस विकल्प में समझाया। ।११७ । ।

ब्राह्मण-समाप्ति में श्रुति कहती है 'अथ नामधेयं सत्त्यस्य सत्यम् इति। प्राणा वै सत्त्यं, तेषामेष सत्यम्' कि अब परमात्मा का नाम बताते हैं 'सत्त्य का सत्य' यह उसका नाम है। प्राण ही (व्यावहारिक) सत्य हैं, उनका यह (ब्रह्म) सत्य है। इस हिस्से का संग्रह करते हैं **इस प्रकार ब्रह्म के अनिदं (गैर-यह अर्थात् प्रत्यक्) रूप का प्रतिपादन हुआ। बिना नाम वाले उस ब्रह्म का 'सत्त्यसत्य' यह नाम श्रुतिसिद्ध है। ।११८ । । सत् और त्यत् के मिले-जुले रूप वाले होने से प्राणों का नाम है सत्त्य। उन प्राणों को सात्मक (सस्वरूप) बनाने वाला ब्रह्मरूप आत्मा ही है अतः उसे 'सत्यसत्य' ऐसा कहा गया है। ।११६ । ।** इदम्बुद्धिविषय को मूर्त्त अतः प्रत्यग्वस्तु

अजातशत्रुर्यां विद्यां ब्राह्मणैस्त्रिभिरुक्तवान्।
तद्व्याख्यानेन सन्तुष्याद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ।।१२०।।

।।इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशेऽजातशत्रुविद्याप्रकाशो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।

को अमूर्त्त मानकर 'आदेश' द्वारा अमूर्त का कथन है ऐसा श्लो १०७ में कह आये हैं। वह ब्रह्म सचमुच किसी नाम से सम्बद्ध नहीं कि कोई शब्द उससे शक्ति-संबंध से जुड़ा हो क्योंकि वह शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्तों से रहित है एवं अतीन्द्रिय, अव्यवहार्य है। फिर भी कथंचित् उसका बोध कराने वाला होने से 'सत्य का सत्य' इस (समास) को उसका नाम समझा जाये यह श्रुति ने बताया। इस पर विचार करने से परमात्मा समझ आता है, इसी से 'नाम' कह दिया। विचार का तरीका स्वयं श्रुति ने बताया कि पहले वाले सत्त्य-शब्द से प्राणों को समझना है क्योंकि प्राण (इंद्रियाँ) सत् (पृथ्वी-जल-तेज) और त्यत् (वायु-आकाश) के सम्मिश्रित रूप हैं। उन प्राणों की भी वास्तविकता परमात्मा ही है, उसी से सत्ता-स्फूर्ति पाने के कारण वे प्रतीयमान, सत्तावान् हैं। 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्' से छांदोग्यादि में यह समझा भी चुके हैं। क्योंकि सत्त्यभूत प्राणों को सत्यता प्रदान करने वाला है इसलिये परमेश्वर सत्य-सत्य इस समास से अथवा 'सत्यस्य सत्यम्' इस वाक्य के कहा जाता है। कहा लेकिन लक्षणा से जाता है यह पूर्वोक्त विचार में स्पष्ट हो चुका है अतः उसे वाच्य यहाँ नहीं बता रहे। वार्तिक में इस ब्राह्मण का अंतिम श्लोक है 'लक्षयेद्, नाञ्जसा वक्ति परं ब्रह्म कथंचन। शब्दप्रवृत्तिहेतूनां साक्षाद् ब्रह्मण्यसम्भवात्।।' ।।११८-१९।।

चौदहवाँ अध्याय समाप्त करते हैं **अजातशत्रु ने तीन ब्राह्मणों से जिस विद्या का उपदेश दिया, उसके इस व्याख्यान से श्रीविद्यातीर्थरूप महेश्वर संतुष्ट हों।।१२०।।** बृहदारण्यक के द्वितीय अध्याय के तीन ब्राह्मणों में आई इस विद्या का इस अध्याय में स्पष्टीकरण किया गया। आगे उपनिषत् के द्वितीयाध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण का विचार चलेगा। आचार्य अपने इस व्याख्या-प्रयास को शिवरूप गुरु को ही अर्पित करते हैं क्योंकि शिव का संतोष ही जीव का उद्देश्य है, 'यत् कर्माचरितं मया च भवतः प्रीत्यै भवत्येव तत्' (शिवानंदलहरी ६६) ऐसा आचार्यवचन प्रसिद्ध है।।१२०।।

।। चौदहवाँ अध्याय ।।

ॐ

अनुभूतिप्रकाशे

मैत्रेयीविद्याप्रकाशः

पञ्चदशोऽध्यायः

मैत्रेयीविद्याप्रकाश : पन्द्रहवाँ अध्याय

श्रौत साहित्य में ऋषिवर याज्ञवल्क्य का अप्रतिम स्थान है। तपोबल से साक्षात् भगवान् सूर्यनारायण से उन्होंने सम्पूर्ण शुक्ल यजुर्वेद का ग्रहण किया। यद्यपि पूर्व में पिप्पलाद से वे अध्ययन कर चुके थे तथापि एकदा पिप्पलाद को निमित्त-विशेष से ब्रह्महत्या का दोष प्राप्त हुआ जिसे उन्होंने अनेक शिष्यों में बाँटना चाहा ताकि सब मिल-जुलकर उसका प्रायश्चित्त कर लें किन्तु याज्ञवल्क्य ने अकेले ही उस दोष को ग्रहण करने की हिम्मत दिखाई तो गुरु को लगा कि याज्ञवल्क्य उनका अपमान कर रहे हैं कि 'जो प्रायश्चित्त आप नहीं कर सकते, इतनों का सहारा माँग रहे हैं, वह मैं अकेला कर सकता हूँ'! और इससे क्रुद्ध हो उन्होंने याज्ञवल्क्य से पढ़ी हुई विद्या लौटाने को कहा जिसे याज्ञवल्क्य ने वमन कर बाहर कर दिया! तदनंतर मानव को गुरु न बनाने का संकल्प कर तपस्या से याज्ञवल्क्य ने सूर्य को प्रसन्न किया तथा उनसे पढ़ने की इच्छा व्यक्त की। आदित्य ने कहा कि निरन्तर भ्रमणशील होने से उनसे पढ़ पाना दुष्कर है, लेकिन याज्ञवल्क्य सूर्य के सामने, सूर्य की ओर ही मुख किये रहते, सूर्य की गति की दिशा में (अर्थात् अपनी पीठ की ओर) चलते हुए पढ़ने को तैयार हो गये! इतने घोर तप से विद्या ग्रहण करने वाले अत्यंत योग्य याज्ञवल्क्य पर सूर्य अतिशय प्रसन्न हुए एवं उन्होंने वरदान दिया कि याज्ञवल्क्य का अपमान करने वाले को वे स्वयं दण्ड देंगे। याज्ञवल्क्य विद्यार्जन के तत्काल बाद परमात्मनिष्ठा के यत्न में संलग्न रहना चाहते थे किंतु सूर्य की इच्छा थी कि वे ग्रहण की विद्या की परंपरा स्थापित करें अतः उनके निर्देशानुसार याज्ञवल्क्य ने कर्म एवं उपासना का भी मार्ग स्थापित करने के लिये पहले गृहस्थ आश्रम में प्रवेश किया तथा विस्तृत गुरुकुल स्थापित कर असंख्य शिष्य तैयार किये एवं सूर्य से प्राप्त विद्या का प्रचय-गमन सुनिश्चित किया। समस्त उत्तर भारत में वर्तमान सारा कर्मकाण्ड प्रधानतः उन्हीं परंपराओं से चल रहा है जो याज्ञवल्क्य द्वारा स्थापित हैं। दीर्घकाल तक यों प्रवृत्ति

भूमिका

मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्यो यां चतुर्थब्राह्मणेऽब्रवीत्।
ससाधनां ब्रह्मविद्यां विस्पष्टं व्याकरोमि ताम्।।१।।
वित्तस्य कर्महेतुत्वात् तत्त्यागो ज्ञानसाधनम्।
इति दर्शयितुं प्राह श्रुतिराख्यायिकां शुभाम्।।२।।

मार्ग को प्रशस्त करने के पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि अब संन्यास ग्रहण कर परमात्मनिष्ठा में प्रतिष्ठित होना चाहिये। उनकी दो पत्नियाँ थीं कात्यायनी और मैत्रेयी। उन्होंने अपनी सम्पत्ति दोनों में बाँटनी चाही। कात्यायनी ने तो स्वीकार कर लिया लेकिन मैत्रेयी विदुषी थी अतः उसने कहा कि 'इस धन में कोई सार होता तो आप ही क्यों इसे छोड़कर जाते? आप जो धन साथ ले जा रहे हैं, जिसे आप सारिष्ठ जानते हैं, वह मुझे दीजिये। जिससे मैं अमर न हो पाऊँ उस लौकिक धन से मैं क्या करूँगी?' इस प्रकार ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा सुनकर प्रसन्न हुए याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो उपदेश दिया उसे इस पंद्रहवें अध्याय में समझायेंगे।

अध्याय-प्रतिपाद्य की प्रतिज्ञा करते हैं **बृहदारण्यकोपनिषत् के द्वितीयाध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने साधनों के उपदेश सहित जो ब्रह्मविद्या सुनाई, उसे साफ-साफ समझायेंगे।।१।।** बृहदारण्यक में २.४ एवं ४.५ यों दो जगह याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद है जिनमें तत्त्वतः अंतर नहीं, यत्किंचित् शब्दभेद है। प्रथम २.४ का प्रसंग आने से यहाँ 'चतुर्थ ब्राह्मणे' कहा लेकिन ४.५ का भी वक्तव्य इस व्याख्यान में संगृहीत ही है।।१।।

कथोपन्यास का प्रयोजन दिखाते हैं **धन कर्म का साधन है अतः उसका त्याग ज्ञान का साधन है यह व्यक्त करने के लिये श्रुति ने शुभ कथा सुनायी।।२।।** निष्फल उपदेश वेद में नहीं होता अतः उसमें आयी कहानी भी कोई सफल बोध कराती है। इस कथा का संदेश है कि धन तो कर्म का ही साधन है जिससे लोक-परलोक ही मिलेंगे, मोक्ष के लिये आवश्यक ज्ञान के प्रति धनत्याग ही उपाय है! धन से कर्म करके चित्तशुद्ध होने पर धन त्यागकर ज्ञान-साधनों के अनुष्ठान से ही ज्ञानलाभ होता है, यह भाव है। 'तत्त्यागः' से धन और कर्म दोनों ग्रहण करने चाहिये अर्थात् क्योंकि कर्मत्याग करना है इसलिये धनत्याग कर्त्तव्य है। 'धन' से दैव-मानुष दोनों समझने चाहिये क्योंकि उपासना व कर्म दोनों का त्याग ज़रूरी होता है। उपासनात्मक विद्या जैसे धन है वैसे लौकिक भी नाना विद्याएँ विविध ख्याति-लाभादि का हेतु होने से धन ही हैं अतः

एषणात्रयसंन्यासो वित्तत्यागेन लक्ष्यते।
ज्ञानस्य हेतुः संन्यास इति शास्त्रेषु डिण्डिमः।।३।।
द्विविधः कर्मसन्न्यासः फलसाधनभेदतः।
फलाय ज्ञानिनस्त्यागो जिज्ञासोर्ज्ञानसिद्धये।।४।।
ज्ञानित्वाद् याज्ञवल्क्योऽयं जीवन्मुक्तिफलेच्छया।
चित्तविक्षेपबहुलं गार्हस्थ्यं त्यक्तुमिच्छति।।५।।

त्याज्य हैं। पत्नी भी कर्मादिसाधन होने से धन अतः ज्ञाननिष्ठा के लिये त्याज्य है। यही बात पुत्र पर लागू होती है। वित्त से कर्म, कर्म से वित्तयह चक्र-सा है, इस चक्र से निकलने के लिये वित्तत्याग चाहिये। अत एव जब मैत्रेयी ने पूछा 'क्या मैं धन से अमर हो जाऊँगी?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा 'धनसे तो उसकी आशा भी नहीं!' इस सब विषय को सरस ढंग से बताने के कारण यह कथा शुभ है।।२।।

धनत्याग का भी पर्यवसित अर्थ बताते हैं **धनत्याग कहकर लक्षणा द्वारा तीनों एषणाओं का संन्यास बताया जा रहा है। शास्त्रों में यह डुगडुगी पीटी हुई है कि ज्ञान का हेतु संन्यास है।।३।।** बृ.३.५.१ में 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय' कहा है, ये तीन प्रधान एषणा, कामनाएँ हैं, सारी बाकी कामनाओं को इन्हीं कोटियों में कहीं-न-कहीं रखा जा सकता है। इहलोक की इच्छाएँ पुत्र से, परलोक की इच्छाएँ लोक से तथा साधनों की इच्छाएँ वित्त से उपलक्षित हैं। प्रकृत स्थल में वित्त से तीनों एषणाएँ उपलक्षित हैं। इन सभी दिशाओं में बिखरी अपनी कामनाओं को समेटे बिना मुमुक्षा स्थिर नहीं होती। ज्ञान यद्यपि प्रमाण से होगा तथापि संन्यास साधनचतुष्टय में ही परिगणित होने से अधिकारिविशेषण बनकर ज्ञान का हेतु बनता है। निष्ठा का तो वह अवश्य हेतु है ही।।३।।

याज्ञवल्क्य संन्यास से पूर्व ही मैत्रेयी को उपदेश देने वाले हैं जिसकी सार्थकता उन्हें तत्त्वज्ञ स्वीकारने पर है, यदि संन्यास ज्ञान का हेतु है तो याज्ञवल्क्य को ज्ञानी कैसे मानें, और तब उनका उपदेश कैसे संगत है? इस समस्या के समाधानार्थ संन्यास-द्वैविध्य बताकर याज्ञवल्क्य का संन्यास उपपन्न करते हैं **फलभूत और साधनरूप इस भेद से कर्मों का संन्यास दो तरह का है। ज्ञानी का संन्यास फल के लिये एवं जिज्ञासु का संन्यास ज्ञान-प्राप्ति के लिये होता है।।४।। क्योंकि ज्ञानी हैं इसलिये ये याज्ञवल्क्य जीवन्मुक्तिरूप फल की इच्छा से, जहाँ मन में बिखराव बहुतायत में होता है उस गृहस्थाश्रम को छोड़ना चाहते हैं।।५।।** ज्ञान का फल

निदिध्यासस्वेति शब्दात् सर्वत्यागफलं जगौ।
न ह्यन्यचिन्ताम् अत्यक्त्वा निदिध्यासितुम् अर्हति।।६।।

है जीवन्मुक्ति का सुख लेना। कर्म में संलग्न रहते आत्मचिंतन का आनंद लिया नहीं जा सकता क्योंकि कर्म ध्यान आकृष्ट करता है और आत्मानन्द बिना उसपर एकाग्र हुए ग्रहण नहीं होता। अतः तत्त्ववेत्ता विद्वत्संन्यास इसीलिये करते हैं ताकि जीवन्मुक्ति का आनंद लें। दूसरा संन्यास है उस अज्ञानी का जो अन्य कुछ नहीं केवल आत्मज्ञान चाहता है। उसे उन साधनों का ही अनुष्ठान करना है जो ज्ञान के साधन हैं अतः ज्ञानविरोधी, विक्षेपक कर्मों का परित्याग उसके लिये भी ज़रूरी है। इसे विविदिषा-संन्यास कहते हैं। याज्ञवल्क्य ज्ञानी थे ही फिर भी संन्यास चाहते हैं तो फल के लिये ही। गृहस्थ रहते चित्त बिखरा ही रहेगा क्योंकि नाना आवश्यक कार्य उसे व्यस्त रखेंगे। पत्नी, बच्चे, पड़ौसी आदि सभी बहिर्मुखता के लिये दबाव बनाते हैं अतः तत्त्वज्ञान के लिये आवश्यक श्रवण-मनन में संलग्नता बनी नहीं रह पाती। अतः जिज्ञासा स्थित होने पर भी बहुतायत नहीं हो पाती। संन्यासी को श्रवणादि में तत्पर रहना सुकर है क्योंकि केवल अपनी ही आवश्यकता पूरी करनी पड़ती है, अन्य कोई दायित्व नहीं रह जाता। हालाँकि जनकादि गृहस्थ रहते ज्ञाननिष्ठ प्रसिद्ध हैं तथापि वे अपवाद ही हैं, साधारण नियम यही है कि जीवन्मुक्ति का सुख संन्यास की अपेक्षा रखता है। किं च, अपने लिये अनिवार्य न होने पर भी विद्वत्संन्यास की शास्त्रीय परंपरा उचित अधिकारियों के लिये स्थापित करने के लिये भी याज्ञवल्क्य का संन्यास उचित है।।४-५।।

याज्ञवल्क्य ने उपदेश प्रारंभ करते हुए कहा है 'व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्व' अर्थात् 'मेरे व्याख्यान पर ध्यान दो'। इसका भाव समझाते हैं **'निदिध्यासस्व' ('ध्यान दो') इस शब्द से सब छोड़ने का फल कहा क्योंकि अन्य चिन्ताएँ छोड़े बिना कोई निदिध्यासन नहीं कर सकता (ध्यान नहीं दे सकता)।।६।।** ध्यान देने के लिये, ध्यान से सुनने-समझने के लिये मन में चिन्ता न रहना ज़रूरी है। किसी भी बाह्य कार्य की चिंता रहते या आंतरिक राग-द्वेषादिप्रयुक्त चिंताएँ रहते ध्यान नहीं रखा जा सकता। छोटा-सा भी काम हो 'दूध चूल्हे पर चढा है, कहीं उफन न जाये', या छोटी-सी चिन्ता हो - 'बेटे को बुखार है, कहीं बड़ी बीमारी न हो', तो भी श्रुत-मत पर ध्यान नहीं टिक पाता। संन्यासी के सामने ये समस्याएँ होंगी नहीं अतः वह ध्यान दे लेगा। इससे सूचित है कि यदि संन्यासी भी अपना जीवन बहिर्मुखी बनाकर कार्यव्यस्त और चिंताग्रस्त रहेगा तो पुरुषार्थ से वंचित होगा ही। कर्मत्याग अपने-आप में ज्ञान नहीं पैदा करेगा, ध्यान देने की व्यवस्था द्वारा उपकार करेगा। सर्वथा एकाग्रता ही संन्यास का

निरन्तरं विचारो यः श्रुतार्थस्य गुरोर्मुखात्।
तद् निदिध्यासनं प्रोक्तं तच्चैकाग्र्येण लभ्यते।।७।।
अनात्मन्यरुचिश्चित्ते रुचिश्चात्मनि चेद् भवेत्।
पुण्यपुञ्जेन शुद्धं तच्चित्तम् ऐकाग्र्यम् अर्हति।।८।।

फल है। याज्ञवल्क्य ने उपदेश के प्रारंभ में ही 'निदिध्यासन करो' कहकर उसके लिये आवश्यक संन्यास का विधान कर दिया यह भाव है।।६।।

'ध्यै'-चिन्तार्थक धातु से बना होने के कारण निदिध्यासन शब्द ध्यान का भी बोधक है लेकिन उपदेशारंभ में याज्ञवल्क्य यों प्रसिद्ध ध्यान का विधान नहीं कर रहे वरन् तत्त्व हृदयंगम करने के लिये आवश्यक प्रमाण-प्रमेय सम्बंधी ऊहापोह को एकाग्रता से करने को कह रहे हैं यह समझाते हैं **गुरुमुख से सुने वेदान्त-तात्पर्य का जो लगातार विचार है वह निदिध्यासन कहा गया है और उसकी उपलब्धि का उपाय है एकाग्रता।।७।।** 'सुनना' अर्थात् निश्चय-पर्यन्त समझना। समझ पर निरंतर, अर्थात् विरोधी चिन्तन मध्य में न आने देकर, विचार अर्थात् युक्ति और अनुभूति से समर्थन को यहाँ निदिध्यासन कहा है। अनेकाग्रता अर्थात् अनात्मचिन्ता यों निरन्तर विचार नहीं रहने देती। लगातार एक बात का चिंतन चलता रहे तब बोध में दृढता आती है, जैसे लगातार जो बालक एक ही भाषा बोलता-सुनता-लिखता-पढ़ता है वह भाषा उसे दृढतापूर्वक आ जाती है जबकि जो अनेक भाषाओं का व्यवहार करता है उसे उनका वैसा दृढ बोध नहीं हो पाता। इसके लिये एकाग्रता ज़रूरी कही। 'एक' यह परमात्मा का नाम है। केवल परमात्मा ही हमारे 'आगे' अर्थात् उद्देश्य हो तब हम एकाग्र होंगे। जैसे धन पर एकाग्र व्यापारी करता चाहे बहुत-कुछ है, खाता-पीता आदि भी है, लेकिन उसका मन धनलाभ पर ही टिका रहता है, हानि की कीमत पर वह कोई भोग-कर्म आदि नहीं करता, भोजन भी टालकर धनलाभ के कार्य को प्राथमिकता देता है, वैसे परमात्मा ही इकलौता प्रधान रहे यह एकाग्रता यहाँ अभिप्रेत है।।७।।

उक्त एकाग्रता का उपाय बताते हैं **यदि अनेक पुण्य फलित होने से चित्त में अनात्मा के प्रति अरुचि एवं आत्मा में रुचि हो तभी वह शुद्ध चित्त एकाग्रता के योग्य होता है।।८।।** वैराग्य ही चित्तशुद्धि है। अनात्मा आकृष्ट न करे, अच्छा न लगे और साथ ही साथ आत्मा आकृष्ट करे, अच्छा लगे, तभी चित्त शुद्ध कहलाता है और तभी वह एकाग्र हो पाता है। आत्मरुचि होने से मुमुक्षु को 'निराशावादी' आदि नहीं कहा जा सकता, वह तो मोक्षरूप परमपुरुषार्थ के प्रति आशान्वित है। ऐसी शुद्धि जिस

मुख्याऽमुख्यप्रेम

शुद्ध्यङ्कुरितम्[1] ऐकाग्र्यं विवेकेनाभिवर्धयेत् ।
प्रियाऽप्रियविवेकोऽतो मैत्रेय्या उपदिश्यते ।।६ ।।

विवेक से मिलती है उसके योग्य मानस एवं सारा माहौल मिलता है जब अनेक पुण्य इकट्ठे फलने लगते हैं। पुण्य के बिना वास्तविक वैराग्य न होकर, झूठा ही वैराग्य होता है अर्थात् दुःख से ही बचना चाहते हैं, सुख के प्रति यत्किंचित् सद्भाव रहता है तथा आलस्य के प्रति भी रुझान हो जाता है। जैसे, अति परिश्रमी व्यक्ति कार्यपूर्णता पर पुनः कार्यलग्न होने की अभिलाषा नहीं रखता क्योंकि करने से तृप्त हो चुकता है, वैसे वास्तविक वैराग्य के लिये पुण्य एकत्र करने वाला भी पुनः विषयाकर्षण के लिये तैयार नहीं होता क्योंकि विषय-स्वभाव से पूर्णतः परिचित हो चुकता है। अनात्मा चाहे आपाततः सुख लगे तो भी उसकी ओर आकृष्ट न होना यह स्थिति पुण्यों के प्रभाव से ही मिलती है। साथ ही पुण्य का ही फल है कि तामसता में आकर्षण न होकर परमात्मा में आकर्षण होता है कि 'मुझे परमात्मा ही चाहिये' ।।८ ।।

मैत्रेयी को ध्यान से सुनने को कहकर याज्ञवल्क्य ने एकाएक महावाक्य तो सुनाया नहीं, किसके लिये सब प्रिय होता है इसका वर्णन किया; इसमें उनका अभिप्राय बताते हैं **अन्तःकरणशुद्धि से जो एकाग्रता अंकुरावस्था को प्राप्त होती है उसे विवेकद्धारा बढाना चाहिये यह स्पष्ट करने के लिये क्या प्रिय है, क्या अप्रिय है इसे पृथक् कर समझने के लिये कहा जा रहा है।।६।।** चित्तशुद्धि बीज है, एकाग्रता अंकुर है। यह अंकुर ही विविदिषा, मुमुक्षा आदि के रूप में भी समझा जाता है। यद्यपि लगता है कि यह भी एक इच्छा है तथापि यह लाभकारी इच्छा है! जो इच्छा न होना नुकसानदेह नहीं उसे पैदा करने की कोशिश नहीं की जाती लेकिन जो इच्छा फ़ायदेमन्द हो, जैसे भोजन की इच्छा, भूख वह न हो तो उसे पैदा करने की कोशिश भी की जाती है जैसे चूर्ण आदि का सेवन करते हैं। परमात्मा में रुचि न होना नुकसानदेह है क्योंकि तब प्राणी संसारचक्र में भटकता रहता है। अज्ञान व बहिर्मुखता रहते परमात्मरुचि नहीं होती, इसीलिये इसके उद्देश्य से पुण्यानुष्ठान चाहिये क्योंकि शास्त्र ने वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप आदि से विविदिषा-लाभ की संभावना बतायी है। रुचि होने पर ही परमात्मा पर चित्त एकाग्र होगा अन्यथा श्रवणादि में भी लगने पर मन में बिखराव

---

[1] शुद्ध्याङ्कुरितम् - इति सारे।

बना रहने से निश्चय होगा नहीं, क्षणिक हुआ भी तो टिकेगा नहीं। पुण्यवश एकाग्र होना यह अंकुरावस्था है। जैसे अंकुर को जल-हवा-धूप-आदि मिले तो वृक्षाकार में पनपेगा, अन्यथा सूख भी सकता है, वैसे परमात्मरुचि को विवेक का सहयोग मिले तो ज्ञानरूप में विकास होगा अन्यथा एकाग्रता पुनः हाथ से निकल जायेगी। विवेक अर्थात् वस्तु-स्वरूप की ठीक जानकारी। यदि मिला-जुला रूप ही पता है तो उन्हें अलग-अलग करके समझना विवेक है। शास्त्र कहीं कार्य-अकार्य का विवेक बताता है, कहीं ज्ञेय-अज्ञेय का, सत्य-असत्य का, ज्ञान-अज्ञान का अंतर समझाता है; यहाँ याज्ञवल्क्य प्रिय-अप्रिय का विवेक बतायेंगे ताकि आनन्द-अनानन्द का अंतर स्पष्ट होकर आत्मा का आनन्दस्वरूप समझ आये। मैत्रेयी ने जो दीर्घकाल तक पतिसेवा कर उन्हें संतुष्ट किया था जिस कारण उन्होंने कहा 'तू मुझे पहले ही प्रिय थी, आत्मजिज्ञासा-व्यक्त करने से और अधिक प्रिय हो गयी' उस अपने पत्नी-धर्मरूप पुण्य से उसका चित्त शुद्ध होने से ही उसे धन से आकर्षण नहीं हुआ। तभी उसकी चित्तवृत्ति आत्मरूप धन की ओर गयी। इस दशा में उसे विवेक बढाने की आवश्यकता है। अभी आत्मा प्रिय तो हुआ लेकिन अनात्मा भी प्रिय है, पति आदि के प्रति भी कुछ आकर्षण है ही। विवेक से अनात्म-प्रेम घटाते जाने पर आत्मा से ही पूर्ण प्रेम रह जायेगा। जिसमें रुचि नहीं, उसमें रुचि पैदा करने-बढाने के लिये यह किया जाता है कि जिस में रुचि है उससे उसे जोड़ दें। जैसे खिलौनों से जोड़ देने पर बच्चे गणित में रुचि ले लेते हैं या कड़वी दवा गुड़ में लपेट देने पर शौक से खायी जाती है। हमें वास्तव प्रेम आत्मा से है, जहाँ आत्मसंबंध हो वहाँ इसीलिये प्रेम हो जाता है अर्थात् अनात्मा से प्रेम इसीलिये है कि वहाँ थोड़ा-बहुत आत्मा है। न पहचानने से हमें लगता है कि अनात्मा प्रिय है अर्थात् प्रिय-अप्रिय में हमारा विवेक गड़बड़ा गया है, इसे ठीक करने के लिये याज्ञवल्क्य यहाँ मैत्रेयी को उपदेश दे रहे हैं। सचमुच आत्मा ही प्रिय है यह समझ आना इस विवेक का फल है। जो बिना किसी कारण अच्छा लगे वही प्रिय होता है। बिना कारण हमें सिर्फ़ खुद से प्रेम है, बाकी किसी से प्रेम इसलिये अर्थात् इस कारण से होता है कि उसका हमसे संबंध है। जैसे लगता है कि हमें रसगुल्ला प्रिय है। किंतु हमें दिखा-छुआ-सुँघाकर अगर रसगुल्ला हमारे विरोधी को खिलाते जाओ तो हमें उससे प्रेम नहीं वरन् उस से द्वेष ही होता है! रसगुल्ला प्रिय हो, तो जहाँ-कहीं हो प्रिय रहेगा, परंतु रहता नहीं। अतः वह प्रिय इसलिये है कि मुझसे सम्बद्ध है, वह मुझे खिलाया जाये तो प्रिय है। जैसे जिसमें चीनी डालें वह मीठा हो जाता है ऐसे जिससे आत्मा जुड़ जाता है वह प्रिय हो जाता है। यों आत्मा किसी के

पतिजायादिभोग्येषु भोक्तर्यात्मनि चेक्ष्यते।
प्रीतिस्तत्र क्व मुख्येयं कुत्राऽमुख्येति चिन्त्यताम्।।१०।।

लिये अर्थात् किसी अनात्मसम्बंध से प्रिय नहीं, स्वरूप से ही प्रिय है। अंकुर-दशा में इस ओर तो दृष्टि गयी कि आत्मा प्रिय है लेकिन अभी यह नहीं समझ आने से कि अनात्मा अप्रिय है, अनात्मा से सर्वथा विमुखता नहीं आयी। विवेक से पोषण मिलने पर बहिर्मुखता निवृत्त होकर आत्मैक-प्रवणता स्थिर होगी।।९।।

याज्ञवल्क्यने प्रवचन प्रारंभ किया 'न वा अरे! पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति'; उसमें कहा कि पति, पत्नी, पुत्र, धन, ब्रह्म (ब्राह्मणता), क्षत्र, लोक, देव, भूत (प्राणी) आदि सभी इनके लिये प्रिय नहीं होते वरन् आत्मा के लिये (अर्थात् अपने लिये) प्रिय होते हैं। इस भाग को समझाना शुरू करते हैं **पति, पत्नी आदि भोग्यों में तथा भोक्ता आत्मा में, दोनों में प्रेम होता है। विचारकर निर्णय यह किया जाये कि किसमें मुख्य (निष्कारण) प्रेम है, किसमें अमुख्य (सकारण, गौण) प्रेम है।।१०।।** अनुभवसिद्ध है कि भोग्य जड-चेतन विषय एवं जो हमारा भोक्ता-रूप, ये दोनों प्रिय हैं। रसगुल्ला प्रिय है तो जीभ भी प्रिय है! अब परीक्षा यह करनी है कि दोनों के प्रति जो प्रेम है उसमें से कौन-सा मुख्य (अकारण) और कौन-सा अमुख्य (सकारण, 'सशर्त', सापेक्ष) है। जैसे, रसगुल्ला और जीभ में से जीभ मुख्य है क्योंकि रसगुल्ला जीभ के लिये चाहिये, सिर्फ अल्मारी में रखने को नहीं। आगे जीभ भी अमुख्य हो जाती है क्योंकि मन के लिये जीभ प्रिय है, यदि मन खराब हो काम, क्रोध, शोक आदि से खिन्न हो और जीभ को रसगुल्ला याद आये तो और बुरी लगती है! शरीर रुग्ण हो पर जीभ चटोरी हो तो भी बुरी लगती है। फिर मन भी जब दुःखदायी हो जाता है तो बुरा लगता है, चाहते हैं कि किसी तरह वह नष्ट (अदर्शन-ग्रस्त) हो जाये ताकि 'मैं' चैन की नींद सोऊँ! यह जो 'मैं' है इससे कभी प्रेम कम नहीं होता अतः इसी से वस्तुतः मुख्य है और बाकी मन से लेकर रसगुल्ले तक सभी से इसी के लिये प्रेम है, उनसे प्रेम है बशर्ते वे इस 'मैं' को खुश करते हों, अन्यथा नहीं है। इससे पता चल जाता है कि मैं अर्थात् आत्मा ही वस्तुतः प्रिय है, अनात्मा नहीं।।१०।।

मुख्य प्रिय आत्मा ही है यह समझाते हैं **मैं हमेशा रहूँ ही, कभी ऐसा न हो कि मैं न रहूँ यों अकारण प्रेम आत्मा के प्रति सब प्राणियों में मिलता है।।११।।** 'अनौपाधिकी' अर्थात् उपाधि के बिना। उपाधि अर्थात् वस्तु-स्वरूप से अन्य

सदा भूयासमेवाऽहं मा न भूवं कदाचन।
इत्यनौपाधिकी प्रीतिः प्राणिनाम् आत्मनीक्ष्यते।।११।।
स्वसम्बन्धोपाधिनैव भोग्ये प्रीतिर्न तु स्वतः।
अन्यथा वैरिभोग्येऽपि भोग्यत्वात् प्रीतिरापतेत्।।१२।।

कोई विशेषता। आत्मा से प्रेम इसलिये नहीं कि उसमें कोई खासियत हो, बस इसलिये है कि वह आत्मा है! इसी को अकारण, अनौपाधिक प्रेम कहते हैं। प्रेम का रूप भी बता दिया - हमेशा रहने की अभिलाषा। रसगुल्ले तो ज़्यादा खाने पर लगता है 'अब और न खायें' और ज़बर्दस्ती खाने पड़ें तो बुरे लगते हैं, लेकिन 'अब 'मैं' न रहूँ' यह कभी नहीं लगता, शरीर मन आदि न रहें ऐसा लगने पर भी 'मैं' तो यही लगता है कि रहूँ ही। एक वृद्धा सदा कहती थी 'भगवान् मुझे उठा ले तो अच्छा'। एक दिन वह एक नन्हें बच्चे को गोद में लिये बैठी थी और खाट पर साँप आ गया। वह उस बच्चे को खाट पर ही छोड़कर उठ भागी! पूछने पर बोली 'तब वह सब कुछ न सूझा, बच्चा उठाने की सामर्थ्य है नहीं, अतः स्वयं को ही बचाने के लिये भागी।' अर्थात् 'मैं रहूँ ही' यह स्वाभाविक है। यही निरुपाधिक या मुख्य प्रेम है। देश-काल-मात्रा आदि किसी उपाधि के बिना स्वयं से प्रीति हमेशा रहती है। मनुष्य ही नहीं, कीट-पतंग तक में यह आत्मप्रेम है, वे भी स्वयं को कायम रखने में सचेष्ट रहते हैं। आत्मा से अन्य मन-इंद्रिय-शरीर भी तभी तक प्रिय रहते हैं जब तक आत्मा के सुख के हेतु बनें, जब वे आत्मा को दुःख देनें लगें तब उनसे भी प्रेम नहीं रह जाता। इस प्रकार मुख्य प्रेम कहाँ यह बताया।।११।।

आत्मा से अतिरिक्त में अमुख्य ही प्रेम है यह उपपन्न करते हैं **आत्म-सम्बन्धरूप उपाधि (कारण) से ही भोग्यों के प्रति प्रेम होता है, उक्त उपाधि के परामर्श के बिना भोग्यमात्र के प्रति नहीं। अन्यथा दुश्मन के भोग्य से भी प्रेम होना चाहिये!।।१२।।** आत्मा से अन्य जो भोग-विषय, भोग्य, अनात्मा, उनसे प्रेम होता तो है लेकिन तभी जब वे आत्मा से सम्बद्ध हों। आत्मसम्बन्धरूप उपाधि न हो, मैं से असम्बद्ध हो, तो भोग्य प्रिय नहीं लगता। अत एव दुश्मन का भोग्य, भले ही भोग्य बहुत अच्छा हो, फिर भी हमें प्रिय नहीं वरन् अप्रिय ही होता है। 'आत्म-सम्बन्ध' से वैसा सम्बंध विवक्षित है जो भोग्य को अनुकूल प्रतीत कराता है। प्रतिकूल लगता आत्मसम्बद्ध भी भोग्य अप्रिय है। अत एव जिसकी सौत हो उसे ही दुःख देती है, अन्यों को तो नहीं! पति को प्रिय भी लगती है, और लोग भी उससे खुश रह सकते हैं, केवल सौत को अप्रिय लगती है। वहाँ सम्बंध तो है लेकिन प्रातिकूल्य का है। अनुकूलता भी हमें स्वयं को लगे

अविचारेण पुत्रादौ या प्रीतिस्तां विचारतः ।
आत्मन्येवोपसंहृत्य चित्तैकाग्र्यं विवर्धयेत् । ।१३ । ।

तभी प्रेम होगा, किसी अन्य के अनुकूल भोग्य से हमें प्रेम नहीं होगा। इसलिये, मुख्य प्रिय आत्मा के सम्बन्ध-विशेष से ही अनात्मा से भी प्रेम अनुभव में आता है जो अमुख्य है। आगे विवेक करते जाना है कि जिस 'मैं' से मुख्य प्रेम है वह कौन है, क्या संघातरूप है या इसका साक्षी ही है। विचार से पता लगेगा कि साक्षी परमात्मा ही वास्तव में प्रिय है। ।१२ । ।

प्रेमविषयक विवेक मुख्य-अमुख्य प्रेम का भेद समझना क्या प्रयोजन सिद्ध करता है, यह बताते हैं **बिना विचार किये जो पुत्रादि से प्रेम है, उसे विचार द्वारा आत्मा में ही केंद्रित कर चित्त की एकाग्रता बढ़ानी चाहिये । ।१३ । ।** पुत्रादि भोग्य, अनात्मा से हमें प्रेम बिना विचारे ही होता है। लौकिक प्रेम होता ही बिना विचारे है, सोच-विचार कर किया जाये तो 'देने-लेने का सम्बंध' जैसी कोई व्यवस्था लगती है, प्रेम नहीं। विचार से उसी प्रेम को आत्मकेन्द्रित करना है। अभी प्रेम आत्मा पर ही स्थिर करना है। पुत्र से प्रेम पर विचार कर निर्णय करना है कि यह प्रेम वास्तव में पुत्र से नहीं, आत्मा से है। जैसे सब मिठाइयों में मिठास चीनी का ही है ऐसे कहीं लगे, प्रियता आत्मा की ही है। यह सावधानी रहने पर नाम-रूप-कर्म का महत्त्व समाप्त हो जाता है जिससे विक्षेपहेतु न रह जाने से चित्त एकाग्र हो जा सकता है। इस तरह के प्रसंगों में 'आत्मा' से देहादि नहीं समझने चाहिये, इनका साक्षी परमात्मा ही समझना चाहिये यह तो स्पष्ट ही है, पूर्वोत्तर प्रसंगों से भी निर्णीत है। यों विचार से समझ लेने पर ऐसा नहीं कि पुत्रादि को लगेगा कि हमें उनसे द्वेष है! फ़र्क हमारी समझ में रहेगा कि हम तब हमेशा जानेंगे कि हम पुत्रादि से नहीं वरन् आत्मा से प्रेम कर रहे हैं। इसलिये क्योंकि रहेगा प्रेम ही इसलिये उन्हें ग़लतफ़हमी बनी भी रह सकती है कि उन्हीं से प्रेम कर रहे हैं! परमात्मवेत्ता के व्यवहार से सभी को लगता है कि 'इन विद्वान् का हमसे प्रेम है' जबकि वस्तुतः उनका परमात्मा से ही प्रेम है। साधक जब तक प्रयासशील है तब तक तो पुत्रादि को लग भी सकता है कि उसका उनके प्रति प्रेम कम हो गया या नहीं रह गया, लेकिन जब सिद्धि-प्राप्ति हो जाती है तब ऐसा लगना प्रायः संभव नहीं यद्यपि किसी-किसी सिद्ध की अन्तर्मुखता से ऐसा अन्यों को प्रतीत हो तो भी कोई हानि नहीं। ।१३ । ।

उक्त प्रकार से मुख्य प्रिय बताकर याज्ञवल्क्य बोले 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' कि आत्मा ही दर्शनयोग्य है, उसे ही सुनना-सोचना चाहिये,

आत्मा द्रष्टव्यः

ऐकाग्र्यम् अचलं कृत्वा निदिध्यासनकारणम्।
आत्मा द्रष्टव्य इत्येतत् सूत्रं व्याख्यातुम् आददे।।१४।।

उसी पर ध्यान स्थिर करना चाहिये। इस प्रसंग का व्याख्यान प्रारंभ करते हैं **निदिध्यासन तभी हो सकता है जब एकाग्रता होइस ध्रुव सत्य का प्रतिपादन कर याज्ञवल्क्य ने 'आत्मा द्रष्टव्य है' इस सूत्र का उल्लेख किया ताकि इसे समझायें।।१४।।** मैत्रेयी से कहा था 'निदिध्यासस्व' तू निदिध्यासन कर। निदिध्यासन कैसे होता है? चित्त की एकाग्रता से। एकाग्रता कैसे होती है? हर चीज़ परमात्मा के लिये प्रिय है इस बात को समझने से जब सारा प्रेम परमात्मा की तरफ ही प्रवहित होने लगता है तभी उस पर एकाग्रता होती है। जितना प्रिय-विषयक विवेक बढ़ेगा उतनी परमात्मा में रुचि बढ़ेगी, उन्हीं में चित्त ज़्यादा लगेगा। जैसे धनप्रेमी अन्य भी व्यवहार करता है पर चित्त धन पर ही टिका रहता है, धनार्जन-अविरोधी ही कार्य करता है, तद्विरोधी कार्य नहीं, वैसे विवेकी भी व्यवहार कर सकता है पर चित्त मुख्य प्रिय परमात्मा पर ही टिकाये रखेगा, परमात्मनिष्ठा से अविरुद्ध व्यवहार उससे हो पायेंगे, विरुद्ध नहीं। काहे से प्रेम है इस बारे में विवेकी भूल नहीं करता। तभी गुरुमुख से सुने वेदान्तोपदेश पर निरंतर विचाररूप निदिध्यासन संभव होता है। 'अचलं कृत्वा' अर्थात् यह निर्विवाद स्थापित करके कि एकाग्रता निदिध्यासन-कारण है। अथवा 'निदिध्यासनकारणभूत एकाग्रता को स्थिर करके आत्मा का दर्शन करना चाहिये' इतना भाव सूत्र का विवक्षित है। पूर्वोक्त विवेक से बहिर्मुखता निवृत्त होने पर श्रवणादि संभव होंगे अन्यथा नहीं। आत्मप्रेम के बिना आत्मा पर ध्यान न टिकने से उसका स्वरूप समझ ही नहीं आयेगा। याज्ञवल्क्य ने आत्मदर्शन के लिये कहने से ही सूचित कर दिया कि अब तक जो समझ रहे हैं वह आत्मा का रूप नहीं है। अर्थात् उसके बारे में समग्रता से बोध होने से पूर्व ही उस पर एकाग्रता और प्रेम स्थिर करना ज़रूरी है। उपासनामार्ग में तो ध्येय समझकर ध्यान हो पाता है जबकि ज्ञानमार्ग में ध्यान होने पर समझ आती है। उपासना के लिये पहले समझो कि विष्णु चतुर्भुजादि कैसे-कैसे हैं तब ध्यान करो और यहाँ पहले ध्यान करके चित्त एकाग्र करो तब समझना शुरू होगा। समझ आने से पूर्व तक ही सब 'करना' है, समझ आते ही 'करना' छूट जाता है। आत्मा समझ आते ही बंधन समाप्त हो जाता है। यद्यपि श्रवण-मननोत्तर भी निदिध्यासन का स्थान है क्योंकि तीनों के संवलन से ही दृढ साक्षात्कार संभव है तथापि यहाँ भाव है कि परोक्ष बोध के लिये भी ज़रूरी है कि आत्मा

आहात्मशब्दः प्रत्यञ्चं तथा लोकेऽनुभूतितः ।
अनेनाऽत्राऽऽत्मशब्देन प्रमेयं निर्दिदिक्षितम् । ।१५ । ।
द्रष्टव्य इति निर्दिष्टा प्रमितिर्दृशिधातुना ।
अज्ञातज्ञापनं तव्यप्रत्ययेनाऽभिधीयते । ।१६ । ।

पर चित्त स्थिर हो। 'परोक्ष बोध' का मतलब है कि जिसमें व्यापकता का भान नहीं। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने समझाया कि विवेकपूर्वक प्रियरूप आत्मा पर चित्त स्थिर कर उसके स्वरूप को समझने का प्रयास कर्त्तव्य है। इस प्रसंग का यह 'विद्यासूत्र' है, इसी में निहित भावों का आगे उपनिषत् विस्तार करेगी। ।१४ । ।

आत्मा दर्शनयोग्य है इस श्रुतिवाक्य का अर्थ करते हैं **आत्मा-शब्द प्रत्यग् वस्तु का बोधक है क्योंकि लोक में यही अनुभव होता है (कि 'आत्मा' सुनकर हम 'मैं' को समझते हैं।) यहाँ आये इस आत्मा-शब्द से प्रमेय का निर्देश इष्ट है। ।१५ । ।** जो कभी विषय न बन सके, स्वयं से भेदेन जिसे न समझा जा सके वह प्रत्यक् कहलाता है। उसी को 'आत्मा'-शब्द कहता है। सनातन परंपरा ही विश्व में एकमात्र ऐसी है जो परमेश्वर को प्रत्यग्रूप बताती है। यहाँ 'द्रष्टव्य' से जिसके बारे में सही ज्ञान पाने के लिये कहा अर्थात् प्रमेय-रूप में जिसे अभिप्रेत किया वही आत्मा कहा गया। ।१५ । ।

'आत्मा'-शब्दार्थ बताकर 'द्रष्टव्य'-शब्दार्थ बताते हैं **'द्रष्टव्य' - इस शब्द में दृश-धातु से प्रमिति (प्रमा), तथा 'तव्य'-प्रत्यय से 'अज्ञात का ज्ञान कराना' कहा गया है। ।१६ । ।** द्रष्टव्य अर्थात् देखने योग्य, जिसे देखना चाहिये। अतः इसमें दो हिस्से हुए 'देखना' और 'चाहिये'। देखने से तात्पर्य है सही ज्ञान, भ्रम-संशय के रूप में जो देखना वह वास्तव में न देखना ही है। अतः दृश-धातु अर्थात् 'देखना' का अर्थ प्रमा है, ठीक ज्ञान है। हमें दूर से खम्भा पेड़ दीखता है तो जानकार कहता है 'पास जाकर देखने योग्य है, अभी नहीं दीख रहा' अर्थात् भ्रम को दीखना नहीं मानते। जब तक भ्रम है तब तक सच का अज्ञान ही है। उस अज्ञात को निरावृत करो यही यहाँ 'चाहिये' का तात्पर्य है। जैसे 'तुम्हें पेड़ देखना चाहिये' का अर्थ है कि पेड़ के बारे में (जिसे पेड़ समझ रहे हो उसके बारे में) जो तुम्हें अज्ञान है उसे दूर करो। अज्ञात वस्तु के विषय में जो अज्ञान, उसे हटाना यह 'चाहिये' का तात्पर्य हुआ। अभी हम आत्मा को ग़लत ढंग से जान रहे हैं जिसे हटाकर सही ढंग से जानने के लिये 'द्रष्टव्य' कहा है। कर्त्ता-भोक्ता समझ रहे हैं, यह ग़लत समझ है, सच्चिदानन्द समझना है। ।१६ । ।

अज्ञात आत्मा वेदान्तजन्यज्ञानेन मीयते।
इत्येष एव वाक्यार्थो नाऽप्रवृत्तप्रवर्तनम्।।१७।।
नन्वहम्प्रत्ययेनाऽऽत्मा वेदान्तश्रवणात् पुरा।
विज्ञात इति चेन्मैवं सार्वात्म्याऽनवबोधनात्।।१८।।
लिङ्गदेहपरिच्छिन्नरूपग्राहिण्यहंमतिः।
सार्वात्म्यम् आत्मनस्तत्त्वं तदज्ञातम् अहंधिया।।१६।।

'आत्मा द्रष्टव्यः' इन दोनों शब्दों का अर्थ बताकर पूरे वाक्य का भाव व्यक्त करते हैं **वेदान्तों से उत्पाद्य ज्ञान के द्वारा अज्ञात आत्मा ठीक-ठीक समझा जाता है यह इस वाक्य का अर्थ है। जो प्रवृत्त नहीं उसे प्रेरित करना प्रकृत वाक्य का अर्थ नहीं।।१७।।** 'चाहिये' से प्रायः कुछ करने में प्रेरित किया जाता है अतः स्पष्ट कर रहे हैं कि प्रकृत वाक्य ऐसा प्रेरक नहीं वरन् इस तथ्य का बोधक ही है कि वेदांतों से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। रूपादिहीन होने से इंद्रियों से अगम्य, अतः प्रत्यक्ष के अयोग्य आत्मा अनुमान के भी अयोग्य है, कारण कि प्रत्यक्षगृहीत व्याप्ति आदि के बल पर ही अनुमान हो पाता है। इसलिये वह केवल वेदान्तों से ही समझा जा सकता है, शब्दैकसमधिगम्य है। लोक में भी ऐसे तथ्य होते हैं : अमुक वृक्ष नीम का है यह पहली बार हम किसी के शब्द से, कहने से ही समझ पाते हैं, अन्य कोई साधन इस ज्ञान का है नहीं। वेदांतों से ही आत्मा की यथार्थता समझी जा सकती है इतना इस विद्यासूत्र ने कहा। इसके लिये करना हमें यही है कि चित्त को आत्मा पर केन्द्रित कर वेदांतों का श्रवण-मनन करें, इससे जो ज्ञान होगा वह स्वयमेव आत्मसम्बन्धी अज्ञान को निवृत्त करेगा, वह हमारे करने का कार्य नहीं, उसमें कर्त्ता स्वतंत्र होता भी नहीं, प्रमा (अज्ञाननिवृत्ति) प्रमाण पर निर्भर होती है।।१७।।

आत्मा अज्ञात है अतः द्रष्टव्य है यह कहा। किंतु आत्मा तो हमें मालूम ही है, अज्ञात कहाँ? यह प्रश्न उठाकर उत्तर देते हैं **वेदान्तों का श्रवण करने से पूर्व ही 'मैं'-अनुभव से आत्मा अनुभूत ही है तो अज्ञात कैसे? यह कथन ठीक नहीं क्योंकि आत्मवस्तु की सर्वात्मता का अनुभव नहीं है।।१८।। सूक्ष्म (तथा स्थूल) शरीर से सीमित रूप को ही 'मैं'-अनुभव ग्रहण करता है जबकि आत्मा की वास्तविकता सर्वात्मता है तथा वह 'मैं'-अनुभव से भी अज्ञात ही है।।१६।।** मैं-अनुभव आत्मविषयक होने पर भी उसके अवास्तविक रूप का ग्राहक है जैसे पेड़-अनुभव खंभे के अवास्तविक रूप का ग्राहक है। अतः मैं अनुभव अर्थात् परिच्छिन्न

सर्वासूपनिषत्स्वेतत् सार्वात्म्यं प्रतिपाद्यते।
कार्यज्ञेयसमाप्तिः स्यात् सार्वात्म्यस्याऽवबोधतः।।२०।।

आत्मा का ज्ञान ही वह भ्रम है जो सिद्ध करता है कि आत्मा वास्तव में अज्ञात है। सर्वात्मता अर्थात् व्यापक परिपूर्णता आत्मा का सच्चा रूप है। वह वेदांतजन्यबोध से पूर्व अज्ञात ही है। अभी हम आत्मा को देहपरिच्छिन्न ही समझते हैं, 'मैं'-से देवदत्त, काला, लम्बा आदि ही समझते हैं। कुछ विवेक हो तो सूक्ष्म से परिच्छिन्नपरलोक सम्बंधी समझ पाते हैं। किंतु अपरिच्छिन्न व्यापक वस्तु वह है, यह बोध नहीं होता। सुषुप्ति ही एक स्थान है जहाँ अज्ञानी को भी बिना देहद्वय के आत्मा अनुभव में आता है लेकिन मैं-अनुभूति उसी रूप को ग्रहण नहीं करती वरन् देहविशिष्ट (अहंकारविशिष्ट) को ग्रहण करती है। वैसे सुषुप्ति में भी सर्वात्मता नहीं पता चलती, अज्ञानवैशिष्ट्य ही रहता है, अतः उसका विचार कर लें तो भी आत्मा की सचाई अज्ञात ही रह जाती है। जैसे कुएँ के मेढक को कुएँ जितना ही सारा संसार लगता है ऐसे हमें मन-जितना ही आत्मा लगता है! समझ ही नहीं पाते कि मनुष्य ही नहीं कीट-पतंग-घास-झाड़ी तक सभी का आत्मा एक अखण्ड ही है! आत्मा तो सर्वात्मा है, एक-दो-लाख-करोड़ का ही तो आत्मा नहीं है, सभी का आत्मा है। अकृतश्रवण को 'मैं'-अनुभव से कभी ऐसा आत्मा नहीं समझ आता अतः उसे अज्ञात मानकर द्रष्टव्य कहना उचित है।।१८-१६।।

अज्ञात होने से ही इसका प्रतिपादन करने पर शास्त्र प्रमाण होता है यह बताते हैं **यह सर्वात्मता सभी उपनिषदों में समझायी गयी है। सर्वात्मता के साक्षात्कार से कार्य और ज्ञेय रह नहीं जाते।।२०।।** प्रमाण अज्ञात को ही विषय करता है। तात्पर्य भी इसलिये उसी में मान्य है जो अपूर्व अर्थात् अज्ञात है। उपनिषदें आत्मा की सर्वरूपता कहती हैं। यदि यह ज्ञात होता तो उपनिषदें कहती ही नहीं, कहीं एक-आध जगह प्रसंगवश अनुवाद करतीं भी तो सर्वत्र उपक्रमादिलिंगों समेत प्रतिपादित न करतीं, जबकि किया है, एक-दो उपनिषदों में ही नहीं, सभी उपनिषदों में इसी का खुलासा किया गया है। अतः इसे अज्ञात मानना ही ठीक है। ऐसा भी नहीं कि इसका ज्ञान निष्फल है। इस सर्वात्मता को जान लेने पर कुछ जानने लायक और करने लायक नहीं बचता। अभी तो हमें बहुत-कुछ जानने-करने लायक दीखता है अतः निश्चित है कि हम सर्वात्मता से बेखबर हैं। श्रवणादि से यह बोध हो जाने पर क्योंकि हम सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त हो जाते हैं इसलिये करने-जानने लायक न हम रहते हैं, न कोई कार्य या ज्ञेय रहता है! करने का

आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्त्या तत्त्वधीरुपदर्शिता।
श्रोतव्य इत्यादिना तु विचार उपदर्श्यते।।२१।।
श्रुत्यर्थाविष्कृतेर्हेतुः शब्दशक्तिविवेककृत्।
श्रुतिलिङ्गादिको न्यायः[1] प्रोक्तः श्रोतव्य इत्यतः।।२२।।

उत्पाद्य आदि चतुर्विध फल आत्मा से असंबद्ध है, जानने का विषय समझा जाता संसार मिथ्या है, अतः कार्य व ज्ञेय की समाप्ति संगत है। काशी में एक महात्मा थे। उनके पैर में घाव हो गया, कीड़े पड़ गये। वे इलाज कराते नहीं थे। कोई कीड़ा घाव से निकल कर बाहर गिर जाये तो 'बेचारा भूखा मरेगा' सोचकर पुनः घाव पर उसे रख देते थे! कीड़े का भी आत्मा वही जो मेरा आत्मा ऐसा समझने पर कार्य या ज्ञेय बचना संभव नहीं। एक ही देह-मन से संबद्ध स्वयं को जानने तक कार्य-ज्ञेय रहते हैं, सर्वात्मता के अनुभव के बाद नहीं। इस प्रकार अज्ञात होने से आत्मप्रतिपादन शास्त्र में है और सफल होने से भी है यह भाव है। शास्त्र-प्रामाण्य के लिये ये दोनों परिस्थितियाँ चाहिये।।२०।।

सूत्रव्याख्या पूरी कर 'श्रोतव्यः' का अर्थ बताते हैं **'आत्मा द्रष्टव्य है' इस कथन से तत्त्वज्ञान दिखाया। वह श्रोतव्य है इत्यादि से तो विचार दिखाया जा रहा है।।२१।।** 'द्रष्टव्यः' विधि नहीं यह बताया। 'श्रोतव्यः' आदि विधियाँ हैं अतः इनसे ज्ञान न कहकर ज्ञानोपायभूत विचार कहा जा रहा है। श्रवण-मनन तो विचार है ही, निदिध्यासन भी तर्क-विशेष होने से विचार कहा जाये तो ग़लत नहीं। संक्षेपशारीरक १.४८१ एवं सिद्धांतबिंदु श्लो. ८ में इस बारे में स्पष्टीकरण मिलता है। विचार करने का फल होगा कि हमें सर्वात्मता का साक्षात्कार हो जायेगा।।२१।।

साधारण 'श्रोतव्य' का अर्थ 'सुनना चाहिये' ही लगता है लेकिन यहाँ वही भाव नहीं, विचार का विधान है यह समझाते हैं **'श्रोतव्य' इस शब्द से वह विचार का तरीका कहा है जिसमें श्रुति-लिंग आदि का उपयोग किया जाता है ताकि वेदांतों में आये शब्दों का सही अर्थ पता चले एवं जिस (तरीके) से श्रुति के तात्पर्य अर्थ का प्रकाश होता है।।२२।।** 'श्रुतिलिंगादिको न्यायः शब्दशक्तिविवेककृत्' यह वार्तिक में (२.४.२१४) श्रवणका रूप कहा है जिसका शास्त्रप्रकाशिक (आनंदगिरीय) में अर्थ किया है 'श्रुत्यादिभिः शक्तितात्पर्यनिश्चायकैः न्यायैः ब्रह्मात्मनि वेदान्ततात्पर्यनिरूपणं श्रवणम् इत्यर्थः' अतः यहाँ 'न्यायः' का अभिप्राय उक्त निश्चयलाभार्थ किये विचार से

---

१. न्यायः = तर्कः द्र. विवरण २८६।

ही है। श्रुति का अखण्ड तात्पर्य समझ जैसे आये वह विचार का तरीका न्याय है। वाक्यार्थ समझने के लिये पदार्थ जानने जरूरी अतः वेदांतों में आये शब्दों की शक्ति किन अर्थों में है इसे समझना पड़ेगा। 'शक्ति' अर्थात् उन शब्दो में किन अर्थों को उपस्थापित करने की सामर्थ्य है, वह चाहे शक्तिरूप हो या लक्षणारूप हो। अत एव 'शक्तिविवेक' कहा; केवल शक्ति या रूढि से लब्ध अर्थ विवक्षित हो यह जरूरी नहीं अतः विवेकपूर्वक समझना पड़ेगा कि कहाँ क्या अर्थ अभिप्रेत है। इस कार्य में सहायतार्थ कुछ नियम निर्धारित हैं जिनके अनुसार वेदोक्त शब्दों के भाव समझ आते हैं। जैमिनि सूत्र ३.३.१४ में 'श्रुति' आदि छह का वर्णन है जिनसे पता चलता है कि वेदवाक्य का क्या भाव है। जैसे बारीक अक्षर पढ़ने हों तो रोशनी भी तेज़ चाहिये। तेज़ रोशनी अक्षरों में कोई विशेषता नहीं लाती लेकिन तेज़ रोशनी से उनका सही रूप प्रतीत हो जाता है, वैसे ही उक्त नियमों से निर्धारण करने पर वेदार्थ ठीक से प्रतीत हो जाता है, अन्यथा या प्रतीत नहीं होता, या ग़लत प्रतीत होता है। यद्यपि श्रुत्यादि जो मीमांसा में कहे वे अंगता के बोधनार्थ उपयुक्त हैं, शब्दार्थ निर्धारण में नहीं, तथापि तात्पर्य है कि जैसे सांगोपांग विधि के अर्थ को समझने में श्रुत्यादि सहायक हैं वैसे वेदान्तार्थ समझने में भी हैं। अत एव प्रथमा विभक्ति में ही तत्- त्वम का कथन अभेदार्थ पता चलता है। अजर-अमर आदि कहा होने से अर्थात् इस लिंग से समझ आता है कि शरीर आत्मा नहीं। 'बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यः' आदि वाक्य से पता चलता है कि ज्ञान ही कृतकृत्यता का हेतु है। यमराज का उपदेश किसके बारे में है इस निर्णय के लिये प्रकरण-प्रमाण का प्रयोग करना पड़ता है यह ब्रह्मसूत्र (१.४.६) आदि से स्पष्ट है। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः...श्रवणेन मत्या विज्ञानेन (बृ.२.४.५) इस वाक्य में स्थान-प्रमाण से निदिध्यासन का स्वरूप विज्ञान है यह निश्चित होता है। 'औपनिषदम्' समाख्या (नाम) से निर्धारित होता है कि अन्य किसी प्रमाण का अविषय परमात्मा ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य है। इस प्रकार उक्त न्याय के उपयोग से वेदान्तों में आये शब्दों के अभिप्रेत अर्थ समझना यह श्रवण कहा जा रहा है। 'श्रुत्यर्थाविष्कृतेः' में श्रुति मतलब वेद। 'श्रुतिलिंगादिकः' में श्रुति मतलब जो मीमांसकों द्वारा स्पष्टीकृत विधात्री (लिङादि), अभिधात्री (व्रीहि आदि) और विनियोक्त्री (विभक्त्यादि) भेद वाली अंगताबोधक है। अथवा 'श्रुतिलिङ्गादिकः' का अभिप्राय श्रुत्यर्थनिर्धारक उपक्रमादिलिंगों के विचारानुसार समझनायह श्रवण का अर्थ है। पंचदशी (७.१०१) में यही कहा है 'वेदान्तानाम् अशेषाणाम् आदिमध्यावसानतः। ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यम् इति धीः श्रवणं भवेत्।।' इसकी व्याख्या में 'उपक्रमोपसंहारादि-

अर्थाऽसम्भावनोच्छेदी तर्को मननमीरितम्।
वेदशास्त्राऽविरोध्यत्र तर्को ग्राह्यो न चेतरः।।२३।।
अपरायत्तबोधोऽत्र निदिध्यासनमुच्यते।
ध्यानशङ्कानिवृत्त्यर्थं विज्ञानेनेत्युदीरणात्।।२४।।

पर्यालोचनायां निश्चयः श्रवणम्' यह बताया है। पंचपादिका (वर्णक ६, पृ. ६५२) में 'श्रवणं नाम-आत्मावगतये वेदान्तवाक्यविचारः, शारीरकश्रवणं च' यह स्वरूप कहा है। विवरण में (वर्णक ८, पृ. ५७३ आदि) उपक्रमादि छह का कथन और तत्त्वदीपन में श्लोकात्मक संग्रह है।।२२।।

मनन-शब्द का तात्पर्य बताते हैं **वेदान्तों का अर्थ असम्भव हैइस भावना का उन्मूलन करने वाला तर्क मनन कहा गया है। इस प्रसंग में वेद-शास्त्र का अविरोधी ही तर्क समझना चाहिये, विरोधी नहीं।।२३।।** वेद का अद्वैतरूप अर्थ पता चलने पर भी हमारी अभी जो समझने-बूझने की पद्धति है उससे वह बेमेल लगने के कारण प्रतीत होता है कि वह अर्थ होना संभव नहीं। सर्वत्र एक आत्मा हैयह साधारण बुद्धि स्वीकारती नहीं। कपिल, कणाद आदि भी अनेक आत्मा ही मानते हैं। अतः तर्क के प्रयोग से समझना पड़ता है कि वेदोक्त अर्थ कैसे सम्भव है। हमें जो विरोध लगता है वह उपाधियों के बारे में है, न कि आत्मा के बारे मेंयह तर्क से, युक्ति-विचार से निर्धारित होता है। तर्क तो दुधारी तलवार-सा होने से वेदार्थ-विरोध भी कर सकता है अतः वैसे तर्क से बचने को कहा, वेदार्थ-उपपादक तर्क का ही अनुसन्धान करने को कहा। भाष्यादि एवं विविध प्रकरणों में यही तर्क समझाया गया है।।२३।।

निदिध्यासन-पद का अर्थ बताते हैं **यहाँ निदिध्यासन वह बोध कहा गया है जो किसी के पराधीन नहीं, क्योंकि 'यहाँ ध्यान कहा जा रहा होगा' यह शंका मिटाने के लिये श्रुति ने ही 'विज्ञान' शब्द से निदिध्यासन की व्याख्या कर दी है।।२४।।** श्रवण-मनन करके स्थिर ज्ञान होना यह निदिध्यासन है। श्रवण करने पर, मनन करने पर अद्वैत का निश्चययह परायत्त बोध है, श्रवण-मनन पर निर्भर बोध है। जब दृढता हो गयी तब श्रवण-मनन करें न करें, बोध कायम रहता है तब अपरायत्त, स्वतंत्र बोध है। यही विज्ञान शब्द से कहा जाता है। यहाँ ध्यानरूप निदिध्यासन विवक्षित नहीं यह सूचित करने के लिये इस वाक्य में श्रुति ने निदिध्यासन के लिये विज्ञान शब्द रखा। निदिध्यासन से तो ध्यान समझा जा भी सकता था लेकिन विज्ञान से ध्यान समझने की संभावना नहीं। प्रायः अविद्यमान, अननुभूयमान का चिंतन

द्रष्टव्य इति विज्ञानम् उद्दिश्य श्रवणं तथा।
मननं च विधायाऽथ विज्ञानमवधिं जगौ।।२५।।

आत्मधिया सर्वज्ञता

नन्वनात्मा न विज्ञात आत्मदर्शनमात्रतः।
ततोऽकृत्स्नत्वदोषश्चेद्, मैवं सर्वस्य वेदनात्।।२६।।
आत्मनो दर्शनेनेदं दृष्टं स्याद् अखिलं जगत्।
प्रत्यङ्मात्रैकयाथात्म्यात् कार्यकारणवस्तुनः।।२७।।

ध्यान कहलाता है। आत्मा विद्यमान, अनुभूयमान है तो इसका चिंतन, 'ऐसा ही है' यह निश्चय, ध्यान नहीं कहा जायेगा। ध्यान तो 'करने' के अधीन रहेगा लेकिन ज्ञान हो जाने पर स्वयं बना रहेगा, उसे रखने के लिये 'करना' कुछ नहीं पड़ेगा। वेदान्तों से इस विज्ञान की प्राप्ति हो सके इसके लिये ध्यान चाहिये, जिसे प्रारंभ में 'निदिध्यासस्व' कहा था।।२४।।

शंका होगी कि याज्ञवल्क्य ने आत्मा को पहले द्रष्टव्य तब श्रोतव्यादि कहा; द्रष्टव्य से उक्त दर्शन ही तो विज्ञान होगा; तब निदिध्यासन से कौन-सा विज्ञान बताया जा रहा है? इसका समाधान बताते हैं **'द्रष्टव्य' से विज्ञान को उद्देश्य बताकर उसके साधनभूत श्रवण और मनन की (श्रोतव्य-मन्तव्य से) विधिकर तब 'विज्ञान' से वह सीमा बतायी जब तक श्रवण-मनन करना है।।२५।।** जिसके लिये साधन करने हैं वही उद्देश्य और अवधि (सीमा) होगा अतः दर्शन और विज्ञान (अतः निदिध्यासन) एक ही हैं जो उचित है। जैसे ध्यान ध्येयभावप्राप्ति पर्यन्त कर्त्तव्य है, परलोक में फलने वाली उपासना आजीवन कर्त्तव्य है, वैसे श्रवणादि विज्ञानलाभ-पर्यन्त कर्त्तव्य है यह भाव है, अतः श्रवण-मनन की आवृत्ति तब तक करते ही रहना चाहिये जब तक साक्षात्कार न स्थिर हो जाये।।२५।।

याज्ञवल्क्य ने कहा 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' कि आत्मा के ही विज्ञान से यह सब कुछ जान लिया जाता है। इस पर प्रश्नोत्तर व्यक्त करते हैं **केवल आत्मा के विज्ञान से अनात्मा को जान नहीं लिया जायेगा, अतः 'इस सबकी' जानकारी तो नहीं हो पायेगी, फिर याज्ञवल्क्य ने 'सब जान लिया जाता है' कैसे कहा? उक्त प्रश्न ठीक नहीं क्योंकि सबका ज्ञान हो जाता है।।२६।। आत्मा के दर्शन से यह सारा जगत् देख लिया जाता है क्योंकि व्यक्त-अव्यक्त सभी वस्तुओं की यथार्थता सिर्फ प्रत्यगात्मा ही है।।२७।।**

कार्यात्मा कारणात्मा च द्वावात्मानौ परात्मनः।
प्रत्यग्याथात्म्यमोहोत्थौ मोहे नष्टे विनश्यतः।।२८।।
मोहतत्कार्ययोर्बाधे प्रत्यक् सर्वमितीर्यते।
अतः प्रतीचि विज्ञाते सुलभं सर्ववेदनम्।।२९।।

परात्मा (प्रत्यगात्मा) के दो रूप हैंकार्यरूप और कारणरूप। दोनों प्रत्यगात्मा की वास्तविकता के अज्ञान से उपजे हैं, अज्ञान मिटते ही समाप्त हो जाते हैं।।२८।। अज्ञान व उसके कार्यों का बाध हो चुकने पर प्रत्यगात्मा को ही 'सब कुछ' कहा जाता है अतः उसे जान लेने पर सब कुछ का ज्ञान सुलभ है।।२९।। साधारण लोग सर्वज्ञता से समझते हैं कि संसार की सब चीज़ों का ज्ञान हो जाये! अतः ब्रह्मज्ञ से आशा करते हैं कि उनकी खोयी भैंस की जानकारी देगा! अतः स्पष्ट किया कि जो वास्तव में है उसे जानना ही सर्वज्ञता है, संसार-भेद हैं नहीं तो उन्हें जानना सर्वज्ञ के लिये कैसे संभव है? उनके बारे में तो यही जानना है कि वे हैं ही नहीं। ब्रह्मज्ञान से सर्वज्ञता उपनिषदों में सर्वत्र कही है और सर्वत्र उसका यही भाव है। अज्ञात रस्सी भ्रम से क्या-क्या दीख सकती हैयह जानकारी वास्तविक रस्सी की जानकारी नहीं कहलाती है! आत्मदर्शन होने पर संसार का कोई भी टुकड़ा (खिल) ऐसा नहीं रह जाता जो हो और बिना जाना रह जाये; संसार का ऐसा कोई अंश रहता ही नहीं। जगत् की दो ही अवस्थाएँ हैंअव्यक्त या कारणावस्था और व्यक्त या कार्यावस्था। मूल अविद्या निवृत्त होने पर दोनों न रह जाने से कोई अनात्मा नहीं रहता जो जाना जा भी सके। संसार की सचाई ही परमात्मा है, उसकी जानकारी सर्वज्ञता है। अधिष्ठानभूत परमात्मा, जिसे यहाँ प्रत्यगात्मा शब्द से प्रायः कह रहे हैं, उसे जब तक नहीं जानते तब तक वही कारण और कार्य रूपों वाला लगता है। कारणोपाधिक को ही ईश्वर तथा कार्योपाधिक को ही जीव (और जगत्) समझा जाता है। प्रत्यगात्मा को सही-सही समझने पर ये दोनों रूप निवृत्त हो जाने से 'सब कुछ' रह ही परमात्मा जाता है अतः मात्र उसी का ज्ञान सर्वज्ञता है।।२६-२९।।

आगे याज्ञवल्क्य ने कहा 'ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' इत्यादि अर्थात् जो ब्राह्मण-क्षत्रिय जाति को, लोक-देव-भूत-सर्व को आत्मा से अन्य समझता है उसे वे जाति आदि कैवल्य से वंचित रखते हैं। वस्तुतस्तु 'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानि इदं सर्वम् यदयमात्मा' ब्राह्मणादि जाति सब कुछ यह आत्मा ही है। यह प्रसंग समझाते हैं **उक्त वास्तविकता के रहते जो मूढ समझता है कि संसार की**

तत्रैवं सति यो मूढः समस्तव्यस्तरूपताम् ।
ज्ञातव्यां मनुते तां तु वेद एव निषेधति । ।३० । ।
यो विप्रजातिश्चैतन्याद् अन्यद् वस्त्विति मन्यते ।
कैवल्यात् तं पराकुर्याद् विप्रजातिः पराङ्मुखम् । ।३१ । ।
ब्राह्मणोऽहमिति भ्रान्त्या बृहस्पतिसवादिषु ।
प्रवृत्तो लभते जन्मेत्येषैवाऽस्य पराक्रिया । ।३२ । ।

एक-एक चीज़ भी ज्ञेय है और समूचा भी ज्ञेय है (या कार्य-कारण दोनों रूप ज्ञेय हैं), उसे संमत ज्ञेयता का तो वेद ही निषेध कर रहा है । ।३० । । 'समस्त' से समष्टि और कारण दोनों समझने चाहिये तथा 'व्यस्त' से व्यष्टि व कार्य दोनों समझने चाहिये । संसार के स्तर पर सर्वज्ञता यही होगी कि उक्त दोनों के बारे में ज्ञान हो । केवल समष्टि जानने से, कारण जानने से सर्वज्ञता नहीं जैसे स्वर्ण जानने पर भी गहने अज्ञात रह जाते हैं; और व्यष्टि, कार्य जानने पर कारण, समष्टि अज्ञात रह जाता है । इसलिये 'सर्वज्ञः सर्ववित्' से दोनों के बारे में समूची जानकारी ईश्वर को है यह बताया ही गया है । किंतु परमार्थ के स्तर पर संसार न रह जाने से ऐसे ज्ञान की संभावना नहीं यह समझाने के लिये श्रुति ने कहा कि यदि यों कुछ भी अलग समझा गया तो वही अखण्ड अद्वैत में बाधा डालकर कैवल्य से वंचित कर देगा! इसी को कहते हैं कि यदि 'दूसरी' कही जा सके ऐसी कोई चीज़ सचमुच हो तो ब्रह्म-शब्द का अर्थ ही असंभव हो जाये! ब्रह्म अत्यंत पूर्ण का बोधक शब्द है, दूसरा हुआ तो उतनी कमी ब्रह्म में रह जायेगी । ।३० । ।

ब्राह्मणजाति आदि को आत्मा से अन्य मानने का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं **'विप्र जाति चैतन्य से अन्य वस्तु है' ऐसा जो समझता है उस अनात्मदर्शी को विप्र जाति मोक्ष से दूर कर देती है । ।३१ । । 'मैं ब्राह्मण हूँ' इस भ्रांति से बृहस्पति सव आदि कर्म-उपासना में प्रवृत्त होकर जन्म पाता हैयही उसे कैवल्य से दूर करना विवक्षित है । ।३२ । ।** ब्राह्मण जाति को चैतन्य से अन्य अर्थात् स्वतन्त्र सत्ता वाला समझा तो उस अनात्मा में दृष्टि उलझने से बहिर्मुखता, अनात्मोन्मुखता आयेगी । उधर, विप्रजाति की यह मानो तौहीन हुई कि उसे परमात्मा से सत्ता पाने वाला नहीं समझा गया! इस अपमान से मानो क्रुद्ध हो वह ऐसे पराङ्मुख को मोक्ष से दूर कर देती है । यह करने का तरीका सीधा हैउस व्यक्ति को 'मैं परमात्मा हूँ' न लगकर 'मैं ब्राह्मण हूँ' लगता है और वह तदनुसार कर्मादि कर संसारचक्र में घूमता रहता है । ।३१-२ । ।

ब्राह्मण जाति के बारे में कही बात ही सर्वत्र लागू होती है **जो व्यक्ति क्षत्रिय**

विप्रत्ववत् क्षत्र-लोक-देव-भूतादिकं जगत्।
स्वस्माद्भेदेन पश्यन्तं क्लेशयेद् अपराधिनम्।।३३।।
यदस्ति तन्न जानाति यन्नेहास्ति तदीक्षते।
इत्येवमपराधोऽस्य विद्यते भेददर्शिनः।।३४।।
योऽन्यथा सन्तमात्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।।३५।।

जाति-लोक-देव-भूत आदि जगत् को खुद से (आत्मा से) अलग देखता है उस अपराधी को जगत् वैसे ही क्लेश देता है जैसे ब्राह्मण जाति देती है।।३३।। 'मैं क्षत्रिय हूँ' समझने पर राजसूयादि में प्रवृत्ति से जन्मदि होंगे। ऐसे ही इह-पर लोकों को सत्य समझने से तदर्थ किये कर्मादि फल देंगे। अनात्मा समझे देवों की आराधना भी सांसारिक ही फल देगी। भूत (महाभूत, प्राणी) भी सत्य समझे गये तो उनके लिये कुछ करना बंधनकारी ही होगा। भूतों में आसक्ति भी उन्हें सत्य समझने पर ही होती है तथा आसक्ति निश्चय ही बंधनकारी है। अतः भेददर्शन अपराध है। भेददृष्टि ही दुःख का कारण है।।३३।।

जगत् सत्य समझना ग़लत कैसे? यह समझाते हैं **आत्मा में जो सच्चिदानन्द अद्वयता है उसे नहीं जानता तथा जो आत्मा में नहीं वह कर्तृत्वादि उसमें देखता है यही इस भेददर्शीका दोष है।।३४।। आत्मा अन्य प्रकार का रहते जो उसे अन्य प्रकार का समझता है उस आत्मा के अपहर्त्ता चोर ने कौन-सा पाप नहीं कर लिया!।।३५।।**

वेदान्तों से अन्य दर्शन एवं आधुनिक सभी विज्ञान भेददर्शी हैं। सभी आत्मा के बारे में भ्रान्त हैं क्योंकि उसे परिपूर्ण अद्वितीय न स्वीकार कर कर्ता-भोक्ता-ब्राह्मण आदि मानते-मनवाते हैं तथा बाह्य प्रपंच में लोक देव आदि मानते-मनवाते हैं। श्रुति-सिद्ध आत्मस्वरूप को नकारकर उससे विरुद्ध आत्मा का अंगीकार स्पष्ट ही अपराध है। श्लोक. ३५ महाभारत में १.६८.२६ मिलता है, क्रम अवश्य विपरीत है। आत्मा है एक तरहका और उसे समझते हैं दूसरी तरहकायही आत्मा का अपहरण है। इसे ईशोपनिषत् (मंत्र ३), गीता (१३.२८) आदि में आत्मा की हिंसा भी कहा गया है। यही अन्य सब पापों का मूल होने से जिसने स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता स्वीकारा, उसने मानो सभी पाप कर डाले! संसार को सत्य समझना भी ऐसा ही है; आत्मा अद्वितीय है, उससे पृथक् नाम-रूप-कर्म है नहीं, भेददर्शी उन्हें स्वतंत्र सत् समझकर आत्मा को ही उनका शेष

अपोदितत्वाज्जात्यादिदर्शनस्येह किं पुनः।
द्रष्टव्यम्? इत्यतो वक्ति सर्वाऽखण्डत्वदर्शनम्।।३६।।
प्रत्यक्त्वेन य आभाति प्रत्यग्बुद्धिप्रमाणकः।
तावन्मात्रैकयाथात्म्यम् उक्तजात्यादि दृश्यताम्।।३७।।
एवं श्रोतव्य आत्माऽयं समाप्तः श्रवणे विधिः।
कथं मन्तव्य इत्यत्र दुन्दुभ्यादि निदर्शनम्।।३८।।

बनाता रहता है अतः निश्चित अपराधी है।।३४-५।।

'इदं ब्रह्म...इदं सर्वं यदयमात्मा' वाक्य का भाव व्यक्त करते हैं **जाति आदि देखने का निषेध हो चुका तो यहाँ क्या बचा जो देखने योग्य है? इसके उत्तर में श्रुति ने सबकी अखण्डता के दर्शन का प्रतिपादन किया।।३६।। जो प्रत्यग्रूप से भासमान है, प्रत्यगाकार बुद्धि से जो प्रमाणित है, पूर्वोक्त जाति आदि बाह्य-आभ्यन्तर जगत् की यथार्थता उतनी ही (प्रत्यग्रूप ही) हैयह देखना योग्य है।।३७।।** पहले जाति आदि को पृथक् देखने से मना किया, फिर उन्हें ब्रह्मरूप देखने को कहा तो श्रुति का मतलब उनका बाध कर ब्रह्म को सत्य समझाने में है। आत्मा का दर्शन करो यह कहा। हम आत्मा को कर्ता-भोक्त-ब्राह्मणादि ही समझते थे अतः उतना ही हम 'दर्शन' करने लगे तो श्रुति ने कहा 'आत्मा को यह सब मत समझो' अतः प्रश्न हुआ कि उसे क्या समझें? तब बताया कि आत्मा वह अखण्ड वस्तु है जिसमें सब अध्यस्त है। जो कुछ अभी आत्मा में दीख रहा है, उस सबका बाधकर उसे अद्वितीय जानना है। सत्य अखण्ड है, खण्ड उस पर आरोपित हैं। 'द्रष्टव्यः' से अखण्ड आत्मा का साक्षात्कार विवक्षित है। उसी आत्मा की उपलब्धि प्रत्यक्-रूप से सदा है। जो कभी विषयतया न भासे किंतु भासे अवश्य, वह प्रत्यक् है। उसे बुद्धि 'मैं' अनुभव से ग्रहण करती है अतः यह बुद्धि उसमें प्रमाण है। यद्यपि प्रमाण ही उससे प्रकाशित है तो उसे कैसे प्रमाणित करेगा, तथापि लोकदृष्ट्या ऐसा कहा जाता है। जाति आदि अध्यात्म-अधिभूत जगत् की सचाई वह प्रत्यगात्मा ही है, उससे हटकर जगत् कुछ है ही नहीं। यह अद्वैत दर्शन ही याज्ञवल्क्य का उपदेश है।।३६-७।।

आगे का प्रसंग प्रस्तावित करते हैं **श्रवण के बारे में की गयी विधि यह बताकर पूरी होती है कि यह आत्मा इस प्रकार वेद से समझने योग्य है। उस पर मनन कैसे करना चाहिये? इस बारे में दुन्दुभि आदि का दृष्टान्त दिया जा रहा है।।३८।।** 'श्रोतव्यः' के बारे में विचार पूरा हुआ। 'एवं' अर्थात् द्वैत-अपह्नवकर

स्थितौ जनौ लयेऽप्येतज्जगदात्मातिरेकतः।
नास्तीत्येतत् क्रमेणाऽत्र दृष्टान्तैः प्रतिपाद्यते।।३६।।

अखण्ड को ही समझना है और 'अयं' अर्थात् प्रत्यग्भूत 'आत्मा' को ही समझना है तथा 'श्रोतव्यः' अर्थात् वेदान्त विचार से ही समझना है। अगली विधि है 'मन्तव्यः', आत्मा पर मनन करो। कैसे करें यह याज्ञवल्क्य ने बताया 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद् ग्रहणाय, दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन, दुन्दुभ्याघातस्य वा, शब्दो गृहीतः।' जैसे जब दुन्दुभि (नगाड़ा) बज रही हो तब उसकी आवाज़ सुने बगैर उस आवाज़ की विशेषताएँ नहीं सुनी जा सकती हैं, वैसे प्रज्ञानरूप आत्मा के ग्रहण के बगैर जगत् का ग्रहण संभव नहीं अतः जगत् आत्मरूप ही है। शंख और वीणा की ध्वनियों से भी याज्ञवल्क्य ने यही समझाया। आघात, तार और हवा से बजने वाले यों तीन ही तरह के वाद्य प्रसिद्ध होने से तीनों का उल्लेख है। आवाज़ के विशेष वास्तव में आवाज़ से स्वतंत्र कुछ नहीं इसी तरह प्रत्यगात्मा से स्वतंत्र कोई नाम-रूप-कर्म नहीं यह उपपन्न करना मनन है। इन तीन के अनंतर याज्ञवल्क्य ने (कण्डिका १०) कहा कि जैसे गीले ईधन को जलाने पर चिनगारी धुआँ आदि निकलते हैं ऐसे परमेश्वर से ऋग्वेदादि सब वैसे ही अनायास निकले जैसे हम साँस छोड़ते हैं। तदनन्तर कण्डिका ११-२ में बताया कि जैसे सब जल समुद्र में लीन होता है वैसे सब स्पर्श-गंधादि त्वक्-घ्राणादि में लीन होते हैं। नमक की डली जल में जैसे विलीन हो जाती है वैसे जगत् विज्ञानघन में लीन हो जाता है। इस प्रकार मनन का श्रुत्युक्त प्रसंग है।।३८।।

उक्त कण्डिकाओं का वर्ण्य बताते हैं **स्थितिदशा में, जन्मदशा में और लयदशा में भी यह जगत् आत्मा से अतिरिक्त नहीं हैयह क्रमशः तीन उदाहरणों से प्रतिपादित किया जा रहा है।।३६।।** सर्पादि रस्सी से अलग नहीं यह तभी सिद्ध हो जब पता चले कि वह रस्सी से उत्पन्न, रस्सी रहते ही स्थित और रस्सी में विलीन होता है। इसी तरह जगत् जब जन्म-स्थिति-लय तीनों दशाओं में आत्मा पर ही आश्रित पता चले तब वह आत्मा से अनन्य है यह समझ आये। चेतन, प्रज्ञान रहते ही जन्मादि हैं, उसके बिना नहीं, अतः जन्मादि प्रज्ञानमात्र हैं यह समझना मनन है। मानसिक चिंता मन से ही पैदा होती है, मन रहते ही चलती है (मन न रहे जैसे सुषुप्ति में तब चिंता भी नहीं रहती), और अंत में समाप्त भी मन में ही होती है अतः वह मनोरूप ही है, इसी तरह जगत् ब्रह्मरूप ही है। क्योंकि विचार स्थितिकाल में किया जाता है इसलिये श्रुति ने वहीं से प्रारंभ किया।।३६।।

यथा दुन्दुभिशब्दत्वसामान्याद् उत्थितान् पृथक्।
नादातुं शक्नुयात् कश्चिद् विशेषान् असिकोशवत्।।४०।।
तद्वद् आत्मातिरेकेण नात्मीयोऽर्थो मनागपि।
यतः समीक्षितुं शक्यस्तेनाऽसौ रज्जुसर्पवत्।।४१।।
सामान्यं तद्विशेषश्च तद्विशेषा इति त्रयः।
दुन्दुभिस्तस्य चाऽऽघातः शब्दश्चेत्येभिरीरिताः।।४२।।
सामान्यं दौन्दुभः शब्दो वीरादिरससंयुतः।
विशेषस्तद्विशेषास्तु नीचोच्चादिविभेदिनः।।४३।।

स्थितिकाल में आत्मा से अलग न रहने में दुन्दुभि आदि दृष्टांत हैं, उन्हें समझाते है **जैसे तलवार और म्यान को अलग-अलग समझ सकते हैं वैसे दुन्दुभि-शब्दत्व-सामान्य से पृथक् कर उठे हुए विशेषों को कोई नहीं ग्रहण कर सकता।।४०।। इसी प्रकार आत्मा से अलग कर आत्मसम्बन्धी नामादि विशेष को किंचित् भी समझा नहीं जा सकता अतः वे विशेष रस्सी में साँप से मिथ्या ही हो सकते हैं।।४१।।** ये दोनों श्लोक वार्तिक में (२.४.२६६-८) हैं। दुन्दुभिशब्दत्व-सामान्य का मतलब है दुन्दुभि की आवाज़। क्योंकि कभी जोर से कभी धीरे से बजेगी तो अगल-अलग आवाजें आयेंगी इसलिये उन सब में अनुगत समझी गयी आवाज़ को 'सामान्य' कहना पड़ा और उसी को व्यक्त करने के लिये 'शब्दत्व' कहना पड़ा। तात्पर्य है कि दुन्दुभि की आवाज़ सुने बगैर उसके विशेषों का ग्रहण संभव नहीं। तलवार-म्यान को अन्वयी दृष्टांत भी समझ सकते हैं : म्यान में रखी तलवार बिना म्यान देखे नहीं दीख सकती ऐसे ही सामान्य सुने बिना विशेष नहीं सुन सकते। दार्ष्टान्त स्पष्ट है कि मैं से सम्बद्ध जाति-लोक आदि आन्तर-बाह्य जो भी ग्रहण होता है वह मैं के ग्रहण के बगैर नहीं होता। जो जिसके ग्रहण के बगैर न ग्रहण हो वह तद्रूप होता है 'यत्स्वरूपव्यतिरेकेण अग्रहणं यस्य, तस्य तदात्मत्वम् एव लोके दृष्टम्' ऐसा यहाँ भाष्य है (पृ. १६४)। अतः आत्म-सम्बन्धी अर्थ (अर्थात् सभी उपाधियाँ) आत्मा से अतिरिक्त वैसे ही कुछ नहीं है जैसे सर्प रस्सी से अतिरिक्त नहीं है।।४०-१।।

श्रुति में दुन्दुभि, दुन्दुभ्याघात और शब्द ये तीन कहे; इन तीनों का भाव व्यक्त करते है **दुन्दुभि, उसका आघात और शब्द इन तीन के द्वारा सामान्य, उसके विशेष और उसके विशेष ये तीन कहे गये हैं।।४२।। सामान्य हुआ दुन्दुभि का शब्द। उसके विशेष हुए वीर आदि रसों वाली आवाज़। उसके भी विशेष**

नीचादिभेदिनः शब्दा वीरादिरससंयुते।
अन्तर्भवन्ति सोऽप्यन्तर्भूतः स्याद् दौन्दुभध्वनौ।।४४।।
एवं शङ्खेऽपि वीणायां योजयित्वा ततः पुनः।
शङ्खदुन्दुभिवीणाख्यध्वनीन् अन्यत्र योजयेत्।।४५।।
ध्वनित्रयं महाशब्दसामान्येऽन्तर्भवेद् इति।
विवक्षया शङ्खभेरीवीणास्तिस्र उदीरिताः।।४६।।

हुए नीची-ऊँची आवाजें।।४३।। ऊँच-नीच आदि भेद वाले शब्द उसके अंतर्गत हैं जो वीरादि रस वाली आवाज़ है और वह पुनः दुन्दुभि की आवाज़ के अंतर्गत है।।४४।। नगाड़ा सुनते हैं तो पहले इतना ही पता चलता है कि नगाड़ा बज रहा है। फिर उसके आघातों के क्रम से पता चलता है कि वीर रस के अनुसार बज रहा है या होली आदि के नृत्यों के लिये शृंगारादि रसों के अनुसार बज रहा है। यह पहला विशेष है। फिर ध्यान जाता है कि उसके स्वर कैसे हैंयह दूसरा विशेष है। द्वितीय विशेष प्रथम विशेष के अंतर्गत है क्योंकि उसके बिना सुनाई नहीं देगा, आघात के बिना स्वर नहीं पता चलेगा और प्रथम विशेष दुन्दुभिध्वनि के अंतर्गत है ही। यों विशेष का सामान्य से अभेद समझना है।।४२-४।।

अनेक दृष्टान्तों का प्रयोजन समझाते हैं **इसी प्रकार शंख और वीणा में भी बार-बार समझकर शंखादि ध्वनियों का शब्दसामान्य में अन्तर्भाव समझना चाहिये।।४५।। तीनों (तरह की) ध्वनियाँ महाशब्दरूप सामान्य के अन्तर्भूत हैंयह समझाने के लिये शंख-भेरी-वीणा ये तीन कहे गये।।४६।।** नगाड़े की तरह ही शंख और वीणा में भी उनकी आवाज़, उसकी विशेषता और स्वरादि विशेष ये तीन हैं जिनमें उत्तरोत्तर का पूर्व-पूर्व में अंतर्भाव है। तीन का ग्रहण इसलिये तो है ही कि त्रिविध ही वाद्य उपलब्ध हैं, इसलिये भी है कि यह न्याय सभी आवाज़ों पर लागू किया जाये ताकि सभी विशेषों को सामान्य पर कल्पित जान लिया जाये। तीनों या पृथक्-पृथक् सभी ध्वनियाँ फिर ध्वनिमात्र रूप 'महाशब्द' में अन्तर्भूत हैं; पहले 'शब्द' इतना पता चलता है, तब देवदत्त का शब्द, घोड़े का शब्द, बादल गरजने का शब्द इत्यादि पता चलता है। अतः ये सब विशेष उस महाशब्द में ही कल्पित हैं। शंखादि तीनों साथ बजेंजैसे आर्केस्ट्रा आदि में अनेक वाद्य बजते हैंतो स्पष्ट ही घोषरूप शब्द-सामान्य सुनाई देता है, फिर पहचान होती है 'यह शंख की आवाज़ है, यह नगाड़े की' इत्यादि, तब समझ आती है 'शंख बेसुरा है या वीणा बेसुरी है' इत्यादि। अगर शब्दसामान्य न

यथा विशेषसामान्यतत्सामान्यपरम्परा ।
शब्दे स्थिता तथा सर्वमुपलब्धिस्थमीक्ष्यते । ।४७ । ।
उपलब्धोऽस्ति सन् कुम्भो लम्बोष्ठो देशकालवान् ।
पूर्वाऽपूर्वाऽतिरेकेण नोत्तरोऽर्थोऽनुभूयते । ।४८ । ।
एवं चिदन्वयात् सर्वं चित्यध्यस्तं तथा सति ।
चिदात्मैवास्य सर्वस्य तात्त्विकं रूपमीक्ष्यताम् । ।४६ । ।

सुनाई दे तो शंखादिकी ध्वनियाँ नहीं ही सुनाई देंगी। इस तरह तीन दृष्टांतों से शब्द के सभी विशेषों को कल्पित सिद्ध किया। ।४५-६ । ।

अब दार्ष्टान्त व्यक्त करते हैं **जैसे शब्द में यह क्रम निश्चित हुआविशेष, सामान्य, उनका (मध्यस्थ सामान्यों का भी) सामान्य; वैसे सारा संसार 'उपलब्धियों में' स्थित पता चलता है। ।४७ । । उपलब्ध (ज्ञात) है, विद्यमान घट, लम्बे ओठ वाला, देश-काल वालाइनमें पूर्व-पूर्व के बिना अगला-अगला अर्थ अनुभव में नहीं आता। ।४८ । ।** शब्द-दृष्टान्त से समझना है कि उपलब्धि, ज्ञान, चैतन्य में सारे नाम-रूप-कर्म का अन्तर्भाव है। जैसे सारे भेद शब्दनिष्ठ थे, वैसे सारे भेद ज्ञाननिष्ठ समझने हैं। यही बताने के लिये कहा 'उपलब्ध है' इत्यादि। सर्वप्रथम उपलब्धि का महत्त्व है। अभी हम 'क्या' उपलब्ध है पर ध्यान देते हैं, उसके बजाये उपलब्धि पर ध्यान देना है। फिर सत्ता पर, 'है'इस पर ध्यान देना है। तब जाकर 'क्या' को देखना है कि उपलब्ध होता घड़ा; उसके बाद उसकी विशेषताएँ। घड़े के मुँह पर जो गोलाई में मुड़ा हुआ गोल घेरा होता है उसे घड़े का ओठ कहते हैं क्योंकि जैसे हमारे मुँह पर ओठ हैं वैसे वह घेरा होता है। इस क्रम से ही इसलिये ध्यान देना है ताकि ओठ को घड़े से अभिन्न, घड़े को सत् से एवं उसे उपलब्धि से अभिन्न समझा जा सके। ओठ की तरह ही देश-कालवैशिष्ट्य घट पर कल्पित अतः घट से अभिन्न है। इसी में उपयोग भी समझना चाहिये। इस प्रकार सभी नाम-रूपात्मक जगत् को ज्ञान में कल्पित बताने के लिये और ऐसी अनुभूति पाने के लिये पूर्वोक्त दृष्टांत थे। ।४७-८ । ।

आत्मा की उक्त सर्वरूपता का उपसंहार करते हैं **इस तरह चेतन की अनुगति (व्याप्ति) होने से सब कुछ चेतन पर अध्यस्त (कल्पित) है एवं ऐसा निश्चित होने पर यह समझा जाना चाहिये कि इस सब का वास्तविक स्वरूप चिद्रूप आत्मा ही है। ।४६ । ।** स्थितिकाल में, भेद प्रतीति-काल में भेद को ज्ञान पर कल्पित समझने का तरीका स्पष्ट किया। जिस पर जिसकी सत्ता-स्फूर्ति निर्भर हो वह उसी पर

जगदुत्पत्तिः

स्थितिकाले यथैकात्म्यं शक्यते ज्ञातुमञ्जसा।
यथोक्तन्यायतस्तद्वद् उत्पत्तावपि शक्यते।।५०।।
धूमार्चिर्विस्फुलिङ्गादि विभागजननात् पुरा।
अग्निरेव न धूमाद्यास्तथैकात्म्यं जनेः पुरा।।५१।।

कल्पित होता है यह रज्जुसर्पादि स्थलों में निश्चित है। ज्ञान पर ही जगत् की सत्ता स्फूर्ति (अनुभूति) निर्भर होने से जगत् ज्ञान में कल्पित है। यद्यपि धागे-कपड़े आदि दृष्टांतों से यह समझा सकते थे तथापि वहाँ धागों से कपड़ा कुछ अलग प्रतीत होता है जबकि शब्द-स्थल में उसके विशेष शब्दमात्र से अलग बिलकुल प्रतीत नहीं होते अतः समझना सरल हो जाता है। इसलिये शब्द का उदाहरण श्रुति ने खोजा।।४९।।

जलते ईधन से धुएँ आदि उदाहरण का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं **पूर्वप्रदर्शित रीति से जैसे स्थितिकाल में एकात्मता ठीक-ठीक समझी जा सकती है वैसे उत्पत्ति-दशा में भी समझी जा सकती है।।५०।। धुआँ, लपट, चिनगारी आदि विभाग पैदा होने से पूर्व आग ही होती है, न कि धुआँ आदि, वैसे जगद्-उत्पत्ति से पूर्व एकात्मता ही होती है।।५१।।** ईधन में आग छिपी होती है, उसे जब प्रकट करते हैं तब धुआँ आदि बँटी चीज़ें उपलब्ध होती हैं। इसलिये ये सब पहले अग्निरूप (लकड़ी में छिपी अग्निरूप एवं प्रकट हुई अग्निरूप) ही है। इसी प्रकार सृष्टिविभाजन अर्थात् विभक्त सृष्टि, नानारूप जगत्, उत्पत्ति से पूर्व आत्मा ही हो यह संगत है। उसी आत्मा में यह सारा संसार प्रकट हुआ। एक में स्थिति की तरह एक से उत्पत्ति बताने के लिये श्रुति ने जलते ईंधन का दृष्टांत दिया। यद्यपि अकेली आग नहीं, गीलापन आदि अन्य अंश भी ईंधन में हों तभी धुमादि प्रकट होते हैं तथापि उन सबका संपिण्डित रूप ही ईधन कहलाता है एवं दार्ष्टान्त में भी कारणभूत आत्मा अव्यक्तोपाधिक विवक्षित होने से उसमें भेद-संस्कार निहित हैं अतः उदाहरण उचित है। मुण्डकोपनिषत् २.१.१ में भी पावक को उदाहरण बनाकर जगत्सृष्टि कही है। श्लोक ५० में 'उत्पतौ' (उत्पत्तिदशा में) कहा, श्लोक. ५१ में 'जनेः पुरा' (उत्पत्ति से पूर्व) कहा; इससे बताया कि क्योंकि जन्म से पूर्व एकात्मता है इसलिये जन्मकाल में, पैदा होते हुए भीभेदप्रतीति प्रारंभ होते समय भीएकात्मता ही होना उचित है और स्थितिदशा में तो एकात्मता बता ही चुके हैं।। वार्तिक में (२.४.३००-१५) उक्त उदाहरण क़े अन्य भी तात्पर्य बताये हैं।।५०-१।।

स्वार्थ-साधन-यत्नादीन् अनपेक्ष्य यथा सृजेत्।
धूमादीन् हुतभुक् तद्वद् ऋगादीन् प्रत्यगीश्वरः।।५२।।
नार्थं बुध्वा वेदसृष्टिः कालिदासादिवाक्यवत्।
किन्तु श्वास इवाऽयत्नात् स्याद् अतोऽपौरुषेयता।।५३।।

अग्नि-दृष्टांत की कंडिका में (२.४.१०) श्रुति को यद्यपि सारे जगत् की सृष्टि विवक्षित है तथापि नाम इनका लिया हैऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषत्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान। इन सबको 'उस महान् भूत' के निःश्वास-सा बताया है! इस भाग का संग्रह करते हैं **जैसे आग किसी निजी स्वार्थ, किन्हीं साधनों तथा यत्न आदि के सहारे के बिना ही धुएँ आदि को उत्पन्न करती है, वैसे प्रत्यग्रूप ईश्वर ऋग् आदि को स्वार्थादि के बिना ही उत्पन्न करता है।।५२।।** धुआँ उत्पन्न करने में आग का कोई प्रयोजन नहीं, उसे किन्हीं साधनों की ज़रूरत नहीं, उसे कोई प्रयत्न नहीं करना, उसका तो स्वभाव ही है कि गीले ईंधन में प्रकट होते हुए इन सबको उत्पन्न करती है। इसी तरह ईश्वर के सामने भी कोई निजी प्रयोजन नहीं, उसे कोई उपकरण नहीं चाहिये, उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, स्वभाववश ही वह सृष्टि करता है। माण्डूक्यकारिका (१.९) में भी यह प्रकाशित है। श्रुति ने 'अस्य महतो भूतस्य' कहा, 'अस्य' से प्रत्यग्रूपता सूचित है। प्रत्यक् ही सर्वाधिक संनिहित है। 'महान्' विशेषण से ईश्वरता सूचित है। 'भूत' से उसकी सद्रूपता कथित है। कारणता में प्रत्यक्ता का महत्त्व न होने पर भी वस्तुभूत प्रत्यक्ता बताकर आत्यंतिक एकता उपपादित है क्योंकि यों कह देने पर कारण से अन्य जीव होंगेयह संभावना भी निरस्त हो जाती है।।५२।।

निःश्वासतुल्य कहने का तात्पर्य स्पष्ट करते हैं **कालिदास आदि द्वारा रचित वाक्य जैसे अर्थ समझने के उपरांत बनाये गये वैसे ईश्वर ने पहले अर्थ समझा तब वेद-वाक्य बनाये ऐसा नहीं किन्तु जैसे श्वास बिना यत्न के चलता है ऐसे बिना यत्न के वेदवाक्य बनाये। इसलिये वेद की अपौरुषेयता है।।५३।।** पुरुष (जीव) के प्रयत्न पर निर्भर को पौरुषेय कहते हैं। कवि आदि कुछ कहेगा तो अपनी कही बात से पूर्व, अन्यान्य शब्दों में, बिम्बों में कुछ समझेगा, तब उसे व्यक्त करने के लिये कहेगा। अतः कविकृत वाक्य कवि के मनोभाव पर निर्भर है, उस वाक्य पर कवि के मनोभाव निर्भर नहीं। किंतु ईश्वर यों वेद से निरपेक्ष किसी ज्ञान वाला होकर वेद प्रकट नहीं करता। ईश्वर का ज्ञान वेदात्मक ही है। अतः वेद को ईश्वर के ज्ञान पर निर्भर नहीं

मन्त्राश्चतुर्विधा ज्ञेया ऋग्वेदादिगिरोदिताः ।
ब्राह्मणं चेतिहासादिरूपम् अष्टविधं भवेत् ।।५४।।

कहा जा सकता। यही वेद की अपौरुषेयता सनातन धर्म में स्वीकृत है। अन्य कोई ग्रन्थ इस तरह अपौरुषेय किसी के द्वारा स्वीकृत नहीं। अन्य लोग तो रचयिता, वक्ता के महत्त्व से ग्रंथ का महत्त्व मानते हैं जबकि सनातनी लोग वेद का रचयिता ही नहीं मानते। ईश्वर भी क्योंकि वेदनिरपेक्ष किसी ज्ञान वाला होकर कोई अपूर्व आनुपूर्वी नहीं प्रकट करता इसलिये उसे सही मायने में वेद का रचयिता कहना बनता नहीं। इस दृष्टि से वेद को नित्य ही स्वीकारा गया है। अन्य मत तो प्रवक्ता, रचयिता की आप्तता, समर्थता, स्वतंत्रता के बल पर ग्रंथ को प्रमाण मानते हैं। एकमात्र सनातन धर्म कहता है कि किसी पुरुष के कहने से कोई बात प्रमाण नहीं हो जाती! जैसे वैज्ञानिक नियम अपौरुषेय हैं, उन्हें जिसने खोजा उसका महत्त्व इसलिये कि उसने इन्हें खोजा, न कि नियमों का महत्त्व इसलिये कि इन्हें खोजने वाला न्यूटन आदि कोई महान् व्यक्ति था, इसी प्रकार महत्त्व स्वयं वेद का है, प्रमाण स्वयं वेद है। कालिदासादि किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण पर भी निर्भर होकर लिखते हैं, यों भी ईश्वर वेदेतर किसी प्रमाण पर निर्भर नहींयह भी ईश्वर और वेद की विशेषता अभिप्रेत है।।५३।।

कण्डिकोक्त ऋग्वेद आदि शब्दों का अर्थ बताते हैं **चार प्रकार के मंत्र ऋग्वेद आदि शब्दों से कहे गये हैं। इतिहास आदि आठ प्रकार का ब्राह्मण-नामक वेदभाग होता है।।५४।।** 'इतिहास' से 'व्याख्यान' पर्यन्त जिन आठ का कथन है वे यहाँ विवक्षित हैं। होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा के उपयोगी होने से मंत्रों के चार प्रकार हैं जो ऋग्वेदादि में सगृहीत हैं। (१) पुराणी घटना बताने वाले वाक्य इतिहास; (२) सृष्टि आदि बताने वाले वाक्य पुराण; (३) रहस्योद्बोधक वाक्य उपनिषत्; (४) नाच-गाना आदि, साम-दाम आदि, यज्ञकुण्ड-निर्माणादि बताने वाले वेदवाक्य विद्या; (५) ब्राह्मणभाग में आये मंत्र श्लोक; (६) संग्रहवाक्य सूत्र; (७) सूत्रों का अर्थकथन अनुव्याख्यान एवं (८) मंत्रविवरण व्याख्यान है। (अर्थवादों का व्याख्यान में अन्तर्भाव है।) ये आठ प्रकार हैं ब्राह्मण भाग के। मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद परमेश्वर से ही प्रकट हुआ अतः वास्तविकता परमेश्वर ही है यह तात्पर्य है। जैसे जन्मादि-सूत्र से पृथक् शास्त्रयोनि-सूत्र सार्थक है वैसे अग्निदृष्टांत से जगन्मात्रहेतु और निःश्वास दृष्टांत से वेदादिहेतु कहा समझ सकते हैं।

इतिहासादि-शब्दों से वेदभागों की तरह लोकप्रसिद्ध इतिहासादि भी समझ सकते हैं **शब्द-उत्पत्ति से ऋग्वेदादि के अर्थविस्तारक प्रसिद्ध इतिहासादि की एवं सारे**

प्रसिद्धाश्चेतिहासाद्या ऋग्वेदाद्युपबृंहकाः ।
निखिलाऽपि जगत्सृष्टिः शब्दसृष्ट्योपलक्ष्यते । ।५५ । ।
प्रज्ञानव्यतिरेकेण यथैव स्थितिसर्गयोः ।
वस्त्वन्तरं न सम्भाव्यं प्रलयेऽपि तथोच्यते । ।५६ । ।

जगत् की सृष्टि उपलक्षण-विधया अभिप्रेत है। ।५५ । । यद्यपि मुखतः ऋगादि की उत्पत्ति कही है तथापि समस्त जगत् उसी परमेश्वर से उत्पन्न होता है यह अभिप्राय है। इतिहासादि शब्द महाभारतादि का कथन करने वाले लोक में प्रसिद्ध हैं, उनके भी रचयिता परमेश्वर हैं। साक्षात् वे वेद उत्पन्न करते हैं, महाभारतादि को वे व्यासादि के माध्यम से उत्पन्न करते हैं, साक्षात् आकाशादि को तथा कुम्हारादि के माध्यम से घटादि को उत्पन्न करते हैं। प्रकट होने वाला परमेश्वर ही है, देवदत्तादि रूप धारण कर प्रकट करने वाला भी वही है। वही सृष्टि का निमित्त-उपादान दोनों है। शब्द की ही नहीं, अर्थ की भी सृष्टि उसी से है। सृष्टि है विवर्त्तरूप, मिथ्या आरोपरूप, यह जगह-जगह स्पष्ट किया जा चुका है। ।५५ । ।

आगे (कण्डिका११) श्रुति ने 'स यथा सर्वासाम् अपां समुद्र एकायनम्' से प्रारंभ कर प्रलयदशा के अद्वैत का वर्णन किया है, उस प्रसंग का संग्रह करते हैं **जैसे स्थिति और उत्पत्ति दशाओं में प्रज्ञान से अतिरिक्त कोई वस्तु होना संभव नहीं, वैसे ही प्रलय में भी नहीं। यह जिस तरह स्पष्ट हो उस तरह समझाया जाता है। ।५६ । ।** जिसे 'आत्मा' और 'महान् भूत' कहा था उसी को 'प्रज्ञान' कहा। विभिन्न वस्तुए प्रतीत होते हुए भी वास्तविकता प्रज्ञान, उपलब्धि, चिद्रूप ही है। उत्पत्ति व स्थिति में ही नहीं, प्रलय में भी प्रज्ञान ही अद्वितीय है, विलीयमान वस्तुओं का भेद नहीं रहता है। प्रज्ञान-शब्द भगवान् भाष्यकार ने यहाँ रखा है 'न केवलं स्थित्युत्पत्तिकालयोरेव प्रज्ञानव्यतिरेकेण अभावात् जगतो ब्रह्मत्वं, प्रलयकाले च जलबुद्बुदफेनादीनामिव सलिलव्यतिरेकेणाभावः।' (पृ. १६६)। दुन्दुभ्यादि दृष्टांत के प्रसंग में भी भाष्य है 'चिन्मात्रानुगमात् सर्वत्र चित्स्वरूपतैवेति गम्यते' (पृ. १६४)। प्रियता अर्थात् आनंदरूप लक्षण से निर्धारित चित्स्वरूप की अखण्ड सत्ता यहाँ प्रतिपाद्य है। ।५६ । ।

ग्यारहवीं कण्डिका में समुद्र तथा बारहवीं में नमक की डली का उदाहरण है, इनका अभिप्राय समझाते हैं **जगत् का एक तो स्वाभाविक प्रलय होता है कल्पान्त में और दूसरा आत्यन्तिक प्रलय होता है तत्त्वज्ञान से। ।५७ । ।** **दोनों प्रलयों के लिये क्रमशः आये दोनों दृष्टांत हैं, समुद्र स्वाभाविक के लिये एवं नमक वाला**

प्रलयः

स्वाभाविका-ऽऽयन्तिकौ द्वौ प्रलयौ जगतस्तयोः।
स्वाभाविकः स्यात् कल्पान्ते बोधाद् आत्यन्तिको मतः।।५७।।
समुद्र - खिल्यौ दृष्टान्तौ क्रमात् प्रलययोर्मतौ।
लीयतेऽब्धौ जलं यद्वत् तथा ब्रह्मणि तज्जगत्।।५८।।
साक्षाद् वाऽथ प्रणाड्या वा जलमब्धौ विलीयते।
साक्षाद् गङ्गादिका नद्यस्तत्प्रणाड्या जलान्तरम्।।५९।।
तथैव कारणं वस्तु साक्षाद् ब्रह्मणि लीयते।
कार्यं तु कारणद्वारेत्येतद् अत्र विवक्षितम्।।६०।।
विषयप्रलयेनाक्षप्रलयस्योदितत्वतः।
लयः सर्वस्य जगतो ब्रह्मणीत्यत्र सुस्थितम्।।६१।।

आत्यंतिक के लिये। समुद्र में जल की तरह ब्रह्म में जगत् विलीन होता है।।५८।। साक्षात् हो या परंपरा से, जल लीन समुद्र में ही होता है। गंगादि नदियाँ सीधे समुद्र में मिलती हैं, अन्य जल किसी समुद्रगामी नदी आदि से मिलकर तब समुद्र में मिलता है।५९।। इसी प्रकार कारण वस्तु साक्षात् तथा कार्य वस्तु कारणभावापत्ति द्वारा ब्रह्म में लीन होती है, यह यहाँ अभिप्राय है।।६०।। विषयों के प्रलय के कथन से इंद्रियों का प्रलय भी कह ही दिया। इस तरह सारा जगत् ब्रह्म में लीन होता है यह लयदशा का अद्वैत संगत हो गया।।६१।। स्वभावभूत माया से युक्त परमेश्वर में विलय ही स्वाभाविक विलय है। क्योंकि इस स्वभाव में ही सृष्टि भी निहित है इसलिये इस प्रलय के बाद पुनः सृष्टि हो जाती है। आत्यंतिक प्रलय बाध है जहाँ माया भी निरस्त है। अतः फिर सृष्टि आदि बंधन असंभव है। इसीलिये उसे 'अति-अन्त' अर्थात् आखिरी अंत कहा। सुषुप्ति आने पर जो हमारी चिंतादि मिटती हैं वह स्वाभाविक लय है, विचार से जो चिन्तादि दूर होती है वह आत्यंतिक है इत्यादि अनुभवानुसार भी इस भेद को समझ लेना चाहिये।

श्रुति का दृष्टांत इस तरह है 'स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकम् एवानुविलीयते, न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात्। यतो यतस्त्वाददीत लवणमेव; एवं वा अर इदं महद् भूतम् अनन्तम् अपारं विज्ञानघन एव। एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमिइति होवाच याज्ञवल्क्यः' अर्थात् जैसे नमक की डली जल में डालने पर उसमें घुल जाती है, घुलने पर पुनः उस डली को निकाल नहीं सकते, जहाँ-कहीं

एवं मन्तव्य आत्माऽयम् अर्थाऽसम्भवनुत्तये ।
दुन्दुभ्याद्युक्तदृष्टान्तन्यायमार्गेण यत्नतः । ।६२ । ।

से उस जल को चखें, खारापन लगेगा ही। इसी तरह यह महान् भूत अनंत, अपार, विज्ञानघन (विज्ञप्तिमात्र) ही है, उपाधियों के अनुसार प्रकट लगता है किन्तु उनका बाध होते ही विज्ञानेतर-रूपता समाप्त हो जाती है, फिर नाम भी नहीं रह जाता!

इससे पूर्व जो समुद्र का दृष्टांत दिया वह स्वाभाविक प्रलय का एवं यह नमक घुलने वाला आत्यंतिक प्रलय का बोधक है। समुद्र से जल का तो पुनर्ग्रहण संभव है पर उसी नमक की डली का नहीं, इसी प्रकार मुक्त का पुनर्बन्धन सम्भव नहीं यह दृष्टान्त का भाव है। स्वाभाविक प्रलय में कारण तो सीधे ही ईश्वर में लीन होता है। कार्य अपने-अपने कारणों में लीन होते-होते अंत में जब कारण ही रह जाता है तब वह लीन होता है तो कार्य भी परमात्मा में लीन समझे जाते हैं। यहाँ 'कारण' शब्द ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति (हिरण्यगभ) को कहा है जिसका मायोपाधिक (ईश्वर) में साक्षात् लय होता है। वार्तिक २.४. ३८३-८६ में यह सूचित है एवं वार्तिकसार २.४.१३६ में स्पष्ट कहा है 'ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्योर्लयो ब्रह्मणि मायिनि'। भाष्य में भी बताया है 'विज्ञानमात्रं भूत्वा परस्मिन् प्रज्ञानघने प्रलीयते।। प्राणश्च प्रज्ञानमात्रमेव' (पृ. १६७)। यहाँ 'कारण' से मूलाज्ञान नहीं समझना है क्योंकि उसका केवल ज्ञान से विलय होगा, स्वाभाविक प्रलय में विलय नहीं होगा। श्रुति ने विषय-प्रलय से ही इन्द्रिय-प्रलय बता दिया क्योंकि श्रुति दोनों को वास्तव में अलग नहीं मानती 'विषयसमानजातीयं करणं मन्यते श्रुतिर्न तु जात्यन्तरम्। विषस्यैव स्वात्मग्राहकत्वेन संस्थानान्तरं करणं नाम'ऐसा भाष्य में (पृ. १६८) समझाया है। इस तरह सारे संसार का (व्यक्त प्रपंच का) स्वाभाविक लय समुद्र दृष्टांत से भली भाँति समझाया। ।५७-६१। ।

यहाँ तक मनन का प्रकरण है यह विभाजन व्यक्त करते हैं **वेदोक्त अखण्ड अर्थ असंभव हैइस शंका के अपनोदन (निवारण) के लिये दुन्दुभि आदि दर्शित दृष्टान्तों की रीति के अनुसरण से सायास विचार करना चाहिये। ।६२। ।** स्थिति, जन्म, प्रलय तीनों दशाओं में केवल चित्तत्व हैइसे उक्त उदाहरणों के ढंग से बारम्बार मन में बैठा लेना चाहिए ताकि शास्त्र में कहा अद्वैत असंभव न लगे। ये ही दृष्टांत नहीं, और भी विचार-प्रकार शास्त्रादि से समझ सकते हैं, खुद सोच सकते हैं लेकिन विचार-फल यही होना चाहिये कि श्रवण-निर्धारित अर्थ ही एकमात्र सत्य है, प्रतीति के स्तर पर चाहे जो प्रतीत हो। ।६२। ।

चिन्तनम्

अपरायत्तबोधाख्य-निदिध्यासनसिद्धये।
आत्यन्तिकलयं वक्तुं खिल्यदृष्टान्त उच्यते।।६३।।
सामुद्रमम्भो लवणक्षेत्रे भानुविपाकतः।
लवणोपलतां प्राप्य सैन्धवः खिल्य उच्यते।।६४।।
स खिल्य उदधौ क्षिप्तस्तापशान्तौ विलीयते।
अशक्यः पुनरुद्धर्त्तुं खिल्यरूपेण पूर्ववत्।।६५।।
खिल्योद्धृत्यै नीरमब्धावाददीत यतो यतः।
तत्र तत्र रसो लभ्यः खिल्यस्त्वेष न कुत्रचित्।।६६।।

नमक की डली का दृष्टान्त निदिध्यासन के अभिप्राय से है ऐसा समझाते हैं **'स्वतन्त्र ज्ञान' नामक निदिध्यासन सम्पन्न करने का ढंग बताने के प्रयोजन से आत्यन्तिक लय बताने के लिये नमक की डली का दृष्टान्त कहा गया है।।६३।।** श्लोक २४ में स्वतंत्र ज्ञान का भाव स्पष्ट कर चुके हैं। निरायास ब्रह्मस्थिति किस तरह हृदयग्राही हो यह सोचकर याज्ञवल्क्य ने यह दृष्टांत दिया। जैसे दीर्घाभ्यास से विवाहिता को ससुराल ही 'मेरा घर' निश्चित होता है, उसे 'मेरा' समझने के लिये 'क्योंकि यहाँ विवाहित हूँ' आदि हेतुओं का चिंतन नहीं चाहिये रहता, वैसे बोध जब निरपेक्ष हो तब स्वतंत्र समझा जाता है। अतएव सोने तक और मरने तक आत्मविचार करते ही रहने का शास्त्रनिर्देश है। अहंकार, प्राण-देह आदि उपाधियों में आत्मबुद्धि होवे ही नहींजब तक यह स्थिति स्वाभाविक न हो जाये तब तक साधनाभ्यास कर्त्तव्य ही है। जैसे नमक घुल जाने पर पुनः उसी डली को निकालना असंभव, वैसे जब परमात्मभाव से पृथक् कर देहिभाव असंभव हो तब बोध अपरायत्त होता है, किसी पर निर्भर नहीं रहता।।६३।।

दृष्टांत स्पष्ट करते हैं **समुद्र का जल, नमक बनाने के मैदान में सूर्य से तपकर नमक की डली-रूपता पाकर 'सैंधव खिल्य' (सैंधे की डली) कहा जाता है।।६४।। वह डली समुद्र में डाली जाने पर तब घुल जाती है जब उसे ठोस रखने वाला तापप्रभाव (सूर्य की गर्मी का असर) समाप्त हो जाता है। तदनन्तर उसे उसी डली के रूप में जल से नहीं निकाल सकते जो डली घुलने से पूर्व थी।।६५।। डली निकालने के लिये समुद्र में जहाँ-जहाँ से जल ग्रहण करें वहाँ-वहाँ नमकीन स्वाद तो मिलता है लेकिन वह डली कहीं नहीं मिलती।।६६।।** नमक जो ठोसावस्था प्राप्त करता है उसमें सूर्य-ताप का विनियोग है। जब तक ताप-

जीवभावः

सामुद्रस्याऽम्भसस्तापात् खिल्यतैवं परात्मनः।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जीवता स्याद् अविद्यया।।६७।।
महद् भूतम् अनन्तं स्याद् अपारं चिद्घनं स्वतः।
देहेन्द्रियाख्यभूतेभ्यो जीवत्वेन समुत्थितिः।।६८।।
महत्त्वं सर्वगत्वं स्याद् भूतत्वं नित्यसिद्धता।
अनन्ताऽपारशब्दाभ्यां व्याप्ति-नित्यत्वसाधनम्।।६९।।
कार्यकारणराहित्यं यदि वेहोपलक्ष्यताम्।
अनन्तत्वम् अकार्यत्वम् अपारत्वम् अहेतुता।।७०।।
विज्ञानघन एवेति जात्यन्तरनिषेधनम्।
तदिदं वस्तुनस्तत्त्वं मायिकी सा समुत्थितिः।।७१।।

प्रभाव रहता है तभी तक वह अवस्था रहती है, ताप का विरोधी है जल अतः जल के संपर्क से जब ताप शांत हो जाता है तब वह ठोस (रवा, क्रिस्टल) रूप समाप्त होता है। नमक स्वरूप से नष्ट नहीं होता तभी सर्वत्र पानी नमकीन मिलता है लेकिन वह रूप सर्वथा नहीं रहता। अब उसी डली को पुनः नहीं निकाल सकते। दूसरी डली भले ही बने, वही दुबारा नहीं बनेगी यह दृष्टांत में संभव है, दार्ष्टान्त में इस भाग की विवक्षा नहीं, यह भी ध्येय है।।६५-६।।

दार्ष्टान्त में घटाते हैं **समुद्री जल गर्मी से डली बनता है, इसी तरह परमात्मा अविद्या से ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्त जीवभाव प्राप्त करता है।।६७।। 'महान् भूत' अनन्त व अपार है, स्वरूप उसका चैतन्यमात्र है, फिर भी देह-इंद्रिय नामक भूतों से (सम्बन्ध के कारण) जीवरूप से प्रकट हुआ है।।६८।। सर्वगत होना 'महानूता' है, हमेशा प्रकाशमान रहना 'भूतता' है। 'अनन्त' और 'अपार' शब्दों से व्यापकता और नित्यता बतायी गयी है।।६९।। अथवा अनन्त अर्थात् वह किसी का कार्य नहीं और अपार अर्थात् वह किसी का कारण नहीं है। यह अर्थ उपलक्षणा से समझना चाहिये (अर्थात् व्यापक-नित्य है यह भी समझना ही चाहिये)।।७०।। 'चैतन्यमात्र' (विज्ञानघन) ही हैइससे बताया कि उससे अन्य जाति का कुछ नहीं है। यह आत्मवस्तु का सच्चा स्वरूप है। जीवरूप से प्राकट्य मायिक है।।७१।।** यद्यपि जीवभाव का मूल हेतु अविद्या है तथापि जीव की 'ठोसावस्था' अर्थात् जब जीवरूप से पहचान हो सके, तब होती है जब शरीर-इंद्रिय-मन-प्राण

से सम्बन्ध हो, तादात्म्य हो। शरीरादि उपाधि श्रेष्ठ या कनिष्ठ कैसी भी हो, जीवभाव के लिये अविद्यापूर्वक उपाधि-सम्बन्ध अनिवार्य है। बिना अविद्या के यदि सम्बन्ध हैजैसे राम-कृष्णादि अवतारों कातो वहाँ ईश्वरता ही है, जीवभाव नहीं। प्रजापति में भी इसीलिये प्रारंभ में जीवभाव, तत्त्वसाक्षात्कारके पश्चात् ईश्वरभाव माना गया है। जिसमें अविद्यामूलक जीवभाव प्रकट है और जिसमें ही इसका विलय होगा उसे उपनिषत् ने महान् भूत आदि कहा। 'भूत' से उसकी सद्रूपता, 'महान्' से आनंदरूपता और विज्ञानघन से चिद्रूपता कही। देश-काल-वस्तु से वह अपरिच्छिन्न है। न वह किसी का कार्य है, न उसका कुछ कार्य है। वह पूर्ण होने से व्यापक है (न कि व्याप्त की अपेक्षा से)। वह सदा सिद्ध है, कभी साध्य नहीं, किसी क्रिया का फल नहीं, क्रिया-निरपेक्ष है। श्लोक. ६९ में 'व्याप्ति' अर्थात् व्यापकता। किं च यह इस व्याप्ति (सम्बन्ध) की भी नित्यता है कि जो अनंत होता है वह महान् होता है एवं अपार अवश्य भूत (नित्यसिद्ध) होता है। साथ ही, कारण तब ख़त्म हो जाता है जब उसका कार्य बन जाये जैसे फुलके बन जायें तो आटा समाप्त; अतः आत्मा का यदि कार्य हो तो आत्मा भी समाप्त हो जाये! किंतु वह समाप्त होता नहीं इसलिये उसका कोई कार्य नहीं। क्योंकि उत्पत्ति तभी हो जब पहले से वस्तु हो नहीं, आत्मा नहीं है ऐसा कभी संभव नहीं, इसलिये उसकी उत्पत्ति नहीं अर्थात् उसका कोई कारण नहीं। 'घन' शब्द के प्रयोग से वस्तुकृत परिच्छेद का निषेध है। क्योंकि विज्ञान से अन्य कुछ नहीं अतः वह वस्तु-परिच्छेद वाला नहीं हो सकता। इस प्रकार देश-काल-वस्तु तीनों सीमाओं से वह रहित है।।६७-७१।।

नमक की डली के उदाहरण के हिस्से दार्ष्टान्त से कैसे मेल खाते हैं यह बताते हैं **समुद्र की जगह है अद्वितीय आत्मा, उसका जो जल मैदान में डाला जाता है उसकी जगह है साक्षी चैतन्य, मैदान की जगह है शरीरादि, गर्मी की जगह है भ्रान्ति।।७२।। डली की जगह है चिदाभास के सम्बन्धवश होने वाले कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं उनके बाद होने वाले द्रष्टा, श्रोता, द्विज, गोरा, धनी, गायवाला आदि अभिमान।।७३।।** तत्त्वज्ञान से पूर्व जो अनादिसिद्ध अद्वैतरूप आत्मा वह समुद्र की जगह समझना है। परमार्थतः निर्माय होने से अद्वैतता है, व्यवहारतः समाय होने पर भी क्योंकि शक्ति-शक्तिमान् सर्वथा भिन्न नहीं होते इसलिये अद्वैत ही है। साक्षिता आने पर ही प्रमातृत्व आता है, 'साक्षित्वम् आत्मतमसा मतिकंचुकेन मातृत्वम्' ऐसा संक्षेपशारीरक में स्पष्ट है, अतः जितने जल से नमक बनता है उतने जल की जगह साक्षी कहा। भ्रम, कार्याऽविद्या, अहंकार (प्रथम विकार) को ताप-स्थानीय बताया, भ्रम

अब्धिस्थानीयम् ऐकात्म्यं जलस्थानं तु साक्षिचित् ।
क्षेत्रस्थानं शरीरादि तापस्थानं तु विभ्रमः । ।७२ । ।
खिल्यस्थानं चिदाभासयोगात् कर्तृत्वभोक्तृते ।
द्रष्टा श्रोता द्विजो गौरो धनी गोमान् भवेत् ततः । ।७३ । ।
प्रत्यगात्मैव सद् ब्रह्म परोक्षम् अभवत् तदा ।
ब्रह्मैव सन्नयं चात्मा संसारित्वम् अवाप्तवान् । ।७४ । ।
इत्येवं परवस्त्वेव पञ्चभूताख्यमायया ।
जीवत्वेन समुत्थाय ततः शास्त्रेण बुद्ध्यते । ।७५ । ।

तपाता है ही। अब जो कर्त्तादि रूप निष्पन्न होते हैं उनमें जीव क्योंकि स्पष्ट पहचाना जाता है इसलिये वह डली-स्थानीय है। जिसे 'भ्रान्ति' कहा उसी को 'चिदाभास' कहा। ।७२-३ । ।

यों जीव बनने की स्थिति का वर्णन करते हैं **तब ब्रह्म परोक्ष हो गया हालाँकि रहा वह प्रत्यगात्मा (साक्षात् अपरोक्ष चैतन्य) ही। यह आत्मा ब्रह्म ही रहते हुए तब संसारीपन पा गया। ।७४ । ।** जीवरूपता आने पर लगता है ब्रह्म हम से अन्य कोई अज्ञात वस्तु है। वह हमारा वास्तविक स्वरूप हैइससे हम बेखबर बने रहते हैं। लगातार अन्यथा अभिमान रखने पर अपनी वास्तविक स्थिति भुला जाती है। वाज़िद अली शाह के बारे में प्रसिद्ध है कि बेगमों से हमेशा घिरे रहने से वह कदाचित् यही भूल गया था कि वह मर्द है! अनेक हिंदू अन्यान्य सम्प्रदायों के उपपादन में संलग्न रहते-रहते भूल जाते हैं कि वे हिंदू हैं। रामकृष्ण परमहंस के अनुयायी एक महात्मा करांची केन्द्र चलाते थे, कहते थे 'हम सब धर्मों को मानते हैं।' किन्तु विभाजन के समय उन्हें भी भागकर आना पड़ा, उनका वह 'मानना' उन्हें मुसलमानों को ग्राह्य नहीं बना सका! वास्तव में हिंदू होने पर भी भूलकर खुद को अहिंदू समझने की तरह ब्रह्म का जीवभाव है। आत्मवस्तु परोक्ष कभी हो नहीं सकती फिर भी हमें लगता ऐसा ही है क्योंकि जीवभाव का आग्रह हो रखा है। जो संसारिता मैं जन्मा, मैं मरा योंप्रतीत होती है वह मात्र भ्रम है क्योंकि वास्तव में आत्मा अनादि-अनन्त ब्रह्म ही है। ।७४ । ।

श्रुति ने कहा 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय' कि इन भूतों से उठकर। इसे समझाते हैं **पंचभूत नामक माया के कारण परमात्मा ही पूर्वोक्त ढंग से जीवरूप से उठ खड़ा होकर फिर शास्त्र से वास्तविकता समझता है। ।७५ । ।** यद्यपि श्रुति ने 'भूत' शब्द का प्रयोग किया है तथापि क्योंकि भूत स्वयं सादि है इसलिये अनादि जीवभाव के

प्रबोधः

सर्वमात्मेति सम्यग्धीजन्मनैवाऽखिले भ्रमे।
नष्टे नश्यति जीवत्वं जले प्रक्षिप्तखिल्यवत्।।७६।।
क्षेत्रज्ञेश्वरभेदेन पुनः संज्ञा न विद्यते।
तद्धेतोस्तमसो ध्वंसात् खिल्याऽनुद्धरणं यथा।।७७।।
दृष्टिमात्रात्मयाथात्म्यात् कार्यकारणवस्तुनः।
नाऽज्ञातं किञ्चिदप्यस्ति नानपास्तं तथा तमः।।७८।।

लिये पर्याप्त उपाधि नहीं हो सकते, अतः उनसे उनके कारण अर्थात् माया को समझना चाहिये। शास्त्रानुसार समझने पर ही सत्य अद्वैत का अवबोध प्राप्त होता है कि मैं जीव नहीं, परमेश्वर हूँ। मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं वरन् कर्त्ता-भोक्तापने को प्रकाशित करने वाला हूँयह दृढ निश्चय ही अविद्या की निवृत्ति है।।७५।।

उक्त समझ को ही स्पष्ट करते हैं **'सभी आत्मा ही है' इस सही ज्ञान के जन्म से ही अशेष भ्रम मिट जाने पर जीवभाव की प्रतीति समाप्त हो जाती है जैसे जल में घुल जाने पर डली की प्रतीति असंभव हो जाती है।।७६।। 'क्षेत्रज्ञ' (जीव) और 'ईश्वर' ये विभिन्न नाम तब नहीं रहते क्योंकि उनके हेतुभूत अविद्या का बाध हो चुका। जैसे घुल चुकी डली फिर नहीं निकाली जा सकती ऐसे समाप्त हुआ भेद फिर अनुभव नहीं किया जा सकता।।७७।।** 'सही ज्ञान' अर्थात् संशय-विपर्यय से रहित प्रमा। उससे अज्ञान निवृत्त होने पर सभी भ्रम एक-साथ दूर हो जाते हैं, एक-एक को मिटाने के लिये अलग-अलग प्रयास नहीं करना पड़ता। जीव-ईश्वर ये नाम भी औपाधिक भेद पर निर्भर होने से उपाधि ही न रह जाने पर प्रवृत्त नहीं हो पाते अर्थात् चिन्मात्र आत्मवस्तु को तब न जीव कह सकते हैं, न ईश्वर। अत एव याज्ञवल्क्य ने कहा 'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति'जीवादिभाव छोड़ चुके आत्मा का कोई नाम नहीं है। जैसे घुली डली का पुनः प्राकट्य नहीं ऐसे निवृत्त भेद की भी पुनः उपस्थिति नहीं।।७६-७।।

सर्पादि भ्रम निवृत्त होने पर तो रज्जु रहते पुनः मंदान्धकार आदि में सर्पभ्रम संभव है लेकिन आत्मज्ञान होने पर पुनः अनात्म भ्रम संभव नहीं यह कहते हैं **कार्य-वस्तु और कारण-वस्तु की वास्तविकता ज्ञानैकस्वरूप आत्मा है। ऐसा कुछ भी वस्तुतः है नहीं जो अज्ञात हो एवं ऐसा कोई अज्ञान नहीं है जो हट न गया हो।।७८।।** 'कार्य' से तदुपाधिक जीव तथा 'कारण' से तदुपाधिक ईश्वर समझ लेने चाहिये।

आत्यन्तिकोऽयं प्रलयः पुनर्जन्मविवर्जनात् ।
स्वाभाविके लये शक्तिशेषाद् अस्ति पुनर्जनिः । ।७६ । ।
विज्ञानैकघनस्याऽस्य संज्ञा नास्तीति यद्वचः ।
तद्व्याहतिर्न शक्याऽत्र तयोर्विषयभेदतः । ।८० । ।
विज्ञानैकघनोक्त्याऽस्य कृत्स्नैकात्म्यं पुरोदितम् ।
संज्ञा नास्तीति चाऽविद्याजन्या बुद्धिर्निषिद्ध्यते । ।८१ । ।

उपाधि-उपहित सभी की वास्तविकता जो इकलौता चिद्धन उसके बारे में जो अज्ञान अभी प्रतीत है वह पूर्वोक्त सही ज्ञान से समाप्त हो चुका। न समाप्त हुआ तो कोई अज्ञान बचा नहीं जिसके भरोसे पुनः भ्रम हो सके और चिन्मात्ररूप आत्मातिरिक्त कुछ है ही नहीं जिसके बारे में कोई अज्ञान मिटने से रह गया हो। अतः पुनः भ्रम असंभव है। रज्जुज्ञान से तो देशांतर-कालांतरविशिष्ट रज्जु के असंख्य अज्ञान (तूलाज्ञान) नष्ट होते नहीं, देशांतरादिविशिष्ट रज्जु अज्ञात रहती ही है, इसलिये पुनः भ्रम संगत है।. अखण्ड साक्षात्कार इसीलिये 'पर-अन्तकाल' हो जाता है, उसके बाद कुछ समापनीय नहीं बचता। ।७८ । ।

श्लोक ५७ में कही दूसरी प्रलय का वर्णन (श्लोक. ६३-७८) पूरा करते हैं **यह आत्यन्तिक प्रलय है क्योंकि इसके बाद फिर जन्म नहीं होता। स्वाभाविक प्रलय होने पर शक्ति बची रहने से फिर जन्म हो जाता है। ।७६ । ।** अविद्या रहते जो प्रलय होगा वह स्वाभाविक है अतः पुनः सृष्टि होगी ही, जब अविद्या निवृत्त हो गयी तब पुनः जन्म का प्रसंग ही न होने से प्रलय की अति-अंतिमता है। ।७६ । ।

याज्ञवल्क्य के उक्त उपदेश पर मैत्रेयी ने कहा 'अत्रैव मा भगवान् अमूमुहत्, 'न प्रेत्य सञ्ज्ञाऽस्ती' ति।' कि आपने मुझे नासमझी की स्थिति में ला दिया यह कहकर कि 'मरने पर नाम नहीं रह जाता।' विज्ञानघन आत्मा का सनातन होना ही उचित है, उसका नाम तक न रह जाये, यह विरुद्ध बात लगती है। महर्षि ने इस पर इतना ही उत्तर दिया 'न वा आरे अहं मोहं ब्रवीमि। अलं वा अरे इदं विज्ञानाय।' अर्थात् मैंने जो कहा उससे नासमझी हो यह संभव नहीं, जो कहा उसी को ढंग से समझने पर सही विज्ञान हो सकता है। इस प्रसंग का संग्रह करते हैं **'सिर्फ विज्ञानरूप इस आत्मा का नाम नहीं रहता' यह जो कथन है इसमें किसी विरोध की शंका नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों कथनों का अभिप्राय परस्पर भिन्न है। ।८० । । 'सिर्फ विज्ञान का मानो घनीभूत रूप है' इसके द्वारा पहले बताया कि सारे संसार का वही**

अद्वैतम्

कार्यकारणनाशेऽपि[1] स्वतः सिद्धम् अनन्यमम्[2] ।
यद्वस्तु तदलं स्वात्मसंवित्त्यै निरपेक्षतः ।।८२।।

एकमात्र वास्तविक स्वरूप है। 'संज्ञा (नाम) नहीं रहती' इससे कहा कि (आत्यंतिक प्रलय होने पर) अविद्या से होने वाले अनुभव नहीं होते।।८१।। कार्य व कारण न रह जाने पर भी जो खुद ही प्रकाशमान, किसी अन्य से प्रकाशित न होने वाली आत्मवस्तु है वह ज्ञान के लिये पर्याप्त है क्योंकि इसके लिये उसे किसी की ज़रूरत नहीं।।८२।। 'नाम नहीं रहता' से मैत्रेयी को लगा कि प्रतीति भी नहीं रहती। 'सं-ज्ञा' शब्द से प्रतीति भी कही जाती है। इसीलिये कथन में विरोध लगा कि ज्ञानरूप है और उसका ज्ञान नहीं होता। अतः उसने कहा 'मुझे घपले में डाल दिया!' याज्ञवल्क्य ने 'विज्ञान' का अस्तित्व और 'संज्ञा' का निषेध किया, दो विभिन्न शब्द रखने से ही सूचित किया कि जो है वह अलग वस्तु और जो नहीं है वह अलग वस्तु। स्वरूपज्ञान है, वृत्तिज्ञान नहीं है; अतः विरोध नहीं है। जो स्वरूपभूत ज्ञान है वह तो सारे संसार की वास्तविकता है 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'। ज्ञान से स्वतंत्र संसार में कुछ उपलब्ध नहीं। इसलिये अधिष्ठान के सत्त्व का विधान 'विज्ञानघन' से किया। वृत्तिज्ञान अविद्याजन्य होते हैं, उनका निषेध किया। आरोपित के क्षेत्र में ही वृत्ति ज्ञान हैं, सत्य सिर्फ स्वरूप है। जब कारण समेत कार्य का बाध हो गया तब वृत्ति की संभावना ही समाप्त हो गयी। भेद रहते वृत्ति होती है, भेदनिवृत्ति हो चुकने पर वृत्ति को मौका नहीं रह जाता। 'कार्यकारणताशेषि' का अनुवाद 'कार्य-कारण को लाँघकर रहने वाली वस्तु' मद्रास वि. विद्या. के आंग्लानुवादक ने किया है। कार्य-कारणता अर्थात् कार्यकारणभाव स्वयं शेष अर्थात् परार्थ है क्योंकि किसी ज्ञान (अनुभव) की व्याख्या के रूप में ही इनकी कल्पना है। हमें बीज दीखा, फिर छह दिनों बाद अंकुर दीखा; इन दो अनुभवों के आपसी तालमेल के लिये ही हम बीज को कारण और अंकुर को कार्य समझते हैं। अतः ये शेष हैं। जिसके ये शेष हैं, वह इनका शेषी हुआ; वही विज्ञानमात्र है। यों इसका अर्थ संगततर है। वह आत्मा स्वतः सिद्ध या स्वप्रकाश है। अतः वह 'अनन्यम' है अर्थात् उसकी 'मा'= प्रमा किसी अन्य से नहीं होती। पण्डित हरिहर कृपालु ने 'अनन्यगम्' पाठ मानकर

---

[1] कार्यकारणताशेषि इति प्रायः पाठः। नाशेपीति तु सारे, तदनुरोधेन मुत्तुशास्त्रिणः।

[2] अनन्यगमिति नि.सा. मद्रसंस्करणयोः।

ऐकात्म्यं यद् अविज्ञातं तद् द्वैतमिव विभ्रमात्।
स्याद् यत्र तत्र पुंसोऽसौ कर्तृकर्मादिभेदधीः।।८३।।
ननु द्वैतम् इवेत्येतद् उपमानं कथं तव।
उपमेयद्वैतवस्तुराहित्याद् इति चेच्छृणु।।८४।।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।
इत्यादावुपमा दृष्टा स्वस्य स्वेन तथेष्यताम्।।८५।।

'अननुगत' अर्थ किया है। द्वितीय न रह जाने से विज्ञान किस अन्य में अनुगत हो! इस पाठ में स्वतः सिद्ध से पुनरुक्ति बची रहती है। किंतु स्वयं वार्तिक में (२.४.४.५२) 'कार्यकारणनाशेऽपि स्वतःसिद्धम् अनन्यमम्' पाठ है एवं आनंदगिरीय में 'स्वतः सिद्धत्वसिद्ध्यर्थम् अनन्यमम् इत्युक्तम्' व्याख्या है। अतः यही पाठ श्रद्धेय है। जैसे सब कुछ ज़मीन पर है लेकिन यह प्रश्न व्यर्थ है कि ज़मीन किस पर है; ऐसे ही सबकी सिद्धि ज्ञान से अतः उसकी सिद्धि किससेयह प्रश्न ही व्यर्थ है।।८०-२।।

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा 'यत्र हि द्वैतम् इव भवति तद् इतर इतरं जिघ्रति...यत्र वा अस्य सर्वम् आत्मैवाऽभूत् तत् केन कं जिघ्रेत्...येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद् विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्!' (१४)। जहाँ द्वैत जैसा हो वहीं अन्य रहा ज्ञाता अन्य किसी ज्ञेय को जानता है; जहाँ सब इसका आत्मा ही है वहाँ कौन किसे जाने? जिससे सब कुछ जानते हैं उसे किससे जानें! यों बतायी स्वप्रकाशता को श्लोकों में समझाते हैं **जो न समझी गयी एकात्मता है वह भ्रम से द्वैत जैसी है, वहाँ कर्त्ता-कर्म आदि की ये प्रसिद्ध भेदबुद्धियाँ होती हैं।।८३।।** एकात्मता अर्थात् अद्वितीय आत्मा को न जानने पर ही भ्रमवश आश्रय-विषय आदि द्वैत (भेद) की उपस्थिति है जिसमें हम कर्त्ता (ज्ञाता) बनकर घटादि कर्मों (ज्ञेयों) को जानते हैं। इसी से हमें आशा होती है कि 'मैं शिव को जानूँगा' अर्थात् आत्मा के बोध में भी यह आश्रय-विषय भाव रहेगा। लेकिन वह रहना नहीं क्योंकि अज्ञान ही नष्ट हो जायेगा। श्रुति ने 'द्वैतमिव' (द्वैत जैसा) इसलिये कहा कि द्वैत वास्तव में तो होता नहीं, भ्रम से प्रतीत ही हो जाता है।।८३।।

'द्वैत जैसा' सुनकर मिथ्यात्व न समझ पाने वाला प्रश्न करता है **'द्वैत जैसा' में कहा गया उपमान (दृष्टान्त) तुम वेदान्ती के मत में कैसे मिलेगा क्योंकि जिससे उपमा दी जा सके ऐसी कोई द्वैत वस्तु तुम्हारे मत में है ही नहीं? इस प्रश्न का उत्तर सुनोः।।८४।। 'राम-रावण का युद्ध वैसा ही हुआ जैसा राम-रावण का युद्ध हुआ' इत्यादि स्थलों में जैसे खुद से खुद की उपमा दी**

यद्वल्लोके चन्द्रभेदः कल्पितत्वेन सम्मतः।
जगद्भेदोपमा सा स्याद् मिथ्यात्वं तेन सिद्ध्यति।।८६।।

जाती है वैसे यहाँ समझना संगत है।।८५।। श्रुति ने जब द्वैत-जैसा कहा तब प्रश्न उठा कि जैसा अर्थात् उपमा वहीं होना संगत है जहाँ उपमान और उपमेय अलग-अलग हों। द्वैत की तरह की कौन-सी वस्तु श्रुति कह रही है? इसके समाधान में बताया कि कभी-कभी स्वयं को ही स्वयं में दृष्टांत दिया जाता है। राम-रावण के युद्ध के समान कोई युद्ध हुआ ही नहीं अतः उसे स्वयं से ही उपमित कर सकते हैं। लोक में भी 'आप तो आप जैसे ही हैं' आदि कहा जाता है। इसी प्रकार द्वैत जैसा द्वैत को ही बताया है। वस्तुतस्तु इस तरह के प्रसंगों में इव (जैसा) का तात्पर्य मिथ्यात्व-सूचन हुआ करता है। अध्यासभाष्य में 'शुक्तिका हि रजतवद् अवभासते' कहा; वहाँ प्रकटार्थविवरण में 'वत्करणेन चाऽनिर्वाच्यताम् आचचक्षे' समझाया है। परिमल में 'मिथ्यात्वमपि तदर्थः' (इव-वत्कारयोरर्थः) कहा है।।८४-५।।

राम रावण युद्ध-प्रसंग में उपमा है ही नहीं वरन् युद्ध को अनुपम बताया है! अतः स्व से स्व की उपमा मानना असंगत ही ठहरा। अतः दूसरे ढंग से उपमान का समर्थन करते हैं **जैसे लोक में मान्य है कि चन्द्रभेद (अनेक चन्द्रमा) कल्पित है (वैसे) कल्पित जगद्भेद से उपमा हो सकती है। उससे जगत् का (द्वैतका) मिथ्यात्व निर्धारित हो जाता है।।८६।।** धरती के लिये चन्द्र एक ही है किन्तु दर्पणादि में प्रतिबिम्बित होकर अनेक दीख जाते हैं, उनमें से एक की तरह का दूसरे को बताया जा सकता है। इसी तरह द्वैतरूप जगत् के भेद की कल्पना कर उस कल्पित द्वैत से इस द्वैत की उपमा दी जाये यह ठीक है। इससे द्वैत का मिथ्यात्व भी सुसंगत हो जाता है; कल्पित द्वैत जैसा यह द्वैत हैइससे इस द्वैत की भी कल्पितता पता चल जाती है। दर्पणादि के बिना भी मोतियाबिन्द वाले को दो चंद्रमा दीख ही जाते हैं। दोनों में एक ही सच्चा होगा, दूसरा झूठा होगा, फिर भी एक के जैसा दूसरा हैयह लगता ही है। इसी तरह 'द्वैत जैसा' में कल्पित अनेक द्वैतों से व्यवस्था बन सकती है। अथवा, स्वप्न में उपलब्ध द्वैत की तरह का जाग्रत् में उपलब्ध द्वैत हैयह सरल योजना वार्तिक में (२.४.४.६२)कही है।।८६।।

इस प्रकार द्वैत के मिथ्यात्व का यहाँ उल्लेख ही क्यों? इसका उत्तर देते हैं **श्रुतिवचनों की संगति बैठाते हुए जो ऐसा कहते हैं कि आत्मा का समस्त रूप भी है और व्यस्त रूप भी है; उनके पक्षका निषेध करने के लिये यहाँ द्वैत के मिथ्यात्व का वर्णन किया गया है।।८७।।** (श्लोकस्थ 'इह' का अर्थ आनन्दगिरीय में (२.४.४६५)

समस्तव्यस्तरूपत्वं यो वक्तीहात्मनः श्रुतेः।
तत्पक्षस्य निषेधाय द्वैतमिथ्यात्ववर्णनम्।।८७।।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपं प्राप्य स्वप्ने यथा मृषा।
एको व्यवहरत्येवम् अज्ञो व्यवहरेद् मृषा।।८८।।

'परीक्षकनिर्धारणार्थम् इहेत्युक्तम्' बताया है।) श्रुति में 'यही द्रष्टा है' एवं 'जो कुछ है वह सब यह आत्मा है'यों दो तरह की बातें मिलती हैं। एक से लगता है कि आत्मा जगत् से परे है, दूसरी से लगता है कि जगद्रूप है। दोनों की संगति बैठाने के लिये विचारपूर्वक कुछ चिंतकों ने माना कि आत्मा को उभयरूप ही स्वीकार लिया जाये। किन्तु दोनों रूपों को सत्य मानना असम्भव होने से यहाँ वर्णन किया कि जगद्रूप मिथ्या है; रूप दोनों आत्मा के हैं पर एक वास्तविक, दूसरा मिथ्या। अथवा, 'व्यस्त' अर्थात् व्यष्टि, 'समस्त' अर्थात् समष्टि; इन दो रूपों वाला आत्मा को मानते हैं। किन्तु 'द्वैतमिव' से सारे द्वैत को मिथ्या बताने से समझाया कि ये दोनों आत्मा के अवास्तविक ही रूप हैं। कुछ दार्शनिक सारा जगत् परमात्मा का शरीर है और खुद परमात्मा शरीर वाला अर्थात् उससे अन्य हैऐसी कल्पना करते हैं। उनको भी 'द्वैतमिव' से समझाया कि शरीररूप जगत् को परमात्मा का मिथ्यारूप ही मान सकते हैं, वस्तुतः नहीं। भेदाभेद, विशिष्टाद्वैत आदि कल्पनाओं का यहाँ निरास समझना चाहिये।।८७।।

द्वैत जैसी अर्थात् मिथ्या द्वैत की स्थिति में व्यवहार उपपन्न करते हैं **स्वप्न में जैसे मिथ्या ही ज्ञातारूप, ज्ञानरूप और ज्ञेयरूप पाकर एक ही आत्मा व्यवहार कर लेता है वैसे अज्ञानी मिथ्या ही सारा व्यवहार कर लेता है।।८८।।** सपने में यद्यपि इन्द्रियाँ कार्यकारी नहीं होती तथापि अनुभव होता है 'मैं सूँघ रहा हूँ' आदि, ज्ञेय विषय न होने पर भी प्रतीत होते हैं तथा वहाँ जो जानने वाला मैं लगता हूँ वह भी जाग्रत् के जानने वाले से अलग ही होता है। अतः स्वप्न में आत्मा ही इन तीन रूपों का बनकर व्यवहार करता है। जैसे वह मिथ्या व्यवहार वैसे सारा ही व्यवहार मिथ्या है यह याज्ञवल्क्य का भाव है। सपने में तो व्यवहार सच्चा ही लगता है, जगने पर उसका मिथ्यात्व समझ आता है। इसी तरह जाग्रत् का मिथ्यात्व आत्मबोध होने पर समझ आता है। जैसे स्वप्नरूप दोष से व्यवहार मिथ्या वैसे अविद्यारूप दोष से जाग्रत् व्यवहार भी मिथ्या। जैसे स्वप्न से जाग्रत् प्रभावित नहीं होता, वैसे जाग्रत् से (व्यावहारिक से) परमार्थ प्रभावित नहीं होता। श्रुति में 'तदितर इतरं जिघ्रति' इत्यादि जो कहा उसका यही भाव है कि जैसे स्वप्न में मिथ्या द्वैत रहते व्यवहार है वैसे जाग्रत् में भी मिथ्या ही द्वैत रहते व्यवहार है।।८८।।

यस्याम् अविद्याऽवस्थायां भेदभ्रान्तिस्तदा पुमान्।
घ्रातृघ्रेयघ्राणसञ्ज्ञाम् आप्नोत्यन्यां तथा त्रिधाम्।।८९।।
अविद्यायां विनष्टायां घ्रातृघ्राणादिभेदधीः।
विनश्यतीत्यभिप्रेत्य सञ्ज्ञा नास्तीति वर्णितम्।।९०।।
अभिज्ञोऽप्यज्ञवद् भेदं घ्रातृघ्राणादिलक्षणम्।
विजानातीति चेद् मैवं विद्यायां तदसम्भवात्।।९१।।

'फिर नाम नहीं रहता'इसे स्पष्ट करने के लिये बताते हैं कि आत्मा के नाम रहते कब हैं **जिस अविद्या की अवस्था में भेद का भ्रम है तब पुरुष (आत्मा) घ्राता-घ्रेय-घ्राण तथा ऐसे और भी तीन तरह के नाम पा जाता है।।८९।।** अविद्यावस्था अनादि है जिसमें हम सभी हैं और घ्राता आदि विभिन्न नाम पाये जा रहे हैं। तीन तरह के अर्थात् हमारे कर्त्तारूप को, करण रूप को और कर्मरूप को बताने वाले नाम। श्रुति ने 'जिघ्रति' से प्रारंभ किया अतः आचार्य ने घ्राता आदि नाम बताये। द्रष्टा, गन्ता आदि सभी नाम समझ लेने चाहिये। ज्ञेय या कर्म भी आत्मनाम ही हैं यह स्वप्नोपलब्ध ज्ञेयों व कर्मों से निश्चित किया।।८९।।

अतः नाम तभी न रहें जब उक्त अवस्था न रहे यह समझाते हैं **अविद्या विनष्ट होने पर घ्राता-घ्राण आदि भेदघटित अनुभव भी विनष्ट हो जाते हैंइस तात्पर्य से 'उसका नाम नहीं रहता' यह वर्णन किया।।९०।।** विज्ञानघन में 'ज्ञा' का अर्थ और 'संज्ञा' में 'ज्ञा' का अर्थ अलग-अलग है अतः मैत्रेयी की शंका का उन्मूलन हो गया। संज्ञा में औपाधिक भेदानुभव से तात्पर्य है, विज्ञानघन में ज्ञप्तिमात्र से तात्पर्य है। ज्ञप्ति में त्रिपुटी नहीं, संज्ञा में त्रिपुटी है। नाम भी तभी पड़ते और काम में लिये जाते हैं जब भेदानुभूति हो या करनी-करानी हो। अविद्या मिटने पर उपाधि न रह जाने से भेदानुभव अतः नाम नहीं रहता यह भाव है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय ऐसा भेद भी उस विज्ञानघन में सम्भव नहीं। तथापि जीवन्मुक्तिदशा में प्रारब्ध शेष रहते उपाधि-सम्पर्क प्रतीत हो जाने से व्यवहार संभव रहता है लेकिन मुक्त को वह बाधित के रूप में ही भासता है।।९०।।

मुक्त के व्यवहार पर निर्भर कर प्रश्न उठता है कि संज्ञा की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती होगी; किन्तु बाधित-अबाधित के भेद से व्यवहार और संज्ञानिवृत्ति दोनों उपपन्न हैं, यह स्पष्ट करते हैं **क्या तत्त्ववेत्ता भी घ्राता-घ्राण आदि भेद को वैसे ही समझता है जैसे अज्ञानी? नहीं, क्योंकि विद्या उत्पन्न हो जाने पर वैसे ही समझना संभव नहीं।।९१।।** जिस विद्या की स्थिति में तो जगत् इसका आत्मा ही हो गया तब

यस्यां तु विद्यावस्थायाम् आत्मैवाऽस्याऽभवज्जगत् ।
तदा कः केन किं जिघ्रेद् अद्वैते परवस्तुनि ।।६२।।
दृष्टगोचरवत्[1] सर्वं कार्यकारणवज्जगत् ।
ध्वस्तात्मान्ध्यस्य विदुषः सम्यग्ज्ञानोदये भवेत् ।।६३।।

अद्वैतरूप परमार्थ सत्य में कौन किससे किसे सूँघे!।।६२।। सम्यग् ज्ञान का उदय होने पर जिस विद्वान् का आत्मसम्बद्ध अज्ञान ध्वस्त हो चुका उसके लिये कार्य-कारण आदि भेदों वाला जगत् वैसे ही नहीं है जैसे छठे प्रमाण का विषय 'नहीं है' ।।६३।। 'वैसे ही' नहीं समझता यह ज़रूरी बात है। जीवन रहते समझता तो है पर सत्य नहीं समझता। जैसे भगवान् ने 'कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तः' में बताया कि 'कुर्यात्' लेकिन 'असक्तः', वैसे प्रतीतिमात्र हो सकती है लेकिन जैसे अज्ञ को प्रतीत भेद सत्य लगता है वैसे तत्त्वज्ञ को असत्य लगता है। श्रुति ने कहा 'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाऽभूत तत् केन कं जिघ्रेत्' आदि अर्थात् विज्ञान हो चुकने पर सर्व अर्थात् जगत् आत्मा ही हो जाता है। अतः एकमात्र परमात्मवस्तु रहते त्रिपुटी की सत्यरूप से उपलब्धि ही असंभव है। 'कौन किससे किसे' अर्थात् कर्त्ता कर्म करण को सचमुच विभिन्न समझते हुए व्यवहार नहीं हो सकता। 'सम्यग् ज्ञान' अर्थात् अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति से हुआ साक्षात्कार। उससे अज्ञान दूर होते ही संसार मिट जाता है। संसार कार्य-कारण के प्रवाह का नाम है। यद्यपि प्रपंच नाम-रूपात्मक या पंचभूतात्मक है तथापि उसका उपयोग निर्भर करता है कि हम प्रपंच को कार्य या कारण के रूप में ग्रहण करें। इसके लिये मात्र अविद्योपाधि नहीं वरन् व्यक्त-अव्यक्त उपाधि (स्थूल-सूक्ष्म शरीर) में तादात्म्य आवश्यक है, तभी कार्य-कारण का विभाजन संभव है। जब मूलभूत अविद्या ही निवृत्त हो चुकी तब कार्याविद्या असम्भव होने पर संसार न रहना ठीक है। अतः तब के लिये संसार को 'षष्ठगोचर' कहा। हमारी पाँच ही इंद्रियाँ हैं। न छठी इंद्रिय है अतः न कोई उसका विषय। अथवा षष्ठ अर्थात् छठा प्रमाण अनुपलब्धि, जिसका विषय होता है अभाव। अभाव का स्वरूप है 'नहीं है'। सारा कार्य-कारण संसार तत्त्वज्ञ की दृष्टि में नहीं ही है। (श्लोक में 'षष्ठगोचरवत्' मानकर अर्थ किया। अनुभूतिप्रकाश के प्रायः संस्करणों में 'दृष्टगोचरवत्' पाठ है जिसका अर्थ है : अविद्यानिवृत्ति के अनन्तर संसार वैसे ही ज्ञात हो चुकता है जैसे प्रत्यक्ष के विषय, क्योंकि वेद ने कहा है कि एक आत्मतत्त्व को जान

---

[1] वार्तिके (२.४.४७२) सारे (२.४.१७४) च 'षष्ठगोचरवत्' इति पाठः। अनुभूतिप्रकाशस्य नि. सा. मद्रसंस्करणयोः 'दृष्टे'ति पाठः। पुणेसंस्करणे द्वयोर्हस्तलेखयोः षष्ठेति पाठः।

विज्ञानघनः

ग्राहकादिविभागोऽत्र नास्ति तद्धेत्वसम्भवात्।
चिन्मात्रस्य स्वतः सिद्धेर्विज्ञानघनतेरिता।।६४।।
मुक्तस्य व्यवहारस्तु भ्रान्तिवासनया कृतः।
भ्रान्तिनाशेऽपि संस्काराऽनुवृत्तिर्दृश्यते खलु।।६५।।
वासनामात्रसंज्ञा तु देहे सति न वार्यते।
वस्तुत्वभ्रान्तिसंज्ञैव प्रबुद्धस्याऽत्र वार्यते।।६६।।

लेने से सब कुछ जान लिया जाता है, अतः अब वह क्यों किसी उपाय से किसी विषय को जानेगा? न जानने तक ही साधनोपयोग से विषय जानने पड़ते हैं, सर्वज्ञता हासिल हो चुकने पर इसके कोई मायने नहीं। षष्ठगोचरवत्‌ही उचिततर पाठ है।)६१-३।।

त्रिपुटी के बिना ही तत्त्वबोध में आत्मप्रकाश कायम रहता है यह बताते हैं **ग्रहण करने वाला (ग्रहण के साधन और विषय)ये भेद मोक्षदशा में नहीं क्योंकि इनका हेतु अज्ञान तब नहीं बचता। तब केवल चेतन स्वयमेव भासमान रहता है, इसे बताने के लिये श्रुति ने आत्मा को विज्ञानघन कहा है।।६४।।** जो कुछ सिद्ध (प्रकाशित) होता है वह त्रिपुटी रहते हीऐसा नियम नहीं क्योंकि जो स्वयं विज्ञानरूप है उसकी सिद्धि त्रिपुटी के बिना भी है। उससे अन्य ही अपनी सिद्धि किसी से चाह सकता है और वह सिद्धि किसी साधन से हो भी सकती है। जो स्वयं ज्ञान है उसे किसी ज्ञाता से विषय होने की जरूरत नहीं अतः किसी साधन (प्रमाण) की ज़रूरत नहीं। इसलिये विद्यावस्था में बिना त्रिपुटी के चिन्मात्र है।।६५।।

त्रिपुटी नष्ट हो चुकने पर भी मुक्त का व्यवहार उपपन्न करते हैं **मुक्त का व्यवहार तो भ्रम के संस्कार से कर लिया जाता है। भ्रम मिट चुकने पर भी उसका संस्कार रह जाये यह देखा ही गया है।।६५।।** ज्ञान से पूर्व कर्तृत्व भोक्तृत्व अज्ञान के कारण है, ज्ञान के पश्चात् संस्कारों के कारण कर्त्ता जैसा, भोक्ता जैसा लगना बना रहता है। 'जैसा' अर्थात् मुक्त को मालूम रहता है कि वह लग ही कर्त्ता-भोक्ता रहा है, है वह अकर्त्ता-अभोक्ता ही।।६५।।

उक्त ढंग से तो 'प्रेत्य' अर्थात् जीवभाव हटने पर नाम भी रह ही सकता है यह बताते हैं **(मुक्त का) शरीर रहते केवल संस्काररूप संज्ञा रहेइसका निषेध नहीं है। तत्त्वज्ञ को संसार में वास्तविकता का भ्रम नहीं रहता, यही तात्पर्य है।।६६।।** जीवनपर्यन्त नाम और तन्निमित्तक भेदज्ञानरूप संज्ञा के बचे रहने का निषेध नहीं। केवल

ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा न संज्ञा विषये यथा।
प्रतीच्यपि तथा संज्ञा प्रबुद्धस्य न विद्यते।।९७।।
ज्ञानोत्पत्तौ न संज्ञाऽस्तीत्यास्तां तावद् इहात्मनि।
अपि सत्याम् अविद्यायां न संज्ञाऽस्त्यात्मनीदृशी।।९८।।
ग्राहकादि जगत् सर्वं येन कूटस्थसाक्षिणा।
लोकः सर्वो विजानाति जानीयात् केन तं वद।।९९।।

यही बताया है कि तत्त्वज्ञ को भेद, भेदज्ञान और भेदव्यवहार (नाम) में यह भ्रम संभव नहीं कि ये सत्य हैं। जैसे भूगोल-खगोल का जानकार भी धरती को सपाट, स्थिर एवं सूर्य को चलता हुआ ही देखता है पर जानता है कि स्थिति ऐसी है नहीं, वैसे तत्त्वज्ञ को भेद दीखता भले ही है पर वह जानता है कि यह वास्तविकता नहीं है।।९६।।

संसार-संज्ञा की तरह आत्म-संज्ञा भी नहीं रहती यह सूचित करते हैं **प्रबुद्ध के लिये जैसे (संसार के बारे में) ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय यह संज्ञा नहीं रहती वैसे प्रत्यगात्मा के बारे में भी संज्ञा नहीं रहती।।९७।।** प्रत्यक् को उपाधियुक्त समझने पर ही संज्ञा होती है, विशेष व्यवहार होता है; उपाधिमुक्त जान लेने पर स्वयं में भेदबुद्धि (मैं किसी से भिन्न हूँ, मुझ से कुछ भिन्न है यह अनुभव) संभव नहीं। यहाँ भी संस्कारमात्र से व्यवहार की मनाही नहीं है।।९७।।

आत्मा में 'संज्ञा' का वास्तविक अभाव व्यक्त करते हैं **जब अविद्या रहते भी आत्मा में त्रिपुटीरूप संज्ञा वास्तव में नहीं है तब ज्ञान उत्पन्न हो चुकने पर संज्ञा नहीं इसमें क्या कहना!।।९८।।** आत्मा में वस्तुतः उपाधिसम्बंध असंभव होने से विद्या-अविद्या दोनों दशाओं में संज्ञा (भेदज्ञान, भेदव्यवहार) का वास्तविक अभाव ही है। अभी भी 'मैं हूँ' के ज्ञान में किसी त्रिपुटी का निर्धारण संभव नहीं क्योंकि कोई सच्ची त्रिपुटी है ही नहीं। व्यवहार-निर्वाह के लिये अंगीकार में कोई हानि नहीं, वैसी संज्ञा तो मुक्त में भी स्वीकार ही है।।९८।।

सबका प्रकाशक आत्मा कभी प्रकाश्य हो ही नहीं सकता यह निर्णय देते हैं **ज्ञाता आदि सारा जगत् जिस अपरिवर्तनीय साक्षी से सब लोग जानते हैं उस साक्षी को किससे जानें? बताओ।।९९।।** लोग ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय इस त्रिपुटिरूप जगत् को जिस आत्मा के चित्प्रकाश से समझते हैं उस आत्मा 'को' जानना किसी साधन से संभव नहीं। सबके प्रकाशक सूर्य को जैसे किसी अन्य प्रकाश से नहीं जान सकते वैसे आत्मा को किसी साधन से कोई जाने यह सम्भव नहीं।।९९।।

बोद्धृत्वालोचनेनापि न संज्ञा प्रत्यगात्मनि।
न बोद्धा गृह्यतेऽन्येन[1] बोधेन विषयेण वा।।१००।।
व्यावहारिकसंज्ञाऽसौ संसारिण्यपि दुर्लभा।
किमु निःशेषविध्वस्तसंसारार्णवकारणे।।१०१।।

इस प्रकार 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्?' को समझाया अर्थात् आत्मप्रकाशन में समर्थ साधन का निषेध और ऐसे साधन का अनुपयोग सिद्ध किया। आगे श्रुति ने कहा है 'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्' अर्थात् जानने वाले को कौन जाने! इसे समझाते हैं **आत्मा की बोद्धा-रूपता का विचार करने से भी निश्चय होता है कि प्रत्यगात्मा में 'संज्ञा' नहीं है (प्रत्यगात्मा के बारे में भेदज्ञान प्रवृत्त नहीं होता)। अपने से अन्य किसी बोध या विषय से बोद्धा का ग्रहण नहीं होता।।१००।।** बोद्धा अर्थात् जानने वाला। बोध अर्थात् जानना। विषय अर्थात् बोध से बोद्धा जिसे जानता है। क्योंकि बोध बोद्धा द्वारा प्रयोग में लाया जाता है इसलिये बोध बोद्धा को विषय नहीं कर सकता और विषय तो जड होने से ही विषय नहीं कर सकते। वस्तुतः बोद्धा भी स्वयं को विषय नहीं कर सकता क्योंकि उसे भी विषय करने के लिये बोध का प्रयोग करना पड़ता है अतः जब वह प्रयोग करेगा तब बोध बोद्धा को नहीं वरन् किसी बोध्य को ही विषय करेगा। वार्तिक में (२.४.४८३) इसीलिये कहा 'बोद्धारमपि चापेक्ष्य न संज्ञा प्रत्यगात्मनि। बोद्धृतज्ज्ञानविषयैर्न बोद्धा गृह्यते यतः।।' लोक में भी आत्मा कभी ग्रहण नहीं होता। शरीर के श्वासादि की गति न देखकर ही समझना पड़ता है कि ज़िन्दा है या मरा, जैसे कमरे में घड़ा है या नहीं यह आँख से दीखता है ऐसे आत्मा का बोध सम्भव नहीं।।१००।

अज्ञदशा में भी बोद्धा का बोध संभव नहीं तो तज्ज्ञदशा में कैसे होगा? **संसारी के बारे में भी यह व्यावहारिक 'संज्ञा' सुलभ नहीं तो संसारसमुद्र का कारण सर्वथा समाप्त हो चुकने पर यह नहीं रहे इसमें क्या कहना!।।१०१।।** संसारी अर्थात् जन्मने-मरने वाला जीव, जब उसे ही देख-सुन नहीं सकते तब असंसारी को देख-सुन नहीं सकते इसमें कहना ही क्या! 'संज्ञा' का अर्थ ही बताया था भेदज्ञान। भेद उपाधियों से होता है। जहाँ उपाधि हैं वहीं जब भेदव्यवहार साक्षात् संभव नहीं तब जहाँ उपाधि है ही नहीं वहाँ वह व्यवहार हो सके यह असंभव ही है।।१०१।।

---

[1] 'ऽनेन' इति मुत्तु-मद्रपाठः।

इत्येवम् अपरायत्तबोधेनात्यन्तिको लयः।
निदिध्यासनरूपोऽत्र फलभूतः प्रकीर्तितः।।१०२।।
याज्ञवल्क्योऽत्र मैत्रेयीम् अन्वगृह्णाद् यथा तथा।
मुमुक्षुम् अनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१०३।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे बृहदारण्यकोपनिषदि मैत्रेयीविद्याप्रकाशो नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।

पूर्वोक्त (श्लोक. ७६-८) विषय में आये संदेह हट चुकने पर उस प्रसंग को समाप्त करते हैं **इस प्रकार 'अपरायत्त बोध' से आत्यन्तिक लय होती है। यह बोध निदिध्यासनात्मक तथा साक्षात्कार का फल बताया गया है।।१०२।।** 'पर' मायने अन्य किसी पर 'आयत्त' अर्थात् निर्भर; ऐसा जो न हो इस तरह के बोध से ही अविद्यानिवृत्तिरूप आत्यन्तिक लय हुआ करती है। दृढ बोध के लिये ही इस शब्द का प्रयोग है। इसके बाद क्षणभर को भी प्रतीति के दौरान भी स्वयं में कर्तृता आदि का और प्रपंच में सत्यता का भ्रम संभव नहीं। जब तक विचारादि की सहायता से निश्चय रहे तब तक परायत्त बोध और जब बिना किसी सहारे के रहे तब अपरायत्त बोध। इसे श्रवण-मनन की समाप्ति पर होने वाला निदिध्यासन या विज्ञान कहते हैं और यही तत्त्वज्ञान का फल है।।१०२।।

अध्याय समाप्त करते हैं **याज्ञवल्क्य ने जैसे मैत्रेयी पर अनुग्रह किया वैसे विद्यातीर्थरूप महेश्वर (मुझ) मुमुक्षु पर कृपा करें।।१०३।।** याज्ञवल्क्य ने जो विस्तार से तत्त्वोपदेश दिया यही उनका अनुग्रह था। आचार्य शिष्य के अज्ञान का निवारण करे यही उसका भी अनुग्रह होता है। श्रीविद्यारण्य सभी मुमुक्षुओं की ओर से यह प्रार्थन करते हैं कि विद्यातीर्थ-सृदश सभी आचार्य उन सरीखे सभी शिष्यों पर अनुग्रह करें। इस तरह मैत्रेयीविद्या का प्रकाशक यह पन्द्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।१०३।।

।। पन्द्रहवाँ अध्याय।।

ॐ

मधुविद्याप्रकाशः

षोडशोऽध्यायः

पञ्चमे ब्राह्मणे दध्यङ्ङाथर्वण उवाच याम् ।
अश्विनोर्मधुविद्यां ताम् अत्र स्पष्टीकरोम्यहम् ।।१।।

मधुविद्याप्रकाश : सोलहवाँ अध्याय

शुक्ल यजुर्वेद की शतपथ ब्राह्मण में आयी बृहदारण्यक उपनिषत् में मधु, मुनि और खिल नाम के तीन काण्ड (हिस्से) हैं। उपनिषत् के प्रथम-द्वितीय अध्याय में मधुकाण्ड का विस्तार है। मोक्ष का निरपेक्ष साधन आत्मस्वरूप का साक्षात्कार बताकर उसकी अद्वितीयता स्पष्ट की यह समझाने से कि आत्मा ही सब में समान है, सब आत्मा से ही प्रकट है, सब उसी में विलीन होता है। इसी परिस्थिति को सिद्ध करने के लिये पाँचवाँ मधुनामक ब्राह्मण है जिसमें इस काण्ड का उपदेश समाप्त है, छठे ब्राह्मण में वंशमात्र का (आचार्य-परम्परा का) स्मरण है। समस्त जगत् में परस्पर उपकार्य-उपकारकता होने से जगत् एक कारण वाला निर्धारित होता है। संसार में सबका सब पर उपकार है। यद्यपि आत्मा की सर्वहेतुता कह चुके तथापि आगम प्रधान होकर वेद उसको निर्णीत कर रहा है। विद्याफल सर्वात्मता का यहाँ परिचय मिल जाता है। जैसे एक माता के पुत्र आपस में उपकारक होते हैं ऐसे संसार में सब आपस में उपकारक होने से एककारणक होने संगत हैं। इस मधुविद्या का अनुभूतिप्रकाश में संग्रह करते हुए आचार्य इसके उपदेशक और अधिकारी का उल्लेख कर अध्याय प्रारंभ की प्रतिज्ञा करते हैं **पाँचवें ब्राह्मण में दध्यङ् आथर्वण ने अश्विनीकुमारों को जो मधुविद्या सुनायी उसे इस अध्याय में मैं स्पष्ट करता हूँ।।१।।** पुराणों में दधीचि नाम से ज़्यादा प्रसिद्ध ऋषि का वेदों में दध्यङ् नाम से कथन है। वे कर्मकाण्ड व ब्रह्मकाण्ड दोनों में निष्णात सत्यप्रतिज्ञ ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। देव-भिषक् अश्विनी कुमार उनके कृपापात्र शिष्य थे फिर भी अयोग्य देखकर उन्हें दध्यङ् ने योग्यताप्राप्ति के लिये साधना बताकर कहा था कि योग्य हो जाने पर उन्हें उपदेश दिया जायेगा। अधिकारी बनकर गुरु के समीप आने पर उन्हें जो उपदेश दिया वही यह मधुविद्या है जो बृहदारण्यकोपनिषत् के दूसरे अध्याय के पाँचवें ब्राह्मण में वर्णित है। इस कथांश को स्वयं आगे श्लोक २६ आदि में कहेंगे।।१।।

मधुत्वम्

परस्परोपकारित्वं पृथिव्याः प्राणिनामपि।
यत् तद् मधुत्वं विज्ञेयम् उपकारस्तु सर्जनम्।।२।।
जन्तुभिः पृथिवी सृष्टा स्वकर्मफलभुक्तये।
पृथिव्याऽप्यात्मभोगार्थं सृष्टाः सर्वेऽपि जन्तवः।।३।।

प्रथम वाक्य है 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायम् अस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो, यश्चायम् अध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयम् आत्मेदममृतम् इदं ब्रह्मेदं सर्वम्' ।।१।। यह प्रसिद्ध सब भूतों की मधु है अर्थात् कार्य है। जैसे बहुत-सी मक्खियाँ एक छत्ता बनाती हैं वैसे सभी भूतों ने पृथ्वी बनायी है। इसी तरह सभी भूत भी पृथ्वी के मधु, कार्य हैं। साथ ही, पृथ्वी में चिन्मय, प्रकाशमय, अमरणधर्मा पुरुष है एवं शरीर में भी वैसा ही पुरुष है। वे दोनों लिंगाभिमानी भी उक्त ढंग से मधु ही हैं। उक्त चारों में (पृथ्वी, सारे भूत, पार्थिव पुरुष और शारीर पुरुष) परस्पर मधुता होने से निश्चित जो इनका एक कारण वही परमात्मा है। वही सत्य है, बाकी सब वाचारम्भण (कहने भरको) हैं। पृथ्वी के सन्दर्भ में कही बात अगले वाक्यों में जल, अग्नि,वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, बिजली, मेघ (स्तनयित्नु), आकाश, धर्म, सत्य, मानुष (अर्थात् सभी प्राणिजातियाँ) और आत्मा (विज्ञानमय)इन सबके बारे में बतायी है। अंत में आत्मा का अधिपति, राजा रूप में वर्णन है। विशेष समझने की बात मधुरूपता का स्पष्टीकरण करते हुए व्याख्यारंभ करते हैं **पृथ्वी और प्राणियों की जो आपसी उपकारिता उसे मधु समझना चाहिये। यहाँ 'उपकार' तो सर्जन (सृष्टि) ही है।।२।।** पृथ्वी का प्राणियों पर और प्राणियों का पृथ्वी पर जो उपकार है उसे मधु-शब्द से कहा गया। उपकार का स्वरूप सृष्टि, उत्पादन है अर्थात् पृथ्वी ने प्राणियों को एवं प्राणियों ने पृथ्वी को उत्पन्न किया है (सार में 'सर्जने' पाठ है अर्थात् दोनों की जो सृष्टि होती है उसमें दोनों का उपकार है।)।।२।।

उक्त परस्पर सर्जकता व्यक्त करते हैं **अपने कर्मों के फल भोगने के लिये जन्तुओं द्वारा पृथ्वी उत्पादित है एवं पृथ्वी द्वारा अपने (धरित्री रूप के) भोग के लिये सारे ही जन्तु उत्पादित हैं।।३।।** प्राणियों के पुण्य-पापों का फल तभी भोगा जाये जब भोग-भूमि-रूप पृथ्वी हो। विभिन्न कर्मों का फल भूलोक में ही भोगना सम्भव है। ऐसे फलों का उपभोग तभी हो जब पृथ्वी उत्पन्न हो। अदृष्ट और प्रयोजन दोनों

पार्थिवाणि शरीराणि भुज्यन्ते जन्तुभिस्तथा।
पृथिव्याऽपि धरित्रीत्वं भुज्यते जन्तुधारणात्[1] ।।४।।

ही पदार्थ सृष्टि में कारण हैं। परमेश्वर की सृष्टि में निष्प्रयोजन कुछ नहीं है। क्योंकि जन्तुओं ने ऐसे कर्म किये जिनका फल भूमि पर ही भोगा जाये इसलिये जन्तु भूमि की उत्पत्ति में हेतु बने यह उचित है। पृथ्वी तो जन्तुओं के प्रति स्पष्ट ही कारण है क्योंकि शरीर, इन्द्रिय आदि पार्थिव हैं। भूलोक में शरीर पार्थिव हैं और घ्राण उपस्थ इन्द्रियाँ भी पार्थिव हैं। किंच, आत्मा को जो आवश्यक भोग, उन्हें सम्भव करने के लिये जन्तुओं की उत्पत्ति में पृथ्वी का उपकार मान्य है। अथवा उत्तर श्लोक में बताये जाने वाले अपने भोग के लिये पृथ्वी ने जन्तुओं की उत्पत्ति की अतः वे उसके मधु हैं। यदि जन्तु न होते तो भूमिकी भोगभूमिता ही संभव न होने से निष्प्रयोजन हो जाने पर पृथ्वी उत्पन्न ही न होती! अतः पृथ्वी ने अपने स्वरूप-लाभ के लिये जन्तु पैदा कियेयह भी ठीक है। केवल जन्तु ही पृथ्वी के प्रति और केवल पृथ्वी ही जन्तुओं के प्रति पर्याप्त कारण तो हैं नहीं, इसलिये 'सर्जने उपकारः' कहा था कि एक-दूसरे की उत्पत्ति में दोनों का योगदान है। अतः श्रुति ने सीधा कारण या कार्य न कहकर 'मधु' शब्द रखा। यद्यपि आगे (श्लोक ८) 'कार्य' शब्द आयेगा तथापि भाव है कि क्योंकि सभी में सभी की कार्यता है अर्थात् सबके प्रति सभी कारण हैं इसलिये पर्याप्त कारणता सब में है, किसी एक में नहीं। जन्तुओं की उत्पत्ति अर्थात् उनके संघातों की उत्पत्ति।।३।।

पूर्व श्लोक में भोगार्थ सृष्टि कही अतः आपसी भोग-साधनता ही व्यक्त करते हैं **जन्तुओं द्वारा पृथ्वी-प्रधान शरीर भोगे जाते हैं तथा जन्तुओं को धारण करने से पृथ्वी द्वारा धरित्रीरूपता भोगी जाती है।।४।** जन्तु पृथ्वी का नानाविध भोग करते हैं लेकिन अतिनिकट और अनिवार्य भोग करते हैं अपने-अपने शरीरों का। शरीर पाँचों भूतों के कार्य हैं लेकिन भूलोक में पृथ्वी-प्रधान शरीर होते हैं। पृथ्वी जन्तुओं को धारण करती है इससे उसकी धरित्रीरूपता संभव है। पृथ्वी देवता को जन्तुधारण से सन्तोष होता है कि इतने जन्तुओं को धारण किया, यह उसका भोग है। पृथ्वी आदि से यहाँ अभिमानी देवता समझने चाहिये। अचेतन जो पिण्डरूप पृथ्वी एवं उसके कार्यभूत शरीर इन्द्रिय, वे तो प्राणियों के प्रति भोग्य हैं जबकि पृथ्वी देवता-

---

[1] अत्र श्रीहरिहरकृपालुः 'पृथिव्याऽपि धरित्रीत्वाद् भुज्यन्ते जन्तुधारणात्' इति पिपठिषति। पृथिव्या जन्तवो भुज्यन्ते पाल्यन्ते तेषां धारणाद् इति तदाशयः।

लिङ्गात्मा पुरुषः

अस्यां पृथिव्यां यो भास्वान् आमोक्षम् अविनश्वरः ।
लिङ्गात्मा मध्वसौ सर्वभूतानां तानि तस्य च । ।५ । ।
अध्यात्मं यश्च शारीरो लिङ्गात्मा पार्थिवांशजः ।
स चाऽपि मधु सर्वेषां सर्वभूतानि तस्य च । ।६ । ।

रूप चेतन जन्तुशरीरों का भोक्ता है। ऐसे ही शरीर-प्रधानता की दृष्टि से प्राणी पृथ्वी के भोग्य हैं एवं चेतन-प्रधानता से जीव पृथ्वी के भोक्ता हैं। किंच जन्तुओं का भोजन भी पार्थिवप्रधान होने से जन्तु पृथ्वी के भोक्ता स्पष्ट हैं। धारण और पालन करने वाली होने से पृथ्वी जन्तुओं के प्रति भोक्ता है। इस भाव से 'पृथिव्या भुज्यते पाल्यते' यह अर्थ है। 'जन्तुभिर्भुज्यन्तेऽभ्यवह्रियन्ते भक्ष्यन्ते' यह अर्थ है। यह पंडित हरिहरकृपालु की व्याख्या है जिसके अनुसार उत्तरार्ध में पाठान्तर की कल्पना है। दोनों अर्थ संगत हैं। इस प्रकार परस्पर कारणकार्यता से उनकी एकात्मजन्यता सिद्ध होती है। ।४ । ।

इस प्रकार पृथ्वी और जन्तु अर्थात् उपाधियों का परस्पर मधुरूप बताया। आगे श्रुति ने 'यश्चायमस्याम्' आदि से लिंगात्मा (उपहित) का भी उसी प्रकार मधुरूप व्यक्त किया है, उसे समझाते हैं **इस पृथ्वी में जो दीप्तिमान् और मोक्ष तक स्थायी लिंगात्मा (सूक्ष्मोपाधिक) है वह सब भूतों का मधु है और सब भूत उसके मधु हैं। ।५ । ।** 'दीप्तिमान्' मायने अर्थों का प्रकाशक, ज्ञानशक्तिसम्पन्न। सूक्ष्म शरीर की समाप्ति केवल आत्मज्ञान से अविद्या निवृत्त होने पर होती है, इसी से 'लिङ्गभङ्गो मोक्षः' भी प्रसिद्ध है। मोक्ष-पर्यन्त बचा रहने से श्रुति ने लिङ्गात्मा को अमृतमय कह दिया, वास्तविक अमृत के अभिप्राय से नहीं। पृथ्वी में लिंगात्मा अर्थात् जिसे पहले पृथ्वी देवता बताया। जैसे उपाधि वैसे उपहित भी मधु अर्थात् उपकारी एवं उपकृत है। ।५ । ।

श्रुति में कहे अध्यात्म पुरुष की भी मधुरूपता बता देते हैं **और जो अध्यात्म अर्थात् तत्तत् प्राणियों के शरीरों में स्थित लिंगात्मा है वह पार्थिव आदि भौतिक अंशों से उत्पन्न है। वह भी सब भूतों का मधु और सब भूत उसके मधु हैं। ।६ । ।** प्रत्येक जीव जैसे पृथ्वी आदि बाह्य जगत् का मधु है वैसे अन्य सब जीवों का भी मधु है। यद्यपि लिंगात्मा भौतिकांशों से साक्षात् जन्य नहीं तथापि जिस लिंग से वह उपहित होता है वह भौतिकांशों से जन्य है ही। जीवों में पृथ्वी आदि के द्वारा भी परस्पर मधुता है और सीधे भी परस्पर मधुता है। सब भूतों ने पृथ्वी बनायी

मधुविद्याप्रभावः

साध्यात्मं साऽधिदैवं च साधिभूतम् इदं जगत्।
एकैकस्यात्मनः कृत्स्नं भोग्यत्वेनाऽवतिष्ठते।।७।।
सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात् सर्वः सर्वस्य भोजकः।
इत्येषा मधुविद्याऽत्र वैषम्यक्लेशहारिणी।।८।।

अतः हमें पृथ्वी मिल रही है इसके लिये हम सबसे उपकृतयों तो पृथ्वी द्वारा मधुता है। बिना पृथ्वी के भी विभिन्न दृष्टियों से हमारा परस्पर उपकार होने से भी मधुता है।।६।।

पूर्वोक्त मधुरूपता का निगमन करते हैं **अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत समेत सारा जगत् प्रत्येक आत्मा के भोग्यरूप से अवस्थित है।।७।।** यह स्वानुभवसिद्ध है कि बताये ढंग से समझें तो सारा जगत् हम सबका भोग्य है। 'प्रत्येक आत्मा' अर्थात् जो भी स्वयं को जीव जान रहा है वह जगत् का भोक्ता है। थोड़ी-सी चीज़ों को समझ-बूझकर भोग रहा है, बाकी को बिना समझे भोग रहा हैयह भले ही अन्तर हो। पृथ्व्यादि अधिभूत, उनके देवता एवं शारीरयों अध्यात्मादि त्रितयरूप ही समस्त संसार भोग्य है यह भाव है।।७।।

मधुविद्या को समझने का प्रत्यक्ष फल दिखाते हैं **सभी सबका कार्य और सभी सबका भोग करने वाले हैंयह यहाँ कही मधुविद्या विषमता और उससे होने वाला क्लेश मिटा देती है।।८।।** कार्य-भोज्य से कारण व भोजक (भोक्ता) बेहतर समझे जाते हैं अतः कार्य व भोज्य को विषमता महसूस होकर दुःख होता है कि हम कारण व भोजक नहीं हैं। किन्तु मधुविद्या समझा देती है कि सभी परस्पर कारण और भोजक भी हैं अतः सबमें समानता आ जाने से उक्त क्लेश (दुःख) दूर हो जाता है। चेतनांश लिंगात्मा में है जिससे उपभोग होता है और जडांश भक्ष्य बनकर पालन करने से भोजक बनता है। 'मैं सबका उपकारक हूँ' इस निश्चय से स्वयं में किसी तरह की हीनता नहीं आती तथा 'सब से उपकृत हूँ' इस निश्चय से किसी के प्रति क्रोध या अमर्ष नहीं होता, स्वयं में अभिमान (दर्प) नहीं होता। यह समता सब क्लेश हटाती है।।८।।

आगे श्रुति है 'अयमेव स योऽयमात्मा, इदममृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम्' अर्थात् 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (२.४.६) से जिसकी प्रतिज्ञा की थी और जिसे मैत्रेयी को अमृतत्वका साधन कहा था एवं जिस ब्रह्म के उपदेश का कथन गार्ग्य-अजातशत्रु संवाद में (२.१) था,

मधुनस्तत्त्वम्

भूतानि भूमिर्द्वे लिङ्गे इत्युक्तं यच्चतुर्विधम्।
मध्वविद्याकृतं तस्य वस्तुतत्त्वमथोच्यते।।६।।
अयमेव स इत्यत्र मधुरूपश्चतुर्विधः।
प्रपञ्चो'ऽयम्' इति प्रोक्तः 'स' इत्यात्मोच्यते परः।।१०।।
अयमेव स इत्युक्त्या सामानाधिकरण्यतः।
प्रत्यङ्मात्रैकयाथात्म्यं प्रपञ्चस्यावबोध्यते।।११।।

जिसके बारे में होने वाली विद्या को ब्रह्मविद्या कहते हैं, वही यह ब्रह्म है जिसके साक्षात्कार से सर्वभाव सुलभ है। चार तरह बँटे संसार की परस्पर मधुरूपता से संसार की ब्रह्मैकहेतुता द्वारा ब्रह्म ही अद्वितीय है यही स्पष्ट किया। इसी वाक्य का अभिप्राय समझाना शुरू करते हैं **प्राणिशरीर, भूमि और दोनों के लिंगात्मायह जो चार तरह का मधु कहा वह अविद्याकार्य ही है। उसका वास्तविक स्वरूप अब बताया जाता है।।६।।** कार्य, कारण, भोग्य और भोक्ता इनकी वास्तविकता का निरूपण होना बाकी है। आत्मा स्वरूप में तो अविभाज्य है लेकिन उसके अज्ञान के चलते उक्त चतुर्विधता उपलब्ध है। अविद्याजन्य होने से निश्चित है कि ये चारों मधु सत्य नहीं अतः इनका सत्य विज्ञेय है।।६।।

मधु के अनुवाद से परमेश्वरता का विधान व्यक्त करते हैं' **अयमेव सः' में चार प्रकार का मधुरूप प्रपंच 'अयम्' कहा और 'सः' से परमात्मा कहा।।१०।।** चार प्रकार अर्थात् पृथ्वी-पृथ्वीलिंग, भूत-भूतलिंग। ये चार तरह के मधु अर्थात् परस्पर कार्य कहे। इससे विलक्षण इनका साक्षी अपरोक्ष आत्मा 'सः' कहा। इनमें मधु का अनुवाद और परमात्मा का विधान है।।१०।।

उक्त अनुवाद-विधान से मधु और आत्मा का आपसी सम्बन्ध क्या बताया यह समझाते हैं **'यह ही वह है' यों कहने से समानाधिकरणता द्वारा समझाया कि प्रपंच की वास्तविकता अद्वितीय केवल प्रत्यग्वस्तु है।।११।।** एक ही विभक्ति में कहे शब्दों का आपसी सम्बन्ध समानाधिकरणता (सामानाधिकरण्य) कहलाता है। इससे अर्थों का सम्बन्ध चार तरह का हो सकता है १) एक के बाधपूर्वक दूसरे का विधान। 'साँप रस्सी है' अर्थात् साँप नहीं वरन् रस्सी है। २) अध्यास, आरोप। 'शालग्राम विष्णु है' अर्थात् शालग्राम में विष्णुरूपता का आरोप विवक्षित है। ३) विशेषण। 'लाल कपड़ा' अर्थात् लाली जिसका विशेषण ऐसा कपड़ा। ४) ऐक्य। 'वही

स इत्यनेन निर्देष्टुम् अतीतग्रन्थवर्णितः।
योऽयम् इत्यादिभिर्वाक्यैश्चतुर्भिः स्मार्यते परः।।१२।।
आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तम् अमृतत्वेन वर्णितम्।
नेति नेत्युदितं ब्रह्म तत् सर्वमभवत् त्विति।।१३।।
आत्माऽमृत-ब्रह्म-सर्वशब्दैः प्राक् प्रतिपादितम्।
वस्त्वस्य मधुनस्तत्त्वम् इति वाक्यार्थ ईरितः।।१४।।

यह पुरुष' अर्थात् वह-यह के विभाग से रहित पुरुषमात्र। प्रसंगानुसार अर्थ निश्चित होता है। प्रकृत श्रुति में प्रपंच का बाध और प्रत्यग्वस्तु का विधान विवक्षित है। भोक्ता, भोग्य, कार्य और कर्त्ता इन चार रूपों वाला है प्रपंच जिसका यथार्थ रूप में आत्मा प्रत्यग्वस्तु है। इसी प्रत्यक् को पूर्व में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' कहा था।।११।।

श्रुति में 'अयमेव सः योऽयमात्मा' कहा, उसी का भाव बताते हैं **'सः' से उल्लेख करने के उद्देश्य से 'योऽयम्' इत्यादि चार वाक्यों से पूर्व ग्रंथ में वर्णित परमात्मा याद दिलाया गया है।।१२।।** 'द्रष्टव्य' रूप से जिस आत्मा का प्रकरण चला वही यह चार तरह के मधु-रूपों वाला है। मैत्रेयी ने जिस अमरता के उपाय के बारे में पूछा था और याज्ञवल्क्य ने जिसके ज्ञान को अमरता का साधन बताया, वह यही तत्त्व है। 'तुम्हें ब्रह्म सुनाता हूँ' से जिसके बारे में अजातशत्रु गार्ग्य संवाद प्रवृत्त हुआ, वह यही वस्तु है। जिसके ज्ञान से ब्रह्मा को सर्वरूपता की उपलब्धि प्रथमाध्याय में (१.४.६-१०) कही थी, वही यह तत्त्व है। इस प्रकार 'आत्मा', 'अमृत', 'ब्रह्म' और 'सर्व'इन शब्दों से युक्त चारों वाक्यों से परवस्तु का वर्णन किया। 'योयमात्मा' यह एक वाक्य, 'इदममृतं' दूसराइत्यादि चार वाक्य हैं। चारों से कहे को 'सः' से बताया। 'यत्' से अनुवादकर 'तत्' से कथनयही प्रसिद्ध रीति है अतः 'योयमि'त्यादि वाक्यों का पूर्व में सम्बन्ध है, 'सः' का बाद में है।।१२।।

उक्त चार वाक्य याद दिलाते हैं **'आत्मदर्शन कर्त्तव्य है' यह कहा। उसी का अमृतरूप से (मैत्रेयी के प्रति) वर्णन किया। (मूर्त्तामूर्त्तब्राह्मण में) 'नेति नेति' से ब्रह्म का कथन किया। 'वह सब हो गया' द्वारा पूर्ण ब्रह्म बताया।।१३।। आत्मा, अमृत, ब्रह्म और सर्व शब्दों से पूर्व में समझायी वस्तु ही इस 'मधु' की वास्तविकता हैयह 'अयमेव सः' वाक्य का अर्थ है।।१४।।** आत्मा द्रष्टव्य है यह अध्याय १५ श्लोक. १४ आदि में समझाया। 'नेति नेति' का विचार अ. १४ श्लोक. १०८ आदि में हो चुका है। अ. १३. श्लो. २४ आदि में 'तत् सर्वमभवत्' की चर्चा थी। उपनिषत्

उत्तरेष्वपि वाक्येषु मधुरूपमिदं जगत्।
ब्रह्माऽपि मधुनस्तत्त्वं योजयेद् उक्तवर्त्मना।।१५।।

धर्मः

साधारणविशेषाभ्यां धर्मो भोगप्रदो द्विधा।
अधिदेवं तथाऽध्यात्मम् इत्यत्राऽसौ विभज्यते।।१६।।

अ. २. ब्रा.४. कं.३ में वाक्य है 'येनाऽहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्!' इससे पूर्व कण्डिका २ में कहा है 'कथं तेनाऽमृता स्याम्? इति' और 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन इति।' इस प्रसंग से प्रारंभ हुआ आत्मवर्णन आत्मा को अमृतरूप कह रहा है यह समझा जा सकता है। उक्त सब स्थलों में कथित तत्त्व को ही मधु की वास्तविकता कहा, कोई नयी वस्तु नहीं बतायी।।१३-४।।

पृथ्वी के सहारे जैसे चतुर्विध मधु कहे वैसे जलादि के सहारे भी कहे, उन सभी वर्णनों में इसी ढंग से तात्पर्य समझना चाहिये यह बताते हैं **पूर्व प्रतिपादित तरीके से आगे के वाक्यों में भी समझ लेना चाहिये कि मधुरूप यह जगत् और मधु की वास्तविकता ब्रह्म यही प्रतिपादित है।।१५।।** श्रुति में 'जामिता' (आलस्य) न होने से जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशाएँ, चन्द्र, बिजली, मेघ, आकाश, धर्म, सत्य, मानुष, आत्माइन तेरह ढंगों से जगत् की परस्पर मधुरूपता और मधु के तत्त्व को विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है किन्तु 'जल' आदि शब्दों के परिवर्तन के अलावा वाक्य-वाक्यार्थ में कोई विशेष न होने से यहाँ आचार्य ने सबका अलग-अलग उल्लेख नहीं किया, केवल धर्म, सत्य मानुष, आत्माइन तीन पर टिप्पण करेंगे।।१५।।

पहले ग्यारहवें पर्याय में आये 'धर्म' और 'धार्म' पदों का अर्थ करते हैं **साधारण धर्म और विशेष धर्मयों दो तरह से धर्म भोगदान का हेतु बनता है। आधिदैविक विभाग में 'धर्म' से साधारण धर्म एवं अध्यात्मविभाग में 'धार्म' से विशेष धर्म, इस प्रकार बाँटकर धर्म कहा गया है।।१६।।** धर्म शास्त्रनिर्धारित वस्तु है। उसे समस्त मानवता का नियामक तथा जगत् की नाभि (पोषक, धुरी) बताया गया है। विविधता क्योंकि धर्म से नियमित है इसलिये अत्यन्त न्यायसंगत है। नियमात्मना सनातन होने पर भी अनुष्ठेय रूप से वह हमारे नियंत्रण में है। धर्म शब्द से यहाँ धर्म के कार्यभूत पृथ्व्यादि और पार्थिवादि शरीर समझे जायें तो साधारण धर्म अर्थात् धर्म के साधारण कार्य जैसे पृथ्व्यादि और विशेष धर्म अर्थात् धर्म के विशेष कार्य जैसे हमारे शरीरादि। पृथ्व्यादि सभी प्राणियों के लिये समानरूप

सत्यमानुषे

सत्यमानुषयोरेवं विभागं योजयेद् द्विधा।
पृथिव्याद्या मानुषान्ता विराडंशा उदीरिताः।।१७।।

विराड्ढिरण्यगर्भौ

अयमात्मेति निर्देशो विराजोऽभिमतोंऽशिनः।
हिरण्यगर्भस्तत्रत्यः प्रोक्तस्तेजोमयोक्तितः।।१८।।

में उपलब्ध होने से साधारण हैं और शरीर तत्-तत् प्राणी के स्वयं के लिये होने से विशेष हैं।।१६।।

उक्त तरीका सत्य व मानुष पर लागू करते हैं **सत्य और मानुष पर्यायों में उक्त ढंग से उनकी दो तरह से अवस्थिति समझनी चाहिये। पृथिवी से प्रारम्भ कर मानुष पर्यन्त विराट् के अंश कहे गये हैं।।१७।।** बारहवें पर्याय में 'इस सत्य' को सब भूतों का एवं उन्हें इसका मधु कहा तथा अध्यात्म 'सात्य' पुरुष का उल्लेखकर उसे और सत्य में जो पुरुष है उसे ब्रह्म बताया। धर्म-धार्म को जैसे साधारण-विशेष से समझाया वैसे सत्य-सात्य समझने चाहिये यह भाव है। सत्य को 'यह' (इदम्) इसलिये कहा कि उसका कार्य प्रत्यक्ष होता है। किंच अनुष्ठीयमान धर्म की तरह उच्चारण आदि आचार में लाया जाता सत्य भी प्रत्यक्ष होता है। सत्य का सामान्य कार्य पृथ्वी आदि और विशेष देहादि हैं यह पूर्ववत् है। 'सत्येन वायुरावाति' (महाना. २२.१) आदि श्रुति सामान्य को सत्य का कार्य कहती ही है। तेरहवें पर्याय में मानुष व भूतों को परस्पर मधु बताया तथा इस मानुष को पुरुष और अध्यात्म मानुष को ब्रह्म कहा। भाष्यादि में सारी जातियों के उपलक्षण के लिये मानुष का ग्रहण बताया है। धर्म व सत्य से जन्य सभी संघात जातियों से सम्बद्ध होते हैं। वे जातियाँ और उससे युक्त व्यक्ति परस्पर मधु हैं। प्रत्येक की दृष्टि से अपने शरीर में स्थित जाति अध्यात्म तथा अन्य शरीरों में स्थित बाह्य समझी जाती है। मधुवर्णन का प्रारंभ पृथ्वी से किया, वहाँ से मानुष पर्यंत जितने कहे, सब विराट् (समष्टि स्थूल) के विभिन्न हिस्से ही हैं।।१७।।

चौदहवें पर्याय में 'इस आत्मा' को सब भूतों का तथा सबको इस आत्मा का मधु कहा। उसका भाव स्पष्ट करते हैं **'यह आत्मा' इस कथन से अंशी विराट् कहा और तेजोमय आदि वाक्य से विराट् में स्थित हिरण्यगर्भ को कहा।।१८।।** पृथ्वी आदि जिसके एक-एक हिस्से हैं वह समूचा विराट् कहा जाता है तथा उसमें जो

विराड्ढिरण्यगर्भाख्यस्थूलसूक्ष्मशरीरगः।
चिदाभासोऽत्र 'यश्चायमात्मे' त्युक्त्याऽभिधीयते।।१९।।

अधिपती राजा

अपूर्वानपरामध्यप्रत्यग्याथात्म्यवित्तये।
स वा इत्यादिको ग्रन्थः सदृष्टान्तोऽभिधीयते।।२०।।
ननूक्तं मधुनस्तत्त्वम् अयमेव स इत्यतः।
वचनाद् बहुपर्यायैर्भूयोऽप्येतद् दृढीकृतम्।।२१।।
बाढम् एतावता वस्तुसार्वात्म्यं स्यात् प्रपञ्चितम्।
तदेवाऽभिव्यज्यतेऽथ विदुषः फलरूपतः।।२२।।

सूक्ष्म समष्टि का अभिमानी है, जिसे सर्वात्मक अमूर्त रस कहा गया है, वह हिरण्यगर्भ है। क्योंकि विराट्-हिरण्यगर्भ के हिस्सों को मधु कह आये हैं इसलिये इनके समूचे रूप को भी मधु कहना उचित है।।१८।।

इसी पर्याय में 'यश्चायमात्मा' (और जो यह आत्मा) कहा, उसका अर्थ बताते हैं **विराट् नामक स्थूल शरीर और हिरण्यगर्भ नामक सूक्ष्मशरीर में स्थित चैतन्य का आभास इस वाक्य में 'यश्चायमात्मा' इस कथन से अभिहित है।।१९।।** भाष्यकार ने इसी को 'बचा हुआ' कहा एवं इसी के प्रयोजन से देहादि-संघात को स्वीकारा है 'यस्तु परिशिष्टो विज्ञानमयो यदर्थोऽयं देहलिंगसंघात आत्मा स यश्चायमात्मेत्युच्यते।' इस प्रकार उपाधियों में मधुभाव जिस एक के कारण है उसकी ओर निर्देश यहाँ किया गया है। एक तो चित् है लेकिन बंधदशा में वह आभास रूप से उपलब्ध है। किंतु 'यदर्थ' कहने से भाष्यकार ने सूचित कर दिया कि इससे मुख्य आत्मा का इशारा है।।१९।।

सब मधु बताकर श्रुति ने कहा 'स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानाम् अधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा।' इसे समझाना प्रारम्भ करते हैं **पूर्व-अपर-मध्य से वर्जित प्रत्यगात्मा की सचाई के साक्षात्कार के लिये 'स वा' आदि दृष्टान्तयुक्त वाक्य कहा गया है।।२०।। यद्यपि 'यही वह है' से बहुत पर्यायों द्वारा मधु की सचाई कही जा चुकी है और फिर बारम्बार उसे दृढ भी किया जा चुका है तथापि पूर्व में मधुवस्तु की सर्वात्मता का ही विस्तार हुआ जबकि 'स वा' आदि से उसे उस रूप में स्पष्ट कर रहे हैं जो तत्त्ववेत्ता को फलरूप से उपलब्ध होता है।।२१-२२।।** अकारण होने से अपूर्व, अकार्य होने से अनपर, तथा विज्ञानघन होने से अमध्य रूप

स एव मधुतत्त्वाख्य आत्माऽयं तत्त्वविन्मतः।
आधिपत्यं च राजत्वं विदुष्यविदुषोऽधिकम्[1]।।२३।।
अत्राऽधिपतिशब्देन स्वातन्त्र्यम् अभिधीयते।
स्वार्थः प्रत्यक् तदर्थत्वात् सहेतोर्जगदात्मनः।।२४।।
राजत्वं राजनाद् भास्वद् अविलुप्तात्मदर्शनात्।
ब्रह्माऽस्मीतिपरिज्ञानध्वस्तध्वान्तत्वकारणात्।।२५।।

वाला आत्मा शास्त्रप्रसिद्ध है। नाभि-नेमि-अर का दृष्टान्त देकर इसे श्लोक २६ आदि में समझायेंगे। ऐसे आत्मवस्तु को 'स वा' आदि से बता रहे हैं। पूर्व का मधुब्राह्मण भी इसी आत्माके व्याख्यानार्थ है फिर भी 'स वा' आदि में फ़र्क़ है : पूर्व में व्यापकतामात्र कही, जब कि यहाँ बतायेंगे कि वह व्यापकता विद्वान् को अनुभवसिद्ध है। फलरूप से कहने पर विद्या के प्रति विशेष अभिरुचि होती है, यह स्पष्ट लाभ है।।२०-२२।।

इसी भाव को ग्रंथानुसार स्पष्ट करते हैं **जो मधु का तत्त्व कहा गया वही यह आत्मा तत्त्वज्ञ माना गया है। जो इसे नहीं जानता उसकी अपेक्षा इसके जानकार में अधिपतिरूपता और राजा-रूपता की अधिकता होती है।।२३।। यहाँ 'अधिपति' शब्द से स्वतन्त्रता कही जा रही है। 'स्वातंत्र्य' में 'स्व' का मतलब है प्रत्यक्। कारण समेत जगत् का स्वरूप उसी प्रत्यग्रूप स्व के लिये है।।२४।। उसकी राजा-रूपता है क्योंकि वह दीप्तिमान् है। कभी विलुप्त न होने वाले स्वप्रकाश आत्मा के साक्षात्कार से वह उद्दीप्त (सुशोभित) रहता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस पूर्ण बोध से अविद्या ध्वस्त कर चुकने से उसकी सनातन शोभा होती है।।२५।।** तत्त्वज्ञ भी जीवन्मुक्त दशा में राजा, अधिपति कहलाता है जैसे ईश्वर। ब्रह्मनिष्ठ में यह विशेषता उसे अज्ञानी जीवों से विलक्षण बनाती है। भाष्यकार ने सूत्रभाष्य में प्राकृत जनों के संकल्प से मुक्त के संकल्प को इसीलिये विशिष्ट बताया है। राजा-अधिपति प्रायः समानार्थक हैं फिर भी 'राजृ दीप्तौ' धातु से बने राज-शब्द में दीप्ति का भाव है। तत्त्वज्ञने आत्मसम्बन्धी अज्ञान मिटा लिया इसलिये वह स्वप्रकाशरूप से दीप्तिमान् रहता है। अधिपति स्वतंत्र को कहते हैं। आत्मा इसलिये स्वतंत्र है कि सारा जगत् और इसका कारण माया है ही आत्मा के लिये! वही एकमात्र शेषी है।।२३-५।।

---

१. नि. सा. पाठः 'वैदुष्यं विदुषोऽधिकम्'। एवं पुणेपाठः। अत्र सारपाठः मुत्तु-मद्रसंस्करणयोरादृतः स्थापितः।

जगदाधारः

योऽसावविद्यया देही संसारीवाऽप्यभूत् पुरा।
स एव विद्यया ब्रह्मेत्यतोऽस्मिञ्जगदर्पितम्।।२६।।
चक्रस्यारा यथा सर्वे नाभिनेम्न्योः समर्पिताः।
सजीवा निखिला देहा ब्रह्मविद्यर्पितास्तथा।।२७।।
समाप्ता ब्रह्मविद्येयं कैवल्यावाप्तयेऽखिला।
यथोक्तब्रह्मविद्यायाः स्तुत्यर्थाख्यायिकोच्यते।।२८।।

श्रुति में दृष्टांत है 'तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवम् एवास्मिन् आत्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः' (२.५.१५) अर्थात् रथ की नाभि-नेमि में सब अरों (ताड़ियों) की तरह इस आत्मा में सब भूत-लोक-देव-प्राण-आत्माएँ स्थित हैं। इसका तात्पर्य कहते हैं **जो वह पहले अविद्या से देही-सा, संसारी-सा हुआ था वह विद्या से ब्रह्म है इसलिये इसमें जगत् अर्पित है।।२६।। जैसे चक्के के सारे अरे नाभि व नेमि में अर्पित (निविष्ट, आश्रित) रहते हैं वैसे जीवों समेत सारे शरीर ब्रह्मवेत्ता में अर्पित हैं।।२७।।** क्योंकि देहधारणादि संसरण अविद्याप्रयुक्त है इसलिये प्रतीतिकाल में भी '-सा' अर्थात् अवास्तविक ही है। जैसे दर्पणादि उपाधिदोष प्रतिबिम्ब के द्वारा बिम्ब में प्रतीत हो जाते हैं वैसे अविद्या एवं उसके कार्यभूत अन्तःकरणादि की उपाधि से तादात्म्यवश आत्मा देही, संसारी प्रतीत हो जाता है। विद्या से अविद्या निवृत्त होती ही है अतः जो संसारी-सा था वही ब्रह्म रह जाता है। ब्रह्म जगद्धेतु है अतः उसमें संसार आश्रित है ही एवं ब्रह्मवित् ब्रह्म ही होने से उसमें जगत् अर्पित कहना संगत हो जाता है। ताड़ियों को अर कहते हैं, वे जैसे चक्के की नाभि-नेमि में स्थित होते हैं वैसे सारा जगत् आत्मा में स्थित है। चक्के का मध्यभाग (धुरी वाला भाग) नाभि और बाहरी (पहिये वाला) भाग नेमि है। प्रकृत में यह भेदविवक्षित नहीं यद्यपि अविद्यादशा में व्यष्टि समष्टि के अनुसार इसे समझा जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषत् के प्रारंभ में इस उदाहरण का विस्तार है।।२६-७।।

इस प्रसंग का प्रधान उपदेश पूरा हुआ, अब इससे सम्बद्ध कथा का संकेत करते हैं **मोक्ष की प्राप्ति के लिये पर्याप्त यह ब्रह्मज्ञान समाप्त हुआ। समझायी गयी ब्रह्मविद्या की प्रशंसा के लिये कथा कही जाती है।।२८।। दध्यङ् आथर्वण ने अश्विनी कुमारों को दो प्रकार का मधु सुनायाएक था 'प्रवर्ग्य' के अंगरूप**

आख्यायिका

दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्याम् उवाच द्विविधं मधु।
प्रवर्ग्याङ्गरविध्यानं ब्रह्मज्ञानम् इति द्वयम्।।२६।।
तं वृत्तान्तम् ऋषिः पश्यन् प्राब्रवीद् अश्विनौ प्रति।
वृत्तान्तम् अब्रवीद् ऋग्भ्याम् ऋग्भ्यां च ब्रह्मवेदनम्।।३०।।
[1]अश्विनौ युवयोरुग्रं लाभाय गुरुमारणम्।
आविष्करोमि लोकेऽस्मिन् मेघो वृष्टिं यथा तथा।।३१।।

से सूर्य का ध्यान और दूसरा यह ब्रह्मज्ञान।।२६।। इस वृत्तान्त के जानकार ऋषि ने दो मन्त्रों से अश्विनी कुमारों को वृत्तान्त सुनाया तथा दो मन्त्रों से ब्रह्मज्ञान का कथन किया।।३०।। मधुविद्या मोक्षोपयोगी समग्र ज्ञान है। इसकी प्रशंसा आवश्यक है ताकि इसमें तात्पर्य निर्धारित हो सके। अश्विनी कुमार दध्यङ् आथर्वण (दधीचि) के प्रिय शिष्य थे जिन्हें शतपथ-ब्राह्मण में आये प्रवर्ग्य-नामक कर्मविशेष के अंगरूप से कर्त्तव्य सूर्यध्यानका तो महर्षि ने उपदेश दिया था लेकिन ब्रह्मविद्या की योग्यता न होने से इसका उपदेश न देकर योग्यता-लाभार्थ साधनानुष्ठान का निर्देश देकर आश्वासन दिया था कि योग्य हुआ पाने पर वे ज़रूर ब्रह्मज्ञान देंगे। इस बीच इन्द्र ने ऋषि से ब्रह्मविद्या सुननी चाही। उसकी भूमिका बनाते हुए वैराग्य प्रकरण में इन्द्रपद की असारता सुनकर चिढ़े इन्द्र ने निर्देश दिया कि यदि आगे उन्होंने किसी को वह ज्ञान दिया तो इन्द्र ऋषि का सिर काट डालेगा! अतः अश्विनी कुमार योग्य होने पर लौटे तो ऋषि ने समस्या सुनाई। कुमारों ने समाधान निकाला कि वे पहले ऋषि का सिर काटकर सुरक्षित रखेंगे। घोड़े का सिर प्रत्यारोपित कर देंगे। उससे ऋषि उपदेश प्रारंभ करें, इंद्र काट देगा तो पुनः उन्हीं का सिर लौटाकर प्रत्यारोपित कर देंगे! ऐसे घोर संकट को सहकर भी दधीचि ने सत्य की रक्षा की एवं कुमारों को मधुविद्यारूप ब्रह्मज्ञान सुनाया। यह कथा किसी ऋषि को मालूम थी जिसने बृहदारण्यक में 'तद्वां नरा सनये दंस उग्रम् आविष्कृणोमि' (२.५.१६) आदि से उसे अश्विनीकुमारों को सम्बोधित करते हुए सुनाया। इस प्रसंग का सजीव चित्रण आत्मपुराण में दर्शनीय है।।२८-३०।।

उक्त मन्त्रों का भाव व्यक्त करते हैं **हे अश्विनी कुमारों! अपने फ़ायदे के लिये तुमने जो गुरु को मारने का उग्र कर्म किया उसे मैं इस संसार में प्रकट करता हूँ जैसे मेघ वर्षा को सार्वजनिक करता है।।३१।। दध्यङ् आथर्वण ने घोड़े के**

---

१. अश्विनोः इति सारपुस्तकेषु पठ्यते।

दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्वस्य शिरसा युवयोर्मधु।
यत् प्रोवाच तदप्यत्र जानन्नाविष्करोम्यहम्।।३२।।
छित्वा गुरोः शिरोऽन्यत्र निक्षिप्याऽश्वस्य यच्छिरः।
तद् आहृत्य गुरोः स्कन्धे प्रतिष्ठापयतो युवाम्।।३३।।
सत्यप्रतिज्ञः स गुरुः सोढ्वाऽप्येतादृशीं व्यथाम्।
मधुद्वयम् उवाचेति कथितोऽर्थ ऋचोर्द्वयोः।।३४।।

सिर द्वारा तुम्हें जो मधु सुनाया उसे भी समझते हुए मैं प्रकट करता हूँ।।३२।। गुरु का सिर काटकर, अन्य स्थान पर रखकर घोड़े का जो सिर (उपलब्ध था) उसे लाकर गुरु की गर्दन पर तुमने प्रतिष्ठापित किया।।३३।। वे गुरु सच्ची प्रतिज्ञा वाले रहे अतः ऐसी व्यथा सहकर भी उन्होंने दोनों मधुओं का उपदेश दिया।यह दोनों मन्त्रों का तात्पर्य बताया।।३४।। यद्यपि गुरु को मारा नहीं, मरने से बचाया, तथापि शिरश्छेदन पीडाजनक तो है ही एवं शल्य से पुनःस्थापित सिर पूर्वापेक्षया अदृढ-सन्धिबन्धन वाला तो हो ही गया इसलिये अश्विनीकुमारों का कर्म उग्र कहा गया। यह घटना ऋषि को ज्ञात थी, अन्यों को उन्होंने इन मन्त्रों से बतायी। दधीचिप्रोक्त मधुविद्या का भी सार ऋषि ने यहाँ व्यक्त किया। दधीचि ने इतनी जोखिम उठाई इसीलिये कि वे पहले अश्विनियों को कह चुके थे कि योग्य होने पर वे उन्हें मधुविद्या प्रदान करेंगे तथा केवल प्राणभय से वे सत्य से विमुख नहीं होना चाहते थे। तत्त्ववेत्ता की सत्यनिष्ठा सूचित करती है कि साधक को सत्य पर दृढ रहना ही चाहिये।।३१-४।।

कथासूचक ऋचाओं के बाद विद्यासूचक ऋचायें हैं 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् इति। (स वा अयं सर्वासु पूर्षु पुरशियो नैनेन किञ्चनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम्)'।।२.५.१८।। एवं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश।। इति। (अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च, तदेतद् ब्रह्माऽपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम्। अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः। इत्यनुशासनम्)'।।१९।। अर्थात् दो पैरों व चार पैरों वाले अर्थात् सभी प्राणिशरीर बनाकर परमेश्वर पक्षी (सूक्ष्मशरीर) होकर सब शरीरों में प्रवेश कर गया। क्योंकि जगज्जनक ही सब देहों में शयन कर रहा है अतः उससे अनाच्छादित कुछ नहीं तथा सभी कुछ इसके भीतर है। द्वितीय मंत्र का भाव हैहर उपाधि में वही परमेश्वर प्रतिबिम्बित है एवं इसमें प्रयोजन है स्वात्मसाक्षात्कार!

ब्रह्म

ईशो मनुष्यपश्वादिदेहांश्चक्रे पुरा ततः।
स पक्षी लिङ्गरूपेण भूत्वा तान् प्राविशत् प्रभुः।।३५।।
योऽयं पुरुषशब्दोऽस्मिन् मन्त्रे तस्य निरुक्तितः।
जीवब्रह्मैक्यतात्पर्यं मन्त्रस्याऽस्योपवर्ण्यते।।३६।।
पुरि शेते यतस्तस्मात् पुरुषो जीव उच्यते।
सर्वं पूरयतीत्येवं पुरुषो ब्रह्म भण्यते।।३७।।
अनेन ब्रह्मणा किञ्चिद् बहिर्नाऽनावृतं क्वचित्।
नास्त्यसंवृतमन्तश्च पूरणात् पुरुषस्तथा।।३८।।

इन्द्र अर्थात् परमेश्वर मायाशक्ति से अनन्त रूपों वाला होता है। रथ में जुते घोड़े के समान, विषयों का प्रकाशन करने के लिये इस आत्मा की दस और सौ (अर्थात् असंख्य, समस्त) इन्द्रियाँ हैं। यह आत्मा ब्रह्म अपूर्व है, निष्कारण है, अनपरनिष्कार्य, अनन्तरजात्यंतरहीन और अबाह्य है अर्थात् उससे बहिर्भूत भी कुछ नहीं है। इन ऋचाओं को समझाते हैं **ईश्वर ने पहले मनुष्य, पशु आदि शरीर बनाये फिर उस प्रभु ने पक्षी (सूक्ष्म भाग वाला) होकर लिंग (सूक्ष्मशरीर) के रूप से उन शरीरों में प्रवेश किया।।३५।। इस मंत्र में जो यह पुरुष-शब्द से कहा गया, उसके निर्वचन से मन्त्र का तात्पर्य जीव-ब्रह्म के अभेद में समझाया जाता है।।३६।। पुर अर्थात् शरीर में सोता रहता है अतः जीव पुरुष कहलाता है एवं सबको पूरा करता है इसलिये ब्रह्म (भी) पुरुष कहा जाता है।।३७।। इस ब्रह्म से कुछ भी बाहर तथा कहीं भी इससे अनावृत (अनाच्छादित, अव्याप्त) नहीं है और कुछ कहीं ऐसा भी नहीं जो इससे असंवृत हो अर्थात् ओत-प्रोतभाव से इसमें न हो। यों पूरा करने वाला होने से वह पुरुष है।।३८।।** सर्वकारण परमात्मा ही जीवभाव से उपस्थित है। पक्षी का रूपक तैत्तिरीय में भी आया है, प्रवेश के लिये उपलब्ध उपाधि सूक्ष्मदेह ही है जिसमें प्रतिबिम्बतुल्य या प्रवष्टि आकाशतुल्य परमात्मा उपलब्ध है। 'पक्षी' शब्द की भाष्य में व्याख्या है 'लिंगशरीरम्' अतः यहाँ पक्षी से सूक्ष्मभूत जिसके अवयव हैंऐसा समझाया। प्रवेश तो तादात्म्याध्यासरूप है यह प्रसिद्ध ही है। पुरुष शब्द क्योंकि जीव व ब्रह्म दोनों का बोधक है इसलिये दोनों का अभेद सूचित हुआ यह तात्पर्य है। शरीर में 'सोने' वाला इसलिये कहा कि तत्त्व का अदर्शन रहते ही शरीर में होने की अनुभूति होती है। दूसरी तरफ, ब्रह्म को 'पुरुष' कहा सोने के कारण नहीं वरन् सबकी

रूपं रूपं प्रविष्टः सन् प्रतिबिम्बो भवत्ययम् ।
तदस्य प्रतिबिम्बत्वं प्रत्यग्याथात्म्यवित्तये । ।३९ । ।
चैतन्यात्मादयः शब्दा व्युत्पन्नाः प्रतिबिम्बके ।
लक्षयन्ति चिदात्मानं तेन याथात्म्यवेदनम् । ।४० । ।

पूर्णता का हेतु होने से। सर्वोत्पादक सर्वविलयाधार एवं सर्वनियन्ता है अतः परमेश्वर स्वरूप से पूर्ण है, उसी का सम्पर्क पाकर अन्यत्र पूर्णता प्रतीत हो जाती है। कपड़े से बने खिलौने को भी जैसे कपड़ा पहनाते हैं वैसे भीतर और बाहर दोनों ओर से आत्मा ने सब को घेरा हुआ है यह 'उससे असंवृत एवं अनावृत कुछ नहीं' का भाव है। ।३५-८ । ।

'रूपं रूपं प्रतिरूपः' आदि ऋचा का अर्थ कहते हैं **हर उपाधि में प्रवेश कर चुका यह आत्मा प्रतिबिम्ब हो जाता है। उसका वह प्रतिबिम्बभाव इसीलिये है ताकि प्रत्यग्वस्तु के यथार्थ का अनुभव हो। ।३९ । ।** श्रुति के रूप-शब्द का अर्थ है वे उपाधियाँ जिनसे तादात्म्य पाया आत्मा खुद को जीव समझता है। उस स्थिति को ही प्रतिबिम्ब कहा जाता है क्योंकि जैसे दर्पणादि 'में' हुए बिना ही मुखादि वहाँ प्रतीत होता है वैसे उपाधि से वास्तव में परिच्छिन्न हुए बिना ही आत्मा उपाधि में प्रतीत होता है। उसी को चित् जैसा लगने से चिदाभास कहते हैं। प्रवेश और प्रतिबिम्ब होना विभिन्न नहीं इसलिये 'प्रविष्टः सन्' यों कहा अर्थात् केवल 'प्रविष्ट' नहीं, 'प्रविष्ट हुआ'इतना कहा। क्योंकि प्रत्यग्-अज्ञान की निवृत्ति के लिये अखण्डाकार ज्ञान चाहिये जो साभास चित्त में ही संभव है इसीलिये परमेश्वर का प्रवेश हुआ। ।३९ । ।

उक्त प्रयोजन के सम्पादन में प्रतिबिम्ब का उपयोग स्पष्ट करते हैं **'चैतन्य', 'आत्मा' आदि शब्द प्रतिबिम्बभूत प्रत्यग्वस्तु के बोधक होकर (बिम्बरूप) चित्स्वरूप आत्मा को लक्षणावृत्ति से समझाते हैं जिससे आत्मा की वास्तविकता का अवबोध प्राप्त होता है। ।४० । ।** मुख्य आत्मा प्रवृत्तिनिमित्तों से रहित होने से शब्दों का वाच्य हो नहीं सकता तो शास्त्र भी उसे लक्षणा से ही कह सकता है जिसके लिये मुख्य आत्मा से सम्बद्ध कुछ चाहिये जो आत्मा-शब्द से बोध्य हो क्योंकि शक्य से सम्बद्ध में ही लक्षणा हो सकती है। वही वस्तु उक्त चिदाभास है। उस मिथ्यात्मा में आत्मा आदि शब्द व्युत्पन्न अर्थात् गृहीत-शक्तिक होते हैं फिर प्रतिबिम्बवाचक से लक्षणा द्वारा बिम्ब समझा जाता है। चैतन्य का प्रतिबिम्ब भी चैतन्य-सा ही भासता है अतः उसमें

मिथ्याऽभिमानैः साभासबुद्ध्यादिपरिकल्पितैः।
द्रष्टा श्रोताऽहम् इत्यादिबहुरूपो विचेष्टते।।४१।।
सन्त्यस्य हरयोऽक्षाख्या हरणाद् विषयान् प्रति।
प्राणिभेदाद् अनन्तास्ते तैस्तु संसरतीश्वरः।।४२।।

शक्तिग्रह सुलभ है एवं उसके परिच्छिन्नतादि उपाधिधर्मों को त्यागकर चिन्मात्र में लक्षणा प्रवृत्त हो जाती है। जैसे लोक में उपलब्ध मीठा शक्कर, गुड, मधु आदि का ही है फिर भी 'मीठा' शब्द इन सब में अनुगत मिठास को बोधित करता है वैसे घड़ा है, कपड़ा है आदि सविशेष है मिलने पर भी 'है'-शब्द इन सबमें अनुगत सद्वस्तु का बोधक बनता है। इसी तरह मिथ्यात्मा की उपलब्धि होने पर भी 'आत्मा'-शब्द मुख्य आत्मा को उपस्थित करे यह संगत है।।४०।।

परमेश्वर की बहुरूपता अनुभवारूढ करते हैं **आभासयुक्त बुद्धि आदि द्वारा कल्पित मिथ्या अभिमानों से 'मैं द्रष्टा, श्रोता हूँ' आदि बहुत रूपों वाला हुआ आत्मा विविध चेष्टाएँ कर रहा है।।४१।।** द्रष्टा आदि आकार लेने वाली बुद्धि में आभास (प्रतिबिम्ब) पड़ने पर आत्मा का यह अभिमान कि 'यह मैं ही हूँ', प्रतीत कराता है कि द्रष्टा-आदि चेष्टाएँ आत्मा की हैं। चेष्टा बुद्धि में होने पर भी आत्मा में आरोपित है जैसे नौका की गति वृक्षों पर आरोपित होती है। अतः वास्तव में द्रष्टा आदि भेद आत्मा में बिना हुए भी वह इन भेदों वाला प्रतीत होने से श्रुति ने उसे 'बहुरूप' बनने वाला कहा। स्वप्न इसके लिये सुलभ उदाहरण है जहाँ मिथ्या ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व सबको प्रतीत होता है जिसका जगने पर बाध होता ही है।।४१।।

मन्त्रोक्त हरिरूप इंद्रियों का वर्णन करते हैं **इस आत्मा के इन्द्रिय नामक 'हरि' हैं जो इसे विषयों की ओर ले जाने से 'हरि' नाम पाते हैं। प्राणियों के भेद से इन्द्रियाँ असंख्य हैं तथा उनसे ईश्वर संसरण कर रहा है।।४२।।** कठोपनिषत् में शरीररूप रथ के घोड़ों की जगह इन्द्रियाँ कही हैं। घोड़ों को हरि शब्द से कहा जाता है। विषय-ग्रहणार्थ शरीर को विषय तक ले जाने से उन्हें ऐसा कहा। प्रतिप्राणि दस-दस होने पर भी सभी की दृष्टि से इंद्रियाँ असंख्य हैं। इन्हीं से अभेदाध्यासग्रस्त जीव सारे संसारधर्मों से युक्त है। इन्द्रियाँ न तो स्वरूपतः कोई सत्य वस्तु हैं और न उनका आत्मा से ही कोई वास्तविक सम्बन्ध सिद्ध होता है। 'ईश्वरः संसरति' कहकर आत्मा की अद्वयता की सूचना है।।४२।।

उपनिषत् में मन्त्रोदाहरण के अनन्तर ब्राह्मण ने व्याख्या की है, उसका सार कहते है **मन्त्र में कहे 'हरि' स्वयं अध्यस्त हैं तथा उनकी संख्या भी काल्पनिक है।**

मन्त्रोक्ता हरयोऽध्यस्तास्तत्सङ्ख्या च प्रकल्पिता ।
एतेषां तत्त्वमात्मैवेत्याह ब्राह्मणम् आदरात् । ।४३ । ।

मधुकाण्डसारः

निःशेषमधुकाण्डस्य तदेतद् इति वाक्यतः ।
सारः संक्षिप्यते साक्षात् करविन्यस्तबिल्ववत् । ।४४ । ।
अज्ञातं संशयज्ञातं मिथ्याज्ञातम् इदं जगत् ।
तदेतद् इत्यनूद्याऽस्य तत्त्वं ब्रह्मेति बोध्यते । ।४५ । ।
निष्कारणं तन्निष्कार्यं निश्छिद्रं बाह्यवर्जितम् ।
पारोक्ष्यप्रतिषेधार्थम् आत्मा ब्रह्मेति भण्यते । ।४६ । ।
सर्वानुभव एवाऽयं यतः सर्वानुभूस्ततः ।
कात्स्न्यात् सर्वो भवेदेष चिन्मात्रत्वात्तथाऽनुभूः । ।४७ । ।
कर्त्तव्यमेतद् विज्ञानम् इति वेदानुशासनम् ।
अस्याऽतिलङ्घने दोषस्संसाराऽनर्थसङ्गतिः । ।४८ । ।

इनकी वास्तविकता केवल आत्मा है। यह बात ब्राह्मण ने साभिप्राय व्यक्त की है। ।४३। । 'साभिप्राय' इसलिये कि हरि तथा संख्या दोनों का पृथक् उल्लेख कर आत्मरूपता कहनी तभी उचित है जब इतना बताने का कोई अभिप्राय हो। वह यह है कि आत्मा में औपाधिक भी भेद वास्तविक नहीं क्योंकि उपाधि भी आत्मा से अन्य कुछ नहीं। ।४३। ।

समाप्ति में परमात्मस्वरूप का वर्णन करते हुए 'तदेतद् ब्रह्म' आदि ब्राह्मण की व्याख्या की जाती है **'तदेतद्' इस वाक्य से सारे मधुकाण्ड का सार एकत्र किया है जैसे हाथ में सीधे ही बिल्व रखा हो। ।४४। जिसे नहीं जाना, जिसके बारे में सन्देह है और जिसे अन्यथा जाना जाता हैऐसा यह जगत् 'तदेतत्' ('वह यह') से कहकर इसकी वास्तविकता परमात्मा को कहा है। ।४५। । परमात्मा का न कोई कारण है, न कार्य है। वह न खोखला है और न उससे बहिर्भूत (वस्त्वन्तररूप) कुछ है। वह परोक्ष नहीं यह समझाने के लिये ब्रह्म आत्मा है ऐसा कहते हैं। ।४६। । वह सर्वरूप एवं अनुभवरूप होने से 'सर्वानुभूः' है। पूर्णता वाला होने से वह सब कुछ है और केवल चैतन्य होने से अनुभवरूप है। ।४७। । यह साक्षात्कार प्राप्त करना ही चाहिये यह वेद का निर्देश है जिसके उल्लंघन से संसाररूप अनर्थ का संपर्क नामक दोष होता है। ।४८। । साक्षात्कार**

कुर्वतस्तु महाल्ँलाभः स्वात्मनः कृतकृत्यता।
मधुकाण्डार्थसर्वस्वम् इत्थं श्रुत्योपसंहृतम्।।४६।।

करने वाले को महान् लाभ होता है, वह स्वयं कृतकृत्य हो जाता है। इस प्रकार मधुकाण्ड में कहे तात्पर्य का मुख्यभाग श्रुति ने समाप्ति में व्यक्त कर दिया।।४६।।

अध्याय-समाप्ति में आया 'तदेतद्' वाक्य आत्मस्वरूप का इसीलिये संक्षेप में उपस्थापन करता है ताकि हमें आत्मवस्तु सुस्पष्ट हो जाये। मधुकाण्ड ही नहीं, सारे वेद का ही सारभूत अर्थ इतना ही है। इससे अन्य जो संसार वह अज्ञात, संदिग्ध और भ्रमविषय होता रहता है। यद्यपि विचार से पता चलता है कि अज्ञात वस्तु एकमात्र आत्मा ही हो सकता है तथापि व्यवहार में संसार ही अज्ञात प्रतीत होता है। किं च संसार का स्वरूप है मिथ्या लेकिन हमें यह मिथ्या नहीं लगता इसलिये कहा कि इसका स्वरूप अज्ञात है। जब तक जिज्ञासा रहती है तब तक संसार के बारे में सभी तरह के विचार उपस्थित होते रहते हैं जिससे इसका याथार्थ्य सन्दिग्ध रहता है। जगत् सत्य है या मिथ्याये दोनों कोटियाँ रहते संदेह की स्थिति है। अभ्यासी को विचारदशा में मिथ्यात्व लगता है लेकिन व्यवहारकाल में सत्यता प्रतीत होती रहती है तथा दोनों में एक ही वास्तविक है ऐसा निर्णय नहीं होता अतः संशय की स्थिति है। जनसामान्य के लिये अज्ञात, जिज्ञासु के लिये संदिग्ध एवं जो शास्त्र-विरुद्ध मतों में आग्रही हैं उन्हें इसके बारे में विपरीत ही बोध होता है, वे प्रपंच को, भेद को अत्यन्त सत्य माने रहते हैं। सामान्य व्यक्ति भी प्रपंच को सत्य कहता है लेकिन उसका तात्पर्य इतना ही होता है कि प्रपंच व्यवहार-साधक है जबकि वादी आग्रह करता है कि यह परमार्थ सत्य है अतः वादी को मिथ्याज्ञान वाला बताया। ऐसे संसार की वास्तविकता को यहाँ श्रुति ने ब्रह्म नाम दिया है। इससे अर्थसिद्ध है कि ब्रह्मरूप सत्य में मिथ्याभूत प्रपंच अध्यस्त है। कल्पित की तात्त्विकता उसका अधिष्ठान ही होता है। ब्रह्म 'खोखला' नहीं अर्थात् सच्चिदानन्द का घनीभूत रूप है, अतः इसमें सत्यतादि का कहीं किंचित् भी अभाव नहीं है। इसी प्रकार वह अद्वय होने से उससे बहिर्भूत, विभिन्न भी कुछ हो सके यह संभव नहीं। वह क्योंकि वस्तुतः अज्ञात कभी नहीं हो पाता इसीलिये साक्षाद् अपरोक्ष कहा जाता है। 'तदेतद् ब्रह्म' यह सामानाधिकरण्य अभेद की सनातनता समझाता है अर्थात् 'एतत्' काल में भी ब्रह्म ही है। अनन्तर अबाह्य से निःसामान्य और निर्विशेष भी अर्थ किया गया है। अंतर अर्थात् भेद, जो रहने पर सामान्य की स्थिति स्वीकार्य है; घटभेद रहने से ही घटत्व सामान्य अंगीकार है, आकाशभेद अप्रसिद्ध होने से

विद्यावंशजपाद् विद्याविघ्नः सर्वो निवार्यते।
मुमुक्षुमनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः।।५०।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे बृहदारण्यकोपनिषदि मधुविद्याप्रकाशो नाम षोडशोऽध्यायः।।

आकाशत्व सामान्य अमान्य है। अनन्तर अर्थात् भेदरहित होने से सामान्यरहित है। इससे विलक्षण हुआ बाह्य अर्थात् विशेष, उससे भी रहित है। इस प्रकार ब्रह्म की एकरसता कही गयी। क्योंकि ये विशेषताएँ आत्मा में ही उपपन्न हैं इसीलिये ब्रह्म की आत्मरूपता स्पष्ट है। आत्मा सबका अनुभव है एवं आत्मरूप अनुभव सारे ही आकार धारण करता लगता है। आत्मा स्वयं में पूर्ण अनुभव है। इन कारणों से तथा सर्वरूप और ज्ञानरूप होने से आत्मा को सर्वानुभू कहा। आत्मा के इस पूर्णत्व का ज्ञान श्रुति-दृष्टि में अवश्य कर्त्तव्य है। शमादिपूर्वक श्रवणादिका अनुष्ठान ही यहाँ विधेय है। इसे अनुशासन कहकर इसकी गरिमा व्यक्त की। इस निर्देश का पालन न करना दोषावह है क्योंकि अनर्थ परंपरा में पड़े रहना पड़ेगा। निर्देश-पालन से मोक्षरूप सर्वोत्तम लाभ है यह स्पष्ट है। आत्मस्वरूप ही मधुकाण्डोक्त अर्थ का सर्वस्व अर्थात् मुख्य भाग है, इसी में ग्रंथ का तात्पर्य है।।४४-९।।

छठे ब्राह्मण में आचार्य-परम्परा अर्थात् वंश बताया गया है, जिससे गुरुपरम्परा याद करना पुण्यावह है यह बताकर अध्याय पूरा करते हैं **विद्या के वंश के जप से विद्या में आने वाला सारा विघ्न दूर किया जाता है। श्री विद्यातीर्थरूप महेश्वर मुझ समेत हर एक मुमुक्षु पर अनुग्रह करें।।५०।।** 'वंश' अर्थात् उन आचार्यों का क्रमशः परिगणन जिनसे यह विद्या वेद से लेकर उत्तर काल तक कायम रही। इसके स्मरण से ज्ञानमार्ग के विघ्न दूर होते हैं। यद्यपि श्रुति में पौतिमाष्य-पर्यन्त वंश कहा तथापि हमें जिससे ज्ञान मिला उस पर्यन्त सभी का यथाशक्ति स्मरण कर्तव्य होने से यहाँ अंत में श्रीविद्यातीर्थका उल्लेख कर उनके अनुग्रह की प्रार्थना है जिससे निर्विघ्न ज्ञानलाभ एवं निष्ठाप्राप्ति-पूर्वक मोक्ष हो।।५०।।

।। सोलहवाँ अध्याय।।

ॐ

आश्वलायनादिमुनिबोधः

सप्तदशोऽध्यायः

याज्ञवल्क्योऽश्वलादिभ्यो विजिगीषुकथामुखात्।
उक्तवान् पञ्चमेऽध्याये तत्त्वविद्यामनेकधा।।१।।

आश्वलायन आदि मुनियों को उद्बोधन : सत्रहवाँ अध्याय

उपदेश-प्रधान मधुकाण्ड के बाद उपपत्ति-प्रधान याज्ञवल्क्यकाण्ड या मुनिकाण्ड कहलाने वाले उपनिषत् के तीसरे-चौथे अध्याय आरंभ होते हैं। पूर्वोक्त आत्मवस्तु के बारे में युक्तियाँ समझाना इस काण्ड की विशेषता है। तीसरा अध्याय जल्प के रूप में है अर्थात् विविधि ऋषियों से याज्ञवल्क्य का वाद-विवाद दिखाया गया है जबकि चौथा अध्याय वाद के रूप में है अर्थात् जनक को याज्ञवल्क्य ने समझाने के लिये क्या विचार व्यक्त किये, यह दिखाया गया है। तीसरे अध्याय में नौ ब्राह्मण हैं जिनमें आश्वलायन आदि आठ ऋषियों ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछे। गार्गी ने दो बार प्रश्न पूछे। प्रथम ब्राह्मण में मृत्यु को लाँघने की चर्चा है, द्वितीय में मृत्यु का निर्णय है, तीसरे में पुण्यफल की पराकष्ठा पूछी गयी है, चौथे में प्रत्यगात्मा बताया है, पाँचवें में उसी को परमात्मा कहा है। छठे में ब्रह्म का कार्य संसार बताया है। सातवें में सूत्रात्मा-अन्तर्यामी का वर्णन है, आठवें में ब्रह्मस्वरूप का विस्तार है एवं नौवे में देवताओं का तथा सगुण-निर्गुण ब्रह्म का कथन है। आरम्भ होता है इस कथा से कि वैदेह जनक ने एक ऐसे याग का आयोजन किया जिसमें बहुतेरी दक्षिणा बाँटी जाती है। कुरु पांचाल देश के ब्राह्मण उस याग में एकत्र हुए। इन देशों के ब्राह्मण विशेष प्रसिद्ध थे। जनक ब्रह्मविद्या के रसिक थे अतः उस बारे में तब कौन सर्वोत्तम विद्वान् हैं यह जानने के लिये उन्होंने सभा आयोजित की। जनक ने हज़ार गायें एकत्र करायीं जिनके सींगों में दस-दस तोला सोना और खुरों में चाँदी मढी हुई थी। राजा ने घोषणा की 'ब्राह्मणा भगवन्तो, यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजताम्' अर्थात् हे ऐश्वर्यशाली ब्राह्मणो! आप लोगों में जो सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता हो वह ये गायें ले जाये। यह सुनकर

सब चुप रहे, 'मैं सबसे बड़ा' यह कौन कहे! याज्ञवल्क्य ने विचार किया कि यदि कोई आगे नहीं बढ़ा तो प्रसिद्धि हो जायेगी कि आजकल कोई ब्रह्मज्ञ है ही नहीं। वे साक्षात् सूर्य के अतितेजस्वी शिष्य थे अतः सूर्य से प्राप्त विद्या की तौहीन नहीं कराना चाहते थे। किंतु ब्रह्म एकरस वस्तु होने से उसके ज्ञान में बड़प्पन क्या कहा जाये? वह तो जिसे भी, जब भी होता है, समान एकरस होता है। इसलिये 'मैं बड़ा ज्ञानी' यह न कहकर उन्होंने सबको सुनाते हुए अपने शिष्य से कहा 'सामश्रवा! ये गायें ले चल!' इस पर ब्राह्मणों को क्रोध आना ही था। अश्वल नामक विद्वान् ने पूछा 'क्या तुम सर्वाधिक ब्रह्मवेत्ता हो?' याज्ञवल्क्य बोले 'नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो, गोकामा एव वयं स्मः' श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता को हम प्रणाम करते हैं, हम तो केवल गायें चाहते हैं! किन्तु सब समझ तो गये कि याज्ञवल्क्य ने चुनौती दी है अतः पहले अश्वल ने ही याज्ञवल्क्य की परीक्षा लेने का निर्णय किया। इस प्रकार समझाया गया है कि दान, तत्त्वज्ञों से मुलाकात और उनके संवादये विद्याप्राप्ति के उपाय हैं। याज्ञवल्क्य की विनय भी सूचित है क्योंकि ब्रह्मिष्ठ को नमनीय कहा एवं व्यवहारभूमि में अपनी प्रवृत्ति का हेतु भी बताया कि गाय की ज़रूरत से ही इस मौके पर उन्होंने पहल की। आगे भी (४.१) 'उभयमेव सम्राट्' से याज्ञवल्क्य यही व्यक्त करेंगे कि व्यवहार के मापदण्डों का उल्लंघन करना ब्रह्मज्ञ का कार्य नहीं।

इस तरह मुनिकाण्ड के आरंभ को सूचित करते हुए श्रीविद्यारण्य इस अध्याय के प्रतिपाद्य की प्रतिज्ञा करते हैं **पाँचवें अध्याय में विजिगीषु-कथा से प्रारम्भ करते हुए अश्वलादिको याज्ञवल्क्य ने अनेक प्रकार से तत्त्व का ज्ञान सुनाया।** ।१।। आरण्यकक्रम से पाँचवाँ ही उपनिषत्क्रम से तीसरा अध्याय है। कथा अर्थात् विद्वानों की बातचीत के तीन प्रसिद्ध ढंग हैं।१) जिसमें अपने किसी पक्ष को स्थापित न कर केवल दूसरे के पक्ष का खण्डन करते हैं वह वितण्डा है। २) जिसमें अपने पक्ष का समर्थन और दूसरों के पक्षों का निरास करते हैं वह जल्प है। इसमें अपने-अपने पक्षों का पहले से ही निर्णय है, बात-चीत इसलिये है कि हमारे पक्ष की जीत हो। यही विजिगीषु अर्थात् जयेच्छुकों की बात-चीत का तरीका है। ३) तीसरा प्रकार है वाद जिसमें तत्त्व समझने के लिये बात-चीत है। पहले से कोई निर्णय नहीं, विचारपूर्वक जिस किसी की बात संगत हो वह स्वीकारी जाती है। इसी तरीके को भगवान् ने अपनी विभूति कहा है। गुरु-शिष्य, सहपाठी आदि में ऐसा ढंग अपनाना श्रेष्ठ है। यद्यपि गुरु पूर्व से जानता है तथापि वह ढंग ऐसा अपनाये कि शिष्य को विचार स्वयं पर थोपा जाता न महसूस हो वरन् विचार से स्थापित प्रतीत हो, इसलिये

आश्वलप्रश्नः

अध्यात्ममधिभूतं च यजमानर्त्विगादिषु।
स्वाभाविकः परिच्छेदो मृत्युर्मर्त्यफलार्जनात्।।२।।

गौतमादि ने गुरु-शिष्य के विचार-प्रकार को वाद माना। उत्तम प्रकार वाद है, मध्यम जल्प है, निकृष्ट वितण्डा है। संसार में चाहे-जिसे तरीके से सत्य कहो, कहने के तरीके में ग़लती निकल ही जायेगी! जैसे जो नदी पार करा सके वही 'सही' नाव है, रूप-रंग आदि में अच्छी-बुरी होने से फ़र्क़ नहीं पड़ता, इसी प्रकार दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति जैसे हो जाये वही विचार सही है, तर्कादि से संगति-असंगति का कोई महत्त्व नहीं। अधिकारिभेद को ध्यान में रखते हुए ऋषियों ने विभिन्न सिद्धान्त व्यक्त किये हैं, अपने-अपने अधिकार के अनुसार उन्हें ग्रहण कर कल्याण पा लेना चाहिये। याज्ञवल्क्य-ऋषिसंवाद जल्परूप इस तरह नहीं कि ऋषि लोग अपने मत स्थापित कर रहे थे वरन् इस तरह कि वे प्रश्न इसलिये पूछ रहे थे ताकि याज्ञवल्क्य के ज्ञान की कमी प्रकट हो। और याज्ञवल्क्य भी किसी मत के स्थापन में प्रवृत्त नहीं थे वरन् पूछे जा रहे सभी सवालों का जवाब देकर अपने द्वारा स्वीकृत चुनौती को उपपन्न कर रहे थे। इस तरह यह विजिगीषु अर्थात् जीतने की इच्छा वालों की कथा थी। फिर भी इस क्रम में मुख्य विचार परतत्त्व का ही हुआ।।१।।

अश्वल का प्रश्न था 'यदिदं सर्वं मृत्युनाऽऽप्तं सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं, केन यजमानो मृत्योराप्तिम् अतिमुच्यत इति?' अर्थात् यह सब साधन-समुदाय मृत्यु से घिरा, मृत्यु से बेबस है, यजमान किस साधन से मृत्यु के घेरे से छूटता है? इसी प्रकार अहोरात्र और पूर्वापर पक्षों से छूटने के उपाय पूछे तथा चौथी बात पूछी कि किस सहारे से यजमान स्वर्ग तक जाता है। याज्ञवल्क्य ने क्रमशः चार त्रिक बताये जिनकी उपासना से मृत्यु से छूटा जाता है१) होता, अग्नि, वाक्; २) अध्वर्यु, चक्षु, आदित्य; ३) उद्गाता, वायु, प्राण; ४) ब्रह्मा, मन, चन्द्र। इन त्रिकों में अधियज्ञ और अध्यात्म साधनों में अधिदैव दृष्टि करनी है : अधियज्ञ हैं होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा; अध्यात्म हैं वाक्, चक्षु, प्राण, मन; इनमें अधिदैव दृष्टि करनी है अर्थात् क्रमशः अग्नि, आदित्य, वायु और चन्द्र की दृष्टि करनी है। इस ध्यान से 'मुक्ति' और 'अतिमुक्ति' मिलती है। इस प्रसंग को छह श्लोकों में एकत्र करते हैं **यजमान, ऋत्विक् आदि में अर्थात् अध्यात्म और अधिभूत में, स्वभाव से स्थित परिच्छेद (सीमितता) मृत्यु है क्योंकि नश्वर फल के अर्जन का हेतु है।।२।।** यज्ञ के अंगों में यजमान भी है।

कालोऽपि मृत्युः कर्त्रादिमारणात् स्यात् स च द्विधा।
सौरोऽहोरात्ररूपेण चान्द्रः पक्षादिरूपतः।।३।।
जेतुं मृत्युत्रयं ब्रह्मलोकं प्राप्तुं च साधनम्।
प्रश्नैश्चतुर्भिः पप्रच्छ देवध्यानं तदुत्तरम्।।४।।
यजमानस्य वागादेर्होत्रादेश्चाधिदैविके।
अग्न्यादावेकतां ध्यात्वा मुच्यते चातिमुच्यते।।५।।

ऋत्विक् भी हैं, घी आदि भी हैं लेकिन सभी परिच्छिन्न हैं। यजमानादि चेतन स्वयं न सही पर अभिमानवश परिच्छिन्न हैं जबकि अधिभूत घी आदि स्वयं परिच्छिन्न हैं। अत एव वे सीमित फल के हेतु हैं जिससे मृत्यु कहे गये हैं। यज्ञ के लिये वाणी से बोलेंगे, वाणी भी नश्वर, उससे किया उच्चारण भी नश्वर। ऐसी नश्वर चीज़ें नित्य फल नहीं दे सकतीं। अध्यात्म अर्थात् घी आदि भौतिक साधन। इनकी परिच्छिन्नता स्वाभाविक है अर्थात् इनका स्वभाव या स्वरूप ही ऐसा है कि परिच्छिन्न हों। जीव में स्वभावशब्दित अज्ञान से परिच्छेदाभिमान है तथा अन्यत्र तो स्वरूप लाभ ही परिच्छेदात्मक होने से है।।२।।

शंका होती है कि परिच्छिन्न होने पर भी क्योंकि शुभ मुहूर्त आदि विशिष्ट कालों में करते हैं इसलिये काल के प्रभाव से फल अक्षय हो सकता होगा? इसका समाधान करते हैं **काल भी कर्त्ता आदि को मारने वाला होने से मृत्यु है। काल दो तरह का हैसूर्य के उदय-अस्त से निरूपति दिन-रातरूप, एवं चन्द्र के बढ़ने-घटने से निरूपित पक्ष मास आदिरूप।।३।।** सबको मारने वाला, सबको सीमित करने वाला काल प्रसिद्ध ही है लेकिन उसके दोनों जो प्रसिद्ध भेद हैं सूर्य या चन्द्र पर निर्भरवे पुनः क्षयिष्णु, परिच्छिन्न हैं, क्षण-क्षण में समाप्त हो जाते हैं। जो स्वयं क्षयशील उस काल के योग से कर्म या उपासना कैसे अक्षय फल देगी!।।३।।

उक्त श्रुति में अश्वल के प्रश्नों का एवं याज्ञवल्क्य के उत्तर का संग्रह करते हैं **तीनों मृत्युओं को जीतने और ब्रह्मलोक को पाने का साधन चार प्रश्नों से पूछा तथा सभी का उत्तर हैदेव का ध्यान।।४।। यजमान के (अध्यात्म) वागादि तथा (अधिभूत) होता आदि ऋत्विकों का आधिदैविक अग्नि आदि रूप से ध्यान का फल मुक्ति व अतिमुक्ति की प्राप्ति है।।५।। असुरसम्बद्ध भाव छोड़कर देवभाव का चिन्तन मुक्ति और ब्रह्मलोक अतिमुक्ति है। उपासना से कैवल्यरूप मोक्ष**

मुक्तिस्त्यक्त्वासुरं भावं देवभावस्य चिन्तनम्।
ब्रह्मलोकोऽतिमुक्तिः स्यान्न कैवल्यमुपासनात्।।६।।

दुर्लभ है।।६।। अध्यात्म-अधिभूत का परिच्छेद, सौर काल का परिच्छेद और चान्द्रकालका परिच्छेदये तीन मृत्यु हैं तथा होता वाग् में अग्निदृष्टि, अध्वर्यु-चक्षु में आदित्यदृष्टि, उद्गाता-प्राण में वायुदृष्टि और ब्रह्मा-मन में चन्द्रदृष्टि ये देवध्यान हैं। ये देव परमात्मा की विभिन्न शक्तियाँ हैं अतः इनके परमात्मभाव के बल से ये अपरिच्छिन्नता के हेतु बनते हैं। उपाधि परिच्छिन्न होने पर भी उपधेय की अमर्त्यता है अतः उससे एकता के चिंतन से फल में अक्षयता आती है। इसी दृष्टि से ईशावास्योपनिषत् में भी कर्म-उपासना के समुच्चय से मृत्यु को पार कर अमृत की प्राप्ति कही गयी है (११)। कारण व्यापक तथा कार्य व्याप्य होता है। अग्नि आदि देव कारण हैं, वाक् आदि कार्य हैं यह शास्त्र से पता है। अतः परिच्छिन्न वाक् आदि को देवरूप से समझने पर परिच्छेद-कृत दुर्बलता दूर हो जाती है। अधिभूत ऋत्विक् आदि में भी देवभाव का चिंतन यही प्रभाव करता है। ऋत्विक् भी विशेषकर उन्ही इंद्रियों का यज्ञ में प्रयोग करते हैं। होता मंत्रोच्चारण करता है, अध्वर्यु सब क्रियाएँ करने के लिये सामग्री आदि को देखता सँभालता है, उद्गाता गान करने के लिये साँस का खास उपयोग करता है एवं ब्रह्मा सही-ग़लत के बारे में आलोचना करता है। अतः ऋत्विजों का भी उक्त देवताओं से सम्बन्ध संगत है। वाणी अग्निरूप है, होता भी अग्निरूप हैऐसा ध्यान विवक्षित है। व्यष्टि-उपाधि का परिच्छेद हटाकर समष्टि का आरोप करने का यहाँ विधान है। व्यष्टि उपकार्य और समष्टि उपकारक है। इस प्रकार साधनों को अपरिच्छिन्न बनाने से फल में अपरिच्छेद हो सकता है, यह भाव है। मुक्ति से इस प्रसंग में कैवल्य नहीं समझ सकते क्योंकि वह ज्ञानैकलभ्य है। यहाँ मुक्ति है असुरभाव छोड़ना अर्थात् 'मैं ही सब कुछ करने-धरने वाला हूँ' यह अभिमान छोड़ना। दम्भ दर्प आदि को गीता में (१६.४,७-१८) आसुरभाव बताया ही है। केवल अपने व्यक्तिगत भाव को लेकर किये यज्ञ दान आदि आसुर प्रवृत्ति ही होंगे, समष्टिभाव, देवभाव से करने पर ही इनसे मुक्ति मिलेगी। पूर्वदर्शित मधुविद्या के विचार से सबका आपसी उपकारकत्व समझने पर ही इस समष्टिता में स्थिर हुआ जा सकता है। सारा ब्रह्माण्ड एकमात्र परमात्मा का रूप है; इसमें हम भी एक हैंयह सोचने का सही ढंग है। मैं ही संसार में सर्वप्रधान हूँ, सबको मेरे अनुकूल होना चाहियेयह सोचने का ग़लत ढंग है। इस उपासना से होने वाली ब्रह्मलोक की प्राप्ति को यहाँ अतिमुक्ति कहा है। इस प्रकार अश्वल के प्रारंभिक प्रश्नों का उत्तर हुआ।।४-६।।

अथ संपद उच्यन्ते स्वल्पे कर्मणि कर्मणः ।
महतश्चिन्तनं संपत्तया प्राप्यं महत्फलम् । ।७ । ।
होतृप्रयुक्त ऋग्जातित्रये संपादयन्नमून् ।
लोकांस्त्रैलोक्यमाप्नोति समत्वात्त्रित्वसंख्यया । ।८ । ।
समिन्मांसाज्यमुख्यानाम् उज्ज्वलत्वादिसाम्यतः ।
देवलोकादिसंपत्त्या देवलोकादिमाप्नुयात् । ।९ । ।

इसके बाद सम्पद् उपासना के बारे में अश्वल ने चार प्रश्न किये १) होता कितनी ऋचाएँ बोलेगा और उनसे क्या फल होगा? (२) अध्वर्यु कितनी तरह की आहुतियाँ डालेगा व उनसे क्या फल होगा (३) ब्रह्मा कितने देवताओं द्वारा रक्षा करेगा और वे कौन हैं? (४) उद्गाता कितने स्तोत्र गायेगा, उनका अध्यात्म में क्या स्थान है और उनके क्या फल हैं? इस प्रसंग का संक्षेप करते हैं **अब सम्पत् उपासनाएँ कही जाती हैं : स्वल्प कर्म में महान् कर्म की दृष्टि करना 'सम्पत्' है जिससे महान् फल मिल सकता है । ।७ । ।** उपासना के प्रतीक, संवर्ग आदि अनेक भेदों में सम्पत् भी है जिसका स्वरूप भी यहाँ समझाया कि किये जाते छोटे कर्म को ही कोई बड़ा कर्म समझना, वह बड़ा कर्म किया जा रहा हैयह दृष्टि कायम रखना। शास्त्रानुसार यह दृष्टि करने से फल में विशेष उपलब्ध हो जाता है। यह कार्य मनमाने ढंग से विफल है, विधि-संमत होने पर ही सफल है। ।७ । ।

प्रथम प्रश्नोत्तर दिखाते हैं **'होता' नामक ऋत्विक् द्वारा प्रयोग में लायी जाती तीन जातियों की ऋचाओं में इन लोकों का सम्पादन करे तो त्रिलोकी के प्राणियों पर जीत हासिल कर लेता है । ।८ । ।** ऋग्वेदी ऋत्विक् का नाम 'होता' है। वह तीन तरह की ऋचाओं का पाठ करता है। आहुति से पूर्व जिसे पढ़ते हैं वह पुरोनुवाक्या, होमादि यागार्थ जिसे पढ़ते हैं वह याज्या एवं जो स्तुति करने के लिये पढ़ते हैं वह शस्या कही जाती है। इन में क्रमशः भूः, भुवः, स्वःइन तीन लोकों की दृष्टि करने पर तीनों लोकों में जितने प्राणी हैं सब पर विजय हो जाती है, सब वश में हो जाते हैं। ।८ । ।

द्वितीय प्रश्नोत्तर बताते हैं **समिधा, मांस, आज्य जिनमें प्रमुख हैं उन आहुतियों में उज्ज्वलता आदि की समानता से देवलोक आदि का सम्पादन करने से देवलोक आदि पा जाता है । ।९ । ।** अध्वर्यु आहुतियाँ डालता है जिनमें समिधा आदि खास पदार्थ हैं जिनमें समतावश देवलोकादि दृष्टि का विधान है। समिधा की आहुति में

ब्रह्मणो मनसो वृत्तिष्वनन्तास्वन्तवर्जितान्।
विश्वान्संपादयन्देवान् अनन्तं लोकमाप्नुयात्।।१०।।
उक्तास्वृग्जातिषूद्गात्रा गीयमानासु संपदा।
लोकत्रयस्य प्राणादेरपि लोकत्रयं व्रजेत्।।११।।

देवलोक की दृष्टि, मांस की आहुति में पितृलोक की दृष्टि और आज्य (ताज़ा घी) की आहुति में मनुष्य लोक की दृष्टि कर्त्तव्य है। समिधा डालने पर अग्नि उज्ज्वल हो जाती है, देवलोक भी उज्ज्वल है। मांस डालने पर अग्निकुण्ड में चड़-चड़ आदि आवाज़ काफी होती है और पितृलोक में यमयातना भोगने वाले भी काफी हल्ला मचाते हैं। अतः हल्ले की समानता है। घी आदि तरल पदार्थ कुण्ड में नीचे की ओर जाता है, मनुष्य लोक भी नीचे हैयह समानता है। लोकप्राप्तिमात्र तो कर्मानुसार हो जाती है, उपासना के प्रभाव से प्राप्ति में विशेष आता है, लोकों पर नियंत्रण मिलता है।।६।।

तीसरा प्रश्न ब्रह्मा-सम्बन्धी है। ब्रह्मा का प्रधान कार्य है यज्ञ में ग़लती न होने देना, हो जाये तो टोककर प्रायश्चित्त करा देना। अतः ब्रह्मा यद्यपि स्थूल क्रिया कर्म करता है तथापि दक्षिणा ज़्यादा पाता है। वह होता भी विशेष विद्वान् है। तत्सम्बद्ध प्रश्नोत्तर सुनाते हैं। **ब्रह्मा की अनन्त मनोवृत्तियों में अनन्त विश्वेदेवों का सम्पादन करने से अनन्त लोक पायेगा।।१०।।** ब्रह्मा का कार्य सावधानी से देखना सुनना है अतः वह यज्ञ के दौरान अनन्त वृत्तियाँ बनाता रहता है अतः असंख्य विश्वेदेवों की दृष्टि उसकी मनोवृत्तियों में करने का विधान है। इसके फलस्वरूप अनन्तलोक अर्थात् ब्रह्मलोक मिलता है।।१०।।

चौथा प्रश्नोतर बताते हैं **उद्गाता द्वारा गायी जाती पूर्वोक्त जातियों की ऋचाओं में लोकत्रय और प्राण-अपान-व्यान इन तीन का भी सम्पादन करने से लोकत्रय की प्राप्ति होती है।।११।।** ऋचाएँ तो उन्हीं तीन जाति की होंगी जो होता की बातयी थीं, फ़र्क है कि उद्गाता ऋचाओं को गा कर सुनाता है, केवल पाठमात्र नहीं करता। वर्त्तमान काल में वैदिक स्वर गले से निकालने वाले रह नहीं गये अतः सुनने मात्र से अंतर न भी समझ आये परंतु सामगान करते समय वैदिक विद्वान् अपनी अंगुलियों पर तो सब अक्षरों के स्वरों का स्मरण करते ही हैं। जैसे शुक्ल यजुर्वेदी विद्वान् उदात्त आदि स्वर हाथ से चिह्नित करते हैं वैसे सामवेदी हाथ की अंगुलियों पर चिह्नित कर लेते हैं। प्रयास होना चाहिये कि सामगान पुनः कण्ठ से निकले। अस्तु! उद्गाता द्वारा गायी जाती पुरोनुवाक्या में भूलोक और प्राण का, याज्या में अंतरिक्ष और

गया भूर्ब्राह्मणो विष्णुरन्नं ब्रह्मेति संपदा।
श्राद्धे फलस्य बाहुल्यं मत्वा सम्पादयन्ति हि।।१२।।

अपान का तथा शस्या में द्युलोक और व्यान का संपादन करने का विधान है। इससे प्राप्य फल लोकत्रय ही है, उस पर विजय है। ये सभी ध्यान ऋत्विक् करते हैं किंतु फल जैसे कर्म का वैसे उपासना का, यजमान पा लेता है। आसुर भाव दूर होना एवं लोकों पर अधिकार मिलना फल है। हम अभी लोकों के प्रति शेष हैं लेकिन उक्त फल से सम्पन्न व्यक्ति लोकों के प्रति शेषी होता है, उनके प्रति गुणभूत नहीं।।११।।

उदाहरण से इस सम्पद्-उपासना को समझाते हैं **श्राद्ध के दौरान श्राद्धस्थल में गयादृष्टि, ब्राह्मण में विष्णु-दृष्टि और अन्न में ब्रह्मदृष्टियों सम्पत् उपासना से श्राद्धफल में आधिक्य समझकर लोग ऐसी सम्पद् उपासना किया ही करते हैं।।१२।।** सामान्य, जो कोई भी भूमि हो उसे गया समझकर, श्राद्ध कराने वाले व श्राद्ध भोजन करने वाले ब्राह्मण को साक्षाद् नारायण समझकर तथा भोजन को परमात्मा समझकर किये श्राद्ध का खास महत्त्व है। राजसूय आदि बड़े कर्मों का भी स्वल्प कर्मों में सम्पद् दृष्टि से सम्पादन फल में विशेष का हेतु होता है। इस प्रकार प्रथम ब्राह्मण में अश्वल के प्रश्नों को उत्तरित कर याज्ञवल्क्य ने अपनी महत्ता स्थापित की।।१२।।

दूसरा है 'आर्तभाग ब्राह्मण'। जरत्कारु गोत्रीय आर्तभाग ने पूछा 'कति ग्रहाः? कत्यतिग्रहाः?' ग्रह कितने होते हैं? अतिग्रह कितने होते हैं? याज्ञवल्क्य ने दोनों की संख्या आठ-आठ बताकर समझाया 'प्राणो वै ग्रहः, सोऽपानेनाऽतिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति' अर्थात् घ्राण ग्रह है जो अपान अर्थात् गन्ध नामक अतिग्रह से पकड़ा हुआ है। अपानवृत्ति से ही व्यक्ति गंध सूँघता है। इसी प्रकार वाक्-नाम, जिह्वा-रस, चक्षु-रूप, श्रोत्र-शब्द, मन-कान, हाथ-कर्म और त्वक्-स्पर्शइन कुल आठ जोड़ों को ग्रह-अतिग्रह के रूप में बताया। तदनन्तर आर्तभाग ने पूछा 'कास्वित् सा देवता यस्या मृत्युरन्नम्?' वह कौन देवता है जिसके लिये मृत्यु अन्न है? याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया 'अग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नम्' अर्थात् जगत् के विनाश का हेतु होने से अग्नि सबकी मृत्यु है किंतु उसे जल खा जाता है अतः अग्नि भी जल का अन्न है! अतः मृत्यु पर भी विजय असंभव नहीं। फिर आर्तभाग ने मृत्यु जीत चुके के बारे में पूछा कि उसके प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं? याज्ञवल्क्य ने घोषणा की 'नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते, स उच्छ्वयत्याध्मायति, आध्मातो मृतः शेते' अर्थात् प्राण उत्क्रमण बिना किये परमात्मा से एक हो जाते हैं। शरीर वायु से भरकर फूल जाता है

आर्तभागप्रश्नः

बन्धाख्यमृत्युस्तन्मृत्युर्विदुषोऽनुक्रमस्तथा।
प्रयोजकलयो मृत्योः प्रेरकश्चात्र पृच्छ्यते।।१३।।

अतः मरा पड़ा समझा जाता है। आर्तभाग ने कहा कि मरने पर भी तत्त्वज्ञानी को कौन नहीं छोड़ता? याज्ञवल्क्य ने बताया कि नाम उसे नहीं छोड़ता। तदनन्तर आर्तभाग ने सामान्य (अज्ञानी) के बारे में पूछा कि मृत्यु के अनंतर पुरुष कहाँ रहता है? इसका जवाब सार्वजनिक विश्लेषण से न कर आर्तभाग और याज्ञवल्क्य ने आपसी विचार-विमर्श से निर्णीत किया तथा श्रुति ने बताया है कि उत्तर था 'कर्म' अर्थात् कर्म ही जीवों के निरूपक हैं। इस प्रकार इस ब्राह्मण में विस्तृत चिन्तन है।

उक्त पाँच प्रश्नों का संक्षेप प्रकट करते हैं **बन्धन नामक मृत्यु का लक्षण, मृत्यु की मृत्यु, विद्वान् का उत्क्रमण, प्रयोजक का लय और मृत्यु का प्रेरकये सब बातें द्वितीय ब्राह्मण में पूछी गयी हैं।।१३।।** जरत्कारु के गोत्र में आर्तभाग हुए। गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि उस गोत्र वालों के प्रेरणास्रोत होते हैं। भले ही हम प्रेरणा न लें, लेकिन वे तो प्रेरणा देते ही हैं। जरत्कारु ब्रह्मचर्य में अत्यंत निष्ठावान् किंतु पितरों के उद्धारार्थ गार्हस्थ्य भी अंगीकार करने वाले अतः अतिश्रद्धालु ऋषि बताये गये हैं। दैवी सम्पत्ति वाले जीव सभी सत्प्रेरणाएँ ग्रहण करते हैं अतः अपने गोत्र ऋषि से तो अवश्य शिक्षा लेते हैं। आसुर स्वभाव वाले इससे विपरीत पूर्वजों से विरुद्ध करने में ही महत्ता समझते हैं! आर्तभाग दैवी सम्पत्-सम्पन्न थे अतः उन्होंने तपोनिष्ठा से योग्यता अर्जित की थी जिससे वे इतने सूक्ष्म प्रश्न कर याज्ञवल्क्य की परीक्षा कर रहे थे। पूर्व में अश्वल ने संसार-बंधनरूप मृत्यु का प्रसंग छेड़ा था। जन्म-मरण ही हमारा बंधन है, न चाहते हुए अनिवार्यतः इनके क्रम का पालन करना पड़ता है। वहाँ सीमित फल को यथासंभव असीम बनाने के तरीकों की चर्चा थी। अब आर्तभाग ने स्वयं मृत्यु का लक्षण ही पूछा और उससे अतीत होने के बारे में जिज्ञासा की। बन्धन से छूटे के बारे में भी पूछा एवं मृत्यु का क्या प्रयोजक (हेतु) यह भी जिज्ञासा की। ईश्वर, कर्म, काल आदि अनेक हेतु प्रसिद्ध हैं अतः कौन निश्चित हेतु है यह निर्धारणीय है। कर्म अर्थात् लौकिक कर्म भी बहुधा हेतु माने जाते हैं जैसे लोग समझते हैं कि अमुक जगह गया या अमुक यान में गया इसलिये मरा, न जाता तो न मरता! अतः जानारूप कर्म (क्रिया) को भी हेतु मान लेते हैं। अतः प्रश्न उचित है।।१३।।

बन्धन-नामक मृत्यु का लक्षण बताते हैं **बन्ध कहलाने वाली मृत्यु है ग्रह-अतिग्रहरूप अर्थात् इन्द्रिय-विषयरूप। उसी से अधिभूत (भौतिक), अधियज्ञ (यज्ञांग) आदि**

अधिभूताधियज्ञादिपरिच्छेदफलात्मकः ।
मोहासंगात्मको मृत्युर्ग्रहातिग्रहबन्धवान् ।।१४।।
ग्रहा घ्राणादयो ज्ञेया गृह्णन्ति विषयान् यतः ।
घ्राणादिप्रेरकत्वेन गन्धाद्याः स्युरतिग्रहाः ।।१५।।

सीमाएँ प्रतीत होती हैं तथा सारे फलों का रूप उपलब्ध होता है। अविवेक से होने वाली आसक्ति उस मृत्यु का सहारा है।।१४।। सीमा बन्धन हुआ करती है। हमें सारी सीमाएँ इन्द्रियों व विषयों के सन्दर्भ में ही प्रतीत हो पाती हैं। हेतु-फलभाव भी सीमा ही है क्योंकि हेतुरूप से वह फल नहीं होता, फलस्वरूप से हेतु नहीं होता। भ्रमवश बंधन भी मीठा लगता है जैसे विशिष्ट-अतिविशिष्ट लोग लगातार पुलिस आदि से घिरे रहते हैं, उनकी सब गतिविधियाँ अन्यों की निगरानी में रहती हैं, है यह बन्धन लेकिन उन्हें पसन्द आता है, यह प्रत्यक्ष ही है। हमारी सीमाएँ आधिभौतिक हैं क्योंकि शरीर आदि सब भौतिक वस्तुएँ हैं। भले ही जूँ, मच्छर को लगे कि मनुष्य अत्यंत विस्तृत, सर्वसमर्थ है पर हमें मालूम है कि हम कितने सीमित और अशक्त हैं, ऐसे ही हम देवता आदि को जितना बड़ा समझें, हैं वे भी सीमाओं से घिरे ही। अधियज्ञ अर्थात् यज्ञके स्वरूप, अंग, फलसभी दृष्टियों से सीमित हैं। हम सभी यज्ञ न कर सकते हैं अतः सबके फल भी नहीं पा सकते। ऐसे ही सारे स्तरों पर सीमाएँ समझ लेनी चाहिये। सभी सीमाओं का हेतु अज्ञानवश होने वाली आसक्ति ही है। ग्रह अर्थात् इन्द्रियों में मैं-भाव रहने से ही उनकी सीमा का स्वयं पर आरोप कर लेते हैं। आगे, विषयासक्ति इन्द्रियों को भी सीमित कर देती है, जिस विषय की आसक्ति है उस पर तो इंद्रिय टिकी रहेगी, बाकी की तरफ जायेगी ही नहीं। अतः ग्रह-अतिग्रह (इन्द्रिय-विषय) ही बंधन होने से मृत्यु हैं।।१४।।

ग्रह आदि शब्दों का अर्थ बताते हैं **क्योंकि विषयों को ग्रहण करते हैं इसलिये घ्राण आदि इंद्रियों को ग्रह समझना चाहिये। घ्राण आदि को प्रेरित करने वाले होने से गन्ध आदि विषय अतिग्रह हैं।।१५।।** लोक में नौ ग्रह प्रसद्धि हैं जो हम लोगों को मानो पकड़े रहते हैं। इसीलिये विषयों को पकड़ने वाली इंद्रियाँ भी ग्रह कही गयी हैं। इन्द्रियों को विषय पकड़ने की स्वाभाविक इच्छा रहती है, अत एव सम्पर्क-साधन दूरभाषादि और प्रसारण-साधन दूरदर्शन आदि का सरलता से विस्तार होता है। 'उपभोक्ता-संस्कृति' कहलाने वाली प्रथा प्रतिष्ठित होने में कठिनाई नहीं आती। इंद्रियों की इन प्रवृत्तियों पर नियंत्रण अतिकठिन है, थोड़ी-सी भी देखने-सुनने आदि की इच्छा

पूर्वब्राह्मणसम्प्रोक्तध्यानसंयुक्तकर्मभिः ।
परिच्छेदविनाशेऽपि मृत्योः सर्वस्य न क्षयः ।।१६ ।।
हिरण्यगर्भरूपेऽपि श्रूयन्ते हि क्षुधादयः ।
अतो मृत्योरशेषस्य मृत्युरन्योऽत्र पृच्छ्यते ।।१७ ।।

हो जाये तो आँख-कान आदि पर नियंत्रण रख पाना असम्भव-सा हो जाता है। मन भी इस दृष्टि से इन्द्रिय ही है, उसकी भी विषय-लोलुपता पर नियंत्रण अतिकठिन है। दार्शनिक या वैज्ञानिक चिंतन भी एक तरह से मन की विश्लेषणेच्छा का ही परिणाम है। ऐसी इच्छा जिन्हें नहीं वे उन चिन्तनों को व्यर्थ मानते हैं। तकनीक का उपयोग करते हुए भी विज्ञान की जानकारी निरर्थक समझते हैं। लेकिन जिन्हें ऐसी मानस जिज्ञासा है वे विश्लेषण में संलग्न रहते हैं। वेदान्त समझाता है कि जगत् मायिक है, इसमें एक सच्चिदानन्द के अलावा कोई तथ्य नहीं है, लेकिन उन्हें यह बात स्वीकार नहीं होती, खोजते रहते हैं। वृत्त (गोले) की परिधि में जैसे मध्य कोई बिंदु नहीं अतः खोजने पर भी मिल नहीं सकता वैसे नाम-रूपात्मक प्रपंच में कोई तात्त्विकता है नहीं कि मिल सके। जैसे 'गोरख-धन्धे' के खिलौने को उलझा दो तो सुलझा नहीं पाते वैसे मायामय प्रपंच का निर्वचन करना अशक्य है। इसका समाधान नहींयह निश्चय होने पर ही शांति है, अन्यथा कोई उपाय नहीं कि शांति हो। इन्द्रियाँ तो ग्रहरूप है ही, इनके विषय और जबरे हैं! वे अतिग्रह हैं, इन्द्रियों को आकृष्ट करते रहते हैं।।१५।।

यद्यपि अश्वल ने भी 'मृत्त्योराप्तिमतिमुच्यते' आदि से मृत्यु से छूटना पूछा था और आर्तभाग भी मृत्यु के समापक को पूछ रहा है तथापि दोनों प्रश्नों में अंतर है यह समझाते हैं **पूर्व ब्राह्मण में समझाये ध्यान समेत कर्मों से परिच्छेद (व्यष्टिसीमा) का विनाश होने पर भी समग्र मृत्यु की समाप्ति नहीं क्योंकि हिरण्यगर्भरूप में भी भूख आदि सुने जाते हैं। अतः पूर्वोक्त से अन्य, सारी मृत्यु की मृत्यु यहाँ पूछी जा रही है।।१६-७।।** अश्वल ब्राह्मण में देवभाव-प्राप्तिरूप सापेक्ष मोक्ष कहा था। ब्रह्मलोक में मानवलोक जैसा न सही, लेकिन इंद्रियादि का बन्धन रहता है ही। स्वयं हिरण्यगर्भ को भूख आदि लगी, अरति हुई, ऐसा बृहदारण्यक आदि में बताया ही गया है। अतः आर्तभाग का प्रश्न उतनी-मात्र मुक्ति के बारे में नहीं वरन् मृत्युमात्र की निवृत्तिरूप मुक्ति पूछी जा रही है।।१६-७।।

मृत्यु के मृत्यु को समझना उचित होने पर भी ग्रह-अतिग्रह का प्रसंग किसलिये? यह स्पष्ट करते हैं **बन्धन व मोक्ष समझने के लिये मृत्यु और उसके मृत्यु का**

निर्णेयौ मृत्युतन्मृत्यू बंधमोक्षावबुद्धये।
दुर्वचौ च ग्रहादीनां लोकेऽत्यन्ताऽप्रसिद्धितः।।१८।।
ग्रहातिग्रहवद्बन्धो देहोऽप्येष तथाप्यसौ।
जन्मान्तरेष्वसंचाराद् नाप्रसिद्धो न दुर्वचः।।१९।।

निर्णय करना उचित है। इन्द्रियादि की ग्रहादिरूपता लोक में अत्यन्त अप्रसिद्ध होने से इन्द्रियादि को ग्रहादि कहना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन है। अतः इन शब्दों से पूछने से याज्ञवल्क्य की परीक्षा हो जाती है।।१८।। जिससे छूटना है उस बंधन को भी समझना ज़रूरी। यद्यपि इंद्रियाँ हम जानते हैं तथापि ये ग्रह (घड़ियाल; बंधकारी) हैं यह नहीं समझते और विषयों को अतिग्रह (तगड़ा घड़ियाल) भी नहीं समझते अतः इनके बन्धन को दृढतर ही बाँधते जाते हैं। इसलिये मृत्यु के इन रूपों का यहाँ निर्णय उचित है। ग्रह आदि शब्द यज्ञपात्र आदि अर्थों में प्रसिद्ध होने पर भी इंद्रियादि अर्थों में अप्रसद्धि हैं अतः 'ग्रह कौन' पूछने पर सामान्य विद्वान् 'इंद्रियाँ' जवाब नहीं देगा, यज्ञपात्र, आदि ही जवाब देगा; पूर्व ब्राह्मण के अनन्तर तथा 'ब्रह्मिष्ठ' के निर्णयार्थ होते वाद में ग्रह पूछा जायेगा तो उसका खास अर्थ होगायह समझ सकना वैदुष्य का प्रमाण है। याज्ञवल्क्य ने ग्रह का वैसा ही भाव समझकर उत्तर दिया अतः उनकी ब्रह्मनिष्ठा सत्यापित हो गयी। हमें कौन निरन्तर खींच रहा है?यह साधारण व्यक्ति निर्धारित नहीं कर पाता, कभी इंद्रियों को, कभी मन को, इच्छाओं को, आवश्यकताओं को आदि अनेक चीज़ों को खींचने वाला अनुभव करते हैं। अनेक पत्नियाँ जैसे पति को खींचती हैं वैसे हमें अनेक दिशाओं से आकर्षण प्रतीत होता है। अतः ठीक-ठीक निर्धारण नहीं कर पाते कि किससे छूटने के लिये पूर्ण प्रयास करें। जब शास्त्रादि से समझ आती है कि इंद्रियाँ और विषय ही बंधक हैं तब उन्हीं से छूटने के लिये एकान्त प्रयास कर पाते हैं।।१८।।

स्थूल शरीर भी एक बंधन है, उसकी चर्चा क्यों छोड़ दी, यह स्पष्ट करते हैं **यद्यपि यह शरीर भी ग्रह-अतिग्रह की तरह बंधनरूप है तथापि क्योंकि यह अन्य जन्मों में जीव के साथ-साथ नहीं जाता-आता इसलिये (इसका बंधन इंद्रियादि के बंधन जैसा स्थायी नहीं है), शरीर बंधन रूप से प्रसिद्ध भी है और आसानी से कहा जा सकता है कि यह बंधन है, (इसलिये प्रकृत प्रश्नोत्तर में इसका उल्लेख छोड़ दिया)।।१९।।** बंधन होने पर भी बिना प्रयास मृत्यु-मात्र से सभी का देहबंधन खुल जाता है इसलिये इसे सब समझते ही हैं, इसे पूछने-जानने की

एकमेव मनः सर्वजन्मगामीति तार्किकाः।
अक्षान्तराण्यपीत्यन्ये तेन संख्याऽत्र दुर्वचा।।२०।।
मनोन्यायः समोऽन्येषु तेनाशेषविवक्षया।
पर्यग्रहीदष्टसंख्यामन्यान्तर्भाव उह्यताम्।।२१।।
यस्येंद्रियस्य योऽर्थोऽस्मिन् जन्मन्यन्यत्र तत्तथा।
उतान्यथेति संदेहात् संख्येयं पृच्छ्यते पुनः।।२२।।

ज़रूरत नहीं। वर्त्तमान काल में देहासक्ति अधिक होने से भले ही इसकी बंधरूपता कथनीय लगे लेकिन जन्मान्तर स्वीकारने वालों को स्पष्ट है कि यह क्योंकि जीव का स्थायी संबंधी नहीं इसलिये इस-मात्र में स्वयं को समझना बंधन है।।१९।।

आर्तभाग केवल ग्रहादि का स्वरूप या नाम ही पूछता, संख्या क्यों पूछी? इसका जवाब देते हैं **तार्किक मानते हैं कि एक मन ही सारे जन्मों में जीव को बाँधे रखता है जबकि अन्यों का कहना है कि अन्य इन्द्रियाँ भी जन्मान्तर में बंधक रूप से अनुगत रहती हैं, इसलिये बंधकों की संख्या बताना भी सरल नहीं।।२०।। जिस तर्क से मन बन्धन है उसी से अन्य इन्द्रियादि भी बन्धन हैं इसलिये सभी बन्धनों का उल्लेख करने के लिये आठ की संख्या ग्रहण की जिसमें मनोभिन्न सब बन्धन समेट लेने चाहिये।।२१।।** प्रशस्त्रपादभाष्य न्यायकन्दली (पृ. ७३६) आदि तार्किक ग्रन्थों में स्पष्टतः बताया है कि जन्मान्तर में संचरण मन का ही होता है, इन्द्रियाँ नहीं जातीं। इस मत में ग्रह एक ही कहलायेगा। अन्य दार्शनिक इन्द्रियों का गमन मानते हैं, श्रीभगवान् ने भी 'मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि.... गृहीत्वा...संयाति' (१५.७-८) आदि से इन्द्रियों का गमन कहा ही है। अतः संख्याविषय का प्रश्न, उचित है। स्थूल देह प्रत्यक्ष होने से पूछने के अयोग्य है लेकिन जन्मान्तर सम्बन्धी सूक्ष्म होने से प्रष्टव्य है। याज्ञवल्क्य ने इन्द्रियों का संग्रह माना अतः आठ की संख्या बतायी। यद्यपि इन्द्रियाँ दस प्रसिद्ध हैं, मन भी गिनें तो ग्यारह हो जाती हैं, तथापि आठ में सबके अन्तर्भाव के तात्पर्य से आठ कहीं। आत्मपुराण में (५.१४२-५) उपस्थका त्वक् में, पायु-पादका हाथ में अन्तर्भाव समझाया है। आठ से अन्य इन्द्रियाँ बंधक नहींऐसा कोई भाव याज्ञवल्क्य का नहीं वरन् सभी को समेटने में तात्पर्य है।।२०-१।।

संख्याविषयक पुनः जिज्ञासा उपपन्न करते हैं **इस जन्म में जिस इन्द्रिय का जो विषय है वह अन्यत्र भी वैसा ही होता है या अलग ढंग के होते हैं इस सन्देह से पुनः संख्या पूछी है।।२२।।** आर्तभाग ने पहले 'कति' पूछा तो

दृष्टानुसार्यदृष्टं तु कल्पनीयमितीदृशात् ।
न्यायात् प्राह यथादृष्टाम् इन्द्रियार्थव्यवस्थितिम् । ।२३ । ।
बन्धत्वं विशदीकर्तुं ग्रहातिग्रहकल्पनम् ।
मोचनीयो ग्रहग्रस्तस्तथैवाक्षार्थबंधनात् । ।२४ । ।

याज्ञवल्क्य ने 'अष्टौ' जवाब दिया, आर्तभाग ने फिर पूछा 'ये ते अष्टौ...कतमे ते?' इस पुनः प्रश्न में यहाँ युक्ति दी है। यहाँ तो इंद्रिय-विषय बन्धक हैं, अन्यत्र नहीं होते होंगे? यह शंका होती है। कुछ लोग दिव्य शरीरों व दिव्य भोगों को इहलोक के शरीर-भोगों से विलक्षण मान कर उनकी प्राप्ति को मोक्षरूप कह देते हैं। अतः प्रश्न संगत है। ।२२ । ।

सर्वत्र इंद्रिय-विषय ऐसे ही हैं, बंधक ही हैं यह समझाते हैं**क्योंकि विचारशास्त्र में स्थापित नियम है कि उपलब्ध प्रमाणों से निर्धारित के अनुसार ही उसके बारे में कल्पना करनी चाहिये जिसके बारे में प्रमाणों से निर्धारण नहीं हो पा रहा, इसलिये याज्ञवल्क्य ने बताया कि इन्द्रियों और उनके विषयों की वही व्यवस्था सर्वत्र है जो यहाँ अनुभूयमान है। ।२३ । ।** वैदिक चिन्तकों की मर्यादा है कि यदि कल्पना से कुछ मानना हो तो उसे वैसा ही मानना चाहिये जैसा अब तक का अनुभव रहा है। आधुनिक वैज्ञानिक भी ऐसा नियम स्वीकारते हैं अतः पृथ्वी पर जिन तत्त्वों का जो स्वरूप निर्धारित है वही स्वरूप चंद्र, मंगल आदि जहाँ भी वे तत्त्व होंगे वहाँ उनका रहेगा; अगर स्वभाव में अंतर मिले तो उसे तत्त्वान्तर मानेंगे। ऐसा नहीं कि यहाँ लोहे में जंग लगती है और मंगल में लोहा जंग न लगने वाला होता हो! इसी तरह याज्ञवल्क्य ने कहा कि इंद्रियों व उनके विषयों का स्वरूप एक-जैसा ही है, चाहे मानव योनि हो या अन्य योनि हो, अन्य लोक हो। आँख जहाँ भी होगी देखेगी ही, कान सुनेगा ही, रूप दीखेगा ही, शब्द सुनाई ही देगा। इस प्रकार ग्रहों की संख्या व उनका स्वरूपयह स्पष्ट हुआ। ।२३ । ।

इंद्रियादि को ग्रहादि कहा क्यों? इसे स्पष्ट करते हैं **ग्रह-अतिग्रह की कल्पना बन्धनरूपता व्यक्त करने के लिये है। जैसे ग्रह से ग्रस्त को छुड़ाना पड़ता है। वैसे ही इन्द्रियों व विषयों के बंधन से स्वयं को छुड़ाना ज़रूरी है। ।२४ । ।** इंद्रियाँ व मन कामनाओं से युक्त हैं अतः जन्म-जन्मान्तर में हमें ले जाती हैं। इसीलिये जब हृदयादि स्थित सारी कामनाएँ निवृत्त हों तभी जीव अमृत होता है ऐसा उपनिषद् आदि में कहा है। स्थूल देह बंधन तो है पर स्वयं छूट जाता है, सूक्ष्म देह यों न छूटने से दृढ बंधन है इसे बताने के लिये उसे ग्रह कहना उचित है। ग्रह से घड़ियाल समझें तो भी स्पष्ट

ग्रस्तं हिरण्यगर्भान्तं मृत्युना सकलं जगत्।
ग्रहातिग्रहरूपेण मृत्युस्तस्यास्ति वा न वा।।२५।।
अस्ति चेदनवस्था स्याद् अनिर्मोक्षोऽन्यथा भवेत्।
इत्यसौ दुर्वचः प्रश्नो दृष्टान्तेनापनुद्यते।।२६।।

है कि अगर किसी को ग्रह ने पकड़ लिया तो उससे छुड़ाना ही उपाय है, अन्यथा बेचारा मरेगा ही। अथवा ग्रह से शनि मंगल आदि भी समझ सकते हैं, उनके प्रभाव से भी छुड़ाना ही पड़ता है अन्यथा वे अपना असर डालते ही हैं। भूत-प्रेत आदि का आवेश भी कदाचित् 'ग्रह' कहा जाता है क्योंकि उसमें भी जीवांतर हमारे मन आदि को ग्रहण कर लेता है, वश में कर लेता है। ऐसे ग्रहग्रस्त को भी झाड़-फूँक आदि प्रयोगों से छुड़ाना ही पड़ता है अन्यथा पीडा पाता रहता है। इसी प्रकार, इंद्रियों के वशीभूत जीव को इस बंधन से कोई मुक्त ब्रह्मनिष्ठ ही उपदेश आदि द्वारा छुड़ा सकता है, स्वयं जीव इससे नहीं छूट सकता। अत एव 'मुक्तश्चान्यान् विमोचयेद्' आदि शास्त्र-निर्देश है। स्वयं छूट पाता तो अन्य पर निर्भर न होता लेकिन निर्भरता लोक-शास्त्र उभयत्र दृष्ट है अतः मुक्त ही बद्ध को छुड़ा सकता है यह निश्चित है। मुक्त में करुणा स्वाभाविक होने से वह छुड़ाता ही है, 'विमोचयेत्' वस्तुतः अनुवाद है न कि विधि। इन्द्रियों से भी तगड़े होने के कारण विषय अतिग्रह कहे गये हैं। वार्तिकसार में 'तथैवाऽज्ञानबन्धनात्' पाठ है लेकिन प्रसंगानुसार 'अक्षार्थ' ही उचित पाठ है।।२४।।

आर्त्तभाग का तीसरा प्रश्न है 'यह सब तो मृत्यु का अन्न है, वह कौन देवता है जिसका अन्न मृत्यु है?' इसे उपस्थापित करते हैं **हिरण्यगर्भ-समेत सारा जगत् ग्रह-अतिग्रहरूप मृत्यु से ग्रस्त (विषयीकृत) है। उस मृत्यु की भी मृत्यु है या नहीं?।।२५।। यदि है तो अनवस्था होगी, नहीं है तो मोक्ष न हो पायेगा। इसलिये इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है लेकिन याज्ञवल्क्य उदाहरण से समाधान करते हैं।।२६।।** ईश्वर ही सूक्ष्मोपाधि होने पर हिरण्यगर्भ है। वही आगे सारे नाम-रूप का विभाजन करता है। बहुभवन का संकल्प ईश्वर का, चीज़ें बनाने वाला हिरण्यगर्भयह व्यवस्थित क्रम है। कारण व सूक्ष्मइन उपाधियों का ही भेद है, वस्तु एक ही है। कर्म उपासना का चरम उत्कृष्ट फल हिरण्यगर्भभाव ही है। किन्तु वह भी मृत्यु से (भूख आदि से) ग्रस्त बताया ही गया है! जैसे मच्छर आदि कुछ घण्टे जीने वाले प्राणियों की दृष्टि में मनुष्य ही अमर है वैसे मनुष्य समझते हैं कि देवता अमर हैं, और देवताओं को लगता है कि हिरण्यगर्भ अमर है पर श्रुति सभी को मृत्युग्रस्त,

वह्नेः सर्वाशिनो मृत्योर्यथा मृत्युर्जलं महत् ।
बन्धमृत्योस्तथा मृत्युरज्ञानं बन्धहृल्लये । ।२७ । ।

मौत के मुँह में बताती है। उस मृत्यु की समाप्ति होती है या नहीं? समाप्ति हो तो कौन करेगा? जो करेगा वह फिर समाप्त होगा या नहीं? इस तरह मृत्यु के मारक को मानने से अनवस्था प्राप्त होगी। और यदि मृत्यु की मृत्यु होती नहीं, ऐसा मानें तो मोक्ष ही असम्भव होगा। अतः प्रश्न को 'दुर्वच' कहा अर्थात् प्रश्न का उत्तर देना अतिकठिन है, इसीलिये आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य की परीक्षार्थ इसे सामने रखा।

हिरण्यगर्भ को मृत्युग्रस्त श्रुति ने कहा ही है अतः कर्म-उपासना के प्रभाव से मृत्युसमाप्ति की आशा नहीं। कुछ विचारक इसीलिये ग्रह-अतिग्रह से युक्त रहना आत्मा के लिये स्वाभाविक है, उसका बंधन नहींऐसा मान लेते हैं! लेकिन श्रुतियाँ स्पष्ट ही इन्हें बंध कहती हैं और मोक्ष में मृत्यु से असम्बन्ध बताती हैं। अतः मृत्युमृत्यु स्वीकार्य भी है। प्रश्न कठिन होने से याज्ञवल्क्य ने हाँ-ना में जवाब न देकर उदाहरण से समझाना उचित समझा। इससे अनवस्था और मोक्षासम्भवता दोनों समस्याएँ दूर हो गयीं। ।२५-६ । ।

याज्ञवल्क्य का उत्तर इतना ही है 'अग्निर्वै मृत्युः सोऽपाम् अन्नम्! अप पुनर्मृत्युं जयति' (३.२.१०) सबकी मृत्यु अग्नि प्रसिद्ध है क्योंकि सब कुछ जलाकर नष्ट कर देती है, किन्तु उस अग्नि को जल खा जाता है! यों अग्निरूप मृत्यु की मृत्यु जल सिद्ध हुआ। अतः मृत्यु की मृत्यु सिद्ध होने से समझा जा सकता है कि वही मृत्यु-मृत्यु सभी ग्रह-अतिग्रह को समाप्त करती है। अग्नि-जल के दृष्टान्त से मृत्यु-मृत्यु की सिद्धि हो जाने पर नतीजा निकलता है 'तेन, सर्वं ग्रहातिग्रहजातं भक्ष्यते मृत्योर्मृत्युना; तस्मिन् बन्धने नाशिते मृत्युना भक्षिते संसाराद् मोक्ष उपपन्नो भवति।' (भाष्य ३.२.१०) अतः मृत्यु (बंधन) पर विजय हासिल होना संगत है इतना ही याज्ञवल्क्य ने समझा कर पूर्वशंकित अनवस्था और अनिर्मोक्षप्रसंग का परिहार भी कर दिया। इस विषय का संग्रह करते हैं **जैसे सबको खा जाने वाली अग्निरूप मृत्यु के लिये अत्यधिक जल मृत्युरूप होता है, वैसे बन्धनरूप मृत्यु का मृत्यु है अज्ञान जो लय में (सुषुप्ति में) बन्धन का हरण कर लेता है। ।२७ । ।** आग बड़ी हो तो जल के छींटों से बुझ नहीं सकती अतः 'महत् जलम्' कहा। ऐसे ही छोटे-मोटे अज्ञान से (घटाज्ञान, पटाज्ञान आदि से) बन्धन-निवृत्ति नहीं वरन् मूलभूत अज्ञान से ही बन्धन समाप्त होता है जैसे गहरी नींद आने से इंद्रिय-विषयरूप ग्रह-अतिग्रह-लक्षण मृत्यु का निवारण

अज्ञानमृत्योर्विज्ञानं मृत्युस्तस्यापि तत्तथा।
तत्कातकरजोन्यायाद् नानवस्थामिहानयेत्।।२८।।
प्राक्तनान्यपि जन्मानि सम्यग्ज्ञानमपह्नुते।
अपह्नुते स्वमित्यस्मिन्नर्थे नैषा चमत्कृतिः।।२६।।

अनुभवसिद्ध है। क्योंकि जगते ही सब अज्ञान से ही प्रकट होते हैं इसलिये उसी में लीन थे यह निश्चित हो जाता है। यही बात प्रलय में समझनी चाहिये। व्यष्टि-समष्टि का अंतर होने पर भी लय में अंतर नहीं। दृष्ट के अनुसार अदृष्ट की कल्पना होती है अतः सुषुप्ति के अनुसार लय समझा जाता है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता का यह आधार लेकर विचार करने से मोक्ष के स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाता है। ग्रह-अतिग्रह रूप बंध की मृत्यु अज्ञान, दृष्टांत में अग्निस्थानीय है जिसकी मृत्यु आगे बतायेंगे।।२७।।

अज्ञान ही मोक्ष है ऐसे भ्रम का निवारण करते हैं **अज्ञानरूप मृत्यु की मृत्यु विज्ञान है जिस विज्ञान की भी मृत्यु वही विज्ञान उसी प्रकार है जैसे अज्ञान की मृत्यु। यहाँ कतकरज का न्याय लागू होने से अनवस्था का आपादन नहीं किया जा सकता।।२८।। पूर्व में हो चुके जन्मों को भी जब आत्मा का सम्यग् ज्ञान समाप्त कर देता है तो स्वयं को समाप्त करता है इसमें तुम्हें क्या आश्चर्य है!।।२६।।** विज्ञान अर्थात् अधिष्ठानभूत परमात्मा का साक्षात्कार। आत्मा-परमात्मा के अभेद का साक्षाद् अवबोध यहाँ विज्ञान है। बाकी सब की समाप्ति अज्ञान से, उसकी समाप्ति ज्ञान से, यह भाव है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है यह अनुभवादि से स्पष्ट है। यज्ञादि अनुष्ठान से अज्ञान व तत्कार्य भ्रमादि की निवृत्ति नहीं होती। सच्चा सर्प हो तो 'आस्तीक' के स्मरण से चला भी जाये लेकिन भ्रमसिद्ध साँप उससे भी जायेगा नहीं। भ्रम तभी मिटे जब उसका हेतुभूत अज्ञान मिटे और वह केवल तत्त्वज्ञान से मिट सकता है। ज्ञान से निवृत्त होने पर भ्रमसिद्ध वस्तु का बाध होता है कि न वह था, न है, न होगा। क्योंकि ग्रहातिग्रह को अपने में लीन करता है इसलिये अज्ञान अग्निस्थानीय और उसे भी समाप्त करने वाला विज्ञान जलस्थानीय है। आगे, प्रश्न होगा कि वह ज्ञान भी मृत्यु होनेसे (अज्ञान का भक्षक होने से) उसकी भी मृत्यु होगी? जवाब दिया कि वह स्वयं की भी मृत्यु हो जाता है। दृष्टांत दिया कतकरज का; निर्मली चूर्ण एक वनस्पति का चूरा प्रसिद्ध है जिसे कतकरज कहते हैं; मटमैले पानी में डालने पर वह पानी के मैल को तो नीचे बैठाता ही है, खुद भी पानी में घुलता नहीं

अथ तत्त्वविदः प्राणा उत्क्रामन्त्यथवा न हि।
स्यात्पुनर्जनिरुत्क्रान्तावनुत्क्रान्तौ मृतिः कथम्।।३०।।
नोत्क्रामन्ति न तिष्ठन्ति किन्तु निर्वातदीपवत्।
न कारणं शिष्यतेऽत्र तस्य ज्ञानेन निह्नुतेः।।३१।।

वरन् मैल के साथ नीचे ही बैठ जाता है अतः पानी सर्वथा शुद्ध हो जाता है। फ़िटकरी भी पानी साफ करती है लेकिन थोड़ी बहुत पानी में घुल़ जाती है अतः प्रायः कतकरज का उदाहरण देते हैं। इसी प्रकार अज्ञान मिटाकर विज्ञानरूप वृत्ति भी समाप्त हो जाती है। क्योंकि मृत्यु के हेतु को ही निवृत्त करती है इसीलिये चरमवृत्ति बाकी सब को हटाते हुए स्वयं के भी हटने का हेतु बन जाती है। इस तरह अनवस्था का प्रसंग नहीं। इसमें आश्चर्य करना व्यर्थ है क्योंकि जो प्रमा अनादि और व्यतीत बंधन ही निवृत्त करती है वह स्वयं को क्योंकर नहीं निवृत्त करेगी! जो हो चुके, अब मौजूद नहीं, उनका हुआ-पना भी जो मिटा डाले उसके लिये क्या दुष्कर हो सकता है! अर्थात् मिथ्यामात्र का वह बाधक है अतः क्योंकि वृत्ति मिथ्या है इसलिये उसका भी बाधक हो जाता है। बाधक अर्थात् उसके विषय का विरोधी नहीं, वरन् स्वरूप के असत्त्व का बोधक अर्थात् जिस मन की वह वृत्ति है वह मन क्योंकि असत्य है इसलिये वृत्ति बाधित है न कि वृत्ति से उपलब्ध निश्चय ग़लत है। साक्षात्कार के अनन्तर भान (प्रतीति) का विरोध नहीं, केवल यह अन्तर है कि भानविषय को सत्य समझना असंभव रह जाता है।।२८-२९।।

जारत्कारव आर्तभाग का अगला प्रश्न है 'यत्राऽयं पुरुषो म्रियत उदस्मात् प्राणाः क्रामन्ति, आहो नेति?' जिसका याज्ञवल्क्यने जवाब दिया 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः अत्रैव समवनीयन्ते, स उच्छ्वयाति, आध्मायति, आध्मातः मृतः शेते।' अर्थात् तत्त्वेत्ता क़े प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं? जवाब हैनहीं होता, वे यहीं परमात्मा के साथ एकमेक हो जाते हैं। उसका देह फूल जाता है, उसमें हवा भर जाती है, फूली धौंकनी की तरह निश्चेष्ट पड़ा रहता है। इस प्रश्न-उत्तर का उपन्यास करते हैं **अब प्रश्न है कि तत्त्ववेत्ता के प्राण उत्क्रमण करते हैं या नहीं? उत्क्रमण करें तो पुनः जन्म (भी) होगा और उत्क्रमण नहीं करें तो तत्त्वज्ञ मरता कैसे है? ।।३०।। (उत्तर है) तत्त्ववेत्ता के प्राण न उत्क्रमण करते हैं और न बचे ही रहते हैं किन्तु उनकी हालत बुझे दीपक-सी है। प्राणों का कारण अज्ञान तब रह नहीं जाता क्योंकि तत्त्वज्ञान से उसका अपह्नव हो चुकता है।।३१।।**

अनारब्धफलं कर्म तदुत्क्रान्तेः प्रयोजकम्।
स्थितेर्निमित्तमारब्धं ते नष्टे ज्ञानभोगतः।।३२।।
उपादाननिमित्ताभ्यां हीनानामुत्क्रमः कथम्।
कथं वाऽत्र स्थितिस्तस्माद्युक्त आत्यन्तिको लयः।।३३।।
प्राणत्यागेन देहोऽयं म्रियते बाह्यवायुना।
आपूर्णः स्थौल्यमापन्नो निश्चेष्टो दृश्यते यतः।।३४।।

प्रारब्ध से अतिरिक्त कर्म प्राणों के उत्क्रमण में हेतु बनते हैं और प्राणों के बने रहने में निमित्त है प्रारब्ध कर्म। वे दोनों तरह के कर्म यथाक्रम ज्ञान एवं भोग से नष्ट हो चुकते हैं।।३२।। जिनके उपादान (अज्ञान) और निमित्त (कर्म) दोनों नहीं रहे उन प्राणों का उत्क्रमण कैसे हो या शरीर में बने रहना (भी) कैसे हो! इसलिये उनकी सर्वथा समाप्ति होती है, यही उपपन्न भी है।।३३।। प्राण न रह जाने से यह शरीर मर जाता है क्योंकि बाहरी वायु से भरा हुआ, फूलकर, बिना कोई चेष्टा किये पड़ा दीखता है।।३४।। प्रश्न स्पष्ट है कि विद्वान् मरता है या नहीं? मरेगा तो 'ध्रुवं जन्म मृतस्य' के अनुसार फिर पैदा होगा अर्थात् मुक्त नहीं रहेगा और न मरे तो प्रत्यक्ष-विरोध है। 'उत्क्रमण' अर्थात् एक स्थूल शरीर से निकलकर अन्य शरीर ग्रहण करने के लिये जाना। साँस छोड़ने में प्राण बाहर तो जाते हैं लेकिन पुनः उसी शरीर में लौटते भी हैं अतः उत्क्रमण नहीं। जिस शक्ति से शरीर में श्वास- प्रश्वास संभव हैं वह जब देहान्तर ग्रहण करने को जाती है तब उत्क्रमण कहा जाता है। कर्म और वासनाओं से ही अन्यान्य शरीरों को ग्रहण करने के लिये प्राण का गमन शास्त्र-प्रसिद्ध है। क्योंकि कामना अध्यासाधीन, अभिमानाधीन है, इसलिये जिसका अध्यास बाधित हो चुका उसका उत्क्रमण अशक्य है। किन्तु तब वह मरता कैसे है! प्रारब्ध समाप्ति पर तत्त्वज्ञ का भी मरण शास्त्रसम्मत है। इसलिये आर्तभाग की शंका वाजिब है।

याज्ञवल्क्य ने दीपके उदाहरण से समाधान कर दिया। तेल, रुई आदि समाप्त हो जाने पर दिया बुझ जाता है। वह रहता नहीं और कहीं गया हो ऐसा भी नहीं। ऐसे ही अज्ञान व कर्म न रहने से प्राण न शरीर में बने रहते हैं, न किसी देहान्तर में जाते हैं। प्राण रहने में दो हेतु हैंएक, उपादानरूप अज्ञान; दूसरा, निमित्तरूप कर्म। ज्ञान से अज्ञान मिटने से उपादान नहीं बचा। भोग से प्रारब्ध खत्म हो गये (ब्र.सू.४.१.६.१३) तो वर्तमान शरीर में प्राण बने रहें इसका कोई हेतु नहीं रहा और आत्मस्वरूप की

प्राणा एव विलीयन्ते किं वा सर्वं प्रयोजकम्।।
आद्ये प्राणजनिर्भूयो द्वितीये नाम तत्कथम्।।३५।।

अधिगति से पूर्वकृत कर्मों का विनाश एवं क्रियमाणों से असम्बन्ध हो जाने से (ब्र. सू. ४.१.६.१३) शरीरान्तर तक जाने का हेतु नहीं रहा। अतः प्राणों का न रहना बनता है, न जाना बनता है। शरीर फूल कर पड़ा रह जाता है अतः कहते हैं कि तत्त्वज्ञ मर गया। प्रारब्ध से अन्य जो कर्म अब तक भोगे नहीं जा चुके, अर्थात् संचित हैं, उन्हीं में से जो अगले जन्म में भोगने हैं वे प्राणों के उत्क्रमण में हेतु बनते हैं। प्रारब्ध वे कर्म हैं जिन्हें भोगने के लिये वर्त्तमान शरीर धारण किया है, इन्हें भोग कर ही समाप्त किया जाता है। अतः प्रारब्ध कर्म ही निमित्त बनते हैं प्राणों को शरीर में रखने के। तत्त्वज्ञ ने भोग कर प्रारब्ध और ज्ञान से अज्ञान नष्ट कर दिये तो प्राण क्यों तो रहेंगे और क्यों जायेंगे? अतः तत्त्ववित् इसलिये नहीं मरता कि उसके प्राण कहीं जाते हैं वरन् इसलिये कि प्राण रह ही नहीं जाते, उनका अस्तित्व ही नहीं रहता। प्राण न रहने पर शरीर में वायु भर जाती है अतः शरीर फूल जाता है। ज़िन्दा शरीर में प्राण भरा रहने से बाहरी हवा नहीं भर पाती है। फूले शरीर में कोई चेष्टा भी नहीं दीखती अतः समझा जाता है कि वह शव है।।३०-४।।

जारत्कारवका चौथा सवाल है 'यत्रायं पुरुषो म्रियते, किमेनं न जहाति? इति' जिसका जवाब है 'नाम'! अर्थात् तत्त्वज्ञ पुरुष के मरने पर भी उसे क्या नहीं छोड़ता? उत्तर है कि उसे नाम नहीं छोड़ता। 'शुक वामदेव आदि मुक्त हो चुके' यों उनके नामों से हम उन्हें आज भी याद करते ही हैं। इस प्रश्नोत्तर का संग्रह करते हैं **तत्त्ववेत्ता के प्राण ही विलीन होते हैं या कामनादि सारे ही वे पदार्थ जिनके प्रभाव से जीवन चल रहा है? यदि सिर्फ़ प्राण विलीन हों तो प्राणों की पुनः उत्पत्ति हो जायेगी और यदि सब लीन होते हैं तो मुक्तों के शुकादि वे प्रसिद्ध नाम कैसे रह जाते हैं?।।३५।।** जीवन केवल प्राण पर ही निर्भर नहीं, अविद्या, काम, कर्म आदि अनेक वस्तुएँ हैं जो इसे सम्भव करती हैं कि जीवन चलता रहे। अतः यदि बाकी वस्तुएँ बची रहीं, केवल प्राण लीन हुए तो बाकी के प्रभाव से दुबारा प्राण संभव हो जायेंगे अतः जीवन चलता रहेगा, बंधन कायम रहेगा। यदि कहें कि सभी निमित्त लीन होते हैं तो 'सब' में नाम भी आ जायेगा। श्रुति ने अन्यत्र (प्रश्न. ६.४) सोलह वस्तुएँ गिनायी हैं जिन्हें देहारम्भक (मुं. ३.२.७ भाष्य) माना गया है१) प्राण, २) श्रद्धा, ३. ३-७) महाभूत, ८)इंद्रियाँ, ९) मन, १०) अन्न, ११) वीर्य, १२) तप, १३) मन्त्र १४) कर्म, १५) लोक, १६)

अप्रयोजकनामैव शिष्यते न प्रयोजकम्।
अविद्याकामकर्मादि नोक्तदोषद्वयं ततः।।३६।।
परवाचाभिनिष्पत्तेर्विदुषो बन्धनं प्रति।
नामाप्रयोजकं युक्तस्तच्छेषः परदेहवत्।।३७।।

नाम। अतः नाम भी देह के प्रयोजकों में है, अगर नाम रह गया तो देह को फिर प्रयुक्त कर लेगा। अगर न रहा, तो हम शुकादिका स्मरण कैसे कर पाते हैं?यह प्रश्न का भाव है।।३५।।

याज्ञवल्क्य ने समझाया कि सारे प्रयोजक लीन होते हैं किंतु प्रयोजक न होने से नाम न लीन हो तो हर्ज़ नहीं **(प्राणादिकी उत्पत्ति में अथवा बन्धन में या जीवभाव में) जो प्रयोजक (प्रभावी, कारण) नहीं वह नाम ही बचता है, अविद्या, कामना, कर्म आदि कोई प्रयोजक वस्तु नहीं बचती, अतः प्रश्नान्तर्गत संभावित दोनों दोष नहीं हैं।।३६।। क्योंकि दूसरों की वाणी से सम्पन्न होता है इसलिये नाम विद्वान् के बंधन का हेतु नहीं। अतः उसका बचा रहना वैसे ही संगत है जैसे दूसरों के शरीर!।।३७।।** जिनके प्रभाव से जीवभाव होता व रहता है वे प्रयोजक हैं, उनकी समाप्ति आवश्यक भी है, होती भी है। नाम यद्यपि उपाधि है तथापि उसका प्रभाव यह नहीं कि जीवभाव रहे, जीवन रहे, बंधन रहे। बालक पैदा होता है तब उसका नाम नहीं वरन् ग्यारहवें दिन रखते हैं। मरने पर भी श्राद्धादि में नाम बोलते हैं पर वह जीवित नहीं हो उठता! अतः नाम के बिना जीवन और जीवन के बिना नामयों अनुभवसिद्ध होने से नाम अवश्य जीवभाव का, जीवन का, देहारंभ का प्रयोजक अर्थात् प्रभावी हेतु नहीं, यह निश्चित है। अतः वह बचा रहे तो जीवभाव फिर हो जायेगा, यह कथन असंभव है। अविद्यादि तो रहने पर अवश्य जीवभाव प्रकट रहेगा अतः उनका बचा रहना अनिष्ट है। इसी दृष्टि से मुण्डक में पंद्रह कलाओं के विलय का प्रसंग कुछ आचार्यों ने उपपादित किया है। आत्मपुराण अध्याय १६ श्लो. २३३-६ द्रष्टव्य है। नाम क्यों बंधन का हेतु नहीं? इसे स्पष्ट करते हुए यज्ञावल्क्य ने बताया कि वह दूसरों की वाणी से संपन्न है। नाम का उपयोग व्यवहार है जिसके लिये दूसरे ही हमारा नाम रखते हैं। हमें स्वयं के लिये अपना कोई नाम नहीं चाहिये, गूंगे-बहरे भी स्वयं का व्यवहार कर ही लेते हैं, नाम की ज़रूरत नहीं पड़ती! अतः नाम हमारे बन्धन का प्रयोजक नहीं। दूसरों का शरीर रह जाने से जैसे विद्वान् का बन्धन नहीं, वैसे उनके बनाये नाम आदि रह जाने से भी उसका बंधन नहीं। तात्पर्य है कि स्वदृष्ट्या सब कुछ बाधित होने पर भी अज्ञदृष्ट्या व्यावहारिक

मुक्तावप्यवशिष्टत्वान्नाम्नोनन्तत्वसाम्यतः।
विश्वान् संपादयन् देवाननन्तं लोकमश्नुते।।३८।।
ग्रहातिग्रहबन्धाख्यमृत्योर्यत् स्यात् प्रयोजकम्।
कालकर्मेश्वरादीनां मध्ये तत् किमितीर्यते।।३९।।

प्रपंच रह ही जाता है, महाभूत, मंत्र, लोक आदि रहते ही हैं अतः नाम का रहना मुक्त का कोई अनिष्ट नहीं करता। इस दृष्टि से नाम का ही कथन क्यों? क्योंकि प्रायः लोक में नाम-नामी का तादात्म्य अनुभव किया जाता है जबकि महाभूत, मंत्र आदि का जीव से तादात्म्य नहीं अनुभव किया जाता इसलिये उनके बचने से जीवभाव की प्रसक्ति की शंका नहीं होती जबकि नाम बचने पर शंका हो जाती है। अतः नाम का बचना कहा, अन्य वस्तुओं का ज़िक्र नहीं किया।।३६-७।।

तत्त्वज्ञान की प्रशंसा में याज्ञवल्क्य ने कहा, नाम और विश्वे देव अनन्त हैं अतः विश्वे देवों को आत्मा समझने से अनन्त लोक जीता जाता है। इस वाक्य का उल्लेख करते हैं **मोक्ष में भी बचा रहने से नाम में सिद्ध अनन्तता की समानता से सब देवों का आत्मरूप से ध्यान करते हुए अनंत लोक पाता है।।३८।।** 'मैं ब्रह्म हूँ' इस दर्शन से सभी देवों को आत्मरूप समझ चुका विद्वान् अनन्त परमात्मरूप लोक में प्रतिष्ठित होता है इस स्थित बात का ही अनुवाद श्रुति ने ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये किया है। अथवा, महान् की दृष्टि अल्प में करना अर्थात् जिस उपासना में आरोप्य प्रधान हो वह सम्पत् कही जाती है। तदनुसार विद्वान् के नाम में सब देवताओं की दृष्टि करने का फल बताकर विद्वत्प्रशंसा द्वारा विद्या की स्तुति है। नाम अनन्त, देवता भी अनन्त अतः अनन्तता की समानता स्पष्ट है। विद्वान् के विद्याप्रभाव से ही उसका नाम इतना प्रभावी है कि उसमें सर्वदेवदृष्टि करने से अनन्त लोक उपलब्ध होता है। अत एव वंशब्राह्मण आदि के भाष्य में बताया कि आचार्यों का नाम-स्मरण पवित्रता का हेतु है। इस प्रकार आर्तभाग के चौथे प्रश्न का उत्तर पूरा हुआ।।३८।।

अगला प्रश्न उठा कि मर जाने पर अध्यात्म उपाधियाँ तो अधिदैवभाव पा जाती हैं पर वह जीव कहाँ रहता है 'क्वाऽयं तदा पुरुषो भवतीति?' इसका जवाब एकान्त में विचारकर याज्ञवल्क्य और आर्तभाग ने निर्णीत किया कि कर्म है। मरने पर जीव कर्म में रहता है, पुण्य-पाप कर्म के अनुसार आगे फल पाता है। इस प्रश्नोत्तर का वर्णन करते हैं **अब बताया जायेगा कि काल, कर्म, ईश्वर आदि में से कौन है जो ग्रह-अतिग्रह नामक मृत्यु का हेतु है।।३९।।** इन्द्रिय-

अविद्वद्विषयः प्रश्नो विदुषो बन्धसंक्षयात्।
आतत्त्वबोधमज्ञानी बध्यतेऽनन्तजन्मभिः।।४०।।
अनुगृह्णन्ति वागादीन् स्वांशैरग्न्यादिदेवताः।
भोगक्षये मृतौ स्वांशान्संहरन्ति यथायथम्।।४१।।

विषय मृत्यु हैं किंतु इनका प्रयोजक अर्थात् हेतु क्या है, क्यों ये मृत्यु बन पाते हैं? पड़ा हुआ विषय तो किसी का मृत्यु बनता नहीं। इंद्रियाँ भी चाहे-जिसकी मृत्यु नहीं बनती रहती। वह कौन तत्त्व है जो इसका नियामक बनता है कि ग्रह-अतिग्रह प्राणी की मृत्यु बनें? ज्योतिर्विद् आदि काल को हेतु कहते हैं कि वह नियामक बनता है, काल, आने पर ही ग्रहादि मृत्यु बनते हैं। 'समय बड़ा बलवान है' आदि लोक में भी प्रसिद्ध है। अन्य मानते हैं कि भगवान् की मर्ज़ी इसमें नियामक है, भगवान् जब जैसा चाहते हैं तब वैसा हो जाता है। अन्य लोग कर्म को नियामक मानते हैं। 'स्वभाव-यदृच्छा-काल, कर्म-दैव-विज्ञानमात्र-शून्यानि वादिभिः परिकल्पितानि' ऐसा भाष्यकार ने (बृ.३.२.१३) लिखा है। स्वभाव मानने वालों को वहाँ आनंदगिरिस्वामी ने मीमांसक कहा है। यदृच्छा (अर्थात् अव्यवस्थित संयोग, जिसके लिये अंग्रेज़ी का 'चान्स' शब्द अधिक प्रचलित है) मानने वाले लोकायत हैं। कालवादी ज्योतिषी हैं, कर्मवादी वहाँ कहा है 'वैदिकों' को। दैव को मानने वालों का नाम रखा 'देवताकाण्डीय' अर्थात् देवताओं के उपासक। विज्ञानवादी और शून्यवादी दोनों बौद्धों के भेद हैं। इस प्रकार मृत्यु के प्रयोजक के बारे में मतभेद प्रसिद्ध हैं।।३९।।

प्रसंग यद्यपि ब्रह्मवित् का चल रहा था तथापि मृत्यु की चर्चा आने पर अज्ञानी के बारे में यहाँ पूछ लिया गया है। पुनर्जन्म अज्ञानीका ही होना है अतः यहाँ जो प्रयोजक पूछा कि 'मरने पर यह जीव कहाँ होता है?' वह अज्ञानी के बारे में ही प्रश्न है। ज्ञानी तो 'कहीं' नहीं होता, ब्रह्ममात्र रह जाता है। इस तथ्य को व्यक्त करते हैं **क्योंकि विद्वान् का बंधन सर्वथा समाप्त हो चुकता है इसलिये यह प्रश्न अज्ञानी के बारे में है। तत्त्वसाक्षात्कार होने तक अज्ञानी अनन्त जन्मों से बँधा रहता है।।४०।। अग्नि आदि देवता अपने-अपने अंशों से अनुग्रह करते हैं। तब शरीरादि संघात समर्थ हुआ जीवित रहता है। प्रारब्ध-भोग समाप्त होने पर जब जीव की मृत्यु होती है तब वे अपने अंशों का स्वयं में यथायोग्य आकर्षण कर लेते हैं।।४१।। पुरुष जब फिर (नया) शरीर ग्रहण करता है तब देवता शरीर के स्थानों पर (गोलकों पर) अपने-अपने अंशों को फिर स्थापित कर देते हैं।**

पुंसो देहग्रहे भूयो देहस्थानेषु देवताः ।
अंशं निदधति स्वं स्वं न देहग्रहणात्पुरा ।।४२।।
अधिष्ठातृवियोगेन न्यस्तदात्रोपमैर्युतः ।
वागादिभिरसौ किंस्वित् प्रयोजकमुपाश्रयेत् ।।४३।।

शरीरधारण से पहले वे वैसा अनुग्रह नहीं करते ।।४२।। (इस परिस्थिति में प्रश्न उठता है कि) अधिष्ठाता देवों के अनुग्रह से रहित हुई वाक् आदि इन्द्रियाँ वैसी ही हो जाती हैं जैसे हाथ से छोड़ी, ज़मीन पर पड़ी दराँति; ऐसी इन्द्रियों से युक्त वह जीव किस प्रयोजक के सहारे रहता है? ।।४३।। आर्तभाग का यह पाँचवा सवाल तत्त्वज्ञ के बारे में नहीं वरन् अज्ञानी के बारे में है। यद्यपि श्रुति में 'पुरुष' शब्द का ही पहले भी प्रयोग था, यहाँ भी है, तथापि मरने पर बचे रहने वाले के बारे में प्रश्न होने से स्पष्ट है कि यह ज्ञानी का प्रसंग नहीं है। ज्ञानी के रहने व फिर जन्म की संभावना ही नहीं कि कोई प्रयोजक हो। जिसका रहना और जन्म रहना संगत है उसी के बारे में पूछा जा रहा है कि उसको नियन्त्रण करने वाला कौन तत्त्व है? अज्ञ मरता है तो यद्यपि इन्द्रियाँ उसके साथ रहती हैं तथापि कार्यकारी नहीं रहती क्योंकि उन पर देवताओं का अनुग्रह रुक जाता है और तब तक रुका रहता है जब तक नूतन शरीर न मिल जाये। शरीर में भी जहाँ जिस इंद्रिय का प्रयोग होना है उसी पर पुनः अनुग्रह कर उसे कार्यकारी बनाया जाता है, जिसका प्रयोग योनि के अनुसार या प्रारब्ध के अनुसार नहीं होना, उस पर अनुग्रह भी नहीं होता, वह कार्यकारी बन नहीं पाती। अनुग्रह में निमित्त हमारा पुण्यादि ही है। अधिष्ठाता देवता अपनी सामर्थ्य का ही मानो थोड़ा-सा अंश जब इंद्रियों को देते हैं तब वे सचेष्ट होती हैं, अन्यथा निश्चेष्ट रहती हैं। जीव के मरने पर देवता उन अंशों को पुनः स्वयं में निहित कर लेते हैं, फिर जब ज़रूरत होती है तब पुनः सामर्थ्य प्रदान कर देते हैं। नये शरीर में आवश्यक नहीं कि सभी इंद्रियाँ चाहिये हों, पेड़ आदि बनने पर चलने आदि की इन्द्रियाँ नहीं चाहिये तो उन पर देवता अनुग्रह भी नहीं करते। ऐसे ही किसी का देखने आदि का पुण्य फलीभूत नहीं होना है तो वह जन्म से ही अंधा आदि पैदा होगा, देवता उस पर अनुग्रह नहीं करेंगे। जीवित काल में इन्द्रियादि के सहारे हम रह जाते हैं पर मरने पर वे इन्द्रियादि मौजूद रहने पर भी सहारा नहीं बन पाती क्योंकि उनमें समार्थ्य नहीं बचती, देवता उस सामर्थ्य को समेट चुकते हैं। इस हालत वाली इन्द्रियों के लिये दृष्टांत दिया दराँति का; हाथ में पकड़ी दराँति तो घास आदि काटने में सक्षम है लेकिन हाथ से छूटकर ज़मीन पर पड़ी दराँति घास आदि

किं कारणात्मतामेति किंवा केनचिदात्मना[1]।
अवतिष्ठत एवायं किं वा कर्मैव संश्रितः।।४४।।
गुणान्वा यदि वेशानं कालं वा दैवमेव वा।
यदृच्छां संततिं शून्यं विनाशं वेति भण्यताम्।।४५।।

नहीं काट सकती। ऐसे ही देवानुग्रह-रहित इंद्रियाँ कार्यकारी न होने से सहारा नहीं अतः आर्तभाग ने पूछा कि उस हालत में जीव किस सहारे से रहता है।।४०-३।।

सम्भावित विभिन्न आश्रय दिखाते हैं **(स्थूल देह त्यागने पर) क्या कारणरूपता प्राप्त करता है? या क्या वह किसी (अनिर्देश्य) रूप से रहता है (या अपने चैतन्यमात्र रूप से रहता है)? या वह क्या कर्म का ही सहारा लिये रहता है? अथवा क्या वह गुण, ईश्वर, काल, देव, यदृच्छा, विज्ञानधारा या शून्य में आश्रित होता है? या वह नष्ट ही हो जाता है? इनमें से, या जो आपको स्वीकार हो वह आश्रयभूत प्रयोजक बताइये।।४४-५।।** मृत जीव क्या कारण अर्थात् माया-विशिष्ट में लीन होता है? यद्यपि जीव कार्य न होने से उसकी कारणरूपता-प्राप्ति बनती नहीं तथापि भागवत आदि मत वाले जीव को कार्य मानते हैं, तदनुसार यह एक संभावना कही। दूसरा विकल्प है कि वह रहता अवश्य है पर जिस रूप में रहता है उसे कह नहीं सकते। 'केनचिदात्मना' वार्तिक-वार्तिकसार संमत पाठ है। वार्त्तिकटीका में (३.२.१३१) आनंदगिरिस्वामी ने लिखा है'त्यक्ते स्थूले देहे प्रतिबन्धकाऽभावाद् असाधारणेन स्वेन रूपेणैव स तिष्ठतिइत्येके; 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीराद्' इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः।' इसी के अनुरोध से मुत्तुशास्त्री ने 'केनचित्' की जगह 'स्वेन चिदात्मना' पाठ माना होगा। यद्यपि यह विकल्प ठीक है तथापि प्रश्नानुरूप नहीं है क्योंकि प्रश्न है उस प्रयोजक का जिसके सहारे जीव बना रहता है और 'अपना निजी चैतन्यरूप' या 'अनिर्देश्य स्वरूप' तो सदा एक-सा है, स्वाभाविक है, सहारा-रूप नहीं है। तीसरा पक्ष है कि कर्म के सहारे रहता है। यही अंत में निर्णय भी होगा। गुण अर्थात् प्रकृति के सत्त्वादि तीन आयाम, उनमें किसी के सहारे रहता हैयह सांख्यादि-संमत पक्ष है। ईश्वर के सहारे रहता हैयह नैयायिकों की मान्यता कही। 'कारणात्मता' से मायाविशिष्ट कहा था जो वेदान्तसम्मत ईश्वर की बात थी, यहाँ तार्किक-संमत ईश्वर की बात है। जीव मरने पर ईश्वर पर आश्रित रहता है अर्थात् उन्हीं के संकल्पादि के अनुसार उसकी सदसद् गतियाँ होती हैं।

---

[1] केनचिद्वक्तुमशक्येन आत्मनाऽऽत्मरूपेणेत्यर्थः। सारटीकानुरोधेन 'स्वेन चिदात्मना' इति मुत्तुशास्त्री पिपठिषति।

प्रश्नेन तुष्टः सन्त्यज्य विजिगीषां सहामुना।
निर्गतौ विजिगीषुभ्यो मिथो निर्णयमूचतुः।।४६।।

ज्योतिर्विद् जीव को काल पर आश्रित मानते हैं। इनसे भिन्न दैव-वादी हैं अर्थात् ईश्वर के बजाय विभिन्न देवताओं के वह सहारे रहता है ऐसा मानते हैं। जिसने जिस देवता की उपासना की है वह देवता उस जीव का आश्रय बन जाता हैयह उनका कथन है। लोकायत मत है कि यदृच्छा अर्थात् अव्यवस्था, संयोग ही जीव का आश्रय रहता है। बौद्धों में एक मत है क्षणिक विज्ञान का, दूसरा शून्यवाद का। जीव जीवनकाल में भी क्षणिक ज्ञानों की धारारूप है लेकिन और भी धाराओं सहित है। मरने पर अन्य धाराओं से रहित हुआ वह केवल उसी धारा (सन्तति) में आश्रित रहता है जो पुनः अन्य शरीरादि के साथ जुड़ी प्रतीत होगी। शून्यवादी मानता है कि प्रतीति रहते ही जीव है, मरने पर प्रतीति नहीं तो जीव को 'है' कहना नहीं बनने से उसे शून्याश्रित कहना ठीक है। अंतिम पक्ष है कि वह विनाशाश्रित रहता है अर्थात् नष्ट हो जाता है, रहता ही नहीं। शून्य-पक्ष में पुनः प्रतीति पर पुनः जन्म संभव है, विनाश-पक्ष में पुनर्जन्म संभव नहीं। शून्यपक्ष में 'है' नहीं कह सकते जबकि विनाश-पक्ष में 'नहीं है' कहते हैं। यों दोनों में भेद है। आर्तभाग के प्रश्न का ही यह विस्तार कहा।।४४-४५।।

यों पूछे जाने पर क्या हुआ, यह बताते हैं **इस प्रश्न से सन्तुष्ट याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग को जीतने की इच्छा छोड़ दी। दोनों सभा से बाहर गये और आपस में विचारपूर्वक जो निर्णय किया वह उन सबको सुना दिया जो जीतने के इच्छुक थे।।४६।।** विद्वान् को सूक्ष्म प्रश्न से प्रसन्नता होती है। नासमझ को यदि जवाब के लिये विचारादि करना पडे तो झंझट महसूस करता है लेकिन जानकार विचार से खुशी अनुभव करता है। क्योंकि आर्तभाग का यह प्रश्न अति सूक्ष्म है अतः याज्ञवल्क्य प्रसन्न हुए। किंतु क्योंकि सभा में ऋषि जीत हासिल करने को उत्सुक थे इसलिये सूक्ष्म तत्त्व का निर्णय करने के लिये उचित माहौल ने होने से उन्होंने आर्तभाग को एकान्त में ले जाकर सभी पक्षों का परीक्षण करना उचित समझा। केवल जीतने के लिये तो याज्ञवल्क्य सभा में भी जवाब दे सकते थे लेकिन प्रश्न की सूक्ष्मता से प्रसन्न होकर वे, आर्तभाग को समझाना चाहते थे, केवल उसे परास्त नहीं करना चाहते थे। सभा में ऐसे समझाते तो सभी के प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता और प्रसंग अत्यन्त विस्तृत हो जाता। किं च वहाँ उपस्थित सब लोग इस योग्य भी नहीं थे कि सब पक्षों के गुण-दोष समझते-बूझते। अतः एकांत में विचार ही योग्य था। ईश्वर आदि विकल्पों के निषेध से

संसारभूमिवर्तित्वान्नैवायं कारणाश्रयः।
कर्मादिपरतन्त्रत्वात् स्वाश्रयोऽयं न चेष्यते।।४७।।
जडत्वाद् गुणकालादिर्न जीवं नेतुमर्हति।
हठो यदृच्छा शून्यं तु मानहीनं तथेतरत्।।४८।।
देवेश्वरौ स्वतन्त्रौ चेद्विधिशास्त्रमनर्थकम्।
अतोऽसाधारणो जन्महेतुः कर्मैव शिष्यते।।४९।।
सति कर्मणि वैचित्र्यं देहानामुपपद्यते।
देवेशानुगृहीतत्वाज्जाड्यदोषो न कर्मणः।।५०।।

कम समझदार व्यक्ति को भ्रम हो सकता था कि ईश्वर और उसकी सर्वाश्रयता का ही निषेध है। ऐसे ही अन्य पक्षों के बारे में ग़लतफ़हमी संभव थी। सबका महत्त्व है, प्रधानता का भेद है। बृ.१.४.१० के भाष्य में कहा है 'कर्म-काल-दैव-द्रव्यादिस्वभावानां गुणप्रधानभावस्तु अनियतो दुर्विज्ञेयश्चेति तत्कृतो मोहो लोकस्य।···तत्र कर्मणः प्राधान्यम् अङ्गीकृत्य वेदस्मृतिवादाः 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इत्यादयः। यद्यप्येषां स्वविषये कस्यचिद् प्राधान्योद्भव इतरेषां तत्कालीनप्राधान्यशक्तिस्तम्भः, तथापि न कर्मणः फलप्राप्तिं प्रति अनैकान्तिकत्वम्।' (पृ. ६८ म. अ. सं.) जिज्ञासु इस ढंग से समझ सकता है, जल्प में प्रवृत्त तो निश्चित निर्धारण का आग्रह रखेगा। अतः सभा में यह प्रसंग विचारणीय नहीं माना गया।।४६।।

याज्ञवल्क्य और आर्तभाग ने क्या चिन्तन किया, यह दिखाते हैं **संसार की भूमिका में (कार्यावस्था में) वर्त्तमान होने से मृत जीव कारण में आश्रित नहीं ही है और कर्म आदि के पराधीन होने से इसे स्व में (स्वयंमात्र में) आश्रित नहीं स्वीकार सकते।।४७।। गुण, काल आदि जड होने से जीव को जन्मान्तर-लोकान्तर में ले जाने में समर्थ नहीं हैं। यदृच्छा को तत्त्व या आश्रय कहना केवल हठ है। शून्य तो अप्रामाणिक है, ऐसे ही विज्ञानसन्तति और जीवका विनाश भी मानने में कोई प्रमाण नहीं है।।४८।। दैव और ईश्वर यदि सर्वथा स्वतन्त्र हो तो विधि-शास्त्र प्रयोजनहीन होगा। अतः जन्म का असाधारण (विशेष) कारण कर्म ही बचता है।।४९।। कर्म रहने से शरीरों की विचित्रता संगत है। देवेश्वर का अनुग्रह प्राप्त किया कर्म क्योंकि फलहेतु बनता है इसलिये कर्म की जडता कोई दोष नहीं है।।५०।।** मृत जीव मुक्त न होने से कार्यावस्था में ही है, संसरण के प्रवाह में ही है, इसलिये उसे कारणभावापन्न कहना नहीं

बनता। कारणभाव में व्यक्त भेद अर्थात् कार्यावस्था नहीं रह सकती। किं च, जीव को उत्पत्तिशील मानना असंगत है क्योंकि तब अकृत-अभ्यागम का प्रसंग होगा। उत्पत्ति से पूर्व तो जीव का कोई कर्म था नहीं अतः पैदा होने पर उसे जो सुख-दुःख होंगे उनका निमित्त कुछ नहीं कहा जा सकेगा। इसलिये जीव कार्य नहीं तो वह कारणभाव पा भी नहीं सकता। द्वितीय विकल्प था कि वह अपने ही रूप से रहता है, स्वंय का जो चेतन स्वरूप उसी से रहता है। लेकिन वैसा हो तो उसकी कर्मादि-पराधीनता असंगत है। अर्थात् यदि वह चिन्मात्र रह गया था तो पुनः जन्म, वह भी दुःखबहुल जन्म, नरकादि में जन्म लिया क्यों? यदि स्वतंत्र था तो पुण्य-फल अंगीकार कर भी लेता, पापफल भोगने को क्यों पैदा हुआ? अतः कर्मादि के पराधीन ही उसकी स्थिति माननी पड़ेगी जिससे उसे चिन्मात्ररूप नहीं कह सकते। गुण आदि विकल्पों को आश्रय मानने में सामान्य दोष है जडता का : आश्रय ही जीव को जन्मान्तर दिलायेगा और जड वस्तु चेतन को नियंत्रित कर सके यह संभव नहीं। यदृच्छा या अव्यवस्था को आश्रय मानना एक हठ या ज़िद ही है। संसार में कहीं यदृच्छा अंगीकार कर कार्यकारणभाव की व्याख्या नहीं होती तो जन्म के प्रति ही उसे कारण या व्यवस्थापक हेतु मानना केवल हठ होगा, युक्ति प्रमाण से संमत नहीं होगा। शून्य आदि पक्ष प्रमाण-विरुद्ध ही है। बौद्धों ने अपने ढंग से क्षणिक विज्ञान एवं शून्य उपपन्न किये हैं लेकिन भाष्यकार, उदयनाचार्य आदि ने उनके तर्कों को खोखला सिद्ध कर दिया है अतः ये पक्ष प्रमाणरहित हैं। जीवविनाश मानने पर कृतप्रणाश दोष होगा अर्थात् जीव के किये कर्मों का फल हो नहीं पायेगा क्योंकि फलभोक्ता नहीं रह जायेगा। किं च जीवनाश में प्रमाण भी नहीं होगा क्योंकि जीव ही प्रमाता है, वही न रहे तो प्रमाता के बिना प्रमाण किसे प्रमा कराये! उपासित देवता को आश्रय मानें या ईश्वर (नैयायिक-संमत निमित्त कारण) को आश्रय मानें तो प्रश्न होता है कि क्या वे स्वतंत्र रहकर आश्रय बनते हैं या कर्माधीन? स्वतंत्र हों तो जीव का कर्म करना व्यर्थ है अतः कर्मविधायक शास्त्र का कोई प्रयोजन नहीं रह जायेगा। अतः उन्हें भी कर्म पर निर्भर मानना पड़ेगा तो कर्म को ही वह विशेष तत्त्व स्वीकारना चाहिये जो मरे जीव का आश्रय बनता है। ईश्वर, काल आदि को साधारण, सामान्य कारण माना ही जाता है, असाधारण कारण कर्म मानना उचित है। जड होने पर भी क्योंकि परमेश्वर से अधिष्ठित होता है इसलिये कर्म आश्रय बनने में समर्थ है। अतः जीव का कर्मानुष्ठान भी सार्थक, परमेश्वर का प्रशासन भी सार्थक और फलविविधता भी संगत हो जाते हैं। कर्मों के भेद से जीव को विभिन्न प्रकार के जन्मादि फल मिलते रहते हैं। मीमांसक कर्म को स्वतंत्र मानते

भुज्युप्रश्नः

तृतीयब्राह्मणे पुण्यफलावधिरुदीर्यते।
अश्वमेधः परं पुण्यं ब्रह्मलोकःफलावधिः।।५१।।
प्रत्यक्षःस्थावरत्वाख्यः स्पष्टः पापफलावधिः।
विज्ञायते द्वयज्ञानाद् इयत्ता हेयसंसृतेः।।५२।।

हैं अतः जड होना दोष दिखाया जाता है कि जड कर्म चेतन जीव को कैसे नियमित कर सकता है। लेकिन वेदान्त सिद्धान्त में देवेश्वर के अनुग्रह से युक्त कर्म को फलदायी मानने से उक्त दोष संभव नहीं। इसी दृष्टि से कर्म को ईश्वरेच्छारूप कहा जाता है अर्थात् जीव के किये को जानने वाला ईश्वर किये के अनुरूप जो इच्छा करता है कि 'इसे यह मिले' वही पुण्यापुण्य रूप कर्म या अदृष्ट है। ईश्वर का अनुग्रह अर्थात् ईश्वर उन कर्मों से तादात्म्य करता है, उनका अध्यक्ष बनता है जिससे वे कर्म वैसे ही जड नहीं रहते जैसे अंतःकरण चेतन के आभास से युक्त हो जाने पर निरा जड नहीं रहता। जब ईश्वरानुग्रह-युक्त कर्मों से जन्म मिलता है तब देवता भी यथायोग्य अनुग्रह प्रदान कर इंद्रिय-प्राण आदि को सक्षम बना देते हैं ताकि जीव करने-भोगने में समर्थ हो सके। उपलब्ध होने वाले नये शरीर आदि भोगों की अच्छाई-बुराई जीव के अपने पुण्य-पाप पर निर्भर है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य-आर्तभाग का निर्णय यही रहा कि मरने पर जीव का आश्रय कर्म ही रहते हैं। यहाँ तक द्वितीय ब्राह्मण के विचार संगृहीत हुए।।४७-५०।।

आगे श्लो ७० तक भुज्यु लाह्यायनि के सवाल का जवाब समझाया जायेगा। उसने सुनाया कि पातंचल काप्य की कन्या किसी गन्धर्व से गृहीत थी जिस गंधर्व ने अपना नाम सुधन्वा आंगिरस बताया। उससे भुज्यु ने लोकों का अन्त (सीमा) पूछते हुए कहा 'पारिक्षित कहाँ हुए?' यही प्रश्न उसने याज्ञवल्क्य से पूछा। उन्होंने जवाब दिया कि अश्वमेधयाजी जहाँ जाते हैं वहीं पारिक्षित हुए। भुज्यु ने फिर पूछाअश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं? तब याज्ञवल्क्य ने भुवन-परिमाण समझाया और ब्रह्माण्ड से बाहर उनकी स्थिति बतायी। इससे भुज्यु सन्तुष्ट हो गया। यह प्रसंग प्रारम्भ करते हैं **बृहराण्यक के तृतीयाध्याय के तीसरे ब्राह्मण में पुण्य-फल की पराकाष्ठा (सीमा) कही गयी है। अश्वमेध सबसे बड़ा पुण्य है और उत्तम फल की सीमा है ब्रह्मलोक।।५१।। स्थावर-रूपता की प्राप्ति पाप के फल की सीमा है यह तो स्पष्ट है। इन दोनों को समझ लेने से त्यागने योग्य संसार की परिधि पता चल जाती है।।५२।।** इस अध्याय के प्रारंभ में आश्वल का प्रश्न कर्म-सम्बन्धी था, आर्तभाग के भी प्रश्न अधिकांश

अश्वमेधादि यत्पुण्यं महोपासनया युतम् ।
तत्फलं संसृतिस्तस्य भुज्युना पृच्छ्योऽवधिः ।।५३।।
ब्रह्मांडाद् बहिरन्तश्च समष्टिव्यष्टिरूपिणः ।
व्याप्तिर्हिरण्यगर्भस्य संसारस्यावधिर्मतः ।।५४।।

कर्मपक्षीय थे, अंतिम प्रश्न का उत्तर कर्म ही निर्धारित हुआ था, अतः तृतीय ब्राह्मण भी कर्म के प्रसंग में है। शास्त्रानुसार सबसे उत्तम पुण्य कर्म अश्वमेध और सबसे बड़ा, घोरतम पाप भ्रूणहत्या है। यहाँ इस अश्वमेध का फल ही पूछा गया है ताकि कर्म से अधिकाधिक क्या मिल सकता है यह समझ आ जाये क्योंकि उस तक से वैराग्य हो तभी परमेश्वर के ज्ञान का अधिकार मिलेगा। पुण्यफल की सीमा पूछी, पाप की नहीं क्योंकि पापफल हमें स्पष्ट ही प्रत्यक्ष है। जीव की सामर्थ्य घटने से दुःख बढ़ता है यह सर्वानुभव-सिद्ध है। मनुष्य पीठ खुजा सकता है, गाय नहीं खुजा सकती तो उसका दुःख हम से ज़्यादा है क्योंकि खाज आये और खुजा न पायें तो दुःख होता ही है। इसी तरह सभी सामर्थ्यों में समझना सहज है। अतः जिन योनियों में सामर्थ्य अत्यन्त कम है जैसे वृक्ष, लता, तृण आदि, उनके दुःख का क्या कहना! सामान्यतः उन्हें जड ही मान लेते हैं, कणाद का भी ऐसा मत है यह छान्दोग्यभाष्य (६.११.२) में बताया है। इस तरह स्थावर योनियाँ अतिशय कष्ट वाली प्रत्यक्ष हैं अतः इनके बारे में पूछना ज़रूरी नहीं है। 'द्वयज्ञानात्' अर्थात् शास्त्र से पुण्यावधि और प्रत्यक्ष से पापावधि, दोनों को जान लेने से त्याग-योग्य संसार की सीमा समझ आ जाती है अर्थात् संसार इतना ही हैयह पता चल जाता है।।५१-२।।

अब प्रश्नोत्तर का भाव बताते हैं **महान् उपासना सहित किये अश्वमेधादि जो पुण्य हैं उनका फल संसार ही है, उसकी सीमा भुज्यु ने पूछी है।।५३।। समष्टि और व्यष्टि रूप वाले हिरण्यगर्भ ने भीतर-बाहर से ब्रह्माण्ड व्याप्त कर रखा है, यह व्याप्ति संसार की सीमा मानी गयी है।।५४।।** 'महोपासना' अर्थात् बड़ी उपासनाऐसा सार की हिन्दी व्याख्या में कहा है। अश्वमेध न कर सकने वाला उसकी उपासना से भी उसका फल पा सकता है ऐसा बृहदारण्यक के प्रारंभ में कहा है, वह उपासना विस्तृत और महान् फल वाली है अतः उसे यहाँ महोपासना कहा यह भाव है। अथवा, महत् कहलाने वाले हिरण्यगर्भ की उपासना सहित किये कर्म को कहा है। इसमें विद्या-असम्भूति आदि ईशश्रुति (११, १४) प्रमाण है। सर्वथाऽपि कर्म-उपासना का फल है तो संसार ही जिसकी सीमा की जिज्ञासा है। याज्ञवल्क्य का उत्तर है कि हिरण्यगर्भभाव ही संसरण की सीमा है, सोपासनकर्म से सम्पादित सर्वाधिक पुण्य से मिलने वाला सबसे

आगमैकाधिगम्योऽयमर्थ इत्युपदर्शयन्।
गन्धर्वाख्यायिकामाह गंधर्वस्तद्गुरुस्ततः।।५५।।
लोकान्तानपि गन्धर्वादश्वमेधकृतां फलम्।
श्रुत्वा पारिक्षितोक्त्यात्र वादिनं तं व्यमोहयत्।।५६।।
अश्वमेधकृतो वक्ति भुज्युः पारिक्षिता इति।
परितः क्षितिमावेष्ट्य स्थिता इति विवक्षया।।५७।।

बड़ा फल हिरण्यगर्भ पद ही है। हिरण्यगर्भ समष्टि है ही, वही व्यष्टि है अर्थात् परिच्छिन्न सूक्ष्मोपाधियाँ भी उससे पृथक् न होने से वह व्यष्टि भी है। ब्रह्माण्ड अर्थात् स्थूल जगत् उसका कार्य है अतः वह स्वयं उससे व्यापक है, ब्रह्माण्ड को व्याप्त किये है, घेरे है। वही क्योंकि सब व्यष्टियों के रूप में ब्रह्माण्ड के भीतर है इसलिये ब्रह्माण्ड को भीतर से भी उसी ने घेर रखा है। यों ब्रह्माण्ड को घेरना अर्थात् हिरण्यगर्भ बनना पुण्य की सीमा है। यद्यपि इससे पापसीमा स्पष्ट नहीं हुई तथापि सारे व्यष्टि इसी का रूप कह देने से स्थावरादि भी कह दिये गये अतः पापावधि भी बता ही दी इसलिये इसे संसार की अवधि कहना ठीक है। यद्यपि कैवल्यार्थी के लिये संसार हेय होने से कर्म की तरह उपासना भी अनुपयोगी कही जाती है तथापि अभ्युदयार्थी के लिये कर्म-उपासना ही समर्थ साधन हैं।।५३-४।।

भुज्यु ने घटना सुनाते हुए क्यों पूछा यह स्पष्ट करते हैं **यह अर्थ सिर्फ आगम से अधिगत हो सकता है यह दिखाते हुए भुज्यु ने गन्धर्व-सम्बन्धी आख्यान सुनाया। इससे यह भी पता चला कि इस विषय में भुज्युका गुरु वह गंधर्व था।।५५।। अश्वमेध करने वालों को प्राप्य 'लोकान्त' रूप फल गन्धर्व से सुनकर भुज्यु ने जनकसभा में यही फल पूछने के लिये) पारिक्षितों के कथन से याज्ञवल्क्य रूप वादी को (मानो) मोह में डाला।।५६।। भुज्यु अश्वमेधकारियों को पारिक्षित कह रहा है क्योंकि वह बताना चाहता है कि वे क्षिति (ब्रह्माण्ड) को हर तरफ से घेर कर रहते हैं।।५७।।** भुज्यु ने जो गंधर्व से इस ज्ञान की प्राप्ति का ज़िक्र किया वह इस ज्ञान की दुर्लभता व्यक्त करने के लिये । सुधन्वा आंगिरस नामक उस गंधर्व ने विद्या व उपासना से वैशिष्ट्य अर्जित किया था फिर भी कर्मविपाक के अनुसार गंधर्वरूप मध्यम योनि में था। भुज्यु ने उससे विद्या पायी अतः वह सूचित कर रहा है कि यह ज्ञान आगम अर्थात् परंपरा से ही उपलब्ध होता है अतः संभवतः याज्ञवल्क्य इससे वंचित रहा हो! इतना ही नहीं, भुज्यु ने सीधे शब्दों में प्रश्न नहीं रखा

[1]द्विर्याज्ञवल्क्यमुद्दिश्य प्रश्नोक्तिस्त्रासजन्मने।
अत्र स्तौतीन्द्रियज्ञानं दर्शयन्निदमुक्तवान्।।५८।।

ताकि याज्ञवल्क्य चक्कर में पड़े कि क्या पूछा जा रहा है। भुज्यु के शब्द थे 'लोकानाम् अन्तान् अपृच्छाम। अथ एनम् अब्रूमक्व पारिक्षिता अभवन्?-इति।' अर्थात् 'लोकों के अन्तों के बारे में पूछा तब कहा था पारिक्षित कहाँ हुए?' लोकों के अन्त अर्थात् सीमा। यद्यपि भुज्यु को पता चल चुका था कि हिरण्यगर्भ ही लोकों का अंत है अतः 'अन्तम्' कहना पर्याप्त था तथापि याज्ञवल्क्य को चक्कर में डालने के लिये 'अन्तान्' यों बहुवचन का प्रयोग किया। ऐसे ही, सीधे ही अश्वमेध करने का फलयों न पूछकर 'पारिक्षित' इस अप्रसिद्धि-से शब्द का प्रयोग किया। (श्लोक ५६ में 'लोकान्तान्' सारसंमत पाठ ही श्रुत्यनुकूल भी है।) याज्ञवल्क्य इस सभा में 'वादी' थे अर्थात् निष्पक्ष भाव से तत्त्वनिर्णय के लिये यत्नशील थे यह आर्तभाग को एकान्त में ले जाकर विचार करने से स्पष्ट था फिर भी उन्हें मोह में डालने का भुज्यु का प्रयास उसकी अपरिपक्वता का द्योतक है। 'पारिक्षित' संज्ञा इस अर्थ में ऋग्वेद के ब्राह्मण में प्रयुक्त है। याज्ञवल्क्य तुरन्त इसे समझ गये जिससे पता चलता है कि वे यजुः ही नहीं ऋक् के भी ज्ञाता थे। पूर्व में अपने शिष्य को सामश्रवा कहकर स्वयं को साम का ज्ञाता सूचित कर ही चुके थे। अश्वमेध के सफल अनुष्ठाता को पारिक्षित कहते क्यों हैं यह विद्यारण्यस्वामी ने बताया कि क्षिति अर्थात् स्थूल जगत् को हर ओर से घेरने, व्याप्त करने वाले हिरण्यगर्भ भाव को पाते हैं इसलिये पारिक्षित कहे जाते हैं। वार्तिकटीका है 'परितःक्षीयते सर्वं ब्रह्महत्यादि येन स परिक्षिद् अश्वमेधः, तद्याजिनः पारिक्षिता इति' (३.३.१४०) ब्रह्महत्यादि पाप जिससे पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं वह अश्वमेध परिक्षित् होने से उसके अनुष्ठाता पारिक्षित कहे गये हैं। इस प्रकार प्रश्न स्वरूप व्यक्त हुआ।।५५-७।।

भुज्यु ने प्रश्न में 'क्व पारिक्षिता अभवन्' ये शब्द तीन बार रखे। यद्यपि 'लोकानामन्तानपृच्छाम' से प्रश्न बता ही दिया था तथापि क्व-आदि का बारम्बार कथन क्यों? पहला कथन तो गंधर्व के प्रति थायह भुज्यु ने बताया लेकिन फिर दो बार क्यों कहा? इसका भाव समझाते हैं **याज्ञवल्क्य को सम्बोधित कर दो बार कहना उन्हें डराने के लिये था! लेकिन वे डरे नहीं, अपने अतीन्द्रिय ज्ञान का प्रदर्शन करते हुए उन्होंने कहा।।५८।।** दो बार पूछने पर सुनने वाला या हड़बड़ाता है या सोचने

---

[1] त्रिरिति कपालुः पठति, श्रुतावेवं दर्शनात् परन्तत्र प्रथमो गन्धर्वं प्रति पृष्ट इति याज्ञवल्क्यम् उद्दिश्य द्विवारमेव प्रश्नः। संस्कृतटीकोपेते संस्करणे द्विरित्येव पाठः।।

गन्धर्वेण गतिः प्रोक्ता अश्वमेधकृतामिति।
भूयः पृष्टः स्वयं वक्तुं प्राह लोकस्य विस्तृतिम्।।५९।।
आदित्यरथगत्याध्वामितो यावानहर्निशम्।
द्वात्रिंशद्गुणितस्तावान् व्याप्तो भानुगभस्तिभिः।।६०।।
इयानेव प्राणिभोगसिद्धये लोक इष्यते।
इतः परस्ताद् द्विगुणा पृथिव्यालोकवर्जिता।।६१।।
अन्तरालोकयुक्तः सन् बहिरालोकवर्जितः।
लोकालोकगिरिर्मध्ये पृथिव्योरनयोः स्थितः।।६२।।
समुद्रो द्विगुणो भूमेर्घनोदाख्यो बहिः स्थितः।
अण्डाद्बहिर्घनोदोऽयमिति पौराणिका जगुः।।६३।।

लगता है कि दोनों प्रश्नों में अन्तर क्या है इत्यादि; अतः भुज्यु ने ऐसा किया था। लेकिन याज्ञवल्क्य स्वयं अतीन्द्रिय ज्ञान के धनी थे अतः घबराने की संभावना नहीं थी, उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए तुरंत जवाब दिया। भाष्यटीका में तीन बार कथन के बारे में व्यवस्था यह दी हैपहला कथन गंधर्व के प्रति है; दूसरी बार कहने का मतलब है कि उसने हमें बता दिया था कि पारिक्षित कहाँ हुए; तीसरी बार का कथन याज्ञवल्क्य के प्रति है। इस योजना में त्रासोत्पादन के प्रयास का भाव नहीं है। यही वार्तिक में (३.३.१४१-२) कहा है। वार्तिकसार में और यहाँ विद्यारण्यस्वामी ने डराने की कोशिश मानी है जो प्रसंगानुसार ठीक ही है।।५८।।

याज्ञवल्क्य का उत्तर स्पष्ट करते हैं **(याज्ञवल्क्य ने कहा) गन्धर्व ने (पारिक्षितों की वह) गति बतायी जो अश्वमेध करने वालों को मिलती है। पुनः पूछने पर लोक के विस्तार को बताने के लिये उन्होंने स्वयं कहा।।५९।। सूर्य के रथ के दिन-रात चलने से जितना रास्ता नापा जाता है उससे बत्तीस गुणा क्षेत्र सूर्य की किरणों से घिरा है।।६०।। प्राणियों के भोग की सिद्धि के लिये इतना ही लोक स्वीकारा गया है। इससे परे दो गुणा पृथ्वी (=लोक) है जो सूर्यलोक से रहित है। इन सालोक-निरालोक पृथ्वियों के मध्य लोकालोक पर्वत स्थित है जिसके भीतर प्रकाश है, बाहर प्रकाश नहीं है।।६१-२।। भूमि से (लोक से) दो गुणा घनोद नामक समुद्र है जो भूमि से बाहर (किन्तु ब्रह्माण्ड के अंदर) स्थित है। पौराणिक समझते हैं कि यह घनोद ब्रह्माण्ड से भी बाहर है।।६३।। पुराण-कथन का श्रुति से बाध हो सकता है। या मानना चाहिये कि श्रुति का**

पुराणं बाध्यते श्रुत्या ध्यानार्था वा श्रुतिर्मता।
सर्वथाऽप्यण्डरूपोऽयं वैराजो देह इष्यताम्।।६४।।
योंऽडाद्बहिः स्थितो वायुः सूत्रात्मेति श्रुतीरितः।
एषोऽश्वमेधकृत्पुण्यपरिपाको न चापरः।।६५।।

वर्णन ध्यान के लिये है (वस्तुस्थिति बताने के लिये नहीं)। हर हालत में यह ब्रह्माण्डरूप ही विराट् का शरीर है।।६४।। याज्ञवल्क्य को शास्त्र उपस्थित था, मेधा थी, प्रतिभा थी, अतः अविलम्ब उत्तर दे दिया कि पारिक्षित कहाँ थेइसका गंधर्व ने यही जवाब दिया था कि जहाँ अश्वमेध करने वाले होते हैं वहीं पारिक्षित थे। अर्थात् पारिक्षित नाम से याज्ञवल्क्य को कोई चमत्कार नहीं हुआ, जाना-पहचाना शब्द था। भुज्यु ने फिर पूछा 'क्व चाश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति?' कि यह तो ठीक है कि पारिक्षितों की गति आपने बतायी लेकिन सीधे-सीधे उनका स्थान न बताकर उसका परिचय दिया कि जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं; अतः बताइये कि अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं? उस स्थान अर्थात् हिरण्यगर्भरूप का वर्णन करने के लिये याज्ञवल्क्य ने भुवनविज्ञान सुनाना शुरू किया। सूर्य-प्रभा जहाँ तक है उतना क्षेत्र प्राणियों के उपभोगार्थ है, वहीं तक जीव अपने कर्मों के फल भोग सकते हैं। लेकिन इससे परे भी भूमि अर्थात् लोक तो है ही। इन दोनों हिस्सों की संधि में लोकालोक पर्वत की स्थिति है। दोनों भूमियों से दो गुणा घनोद नामक समुद्र है। घनोद-नाम से सूचित किया कि घन अर्थात् बादल वहाँ उद अर्थात् जल की जगह हैं। इस घनोद को भी ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत मानना श्रुतिसंमत है किंतु पुराण में इसे ब्रह्माण्ड से बाहर कहा है। यद्यपि श्रुति से पुराण की बात कट जाती है तथापि क्योंकि भुवन-परिमाण बताना वेद का तात्पर्य नहीं जबकि पुराण के प्रसंग तात्पर्यतः उसका वर्णन करते हैं इसलिये पुराण की बात यथावत् स्वीकार की जा सकती है और तब वेद का अभिप्राय इतना ही है कि वह घनोद ब्रह्माण्ड के अंदर है ऐसा ध्यान करना चाहिये। वस्तुस्थिति चाहे जो हो, ध्यान तो जैसा श्रुति ने कहा वैसा करना ही सफल है यह भाव है। ब्रह्माण्ड है विराट् का शरीर। इसका कथन इसलिये कि इससे परे हिरण्यगर्भ को बताया जा सके ।।५६-६४।।

इस प्रकार लोकान्त (लोकों की सीमा) कहकर इससे परे जहाँ पारिक्षित होते हैं उसे बताते हैं **ब्रह्माण्ड से बाहर जो वायु मौजूद है उसे श्रुति ने सूत्रात्मा कहा है, वही अश्वमेध करने वालों के पुण्य का फल है, और कोई नहीं।।६५।। ब्रह्माण्ड के दोनों कपालों की जो सन्धि है, जिसके लिये छुरे की धार की उपमा दी गयी**

क्षुरधाराद्युपमितः सन्धिर्योऽण्डकपालयोः।
तेन बाह्ये नयत्येतानश्वमेधस्य देवता।।६६।।
ते वायुभावमापन्नाः समष्टिव्यष्टिरूपतः।
अण्डाद्बहिस्तदन्तश्च तिष्ठन्त्यखिलरूपिणः।।६७।।
अध्यात्मादिविभागेन व्याप्तिर्व्यष्टिरितीरिता।।
समस्तत्वेन संव्याप्तिः समष्टिरिति कीर्तिता।।६८।।
समष्टिव्यष्टिरूपं य उपास्तेऽसौ सकृन्मृतः।।
हिरण्यगर्भो भूत्वाऽथ मुच्यते म्रियते न तु।।६६।।

है, उसमें से इन अश्वमेधयाजियों को अश्वमेध-देवता ब्रह्माण्ड से बाहर ले जाती है।।६६।। वे उस वायु (सूत्रात्मा) से तादात्म्यापन्न हुए सारे ही रूपों वाले हो जाते हैं अतः समष्टि-व्यष्टि रूपों से ब्रह्माण्ड के बाहर-भीतर रहते हैं।।६७।। ब्रह्माण्ड अर्थात् स्थूल से बाहर, परे सूक्ष्म (हिरण्यगभ) है जिसे यहाँ वायु कहा तथा अन्यत्र सूत्रात्मा कहा है। जैसे मणियों को धागा धारण किये रहता है ऐसे सबको धारण करने वाला हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा कहा गया है। सारी संसार-गति उसी से नियंत्रित है। अश्वमेध करने वाले उस सूत्रात्मा से ही अभेद उपलब्ध करते हैं। व्यावहारिक स्तर पर इसे ही ईश्वररूप भी समझ सकते हैं; हालाँकि ईश्वर कारणोपाधिक है जबकि यह कार्योपाधिक है, फिर भी स्थिति काल में इसी रूप से ईश्वर व्यवहार करता है इसलिये इसे ईश्वर कहना बन जाता है। ब्रह्माण्ड से बाहर निकलने का द्वार अत्यंत सूक्ष्म है मानो छुरे की धार हो। उससे हम स्वयं तो नहीं निकल सकते लेकिन अश्वमेध-नामक देवता हमें उससे पार करा देती है। सूत्रात्मा क्योंकि समष्टि भी है व्यष्टि भी अतः तद्रूप हुए अश्वमेधयाजी भी दोनों रूपों वाले होते हैं और सूत्रात्मा की ही तरह ब्रह्माण्ड को बाहर-भीतर से व्याप्त किये रहते हैं।।६५-७।।

समष्टि-व्यष्टिभाव समझाते हुए भुज्यु लाह्ययनि द्वारा किये प्रश्न के उत्तर का उपसंहार करते हैं **अध्यात्म आदि विभाजनों में बँटे रहकर व्यापन करना व्यष्टि कही जाती है और (बिना बँटे) समग्ररूप रहते हुए भली भाँति व्यापन करना समष्टि कही जाती है।।६८।। समष्टि-व्यष्टि दोनों रूपों वाले हिरण्यगर्भ की जो उपासना करता है वह एक बार मरकर हिरण्यगर्भ बन जाता है, फिर मुक्त हो जाता है, फिर मरता नहीं है।।६६।। उपासना व कर्म से उत्पन्न होने वाली संसार में उत्कर्ष की सीमा का यों वर्णन किया। इस हिरण्यगर्भ पद से भी**

संसारोत्कर्षसीमेत्थं वर्णिता ज्ञानकर्मजा।।
इतो विरक्तिमालक्ष्य वर्ण्यते स्वात्मनिर्णयः।।७०।।

विरक्त अधिकारी के उद्देश्य से स्वात्मा का निर्णय (आगे) वर्णित किया जा रहा है।।७०।। अध्यात्म आदि अर्थात् अधिदैव, अधिभूत आदि जो कोई भी विभाजन उपस्थित हों उनमें विभक्त रहकर जो व्याप्त करता है उसे व्यष्टि कहते हैं। हालाँकि अधिदैव को अध्यात्म की अपेक्षा समष्टि कह देते हैं फिर भी वह भी है एक विभाग में बँटा रूप इसलिये वस्तुतः व्यष्टि ही है, कुछ व्यापक होने से उसमें समष्टिता का उपचार हो जाता है। घड़े में जगह है, कमरे में जगह है, शहर में जगह हैयों जब कहते हैं तब व्यष्टि रूपसे कहा माना जाता है; सर्वत्र जगह है, कहते हैं तो समष्टि रूप से कहा माना जाता है। इसी तरह अध्यात्म आदि व्यष्टि रूप और सूत्रात्मा समष्टि रूप है। समष्टि का व्यापन 'सम्यक्' है क्योंकि भेदभाव के बिना सबको समेटता है, व्यष्टिरूप व्यापन में भेदभाव रहने से व्याप्ति है पर सम्यक् नहीं। दोनों तरह से व्यापन करने वाले हिरण्यगर्भ की उपासना क्रममोक्ष देती है अतः एक बार मरकर फिर नहीं मरना पड़ता क्योंकि हिरण्यगर्भभाव पाकर मोक्ष हो जाता है। हिरण्यगर्भोपासना और उसका फल बताना ही इस प्रश्नोत्तर-प्रसंग का उद्देश्य है।

यह उपासना अहंग्रह से होती है अर्थात् हिरण्यगर्भ से स्वयं को अभिन्न समझकर ध्यान करना पड़ता है। सद्योमोक्ष इसलिये नहीं कि हिरण्यगर्भ को प्रलय पर्यन्त उपाधि-सहित रहना ही होगा, अतः 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे' आदि तरीके से कल्पान्त में ही कैवल्य मिलेगा। इसके आगे परब्रह्म का प्रसंग आ रहा है क्योंकि इस सांसारिक सर्वोत्तम स्थिति से भी जो विरक्त है वही परमात्मा को समझने में अधिकारी है ऐसा श्रुति का मानना है।।६८-७०।।

जनकसभा में याज्ञवल्क्य की परीक्षा के क्रम में चौथा प्रश्न उठाया उषस्त चाक्रायण ने। स्वयं परब्रह्म में निष्ठा वाले होने से इन्होंने तत्सम्बद्ध ही सवाल उठाया। प्रसंग के अनुसार अपर ब्रह्म का कथन हो चुका था, कर्म-उपासना के चरम उत्कर्ष का वर्णन हो चुका था, अतः उससे परे के बारे में पूछना ही प्राप्त भी था। हिरण्यगर्भपद-पर्यन्त संसार से विरक्त को ही निर्विशेष वस्तु की जिज्ञासा और निर्विषय मोक्ष की इच्छा हो भी सकती है, यह तो इस विन्यास से सूचित है ही। वैराग्यवान् लोग देखे जाते ही हैं। गाँधी जी ने भारत की स्वतंत्रता के लिये जैसे संपूर्ण योगदान दिया वैसे पाकिस्तान के लिये जिन्ना ने दिया लेकिन वह तो पाकिस्तान के अध्यक्ष पद पर आसीन हो गया जबकि गाँधी जी

उषस्तप्रश्नः

चतुर्थब्राह्मणे मोक्षयोग्यः कर्तृत्ववर्जितः ।।
विषयो ब्रह्मविद्याया अस्त्यात्मेति निरूप्यते ।।७१।।

ने कोई भी पद लेने की कल्पना भी नहीं रखी। सबको आज़ादी मिलेयही उनका भाव था, उससे मुझे कोई फ़ायदा मिलेऐसा भाव नहीं था। इसी तरह जो हिरण्यगर्भ जैसे ईश्वरतुल्य पद को भी न चाहे वही परमात्मसाक्षात्कार पायेगा। अतः उषस्त ने अवसर के अनुरूप प्रश्न किया 'यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व' कि जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सबका अन्तरात्मा है वह मुझे बताओ। श्लोक ८५ तक प्रश्न का अभिप्राय समझाना शुरू करते हैं **चौथे ब्राह्मण में निरूपण किया गया है कि ब्रह्मज्ञान का विषय, मोक्ष के योग्य, कर्तृत्व से रहित आत्मा है।।७१।।** जो मुक्त हो सके ऐसे आत्मा का अस्तित्व बताया जायेगा। यदि जीव मुक्त होने लायक न हो अर्थात् या हमेशा बद्ध रहने वाली वस्तु हो या नश्वर वस्तु हो, तो आत्मज्ञान की साधना व्यर्थ होगी। स्वरूप से मुक्त होने पर भी अज्ञानवश आत्मा बद्ध है, जन्मादि के चक्र में भटक रहा है, अतः ज्ञान से मुक्त हो सकता है। ज्ञान-अज्ञान से वस्तु-उपयोग में अन्तर लोकसिद्ध है जिसे मूल्य का अज्ञान है वह वस्तु का विनियोग ठीक से नहीं कर पाता, जिसे ज्ञान है वह कर पाता है; अमुक पत्ता ओषधि है यह न जानने वाला उस पत्ते के पास बैठ रुग्ण बना रहता है, जानने वाला उसके सेवन से नीरोग हो जाता है। ऐसे ही नित्य शुद्धादिरूप आत्मा हम हैं सही पर इससे बेखबर हैं अतः परमानन्द से वंचित हैं, अपने आप को वैसा जान लें तो सारे दुःखों से छूट कर परमानंद में मग्न रहें अर्थात् मुक्त हों। हमारे ज्ञान-इच्छा-क्रिया हैं परमात्मा की अभिव्यक्ति, लेकिन उपाधि-परिच्छेद वाली अभिव्यक्ति, अतः वर्त्तमान ज्ञानादि से हम इहलोक-परलोक के फल ही प्राप्त कर पाते हैं, निरवच्छिन्न अभिव्यक्ति न होने से निरतिशय फल भी नहीं मिलता। सोपाधिक अभिव्यक्ति से अधिकाधिक हिरण्यगर्भभाव मिल सकता है यह बता ही चुके। उस तक से छूटना चाहे वही मुमुक्षु है। बंधनमात्र से मुक्ति चाहने पर ही मोक्षयोग्यता होगी, थोड़े-बहुत बंधनों से मुक्ति चाहें, थोड़े बहुत बंधन बचाये रखना चाहें तो मोक्षयोग्यता नहीं हो पायेगी। पूर्वतर ब्राह्मण में जो विषय-इंद्रियरूप बंधन कहे थे उन सब से छूटने की उत्सुकता चाहिये। अन्यत्र इसे तीव्र मुमुक्षा कहा है। अन्य सब फलों व साधनों को छोड़कर इस एक ही फल व इसके साधनों में पूर्ण तत्परता का हेतु बने वही मुमुक्षा तीव्र है। ब्रह्मविद्या का विषय एवं मोक्षयोग्य आत्मा वस्तुतः कर्तृत्व आदि धर्मों से वर्जित है।

अहंधीकर्मशास्त्राभ्यां दृष्टेर्द्रष्टा न सिध्यति।
किन्तु दृष्ट्यादिसंयुक्तो ब्रह्मताऽस्य विरुध्यते।।७२।।
अतो ब्रह्मत्वयोग्यस्य प्रतीचोऽत्र बुभुत्सया।
अनूद्य ब्रह्मतामादौ तदर्हं परिपृच्छति।।७३।।

कर्तृत्व रहते ही विषय-इन्द्रिय-व्यवहार होता है अतः इस व्यवहाररूप बंध से छूटने के लिये कर्तृत्व का परित्याग आवश्यक है। 'सारी दुनिया भगवान् चलाते हैं मेरे इंद्रिय-मन मैं चलाता हूँ'इत्यादि आधा-अधूरा कर्तृत्वत्याग प्रारंभ के लिये ठीक हो लेकिन मोक्ष के लिये अपर्याप्त है। मुमुक्षु को अभी कर्तृता प्रतीत भले ही हो लेकिन उसकी अभिलाषा उस आत्मस्वरूप को पाने की होनी चाहिये जो सारे ही व्यष्टि-समष्टि कर्तृत्व से रहित है। क्योंकि स्थूल के प्रति समग्र कर्तृत्व हिरण्यगर्भ का है अतः जब कर्तृभाव से रहित की अभिलाषा है तब हिरण्यगर्भभाव पाने की कोई आकांक्षा नहीं हो सकती है। ऐसा आत्मा हैपहले यह दृढ निश्चय हो तब उसकी प्राप्ति की इच्छा भी संभव हो अतः मुमुक्षोपयोगी आत्मास्तित्वका यहाँ निर्णय किया जा रहा है। जैसे परलोक-सम्बन्धी आत्मा की अस्तिता निश्चित होने पर ही कर्मशास्त्र प्रारंभ होता है वैसे निर्धर्मा आत्मा के अस्तित्व के निश्चय के अनन्तर ही ब्रह्मशास्त्र प्रवृत्त होता है।।७१।।

यद्यपि अभी भी हम आत्मा को जान ही रहे हैं लेकिन इतना ज्ञान पर्याप्त नहीं अतः शास्त्र को आत्मा के बारे में समझाना पड़ता है यह बताते हैं **(हम लोगों का वर्त्तमान) अहमाकार ज्ञान एवं कर्मविधायक शास्त्र की अन्यथानुपपत्ति से दृष्टि का द्रष्टा रूप निर्धर्मा आत्मा सिद्ध नहीं होता किन्तु दृष्टि-आदि धर्मों से जुड़ा हुआ ही सिद्ध होता है जिसकी ब्रह्मरूपता (अद्वय व्यापकता) स्वीकारना (अनुभव से) विरुद्ध पड़ता है।।७२।। इसलिये इस ब्राह्मण में उस प्रत्यक् को समझने की इच्छा से जो ब्रह्म होने योग्य है, पहले ब्रह्मरूपता का अनुवाद कर उस भाव के योग्य तत्त्व को उषस्त ऋषि पूछ रहे हैं।।७३।।** अज्ञानदशा में आत्मा के बारे में हमारा अनुभव 'अहन्धी' या अहंकार है जो हमें स्थूल-सूक्ष्म शरीरों व उनके धर्मों से युक्त ही आत्मा अर्थात् मैं को प्रतीत कराता है। कर्म का विधान करने वाला शास्त्र भी जिस आत्मा को बताता है वह कर्तृ-भोक्ता ही है, तभी विधि के पालन में योग्य है और उसे पालने से मिलने वाले फल को भोगने में योग्य है। ऐसे ही शास्त्रान्तर से ज्ञायमान आत्मा भी अनात्मधर्मों से युक्त ही रहता है। धर्मशास्त्र सीधे तो आत्मा क्या कैसा हैनहीं कहता, लेकिन शाब्दी अर्थापत्ति से कर्त्ता-भोक्ता-परलोक संबंधी आत्मा का बोधक बन

जाता है। अत एव कर्ममीमांसा के सूत्रकार ने यद्यपि आत्मवर्णन नहीं किया तथापि भाष्यकार ने युक्ति-पूर्वक आत्मास्तिता स्थापित की। चाहे अशिक्षित प्रत्यक्ष हो या शास्त्रीय बोध, दोनों जैसा आत्मा बताते हैं उसे परब्रह्म नहीं समझा जा सकता क्योंकि परब्रह्म जैसा कहा गया है वैसा यह आत्मा प्रतीत नहीं होता। इसलिये 'तत्त्वमसि' आदि में आये त्वम्पद के विवक्षित अर्थ आत्मा का स्पष्टीकरण करने के लिये उषस्त चाक्रायण ने चर्चा प्रारम्भ की। इसमें कहा तो आत्मा को ही है लेकिन उसके वैसे स्वरूप को जिसे ब्रह्म समझना संगत हो। इसलिये उसे साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म कहा। जिसे जान रहे हैं उसके और हमारे बीच कोई पर्दा न रहे ऐसा ज्ञान अपरोक्ष कहलाता है। सामान्यतः इसे प्रत्यक्ष कह देते हैं। सामने घोड़ा खड़ा है, रोशनी में उचित दूरी से स्वस्थ आँखों से सावधानीपूर्वक हमने देखा तो यह प्रत्यक्ष हुआ। इससे भिन्न, हिनहिनाना सुना, खुर पटकना सुना, कोई सफेद चीज़ सामने से गुज़रती देखीतीनों बातें जोड़कर समझते हैं कि सफेद घोड़ा दौड़ायह अप्रत्यक्ष या परोक्ष ज्ञान हुआ। हिनहिनाना किस जानवर का होता है यह पता हो तभी घोड़ा पता चलेगा, घोड़े की टाप और दूसरे जानवरों की टाप में फ़र्क़ पता हो तभी घोड़ा पता चलेगा, अतः अन्य ज्ञानों के माध्यम से हुआ बोध परोक्ष है जबकि आँख से दीखना प्रत्यक्ष है, इसमें कोई और ज्ञान माध्यम नहीं बन रहा। आत्मा को प्रत्यक्ष के बजाये अपरोक्ष इसलिये कहते हैं कि 'अक्ष' नाम है इंद्रियों का अतः भ्रम हो सकता है कि आत्मा इंद्रियविषय होगा। ऐसा भ्रम न हो इसके लिये उसे अपरोक्ष कहा जाता है जिसका अभिप्राय है कि उसका ज्ञान न किसी अन्य ज्ञान के माध्यम से न इंद्रियों के माध्यम से है। अतः साक्षात् अपरोक्ष है। 'मैं सुखी, दुःखी, कामी' आदि हमारे अनुभव कुछ-कुछ ऐसे ही हैं, किसी अन्य पर निर्भर नहीं। सुखादि अनुभव परोक्ष भी नहीं और इन्द्रियों से भी नहीं अतः अपरोक्ष हैं। ऐंद्रिय प्रत्यक्ष वस्तुतः साक्षात् नहीं; रोशनी, हवा आदि बाह्य चीज़ों का उनमें व्यवधान रहता है, इंद्रियाँ और उनके दोषादि का व्यवधान रहता है, मन और उसके राग आदिका व्यवधान रहता है। अत एव विभिन्न लोगों के विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न परिस्थितियों में अनुभव विभिन्न हो जाते हैं। आत्मस्वरूप ही एकमात्र अव्यवहित है, बिना किसी माध्यम के भासता है। वही आत्मा ब्रह्म होने लायक है। यह हमारा प्रत्यक् स्वरूप है, मैं है। यद्यपि मन आदि साक्षिभास्य भी अव्यवहित लगते हैं तथापि वे सदा नहीं रहते, सुषुप्ति आदि में नहीं रहते एवं रहते हुए भी परिवर्तनशील हैं अतः उन्हें आत्मा कहना बनता नहीं, साक्षिमात्र ही आत्मा है, उसी को ब्रह्म महावाक्य बताते हैं। ।७२-३।।

यत्साक्षादपरोक्षं स्याद् ब्रह्म तद्रूपतामयम्।
अर्हेत् सर्वान्तरस्तादृग् य आत्मा ब्रूहि तं मुने।।७४।।
साक्षादिति पदेनात्र व्यवधानं निवार्यते।
स्वर्गलोकादिवद् ब्रह्म नातो देशान्तरादिगम्।।७५।।
अगौणताऽपरोक्षोक्त्या ब्रह्मत्वस्य विवक्षिता।
नामादेरिव नो गौणं ब्रह्मत्वं प्रत्यगात्मनः।।७६।।

उषस्त-वाक्य सुनाते हैं **हे मुनि याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, उसके रूप वाला यह हो सके ऐसे उस सर्वान्तर आत्मा का कथन करिये।।७४।।** श्रुतिका यह अनुवाद है। इसके हर शब्द को स्वयं आगे समझा रहे हैं। ब्रह्म साक्षात् भी है, अपरोक्ष भी है और सबके सर्वाधिक भीतर भी है, ऐसा ही होने लायक आत्मा के बारे में जिज्ञासा है। आत्मा (मैं) को हम जानते हैं पर उसकी सर्वान्तरता नहीं जानते जिसे शास्त्र से समझना पड़ता है।।७४।।

प्रश्न के शब्दों के भाव स्पष्ट करते हैं **इस वाक्य में 'साक्षात्' इस शब्द से बताया कि ब्रह्म व्यवहित (देश या काल की दृष्टि से दूर) नहीं है अतः स्वर्ग लोकादि की तरह किसी अन्य देश में स्थित वस्तु नहीं है।।७५।। 'अपरोक्ष' कहने से यह बताना इष्ट है कि प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता गौण नहीं है। जैसे नाम आदि को भी ब्रह्म कहा है पर वह मुख्य नहीं गौण है वैसे आत्मा को ब्रह्म गौणदृष्ट्या नहीं, मुख्य दृष्टि से ही कहा है।।७६।।** व्यवधान मायने हमारे व परमेश्वर के मध्य कुछ और होना जैसे दो कमरों के बीच दीवाल का व्यवधान होता है। स्थूल वस्तु की तरह काल का भी व्यवधान होता है और ज्ञान-उपाय का भी व्यवधान होता है। अनुमिति में व्याप्तिज्ञान का व्यवधान है, शाब्दबोध में पदार्थज्ञान का व्यवधान है। हमें जर्मन न आये तो सुनते हुए भी उसका अर्थ हमें समझ नहीं आता, भाषा, शब्दार्थ मालूम हों तभी बात समझ आती है अतः भाषाज्ञान, कोषज्ञान के व्यवधान से वाक्यार्थज्ञान प्रसिद्ध है। आत्मा यों किसी तरह व्यवहित नहीं है। व्यापक होने से देश से, नित्य होने से काले से और स्वप्रकाश होने से ज्ञानोपाय से उसमें कोई व्यवधान संभव नहीं। जहाँ हम बैठे हैं वहीं मोहन पण्डित बैठा है पर हम उसे जानते नहीं; वह साक्षात् भी है अपरोक्ष भी लेकिन हमें अज्ञात है। जब कोई परिचय करा देता है तो उसे देखने-मिलने कहीं अन्य देश-काल में नहीं जाना पड़ता। ऐसे ही आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है किन्तु अज्ञात है, ज्ञान होते ही उसकी उपलब्धि है,

आविर्भावोऽपरोक्षत्वं तच्चास्त्यव्यवधानतः ।
स्वप्रकाशं स्वभावत्वादिति वार्थः पदद्वये ।।७७ ।।

किसी देश-काल-उपाय का इन्तजार नहीं करना पड़ता। ब्रह्मदर्शन कहाँ कब कैसे होगा? यह प्रश्न निरर्थक है। अविद्या-निवृत्ति ही चाहिये, वह हो जाये तो यहीं, अभी, खुद-ब-खुद होता रहेगा। अनात्मवस्तु के ज्ञान में इंद्रिय-मन आदि का व्यवधान उचित है, आत्मज्ञान में नहीं। बाहर पड़ा घड़ा देखने के लिये रोशनी, आँख और उधर ध्यान सब चाहिये; यदि बेध्याने हों तो सामने रखी चीज़ भी नहीं दीखती जैसे शकुंतला को दुर्वासा नहीं दीखे थे। लेकिन स्वयं को जानने के लिये कुछ और नहीं चाहिये। सुषुप्ति में मन नहीं रहता तो भी स्वयं का भान रहता ही है जिसके बल पर स्मृति होती है कि सुख से सोया। साक्षाद् ही नहीं, आत्मा को अपरोक्ष भी कहा जिसका भाव है कि आत्मा ब्रह्म हैयह बात वैसे सत्य है जैसे 'वही यह देवदत्त है' यह बात सत्य है। वेद ने 'नाम ब्रह्म है ऐसी उपासना करो' आदि भी कहा है लेकिन वहाँ नाम को ब्रह्म बताना अभिप्राय नहीं है; नाम ब्रह्म है नहीं, उसे ब्रह्म समझने से फलविशेष होगायह अभिप्राय है। ऐसे जीव-ब्रह्म का अभेद नहीं वरन् वास्तविक है, यह 'अगौणता' का तात्पर्य है। अनात्मा की, घट आदि की और यहाँ तक कि शरीर मन की भी अपरोक्षता है लेकिन वह गौण ही है क्योंकि अनात्मा कभी भासता है, कभी नहीं भासता। आत्मा क्योंकि सदा भासमान है इसलिये वह मुख्य दृष्टि से अपरोक्ष है। मन भी गहरी नींद में नहीं रहता, नहीं भासता, आत्मा तब भी भासता है बल्कि अज्ञान और आनंद का की भान होता रहता है। अभेद का कथन गौणदृष्टि से लोक में भी प्रचलित है। किसी अफ़सर की पत्नी को हीरों का हार दे दो तो अफ़सर तुम्हारा काम कर देता है। पत्नी को मिलने से 'मुझे मिला' ऐसा मानकर ही यह होता है। ऐसे स्थलों में 'पत्नी मैं ही हूँ' कथन गौण अभेद लेकर है। 'जो मैं विद्यालय में पढ़ता था वही मैं अब सेवानिवृत्त हुआ हूँ' आदि में 'वही मैं'यह कथन मुख्य अभेद लेकर है। ऐसे ही नाम आदि की ब्रह्मरूपता गौण है जबकि आत्मा की ब्रह्मरूपता मुख्य है इसे 'अपरोक्ष' से कहा। श्रुति के 'अपरोक्षात्' का अर्थ 'अपरोक्षम्' ही है।।७५-७६।।

साक्षात् और अपरोक्ष शब्दों का अर्थ दूसरे ढंग से बताते हैं **अथवा उक्त दोनों पदों के रहते वाक्य का अर्थ है कि क्योंकि आत्मा की ज्ञानरूपता अन्य किसी के अधीन नहीं है इसलिये बिना किसी व्यवधान के उसकी प्रकाशमानता है।।७७।।** आवि अर्थात् प्रकाश, ज्ञान। यह अपरोक्ष का अर्थ है। साक्षात् का अर्थ है 'बिना व्यवधान के।' घट आदि का अपरोक्ष होता है लेकिन इन्द्रिय-मनोवृत्ति आदि के व्यवधान

अव्याकृत्तानन्नुगतं वस्तु ब्रह्मगिरोच्यते।
अकारणमकार्यं तदित्यनेनोदितं भवेत्।।७८।।

से, माध्यम से। ऐसे आत्मा का अपरोक्ष किसी व्यवधान से (माध्यम से, पर्दे में से) नहीं वरन् सीधे ही होता है। मैं हमें हमेशा बिना उपाय के, बिना प्रयास के, मालूम ही रहता है, भासता ही रहता है। 'मैं देवदत्त, मनुष्य' आदि भान के लिये तो मन आदि व्यवधान चाहिये लेकिन सिर्फ़ मैंइस भान के लिये कुछ चाहिये भी नहीं और यह भान कभी रुकता भी नहीं। आत्मा की ऐसी साक्षात् अपरोक्षता में हेतु दिया कि वह स्वभाव से स्वप्रकाश है। जैसे घड़े आदि को प्रकाशित करने के लिये रोशनी चाहिये लेकिन रोशनी को प्रकाशित करने के लिये कुछ नहीं चाहिये या आटा आदि को मीठा बनाने के लिये चीनी चाहिये पर खुद चीनी को मीठा करने के लिये कुछ नहीं चाहिये, ऐसे आत्मा के स्वयं के भान के लिये वह किसी और पर निर्भर नहीं जबकि बाकी सबका भान आत्मा पर निर्भर है। इसी कारण उसे साक्षात् और अपरोक्ष कहा। पूर्व व्याख्या में भी साक्षात् का तो यही अर्थ था लेकिन अपरोक्ष शब्द के अर्थ में अन्तर है, वहाँ अगौणता अभिप्राय था, यहाँ आविर्भाव या प्रकाशमानता अर्थ है।।७७।।

साक्षात् अपरोक्ष शब्द समझाकर अब ब्रह्म-शब्द का अर्थ कहते हैं **ब्रह्म शब्द से वह वस्तु कही जाती है जो न किसी और में है एवं न किसी से अलग है! इससे प्रकट होता है कि वह न कारण है, न कार्य।।७८।।** ब्रह्म मायने पूर्ण चैतन्य। वह व्यावृत्त नहीं अर्थात् किसी से अलग नहीं, कुछ उससे अन्य है नहीं जिससे ब्रह्म अलग हो। किसी के बारे में यह कहना नहीं बनता कि 'यह ब्रह्म नहीं।' अत एव ब्रह्म अनुगत भी नहीं; विभिन्न पदार्थों से सम्बद्ध कोई एक पदार्थ हो तो उसे उनमें अनुगत कहते हैं जैसे मणियों में पिरोया धागा उनमें अनुगत होता है या घड़ा-कुल्हड़ आदि में मिट्टी अनुगत होती है। अनुगत, अनुवृत्त, अन्वित आदि शब्द समानार्थक हैं। क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कुछ है ही नहीं तो वह किसमें पिरोया रहे, अनुगत रहे? आचार्य सुरेश्वर कहते हैं कि यदि एक तिनका भी उससे अलग रह गया तो 'ब्रह्म' यह नाम ही निरर्थक हो जायेगा! व्यापकता, पूर्णता में इतनी कमी आ जायेगी। यद्यपि यों प्रपंच ब्रह्मान्य नहीं तो प्रपंचज्ञान भी ब्रह्मज्ञान है तथापि ब्रह्म के बारे में ग़लत ज्ञान होने से बंधक है जैसे रस्सी के बारे में सर्पज्ञान ग़लत होने से भयप्रद है। हमें विषय विभिन्न, अब्रह्म दीख रहे हैं, स्वयं भी हम अपने को कर्त्ता-भोक्ता देख रहे हैं इसलिये यह ज्ञान ब्रह्म का होते हुए भी पुरुषार्थोपयोगी नहीं है। वर्त्तमान में हमारा ज्ञान जिसके बारे में है उसे हम कार्यरूप या कारणरूप समझते

अपुमर्थमिदं प्राप्तं न चेदात्मैव तद्भवेत्।
यतोऽत आत्मरूपार्थं य आत्मेति विशेष्यते।।७६।।
सजातीयविजातीयद्वितीयार्थनिवृत्तये।
सर्वांतर इति प्राह सार्वात्म्यं तेन सिध्यति।।८०।।

हैं। संसार में जो कुछ मिलता है वह या कार्य है या कारण है या दोनों है। गेहूँ कारण है, आटा उसका कार्य है लेकिन रोटी के प्रति आटा कारण भी है। लेकिन वस्तुभूत परमात्मा न कार्य है, न कारण है क्योंकि भेद रहते ही कार्यकारणभाव संभव है। जब ब्रह्म अव्यावृत्त है तो भेद न होने से कार्यकारणभाव संभव नहीं तथा क्योंकि वह अननुगत है इसलिये भी यह भाव संभव नहीं, कारण कि जो कारणवस्तु होती है उसे अपने कार्यों में अनुगत रहना पड़ता है जैसे मिट्टी सब बर्तनों में अनुगत रहती है, धागा कपड़ों में अनुगत रहता है। इस प्रकार, कार्यकारणभाव से निर्मुक्त अखण्ड नित्य सद्रूप व्यापक तत्त्व ब्रह्म-शब्द का अर्थ है।।७८।।

प्रश्न में 'यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म' के बाद शब्द हैं 'य आत्मा'; इनका तात्पर्य बताते हैं **यदि यह ब्रह्म प्रत्यग्रूप ही न हो तो यह परम पुरुषार्थ नहीं हैयह (अनिष्ट) स्थिति होगी। क्योंकि (उसकी परमपुरुषार्थरूपता न होना शास्त्र-युक्ति से विरुद्ध है) इसलिये उसके बारे में विशेषकर कहा 'जो आत्मा' ताकि स्पष्ट हो कि वह आत्मरूप प्रत्यग्रूप है।।७६।।** अनात्मा धन, स्वर्ग आदि पुरुषार्थ होने पर भी परम पुरुषार्थ नहीं जबकि मोक्ष परम पुरुषार्थ है इसलिये ज़रूरी है कि वह अनात्मा न हो। झूठा नोट सच्चा मानते रहने से जैसे कोई धनी नहीं हो जाता वैसे यदि ब्रह्म आत्मा न हो तो उसे आत्मा मानने से कोई सच्चा लाभ नहीं हो सकता। वास्तविकता होने से ही ब्रह्मनिष्ठा परम पुरुषार्थ है। अत एव इसकी परप्रेमास्पदता पूर्वाध्याय में समझायी। अपना आपा, स्वरूप, हमेशा प्रिय है अतः उसमात्र रूप से अवस्थिति असीम प्रिय की आत्यंतिक उपलब्धि या मोक्ष होना उचित है। इसीलिये जिसे साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म कहा, उसी को आत्मा भी कहा ताकि वही परम पुरुषार्थ है यह स्पष्ट हो। यह श्लोक लगभग वार्तिक का ही है, वहाँ अंत है '...र्थमात्मेत्येवं विशेष्यते' (३.४.२१), इतना ही अंतर है।।७६।।

अगला शब्द है 'सर्वान्तरः' उसे समझाते हैं **उससे समान जाति की या विषम जाति की कोई दूसरी चीज़ हैयह संभावना हटाने के लिये उसे 'सर्वान्तर' कहा जिससे सिद्ध है कि वह सबका आत्मा है।।८०।।** भिन्न वस्तु समान जाति

सार्वात्म्यं ब्रह्मणो योग्यं तच्च जीवात्मनीरितम् ।
मुख्यापरोक्ष्यं जीवस्य योग्यं ब्रह्मणि वर्णितम् ।।८१।।

की भी होती है, विषम जाति की भी। अग्रहार दक्षिण भारत में ऐसे गाँव थे जहाँ केवल ब्राह्मण बसते थे। लोग तो अग्रहार में अनेक होते थे लेकिन सब एक ही जाति के होते थे। अतः वहाँ विभिन्न लोग होने पर भी समान जाति के ही थे। जिस गाँव में एक ही घर ब्राह्मण का हो वहाँ भी विभिन्न लोग हैं लेकिन विषम जाति के। सर्वत्र भेद दो प्रकार के होते हैंसमान जाति की विभिन्न वस्तुओं में रहने वाला परस्पर भेद सजातीय भेद; एवं विषम जाति की विभिन्न वस्तुओं में रहने वाला विजातीय भेद। परमात्मा से विभिन्न कुछ न सजातीय है, न विजातीय है, यह व्यक्त करने के लिये उसे 'सर्वान्तर' सबका अन्तस्तत्त्व, सबका निजी स्वरूप कह दिया। ब्रह्म एक ही है अतः सजातीय भेद असंभव और जो कुछ उससे भिन्न जाति का प्रसिद्ध हैप्रकृति, परमाणु आदि उस सबका भी वास्तविक स्वरूप परमात्मा ही होने से सचमुच में कुछ विजातीय भी असंभव है। जैसे लाक्षागृह में ज़मीन, दीवार, खम्भा, छत आदि चाहे विभिन्न लगें लेकिन हैं एकमात्र लाक्षा ही इसलिये लाक्षा से उन्हें वस्तुतः भिन्न कहना नहीं बनना वैसे एक सत्तत्त्व से वास्तव में भिन्न कोई नाम-रूप न होने से विजातीय भेद वाली कोई वस्तु होना संभव नहीं। मुसलमान आदि ईश्वरवादी यहाँ तक तो मानते हैं कि अल्लाह की जाति की कोई दूसरी चीज़ नहीं, कोई दूसरा अल्लाह नहीं, लेकिन विभिन्न जाति के शैतान आदि संसार को वे मानते हैं। ऐसे ही वैष्णवादि भी ईश्वर की जाति का और कुछ न मानकर भी उससे अन्य जाति का सब कुछ मानते ही हैं। इन सबसे विलक्षण, सनातन धर्म की मान्यता है कि परमात्मा एक है और परमात्मा से भिन्न कहीं कुछ नहीं है। जैसे लहर-बुद्बुदे-झाग आदि एक समुद्र से अतिरिक्त कुछ नहीं है वैसे संसार में ग्राह्य-ग्राहक चाहे जो मिले, एक परमेश्वर ही है। ब्रह्म सद्रूप है, उससे अलग हो असत् ही हो सकता है! 'है' से अलग तो 'नहीं है' ही कहा-समझा जायेगा। यों जो ब्रह्म की सर्वात्मता 'ऐतदात्म्यम्' आदि श्रुतियों में प्रसिद्ध है उसे सर्वान्तर-शब्द से व्यक्त किया है।।८०।।

प्रश्न के शब्दों का अर्थ बता चुके। अब स्पष्ट करते हैं कि उषस्त ने जिस ढंग से शब्दविन्यास किया उसका क्या अभिप्राय निकलता है **योग्य तो है कि ब्रह्म में सर्वात्मता हो पर उषस्तने उसे जीवात्मा में कहा और मुख्य (=अगौण) अपरोक्षता जीव में होना योग्य है, उसे उषस्त ने ब्रह्म में कहा!।।८१।।** इस

अभेदो वास्तवो जीवब्रह्मणोर्व्यत्ययादतः ।
विवक्षितस्तत्प्रसंगाद् वादिव्यामोह आर्थिकः ।।८२।।

व्यत्यय (विपरीत विन्यास) से विवक्षित है कि जीव और ब्रह्म में वास्तविक अभेद है और यों कहने का यह भी एक प्रयोजन मान सकते हैं कि वादी अर्थात् याज्ञवल्क्य चक्कर में पड़ जाये, क्योंकि वादी-परीक्षा का प्रसंग है ही।।८२।। ब्रह्म जगत् के कारणरूप से शास्त्रादि में प्रसिद्ध होने से उसे सर्वान्तर कहना ठीक है एवं जीवरूप हमेशा प्रत्यक्षतया भासमान होने से उसे मुख्य, साक्षात् अपरोक्ष कहना ठीक है। लेकिन उषस्त ने उल्टा किया‘साक्षात् अपरोक्षात्’ ये ब्रह्म के विशेषण रखे और ‘सर्वान्तरः’ आत्मा का विशेषण रखा। यों कहने का नाम ‘व्यत्यय’ है अर्थात् विशेषणों में अदला-बदली कर देना। ऐसा करने में कोई प्रयोजन होता है। यहाँ प्रधान प्रयोजन तो है यह बताना कि वास्तव में जीव-ब्रह्म एक ही वस्तु है। अभी भले ही हम ब्रह्म को अपरोक्ष नहीं जान रहे, भले ही जीव को सर्वान्तर नहीं जान रहे लेकिन है ब्रह्म अपरोक्ष ही, है जीव सर्वान्तर ही क्योंकि ब्रह्म व जीव दो वस्तुएँ नहीं हैं। जीव को अपरोक्ष तो हम जानते ही हैं, इसके लिये उपदेश नहीं चाहिये; ब्रह्म को सर्वान्तर जानने के लिये भी विशेष प्रयास नहीं चाहिये; लेकिन जो अपरोक्ष है वही सर्वान्तर है, सर्वान्तर तत्त्व ही साक्षात् अपरोक्ष हैयह समझना यत्नसाध्य एवं सफल है। ब्रह्म, अगर जीव से अन्य हो तो ब्रह्मप्राप्ति अनित्य ही हो सकने से कैवल्यरूप न होती जबकि उसे कैवल्य, सनातन कहा है अतः निश्चित है कि ब्रह्म व जीव अनन्य ही हैं। इस वास्तविक अभेद को बताने के लिये व्यत्यय प्रयुक्त है। किं च व्यत्ययका यह भी फल है कि यों कहने से साधारण व्यक्ति चक्कर में पड़ जायेगा कि किस तत्त्व के बारे में पूछा जा रहा है? ब्रह्म तो परोक्ष होता है, आत्मा एक शरीर-मन के भीतर होता है; अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा क्या हो सकता है?यों समस्या उसके सामने खड़ी होगी जो परमात्मसाक्षात्कार किये हुए नहीं है। यदि याज्ञवल्क्य ब्रह्मनिष्ठ न होते तो चक्कर में पड़ जाते, इसी संभावना से उषस्त ने व्यत्यय का प्रयोग किया होयह भी मानना संभव है क्योंकि याज्ञवल्क्य की परीक्षा की जा रही है और परीक्षा में यों चक्कर में डालने वाले सवाल पूछे ही जाते हैं। इस तरह उषस्त ने अपना अद्वयता का सिद्धान्त कह भी दिया और याज्ञवल्क्य की परीक्षा को कठिन भी बना दिया।।८१-२।।

व्यत्ययका भाव बताकर अब सामानाधिकरण्य का अभिप्राय समझाते हैं। समान विभक्तिक पदों का परस्पर अभेद सम्बन्ध सामानाधिकरण्य कहा जाता है।

आत्मनो ब्रह्मता मुख्या ब्रह्मणोऽप्यात्मता तथा।
प्रत्यग्दृष्ट्या पराग्दृष्ट्या मिथो ब्रह्मात्मनोर्भिदा।।८३।।
ब्रह्मत्वमात्मनो रूपं तमसा तत्तिरोहितम्।
आत्मत्वं ब्रह्मणोऽप्येवं ततो जीवेशभेदधीः।।८४।।

प्रश्न वाक्य में ब्रह्म और आत्मा एक विभक्तिक पद हैं। यों कहने का उद्देश्य क्या है, यह समझाते हैं **आत्मा की ब्रह्मता मुख्य (अगौण) है, ब्रह्म की आत्मरूपता भी मुख्य (अगौण) है। ब्रह्म और आत्मा का आपसी भेद केवल इन दृष्टियों पर निर्भर करता है कि हम प्रत्यक् की ओर देख रहे हैं या पराक् की ओर ।।८३।।** आत्मा वास्तव में प्रत्यङ्मात्र है, इस ओर जागरूक रहने पर आत्मा ही ब्रह्म है यह सुस्पष्ट होता है। यही तथ्यात्मक ज्ञान है। क्योंकि यही वस्तुस्थिति है इसलिये आत्मा-ब्रह्म का अभेद मुख्य है, इसमें गौणता नहीं कि सिर्फ़ कह-भर दिया हो जैसे 'भद्रसेन मेरा ही आत्मा है' ऐसा कह देते हैं, जबकि पता है कि है नहीं, वह स्वतंत्र व्यक्ति है, मैं स्वतंत्र व्यक्ति हूँ। अथवा गुण देखकर कहना भी गौण कथन है : बनिया यदि शास्त्रादि में पाण्डित्य अर्जित कर ले तो उसे ब्राह्मण कह देते हैं या ब्राह्मण व्यापारादि में कुशल हो तो उसे बनिया कह देते हैं जबकि मालूम है कि वह उस वर्ण का है नहीं। इसी तरह जीव-ब्रह्म हों विभिन्न, लेकिन किसी गुण की समानता से जीव को सर्वान्तर और ब्रह्म को साक्षात् अपरोक्ष कहा जा रहा हो, यह बात नहीं वरन् ये दो हैं ही नहीं, एक ही है। एक होने पर भी दृष्टिभेद से भेदव्यवहार हो रहा है। पराक् दृष्टि अर्थात् उपाधि दृष्टि। उपाधि के अनुसार भेद है, प्रत्यक् अर्थात् उपधेय आत्मतत्त्व के स्तर पर कोई भेद नहीं है। ईश्वर-जीव का भेद औपाधिक है, ईश्वर सर्वज्ञ-सर्वकर्त्ता मायोपाधिक है, जीव अल्पज्ञ अल्पकर्त्ता अविद्योपाधिक है। अतः बाह्य या उपाधि को दृष्टि में रखने पर भेद लगता है पर सत्य को देखने से पता चलता है कि एक ही है।।८३।।

उक्त प्रतिज्ञा का स्पष्टीकरण करते हुए उषस्त चाक्रायण के प्रश्न के अर्थ के वर्णन का उपसंहार करते हैं **ब्रह्मस्वरूपता आत्मा की वास्तविक है पर वह अज्ञान से छिपी है। इसी तरह आत्मस्वरूपता (=प्रत्यक्ता) ब्रह्म की वास्तविकता है लेकिन अज्ञान से छिपी है। इसी से जीव-ईश्वर में भेद प्रतीत होता है।।८४।। अज्ञान का ज्ञान द्वारा नाश होने से (आत्मा में आरोपित) अब्रह्मता और (ब्रह्म पर आरोपित) अनात्मता समाप्त हो जाने के कारण क्योंकि केवल प्रत्यक् बचता है इसलिये**

तमसो बोधविध्वंसादब्रह्मानात्मताहतेः।
प्रत्यङ्मात्रावशेषत्वात् स्यामपूर्वादिमानहम्।।८५।।
अमूढो याज्ञवल्क्योऽत्र प्रत्यग्दृष्ट्या परामृशन्।
प्रत्याहैष त आत्मेति तं सर्वान्तरमद्वयम्।।८६।।

'अपूर्व आदि वाला मैं हूँ' यही अनुभव रहता है।।८५।। जब तक हममें राग द्वेष काम क्रोध भरे हैं तब तक हमारे लिये अपनी व्यापकता (ब्रह्मता) आवृत (छिपी) है। उस अज्ञान के पर्दे से छनकर जो ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति हमें मिल रही है, उसी का जब हम इतना दुरुपयोग कर रहे हैं तो अगर कहीं अपनी असीम शक्ति का प्रयोग कर पाते तो न जाने कितनी हानि कर लेते! लेकिन ब्रह्मस्वरूप को भगवान् ने कहीं दूर ले जाकर नहीं रखा वरन् हमारे इस शरीररूप खेत में, क्षेत्र में ही छिपा कर रख दिया कि योग्य हो जायें तो इसे अनावृत कर अनन्तानन्द में मग्न होवें। रागादि दोषों से रहित होना ही योग्यता है। योग्य को वेद का इशारा समझ आता है कि जिसे हृदय गुहा में निहित कहा वह है कौन। अभी 'मैं' से कर्तृत्वादि वाले को समझते हैं, योग्य अधिकारी उसी से अपूर्व-अनपर-अबाह्य आदि स्वरूप वाली वस्तु को समझता है। अपूर्व आदि विशेषताओं का पहले (बृ.२.५.१९; अनु. प्र.१६.श्लोक ४४-७) स्पष्टीकरण दिया जा चुका है। जैसे हम मैं को ब्रह्म (व्यापक) नहीं जानते, वैसे ही ब्रह्म को मैं (अपरोक्ष) नहीं जानते; तत्त्वबोध से आवरण मिटने से दोनों बातें प्रकाश जाती हैं। अखण्ड आत्मवस्तु में जीव-ईश्वर भेदधी है जो मिटने पर अखण्डवस्तु यथावत् रहती है। ज्ञान ही इसके लिये सक्षम है और कुछ नहीं; बाकी साधन ज्ञान के लिये ही चाहिये, अज्ञान तो सिर्फ़ ज्ञान से मिटता है। अज्ञान रहते माया उपाधि से ईश्वर और अविद्या या अंतःकरण उपाधि से जीवयों विभिन्न प्रतीत हो रहे हैं, अविद्या मिटते ही यह भेद बाधित हो जाता है। यहाँ तक उषस्त के प्रश्न का विश्लेषण किया। ब्रह्मिष्ठ के सत्यापन के प्रसंग में यह अत्यन्त योग्य प्रश्न है एवं जो तत्त्ववित् नहीं होगा वह इसके इन भावों को समझ न सकने से उचित उत्तर नहीं दे सकता। अतः इसके जवाब से याज्ञवल्क्य की ब्रह्मिष्ठता व्यक्त होगी।।८४-५।।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'एष त आत्मा सर्वान्तरः।' कि यह तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है। इसे श्लोक ९५ तक समझायेंगे **आत्मा के बारे में निर्भ्रान्ति होने से यों मोहकारी प्रश्न होने पर भी याज्ञवल्क्य ने आत्मा को ही ध्यान में रखते हुए विचारपूर्वक जवाब दिया कि जिस सर्वान्तर अद्वय को तुम पूछ रहे हो वह यही तुम्हारा आत्मा है।।८६।।** सवाल पेचीदा होने पर भी याज्ञवल्क्य को किसी तरह की

मुख्योऽपरोक्षो यः प्रत्यक् स्वप्रकाशो विभासते।
एतच्छब्देन तं प्राह विस्पष्टत्वविवक्षया।।८७।।
अन्तर्मुखस्य विस्पष्टो नायं सन्देहगोचरः।
इत्यभिप्रेत्य तत्प्रश्ने बहुमानं तु नाकरोत्।।८८।।

समस्या नहीं हुई, उनकी दृष्टि प्रत्यक् आत्मा पर केन्द्रित थी अतः उषस्त ने किस के बारे में पूछायह समझने में विलम्ब नहीं लगा। व्यत्यय (श्लोक. ८२) से विरोधाभास प्रतीत होने पर भी तत्त्वज्ञ को परिहार का स्फुरण होने से व्यामोह नहीं होता जैसे लौकिक सन्दर्भों में जानकार विरोधाभासों से विचलित नहीं होते। उषस्त ने ब्रह्म-आत्मा का पृथक्-पृथक् उल्लेख कर पूछा, याज्ञवल्क्य ने उनके अभेद का कथनकर उत्तर दिया कि तेरा आत्मा अर्थात् प्रत्यक्स्वरूप ही ब्रह्म अर्थात् पूर्ण वस्तु है। यों अद्वितीय तत्त्व का निर्वचन हुआ। संसार में आत्मा-अनात्मा, अस्मत्प्रत्ययार्थ-युष्मत्प्रययार्थ, अहम्-इदम् दो ही चीज़ें हैं। अनात्मा ज्ञेय है, आत्मा ज्ञान है। (या अविद्यादशा में ज्ञाता है)। इस दृष्टि से 'ते', 'तेरा' का अर्थ अनात्मप्रपंच है, उसका आत्मा अर्थात् वास्तविक स्वरूप ब्रह्म है, जैसा 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्' आदि छान्दोग्य में कहा है। 'ते' से जीव का शुद्ध रूप लें तो मुख्य, तथा 'ते' से अनात्मा लें तो बाधयों दोनों सामानाधिकरण्यों के अभिप्राय से 'तेरा आत्मा ब्रह्म है' कहा गया है। यह उत्तर भी कम पेचीदा नहीं, लेकिन याज्ञवल्क्य का भाव है कि उषस्त ज्ञानी होगा तो समझ ही जायेगा और न समझा तो प्रकट हो जायेगा कि वह ब्रह्म के बारे में पूर्ण जानकार नहीं है।।८६।।

याज्ञवल्क्य के उत्तर में 'एष' (यह) शब्द का तात्पर्य बताते हैं **वस्तुतः अपरोक्ष यह प्रत्यक् स्वयमेव ज्ञायमान होता हुआ विशेषतः अनुभूयमान है, उसकी इस अतिस्पष्टता को बताने के लिये उसे 'एषः' (यह) शब्द से कहा।।८७।। 'अन्तर्मुख व्यक्ति को यह साफ पता रहता है, इसके बारे में संदेह होता ही नहीं'इस अभिप्राय से उषस्त के प्रश्न को याज्ञवल्क्य ने अधिक महत्त्व नहीं दिया।।८८।।** अपरोक्ष तो घटादि भी कहलाते हैं पर वे प्रमाणादि के व्यवधान से ही अपरोक्ष होने के कारण 'वस्तुतः' या मुख्य रूप से अपरोक्ष नहीं जबकि बिना किसी व्यवधान के, बिना किसी साधन के सदा स्वरूप से ही अपरोक्ष रहने के कारण आत्मा वस्तुतः या मुख्य रूप से अपरोक्ष है। यह व्यक्त करने के लिये सन्निहित बोधक 'एषः' (यह) शब्द कहा, दूरस्थ-बोधक वह-शब्द नहीं। उसकी इस अपरोक्षता में 'स्वप्रकाश होना' उपपत्ति है। उसी की अनुभवारूढता के लिये 'विभासते' कहा है।

षष्ठ्यन्तस्य त इत्यस्य युष्मद्बुद्ध्युपलक्षितम्।
देहादिसर्वमाव्योम्नो दृश्यमर्थो विवक्षितः।।८९।।
आत्मेत्यव्यभिचारेण स्वरूपं यत्तदुच्यते।[1]
प्रमात्राद्यागमापायसाक्षित्वात् तत्स्वरूपता।।९०।।

याज्ञवल्क्य ने जो कुल चार शब्दों में उत्तर निपटा दिया, विस्तृत भूमिकादि बाँधकर खुलासा नहीं किया, उसका हेतु है कि उन्हें लगा यह अद्वय तत्त्व अन्तर्मुखी के लिये इतना स्पष्ट है कि इसके बारे में कोई संदेह उसे होगा ही नहीं जिसे मिटाने के लिये कुछ खास कहा जाये। बहिर्मुखी को तो समझाने पर भी ग्रहण नहीं होगा अतः यदि उषस्त इतने से न समझा तो अयोग्य ही है ऐसा याज्ञवल्क्य का भाव था। बहिर्मुख अर्थात् उपाधियुक्त ही आत्मा समझने वाला, अन्तर्मुख अर्थात् आत्मशोधन किया हुआ साधक। याज्ञवल्क्य को उषस्त के बारे में यह भ्रम नहीं था कि वह अज्ञ या बहिर्मुख है लेकिन जैसे उसने यों प्रश्न पूछा कि समझदार के ही पल्ले पड़े, वैसे याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया कि समझदार इशारे से सन्तुष्ट हो जाये।।८७-८।।

'एषः' से स्पष्टता कह कर 'ते' (तुम्हारा) से क्या बताया यह समझाते हैं **युष्मत्-(तुम) बुद्धि से उपलक्षित शरीर से आकाश तक सारा दृश्य षष्ठी विभक्ति वाले 'तुम्हारा' शब्द का अभिप्रेत अर्थ है।।८९।।** 'तुम्हारा' से सम्बोध्य अर्थात् शरीरवान् जीव तो कहा ही है, जो कुछ भी 'मैं' से भेदेन कहा-समझा जा सकता है वह सब भी कह दिया है अतः आकाशपर्यन्त सारा ही जगत् इसका अर्थ हो गया। यहाँ आकाश से प्रथम कार्य महाभूत भी समझ सकते हैं और उसका कारण माया भी समझें तो हर्ज़ नहीं क्योंकि उसके भी अधिष्ठान का उपदेश विवक्षित है। जब सम्बोध चेतन अर्थ है तब उसकी ब्रह्म से मुख्य एकता कही और जब सारा संसार अर्थ है तब संसार की बाध्यता, मिथ्यारूपता कही, यह समझना चाहिये।।८९।।

तीसरे शब्द 'आत्मा' का भाव व्यक्त करते हैं **अव्यभिचारी (स्थायी एकरस स्वप्रकाश) होने से जो स्वरूप है वह 'आत्मा' शब्द से कहा जा रहा है। आने-जाने वाले प्रमाता आदि का साक्षी होने से आत्मा ही स्वरूप है।।९०।।** (अनुभूतिप्रकाश की प्रतियों का पाठ स्पष्ट है। वार्तिकसार के पाठ का अर्थ है कि प्रमाता आदि का स्वरूप 'आत्मा' शब्द से कहा गया है। दोनों में अंतर यह है कि

---

[1] 'आत्मेति च प्रमात्रादेः स्वरूपम्' इति सारे पाठः।

यद्यस्मिन् व्यभिचार्येत तत् स्वरूपं न कुत्रचित् ।
कुंडलित्वं यथा पुंसः साक्षी त्वव्यभिचारवान् । ।६१ । ।

अनुभूतिप्रकाश-पाठ में 'आत्मा' का अर्थ है 'स्वरूप' जबकि सार-पाठमें 'प्रमाता आदि का स्वरूप' अर्थ है। अतः उत्तरार्ध में 'तत्स्वरूपता' के 'तत्' से प्रकाश में आत्मा का परामर्श है, सार में प्रमातादिका परामर्श है। तात्पर्यतः दोनों पाठ एक भाव कहते हैं लेकिन समझने में प्रकाश पाठ सरल है। वार्तिक में 'आत्मेति च प्रमात्रादेरागमापायसाक्ष्यपि' (३.५.५३) कहा है; 'अपि' का अर्थ 'एव' वहाँ टीका में कहा है।) 'प्रमाता' अर्थात् 'मैं, जानने वाला', इसकी जो वास्तविकता वह आत्मा है। वस्तुतः जो सत्-चित्-आनन्द का कभी व्यभिचारी नहीं अर्थात् इनसे रहित नहीं होता वही 'स्वरूप' कहलाने वाला आत्मा है, वही प्रमाता आदि सारे जड-चेतन जगत् का सच्चा रूप है, इस सबका आत्मा है। प्रमाता या अहंकार आदि चित्तवृत्तियाँ जिससे सात्मक (सचेतन) हैं और आकाशपर्यन्त जगत् भी जिससे सात्मक (सत्तावान्) है वही अव्यभिचारी वस्तु आत्मा है। जैसे जल आदि, अग्नि-संपर्क से दाह आदि करने वाले लगते हैं जबकि वास्तव में दाहक अग्नि ही है, वैसे जगत् भी सत्-चिद्-आनंद लगता है पर वास्तव में सच्चिदानन्द आत्मा ही है। अतः आत्मा ही सबका सच्चा स्वरूप है। हर चीज़ 'स्वरूप' वाली लगती है, वह स्वरूप कहलाने वाला अव्यभिचारी तत्त्व आत्मा है। इसमें उपपत्ति है कि प्रमाता आदि संसार की सभी चीज़ें आगम-अपाय वाली, कभी होने कभी न होने वाली हैं अतः ज़रूर कोई इनका साक्षी है जिसे इनके होने-न-होने की खबर है और जिसकी अपेक्षा से ही इन्हें होने-न-होने वाला समझा जा सकता है। कोई स्थायी हो तभी किसी को अस्थायी कह सकते हैं और अस्थायी के भाव-अभाव का कोई एक साक्षी हो तभी उन्हें अस्थायी कह सकते हैं। संसार की अस्थायिता में प्रमाण ही उसका साक्षी आत्मा है जो वास्तव में स्वरूप कहलाने योग्य है। प्रमाण-प्रमेय प्रमाता सभी परिवर्तनशील होने से सचमुच स्वरूप-पद के वाच्य नहीं।।६०।।

स्वरूप को ही स्पष्ट करते हैं **ऐसा कहीं नहीं माना जाता कि जिसके (स्थिर रहते) जो बदल जाये वह (बदलने वाला) स्वरूप हुआ करे! जैसे कुण्डलधारी होना पुरुष का (स्वरूप नहीं माना जाता)। साक्षी ही कभी न बदलने वाला है।।६१।।** पुरुष कभी कुण्डल पहनता है, कभी खोल देता है। अतः कुण्डलधारी होना अस्थिर, व्यभिचारी है, पुरुष स्थिर, अव्यभिचारी है, इसीलिये पुरुष का स्वरूप कुण्डलधारी होना नहीं माना जाता। इसी प्रकार सर्वत्र अव्यभिचारी को स्वरूप नहीं मान

व्यभिचारो मिथो यद्वत् प्रमात्रादेः ससाक्षिकः।
साक्षिणोऽव्यभिचारस्तु तथा किंसाक्षिको भवेत्।।६२।।

सकते। 'यस्मिन्' अर्थात् जिस अधिष्ठान में 'यत्' अर्थात् जो आगमापायी अध्यस्त प्रतीत हो वह अध्यस्त उस अधिष्ठान का स्वरूप नहीं वरन् अधिष्ठान ही अध्यस्तों का वास्तविक स्वरूप होता है जैसे रस्सी ही सर्पादि का वास्तविक स्वरूप है। अथवा गहनों को सोने का स्वरूप नहीं वरन् सोने को गहनों का स्वरूप मानते हैं। व्यभिचारी न केवल स्थायी का स्वरूप नहीं वरन् स्वयं अपना भी स्वरूप नहीं क्योंकि व्यभिचारी मिथ्या होने से स्वरूपहीन होता है जैसे सर्पादि का रस्सी से अतिरिक्त कोई स्वरूप नहीं होता है यह भाव है। इसलिये आत्मा ही स्वरूप शब्द का मुख्य अर्थ है।।६१।।

साक्षी अव्यभिचारी है इसे दृढ करते हैं **प्रमाता आदि का आपसी व्यभिचार जैसे आत्मरूप साक्षी वाला है, साक्षी का अगर व्यभिचार (आगमापाय) हो तो उसमें कौन साक्षी होगा!।।६२।।** स्थायी ही साक्षी होता है, वही अस्थायी में प्रमाण है। बचपन, जवानी, बुढ़ापा तो अपने-अपने काल में हैं, तीनों में समान रूप से होने वाला आत्मा ही इनमें, इनके आने-जाने में प्रमाण है। यदि आत्मा एकरस भाव से न रहे तो 'जो मैं बच्चा था, जवान रहा, अब बूढ़ा हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा ही असंभव हो। बचपन तो बुढ़ापे को नहीं जानता, बुढ़ापा भी बचपन को नहीं जानता, अतः जो दोनों को जाने उस साक्षी के आधार पर ही यह प्रत्यभिज्ञा होती है और तभी सिद्ध होता है कि एक के ही बचपन जवानी-बुढ़ापा ये अवस्थाएँ हुई। ऐसे ही द्रष्टा-श्रोता-गन्ता जो एक वह चक्षु श्रोत्र पाद का साक्षी ही माना जा सकता है, अन्यथा द्रष्टा श्रोता-गंता नहीं, श्रोता द्रष्टा-गन्ता नहीं और गन्ता द्रष्टा-श्रोता नहीं। क्योंकि प्रमेय व प्रमाण आगमापायी इसलिये प्रमाता भी अस्थायी है, अत एव वह भी साक्षी से ही अपनी सिद्धि अपेक्षित रखता है। यदि साक्षी अस्थिर हो तो उसकी अस्थिरता का साक्षी कौन होगा? और बिना किसी साक्षी के साक्षी को अस्थिर मानना अन्धविश्वास ही है जैसा बौद्धों में प्रसिद्ध है वे आत्मा हो अनित्य, क्षणिक कहते हैं जबकि आत्मा की क्षणिकता में प्रमाण हो ही वह सकता है जो स्थायी हो! साक्षी शब्द से आत्मा की निर्विकारता, असम्बद्धता, राग-द्वेष-शून्यता आदि विशेषताएँ भी कह दीं क्योंकि लोकसिद्ध साक्षी भी ऐसा ही स्वीकारा जाता है। साक्षी को अस्थिर मानकर उसका अन्य साक्षी स्वीकारना अनुभव, प्रमाण, तर्क से विरुद्ध है अतः ऐसी कल्पना को स्थान नहीं है।।६२।।

प्रमात्रादि जगत् का स्वरूप आत्मा है यह बात याज्ञवल्क्य के शब्दों पर आरूढ करने

आत्मात्मवत्त्वसम्बन्धः षष्ठ्योक्तो जगदात्मनोः ।
स्वतो निरात्मकं दृश्यमात्मना सात्मतां व्रजेत् ।।६३ ।।

के लिये 'ते' (तुम्हारा) शब्द में स्थित सम्बन्धवाचक षष्ठी विभक्ति का अर्थ कहते हैं **षष्ठी से कहा जगत्-आत्मा का सम्बन्ध है आत्मा-आत्मवत्त्व। दृश्य खुद आत्मतारहित है, आत्मा से ही दृश्य को आत्मता का लाभ होता है।।६३।।** तुम्हारा अर्थात् तुम-कहलाने वाले अनात्मा का; इस 'का' प्रत्यय से कोई सम्बन्ध कहा गया है जो तुम-पदार्थ और आत्मपदार्थ के बीच है। अनात्मा असद् आदि और आत्मा सद् आदि होने से परस्पर विरुद्धों का संयोगादि प्रसिद्ध कोई सम्बन्ध संभव नहीं और यदि सर्वथा कोई सम्बन्ध न हो तो इनमें परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशकता (साक्ष्य-साक्षिता) संभव नहीं। अतः इनमें आध्यासिक ही सम्बन्ध मान्य है जिसे यहाँ नाम दिया आत्मा-आत्मवत्त्व। आत्मवत्त्व अर्थात् आत्मवान् होने का भाव। धन और धनवान् में आपसी सम्बन्ध जैसे धनव त्त्व ही कहा जा सकता है वैसे यहाँ समझना चाहिये। सम्बन्ध सभी संबंधियों में रहना चाहिये ऐसा मानकर धन-धनवत्त्व को संबंध कहेंगे। इसी तरह यहाँ आत्मा और जो अनात्मा होने पर भी आत्मवान् लग रहा है उनमें आपसी सम्बन्ध आत्मात्मवत्त्व कहा गया है। यद्यपि विचार करने पर आत्मत्व आत्मा में ही है, आत्मवत्त्व अनात्मा में ही है, अतः दोनों में समान रहने वाला 'सम्बन्ध' इन्हें या इनमें से किसी को कहना नहीं बनता, तथापि यह दोष ऐसे तार्किक-संमत सभी सम्बन्धों में होने से यहाँ विचारणीय नहीं। इसीलिये वेदान्त में 'अध्यास' को संबंध मानते हैं जो अन्योन्याध्यास के रूप में उभयानुगत हो जाता है। प्रकृत में आत्मा-अनात्मा का परस्पर अध्यास ही आत्मात्मवत्त्व कहा है, जिससे अनात्मा सात्मक (आत्मवान्, स्वरूपवान्) तथा आत्मा उसे सात्मक बनाने वाला है। स्वयं में तो अनात्मा 'निरात्मक' (आत्मतारहित, स्वरूपरहित) ही है जैसा कि उसका अन्-आत्मा यह नाम ही बताता है। आत्मरूप सत् से ही जडों को सत्ता मिलती है, आत्मरूप चित् से ही जड ज्ञात होते हैं, खुद नहीं, आत्मरूप आनन्द से ही इनमें प्रियता आती है, अतः इनकी सात्मकता वही है जो इन्हें आत्मा से प्राप्त है। जड की सिद्धि ज्ञान पर निर्भर है, प्रत्यक्ष हो या अनुमानादि परोक्ष, किसी न किसी ज्ञान से ही जड को स्वीकारना संभव है, बिना किसी ज्ञान के नहीं। इसलिये साक्षी ही सर्वसाधक होने से स्वरूप-शब्द का मुख्य अर्थ है यह निश्चित हुआ।।६३।।

याज्ञवल्क्य के प्रतिवचन में अन्तिम पद है 'सर्वान्तरः', इसे समझाते हैं **सर्वान्तर-शब्द से आत्मा इसलिये कहा गया कि वही सबका स्वरूप है। सर्प, जलधारा, आदि**

आत्मा सर्वस्वरूपत्वात् सर्वान्तरगिरोदितः।
सर्पधारादिकल्पेषु रज्जोरान्तरता यथा।।६४।।
आत्मनोऽनवशेषेण तदन्यार्थाभिसंगतेः।
प्रत्यङ्मात्रतयैवान्यद् बोधादात्मनि लीयते।।६५।।

विकल्पनाओं के अन्दर (स्वरूप) जैसे रस्सी होती है (वैसे सर्व में आत्मा ही स्वरूप है)।।६४।। क्योंकि आत्मा, आत्मभिन्न चीज़ों में से किसी को भी छोड़े बगैर उनसे हर तरह सम्बद्ध होता है इसलिये केवल प्रत्यक्इस रूप से बोध होने के कारण जो कुछ भी आत्मभिन्न प्रतीयमान है वह आत्मा में लीन हो जाता है।।६५।। आत्मा, साक्षी ही सर्वान्तर भी कहा गया। किंतु घड़े में पानी-सा वह सबके भीतर नहीं वरन् गहनों में सोने की तरह, सर्पादि में रस्सी ती तरह वह सब में है। हालाँकि घड़े में पानी और गहने में सोनाप्रयोग दोनों होते हैं फिर भी एक में चीज़ें अलग हैं जबकि दूसरे में सोने से अलग *चीज़* कुछ नहीं है, प्रतीति ही है। गहने का कोई भी कण बिना सोने का नहीं है। ऐसे ही संसार कुछ हो जिसमें परमात्मा हैयह नहीं वरन् परमात्मा से अलग संसार कुछ है ही नहीं, प्रतीतिमात्र से भिन्न है। गहना-सोना श्रुतिसंमत दृष्टान्त होने पर भी साधारण लोग वहाँ परिणाम समझते हैं अतः आचार्य ने सर्प-धारादि में रस्सी का दृष्टांत दिया। सभी अध्यस्तों में अधिष्ठान भरा होता है, इसी तरह संसार में परमात्मा है अतः वह सर्वान्तर है। आत्मा सारे अनात्मा से सर्वथा सम्बद्ध इसीलिये है कि अनात्मा आत्मा पर आरोपित है जैसे गहना सोने पर या सर्प रज्जु पर आरोपित होने से ही आत्मा सारे गहने आदि से सर्वथा सम्बद्ध होता है। अनध्यस्त से तो संयोगादि सम्बन्ध होगा जो 'सर्वथा' नहीं होगा। घड़े में पानी होगा तो भीतर ही होगा, घड़े की दीवाल में नहीं, बाहर नहीं, घड़े के परमाणुओं में नहीं; लेकिन गहनों में तो सोना 'सर्वथा' (हर तरह से) ही होगा, सोने के बगैर गहने का कोई हिस्सा होगा ही नहीं। 'अनवशेषेण' अर्थात् कुछ भी किसी भी तरह अवशेष नहीं है, बचा नहीं है, सभी कुछ सभी तरह सिमट गया है। ओत-प्रोत शब्द से भी यह भाव कहा जाता है। इसीलिये प्रत्यगात्मा को जान लेने से समझ आता है कि सारा जगत् बस वही है! प्रत्यक् रह गया, तदन्य कुछ है-कहने जैसा नहीं रहा, इसी से तदन्य (जगत्, अनात्मा) का प्रत्यक् में विलय कहा गया। यह प्रत्यक् के सत्-स्वरूप के अनुसन्धान से भी स्पष्ट है व चित्-स्वरूप के अनुसन्धान से भी, क्योंकि कुछ भी न सत्-हीन मिलेगा और न चित्-हीन की सिद्धि होगी। चित्-असम्बद्ध असत् ही अर्थात् नहीं ही है। चित्-अचित् का वास्तविक सम्बन्ध संभव भी नहीं। अतः

इत्थं स्वानुभवाद्याज्ञवल्क्यः सर्वान्तरं जगौ।
अन्यः संशयमापाद्य जिगीषुः परिपृच्छति।।६६।।
तवात्मेत्युत्तरं दत्तं ममात्मेति त्रिधेक्ष्यते।
देहो लिंगं च साक्षीति तेषु सर्वान्तरस्तु कः।।६७।।
सर्वान्तरत्वं दुःसाध्यमल्पयोर्देहलिंगयोः।
सद्भावेऽन्यस्य किं मानमप्रमेयस्य साक्षिणः।।६८।।

अचित् की चित् पर आरोपितता स्वतः प्रकट होने से उसका चित् में विलय संगत है।।६४-५।।

इस संक्षप्ति सांकेतिक-से उत्तर से असंतुष्ट उषस्त ने स्पष्टीकरण माँगा 'कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः?' कि 'सर्वान्तर' से किसे कहा जा रहा है? इस प्रश्न में एक भाव तो था ही कि विस्तार सुनाने में याज्ञवल्क्य गड़बड़ा सकता है, दूसरा यह भी मान सकते हैं कि स्वयं ब्रह्मनिष्ठ होने से उषस्त ब्रह्मचर्चा में रुचि रखते थे एवं याज्ञवल्क्य जैसे प्रसिद्ध सूर्यशिष्यसे इस बारे में सुनना तथा सभा में सभी को सुनवाना चाहते थे। इसी प्रश्न को समझाते हैं **याज्ञवल्क्य ने तो यों (सभी के) स्वानुभव से सिद्ध वस्तु को सब के अन्दर कहा पर दूसरा (उषस्त) इस बारे में संशय उपस्थित कर स्पष्टतार्थ पूछता है (क्योंकि) जीतना चाहता है।६६।। 'तुम्हारा आत्मा' यह याज्ञवल्क्य ने जो उत्तर दिया; इसमें (प्रश्न है कि) मेरा आत्मा तीन तरह से प्रतीत हो रहा है : स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, साक्षी (तीनों को ही हम आत्मा समझते हैं)। इनमें से उत्तर में कथित सर्वान्तर है कौन?।।६७।। छोटे जो स्थूल-सूक्ष्म शरीर, उन्हें सर्वान्तर सिद्ध कर पाना कठिन है और इनसे अन्य साक्षी, जो प्रमाणविषय की कोटि का है ही नहीं, उसके होने में प्रमाण क्या हो सकता है!।।६८।।** याज्ञवल्क्य का उत्तर अनुभव-आधारित था, स्वयं का भी तथा उषस्त आदि अभिज्ञों का भी एवं मूलभूत रूप से सभी का। लेकिन 'आत्मा' शब्द क्योंकि कई चीज़ों का बोधक है इसलिये उषस्त ने ज़रूरी समझा पता लगाना कि याज्ञवल्क्य किसकी चर्चा कर रहे हैं। जैसे ब्रह्माजी का उपदेश इन्द्र-विरोचन को समझ नहीं आया पर शब्द याद रहे ऐसे ही कहीं याज्ञवल्क्य शब्दज्ञानी ही तो नहीं?यह भी संशय हो सकता था। सभा सर्वोत्तम ब्रह्मवेत्ता के निर्धारण की थी अतः योग्य का निर्धारण हो यह सभी की अभिलाषा होना उचित ही था। उषस्त स्वयं जिगीषु अर्थात् जयेच्छु होने से ही पूछने में प्रवृत्त हुआ था यह स्पष्ट ही है। याज्ञवल्क्य ने 'ते' (तुम्हारा) कहा, अतः जो कुछ

मेरा आत्मा कहा-समझा जा सकता है उस सबको या उसमें से किसी को सर्वान्तर कहा हो यह उचित है अत : प्रश्न उठाना संगत है। 'मैं देवदत्त, ब्राह्मण' आदि व्यवहार शरीर को 'मैं' (आत्मा) समझकर होता है। 'मैं सुखी, दुःखी' आदि मन (सूक्ष्म शरीर) को आत्मा समझकर व्यवहार है। ऐसे ही द्रष्टा, वक्ता, भूखा आदि भी सूक्ष्म को आत्मा मानकर व्यवहार है। किं च जो शरीर के और सूक्ष्म शरीर के विभिन्न भेदों को पहचानने समझने वाला अर्थात् साक्षी तत्त्व है उसे भी आत्मा समझते हैं तभी कहते है 'जो मैं बच्चा था वही बुड्ढा हो गया' या 'जो मैं कामनादि-ग्रस्त था वही अब विरक्त हो गया' आदि। स्थूल-सूक्ष्म शरीर तो बदल गये, जो नहीं बदला वह उनसे अन्य साक्षिरूप आत्मा ही सम्भव है। इन तीन आत्मा कहलाने वाली चीज़ों में से जो स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर हैं उन्हें सर्वान्तर कहना बनता ही नहीं : स्थूल तो बाह्य ही है, आन्तर ही नहीं तो सर्वान्तर कैसे होगा! सूक्ष्म भी 'ते' तुम्हारा यों कहा गया तो व्यष्टि ही विवक्षित होगा और वह एक स्थूल के भीतर हो भी गया पर सबके भीतर तो हो नहीं सकता। सब क्योंकि अतिविस्तृत क्षेत्र कहा जाता है अतः किसी स्वल्प को सबके भीतर समझना संभव नहीं होता। यद्यपि बड़े में छोटा हो तो सकता ही है तथापि यदि दस मन अनाज के बर्त्तन में एक दाना राई पड़ी हो तो 'बर्तन में राई रखी है' कहना उचित नहीं वैसे अतिस्वल्प को सर्वान्तर कहना भी अनुचित है। यों तीन आत्माओं में से दो जब सर्वान्तर नहीं तब बचा साक्षी, लेकिन वह प्रमाणों का विषय न होने से याज्ञवल्क्य उसे सिद्ध कैसे करेगायह उषस्त को कुतूहल था। आत्मरूप समझने स्वीकारने में सदा यही कठिनाई है कि शरीर-मन वाला तो खुद को महसूस कर सकते हैं, प्रमाणों से इनका निर्धारण कर सकते हैं, साक्षी 'को' न महसूस कर सकते हैं, न प्रमाण उस 'को' निर्धारित कर सकते हैं। वह तो जानने वाला है अतः उसे कैसे जाना जाये! जैसे नमक खारा *किया* नहीं जा सकता, चीनी मीठी *की* नहीं जा सकती, ऐसे आत्मा ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता, जाना नहीं जा सकता। यों प्रमाणविषय बिना बना आत्मा ही अंगीकार्य होने से उसे समझना अतिकठिन है। अतः याज्ञवल्क्य ने 'एष ते' से कहा था कि क्योंकि तुमने स्वयं 'साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म आत्मा सर्वान्तर' का ज़िक्र उठाया अतः उसे तुम जान ही रहे हो, उसके बारे में मुझे इतना ही 'व्याख्यान' करना है कि वही उक्त विशेषताओं वाला है जिसे तुम अपना स्वरूप समझ रहे हो। लेकिन उषस्त ने पृष्ट-परामर्शी 'एष ते' न मानकर आत्मशब्द के रूढ अर्थों में से कोई विवक्षित है यह समझकर प्रश्न किया।।६६-८।

इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति

एवं पृष्टः स्वानुभूतौ वादिनोऽनधिकारिताम् ।
मत्वाऽनुमानतः सत्तामात्मनः प्रत्यपादयत् ।।९९ ।।
स्वप्रभे माननैष्फल्याद् अप्रमेयत्वमिष्यते ।
वादिभ्रान्तिनिवृत्त्यर्थं मानोक्तौ हीयतेऽत्र किम् ।।१०० ।।

स..यो व्यानेन व्यानिति...य उदानेनोदानिति...एष त आत्मा सर्वान्तरः' अर्थात् प्राणापानादि से प्राणन-अपानन आदि चेष्टाएँ करने वाला स्वतो भासमान प्रत्यक् ही सर्वान्तर आत्मा है। इस उत्तर का वर्णन करते हैं **यों पूछे गये याज्ञवल्क्य ने यह विचार कर कि स्वानुभूति के बारे में वह नहीं समझ सकता जो जयेच्छुक होकर वार्त्ता कर रहा है, अनुमान से आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन किया।।९९।।** अनुभूति स्वीकार्य होती है पर आधारभूत ढंग से न शब्दों से पूरी-पूरी कही जा सकती है और न किसी ग़ैर जानकार को ठीक-ठीक समझ आ सकती है। अतः एक बार याज्ञवल्क्य ने उल्लेख से इशारा तो किया लेकिन उसके बारे में पुनः प्रश्न होने पर अनुभूतिका स्तर छोड़कर अनुमान के ढंग से समझाया। यहाँ उषस्त के अनधिकार में तात्पर्य नहीं वरन् आत्मा के स्पष्टीकरण के ही अभिप्राय से प्रश्न-उत्तर है। यद्यपि अन्ततोगत्वा आत्मा स्वानुभवरूप से ही सिद्ध है तथापि उसे युक्ति से उपपन्न किया जा सकता भी है एवं उसके बारे में कोई भ्रम न रहे इसके लिये उपपन्न करना आवश्यक भी है। आत्मा के बारे में अनुमान प्रमाण नहीं कह रहे वरन् उसके होने का प्रतिपादन अनुमान से कर रहे हैं अतः उसमें प्रमेयता की आपत्ति नहीं है।।९९।।

उक्त आपत्तिराहित्य स्पष्ट करते हैं **स्वयम्प्रकाश वस्तु के बारे में प्रमाण किसी फल वाला न होने से उसे अप्रमेय स्वीकारा जाता है लेकिन वादियों के भ्रमों को मिटाने के लिये प्रमाण कह देने से आत्मा का बिगड़ता क्या है!।।१००।।** अज्ञात को ज्ञात बनाना प्रमाण का फल है अतः जो कभी अज्ञात है ही नहीं उसके बारे में प्रमाण प्रवृत्त हुआ भी व्यर्थ-सा है। जो हमेशा पता है उसी के बारे बताने वाला प्रमाण कहलाने के भी योग्य नहीं। फिर भी उस स्वप्रकाश वस्तु के बारे में लोगों को अनेक भ्रम होते ही हैं। यहाँ तक कि वह है ही नहींऐसा भ्रम भी अनात्मवादियों का है। वह चिद्रूप, आनन्दरूप नहींयह तार्किकादि का भ्रम है। और भी बहुत-से भ्रम प्रसिद्ध हैं। प्रमाण यह कार्य कर सकते हैं कि उन भ्रमों को मिटायें। जैसे सामने रस्सी है, आँख से वही दीख रही है पर किसी को वह साँप लगी रही है तो दूसरा समझाता है कि 'साँप होता तो हिलता डुलता, नहीं हिल-डुल रहा है अतः साँप नहीं रस्सी है'।

प्राणादिकरणैश्चेष्टा कर्तृपूर्वा क्रियात्वतः।
छिदिक्रियावत् कर्तृत्वं न युक्तं देहलिंगयोः।।१०१।।
करणप्रेरकः कर्ता करणैः प्रेर्यते वपुः।
लिंगं तु करणात्मत्वान्नैव कर्तृत्वमर्हति।।१०२।।

इस अनुमानसे रस्सी सिद्ध नहीं हो रही, वह तो प्रत्यक्ष है ही, केवल उसके बारे में भ्रम मिट रहा है। राधेय को 'कौन्तेय हो' ऐसा उपदेश उसके स्वरूप के लिये नहीं वरन् राधेयता के भ्रम की निवृत्ति के लिये था। इसी तरह आत्मा के बारे में भ्रान्तियाँ मिटाना प्रमाणों का प्रयोजन है। वर्त्तमान काल में भी आत्मस्वरूप सही-सही न समझने वाले ही अधिक हैं अतः अनुमानों से उन्हें निर्भ्रान्त करना अनिवार्य है तभी शास्त्रसमर्पित आत्मा अंगीकार हो पायेगा। इसलिये आत्मा की अप्रमेयता के अनुरोध से उसके बारे में प्रमाणों के अनुसन्धान से डरना व्यर्थ है, प्रमाण का मुख्य फल न होने पर भी गौण फल भ्रमनिवृत्ति है ही। आवरण को भी एक भ्रम ही मानकर उसकी निवृत्ति प्रमाणफल होना उचित है। वस्तुतः बिना हुए प्रतीतियह भ्रमरूपता आवरण में है ही।।१००।।

याज्ञवल्क्य द्वारा कहे प्रमाणों का वर्णन करते हैं**प्राण आदि साधनों से होने वाली चेष्टा (यत्न) क्योंकि क्रिया है इसलिये अवश्य उसका उत्पादक कोई कर्त्ता है जैसे लकड़ी काटने की क्रिया। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का कर्त्ता होना उपपन्न नहीं।।१०१।। कर्त्ता वह होता है जो करणों (साधनों) का प्रेरक (प्रयोग में लेने वाला) हो जबकि स्थूल शरीर करणों से (इंद्रियादि से) स्वयं प्रेरित होता है (अतः कर्त्ता नहीं)। सूक्ष्म शरीर तो खुद करणरूप है अतः कर्त्ता नहीं ही हो सकता।।१०२।।** हाथ, आँख, श्वास आदि की क्रियाओं से ही देहादि में कर्त्ता-रूप आत्मा की अवस्थिति समझी जाती है। सामान्य नियम है कि करण अर्थात् साधन को कोई प्रेरित करेगा, काम में लेगा, तभी व्यवस्थित सफल क्रिया होगी। आधुनिक नास्तिक यद्यपि छोटे-मोटे सब कार्यों में सकर्तृकता मानते हैंचोरी हो जाये तो मानते हैं कि ज़रूर कोई जीता-जागता चोर किसी तरह घुसकर ले गया इत्यादि, तथापि समस्त सृष्टि के जन्मादि के प्रति सच्चिदानन्द परमेश्वर को कर्त्ता मानना नहीं चाहते! यह उनकी अयुक्तिसंगत विचारधारा ही उनका दौर्भाग्य है। आत्मा-शब्द से शरीर और लिंग (सूक्ष्मशरीर) दोनों कहे भले ही जायें लेकिन इन्हें कर्त्ता नहीं समझ सकते क्योंकि स्थूल करणों द्वारा प्रेरित है, और सूक्ष्म खुद ही करणरूप है।

मुखसंचारिणा जाग्रद्यः प्राणेनानितीक्षिता ।
सर्वप्रत्यक्तमः सोऽयमात्मा सर्वान्तरावधिः ।।१०३।।

करण जैसे पेड़ काटने में करण कुल्हाड़ी, उसे लकड़हारा-रूप कर्त्ता चलायेगा तभी पेड़ कटनारूप कार्य होगा। कुल्हाड़ी खुद ही चल जायेयह नहीं होता। ऐसे ही सूक्ष्म शरीर कर्त्ता भी होयह संभव नहीं। इस प्रकार आत्मा-शब्द से कहे तीन में से दो तो आत्मा-शब्द का मुख्य अर्थ नहीं हो सकते क्योंकि लोक में आत्मा कर्त्तारूप से पहचाना जाता है एवं उक्त दोनों कर्त्ता हैं नहीं।।१०१-२।।

याज्ञवल्क्य के उत्तर का मुख्य भाव समझा चुके, अब उत्तर व्यक्त करते हैं **जो (ईक्षिता=) जानकार (=साक्षी) जगते हुए प्राणों से श्वास-प्रश्वास आदि करता है, भीतर होने वालों की सीमा वह सर्वाधिक प्रत्यक् यह अपरोक्ष वस्तु आत्मा है।।१०३।।** श्वासादि प्राणन क्रिया यद्यपि हमें स्वाभाविक लगती है, हमारी किसी चेष्टा से होती नहीं लगती, तथापि इसमें चेतन की हेतुता अवश्य है। पानी में डूबने आदि की परिस्थिति में अनुभव होता है कि हम कितना प्रयास करते हैं साँस लेने के लिये। इसी तरह मरणासन्न अपनी आसक्ति-विशेष से प्राणान्त को मानो टालता है; जिस पुत्रादि को मिलना चाहता है उसके आते ही मर भी जाता है। इस सब से सूचित होता है कि प्राणों का चलना भी कर्त्ता से प्रेरित ही है। यह प्रेरक आत्मा 'सर्वान्तरावधिः' है अर्थात् शरीर के भीतर से भीतर जो है, उस सबके यह भीतर है। शरीर में प्राण मन बुद्धि प्रसिद्ध हैं, उस बुद्धि के भी भीतर आत्मा है। इसीलिये यह सबसे ज़्यादा प्रत्यक् है। विषयरूप से कभी न भासने वाला किन्तु सदा भासमान तत्त्व प्रत्यक् कहलाता है। आत्मा ऐसा ही है, इसे 'यह'यों घड़े आदि की तरह कभी अनुभव नहीं करते लेकिन एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जब आत्मा अनुभूयमान न हो! ईक्षिता अर्थात् ईक्षण करने वाला। ईक्षण से ज्ञान, विचार कहा जाता है। स्वरूप से साक्षी ज्ञान है लेकिन वही उपाधि अंगीकार कर ज्ञान को 'करने वाला' भी बनता ही है। प्रमाता कोई और नहीं, साक्षी ही है; वास्तव में साक्षी रहते हुए भी अज्ञानवश प्रमाता प्रतीत हो रहा है। प्राणनादि के प्रति कर्त्ता यद्यपि प्रमातृरूप से होगा तथापि होगा तो वही जो सर्वान्तर आत्मा है, यह तात्पर्य है।।१०३।।

जाग्रत् में आत्मसिद्धि कर अब अन्य अवस्थाओं में उसे उपपन्न करते हैं **इन्द्रियाँ सो जाने पर भी जिसकी शक्ति का लोप नहीं होता, जो जगा रहता है इसलिये (सपने में) सारे नाम-रूप देखते हुए वायु से साँस लेता है (वह सर्वान्तर आत्मा**

सुप्तेऽस्मिन् करणग्रामे योऽसुप्तोऽलुप्तदृष्टिकः ।
अथ सर्वान्नामरूपान् पश्यन् प्राणिति वायुना ।।१०४ ।।[1]
स्पष्टेषु बहुलिंगेषु मानाभावमचूचुदः ।
इत्युपालब्धये लिंगान्यपानादीन्युदाहरत् ।।१०५ ।।
एकादशेन्द्रियोत्पन्नचेष्टानामुपलक्षणम् ।
प्राणाद्युदाहृतिस्तेन लिंगानां बहुता स्फुटा ।।१०६ ।।

है)।।१०४।। (मृत्तुशास्त्रीधृत सारानुसारी पाठ में 'वह सारे वासना-रूपों को देखते हुए'यह उत्तरार्ध में अर्थ है।) स्वप्न में इंद्रियाँ तो उपरत हो चुकती हैं फिर भी वासनाजन्य नाम-रूप उपलब्ध जिसकी शक्ति से होते हैं, अपनी शक्ति से उन्हें ग्रहण करने वाला आत्मा ही है। उसकी जानने की और प्रेरणा करने की शक्ति कहीं जाती नहीं, सिर्फ़ साधन लुप्त, सुप्त रहते हैं अतः कोई कार्य उनसे नहीं हो पाता। उन साधनों के बिना जो हो सकता है वह तो होता ही रहता है, शरीर के विविध तन्त्र (पाचन तन्त्र, रक्तसंचार तन्त्र आदि) चलते ही रहते हैं, सपना आये तो दीखता सुनायी देता भी रहता है। सपने में जो अनुभव होते हैं उनमें हेतु बनती है हमारी वासनाएँ, हमारे संस्कार। बहुधा लगता है कि जो दीखा वह पूर्वानुभूत नहीं तो उसके संस्कार कैसे हैं, लेकिन विभिन्न अनुभवों से उपलब्ध संस्कारों का मेल-जोल हम सपने में कर लेते हैं जिससे नवीनता प्रतीत होती है। रूप कहीं का, नाम कहीं का, गंध कहीं कीइन्हें सपने में जोड़ लेने से लगता है कुछ नया दीखा। अतः सपने की चीज़ों के प्रति जीव को 'कर्त्ता' श्रुति में कहा गया है। बाह्येन्द्रियाँ लुप्त होने पर स्वप्न के दौरान तथा मन भी लुप्त होने पर सुषुप्ति के दौरान प्राण (श्वास-निश्वास आदि देहरक्षक प्रक्रियाएँ) तो आजीवन चलता रहता है अतः आत्मा वायु के सहारे प्राणन-क्रिया करता रहता है।।१०३-४।।

आत्म-प्रबोधन उक्त 'यः प्राणेन प्राणिति' से ही हो गया, अपाननादिका भी वह कर्त्ता है यह क्यों कहा? इसका उत्तर बताते हैं(**आत्मसिद्धि के लिये) बहुतेरे स्पष्ट चिह्नों के रहते (श्लोक. ९८ में) 'उसके बारे में प्रमाण नहीं है'ऐसा जो उषस्त ने सम्भावित किया था, उस पर उसे उल्हाना देने के लिये अपान आदि लिंग (चिह्न) (याज्ञवल्क्य ने) कहे।।१०५।। प्राणादि का उल्लेख ग्यारहों इन्द्रियों के संग्रह के लिये है अतः चिह्न बहुत-से हैं यह बात स्पष्ट है।।१०६।।** विभिन्न

---

[1] सर्वान् सवासनारूपान्इति सारपाठः।

प्राणादिकार्यकरणैः स्वतोऽसंहत एकलः ।
अकुर्वन् कुरुते चेष्टामयस्कान्तो मणिर्यथा ।।१०७ ।।

चेष्टाओं के कर्तृत्व भी विभिन्न मानकर अनेक अनुमान आत्मसिद्धि में उपन्यस्त हैं। त्वम्पदार्थ का इसी ढंग से विवेचन किया जाता है। वाच्य देहादि के आधार पर उसके प्रेरक को, फिर साक्षी को समझा जाता है। इसी से 'प्राक् प्रमातृत्वम्' और 'पाप्मदोषादिवर्जित' ऐसा सुन्दरपाण्ड्यकारिका द्वारा सूत्रभाष्य में समझाया है। एक-दो चेष्टाएँ भी कहते तो आयुर्विज्ञानादि नाना शास्त्रों में उनके प्रति कोई-न-कोई वैकल्पिक हेतु उपस्थित हो जाता, लेकिन जब यों अनेक चेष्टाएँ बतायीं जिन सबके बारे में एक ही प्रत्यभिज्ञा भी है, तब आत्मा से अन्य को हेतु मान पाना संभव नहीं रहा। इसीलिये जडवादी भी निरस्त होते हैं, आत्मा है ही नहीं ऐसा मानने वाले इन सब चेष्टाओं के प्रति किसी एक हेतु को उपस्थापित कर ही नहीं सकते। स्वप्न में रूप रसादि की प्रतीति निश्चित ही इन्द्रियद्वारक नहीं किंतु प्रतीति है अवश्य, अतः उसका हेतु इन्द्रियाँ नहीं ही हैं तो कौन है जो जाग्रत् में भी रूपादि-प्रतीतियों का वैसा ही हेतु है? इसका अनात्मवाद में आज तक उत्तर नहीं। आगे सुषुप्ति के आनन्द का कौन अनुभव करता हैयह भी अनात्मवादियों के लिये पहेली ही रहती है। श्लोक १०४ स्वप्नसाक्षी को स्पष्ट करता है। अथवा, प्रथमार्ध से सुषुप्ति-साक्षी और द्वितीयार्ध से स्वप्नसाक्षी का स्पष्टीकरण समझना चाहिये। पण्डित कृपालु ने वार्तिकसार व्याख्या में यह विभाजन माना है (३.४. श्लोक. ४०)। अनेक चिह्न उलाहने के लिये इस तरह कि यद्यपि शुद्ध, निर्विशेष, निरुपाधि आत्मा अप्रमेय है, अनुमान का भी विषय नहीं, तथापि स्थूल-सूक्ष्म शरीर आत्मा नहीं हैयह तो प्रमेय है ही, अनुमान से सिद्ध होता ही है। उषस्त को अप्रमेय में प्रमाण की जिज्ञासा अयोग्य है, जहाँ प्रमाण मिल सकता है वहीं वह पूछा जाना उचित होता है। अतः याज्ञवल्क्य देहद्वय की प्रेरणा को आत्मसिद्धि में चिह्न बता रहे हैं। सोपाधि आत्मा (प्रमाता) तो इन अनुमानों से अवश्य सिद्ध होता है। याज्ञवल्क्य के प्रथम संक्षिप्त उत्तर पर 'कतमः?' पूछना भी उषस्त का उपालंभ ही था कि 'मेरे गंभीर प्रश्न का यह क्या उत्तर दिया!' अतः याज्ञवल्क्य ने भी उपालम्भ दिया कि 'ऐसी स्पष्ट वस्तु के बारे में तुमने पूछा, यह भी क्या प्रश्न है!' अनेक उपाधियों वालाइस ढंग से समझते ही स्पष्ट होता है कि वह उपाधियों से अलग, निरुपाधि है। इसीलिये अवाङ्मनसगोचर का वाक् से वर्णन और मन से ग्रहण सम्भव हो जाता है।।१०५-६ ।।

आत्मा को कर्त्ता कहते ही विकारिता प्राप्त होने से स्पष्टीकरण देते हैं **आत्मा**

रथादौ नियता चेष्टा चेतनेनानधिष्ठिते।
न दृष्टा चेतनस्तेन प्राणादीनां प्रवर्तकः।।१०८।।

खुद संघात से परे, अकेला रहते हुए, कुछ न करते हुए भी प्राणादि कार्यों व करणों से चेष्टा करता है जैसे चुम्बक।।१०७।। क्रिया दो तरह कीएक वह जो किसी साधन के प्रयोग से हो; दूसरी वह जिसके लिये 'कर्त्ता' कुछ करता नहीं! ऐसी क्रिया होना अनिवार्य भी है अन्यथा कोई क्रिया सम्भव नहीं रहेगी : कर्त्ता करण से क्रिया करता है। लकड़हारा कुल्हाड़ी से पेड़ काटता है। लेकिन कुल्हाड़ी चलाने के लिये हाथ से उसे पकड़ कर ऊपर-नीचे करता है अतः हाथ साधन हुआ। आगे, हाथ चलाने के लिये स्नायु आदि का प्रयोग करता है, वे साधन हुए। किंतु उनसे किस साधन द्वारा करता है? यदि कोई साधन हो भी तो फिर वही कठिनाई कि उससे क्रिया करने में क्या साधन? अर्थात् अनवस्था नामक दोष होगा जिसका भाव है कि यह नियम अमान्य है कि कर्त्ता कुछ करे तभी क्रिया हो। कोई-न-कोई ऐसी क्रिया माननी अनिवार्य है जिसके लिये कर्त्ता को कुछ करना न पड़े, उसका होना ही पर्याप्त हो। एवं चुम्बक-संनिधि में होने वाली लोहे की क्रिया ऐसी प्रसिद्ध उदाहरण है। चुम्बक करता तो कुछ नहीं, फिर भी लोहे के हिलने आदि में कारण वही है। क्योंकि कुछ करके अर्थात् किसी साधन के उपयोग से कर्त्ता नहीं बनता इसलिये चुम्बक की वह करण-रहित ही क्रिया है। जैसे बिना कुछ किये चुम्बक करने वाला बनता है वैसे परमात्मा भी न करते हुए ही करता है। समग्र जड-चेतन जगत् जो कुछ कर रहा है उसमें मूल हेतु परमात्मा है, हालाँकि स्वयं वह कर कुछ नहीं रहा। उससे जितना हमारा भेदभाव घटता है उतनी हमारी भी बिना किये करने की सामर्थ्य विकसित होती है। अविद्या का पर्दा जितना हल्का होता है, द्वैतभाव उतना ही कम होता है। सर्वथा अविद्या मिटने पर ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है। यह सामर्थ्यवर्द्धन सविशेष स्तर पर नहीं समझना चाहिये क्योंकि वह शक्ति उपाधि की है, उसमें ईश्वर की चेष्टा है, जबकि यहाँ चेष्टारहित कर्त्तापने की चर्चा है। चुम्बक का प्रभाव आस-पास के लोहे पर होता है, लोहे के बिना नहीं, इस प्रकार उपाधि रहते आत्मा की यह सामर्थ्य व्यक्त होती है, उपाधि बाधित हो जाने पर नहीं। इस तरह आत्मा की वास्तविक अकर्तृता, क्रियारहितता रहती है।।१०७।।

चुम्बक-समानता से आत्मा में जडता न प्राप्त हो इसलिये अन्य उदाहरण देते हैं **रथ आदि की नियमित चेष्टा तब तक नहीं देखी जाती जब तक रथादि चेतन से**

ससूत्रदारुयंत्रेण सदृशं लिंगवद्वपुः ।
यः प्रेरयत्यसावात्मेत्युक्तेऽन्योपजहास तम् ।।१०९।।
यथा गां दर्शयेत्युक्ते लिंगं मूढो वदेत्तथा ।
आपरोक्ष्यमनुक्त्वा त्वं लिंगेनावेदयस्यहो ।।११०।।

अधिष्ठित न हों। इससे समझ आता है कि प्राणादि को प्रवृत्त करने वाला चेतन है।।१०८।। न्यायशास्त्र आत्मा है तो मान लेता है क्योंकि चुम्बक है तो लोहे की गति से पता चलता है लेकिन जैसे चुम्बक की चेतना पता नहीं चलती वैसे वह आत्मा को चिद्रूप नहीं मानता। रथादि दृष्टांतसे प्रेरक की चेतनता सिद्ध होती है। अव्यवस्थित या अनियत चेष्टा से अथवा सर्वथा एकरस चेष्टा से भले ही चेतन-पूर्वकता न सिद्ध हो लेकिन रथादि की चेष्टा से होती है; रथ रास्ते पर चलता है, भीड़ से बचता है, पीछे से आने वालों को रास्ता देता है, किसी खास स्थान पर पहुँचकर रुकता है इत्यादि से निर्णय है कि उस पर किसी चेतन का नियंत्रण है। प्राणादि संघात की सप्रयोजन, परस्पर एवं अन्यों से तालमेल वाली चेष्टाएँ संघात के चेतन नियंता में चिह्न हैं।।१०८।।

इस पर उषस्त-चाक्रायण बोला 'यथा विब्रूयाद् असौ गौरसवाश्व इति, एवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति। यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः, तं मे व्याचक्ष्व' (३.४.२) कि गाय-घोड़े की तरह उसे बताओ! उसका यह प्रश्न दिखाते हैं **'लिंगदेह से जुड़ा शरीर धागों से जुड़ी कठपुतलियों की तरह है, इसे जो प्रेरित करता है वह आत्मा है' ऐसा कहा जाने पर उषस्त ने याज्ञवल्क्य की हँसी उड़ायी : जैसे 'गाय दिखाओ' कहने पर कोई मूर्ख गायका कोई चिह्न सुनाये ऐसे आत्मा का अपरोक्ष उल्लेख न कर तुम चिह्न से बता रहे हो, यह अचम्भे की बात है!।।१०९-१०।।** चाक्रायण का भाव है कि वस्तु अपरोक्ष है तो उसका उल्लेख भी साक्षात् होना चाहिये जैसे उपस्थित गाय को अंगुल्या निर्देश से दिखाया जा सकने पर केवल उसके चिह्नों का कथन बुद्धिमानी नहीं वैसे अपरोक्ष आत्मा का चिह्न-प्रदर्शन से वर्णन बुद्धिमानी नहीं।।१०९-१०।।

उषस्त ने 'यदेव' यों एव-शब्द के प्रयोग से क्या बताया यह कहते हैं **जो अर्थ परोक्ष हो उसके बारे में चिह्न बताना उचित है किंतु आत्मा परोक्ष है नहीं यह मानकर आत्मा की परोक्षता के निषेधक 'एव' शब्द का प्रयोग किया।।१११।।** एव का मतलब 'ही' होता है जिससे समझ आता है कि जिसका उल्लेख

लिंगं वाच्यं परोक्षेऽर्थे न त्वात्मनि परोक्षता।
इति मत्वाऽऽहैवकारं पारोक्ष्यस्य निवर्तकम्।।१११।।
मुख्यापरोक्ष्यमुक्तं त इति दर्शयितुं पुनः।
प्रत्यग्दृष्टिपरं वाक्यमुत्तरत्वेन वक्त्यसौ।।११२।।

है उससे अन्यों का निषेध किया जा रहा है। 'देवदत्त को ही भोजन कराओ' मायने उसके साथ आये अन्यों को मत कराओ या अन्यों के बारे में जो मर्ज़ी करो, देवदत्त को अवश्य कराओ। उषस्त कहता है, जो आत्मा साक्षात् ही है, जिसमें परोक्षता असंभव है, उसे परोक्षरीति से क्यों बता रहे हो? संमुख स्थित व्यक्ति का सीधा परिचय न देकर उसके चिह्नों को क्यों कहना? एवकार का यहाँ यह भाव विद्यारण्य स्वामी ने ही प्रकट किया है। याज्ञवल्क्य ने परोक्षता का तो कथन नहीं किया था लेकिन बताने का ढंग वैसा था अतः चाक्रायण स्पष्टीकरण माँग रहे हैं।।१११।।

याज्ञवल्क्य ने यही जवाब दिया 'एष त आत्मा सर्वान्तरः'। उनका अभिप्राय है कि प्रत्यक्ष वस्तु को किसी तरह भी कहें, उसकी अपरोक्षता में क्या क्षति होनी है! जैसे शब्द से, वैसे अनुमान से भी अपरोक्ष बोध हो तो क्या हानि है? किंच अपरोक्ष होने से ही वह अविषय भी हैयह भी तो उसके वर्णन से व्यक्त होना चाहिये। यदि गाय-घोड़े की तरह कहें तो विषयता का भ्रम सहज होगा, इसलिये जैसा पहले जवाब दिया वैसे ही देना ठीक है यह अपनी दृढता दिखाते हुए उन्होंने उसे दुहरा दिया, यह समझाते हैं **तुम्हें मुख्य अपरोक्षता ही बतायी थीयह दिखाने के लिये प्रत्यक्तत्त्व की ओर दृष्टि ले जाने वाले वाक्य को उत्तर के रूप में याज्ञवल्क्य ने फिर से कहा।।११२।।** घटादि भी अपरोक्ष कहे जाते हैं लेकिन इसलिये कि आत्मा से एक होते हैं। प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावरूप प्रमात्रभेद को विषय का अपरोक्ष होना वेदान्तपरिभाषादि में समझाया ही है। अतः मुख्य अर्थात् किसी और पर निर्भर न रहने वाली अपरोक्षता तो आत्मा की ही है। उसी को बताने के लिये 'तुम्हारा यह आत्मा' यों कहा था कि अपने निज स्वरूप को समझो। अपरोक्ष क्योंकि प्रत्यक् ही है और प्रत्यक्ता का किसी अन्य को बोध कराने के लिये उसे उसी की ओर उन्मुख करना पड़ता है इसलिये 'तुम्हारा आत्मा'यही बताने का सही ढंग है। अत एव इसे दुहरा दिया।।११२।।

चाक्रायण ने फिर 'कतमो याज्ञवल्क्य?' पूछा, इसमें हेतु स्पष्ट करते हैं **जानकर की भाषा बिना समझे रूपवान् आदि की तरह आत्मा में भी इंद्रियजन्य**

विद्वद्भाषामबुध्वाऽन्यः सरूपादिष्विवात्मनि।
अक्षजन्यापरोक्षत्वं मत्वाऽपृच्छत् पुरेव तम्।।११३।।

अपरोक्षता मानकर पहले की तरह चाक्रायण ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि देखे, सुने, विचारित और ज्ञातइनमें से सर्वान्तर तो कौन है?।।११३   +१/२) विद्वान् अर्थात् जानकार के शब्द-प्रयोग से ठीक ज्ञान भी जानकार को ही होगायह विडम्बना-सी है! जानकार प्रायः तो उसी को सुनायेगा जो ग़ैरजानकार है और वह सर्वथा ठीक समझ पाये यह संभव नहीं क्योंकि शब्द से पता वह लगता है जो थोड़ा-बहुत मालूम हो, सर्वथा अज्ञात को शब्द के सहारे ही समझें तो 'रेगिस्तान में ऊँट उड़ता है' सुनकर ऊँट कोई पक्षी है यह बोध हो जायेगा! उषस्त की भी यही समस्या रही। 'तेरा आत्मा' सुनकर शरीर-मन आदि ही उसे ध्यान में आये अतः इनमें से सर्वान्तर कौनयह उसका प्रश्न उठा। क्योंकि ये बहुतेरे हैं और ये सबको मालूम है जबकि शास्त्र में ब्रह्मज्ञान दुलर्भ कहा है तो इन्हीं का ज्ञान ब्रह्मज्ञान हो भी नहीं सकता। अपरोक्ष शब्द से वह इन्द्रियों के विषय को ही जानता था अतः इसी ढंग के आत्मा की जिज्ञासा की। अनेक लोग परमेश्वर का ऐसा ही दर्शन चाहते हैं, न मिले तो मान लेते हैं कि ईश्वर है ही नहीं! जिसने बनावटी मोती ही देखे हैं, उन्हीं को मोती समझता है, उसके सामने बसरे के असली मोती रखे हों और कोई कहे 'इन मोतियों को देखो', तो वह पूछेगा 'मोती हैं कहाँ!' उसे वे मोती-रूप से पहचान में ही नहीं आयेंगे। इसी तरह ऐंद्रिय वस्तुओं को ही अपरोक्ष जानने वाले को अतीन्द्रिय अपरोक्ष हैयह समझ ही नहीं आता। अत एव विवेक से पदार्थ-शोधन पर इतना ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है। अस्मत्तत्त्व समझें तब परमात्मा समझमें आये, अन्यथा असंभव है। प्रत्यक् का अवगम संभव है पर विवेक से, अन्यथा नहीं क्योंकि मिलता वह सोपाधि ही है, किंतु उपाधि की परिवर्तनशीलता और प्रत्यक् की स्थायिता के बल पर दोनों को अलग-अलग पहचाना जा सकता है । यद्यपि उषस्त को याज्ञवल्क्य पहले ही यह विवेकोपदेश दे सकते थे तथापि यहाँ वाद का प्रसंग था, शिष्यभाव से तो पूछा नहीं था, परीक्षा लेने को पूछा था, अतः यही आशा की जा सकती थी कि उषस्त भी आत्मा को समझे हुए था। किं च उषस्त यदि समझदार था तो इसलिये ऐसे पूछ रहा था ताकि याज्ञवल्क्य की योग्यता प्रकट हो कि अविषय अपरोक्ष को शब्दों में कैसे प्रकट करते हैं। याज्ञवल्क्य के दुबारा वही कहने पर चाक्रायण ने 'कतमः' से पूछा कि मेरा एक तो यह दीखने वाला (शरीर) आत्मा है, दूसरा सुना गया देहान्तर-सम्बन्धी सूक्ष्म शरीररूप आत्मा है, तीसरा विचारित अर्थात् न्याय-सांख्यादि तरीकों से सोचा गया कर्त्ता-भोक्ता

दृष्टश्रुतमतज्ञातेष्वेषु सर्वान्तरस्तु कः।
दृष्ट्याद्यगोचरः प्रत्यङ्ङिति प्रश्नमपाकरोत्।।११४।।
वेद्मीति यद्बलाद्वक्ति न वेद्मीति च यद्बलात्।
योगिनोऽनुभवन्त्येतमगोचरतयैव हि।।११५।।
उक्तवर्त्मातिरेकेण नात्मवस्तु घटादिवत्।
शक्यते प्रतिनिर्देष्टुं प्रमाणाऽगोचरत्वतः।।११६।।

आदिरूप आत्मा है और चौथा फिलहाल ज्ञात आत्मा है जो इन सबका मिला-जुला रूप है। अतः 'तुम्हारा आत्मा' तो कहा लेकिन मैं अपने कौन-से आत्मा को सर्वान्तर समझूँ?।।११३+१/२।।

इस पर याज्ञवल्क्य ने निषेधमुख का सहारा लिया 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' आदि, कि दृष्टि के देखने वाले को देख नहीं सकते, श्रुति के सुनने वाले को सुन नहीं सकते, मतिका मनन करने वाले को सोच नहीं सकते, विज्ञाति (जानकारी) के विज्ञाता (जानकार) का विज्ञान नहीं कर सकते। इस श्रुतिभाग का व्याख्यान करते हैं **(याज्ञवल्क्य ने) प्रश्न का निराकरण यह किया कि प्रत्यक् स्वरूप देखने आदि का विषय नहीं है।११४।। जिसके बल पर 'जानता हूँ' और 'नहीं जानता' दोनों बोले जाते हैं उस आत्मा का योगी अविषय रूप से ही अनुभव करते हैं।।११५।। जो तरीका अपनाया इससे अन्य किसी ढंग से आत्मरूप वस्तु का घड़े आदि की तरह प्रतिपादन नहीं किया जा सकता क्योंकि वह प्रमाण का अविषय है।।११६।।** दृष्ट, श्रुत आदि अर्थात् देखी सुनी आदि जाने वाली वस्तु आत्मा ही नहीं है अतः उनमें से कौन आत्मा है यह ढूँढना ही बेकार है। आत्मा दृष्टि आदि का विषय न होने के स्वभाव की वस्तु है। सर्वान्तर होने से विषयता असंभव है। तब शंका होती है कि ऐसी वस्तु अंगीकार ही क्यों की जाये? इस पर बताया कि विषयों को तो ज्ञान से जानते हैं पर विषयज्ञान को किससे जानते हैं? ऐसे ही विषय अज्ञात है यह किसे पता चलता है? जिससे ज्ञान (विषयानुभव) भी जाना जाता है और अज्ञान भी, वही आत्मा है। इसका अनुभव नहीं, ऐसी बात नहीं वरन् योगी अर्थात् निरुद्धचित्तगतिक साधक इसे अनुभव से जानते हैं यद्यपि अनुभव के विषय से अर्थात् अनुभव से पृथक् किसी रूप से नहीं जानते क्योंकि वैसी जानी जाये ऐसी यह वस्तु नहीं। अत एव द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थान को ही पतंजलि ने भी समाधि कहा है। प्रमाणों का भी प्रकाशक होने से निराकरण के अयोग्य फिर भी प्रमाणों का विषय नहीं है यह इसका महत्त्व है।।११४-६।।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां साक्षिणः स्वप्रभस्य तत् ।
प्रमाणागोचरत्वं तु वस्तुस्वाभाव्यतो भवेत् । ।११७ । ।
दृष्टेर्न पश्येद् द्रष्टारमिति प्रत्युत्तरं वचः ।
वक्त्यगोचरतामेतद् वाक्यं विव्रियते स्फुटम् । ।११८ । ।
चक्षुर्जन्यमनोवृत्तिश्चिद्युक्ता रूपभासिका ।
दृष्टिरित्युच्यते द्रष्टा दृष्टेः कर्तेति लौकिकैः । ।११९ । ।
अतो दृष्टिद्वयं वाक्ये भाति षष्ठ्यन्तशब्दतः ।
एका दृष्टिस्तृजन्तेन धातुनाऽन्येति तद्द्वयम् । ।१२० । ।

यद्यपि प्रमाणसिद्ध ही स्वीकार्य होता है तथापि जो वस्तु इसी स्वभाव की है कि विषय न होवे, उसे वैसा ही स्वीकारना अनिवार्य है यह स्पष्ट करते हैं **देखने वाला, देखना और दीखने वाला तीनों के स्वप्रकाश साक्षी में जो प्रमाणों की अविषयता है वह उसका (साक्षी का) स्वभाव ही है। ।११७। ।** तात्पर्य है कि प्रमाणाविषयता किसी प्रमाण पर निर्भर करे तो व्याघात होगा अतः वह स्वभावमात्र है किंतु प्रमाण-विषयता का निरास होने से वह स्वभाव भी स्वीकार है। देखने आदि का भी साक्षी होने से वह दीख आदि तो सकता नहीं पर मालूम अवश्य है अतः स्वप्रकाश ही है। जैसे रुई को लाल-पीला आदि रंगना पड़ता है, सफेद रंगना नहीं पड़ता! हालाँकि सफेद भी एक रंग है फिर भी रुई को सफेद नहीं रंगना पड़ता क्योंकि उसका स्वभाव सफेदी है। ऐसे ही बाकी चीज़ें प्रमाणसिद्ध होने पर स्वीकार होती हैं लेकिन आत्मा प्रमाणों का साक्षी होने से ही स्वीकार है यह इसका स्वाभाविक विशेष है। ।११७। ।

'दृष्टि के द्रष्टा को देख नहीं सकते' आदि में दृश आदि धातुओं का दो-दो बार प्रयोग हुआ'दृष्टिके' में एक बार और 'द्रष्टाको' में दूसरी बार; ऐसे ही 'श्रुतेः श्रोतारम्' आदि में हैअतः इन वाक्यों का अभिप्राय व्याख्यापेक्ष होने से समझाते हैं' **दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते' यह याज्ञवल्क्य का जवाब है। यह वाक्य आत्मा की अविषयता बताता है। इसे स्पष्टकर बताते हैं :। ।११८। । चक्षु की सहायता से पैदा होने वाली, रूप का भान कराने वाली चेतनसंवलित मनोवृत्ति 'दृष्टि' कही जाती है एवं लोगों द्वारा दृष्टि का कर्त्ता द्रष्टा कहा जाता है। ।११९। । इस तरह वाक्य में दो दृष्टियाँ प्रतीत होती हैंएक षष्ठीविभक्ति वाले (दृष्टि का) शब्द से कही गयी, दूसरी तृच्प्रत्यययुक्त धातु (द्रष्टा इस शब्द) से। ।१२०। । रूपविषयिणी चक्षुर्जन्य वृत्ति प्रमाता की उत्पन्न होती है, उससे रूप दीखता है न कि**

प्रमातुर्जायते वृत्तिश्चक्षुषा रूपरंजिता।
द्रष्टव्यं तु तया रूपं न साक्षी दृश्यते तया।।१२१।।
दृष्टेर्द्रष्टारमात्मानं दृष्ट्या पश्येन्न दृश्यया।
इति वाक्यं मुनिर्वक्ति वर्णितं न्यायगर्भितम्।।१२२।।

साक्षी।।१२१।। इसलिये यह युक्तियुक्त वाक्य याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि दृश्यभूत दृष्टि से उस आत्मा को नहीं देख सकते जो उस दृष्टि को भी देखता है।।१२२।। जैसे सबका प्रकाशक सूर्य किसी रोशनी से नहीं दीखने पर भी अस्वीकार नहीं वैसे आत्मा अस्वीकार नहीं हो सकता। रमण महर्षि ने 'कौन मरता है' इस पर चिंतन करके ही 'कौन' के अर्थभूत 'मैं' को मरणातीत जाना था। इसी आत्मा को यहाँ समझा रहे हैं। याज्ञवल्क्य ने दृष्टि और द्रष्टा शब्द कहे जिनका भाव विषयज्ञान और उस ज्ञान को अपना समझने वाला हैं। दृष्टि-श्रुति आदि हैं सब मनोवृत्तियाँ लेकिन जिस-जिस इंद्रिय की सहायता से पैदा होती हैं उस-उसके विषय को ग्रहण करती हैं अतः इंद्रियरूप निमित्त के भेद से इनमें भेद है, उपादान मन एक ही है। मन जड़ होनेसे विषय-प्रकाशन में तभी समर्थ होता है जब चेतन से युक्त हो अर्थात् चेतन से उसमें तादात्म्य हो। यह बंधदशा में मिथ्या और जीवन्मुक्तिदशा में गौण होता है यह बात अलग है। यद्यपि वृत्ति की चिद्युक्तता अनिवार्य है (जैसे घट की मृद्युक्तता अनिवार्य है) तथापि वृत्ति और चित् में अंतर पहचाना जाये इसलिये चिद्युक्तता का उल्लेख किया जाता है। शास्त्र में क्वचित् आत्मस्वरूप को भी दृष्टि कह देते हैं लेकिन लौकिक जनों में तो वैसा प्रयोग अप्रसिद्ध है, वे विषयज्ञान को ही ज्ञान समझते हैं। इसी तरह उन्हें द्रष्टा भी वही मालूम है जो उस दृष्टि के प्रति कर्त्ता बनता है। कर्त्ता अर्थात् 'मैंने देखा, मैं देखने वाला' ऐसा जिसे अभिमान है। द्रष्टा जिस दृष्टि के प्रति कर्त्ता है वह रूपादि विषयों के बारे में ही होती है, साक्षी के बारे में (अर्थात् उसे विषय करने वाली) नहीं होती। क्योंकि उस दृष्टि से युक्त होने पर ही द्रष्टा कहलाता है इसलिये वह दृष्टि प्रमाता में उत्पन्न होती है (प्रमाता को होती है) ऐसा समझना पड़ता है। साक्षी नित्यदृष्टि होने पर भी वृत्तिरूप उपाधि रहने पर प्रतीयमान अनित्य दृष्टि की अपेक्षा से अनित्यदृष्टिमान् (द्रष्टा) के रूप में व्यवहृत होता है। अत एव अधिकोपाधि-संपन्न साक्षी ही प्रमाता है आदि सर्वज्ञात्माचार्य का वर्णन संगत है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'दृष्टि के द्रष्टा को देख नहीं सकते' आदि मुनिवचन के गर्भ में अनेक युक्तियाँ निहित हैं। (बृहद्वार्तिक में 'वेद्मीति यद्बलात्' से 'येन चक्षुरिदं' तक ८२ श्लोक हैं, ३.४.८० से ३.४.१६३ तक। वार्तिकसार में 'अतो दृष्टिद्वयम्' से 'प्रमातुर्जायते' तक २२ श्लोक हैं ३.४.५७ से ३.४.८० तक।)।।११८-२२।।

**येन चक्षुरिदं दृष्टं चक्षुषा यन्न पश्यति।
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वमिति श्रुत्यन्तरे स्फुटम्।।१२३।।
श्रुतिः श्रोत्रजधीवृत्तिस्तस्याः श्रोताऽवभासकः।
श्रुत्या शब्दावगाहिन्या श्रोतारं शृणुयान्न तम्।।१२४।।
ऊहापोहात्मधीवृत्तिर्मतिस्तस्याः प्रकाशकम्।
अनूह्यमनपोह्यं तं न मन्वीथास्त्वमेतया।।१२५।।**

इस विषय में शाखान्तर का प्रमाण देते हैं **जिससे यह चक्षु दीखती है पर जिसे चक्षु से कोई नहीं देखता, उसे ही तुम ब्रह्म समझोऐसा अन्य श्रुतिवाक्य में स्पष्ट कहा है।।१२३।।** केन उपनिषत् में 'यच्चक्षुषा न पश्यति' आदि प्रसिद्ध प्रसंग है, यहाँ अध्याय १६ में समझाया भी है, उसी का उद्धरण दिया। जैसे रूपादि को चक्षु देखती है पर स्वयं को नहीं देखती फिर भी स्वयं की सत्ता में सन्देह भी नहीं छोड़ती वैसे आत्मा सबको जानता है, उसको कोई नहीं जानता फिर भी उसकी विद्यमानता में सन्देह भी सम्भव नहीं। यह आँख अर्थात् इन्द्रिय तो आत्मा (साक्षी) द्वारा जानी ही जाती है। (हालाँकि 'देखी' नहीं गयी क्योंकि देखना तो आँख से संभव है, 'आँख को' नहीं); लेकिन आँख से आत्मा किसी को नहीं दीखता, ऐसे आत्मा को ब्रह्म समझना है। जो कुछ भी आत्मा से पृथक्, इदं, है उसे ब्रह्म समझने की गलती नहीं करनी है। अतः इदं को बताने की भाषा में अनिदं को कहना पड़े तो जो दिक्कत है वही चाक्रायण को आ रही है।।१२३।।

दृष्टि-सम्बन्धी विषय की अन्य पर्यायों में घटाकर दिखाते हैं **श्रोत्र (कान) से उत्पन्न अंतःकरण-वृत्ति श्रुति और उसे अवभासित करने वाला श्रोता है। शब्द को विषय करने वाली श्रुति से उस श्रोता को कोई नहीं सुन सकता।।१२४।।** अंतःकरण की वृत्ति से विषयज्ञान होता है लेकिन किस इंद्रिय से अंतःकरण विषय तक पहुँचा इससे अंतर पड़ता है। काँच में घंटी बंद कर काँच की बोतल की सारी हवा खींच लें फिर घंटी बजायें तो घंटी पर चोट लगते दीखती है लेकिन आवाज़ नहीं सुनाई देती : आँख से तो मन वहाँ पहुँचा लेकिन कान से नहीं पहुँच सका क्योंकि कान की गति में वायु का सहयोग चाहिये जो बोतल में नहीं थी। वहाँ स्पष्ट है कि मन-संयोग होने पर भी इंद्रिय का योगदान है। अतः दृष्टि से पृथक् श्रुति कहकर सभी इंद्रियाँ अभिप्रायवश बतायीं।।१२५।।

बाह्य के समान अन्तरिन्द्रिय की भी अगोचरता व्यक्त करते हैं **ऊहरूप व**

अस्पष्ट ऊह्य आत्मा तु विस्पष्टो भानरूपतः।
अनपोह्योऽनपायित्वाद्[1] आत्मा नापैति कर्हिचित्।।१२६।।
निश्चयात्मकधीवृत्तिर्विज्ञातिस्तद्विभासकम्।
असन्दिग्धं तया वृत्त्या न विज्ञातुं त्वमर्हसि।।१२७।।

अपोहरूप मनोवृत्ति मति है, उसका प्रकाशक न ऊहके न अपोहके योग्य है अतः इस मति से उसका मनन नहीं कर सकते।।१२५।। जो साफ मालूम न हो उसका ऊह होता है, आत्मा तो भानरूप होने से बिलकुल साफ मालूम है अतः ऊह के योग्य नहीं। आत्मा का अपाय (हटना) संभव न होने से आत्मा कभी निवृत्त नहीं होता अतः अपोह के भी योग्य नहीं।।१२६।। अनुपलब्धार्थ की कल्पना को ऊह एवं उपलब्ध (प्रतीत) के परित्याग को अपोह कहते हैं। ऊह- अपोह को संकल्प-विकल्प भी कहते हैं। इस मनोवृत्ति को मति कहते हैं। आत्मा इसका (विचार, विश्लेषण का) भी प्रकाशक होने से क्योंकि ऊहापोह के योग्य नहीं इसलिये इसका मनन करना भी नहीं बनता। यद्यपि 'आत्मा मन्तव्यः' विधि है तथापि मनन का विषय आत्मा नहीं, विषयतया विचारणीय नहीं। जो वस्तु स्पष्ट पता न चले उसके बारे में ऊह होता है कि शायद ऐसी हो। आत्मा (मैं) सुस्पष्ट सदा भासता है तो ऊह क्या करें! जो प्रतीत हो लेकिन उसका निषेध किया जा सके वह अपोह के योग्य है पर आत्मा का निषेध संभव न होने से उसका अपोह भी नहीं हो सकता। वह स्थिर भाव से सदा एकरस भासता ही है। मनन आत्मा का नहीं वरन् आत्मसम्बन्धी गलतफ़हमी मिटाने के लिये उन विशेषताओं का होता है जो आत्मा पर आरोपित हैं। जैसे वह प्रतीत नहीं हो रहा वैसा उसे युक्ति से संभव समझना ऊह और जैसा प्रतीत हो रहा है वैसा युक्ति से विरुद्ध समझना अपोह है लेकिन स्वयं आत्मा (सच्चिदानन्द) न ऊह और न अपोह के योग्य है।।१२५-६।।

विज्ञानरूप अंतिम पर्याय बताते हैं **निश्चयरूप बुद्धिवृत्ति विज्ञाति है, उसे प्रकाशित करने वाला हमेशा सन्देह से परे है अतः विज्ञातिरूप वृत्ति से उस प्रकाशका विज्ञान तुम करो यह अयोग्य है।।१२७।।** जिसका निश्चय न हो उसका निश्चय किया जाता है, आत्मा क्योंकि निश्चय करने वाला है इसलिये निश्चय करने से पूर्व उसकी निश्चित अवस्थिति है अतः उसे निश्चय का विषय बनाने का प्रसंग

---

[1] अनुपाधित्वादिति सारे।

दृष्टश्रुतमतज्ञातेष्वित्थमात्मा न कश्चन।
किं तर्ह्येष तवात्मेति प्रोक्तः सर्वान्तरः पुरा।।१२८।।
यः सर्वं विषयीकुर्वन् विषयीक्रियते न हि।
किं तु भाति स्वयं सोऽयं सर्वान्तर इतीरितः।।१२९।।

ही नहीं! जैसे पानी भिगोया नहीं जा सकता, आग सुखायी नहीं जा सकती ऐसे आत्मा को निश्चयविषय नहीं बना सकते। अतः अन्यत्र विज्ञान का विधान भी अनात्मविज्ञान के परिहार में पर्यवसित समझना चाहिये।।१२७।।

इसके अनन्तर 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' कहा, उसमें 'एषः' का भाव बताकर वाक्यार्थ कहते हैं **इस प्रकार, दृष्ट श्रुत मत और ज्ञात में से कोई भी आत्मा नहीं है। फिर क्या है? वही है जिसे पहले ही 'तुम्हारा यह सर्वान्तर आत्मा' कहा।।१२८।। जो सबको विषय करता है पर जिसे विषय बनाया नहीं जा सकता फिर भी वह खुद भासमान रहता है वही यह सर्वान्तर कहा गया है।।१२९।।** उषस्त ने 'दृष्टादि में से कौन' पूछा था, याज्ञवल्क्य ने बताया कि दृष्टादि में से कोई नहीं है। इस प्रकार त्वम्पदार्थ के शोधित स्वरूप का प्रसंग स्पष्ट किया। त्वम्पदवाच्य में विषयभाव रहता है, जो उस सबको विषय करता रहता है वही सर्वान्तर बताया जा रहा है। त्वम्पदवाच्य ही नहीं, बाह्य विषयों को भी वही विषय करता है लेकिन मन-इन्द्रिय प्रमाणादि के व्यवधान से, जबकि त्वम्पदवाच्य को बिना व्यावधान के, इसलिये 'सर्वम्' कहा। ऐसी वस्तु न बाह्य विषयों के द्वारा और न त्वम्पदवाच्य के द्वारा ही ज्ञेय है क्योंकि वे सभी इसके प्रकाश्य (ज्ञेय) हैं। इस सर्वप्रकाशक का भान अन्य किसी पर निर्भर भी नहींयह भी सर्वानुभवसिद्ध है। इसलिये 'स्वयं भाति' कहा। इस प्रकार जब दृष्टादि से व्यावृत्त कर दिया तब जो स्वप्रकाश वस्तु बची वही सर्वान्तर आत्मा है यह याज्ञवल्क्य ने सुस्पष्ट कर दिया। अपरोक्ष आत्मा में हमें परिच्छेद प्रतीत होता है कि 'बस एक ही शरीर-मन में भासमान मैं आत्मा हूँ' एवं 'मुझ जैसे चलते बोलते संघातों में ही आत्मा है, अन्यत्र नहीं'; इस परिच्छेद, सीमा के भ्रम को मिटाने के लिये ही वेदान्तों की आवश्यकता है। इसीलिये उषस्त ने इतना स्पष्टीकरण माँगा।।१२८-९।।

उक्त अपरिच्छिन्नता, व्यापकता को उपपन्न करने के लिये याज्ञवल्क्य ने 'अतोऽन्यद् आर्तम्' (आत्मभिन्न सब विनाशी, मिथ्या है) कहा, उसे प्रश्नोत्तर द्वारा समझाते हैं **सर्वान्तर अर्थात् सबका आत्मा होना तो तभी संभव है जब अन्य कुछ**

सर्वान्तरत्वं सार्वात्म्यमन्यस्मिन् सति तत्कुतः।
न चेदन्यत्तदा सर्वशब्दार्थो नेति शंकिते।।१३०।।
अतोऽन्यदार्तमित्याह दोषद्वयनिवृत्तये।
आर्तं मायामयं तस्य तत्त्वज्ञानेन पीडनात्।।१३१।।
सर्पादीनां कल्पितानां रज्जुरात्मा यथा तथा।
मायामयस्य सर्वस्य चिद्वस्त्वात्मेति सुस्थितम्।।१३२।।

('सब' कहलाने वाला) हो। (किन्तु अद्वैत में) वह (अन्य) कैसे (होगा)? यदि अन्य कुछ हो नहीं तो 'सर्व' शब्द का अर्थ ही नहीं रहेगा!यह शंका होने पर।।१३०।। दोनों दोष हटाने के लिये याज्ञवल्क्य ने 'इससे अन्य आर्त है' यह कहा। आर्त अर्थात् मायिक है क्योंकि तत्त्वसाक्षात्कार से बाधित होता है।।१३१।। कल्पित सर्पादि का आत्मा जैसे रस्सी होती है वैसे मायिक जो सब उसका आत्मा चिद्रूप वस्तु है। यों आत्मा का यह वर्णन संगत है।।१३२।। 'सबके अन्दर' को 'घड़े के अंदर पानी' की तरह समझकर प्रश्न है कि यों आत्मा सब में हो तो पानी से घड़े की तरह आत्मा से 'सब' अलग होना पड़ेगा जिससे पुनः परिच्छिन्नता (वस्तुभेद) आ जायेगी। यदि 'सब' शब्द का अर्थ न हो तो आत्मा को सर्वान्तर कहना नहीं बनेगा। ये दो दोष हुए। इनका परिहार 'पूर्णो रज्ज्वेव पन्नगः' (तैत्ति. वार्ति. ब्रह्म.२.१६) के अनुसार दिया कि जैसे साँप में रस्सी 'भरी हुई' समझी जा सकती है वैसे आरोपित सबके अन्दर आत्मा समझा जा सकता है। 'समुद्र की बूँद-बूँद में जल है' का मतलब भेद में नहीं वरन् समुद्र-बूँद-जल के अभेद में ही है, इसी प्रकार सर्वान्तर का मतलब सबको आत्मा से बाहर रखने में नहीं वरन् अद्वैत में ही है। गहने में सोना भी इसी तरह समझा जाता है कि स्वर्ण से अतिरिक्त गहना कोई 'वस्तु' नहीं है, मायामय भले ही है। यह 'आर्त' शब्द का तात्पर्य समझाया। आर्त मायने मिथ्या सब, सत्य आत्मा को सद्वितीय बना नहीं सकता, केवल सर्वान्तर बनाये रखता है। आर्त अर्थात् मिथ्या कहने का यह अभिप्राय इस प्रसंग में ग्रंथकार का ही कौशल है, भाष्य या वार्तिक में यहाँ यह नहीं कहा है, अन्यत्र भले ही बताया है। इस प्रकार श्लोक ७१ से प्रारंभकर यहाँ तक साठ से अधिक श्लोकों में उषस्त चाक्रायण के प्रश्न के उत्तर के स्पष्टीकरण में त्वम्पदार्थ का विस्तृत वर्णन हुआ।।१३०-२।।

तृतीयाध्याय के पंचम ब्राह्मण में कहोल कौषीतकेय नामक ऋषि ने पूर्वोक्त आत्मप्रसंग को आगे बढ़ाने के लिये 'यदेव साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः, तं मे

कहोलप्रश्नः

पंचमब्राह्मणे पूर्वमुक्तस्य प्रत्यगात्मनः।
ब्रह्मत्वसाधनं बोधो मुक्तलक्ष्म च वर्ण्यते।।१३३।।[1]
उषस्तपृष्टादन्यत्वं निवर्तयितुमात्मनः।
यदेव साक्षादित्युक्तावेवकारः प्रयुज्यते।।१३४।

व्याचक्ष्व' यह प्रश्न किया। बाकी शब्द पूर्व प्रश्न के ही हैं पर एक एवकार अधिक है! इसे कहोल ने अपने अभिप्राय के सूचन के लिये रखा अतः याज्ञवल्क्य ने यद्यपि पहले 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' ही दुहराया लेकिन 'कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः?' पूछने पर 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' यों संसारधर्मराहित्य बताकर 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति' से कहा कि इस आत्मा का ज्ञान एषणानिवृत्ति अतः संन्यास में पर्यवसित होता है। त्रिविध होने पर भी एषणारूप से एकता उपपन्न कर विधान किया कि ब्राह्मण को चाहिये कि पांडित्य पाकर बाल्य से रहे, मुनि हो, मौन-अमौन से परे हो जाये ताकि वास्तव में ब्राह्मण बने! श्लोक १८७ तक यह प्रसंग विचार का विषय है।

पहले ब्राह्मणार्थ की प्रतिज्ञा करते हैं **पाँचवें ब्राह्मण में पूर्वोक्त प्रत्यग्रूप आत्मा की ब्रह्मता के साधनभूत ज्ञान का एवं मुक्त के लक्षण का वर्णन किया गया है।।१३३।।** जिसके बारे में पूछा वह आत्मा तो वही है जो उषस्त चाक्रायण को समझाया लेकिन वहाँ उसकी शुद्ध ज्ञानरूपता ही व्यक्त हुई, वही अखण्ड ब्रह्म है इसे केवल 'सर्वान्तर' कहकर इंगित किया, इसे समझने का न कोई उपाय बताया, न इसे समझने वाले का वर्णन किया। अतः कौषीतकेय इन बातों को जानना चाहता है जो पूर्व ब्राह्मण में छूट गयीं।।१३३।।

उषस्त व कहोल के प्रश्नों की समानता से कुछ विचारक उषस्त ने जीव पूछा, कहोल ने ईश्वर पूछायह कल्पनाकर पुनरुक्ति बचाना चाहते हैं लेकिन यों दो आत्मा श्रुति-स्मृति-न्याय से असिद्ध होने के कारण ऐसी कल्पना अयोग्य है वरन् पहले पदार्थ-विषयक प्रश्न था अब वाक्यार्थविषयक हैयही पुनरुक्तिपरिहार उचित है यह निर्णय देते हैं **'उषस्त द्वारा पूछे से किसी अन्य आत्मा को पूछ रहा हूँ' इस वाक्य में एवकार अर्थात् ही-शब्द का प्रयोग है।।१३४।। पूर्व ब्राह्मण में उपदेश**

---

[1] 'पञ्चमब्राह्मणे ब्रह्मबोधसंसिद्धिसाधनम्। समुत्पन्ने तत्त्वबोधे मुक्त'... इति सारे पाठः।

उपदेशस्य विषयस्त्वमर्थः शोधितः पुरा।
न ब्रह्मत्वं सम्यगुक्तमिति पृच्छति तत्पुनः।।१३५।।
अशनायादिरहितब्रह्मताया अभाषणे।
न स्यात् सर्वान्तरत्वादि संसारिणी चिदात्मनि।।१३६।।

के विषयभूत त्वम्पद के अर्थ का शोधन किया, वह ब्रह्म (व्यापक) है यह सम्यक् अर्थात् साधन आदि समेत नहीं कहा, इसलिये कहोल उसी के बारे में फिर पूछता है।।१३५।। यद्यपि एक के बाद दूसरा समान शब्दों में बँधा प्रश्न आने पर संभावना होती है कि पूर्व में निर्धारित से अन्य की ही जिज्ञासा होगी, शब्द साम्य तो वादी को व्यामोह में डालने के लिये होगा, तथापि क्योंकि निर्धारित वस्तु आत्मा है ही अद्वितीय इसलिये यह संभावना ग़लत है अत एव याज्ञवल्क्य ने इस दृष्टि से किसी अन्य तत्त्व का वर्णन न प्रारंभ कर 'एष त आत्मा' को ही दुहराया। प्रश्न का भाव निश्चित करने में उत्तर का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है यदि प्रष्टा उसे अपने प्रश्न के उत्तर के रूप में स्वीकार ले। किं च वाक्यभेदापादक लिंग से एकवाक्यतापादक प्रकरण भी बलवान् माना गया है। (ब्र. सूत्र १.२.४) अतः पुनःश्रवणरूप लिंग की अपेक्षा 'एष ते··· योऽशनाया पिपासे' आदि से उषस्तपृष्ट के ही स्पष्टीकरणरूप प्रकरण का महत्त्व बढ़ जाता है। इस प्रकार कहोल उसी के बारे में पूछ रहे हैं जिसके बारे में उषस्त ने पूछा था, यही संगत मत है। जिसे उपदेश दिया जाये वह उपदेश का 'विषय' होता है। वही त्वम्पद का अर्थ कहा जाता है। उसका अशुद्धिमिश्रित वाच्य रूप सबको भासमान है किन्तु अशुद्धि हटाकर उसका लक्ष्य रूप पूर्व ब्राह्मण में बता चुके हैं। वही तत्त्व ब्रह्म अर्थात् व्यापक, पूर्ण भी है यह इस ब्राह्मण में स्पष्ट होगा। कहोल ने याज्ञवल्क्य की यह भी परीक्षा कर ली कि वे सांख्यवादी तो नहीं हैं, क्योंकि तब वे 'ब्रह्मिष्ठ' नहीं कहलाते। परीक्षा इस तरह कि सांख्य के अनुसार पुरुष का जो स्वरूप विज्ञेय है वह पूर्व ब्राह्मण में कहा जा चुका। पुनः पूछने पर याज्ञवल्क्य केवल उतना ही फिर कहते तो पता चल जाता कि वे सांख्य पुरुष के ही वेत्ता हैं, ब्रह्म के नहीं। जब याज्ञवल्क्य ने उसी को पूरा न दुहराकर उसके बारे में और वक्तव्य बता दिया तब उनकी ब्रह्मवादिता व्यक्त हो गयी।।१३४-५।।

उषस्त को दिये उत्तर की कमी दिखाकर उसे पूरा करने का अवसर कहोलने याज्ञवल्क्य को दिया यह समझाते हैं **(पूर्व ब्राह्मणोक्त रीति से) चिद्रूप (स्वप्रकाश ज्ञानरूप) होने पर भी 'वह भूख आदि से रहित होने के कारण ब्रह्मरूप है' यह न कहा जाये तो क्योंकि उसकी संसारिता अनिषिद्ध होगी इसलिये वह सर्वान्तर**

इत्यभिप्रेत्य तेनोक्तं साक्षादित्यादिकं पुनः।
अनूद्य सर्वं पप्रच्छ कहोलो ब्रह्मरूपताम्।।१३७।।
त्वमर्थाच्छोधितान्नान्यद् ब्रह्मेत्येतद्विवक्षया।
उक्तमेवोत्तरं भूय एष इत्याद्यवोचत।।१३८।।

आदि अभिप्रेत स्वरूप वाला हो यह असम्भव हो जायेगा।।१३६।। इस तात्पर्य से कहोल ने 'साक्षाद्' इत्यादि वचन पुनः कहे। इससे, पूर्वोक्त सारी बात का अनुवाद करके ब्रह्मरूपता पूछी (यह स्पष्ट है)।।१३७।। भूख-प्यास, जरा-मृत्यु, शोक-मोह इन छह ऊर्मियों से ब्रह्म परे है। ये छहों शरीर में (स्थूल-सूक्ष्म के सम्बद्ध रूप में) होंगी। भूख-प्यास प्राण में, शोक-मोह मन में और जरा-मरण स्थूल में होंगे। पूर्व में चिद्रूपता कह कर सर्वान्तर बताया लेकिन चिद्रूप को इन छह से रहित समझे बिना उसे सर्वान्तर जानना असंभव है। चिद्रूप स्वानुभवसिद्ध तो है पर उसका वर्त्तमान अनुभव इन ऊर्मियों वाले रूप में ही है अतः इनसे वह रहित है यह कहे बिना उसे सर्वान्तर बताना उचित नहीं। संसारी रहते आत्मा सर्वान्तर नहीं, संसारिता हटाकर ब्रह्मरूपता होने पर ही वह सर्वान्तर है। याज्ञवल्क्य ने पिछले संवाद में इस कदम को छोड़ दिया था, इसी कमी की ओर कहोल का इशारा था जिसे याज्ञवल्क्य समझ गये। कहोल ने पूर्वोक्त आत्मा का अनुवाद कर यह स्पष्ट किया कि उसे अब याज्ञवल्क्य न बताये क्योंकि अनुवाद उसी का होता है जो पहले से पता है। उषस्त ने तो प्रश्न किया था अतः उसे वह वस्तु अज्ञात थी। कहोल ने उसी वस्तु का अनुवाद कर बताया कि उसे ज्ञात है। एवकार ने अनुवादरूपता द्योतित की। अतः जो पूर्व में नहीं बतायी वह ब्रह्मरूपता ही जिज्ञासित है यह भाव है।।१३६-१३७।।

याज्ञवल्क्य ने पूर्वोक्त आत्मा ही ब्रह्म है यह पहले प्रतिज्ञा की **शोधित त्वम्पदार्थ से ब्रह्म अन्य कुछ नहीं हैयह बताने की इच्छा से पूर्वोक्त उत्तर ही 'एष' इत्यादि द्वारा फिर से कहा।।१३८।।** यदि प्रारम्भ से याज्ञवल्क्य 'जो भूख-प्यास से रहित है' आदि कहते तो 'जो' कौन?यह प्रश्न उठता एवं पूर्वोक्त सर्वान्तर से अन्य की चर्चा प्रारंभ हुई यह शंका होती। अतः उन्होंने पहले उसी उत्तर को दुहराया कि जो उषस्त को समझाया वही आत्मा असंसारी ब्रह्म है। अर्थात् सर्वान्तर कहने पर, जिसके बिना सर्वान्तरता संभव नहीं वह भी कह ही दियायह याज्ञवल्क्य का तात्पर्य था।।१३८।।

क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामृत्यू इतीदृशैः।
त्रिभिर्युग्मैर्विशिष्टानां मध्येऽसौ कतमो वद।।१३९।।
यद्यन्यतम एतेषां तस्य न ब्रह्मता तदा।
एतेष्वनन्तर्भूतस्तु न कोऽप्यात्मा जनैर्मतः।।१४०।।
विद्वज्जनानुभूत्यैष क्षुधादेरवभासकः।
प्रसिद्ध इत्यभिप्रेत्य ब्रह्मत्वेन तमुक्तवान्।।१४१।।
अत्येति योऽशनायादीन् विचारेण निरूपणे।
क्षुधादिसाक्षी तस्यास्य ब्रह्मत्वं केन वार्यते।।१४२।।

कहोल ने 'कतमः?' पूछा, इसका अर्थ बताते हैं **भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मृत्यु, इस तरह तीन जोड़ों वालों में से कौन-सा है? यह बताओ।।१३९।। (भाव है कि) यदि इन्हीं में से कोई एक है तो वह ब्रह्म नहीं होगा और इनमें से नहीं है तो वैसा कोई भी आत्मा लोग मानते नहीं।।१४०।।** आत्मा-रूप में वही प्रसिद्ध है जो शोकादि वाला है अतः 'एष त आत्मा' के आत्मा-शब्द से वही समझ आयेगा जो लोकप्रसिद्ध है। किन्तु शोकादि वाला होवे और ब्रह्म, सर्वान्तर भी होवे यह संगत नहीं तथा शोकादि वाला न हो तो उसे आत्मा कैसे समझें! यद्यपि दृष्ट-श्रुत-मत-विज्ञात से अन्य कहने पर लोकसिद्ध से अन्य कह दिया था क्योंकि शोकादि वाला ही विज्ञात है तथापि कहोल का कहना है कि अगर कोई कहे कि 'दृष्टादि से अन्य कोई है ही नहीं', तो इसका क्या परिहार है?।।१३९-४०।।

याज्ञवल्क्य ने 'योऽशनायापिपासे, शोकं मोहं, जरां मृत्युम् अत्येति' यह उत्तर दिया। इसे स्पष्ट करते हैं **भूख इत्यादि का प्रकाशक यह आत्मा विद्वान् लोगों की अनुभूति के आधार पर प्रसिद्ध है यह मानकर उसे मैंने सर्वान्तर ब्रह्म कहा।।१४१।। विचार से समझने पर जो भूख आदि को लाँघने वाला भूखादि का साक्षी समझ आता है उसकी ब्रह्मरूपता कौन नकार सकता है!।।१४२।।** याज्ञवल्क्य ने दो परिहार दियेएक तो विद्वत्-प्रत्यक्ष, दूसरा भूखादि 'वाला' होना। जैसे लोक में रत्न और काँच का भेद अप्रसिद्ध होने पर भी परीक्षकों को प्रत्यक्ष होने से मान्य ही है वैसे शुद्ध आत्मा विद्वान् को स्पष्ट भासता है अतः मान्य ही है। दूसरी बात, 'भूख वाला' यह अनुभव ही किसी 'वाले' को बताता है जो भूख से अन्य है। जैसे धनवाला धन से अन्य होता है वैसे ऊर्मि वाला ऊर्मियों से अन्य है ही। यह अन्यता इससे सिद्ध होती है कि इन ऊर्मियों के आगम और अपाय दोनों को वह जानता है, इनका प्रकाशक अतः साक्षी

नन्वेक आत्मा मूढानां विदुषां चेति ते मतम्।
उक्तोर्मिषट्कातीतत्वं तद्वत्त्वं चास्य तत्कथम्।।१४३।।

है। यों दो उत्तरों से कहोल की शंका मिटायी। यह जनसामान्य में अप्रसिद्ध है तभी तो वेद इसका उपदेश दे रहा है। किं च केवल लोकसिद्ध पदार्थ ही ज्ञेय नहीं होते, यूप आहवनीय आदि शास्त्रसिद्ध पदार्थ भी ज्ञेय होते ही हैं, अतः ऊर्मिहीन आत्मा शास्त्रीय हो तो हानि नहीं। सुषुप्ति में होने वाला आत्मरूप ऊर्मिरहित है अतः ऐसा आत्मा सर्वथा अप्रसिद्ध भी नहीं। निर्विकल्प समाधि में योगिजन भी इसका साक्षात्कार प्राप्त करते ही हैं। इसलिये याज्ञवल्क्य का कहना है कि पूर्व उत्तर में 'कमी' मानने की ज़रूरत भी नहीं, सर्वान्तरता से अर्थात् ऊर्मिराहित्य सिद्ध है। यद्यपि उपदेश विद्वान् को नहीं देते अतः उसे पता होने से उपदेष्टा को क्या लाभ और श्रोता को भी क्या लाभ, तथापि यहाँ ब्रह्मवेत्ताओं का परस्पर वार्तालाप है अतः याज्ञवल्क्य यह मानकर कह रहे हैं कि श्रोता विज्ञ हैं, यह समझना चाहिये।।१४१-२।।

याज्ञवल्क्य ने भूख आदि से परे जिस साक्षी को कहा उसे उस स्थिति में पहुँचने का साधन पूर्व श्लोक में विचार कहा क्योंकि सामान्य अतिक्रमण या लंघन में जिसे लाँघते हैं वह बचा रह जाता है, लाँघने वाला उससे चला जाता है जबकि भूख आदि यों कहीं और रहते नहीं, इसलिये जैसे साँपादि से रस्सी परे रहती है वैसे आत्मा को भूखादि से परे जान लेना ही उन्हें लाँघ जाना है। क्योंकि भूखादि सब ज्ञेय, दृश्य हैं इसलिये वे साक्षी आत्मा से अस्पृष्ट ही हैं, फिर भी उससे जुड़े मिल रहे हैं तो अवश्य मिथ्या ही हैं, यह तात्पर्य है। भूखादि और इनके धर्मी देहादि के भेद से ही आत्मा में भेद का आरोप होता है, इनसे उसे परे जान लेने पर वह अत्यन्त अभिन्न अतः व्यापक ब्रह्म ही है। भेद ही सापेक्ष है, अभेद को भेदसापेक्ष नहीं कह सकते क्योंकि वह पूर्ण-रूप है। अतः अभेद, अद्वैत को आत्मा का स्वरूप ही बताया गया है 'शिवमद्वैतम्' आदि द्वारा, भेदाभावादि के रूप में उसे नहीं समझाया है। अत एव अभेद 'सिद्ध' नहीं किया जाता है, वह स्वतः सिद्ध है, भेद ही सिद्धि-सापेक्ष होता है। उक्त रीति से आत्मा की भूखादि-अतीतता स्पष्ट करने के लिये आचार्य प्रश्न उठाकर जवाब देते हैं **वेदान्त सिद्धान्त में मूढ और विद्वान् का आत्म एक ही है तो पूर्वोक्त छह ऊर्मियों वाला होना और उनसे परे होना दोनों एक आत्मा में एक-साथ कैसे हो सकते हैं?।।१४३।। जैसे एक ही वस्तु में अविचार रहते सर्पता एवं विचार कर लेने पर रस्सीपना दोनों रहते हैं वैसे आत्मा में भी संसार का होना-न होना दोनों समझने चाहिये।।१४४।।** याज्ञवल्क्य

अविचारविचाराभ्यां यथा सर्पत्वरज्जुते।
तथात्मन्यपि संसारभावाभावावितीक्ष्यताम्।।१४४।।

ने श्लोक १४१ में विद्वदनुभव से कहा था कि आत्मा भूखादि से परे है; हमें आत्मा भूखादि से युक्त मिल रहा है; वेदांतानुसार आत्मा एक है तो ये दोनों विपरीत उपलब्धि कैसे संगत हैं? यह प्रश्न है। मूढ अर्थात् जिन्हें भूख आदि से युक्त आत्मा प्रतीत हो रहा है। यह तो कह नहीं सकते कि मूढ का आत्मा अलग और विद्वान् का आत्मा अलग है! आत्मा तो एक ही है। वैदिक निश्चित सिद्धान्त स्वीकारते हैं, जैनियों की तरह अनेकान्तवाद नहीं कि दृष्टिभेद से विरुद्ध बातें 'सही' हों! दृष्टिभेद से विरुद्ध बातें होती अवश्य हैं, जैसे यहीं कह रहे हैं कि एक ही चीज़ रस्सी व साँप दोनों है, लेकिन विरुद्ध बातें सब की सब सही नहीं होती; या उनमें से एक सही होगी और या सब ग़लत होंगी। रस्सी को दण्ड-माला-भूछिद्र-जलधारा देखने वालों की सभी जानकारियाँ ग़लत हैं यह हो सकता है; तब सही जानकारी कुछ और रहेगी; लेकिन विरुद्ध बातें सब ठीक हों, यह संभव नहीं। जैन दर्शन अवश्य ऐसी अनर्गल कल्पना करता है। आधुनिक युग में अव्यवस्थावादी स्वार्थवश ऐसी ही मान्यता पनपा रहे हैं। सही-गलत का विभाजन करें तब व्यवस्था होगी जिससे बंधन रहेगा, मन-मानी पर रुकावट होगी। यदि अपनी-अपनी दृष्टि से सभी कुछ सही है तो अव्यवस्था होगी, उच्छृंखलता रहेगी, मन-मानी ही बढ़ती जायेगी। व्यवस्था स्वीकारने पर ही समाज रहता है, अव्यवस्था में भीड़ होती है और जैसे भीड़ में किसी का कोई ज़िम्मा न होने से हर एक व्यक्ति जिस कार्य को ग़लत मानता है, भीड़ वह कार्य बेधड़क कर लेती है, वैसे समाज न रहने पर जो व्यक्ति-समूह उपस्थित है वह उन सब कार्यों में भागीदार बनता रहता है जिन्हें प्रत्येक ग़लत समझता है। भारतीय समाजशास्त्र व्यवस्थावादी रहा, वर्णव्यवस्था थी, आश्रम-व्यवस्था थी, समाज का एक उद्देश्य था, सही-ग़लत की स्पष्ट मर्यादाएँ थी जो सबके लिये जग-जाहिर थीं, प्रत्येक घटक को अपने कर्त्तव्यों, अधिकारों, सीमाओं का ज्ञान था अतः सहस्राब्दियों तक प्रवाह अनवरत चला। आधुनिक विचारधारा के अनुसार समाज विशृंखल हुए, व्यवस्था समाप्त हुए अभी शताब्दियाँ भी नहीं बीतीं कि केवल बिखराव, स्पर्धा, क्लेश एवं सामूहिक तथा वैयक्तिक असन्तोष असहनीय हो गया है। एक काल्पनिक 'न्याय' और 'समता' की आशा दिखायी जाती है जबकि हर दिन इस अव्यवस्थावाद के नियंत्रण में अन्याय और वैषम्य ही बढ़ता जा रहा है। व्यवस्थाकालीन इतिहास, जो अभी इतना प्राचीन भी नहीं कि उसके साक्षी सर्वथा रह न गये हों, इसका गवाह है कि पदार्थों की वर्तमान अतिशय उपलब्धि के बावजूद

प्रत्येक स्तर के प्रत्येक व्यक्ति और उनके समूहों में असंतोष, क्लेश, दुःख बढ़े हैं तथा मानवता एवं सारी ही प्रकृति में विप्लव की सामग्री लगातार बढ़ोतरी पर है। अनेकान्तवाद सुनने में मीठा लगता है क्योंकि स्वार्थपूर्ति के लिये इसमें अवसर 'दीखते' हैं, लेकिन यह अत्यंत घातक और अंततः स्वार्थोपलब्धि की संभावना ही समाप्त करने वाला है। जब तक थोड़े लोग अनेकान्ती हैं तब तक अन्य व्यवस्थावादियों की बदौलत वे स्वार्थसिद्धि कर लेते हैं, उन्हें धोखा दे लेते हैं, पर जब अधिकतर अनेकान्ती हो जाते हैं तब सब सभी की काट ही करते हैं तो किसी का स्वार्थ सिद्ध नहीं होता। कम घूसखोर हों तो घूस से कमायी होती है लेकिन जब घूसखोर ही ज़्यादा हो जाते हैं तो दूसरों का काम करने के लिये ली हुई घूस अपना काम कराने में ही निकल जाती है!

जैसे समाज या आचार में निश्चय पर पहुँचना ही हितकर, वैसे आत्मकल्याण या मोक्ष के लिये भी, अतः कहोल ने पूछा कि भूखा आत्मा ही भूख से परे हैयह कैसे हो सकता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि सत्य तो है कि परे है, भ्रम से भूखा आदि है। किसी जानकार को रस्सी दीखे, अनेक ग़ैरजानकारों को साँप आदि दीखेंयह जैसे संभव है वैसे विद्वान् को भूखादि से अतीत दीखे, मूढों को भूखा आदि दीखेयह एक आत्मा के बारे में संगत है। यह अनेकांतता नहीं क्योंकि विचारित अनुभव ही ठीक है, अविचार के चलते होने वाले अनुभव गलत हैं। लोक में भी परीक्षित अनुभव ही सही माना जाता है, आपात नहीं। भूखा-प्यासा हूँयह आपात अनुभव है। तीनों अवस्थाओं में मैं तो एक-समान रहता हूँ लेकिन भूखादि का मुझ से वियोग हो जाता है : भूखा सोकर सपने में स्वयं को तृप्त पाता हूँ, सुषुप्ति में भूख और तृप्ति दोनों से रहित पाता हूँ, उठने पर फिर भूखा पाता हूँ; अतः स्पष्ट होता है कि प्राणादि रहते ही भूख आदि हैं, भूख आदि का मुझ से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं। प्राणादि में मैं तादात्म्य किये हूँ तो मैं भूखा आदि समझ रहा हूँ, स्वरूप से मैं भूखा आदि नहीं हूँ। इस तरह विचारपूर्वक निश्चित भूखादि से अतीतता ही सच्ची है, भूखा आदि प्रतीतियाँ झूठी हैं। अविचारित प्रतीतियों को महत्त्व देने की अनादिसिद्ध आदत को बदलने के लिये ही सब बहिर्मुखता त्याग कर विचार में तत्पर होना पड़ता है जिसे आगे याज्ञवल्क्य साधनरूप से बतायेंगे। आत्मा में 'संसार' का भाव (सद्भाव) अविचार से है, अभाव वस्तुतः है। सदा सरकने, बदलने वाला होने से अनात्मवर्ग संसार है, अतः पतंजलि आदि ने संसार को क्षणपरिणामी कहा है, जबकि आत्मा कूटस्थ नित्य, अपरिवर्तनीय स्थायी, ध्रुव है। अतः भ्रम से ही आत्मा का संसरण, ऊर्मियुक्तत्व संभव

क्षुत्पिपासे प्राणधर्मौ शोकमोहौ तु मानसौ।
जरामृत्यू देहधर्मावात्मधर्मो न कश्चन।।१४५।।
प्राणसंचारबाहुल्याद् गमनादिश्रमे सति।
क्षुत्पिपासाजनिस्तेन प्राणधर्मत्वमेतयोः।।१४६।।
इष्टस्य वस्तुनोऽसिद्धौ चेतसो याऽनवस्थितिः।
स शोको मनसो धर्मो मोहश्च विषयभ्रमः।।१४७।।

है, वस्तुतः नहीं। इस प्रकार मूढ-विद्वान् के आत्मा की एकता एवं ऊर्मियों की अनुभूति का सामंजस्य है।।१४३-४।।

भूखादि आत्मा की विशेषताएँ नहीं यह समझाते हैं **भूख-प्यास प्राणों के धर्म (विशेषता) हैं, शोक-मोह तो मन के धर्म हैं, जरा-मृत्यु शरीर के धर्म हैं, आत्मा का कोई धर्म नहीं।।१४५।।** भूखादि में से तो कोई आत्मा का धर्म नहीं ही है, और भी कोई धर्म नहीं जो आत्माका हो क्योंकि वह धर्मधर्मिभाव से परे है।।१४५।।

भूख-प्यास को प्राण का धर्म सिद्ध करते हैं **चलना आदि परिश्रम करने पर प्राण के संचार की अधिकता से भूख-प्यास उत्पन्न होती है अतः ये प्राण के धर्म हैं।।१४६।।** कोई क्रिया न करें तो भूख-प्यास घटती जाती हैं लेकिन परिश्रम करें तो भूख भी बढ़ती है, प्यास भी ज़्यादा लगती है। श्रम से प्राणों का संचार बढ़ता है। साँस ज़्यादा चलती है यह तो प्रत्यक्ष है, खून को शरीरभर में पहुँचाने वाले समान की गति भी बढ़ती है, देह सीधा रखने वाले उदान का भी प्रयास बढ़ता है, आदि। प्राण की गतिविधि कम रहते भूखादि कम, प्राण की गतिविधि बढ़ने पर भूखादि ज्यादाइससे सिद्ध होता है कि भूखादि प्राण के ही धर्म हैं न कि हर हालत में सम रहने वाले आत्मा के।।१४७।।

शोकादि द्वन्द्व मानस हैं यह बताते हैं **अभिलषित वस्तु न मिलने पर चित्त की जो अस्थिरता वह शोक है तथा विषय के बारे में भ्रम मोह है। ये दोनों मन के धर्म हैं।।१४७।।** जो कुछ इच्छा का विषय बना हो, वह न मिलने पर शोक प्रत्यक्ष है। चाहे नब्बे प्रतिशत अंक मिलें जो कि शिक्षा-परीक्षा की दृष्टि से अत्युत्तम हैं, लेकिन यदि किसी महाविद्यालय में प्रवेश बानबे से कम अंकों वालों का नहीं हो रहा है और उसमें प्रवेश इष्ट है, तो बच्चा शोकग्रस्त हो जाता है। सत्तर लाख रुपये कमाना इष्ट था, चालीस लाख कमाये, फिर भी व्यापारी तीस लाख के 'घाटे' से शोकसंतप्त हो जाता है। क्योंकि शोक इष्ट अर्थात् इच्छित पर निर्भर है और इच्छा

जरा देहस्य शैथिल्यं मृत्युः प्राणवियुक्तता।
ते सर्वेऽप्यात्मनि भ्रान्त्या कल्पिता व्योम्नि नैल्यवत्।।१४८।।

मनोधर्म है इसलिये शोक भी मनोधर्म ही है। गहरी नींद में मन न रहने पर शोकादि नहीं होते, इससे भी ये मनोधर्म हैं यह निर्णय होता है। विषय-भ्रम अर्थात् उन्हें सत्य, रमणीय आदि समझना। अनित्य, अशुद्ध, अनात्मा और दुःख को नित्य, शुद्ध, आत्मा और सुख समझना प्रसिद्ध भ्रम हैं। विषय हैं अनित्य, हम उन्हें स्थायी समझते हैं यह भ्रम है। वे हैं दुःख, हम उन्हें सुख समझते हैं, यह भ्रम है। गहने के भ्रम में जैसे सोने में धोखा खाते हैं अर्थात् गहने के आकार-प्रकार को स्थायी, सुखोपाय मानकर उसके सोने की परीक्षा नहीं करते तो नकली सोना खरीद बैठते हैं, अपनी हानि करते हैं, वैसे ही विषय-भ्रम में अपनी ही हानि करते हैं। परीक्षा में प्रवृत्ति रोकने वाला है आकार की (नाम-रूप की) आसक्ति, राग। यदि संसार की परीक्षा करेंगे तो निश्चित है कि इसके नाम-रूप का मज़ा किरकिरा होगा! नाम-रूप सत्य होते तो ऐसा न होता लेकिन क्योंकि ये हैं ही मिथ्या इसलिये निश्चित है कि अपरीक्षित दशा में जो इनका आकर्षण है वह परीक्षित दशा में नहीं रहेगा। जैसे सिनेमा की अभिनेत्री को साज-सज्जा के बगैर कोई देख ले तो उसका सारा आकर्षण समाप्त हो जाये क्योंकि उनमें वास्तव सौंदर्य होता ही नहीं, वैसे संसार की परीक्षा करें तो इसका आकर्षण भी रह नहीं सकता। रागी आकर्षण को बचाये रखने का आग्रही होता है अतः परीक्षा की चर्चा से ही बचता है। अतः विषयभ्रम को मोह कहा, यह चित्त को सत्य से विमुख किये रहता है। मोह भी मानस धर्म है क्योंकि एक तो मन न रहने पर सुषुप्ति में मोह भी नहीं रहता है और दूसरा, चित्त अर्थात् मन की ही विपरीत दृष्टिरूप होने से यह मनोधर्म ही संभव है।।१४७।।

जरा-मरण की स्थूलधर्मता कहते हैं **शरीर की शिथिलतारूप जरा और देह से प्राण का वियोगरूप मरण ये दोनों देह के (धर्म) हैं। आकाश में नीलिमा की तरह ये सभी धर्म आत्मा में भ्रम से कल्पित हैं।।१४८।।** शिथिलता, ढीलापन, कार्यक्षमता में कमीयही जरा या बुढ़ापा है एवं शरीर में प्राण न रहना ही मरण है। ये दोनों स्थूल देह के धर्म लोकसिद्ध ही हैं। भूख-प्यास लोक में शरीरधर्म माने जाते हैं अतः समझाना पड़ा कि वे प्राणों के धर्म हैं। शोक-मोह आत्मधर्म ही माने जाते हैं अतः उनकी मानसता कहनी पड़ी। जरा-मरण यद्यपि देहधर्म के रूप में प्रसिद्ध हैं तथापि स्थूल देह से आत्मतादात्म्य सहज होने से इन्हें आत्मधर्म के रूप में मानकर ही चलते हैं, इसलिये इनका भी उल्लेख आवश्यक है। 'मैं बूढ़ा नहीं होता, मरता नहीं' ऐसा

यः स्वकारणसंसर्गः क्षुधादेः प्रलये मतः।
अनात्यन्तिकरूपत्वात् सोऽत्ययोऽत्र न गृह्यते।।१४६।।
तत्कारणनिषेधो यः स्वमहिम्नैव वस्तुनः।
तमत्ययं मोक्षविधौ तद्विद्वांसः प्रचक्षते।।१५०।।

कोई लौकिक नहीं मानता अतः इनकी आत्मधर्मता प्रतीयमान है। फिर इन्हें देह धर्म लोक-दृष्ट्या क्यों कहते हैं? क्योंकि इनका निर्देश देह के उल्लेख के बिना होता नहीं इसलिये इनका देहसंबंध भी लोकसिद्ध है। ये छहों धर्म स्थूल सूक्ष्म शरीरों के होने पर भी लगते हैं मानों आत्मा में हों जैसे लगता है आकाश नीला हो या लगता है मानो सूर्य चलता हो। जैसे तत्त्वज्ञ आकाश को नीला देखते हुए नीरूप जानता है या सूर्य को चलता देखते हुए स्थिर जानता है वैसे आत्मज्ञ इन धर्मों वाला देखते हुए भी आत्मा को निर्धर्मक जानता है।।१४८।।

यद्यपि अत्यय को समझा चुके कि भूख आदि की सत्ता से अधिक सत्ता वाला ही रह जाना अभिप्रेत है तथापि इसमें उपपत्ति देते हैं **भूख आदि का प्रलय में जो अत्यय (नाश) होता है उसका स्वरूप है भूख आदि का अपने कारण से एकमेक होकर रहना। वह अत्यय यहाँ ग्रहण नहीं किया जा रहा क्योंकि वह सनातन (हमेशा के लिये) नहीं होता।।१४६।। मोक्षोपाय के प्रसंग में मोक्ष के बारे में ठीक-ठीक समझने वाले लोग उस अत्यय का प्रकथन करते हैं जिसमें अत्यय करने वाली अर्थात् लाँघने वाली वस्तु अर्थात् आत्मा अपनी महिमा के बल पर ही भूख आदि के कारण को मिटा देती है।।१५०।।** अत्यय से साधारण नाश यहाँ समझना इसलिये ग़लत है कि नाश सदा अपने कारण में होता है जैसे घड़े का नाश मिट्टी में होता है, भूख आदि यदि आत्मा में नष्ट हों तो आत्मा उनका कारण बन जायेगा जो कि वह है नहीं। किं च साधारण नाश क्योंकि कारणभाव से रहना रूप होता है इसलिये हमेशा के लिये नहीं होता जबकि यह अत्यय मोक्षात्मक होने से सनातन है। अतः रोज़ होने वाली सषुप्तिरूप प्रलय या कल्पान्त में होने वाली प्रलय की दशा में जो आत्मा, उसे भूखादि से अतीत यहाँ नहीं कह रहे। समाधि में होने वाला भूखादि का लंघन भी इसीलिये अभिप्रेत नहीं। यहाँ आचार्य ने साधारण नाश का स्वरूप स्पष्ट किया 'अपने कारण से सम्बन्ध'; यद्यपि कार्यकाल में भी कारण सम्बन्ध तो अनिवार्य है तथापि कार्यदशा में कारण से पार्थक्य प्रतीत होता है जबकि नाशदशा में कार्य अपने कारण से ऐसा पूरी तरह सम्बद्ध हो जाता है कि कारण ही प्रतीत होता है, उससे अलग कार्य की प्रतीति नहीं होती।

प्राणहेतुस्तमः प्राणधर्माभ्यामुपलक्ष्यते।
सूत्रात्मा शोकमोहाभ्यां जरया मृत्युना विराट्।।१५१।।
तमः सूत्रं विराजं च योऽत्येत्यात्मा स्वभावतः।
असंगस्तत्परं ब्रह्म साक्षादित्यादिलक्षणम्।।१५२।।

कारण-सम्बन्ध को जन्म की भी परिभाषा कहा जाता है! तब तात्पर्य होता है कि कार्य अपने कारण के सम्बन्धी रूप से प्रतीत होना प्रारंभ करे तब जन्म है। नाश के लिये कहने पर तात्पर्य होता है कि इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाये कि कार्य ही पहचान में न आ सके, कारण का ही भान रहे। किंतु कारण रहने पर कार्य का भी अस्तित्व निहित होता है अतः यह नित्य नाश या लंघन नहीं वरन् भूखादि के कारणभूत प्राणादि के आत्यन्तिक असत्त्व को समझ लेना ही भूख आदि को लाँघ जाना कहा जा रहा है। किंतु इस निषेध के फलस्वरूप लंघन नहीं है बल्कि आत्मा स्वभाव से ही प्राणादि के अतीत है। पीतल के बर्तन में खटाई खराब तब नहीं होती जब बर्तन पर कलई हो अर्थात् कलई की महिमा से वैसा होता है लेकिन चाँदी के बर्तन में भी खटाई खराब नहीं होती और इसके लिये कलई नहीं चाहिये, चाँदी की निजी महिमा से ऐसा है। इसी प्रकार आत्मा स्वभावतः ही प्राणादिरहित है, अज्ञानवश स्वयं को उन वाला मानकर भूख-प्यास से तड़पता है, ज्ञान होने पर तड़पना ख़त्म होने से 'लाँघ गया' ऐसा कहते-समझते हैं जबकि वस्तुस्थिति में वह सदा अतीत रहा। अतः यह बाधरूप अत्यय आत्यंतिक ही होता है। कार्य-कारण का इकट्ठे समाप्त होना बाध कहा जाता है जैसे सर्प और उसके कारण रज्ज्वज्ञान, दोनों एक-साथ मिटते हैं तब बाध है। यहाँ भी भूखादि ही नहीं, उनके कारणभूत प्राणादि भी निषिद्ध हो जाते हैं, उनको भी 'नहीं हैं' समझ लिया जाता है, इसलिये यह बाध है जो मोक्ष में उपयोगी है।।१४६-५०।।

'कारणनिषेध' केवल एक कदम के कारण के निषेध के लिये नहीं वरन् जहाँ-कहीं भी कारणबुद्धि हो उस सबके निषेध के लिये है यह सूचित करते हुए अत्यय केवल व्यष्टि स्तर के भूखादि से नहीं, समष्टि से भी है यह वक्त करते हैं **प्राणों के धर्मों से (भूख-प्यास से) प्राणकारण अज्ञान उपलक्षण द्वारा कहा जा रहा है, शोक-मोह से सूत्रात्मा एव जरा-मृत्यु से विराट् की उपलक्षणा है।।१५१।। जो आत्मा स्वभाववश ही अज्ञान सूत्रात्मा और विराट् को लाँघे रहता है वह असंग आत्मा ही 'साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर' लक्षण वाला परब्रह्म है।।१५२।।** याज्ञवल्क्य ने अशनाया-पिपासा से परे बताया। अशनाया अर्थात् भूख; भूख-प्यास से परे कहा तो

पहले लगता है कि केवल इन धर्मों से अतीत होगा। तब पूर्वश्लोक में समझाया था कि कारणनिषेध विवक्षित होने से धर्मों का कारण जो प्राण उससे अतीत है। इस पर पुनः प्रश्न होता है कि प्राण स्तर पर ही प्राण का निषेध होगा; तब बता रहे हैं कि जैसे भूखादि का निषेध उनके कारण के साथ था वैसे प्राण का निषेध भी उसके कारण के साथ है। अर्थात् प्राण का भी बाध कह रहे हैं। बाध में कार्य-कारण दोनों का निषेध होता है। प्राण का कारण अज्ञान ही है। शोक-मोह का निषेध मन के समेत और मन का निषेध उसके कारणभूत सूत्रात्मा के समेता। सूत्रात्मा अर्थात् समष्टि लिंग ही मन अर्थात् व्यष्टि लिंग का कारण है। यद्यपि प्राण भी लिंगान्तर्गत होने से सूत्रात्मा का कार्य कहना चाहिये और मन-प्राण माने भी वैसे ही अभिन्न हैं जैसे दर्पण के प्राग्भाग व पश्चाद्भाग, तथापि सुषुप्ति में बिना मन के प्राण की अवस्थिति स्वीकार्य होने से प्राण को तमःकारणक कहा। प्रश्नोपनिषत् में भी 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायु ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः' (६.४) यों प्राण-मन में भेद का उल्लेख है। जीवनमात्रका निमित्त प्राण तमोहेतुक तथा क्रियाशक्तिरूप प्राण सूत्रात्महेतुक मानें तो कोई विसंगति नहीं रहती। सूत्रात्मा शोक-मोह से सीधे ही नहीं वरन् मन के द्वारा उपलक्षित है क्योंकि सूत्रात्मा तभी शोक-मोह का हेतु बनता है जब मन हो क्योंकि तभी निमित्तभूत पुण्य-पाप उपलब्ध होते हैं। जैसे मालाकार फूलों को धागे में गूंथता है तो धागा सब फूलों को धारण किये, व्यवस्थित किये रहता है वैसे सब प्राणियों को व्यवस्थित रूप से सम्बद्ध (संग्रथित) रखने वाला होने से हिरण्यगर्भ का नाम सूत्रात्मा है। एक प्राणी को सुख हो इसमें अनेक प्राणी मिलजुलकर हेतु बनते हैं। हमें सुख होना है; हमें रसगुल्ले की इच्छा है; उसी समय दुकान में स्वादिष्ट रसगुल्ला तैयार होना पड़ेगा। अगर हलवाई का प्रारब्ध हमारे प्रारब्ध से तालमेल वाला नहीं होगा तो उस दिन रसगुल्ला बिगड़ जायेगा! आगे, दूधवाले का भी प्रारब्ध तालमेल वाला नहीं होगा तो दूध ही फट जायेगा; गाय का भी प्रारब्ध तालमेल वाला नहीं होगा तो उसे रोगादि होकर उस दिन दूध नहीं उतरेगा। ऐसे ही हमें दुकान तक पहुँचाने वाले रिक्शाचालक के प्रारब्ध से तालमेल, दुकान में बेचने वाले से तालमेल इत्यादि मधुब्राह्मणोक्त रीति से सारे संसार के प्राणियों का तालमेल बैठे, तब हम रसगुल्ला खाकर सुखी हों। इतना जबर्दस्त तालमेल बैठाने वाला सूत्रात्मा ही है। हम मूर्खतावश सुखहेतु रसगुल्ला मानते हैं, थोड़ी सूक्ष्मबुद्धि हो तो अपने पुण्य को हेतु मानते हैं, वास्तव में जड चीज़ें हेतु नहीं, चेतन ही हेतु संभव है अतः सूत्रात्मा को शोक-मोह का मूल हेतु होने से शोक-मोह से

यथा विशुद्धमाकाशं सति वाऽसति वा मले।
नीहारादौ तथैवात्मा कार्यकारणवस्तुनि।।१५३।।
परमात्मस्वभावोऽयं कहोलाय प्रपंचितः।
तद्बोधसाधनं त्याग एतमित्यादिनोच्यते।।१५४।।

उपलक्षित बताया। जरा-मृत्यु का सीधा संबंध व्यष्टि देह से और उसके द्वारा समष्टि स्थूल से अतः जरा-मरण से विराट् की उपलक्षणा है। व्यष्टि क्योंकि समष्टि के अंशरूप से सत्ता में आता है इसलिये व्यष्टि का कारण समष्टि होता है। विराट्- हिरण्यगर्भ-ईश्वरये यहाँ कारणरूप से बताये और इनसे परे को साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर ब्रह्म कहा। 'तमः' शब्द से अविद्यावच्छिन्न अर्थात् ईश्वर कहा है। तीनों औपाधिक होने से परब्रह्म को निरुपाधिक समझाया गया है। शंका होती है कि ईश्वरपर्यन्त को लाँघने में हम कैसे समर्थ होंगे? समाधान दिया कि क्योंकि हम स्वभावतः असंग हैं इसलिये इस स्वभावस्थिति को समझते ही लाँघ जायेंगे। अगर कुछ करके लाँघना होता तो असंभव था लेकिन वस्तुतः लाँघे हुए ही हैंइस तथ्य को समझना ही लंघन है अतः असंभव नहीं। असंगता हमें स्वयं प्रत्यक्ष है। चाहे जितना भीषण दुःख उद्वेलित करे, कुछ समय बीतते ही हम अपनी स्वाभाविक अनुद्विग्न स्थिति में आ जाते हैं। ऐसे ही सुख एक क्षण को अतिप्रसन्न करता है, थोड़े समय में हम सहज हो जाते हैं। अतः आत्मा की असंगता बिना कारण है, वास्तविक है। इसके बारे में जो अज्ञान है उसे मिटाना ही उक्त अत्यय समझना चाहिये अर्थात् ब्रह्म अत्ययस्वरूप है तथा इसका अनावरण ही इसकी प्राप्ति है।।१५१-२।।

उक्त सनातन अतीतता को सोदाहरण बताते हैं **नीहार आदि मल हों या न हों, आकाश विशुद्ध ही है, इसी तरह कार्य-कारण वस्तु हों या न हों, आत्मा विशुद्ध ही है।।१५३।।** नीहार से कोहरा, ओस, बादल, धूम आदि सब समझ लेने चाहिये। ये आकाश में ही प्रतीत होंगे लेकिन फिर भी आकाश स्वच्छ ही रहता है, इनकी अप्रतीति की अपेक्षा से नहीं वरन् स्वभाव से स्वच्छ है। इसी तरह आत्मा स्वभाव से विशुद्ध है।।१५३।।

इस तरह परमब्रह्म बताकर इसकी प्राप्ति के उपाय भी बताते हैं **कहोल को समझाने के लिये परमात्मा के स्वभाव के बारे में यह विस्तृत व्याख्यान किया। इसे समझने का उपाय त्याग है जिसे 'एतम्' इत्यादि से बता रहे हैं।।१५४।।** कुछ बटोरना हो तब तो कोई कर सके, कोई न कर सके, लेकिन छोड़ना तो सभी के लिये

उत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य संन्यासो लक्षणं यतः।
साधनं च तदुत्पत्तौ संन्यासोऽतोऽत्र गम्यताम्।।१५५।।
ब्रह्मात्मनोर्यदेकत्वं ब्राह्मणद्वयनिश्चितम्।
एतं तमिति शब्दाभ्यां तदैकात्म्यमनूद्यते।।१५६।।
अत्येति योऽशनायादीन् एतं सर्वान्तरं पुरा।
उदितं तं विदित्वाऽथ व्युत्तिष्ठत्येषणात्रयात्।।१५७।।

संभव है अतः आत्मज्ञान सभी को हो सकता है। धनाढ्य हो या गरीब, ब्राह्मण हो या म्लेच्छ, कोई भी सब कुछपाँचों कोश, सारे कार्य-करणछोड़े तो इस परमात्मा के अनावरण में कोई रुकावट नहीं। अतः मोक्षमार्ग सभी के लिये खुला है, इस पर चलने के लिये केवल छोड़ने की हिम्मत चाहिये।।१५४।।

याज्ञवल्क्यका वचन है 'एतं वै तम् आत्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।' इसे समझाना शुरू करते हैं **क्योंकि जिसे आत्मा के बारे में ठीक ज्ञान हो गया उसका लक्षण है संन्यास इसलिये ज्ञान की उत्पत्ति में साधन संन्यास है यह इस वाक्य में समझना चाहिये।।१५५।।** गीताभाष्य में समझाया है कि कृतार्थ के लक्षण ही साधक के लिये यत्नतः अनुष्ठेय साधन होते हैं। उसी नीति से तत्त्वज्ञ का लक्षण संन्यास बताकर याज्ञवल्क्य साधक के लिये उसका विधान कर रहे हैं। 'जानकर एषणा छोड़ते हैं तब भिक्षोपजीवी रहते हैं' कहने से एषणाहानि ज्ञान का प्रभाव कहा लेकिन इसी से एषणात्याग साधन भी बता दिया। 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्' आदि से भगवान् ने भी इसी साधन को सर्वप्रथम गिना। प्र-जहाति अर्थात् त्याग में प्रकर्ष चाहिये। पुनः संग्रह की दृष्टि न बने, उल्टी किये हुए भोजन में जैसे 'फिर खा लूँ' दृष्टि नहीं होती वैसे संसार में न हो, यह प्रहाण है जो विद्वान् का लक्षण है। जिज्ञासु इसे तो हासिल नहीं कर सकता लेकिन जितना छोड़ सकता है छोड़े, यह भाव है।।१५५।।

त्याग विद्वल्लक्षण होने से साधनरूप से निर्णीत कर याज्ञवल्क्य के वचन का अर्थ कहते हैं **'एतं' और 'तम्' शब्दों से उस एकात्मता का अनुवाद किया है जो ब्रह्म-आत्मा की एकता उषस्त और कहोल ब्राह्मणों में निर्धारित की।।१५६।। जो भूख आदि से परे है उस इस पूर्वोक्त सर्वान्तर का साक्षात्कार कर तब तीनों एषणाओं (कामनाओं) से विमुख हो उठ जाते हैं।।१५७।।** 'एतम्' सन्निहित को, 'तम्' विप्रकृष्ट को सूचित करता है अतः प्रकृत और पूर्ववर्ती ब्राह्मणों में उक्त अखण्ड

ब्रह्मप्रश्नेन पृष्टे ते तद्बोधफलसाधने।
इति मत्वोत्तरत्वेन व्युत्थानद्वयमुच्यते।।१५८।।
पूर्वं विदित्वा पश्चात् तु व्युत्थायेत्यन्वयाच्छुतात्।
विद्वत्संन्यास आभाति ब्रह्मविद्याफलात्मकः।।१५६।।

वस्तु जानकर होने वाली कामनानिवृत्ति ज्ञानी का लक्षण अतः साधक के लिये उपाय कही। तीन एषणायें विषयों के भेद से हैं, एषणारूपता समान है। पुत्र, वित्त (धन) और लोक (विषय), इनमें सारी कामनाओं के विषय एकत्र हो जाते हैं अतः एषणात्रय प्रसिद्ध हैं। मुख्य रूप से शास्त्रश्रद्धालु को पुत्रैषणा होती है, बाकी लोग तो बेटों से ही प्रसन्न हैं! पितृ-ऋण चुकाने में उपाय ही पुत्र होगा जो शास्त्र-सम्मत कुल-धर्मों का संरक्षक होगा। इसके लिये उसे अनुशासित, शिक्षित होना पड़ेगा। शास्त्रीयादि कर्मों के सम्पादनार्थ वित्त की इच्छा भी श्रद्धालु में होगी। उपासनारूप वित्त भी वही कमायेगा। क्योंकि यहाँ त्याग का प्रसंग है इसलिये शुद्धचेता ही अधिकारी है अतः जो सांसारिक मौज-शोक के लिये धन चाहे, व्यापार आदि सँभालने के लिये सन्तान चाहे, उसे यहाँ सम्बोधित ही नहीं किया जा रहा। इसलिये यद्यपि वित्त से सभी तरह का धन समझना है तथापि प्रकृत अधिकारी उसी वित्त की एषणा पाले हुए है जो शास्त्रीय कर्मादि में उपयोगी है। उस एषणा का भी छूटना ज्ञानफल है। तीसरा एषणाविषय लोक अर्थात् देवादि उत्तम लोक हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि इन तीन से अन्य विषय चाहता रहे! वे विषय तो बहुत पूर्व आकृष्ट करना छोड़ चुके तब चित्त शुद्ध होकर 'विदित्वा' की स्थिति आयी अतः अब वे कामना के योग्य हो ही नहीं सकते। अतः आत्मबोध से सर्वकामनिवृत्ति यहाँ बतायी।।१५६-७।।

जिज्ञासाधिकरणभाष्य में 'यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तान्यर्थाक्षिप्तान्येव' कहा अर्थात् जो सब समझे बिना ब्रह्म नहीं समझा जा सकता उन्हें भी समझना 'ब्रह्म समझने' के अन्तर्गत ही है। अतः पद्मपादाचार्य ने 'स्वरूप-प्रमाण-युक्ति-साधन-प्रयोजन' इन पाँच की जानकारी ब्रह्मज्ञान की परिपूर्णता के लिये आवश्यक मानी। इसी न्याय से कहोल के प्रश्न का पूरा उत्तर देने के लिये याज्ञवल्क्य ने संन्यास-कथन किया यह समझाते हैं **ब्रह्मप्रश्न द्वारा ब्रह्मबोध का फल और ब्रह्मबोध का साधन भी पूछा गया है यह विचार कर उत्तर के रूप में दोनों व्युत्थान (संन्यास) बताये।।१५८।। 'पहले जानकर फिर संन्यास करके' यों यथाश्रुत अन्वय से ब्रह्मज्ञान का फलरूप विद्वन्निष्ठ संन्यास समझ आता है।।१५६।। प्रयोजनवश विपरीत**

व्युत्थायाथ विदित्वेति व्यत्ययेनार्थिकान्वयात् ।
सिद्धो विविदिषात्यागः स्पष्टः श्रुत्यन्तरेष्वसौ ।।१६०।।
स्वात्मलोकं समिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति वक्ष्यति ।
त्यागेनैकेऽमृतत्वं तु प्राप्ता इत्यपरा श्रुतिः ।।१६१।।

अन्वय से 'संन्यास करके फिर जानकर' यों विविदिषुकर्तृक त्याग समझ आता है। अन्य वेदवचनों में यह त्याग मुखतः कथित है।।१६०।। 'स्वात्मरूप लोक की समीचीन इच्छा करते हुए संन्यास करते हैं' यह ४.४.२२ में कहेंगे। अन्य (कैवल्य. २) श्रुति है 'मुख्य साधकों ने त्याग से अमरता पायी' ।।१६१।। क्योंकि तत्त्वजिज्ञासा मोक्षार्थ है इसलिये साधन-फल अवश्य ज्ञेय हैं। शारीरकशास्त्र में भी सर्वविध अविरोध, साधन और फलइन सबको बताकर ही पूर्णता मानी, केवल शास्त्र-समन्वय कहकर नहीं छोड़ा। 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' का विरोध इसलिये नहीं कि ब्रह्मप्रश्न किया ही था। यथाश्रुत अन्वय से फलरूप व्युत्थान एवं साधनबोधन के प्रयोजन से पदों का क्रम बदलकर साधनरूप व्युत्थानयों दो व्युत्थान बताये हैं। व्युत्थान अर्थात् सब लोग कामनानुसार करते हैं, उससे विपरीत, कामना से प्रयुक्त होकर कुछ न करना। कामना से अपने लिये ही किया जाता है, कामना छूटने पर अपने लिये करना स्वतः समाप्त है। ज्ञानी को सर्वान्तरता का भान होने से कामना से अतीतता भासमान रहती है अतः संन्यास स्वाभाविक है। जिज्ञासु को चाहिये कि लगातार स्वरूप का विचार करके उस स्वरूप को समझने की कोशिश में संलग्न रहे अतः कामनापूर्ति के लिये कुछ न करे। केवल 'न करना' तो सुषुप्ति आदि में है ही, वह साधन नहीं! सर्वान्तर का विचार ही करना अतः और कुछ न करनायह साधन है। अतः यह तामस त्याग नहीं, सात्त्विक त्याग है। कामनापूर्ति करते रहने वाला कभी भी आत्मज्ञान नहीं पा सकता। यहाँ आचार्य ने दो अन्वय माने क्योंकि अर्थवश भी अन्वय मान्य है : 'अग्निहोत्र करो, यवागू (लप्सी) पकाओ' यह वाक्यक्रम होने पर भी यवागू पकाकर कुछ करना बताया नहीं, अग्निहोत्र काहे से करनायह बताया नहीं अतः अवश्य यवागू पकाकर उससे अग्निहोत्र करने का विधान उचित हैयों प्रयोजन के अनुसार उक्त क्रम का परिवर्तन न्यायसंमत है। इसी तरह प्रकृत में जानना चाहिये। इतना विशेष है कि यहाँ पाठक्रम और अर्थक्रम दोनों विवक्षित हैं; पाठक्रम से फलकथन है, अर्थक्रम से साधन-कथन है। अर्थ मायने प्रयोजन से अन्वय तब हो जब प्रयोजन निश्चित हो, अतः विविदिषावस्था में विद्या के उद्देश्य से त्याग की कर्त्तव्यता बताने वाले वचन उद्धृत किये जो उक्त प्रयोजन में प्रमाण हैं। तात्पर्य

ब्राह्मणग्रहणं श्रुत्वा विप्राणामेव भाष्यकृत्।
संन्यासेऽधिकृतिं प्राह चतुर्थाश्रमरूप्यसौ।।१६२।।
विद्यांगं तत्फलात्मानं गार्गीविदुरयोरपि।
स्त्रीशूद्रयोर्भाष्यकारः संन्यासमनुमन्यते।।१६३।।

है कि अन्वय में मनमाना हेरफेर नहीं कर सकते, प्रमाणनिर्भर परिवर्तन की ही अनुमति है। वक्ष्यमाण चतुर्थाध्याय की श्रुति के 'आत्मानम्' को आचार्य ने 'स्वात्मानम्' कहा ताकि वाच्य आत्मा नहीं, लक्ष्य आत्मा की इच्छा से प्रव्रज्या का विधान स्पष्ट हो। कैवल्य में अमृतत्व कहकर यह स्फुट है।।१५८-६१।।

याज्ञवल्क्य ने कहा कि आत्मा को जानकर ब्राह्मण ऐषणाएँ छोड़कर भिक्षाचरण करते हैं अतः आत्मज्ञान में केवल ब्राह्मण का अधिकार होगा या एषणात्याग में उसी का होगा, अन्यों को आत्मज्ञानूपर्वक मोक्ष में अधिकार नहीं होगा या एषणायें बिना छोड़े ज्ञान से मोक्ष में अधिकार होगा इत्यादि अनेक पक्ष संभव होने पर इस बारे में स्पष्टीकरण देते है **(इस उपदेश में) ब्राह्मण का नामतः उल्लेख सुनकर भाष्यकार ने कहा है कि ब्राह्मणों का ही संन्यास में अधिकार है। वह संन्यास चौथा आश्रमरूप है।।१६२।। विद्या का अंगरूप (साधन) और विद्याका फलरूप संन्यास गार्गी-विदुर (जैसे) स्त्री शूद्र का भी भाष्यकार को अनुमत (स्वीकृत) है।।१६३।।** आचार्य शंकर ने इस वाक्य के व्याख्यान में 'ब्राह्मणानामेवाधिकारो व्युत्थानेऽतो ब्राह्मणग्रहणम्' कहा है तथा ४.५.१५ में 'न हि क्षत्त्रिय-वैश्ययोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति' कहा है जिससे यह मान्यता है कि आचार्य को ब्राह्मणों के लिये ही संन्यास अत एव तदंगक तत्त्वज्ञान में अधिकार संमत है। अधिकारी-विशेषण में उपरति का वे संन्यास अर्थ करते हैं तो संन्यासाऽनधिकारी का श्रवणादि में अनधिकार स्वतः है। वार्तिककार ने विस्तृत विचारकर ब्राह्मणग्रहण उपलक्षणार्थ माना है अतः तीन वर्णों का संन्यास उन्हें अभिमत है। विद्यारण्य स्वामी ने वार्तिकसार में यहाँ काफी ऊहापोह से स्पष्ट किया है कि संन्यास तीन तरहका है-विद्वत्संन्यास (ज्ञानफल), विविदिषासंन्यास (ज्ञानांग) और आश्रम संन्यास (वार्तिकसा. ३.५.५६)। भाष्यकार ने यहाँ जो ब्राह्मण का ही संन्यासाधिकार कहा है वह आश्रम संन्यास में है। बाकी दोनों संन्यासों में वे यह नियम नहीं मानते इसके लिये गार्गी व विदुर की ज्ञानी रूप से भाष्यकार द्वारा की गणना के आधार पर, ज्ञान संन्यासपूर्वक ही हो सकता है एवं यदि पूर्व संस्कारवश हो गया तो संन्यास में फलीभूत अवश्य होता है इस भाष्यसिद्धान्त के अनुसार, उन दोनों का संन्यास भी आचार्य को स्वीकृत है यों त्रैवर्णिक

पुत्रैषणेति पुत्रार्थं दारस्वीकारवाञ्छनम्।
कर्मणां साधने वित्ते तृष्णा वित्तैषणा मता।।१६४।।
लोकैषणेति देवादिलोकार्थोपासनाऽर्थिता।
न कश्चिदन्यः संसार उक्तादस्त्येषणात्रयात्।।१६५।।

के भी बंधन को अमान्य करते हैं। आश्रम संन्यास अनेक नियमों का पालनरूप, प्रायः जीवन के अंतिम चरण में ग्राह्य एवं ब्रह्मलोकफलक है। उसमें तीनों एषणाओं के त्याग की आवश्यकता नहीं। सारकार की व्यवस्था वर्तमान काल में सर्वमान्य प्रतीत होती है। उसी का अनुभूति-प्रकाश में उन्होंने संग्रह किया। इस पर सार के हिन्दी व्याख्याता पण्डित हरिहर कृपालु ने भी काफी चर्चा की है। ब्राह्मण के वर्णधर्म ही अध्यात्मोन्मुखता के अतीव अनुकूल हैं, किसी भी काल में स्वधर्मनिरत ब्राह्मण भोगपरायण हो नहीं सकता, इसके साधन ही जुटा नहीं सकता। उसे अवश्य ही विरक्त हो एषणा त्यागकर संन्यास ग्रहण कर आत्मज्ञान में निष्ठावान् होना चाहिये, इसीलिये उसे भगवान् ने ब्राह्मण जन्म दिया है, क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के लिये नहीं, वह यदि इस मार्ग पर आगे न बढ़े तो अशोभनीय है, इस दृष्टि से ब्राह्मण का उल्लेख उचित है। आश्रम संन्यास से अलग विद्यांग संन्यास है जिसमें शमादिपूर्वक श्रवणादि से अतिरिक्त सभी कर्मों का परित्याग है, परिग्रह का परित्याग है। फलसंन्यास में श्रवणादि की भी कर्त्तव्यता समाप्त है। महाभारत में वर्णन है कि विदुर का शरीर जलाने में प्रवृत्त युधिष्ठिर को आकाशवाणी ने बताया कि विदुर तत्त्वज्ञ होने से संन्यासी थे अतः उनका अग्निकर्म न किया जाये। सुलभा नाम की महिला संन्यासी भी प्रसिद्ध है। गार्गी को भी संन्यासी माना गया है। इस तरह आश्रमेतर संन्यास विरक्ताधिकार वाला समझना ठीक है। भाष्यकार की मुखतः अनुमति न सुलभ होने पर भी अर्थात् अनुमति है यह ग्रन्थकार का भाव है।।१६२-३।।

तीनों एषणाओं का स्वरूप बताते हैं **पुत्रप्राप्ति के लिये पत्नी ग्रहण करने की इच्छा पुत्रैषणा है। कर्मों के साधनरूप धन की अभिलाषा वित्तैषणा मानी गयी है।।१६४।। देवलोक आदि के प्रयोजन से उपासनानुष्ठान की कामना लोकैषणा है। इन तीन एषणाओं से अन्य कोई संसार है ही नहीं।।१६५।। इस बात को संक्षेप में कहती हुई श्रुति ने बताया है कि पुत्र से मनुष्यलोक, कर्म से पितृलोक और विद्या से देवलोक जीता जाता है।।१६६।।** पुत्र चाहने पर ही पत्नी स्वीकारने की इच्छा होती है अतः पुत्रैषणा से पत्नी की कामना समझायी। बृहदारण्ययक में ही पहले, १.४.१७ कह चुके हैं 'जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय।

मनुष्यलोकः पुत्रेण पितृलोकस्तु कर्मणा।
विद्यया देवलोकश्चेत्यब्रवीत् संग्रहश्रुतिः।।१६६।।[1]

एतावान् वै कामः' कि कामना का क्षेत्र इतना ही हैपत्नी, पुत्र, धन और कर्म। जो तो कदाचित् पुत्रेच्छा के बगैर स्त्रीकामना है वह शास्त्रीय शिष्ट की नहीं अतः वेद में उसका उल्लेख, खासकर तत्त्वज्ञान के योग्य साधक के परिचय के प्रसंग में करना व्यर्थ है। इसी तरह इसी लोक में खाने-पीने-मौज करने की इच्छा की भी चर्चा अयोग्य है क्योंकि ऐसों को 'विदित्वा व्युत्थाय' या 'व्युत्थाय विदित्वा' दोनों श्रेणियों में स्थान मिलना स्वप्न में भी संभव नहीं। वित्तैषणा से उसी धन की इच्छा कही जो कर्म साधन है, न कि भोगसाधन; यह भी इसी अभिप्राय से कि एषणात्याग की सामर्थ्य आयेगी ही शास्त्रानुसार कर्मानुष्ठायी को, न कि भोगी को। लोकैषणा से विभिन्न लोक प्राप्त हों इतनी ही इच्छा नहीं वरन् उत्तम लोकों के लाभ के लिये उपासना करूँयह इच्छा विवक्षित है। इस प्रकार पुत्र के लिये जो ज़रूरी उसकी इच्छा, कर्म के लिये जो ज़रूरी उसकी इच्छा और लोक के लिये जो ज़रूरी उसकी इच्छा यों साधनों की इच्छाओं को एकत्र किया है। शास्त्र से प्राप्त संसार इतना ही है। इससे अन्य हम बिना शास्त्र की परवाह किये बटोरते फिर उसमें उलझते जाते हैं। शास्त्र ने जितना बोझ दिया, उतने से छूटने का रास्ता बता दिया। हम स्वयं जो बोझ लिये हैं वह तो विवेक से ही छूटेगा। धर्माचरण में तत्पर होने से ही साधारण कामनाएँ निवृत्त होती हैं। इन तीन एषणाओं का त्याग संन्यास है।। बृहदारण्यक में ही पूर्व में १.५.१६ कह आये हैं 'अथ त्रयो वाव लोकाःमनुष्यलोकः, पितृलोको, देवलोक इति। सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोकः। विद्यया देवलोकः'। लोक तीन ही हैं। वहाँ भाष्यकार ने कहा है 'त्रय एव शास्त्रोक्तसाधनार्हा लोकाः, न न्यूना नाधिका वा।' शास्त्र जिनका उपाय बताये यह उचित है, वे तीन ही लोक हैं और वे साध्य हैं पुत्र, कर्म और उपासना से, अन्य किसी साधन से नहीं। इसी वचन को यहाँ 'संग्रहश्रुति' कहा है। सार में (३.५.४१) 'संग्रहं श्रुतिः' पाठ है, वही बेहतर है, अर्थ में विशेष नहीं। सारे संसार को इकट्ठाकर श्रुति ने इन तीन में सीमिति कर दिया ताकि जो छोड़ना चाहे उसे छोड़ने योग्य की इयत्ता मालूम रहे।।१६५-६।।

श्रुति के 'व्युत्थाय' अर्थात् 'व्युत्थान करके'इस शब्द का अर्थ बताते हैं **न्यायसम्मत व्यवहार सर्वथा लाँघकर उससे विरुद्ध हुए रहना व्युत्थान कहा जाता है जैसे**

---

[1] 'संग्रहं श्रुतिः' इति सारे पाठः।

न्याय्यां वृत्तिं समुल्लंघ्य तद्विरुद्धतया स्थितिः ।
व्युत्थानमुदितं राज्ञः सामन्तो व्युत्थितो यथा ।।१६७ ।।
भिक्षया लक्ष्यते चर्या परिग्रहविवर्जिता[1] ।
किं भोग्यं परिगृह्णीयात् सर्वभोग्येषु दोषदृक् ।।१६८ ।।
लोकत्रयार्थैषणाभ्यो व्युत्थानं चापरिग्रहः ।
द्वयं बोधमहिम्नैव विदुषां न तु यत्नतः ।।१६९ ।।
आनन्दैकस्वभावं स्वमात्मानं पश्यतः कुतः ।
कामः परिग्रहो वा स्याद्योऽकाम इति वक्ष्यति ।।१७० ।।

'राजा से सामन्त व्युत्थित है' (आदि प्रयोग में)।।१६७।। राजेच्छानुसार शासनादि करने को नियुक्त सामन्त (मंत्री) यदि राजविरुद्ध कार्य में संलग्न हो तो यह न्यायसंमत व्यवहार का सर्वथा उल्लंघन और विपरीत व्यवहार है। मायाने भी सृष्टि में कर्त्ता-भोक्ता बनकर इसे चलाते रहने के लिये हमें नियुक्त किया। संसारचक्र चलायेंगे तभी जब कामनाग्रस्त रहेंगे। यदि माया की मंशा के विपरीत हम सृष्टि चलाने के हेतुभूत कर्तृत्व-भोक्तृत्व को उनके मूल कामना की निवृत्ति द्वारा उच्छिन्न करने का प्रयास करें तो यह न्यायसम्मत व्यवहार नहीं ही है इसलिये कामत्याग को व्युत्थान कहा। इसमें लौकिक प्रयोग दृष्टान्तार्थ है। यह वार्तिकोक्त अर्थ है। भाष्य में 'वैपरीत्येन उत्थानं कृत्वा। .... त्रिविधेऽनात्मलोकप्राप्तिसाधने तृष्णामकृत्वेत्यर्थः' यही कहा है।।१६७।।

'भिक्षाचर्यं चरन्ति' इस श्रुतिवचन की व्याख्या करते हैं **भिक्षा से वह आचरण लक्षित है जहाँ कोई परिग्रह नहीं है। सारे भोग्य पदार्थों में दोष देखने वाला साधक किस भोग्य का परिग्रह करे!।।१६८।। त्रिलोकी के लिये होने वाली एषणाओं से व्युत्थान एवं अपरिग्रहये दोनों विद्वानों के ज्ञान के प्रताप से ही संभव हो जाते हैं, न कि किसी यत्न से।।१६९।। आनन्द ही जिसका स्थिर स्वभाव है ऐसे निज आत्मा को जानने वाले को क्यों तो कामना होगी और क्यों वह परिग्रह करेगा! आगे (४.४.६) 'जो अकाम है' ऐसा वेद कहेगा भी।।१७०।।** श्रुति ने भिक्षाचर्या कही, इससे बताया कि सारी चर्या, सारा आचरण भिक्षावृत्ति से हो अर्थात् बिना कामना के जो मिल जाये उस सब सुख-दुःख को जितना जीवननिर्वाह के लिये अनिवार्य है उतना सहता चले। अनायास प्राप्त वस्तु आदि से

---

[1] 'भिक्षया लक्ष्यते चर्या ह्याकिंचन्यैकसंश्रया। अममाऽपरिग्रहोक्तेर्निष्कर्मा मुनिरुच्यते।।' इति वार्तिकम् ३.५.श्लोक. १२७।

एषणात्रय एतस्मिन् समाना बन्धहेतुता।
इति मत्वैकतां तासां त्याज्यैवेत्यब्रवीच्छ्रुतिः।।१७१।।

देहयात्रा चलाने मात्र से अतिरिक्त कोई सांसारिक गतिविधि न रखे। भिक्षा से मिले में 'यह मेरा ही है' यह भाव न बनने दे, ममता न आने दे। अहंकार व ममकार से वर्जित रहना भिक्षा से उपलक्षित चर्या है। भोग्यमात्र में अनेकविध दोष शास्त्रसहकृत विवेकदृष्टि से देखने वाला साधक परिग्रह करे यह अशक्य है। भोग्य विषय दुःखप्रद हैं, यही इनमें बड़ा दोष है, इसी से विवेकी इनका वैसे ही परिग्रह नहीं करता जैसे बुद्धिमान् लोग बिच्छू का परिग्रह नहीं करते! पूर्वोक्त तीनों लोकों के हेतुओं की कामना छोड़ने में एवं परिग्रह न करने में विद्वान् का कोई आयास नहीं क्योंकि उसे प्राप्त आत्मज्ञान यही स्वाभाविक बनाता है कि वह कामना न करे, परिग्रह न करे। १६९ में 'न तु' इस 'तु' से बताया कि जो विद्वान् नहीं, विद्यार्थी है, उसे तो प्रयत्नपूर्वक एषणात्याग और अपरिग्रह करना होगा, सावधान रहना होगा। जो स्वादिष्ट लड्डू को जहरीला जान चुका है उसके ज्ञान के प्रभाव से ही वह उस लड्डू से दूर रहता है लेकिन जिसे मालूम नहीं, उससे कहें 'मत खाना' तो बेचारा कोशिश करके, मन मारकर ही रुका रहेगा। यहाँ 'विदित्वा व्युत्थाय' क्रमानुसार कहते हैं कि यह व्युत्थान तृप्त का है, पराजित का नहीं; मिष्टान्न से आकण्ठ पेट-भरा व्यक्ति विष जैसे नहीं खाना चाहता है वैसे स्वरूपानंद का साक्षात्कार करने वाला कामना व परिग्रह से दूर ही रहता है। चतुर्थाध्याय में बताया है कि कामनावान् को लोक-लोकांतर में भटकना पड़ता है जबकि निष्काम यहीं मुक्त है 'अथ अकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (४.४.६)। इस श्रुति की व्याख्या अनुभूतिप्रकाश १८.२४३-२५१ में द्रष्टव्य है।।१६८-७०।।

याज्ञवल्क्य ने 'या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः' द्वारा तीनों एषणाओं को एक के ही विभिन्न पहलू बताया ताकि सबको छोड़ने के लिये एक ही यत्न पर्याप्त हो, यह बताते हैं **इस एषणाओं के त्रिक में बंधनकारिता एक-सी है यह विचारकर श्रुति ने इनकी एकता कही और बताया कि एषणा त्यागने के ही योग्य है।।१७१।।** बन्धन, परिच्छिन्नता, दुःख का कारण बनना, समान होने से तीनों को एक कहना संगत है। कामना क्योंकि स्वाभाविक स्थिति से च्युत करती है, श्रम आदि में प्रवृत्त करती है, क्रोधादि में परिणत होती है, अपूर्ण रहने पर दुःख देती है; ये विशेषताएँ तीनों एषणाओं में समान हैं अतः विषयादि भेद से तीन होने पर भी एषणारूप से एक ही है। विभिन्न कही इसलिये कि साधक एक-एक कर

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेष्विति शास्त्रतः।
एषणात्वात् फलं त्याज्यं न तु कर्मादिसाधनम्।।१७२।।
इति भ्रमं व्युदसितुं प्राब्रवीत्साध्यसाधने।
उभे अप्येषणे एवेत्यतस्त्यागस्तयोर्द्वयोः।।१७३।।
अविशुद्धधियः कर्मण्यधिकारेऽपि शुद्धधीः।
सत्यां विविदिषोत्पत्तौ तदर्थं कर्म संत्यजेत्।।१७४।।

छोड़ने का प्रयास करे। एक ही एषणा सुनकर तथा युगपत् सारी कामना छूटना असंभव होने पर साधक किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है, इसलिये श्रुति ने एषणा का भेद बता दिया लेकिन ये तीन ही नहीं, समस्त कामना छोड़नी है यह समझाने के लिये इनकी एकता भी बता दी। (निर्णयसागरपाठ में 'एकता' पाठ है जो उत्तरत्र आये इति के कारण संगत हो जाता है।)।।१७१।।

तीन एषणाएँ कहने के बाद 'उभे ह्येते' ये दोनों ही हैं तो एषणा हीयों 'दोनों' क्यों कहा, 'तीनों' कहने के बजाये? इस शंका का समाधान करते हैं **'तुम्हारा अधिकार कर्म में ही है, फलों में नहीं' इस शास्त्र से सिद्ध होता है कि एषणाविषयभूत फल त्यागने योग्य है, कर्मादि साधन तो त्यागने योग्य नहींयह भ्रम मिटाने के लिये खासकर कहा कि साध्यगोचर हो या साधनगोचर, दोनों ही हैं एषणायें ही अतः दोनों का त्याग ज़रूरी है।।१७२-३।।** 'उभे' अर्थात् दो विभाग करें तो एक साध्य की एषणा और दूसरी साधन की एषणा। पुत्र-कर्म-लोक साध्य हैं पत्नी-धन-उपासना साधन हैं, अतः पूर्वोक्त तीन का दो में अन्तर्भाव स्वरस है। इस पर प्रश्न होता है कि भगवान् ने (गी.२.४७) फलेच्छा तो त्यागने को कही, कर्म को अवश्य कर्त्तव्य बताया जिससे समझ आता है कि फल या साध्य की एषणा ही त्याज्य है, साधन की एषणा त्यागना अयुक्त है। इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने बताया कि एषणा होने से दोनों ही त्यागना उचित है।।१७२-३।।

गीतावचन के विरोध का परिहार करते हैं **अविशुद्ध बुद्धि वाले का कर्म में अधिकार होने पर भी शुद्ध बुद्धि वाले को तो चाहिये कि जिज्ञासा उत्पन्न हो जाने पर उन कर्मों को भी छोड़े जो जिज्ञासा के लिये किये जा रहे थे।।१७४।।** भगवान् ने फलेच्छा छोड़कर कर्म का विधान इसीलिये किया है कि चित्त शुद्ध होकर विविदिषा, जिज्ञासा, मुमुक्षा, परमात्मप्राप्ति की इच्छा हो। निष्काम कर्म का यही प्रयोजन है। अतः जिज्ञासा हो जाने पर क्योंकि निष्काम कर्म का प्रयोजन प्राप्त हो

तस्माद्ब्रह्मविदः पूर्वे फलसंन्यासमाप्नुवन्।
तस्माद्विविदिषुः कुर्यात् पांडित्यं फलसिद्धये।।१७५।।
पाण्डित्यबाल्यमौनानि श्रवणादीनि तैरयम्।
भवति ब्राह्मणस्तत्र ब्राह्मण्यं ब्रह्मरूपता।।१७६।।

चुका इसलिये अब उन कर्मों का भी परित्याग उचित है। भगवान् ने योगारूढ के लिये शम को कारण कहकर (६.३) यह स्पष्ट किया भी है। क्योंकि अभी विविदिषा ही हुई है, विद्या नहीं, इसलिये श्रवणादि कर्म चलते रहेंगे अतः 'तदर्थं कर्म' अर्थात् चित्तशुद्धि प्रयोजन वाले कर्म छोड़ने को कहा अर्थात् कारक कर्म छोड़ने हैं, व्यंजक कर्म नहीं।।१७४।।

आगे याज्ञवल्क्य बोले 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिः। अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः।' यहाँ 'तस्मात्' अर्थात् इसलिये। इसे समझाते हैं **क्योंकि प्राचीन ब्रह्मवेत्ताओं ने फलभूत संन्यास ग्रहण किया था इसलिये जिज्ञासु को चाहिये कि फललाभ के लिये पाण्डित्य अर्जित करे।।१७५।।** बृहदारण्यक ४.४.२२ में आता है 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च··· भिक्षाचर्यं चरन्ति।' (अनुभूतिप्र. १८.३०९ में इसे इंगित किया है।) इस वाक्य में प्राचीन विद्वानों ने आत्मा को ही चाहने से पुत्रादि से निस्पृह हो संन्यास ग्रहण कियायह कहा है। इससे विविदिषु सीखे कि फलभूत विद्वत्संन्यास प्राप्त करने के लिये ज़रूरी विद्या, पाण्डित्य अर्जित करना अनिवार्य है। पाण्डित्य से आत्मसाक्षात्कार विवक्षित है।।१७५।।

पाण्डित्यादि पदों का विवरण करते हैं **श्रवणादि ही पाण्डित्य, बाल्य और मौन है। इन्हीं के अनुष्ठान से साधक ब्राह्मण होता है। यहाँ 'ब्राह्मण होना' अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होना।।१७६।।** श्रवण को पाण्डित्य, मनन को बाल्य और निदिध्यासन को मौन कहा है। श्रवण से ज्ञात तत्त्व के बारे में उपस्थित विरोधों का परिहार करना मनन तथा यों निर्णीत पूर्ण स्वरूप से ही बने रहना, उससे विचलित न होना, स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता न समझने लगनायही निदिध्यासन है। इससे मुख्य ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है जिसका स्वरूप ही परमात्मा है। अर्थात् यह ब्राह्मणता वर्णरूप नहीं कि पौरोहित्यादि में अधिकार आ जाता हो वरन् व्यापक चिद्रूप ही है।।१७६।।

गीता में भगवान् ने ज्ञानाग्निदग्धकर्मा को (४.१९) एवं समदर्शी को (५.१८) पण्डित कहा है। अतः आचार्य शंकर ने 'पण्डा आत्मज्ञाः, पण्डाऽऽत्मविषया बुद्धिर्येषान्ते हि

पण्डेति बुद्धेर्नामैतत् सा जाता यस्य मानतः।
स पण्डितस्तस्य कर्म पाण्डित्यं श्रवणं तु तत्।।१७७।।
आचार्याच्चागमाच्छ्रुत्वा निःशेषं वेदनं ततः।
बालभावेन तिष्ठासेद् युक्त्या मननतत्परः।।१७८।।

पण्डिताः पण्डित्यं निर्विद्येति श्रुतेः' (गीता भा. २.११) समझाया जिसे स्मरण कर पाण्डित्य का वर्णन करते हैं **'पण्डा' यह बुद्धि का नाम है। वह जिसे प्रमाण से उत्पन्न हो गयी वह पण्डित है। वह जो करे वह पाण्डित्य है जो तो श्रवण ही है।।१७७।।** बुद्धि अर्थात् सदसद्-विवेक करने वाला ज्ञान। वह भी प्रमाण से प्राप्त हो, अन्यथा मनमाना हठ ही होगा! बुद्धि तो निश्चय को कहते हैं, अप्रामाणिक भी निश्चय लोक में होते ही रहते हैं। उन सबको पण्डा नहीं वरन् श्रुतिप्रमाण से जन्य परमार्थ निश्चय को पण्डा कह रहे हैं। ऐसा पण्डित करेगा क्या? क्या करते-करते वह पण्डित बना? श्रवण करते रहने से ही बना अतः इसी के संस्कार से आगे भी श्रवण ही करता रहेगा। एवं च पण्डित का कर्म पाण्डित्य श्रवणरूप निश्चित हुआ। वेदान्तों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य निश्चय करना श्रवण है जिसका विस्तृत तरीका शारीरक प्रथमाध्याय में निरूपित है।।१७७।।

'बाल्य' पदार्थ बताते हैं **आचार्य और आगम से सुनकर, पूरी बात समझकर फिर युक्ति से मनन में संलग्न रहकर बालभाव से रहने में तत्पर होवे।।१७८।।** श्रवण आगम का एवं गुरुप्रोक्त ढंग से करना है अतः दोनों का कथन किया। आचार्य व्यक्ति होने से पुरुष-सुलभ सीमाओं वाले होंगे अतः सनातन प्रामाण्य उनमें होगा नहीं। इस कमी को वेद पूरा कर देता है। वह शब्दराशि ही है, उसका अभिप्राय उससे पता चलेगा नहीं अतः उसे समझाने वाला आचार्य वह कमी भी पूरी कर देता है। यों दोनों परस्पर पूरक हैं। बिना आचार्य के वेदविचार-मात्र आत्मवस्तु का प्रबोधक होना संभव नहीं। क्वचित् यदि होता है तो पूर्व संस्कार या ईश्वरकृपा ही हेतु है। रमणमहर्षि अत एव स्वयं को गुरुहीन नहीं मानते थे वरन् अरुणाचलेश्वर को गुरु बताते थे। यथाविधि श्रवण से 'मैं सर्वान्तर्यामी' बोध होगा। व्यवहार का प्रत्येक घटक इसकी काट करेगा, उसके परिहार का विवेकपूर्ण विचारात्मक प्रयास ही मनन है। वादग्रंथ पढ़ना-पढ़ाना ही मनन नहीं! अपने आत्मसाक्षात्कार का विरोध करने वाली मनोवृत्तियों की विरोधशक्ति समाप्त करना मनन हैं। यह विचाररूप है। व्यवहार में अच्छे-बुरे, सही-गलत आदि का विभाग देखने पर सर्वान्तर्यामी का ऐक्य असंगत लगने

श्रवणं शास्त्रतात्पर्यनिश्चयो मननं पुनः ।
अर्थासम्भावनोच्छित्त्यैयुक्तीनामनुचिन्तनम् । ।१७९ । ।
पाण्डित्येन विदित्वाऽथ छित्त्वा बाल्येन संशयम् ।
मुनिर्ध्यानसमाधिभ्यां भवेद्धीवृत्तिशान्तये । ।१८० । ।

पर, विभागादि व्यवहार उपाधिपर्यन्त ही है, ऐक्य उपहित का हैइस तथ्य को उपपन्न करते रह सकने की ताकत यहाँ बाल्य या बल है। बाल्य का 'ज्ञानबलभाव' भाष्य में अर्थ है। ज्ञान के बल का संवर्धन अनुकूल युक्ति-अनुसंधान से होता है। जिसमें शारीरक द्वितीयाध्याय सहायक है। साधक अपने साथ होने वाले व्यवहार के जवाब में कभी भी राग-द्वेष से प्रेरित न होवेयह बल प्राप्त करना है। अन्य लोग तो शरीरदृष्टि वाले होने से तथोचित कर रहे हैं, मैं आत्मदृष्टि वाला हूँ अतः तथोचित ही करूँयह विवेकपूर्ण निश्चय रखना यहाँ बल है। अतः'अनाविष्कुर्वन्ननन्वयात्' (३.४.५०) अधिकरण में भाष्य है 'आन्तरो भावविशेषो बालस्य अप्ररूढेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयते। ... ज्ञानाध्ययनधर्मिकत्वादिभिरात्मानम् अविख्यापयन् दम्भदर्पादिरहितो भवेत्।' अर्थात् जैसे बच्चा ऐन्द्रिय आकर्षणों से अविक्षिप्त रहता है, दिखावा करना नहीं जानता, वैसे रहना बाल्य है। बृहदारण्यक में विषयदृष्टि का तिरस्कार बल बताया है (भाष्य ३.५.१)। दोनों का संमिलित तात्पर्य समझकर उपरमतापूर्वक श्रवणनिष्ठार्थ विचारतत्परता को बाल्य जानना चाहिये। संसारसत्यता के भ्रम को दृढतर करना रूप व्यवहार सर्वथा छोड़ते ही रहना साधक का कार्य है। ।१७८ । ।

पाण्डित्य-बाल्य का भेद व्यक्त करते हैं **शास्त्र के तात्पर्य का निश्चय श्रवण है। मनन है : शास्त्र का अभिप्रेत अर्थ असंभव हैइस भावना के समापन के लिये युक्तियाँ सोचना। ।१७९ । ।** उपक्रमादि चिह्नों से शास्त्र का वास्तविक तात्पर्य स्वयं निर्णय करना श्रवण है। यह खुद को निश्चय करना है, केवल पूर्वाचार्यों के वचन याद नहीं कर लेने हैं। इस प्रकार निर्णीत अर्थ असंभव लगता है, मैं नित्यशुद्धादि अखण्ड आनंद हूँयह बात असंभव लगती है। इस असंभावना (असंभव लगना) को दूर करने के लिये, इसको निराधार बनाने के लिये युक्ति-विचार मनन है। सारे विरोध दृश्य को लेकर हैं, उनसे द्रष्टा के स्वरूप में कैसे अंतर आयेगा यही मूल आधार है जिस पर चिंतन करते-करते युक्तियाँ निकलती हैं जिनसे यह असंभावना दूर हो जाती है। ।१७९ । ।

इनके अनन्तर कर्त्तव्य मौन समझाते हैं **पाण्डित्य से आत्मा को जानकर फिर बाल्य से संशय मिटाकर ध्यान व समाधि द्वारा बुद्धि की वृत्ति को शांत करने**

प्रशान्तवृत्तिके चित्ते परमानन्ददीपके।
कृतकृत्यो ब्रह्मभावं गतो ब्राह्मण उच्यते।।१८१।।

के लिये मुनि बने।।१८०।। आत्मस्वरूप का ख्याल बना रहे यह ध्यान है तथा यह ख्याल भी हट जाये, स्वरूप ही रहे तब समाधि है। ख्याल न रहने पर अनभ्यासी को नींद आती है अतः 'लये सम्बोधयेत्' आदि ढंग बताया गया है लेकिन कषाय आदि दोष न रहने पर अभ्यासी को सम-प्राप्ति और वहीं स्थिरता होती है। इसी के लाभार्थ जो करना है वही 'मुनि बनना' है। ब्रह्मसूत्रों में ३.४.१४ अधिकरण है जहाँ विचार है कि मुनि बनने की विधि क्यों है। भाष्यकार ने कहा है कि मुनि के मायने हैं ज्ञान की बहुतायत में जो तत्पर है, मनन करता रहता है, युक्तियों (तरीकों) से ज्ञान को निर्मल बनाता रहता है। संन्यासी भी ज्ञानप्रधान होने से मुनि हैं, न कि मुनि संन्यासी ही होते हैं क्योंकि ग़ैर संन्यासी वाल्मीकि आदि भी मुनि माने गये हैं। व्युत्थान, भिक्षाचरण आदि पूर्वोक्त सन्दर्भ से ही समझ आता है कि यह विधान संन्यासी के लिये है कि वह मुनि बने अर्थात् ज्ञाननिष्ठा को अधिकाधिक गम्भीर बनाये। यद्यपि श्रेष्ठ अधिकारी स्वयं यही प्रयास करेगा तथापि भेददर्शन में बहिर्मुखता लाने का बहुत बल है अतः संभव है कोई पाण्डित्य-बाल्य पाकर भी विचलित हो जाये, इसलिये अत्यन्त हितैषिणी श्रुति विधिपूर्वक सावधान कर रही है कि संन्यासी अन्य कुछ न करने-सोचने लगे, केवल आत्मनिष्ठ रहे। यह ऐसा प्रसंग है जहाँ भामतीकार को भी श्रवणादिका विधान मानना पड़ता है! इस प्रकार, स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त और गुणातीत के लक्षण स्वयं लाने को लगातार यत्नशील रहना संन्यासी का कार्य निश्चित हो जाता है। श्रुति ने इसलिये 'संन्यासयोगाद्यतयः' आदि में यति के लिये संन्यासरूप योग का निर्देश दिया है अर्थात् इस 'योग' में तत्पर संन्यासी ही शुद्धसत्त्व होते हैं। आचार्य जगह-जगह संन्यासी को बहिर्मुखता से बचकर केवल आत्मचिन्तन करने के लिये प्रेरित करते ही हैं। परंपरा में इस तथ्य पर सर्वाधिक गौर श्रीशंकरानंद स्वामी ने गीताटीकादि में किया है।।१८०।।

इन सब साधनों को बातकर 'अथ ब्राह्मणः' कहा, उसका भाव बताते हैं **वृत्तियाँ प्रशान्त होने पर चित्त परमानन्द का दीपक बन जाता है। ऐसे चित्त वाला कृत-कृत्य, ब्रह्मस्वरूप को पा चुका ब्राह्मण कहा जा रहा है।।१८१।।** श्रुति के 'मौन' से ध्यान और 'अमौन' से समाधि, दोनों की पूर्त्ति पर चित्त प्रशान्त होता है। वासना ही चित्त को अशान्त करती है अतः दीर्घाभ्यास से वासना क्षीण होने पर चित्त सब वृत्तियों से रहित अत्यन्त निर्मल हो जाता है तो वह आत्मा के बिलकुल

केनेति लक्षणप्रश्नो येनेदृक्तेन लक्ष्यताम्।
इत्युत्तरवचो योज्यं तस्यार्थः प्रविविच्यते।।१८२।।
गीतायां कुत्रचित् प्रोक्तं स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम्।
अन्यत्र विष्णुभक्तस्य गुणातीतस्य च क्वचित्।।१८३।।
येन चिह्नेन तत्रायमीदृगेव निरेषणः।
उपलक्षयितुं शक्यस्तदेवाऽस्त्यस्य लक्षणम्।।१८४।।
ब्रह्म यादृक्तादृगेव भवेद्विद्वान्विबोधतः।
बोधोऽतो लक्षणं तस्य बोधश्च स्वात्मसाक्षिकः।।१८५।।

सही रूप को दिखा देता है। वृत्ति भी दिखाती है लेकिन वह तो चिरकाल स्थायी होगी नहीं अतः निर्वृत्ति चित्त ही स्थिर दीपक हो परमानंद को दिखाये यह संगत है। लेकिन 'प्रशान्तर वृत्तिकं' से बताया कि अगर श्रवणादि से असंशयित अखण्ड बोध नहीं हुआ, अखण्डाकार, साक्षात्कार नहीं हुआ, तो चित्त प्रशांत होने पर भी कृतकृत्यता नहीं आयेगी। पहले वृत्ति हो, फिर शांत हो तब यह फल होता है जैसे पहले कमायें फिर खर्चें तब विषयसुख होता है। इसलिये श्रवणादि के बगैर भले ही समाधि स्थिर हो जाये, उससे अन्यान्य विभिन्न फल ज़रूर मिलेंगे पर यहाँ जो ब्राह्मण कहा है वह कहलाने लायक नहीं बनेंगे। आत्मा परमानंदस्वरूप है अतः शुद्ध चित्त में वैसा ही दीखता है। यहीं तक कृत्य, करने योग्य है, यह सब कर चुकने पर फिर करने लायक कुछ नहीं रहता। इसी से ब्रह्मभाव का आविर्भाव है जो हो जाने पर वेद की दृष्टि से ब्राह्मण-शब्द की विषयता आती है।।१८१।।

कहोल कौषीतकेय ने अंतिम प्रश्न पूछा 'स ब्राह्मणः केन स्यात्?' वह ब्राह्मण काहे से होता है? याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया 'येन स्यात्तेनेदृश एव' जिससे होता है उससे ऐसा ही होता है। इस प्रसंग को स्पष्ट करते हैं **'केन' आदि आत्मज्ञानी के लक्षण के बारे में प्रश्न है। इसका उत्तर यह वाक्य है 'जिससे ऐसा है उससे उसे लक्षित समझा जाये।' इसके अर्थ का स्पष्ट विवेचन करते हैं।।१८२।। गीता में कहीं स्थितप्रज्ञ का लक्षण कहा, अन्यत्र विष्णुभक्त का और कहीं गुणातीत का लक्षण बताया।।१८३।। गीता में आत्मज्ञानी को जिस भी चिह्न से कहा, इसे ऐसा ही एषणारहित समझा जा सकता है अतः वही (ऐषणाहीनता) इसका लक्षण है।।१८४।। जैसा ब्रह्म है, तत्त्वसाक्षात्कार से विद्वान् वैसा ही होगा। इसलिये उसका लक्षण ज्ञान है और ज्ञान में स्वात्मा ही साक्षी होता है।।१८५।।** तत्त्ववेत्ता

अतोऽन्यदार्तमित्येष व्यतिरेकस्त्रिधोच्यते।
प्रतीचो ब्रह्मतेहोक्ता भेद आर्तस्ततस्तयोः।।१८६।।

का लक्षण क्या? इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि जिससे अर्थात् जिन विशेषताओं से वह अर्थात् तत्त्ववेत्ता ऐसा अर्थात् पण्डित-बाल-मुनि-ब्राह्मण है उसी विशेषता को उसका लक्षण समझ लेना चाहिये। इससे अतिरिक्त उसमें कोई अनुगत दृश्यभूत चिह्न नहीं बता सकते। गीता में स्थितप्रज्ञ (२.५५), भगवद्भक्त (अध्याय १२) और गुणातीत (१४.२२-७) के लक्षणों द्वारा आत्मवेत्ता का परिचय कराया है लेकिन तीनों प्रसंगों का सार इतना ही है कि वह निष्काम होता है। निरेषण (निष्काम) होनायह आत्मज्ञका लक्षण भगवान् के वाक्यों से भी निश्चित होता है। ज्ञानी को उपलक्षित करना हो तो अकामता से ही कर सकते हैं। क्योंकि दूसरे की कामना दीखती नहीं इसलिये अकामता भी दीख तो नहीं सकती पर कामना की तरह समझी जा सकती है, इसे सूचित करने के लिये लक्षयितुम् के बजाये उपलक्षयितुम् कहा अर्थात् लगभग लक्षित कर सकते हैं। वास्तव लक्षण नहीं क्योंकि सास्ना जैसे गाय का जाहिर लक्षण है वैसे अकामता सर्वविदित नहीं हो सकती, विशेष योग्यता वाला ही पहचान सकता है। सर्वथा निश्चित लक्षण तो उसका ज्ञान है और वह भी स्वयं उसी को प्रत्यक्ष है! अतः कोई दूसरा उसे आत्मज्ञ पहचान सके ऐसा स्पष्ट लक्षण (निश्चित चिह्न) कोई नहीं, निकट से निकट लक्षण है तो अकामता। ब्रह्मवेत्ता क्योंकि ब्रह्म ही है इसलिये जैसे ब्रह्म का कोई परप्रत्यक्ष लक्षण नहीं वैसे ब्रह्मज्ञ का नहीं। सत्त्यादि स्वरूपलक्षण स्वरूप होने से ही केवल ब्रह्म को पता हैं तथा जगत्कारणतादि तटस्थ होने से 'उप' ही लक्षण हैं और ऐसे स्पष्ट भी नहीं कि सब समझ सकें अन्यथा इतने अनीश्वरवादी होते ही नहीं! वास्तविक लक्षण ज्ञान स्वात्मसाक्षिक अर्थात् केवल आत्मा को मालूम है। ऐसे ही तत्त्वज्ञान भी केवल तत्त्वज्ञानी को मालूम है। जैसे हमें क्या पता है यह ठीक से तो हमें ही मालूम हो सकता है, दूसरा तो हमारे कहने से जितना समझेगा उतना ही जानेगा, सर्वथा जान नहीं सकता, वैसे तत्त्वज्ञ का ज्ञान भी उसी को मालूम है। इस प्रकार कहोल को समझाया कि व्यावहारिक लक्षण निष्कामता और पारमार्थिक लक्षण ज्ञान ही है।।१८२-५।।

याज्ञवल्क्य ने प्रसंग समाप्त इन शब्दों से किया 'अतोऽन्यद् आर्तम्।' इसे समझाते है **'इससे अन्य सब आर्त है' यह तीन तरह का अभाव कहा गयाः (१) इस ब्राह्मण में प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता बतायी अतः उनमें परस्पर भेद आर्त मायने मिथ्या है।।१८६।। (२) निष्कामता विद्या में हेतु बतायी अतः विद्या के प्रसंग**

निरेषणत्वं विद्याया हेतुरार्ता इहैषणाः।
विदुषो लक्षणं बोध आत ‘ तल्लक्षणान्तरम्।।१८७।।

प्रथमो गार्गीप्रश्नः

षष्ठेऽस्मिन् ब्राह्मणे ब्रह्मकार्यं सर्वं विविच्यते।
सर्वान्तरत्वं सुज्ञेयं ब्रह्मणः सर्वनिर्णयात्।।१८८।।

में एषणा वाले आर्त अर्थात् विद्याहीन हैं। (३) विद्वान् का लक्षण ज्ञान है अतः उसके अन्य लक्षण आर्त हैं अर्थात् हैं ही नहीं।।१८७।। अपनी सर्वान्तरता, उसका साधन और उसके फलस्वरूप स्थितिइन तीन से अतिरिक्त सब आर्त, नश्वर, मिथ्या, हेय है। कहोल कौषीतकेय इससे सन्तुष्ट हो गया, आगे कुछ पूछना अनावश्यक समझा। यों पाँचवें ब्राह्मण का विचार पूरा हुआ।।१८६-७।।

तीसरे अध्याय का छठा ब्राह्मण गार्गी द्वारा पूछे प्रश्न और याज्ञवल्क्य द्वारा दिये उत्तर के रूप में उपलब्ध है। गार्गी ने छठे और आठवें ब्राह्मणों में प्रश्न किये हैं। बाकी को एक-एक बार मौका मिला, उसे दो बार मिला। शाकल्य ने यद्यपि गिनती में बहुत ज़्यादा प्रश्न किये तथापि साक्षात् ब्रह्मविद्या से सम्बद्ध वे नहीं हैं। छठे में ‘ओत-प्रोत’ का क्रमशः विवरण पूछा जिसमें उसने जल से प्रारंभ किया और याज्ञवल्क्य ने वायु, अन्तरिक्षलोक, गन्धर्वलोक, आदित्यलोक, चन्द्रलोक, नक्षत्रलोक, देवलोक, इन्द्रलोक, प्रजापति लोक और ब्रह्मलोक का कथन किया। ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत हैं?यह पूछने पर याज्ञवल्क्य ने गार्गी को सावधान किया कि ऐसा अतिप्रश्न हानिकर होगा, गार्गी पूछे इस लायक यह सवाल नहीं। ‘अतिप्रश्न’ अर्थात् जिस वस्तु को तर्क-रीति से विषय न किया जाना उचित हो उसे तर्क से जानने का प्रयास। इस सन्दर्भ को श्लोक २०१ तक समझाना है।

ब्राह्मण का भाव सूचित करते हैं **इस छठे ब्राह्मण में ब्रह्म के सारे कार्य का विवेचन किया है क्योंकि ‘सब’ का निर्णय हो जाने से ही समझ आयेगा कि ब्रह्म ‘सब’ के अंदर है।।१८८।।** चौथे ब्राह्मण में परमात्मा को सर्वान्तर कहा था एवं पाँचवें में उसे प्रत्यगात्मा बताया था। ये दो ही बातें समझने की हैं। अब सर्वान्तरता के स्पष्टीकरण के लिये यह ब्राह्मण है। ‘सब’ अलग और उसके ‘अंदर’ आत्मा अलग, ऐसी सर्वान्तरता न समझ ली जाये इसलिये ‘ओत-प्रोत’ शब्दों में कार्य-कारणता व्यक्त कर बताया जा रहा है कि परमात्मा ही सर्वकारण होने से सर्वान्तर है।।१८८।।

गार्गी के पूछने का आधार व्यक्त करते हैं **जो-जो कार्य होता है वह भीतर-बाहर से कारण से व्याप्त (घिरा) रहता हैइस तर्क से कारण की परम्परा गार्गी ने**

यद्यत्कार्यं कारणेन व्याप्तमन्तर्बहिश्च तत्।
इति तर्केण पप्रच्छ कारणस्य परम्पराम्।।१८९।।
पार्थिवं कठिनं सर्वमोतं प्रोतं द्रवे जले।
दधिपिंड इव क्षीरे जलं कुत्र तथा स्थितम्।।१९०।।
दीर्घतन्तुवदोतत्वं तिर्यक्तन्तोरिवेतरत्।
यद्वाऽन्तर्व्याप्तिरोतत्वं प्रोतत्वं तु बहिः स्थितिः।।१९१।।

पूछी।।१८९।। तर्क पर या आगम पर आधारित ही विचार होता है। जैसे यदि प्रत्यक्ष से सिद्ध है कि जल ठण्डा होते-होते चार अंश सेण्टीग्रेड से पुनः हल्का होने लगता है तो 'सब चीज़ें ठण्डी होकर भारी ही होती हैं' इस नियम पर आधारित तर्क बेमानी है, वैसे आगमैक समधिगम्य वस्तु का आगमानुसारी विचार ही योग्य है, तर्क से विश्लेषण नहीं। इस प्रश्न के अन्त में यही स्थिति आयी है कि गार्गी ने तर्क उस पर लागू किया जो आगमसिद्ध है और उसे लज्जित होना पड़ा। फिर भी तर्क के क्षेत्र में उसे लागू कर तथ्य समझना ही चाहियेयह भी प्रदर्शित करना है। अतः यहाँ दोनों बातें स्पष्ट कर रहे हैं। जैसे कपड़ा धागे से ओत-प्रोत है वैसे सभी कार्य अपने कारण से ओत-प्रोत हैंयह गार्गी का मूल तर्क है। कपड़े में ताना और बाना होता है अर्थात् लम्बाई में और चौड़ाई में धागे होते हैं, उन्हें ही ओत और प्रोत कहते हैं। कपड़े के बाहर-भीतर सिवाय धागे के कुछ है नहीं। अतः कपड़ा बाहर-भीतर से धागे से व्याप्त समझा जाता है। इसी ढंग से यहाँ प्रश्न-परंपरा है।।१८९।।

प्रथम प्रश्न है 'यदिदं सर्वम् अप्सु ओतं च प्रोतं च, कस्मिन्नु खलु आप ओताश्च प्रोताश्चेति', इसे बताते हैं **सभी कठोर पार्थिव चीज़ें द्रवरूप जल में ओत-प्रोत हैं जैसे दूध में दही का पिण्ड। इसी तरह जल कहाँ स्थित है?।।१९०।।** बिना जल के जैसे सूखा सत्तू बिखर ही जाता है वैसे कोई पार्थिव शरीर (संहतावयव) बिना जलीयांश के सम्पिण्डित नहीं रहता।।१९०।।

ओत-प्रोत शब्दों का अर्थ कहते हैं **लम्बे धागे की तरह ओतता और चौड़ाई में बिने धगे की तरह प्रोतता समझनी चाहिये। अथवा, भीतर से व्याप्त करना ओतता और बाहर से व्याप्त करना प्रोतता है।।१९१।।** माला में सूत्र प्रोत कहा जाता है किंतु पुष्पादि सूत्र के 'बाहर' होते हैं, ऐसे कार्य को कारण से 'बाहर' न समझ लें इसलिये 'बाहर से' भी व्याप्ति ओत-शब्द से कही जा रही है।।१९१।।

जलस्य कारणं तेजस्तेजसो वायुराश्रयः।
श्रुत्यन्तरादिदं ज्ञेयं वायोस्तु वियदाश्रयः।।१६२।।
भूम्यादिवियदन्तानां भूतानामुत्तरोत्तरम्।
सूक्ष्मताव्यापिते दृष्टे ताभ्यां कारणतेक्ष्यताम्।।१६३।।

गार्गी-प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने 'वायौ' कहा कि जल वायु में ओत-प्रोत है। प्रायः समझा जाता है कि वायु का कारण तेज (अग्नि) है। लोकानुभव भी कुछ ऐसा ही है : जगह (आकाश) हो तब तेज़ी से चलने पर हवा (वायु) ज़्यादा लगती है, फिर शरीर में गर्मी (अग्नि) आने पर पसीना (जल) आता है जो सूखकर मैल (पृथ्वी) बन जाता है। अतः जल का हेतु अग्नि कहना था, जबकि बताया वायु! भाष्यानुसार याज्ञवल्क्य का भाव है कि अग्नि की उपलब्धि जल या मिट्टी की बगैर होती नहीं कि तर्कभूमि पर अकेले अग्नि का उल्लेख किया जा सके। अंतरिक्ष में सूर्य-किरणें होने पर भी अत्यंत शीतलता इसीलिये है कि गर्म होने लायक जल या पृथ्वी वहाँ नहीं है। अग्निमात्र अर्थात् पृथ्वी-जल के बिना अग्नि प्रत्यक्षसिद्ध न होने से तर्क-प्रयोग में उल्लेख योग्य नहीं अतः इस क्रम में उसे छोड़ा। आचार्य तो बताते हैं कि अन्यत्र प्रसिद्ध होने से अग्नि को यहाँ भी समझ लेना चाहिये **यह बात अन्य श्रुति से समझ लेनी चाहिये कि जल का कारण अग्नि और अग्नि का आश्रय अर्थात् कारण वायु है। वायु का तो आश्रय (कारण) आकाश है।।१६२।।** 'अन्य श्रुति' अर्थात् तैत्तिरीय उपनिषत् का वचन (२.१) 'आकाशाद्वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी।' ऐसे ही छान्दोग्योपनिषत् में तीन की ही सृष्टि बतायी लेकिन जल का कारण तेज ही कहा। विद्यारण्य स्वामी का आशय है कि इन श्रुतियों का विरोध करना याज्ञवल्क्य का भाव नहीं समझना चाहिये वरन् क्रम में अनुक्त को यथोचित स्थान दे देना चाहिये। सूत्रकारने भी जल को तेज से जन्य कहा (२.३.५.११)। 'वायुमब्दाद् अविशेषविशेषाभ्याम्' (४.३.२) अधिकरण का भी तात्पर्य ऐसा समझ आता है कि श्रुति में कहीं भी बताये क्रम का यथासंभव उपपादन होना चाहिये। तर्काश्रित प्रश्न के उत्तर में आगम का आश्रयण ठीक नहीं यह मानकर भाष्य में समझाया।।१६२।।

पृथ्व्यादि कारणक्रम उपपन्न करते हैं **भूमि से शुरू कर आकाश पर्यन्त सूक्ष्मता और व्यापिता देखने में आती हैं। इन दोनों के सहारे कारणता समझी जाती है।।१६३।।** पृथ्वी से जल सूक्ष्म और व्यापक है, जल से तेज सूक्ष्म और व्यापक हैयों आकाश तक प्रत्यक्ष है। सूक्ष्म और व्यापक कारण होता है, स्थूल और व्याप्त

पंचभूतेभ्य उत्पन्ना अस्मद्देहादयोऽखिलाः।
ब्रह्माण्डान्ता इमे देहा भोग्यत्वाल्लोकसंज्ञकाः।।१६४।।

कार्य होता हैयह लोकदृष्टि से भी निर्धारित है। इस आधार पर भूमि आदि कार्य एवं आकाशपर्यन्त कारण समझना संभव है। आचार्य शंकर ने इसी आधार पर प्रत्यगात्मा तक विचार किया है 'सूक्ष्मताव्यापिताप्रकरण' में (उप.सा.पद्य६)।।१६३।।

गार्गी ने आगे 'वायु कहाँ ओत-प्रोत है?' पूछा तो याज्ञवल्क्यने 'अन्तरिक्षलोकेषु' कहा। इसके बाद भी गंधर्वलोक, आदित्यलोक आदि 'लोक' कहे। आचार्य बताते हैं कि यहाँ 'लोक' का क्या अर्थ है **पाँचों भूतों से उत्पन्न हमारे शरीरादि ब्रह्माण्ड पर्यन्त सब पदार्थ ये जो प्रसिद्ध हैं, सब देह ही हैं एवं भोगविषय होने से इनका नाम 'लोक' है।।१६४।।** वायुके बाद सूक्ष्म-व्यापक वस्तुओं को अन्तरिक्षलोक आदि कहकर याज्ञवल्क्य ने भोग-भूमियों का उल्लेख किया है। भाष्य में बताया है कि पूर्वोक्त भूत ही प्राणियों के उपभोग के आश्रय के आकार में परिणत हुए सूक्ष्मता-व्यापकता के क्रम से अंतरिक्ष लोकादि कहे गये हैं। इस क्रम में प्रजापतिलोक शब्द से विराट्-शरीर (समष्टि स्थूल) कहा है। एवं ब्रह्मलोक शब्द से ब्रह्माण्ड के उत्पादक भूत कहे हैं। इसी के अनुसार यहाँ कहा कि हमारे देहों से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त जो कुछ भी भोग्य है वह लोक कहा गया है। लोक उसे कहते हैं जिसका अवलोकन अर्थात् विषयतया अनुभव होवे अतः सभी देह लोक हैं। देहधारी द्वारा तो भोग्य हैं ही, अन्यों द्वारा भी भोग्य हैं जैसे मालिक के लिये कार्य करने वाला उसका भोग्य होता है एवं वेतनादि देते हुए मालिक उसका भोग्य होता है। अंतरिक्षलोकादि एक-दूसरे से व्यापक हैं यह शास्त्र से प्रकट है। व्यापक के अंतर्गत व्याप्य आ जाता है। हम चलते हैं तो हमारे शरीर में जो भी कीटाणुआदि हम से भिन्न जीव हैं वे भी साथ चलते हैं। उनके चलने से तो हम नहीं चलते, हमारे चलने से उनका चलना अर्थसिद्ध हो जाता है, अनिवार्य हो जाता है। ऐसे ही विराट् की गति से हम सबकी गति होती है जब कि हम चाहे जितनी गति करते रहें, विराट् में कोई अन्तर आने की संभावना नहीं! जैसे हमारा देह पंचभूतों से बना है ऐसे ही ब्रह्माण्डदेहधारी का देह अर्थात् ब्रह्माण्ड भी पाँचों भूतों से ही बना है। हमारा स्थूल और व्याप्य है, उसका सूक्ष्म और व्यापक है। पृथ्वी के दृष्टांत से समझ सकते हैंपृथ्वी देवता का शरीर पृथ्वी हम लोगों के शरीरों से सूक्ष्म और व्यापक है। उसके चलने आदि पर हमें चलनादि ही है जबकि हमारे दौड़ने-भागने से पृथ्वी कुछ हिल-डुल जाती हो ऐसा नहीं! पृथ्वी सूक्ष्म ऐसे कि वह कारण है। पृथ्वी से जल इत्यादि भी इसी तरह व्यापक व सूक्ष्म हैं और जो लोक कहे

यथैकस्मादिक्षुरसादुत्तरोत्तरपाकतः ।
गुडादीनि बहूनि स्युर्भूतेभ्योऽण्डादयस्तथा ।।१६५।।
नरगन्धर्वमार्तण्डचन्द्रनक्षत्रदेवताः ।
इंद्रो विराट् तदण्डं चेत्येता भूतदशाः स्मृताः ।।१६६।।
तत्तद् देहारम्भदशास्तत्तन्नाम्ना समीरिताः ।
स्थूलसूक्ष्मदशास्तासु कार्यकारणता क्रमात् ।।१६७।।

वे भी क्रमशः वैसे ही सूक्ष्म हैं। इस प्रकार देहों को भोग्य कहकर आचार्य ने तर्क भी सूचित कर दिया कि जो-जो भोक्ता होता जायेगा वह सूक्ष्म-व्यापक होता जायेगा। व्यापक क्योंकि व्याप्य का भोक्ता बन जाता है, व्याप्य उसके अन्तर्भुक्त हो जाता है, इसलिये उसमें भोग्य को ओत-प्रोत कहना संगत हो गया। अतः लोक-शब्दों से यहाँ तत्तत् के अधिष्ठाता का उल्लेख समझना चाहिये। अंतरिक्ष का अधिष्ठाता गन्धर्वलोक के अधिष्ठाता में ओत प्रोत, उसका कार्य है इत्यादि समझते जाना चाहिये।।१६४।।

पाँच भूत एक-से तो इतने लोक कैसे? इसे सोदाहरण समझाते हैं **जैसे ईख का रस एक ही होता है पर उसे पकाते जाते हैं तो गुड आदि बहुत चीज़ें तैयार हो जाती हैं वैसे महाभूतों से ब्रह्माण्ड आदि विविध लोक निर्मित हैं।।१६५।। मनुष्य, गंधर्व, मार्तण्ड (सूर्य), चन्द्र, नक्षत्र, देवता, इन्द्र, विराट् और उसका अण्ड (ब्रह्मलोक)ये महाभूतों की अवस्थाएँ समझायी गयी हैं उस-उस शरीरकी आरम्भदशा उस-उस नामसे कही है। इनमें स्थूल-सूक्ष्म दशाओं में यथाक्रम कार्य-कारणभाव है।।१६६-७।।** गन्ने के रस से पाकवश गुड, खाँड, चीनी (शक्कर), मिश्री आदि विभिन्न वस्तुएँ प्रत्यक्ष हैं। मिट्टी के तेल को विभिन्न स्तरों तक पकाने पर ऐसी विलक्षण तरह-तरह की चीज़ें बन रही हैं जिनमें यह पहचानना ही सम्भव नहीं कि ये मिट्टीतेल ही हैं! हवाईजहाज में भरा जाने वाला पेट्रोल और सड़क पर बिछने वाली डामर, दोनों एक ही मिट्टीतेल की दशाएँ हैं। ऐसे ही सभी लोकों के सभी शरीरादि भोग्य पाँच भूतों के ही विकार हैं, स्थूलता-सूक्ष्मता का ही अन्तर है। जो भूतदशा जिस देह को बनाती है उस नाम से उस दशा का उल्लेख है : मानव देह को बनाने वाली दशा के महाभूत मनुष्य लोक कहे जायेंगे, ऐसे ही गंधर्व-मार्त्तण्डादि लोकों को समझ लेना चाहिये। सर्वत्र भोग्य भौतिक हैं और प्राणी अपने कर्मानुसार उन्हें भोगता है। एक लोक में सभी को सभी भोग उपलब्ध नहीं होते जैसे मनुष्य लोक में ही कोई अस्सी कमरों के मकान में रहता है, कोई सड़क-किनारे सर्दी-गर्मी निकालता है। फिर भी लोक तो एक है। इन लोकों में स्थूल कार्य है और सूक्ष्म कारण है। यह क्रम ठेठ ब्रह्मलोक तक है।।१६५-७।।

पंचीकृतानां भूतानां सूक्ष्मताऽण्डे समाप्यते।
एतावदेव तर्केण गम्यं न तु ततः परम्।।१९८।।
अण्डारम्भकभूतानामपंचीकृतभूतजम्।
सूत्रं कारणमित्येतदागमेनैव गम्यते।।१९९।।
अचिंत्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
सूत्रान्तर्याम्यक्षराणि तार्किका नानुमन्वते।।२००।।
तर्काभासो भवेत्तेषु हेतुदृष्टान्तवर्जनात्।
अन्यथा प्रतिपत्त्याऽतो मूर्धपातं मुनिर्जगौ।।२०१।।

इस पर जब गार्गी ने 'कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्च' पूछा तब याज्ञवल्क्य ने उसे पूछने से ही मना कर दिया कि ब्रह्मलोक से आगे तर्क का क्षेत्र नहीं है। इस भाग का वर्णन करते हैं **पंचीकृत भूतों की सूक्ष्मता ब्रह्माण्ड तक पहुँच कर समाप्त है। तर्क से यहीं तक समझ सकते हैं, इससे आगे नहीं।।१९८।। ब्रह्माण्ड के रूप में परिणत होने वाले भूतों का कारण अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न सूत्रात्मा हैयह बात शास्त्र से ही पता चलती है।।१९९।। जो चीज़ें तर्क से चिन्तन के अयोग्य हैं उन पर तर्क लागू नहीं करना चाहिये। सूत्र, अन्तर्यामी और अक्षर तत्त्वों का अनुमान तार्किक (भी) नहीं करते।।२००।। इनके बारे में किया जाये तो वह तर्क का आभास ही होगा क्योंकि न हेतु और न दृष्टान्त मिलेगा। इसलिये यों विचार करने से ग़लत ही ज्ञान होगा जिसके फलस्वरूप मूर्धा गिर जायेगी। ऐसा याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा।।२०१।।** तर्क का आधार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष होने से स्थूलभूतों की पराकाष्ठा ब्रह्माण्ड शरीर तक तर्क की गति है, उससे परे का चिन्तन करने में तर्क अक्षम है। स्थूल का हेतु सूक्ष्म है अर्थात् पंचीकृत का कारण अपंचीकृत हैं किंतु अपंचीकृत कभी भी इंद्रियगोचर न हो सकने से तर्क के काबिल नहीं। अपंचीकृत भूतों से जो शरीर बनता है वह है सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) का जो शास्त्रों से ही पता चलता है। इससे परे अंतर्यामी (ईश्वर) और उससे परे अक्षर (निर्विशेष), ये भी शास्त्र से ही समझ आयेंगे, तर्क से नहीं। ये 'भाव' अर्थात् तथ्य अचिन्त्य हैं अतः मनु महाराज का निर्देश है कि इन्हें तर्क से मत समझो। इसी का पालन करते हुए न्यायशास्त्री भी इनके बारे में तर्क नहीं चलाते। सांख्य, बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि युक्तिवादी ईश्वर को नहीं मान पाते। बौद्ध व चार्वाक तो जीवात्मा को भी नहीं मान सके क्योंकि वह भी तर्क से परे ही है। गौतमानुयायी भले ही तर्क से ईश्वर को समझने

का अभिमान रखें फिर भी वे जिसे समझते हैं उसने परमाणु तो नहीं बनाये, आकाश नहीं बनाया, काल नहीं बनाया! अतः सर्वकारण ईश्वर उन्हें भी समझ नहीं आया क्योंकि अचिन्त्य है। सूत्रात्मा आदि के बारे में तर्क करेंगे तो भले ही वह लगे तर्क लेकिन होगा नहीं क्योंकि जहाँ हेतु मिले, कोई उदाहरण हो वहीं तर्क हो सकता है और ये वस्तुएँ अतींद्रिय होने से इनसे हेतु संबंध नहीं दीख सकता एवं इन जैसी कोई अन्य वस्तु है नहीं कि दृष्टांत मिले। ईश्वर के बारे में ही दृष्टांत कहाँ मिलेगा! कुम्हार, जुलाहा आदि सशरीर, बाप-दादे वाले, अपने से भिन्न मिट्टी-धागे आदि से बनाने वाले, बेचना-पहनना आदि प्रयोजन से बनाने वाले, कहीं बैठ-खड़े होकर बनाने वाले मिलते हैं जबकि सभी तरह इनसे विलक्षण है तो ये ईश्वर में दृष्टान्त कैसे हो! इसलिये इन तत्त्वों को तर्क से समझने पर ग़लत ज्ञान ही होगा। महान् वस्तुओं के बारे में भ्रम से मूर्धा गिरने जैसा दण्ड मिलना योग्य है। अथवा ब्रह्मवेत्ताओं की सभा में अपमानित होना पड़ेगा, लज्जा से सिर झुक जायेगा। याज्ञवल्क्य ने 'मत पूछ। पूछने लायक नहीं उसे पूछ रही है! मत पूछ।' यों तीन बार कहा क्योंकि वे गार्गी को ब्रह्मज्ञ जानते थे। उनका भाव था कि और कोई पूछता तो माफ किया जा सकता था पर गार्गी समझदार होकर पूछ रही थी अतः क्षमता के अयोग्य थी। यहाँ वह सामान्य नियम भी है कि तर्क भूमि पर प्रश्न उत्तर हों तो बीच में आगम न लाया जाये और आगम की चर्चा हो तो उसकी काट के लिये तर्क न दिया जाये। आगम के समर्थन में तर्क तो अनुमत है, आगम के विरोध में नहीं। इस प्रकार गार्गी का प्रथम प्रश्न निर्णीत हुआ।।१९८-२०१।।

गार्गी के चुप हो जाने पर उछालक आरुणि ने याज्ञवल्क्यका परीक्षण प्रारंभ किया। वैदिक साहित्य में ब्रह्मवेत्ता के रूप में प्रसिद्ध ये महत्त्वपूर्ण आचार्य है। महावाक्योपदेशक के रूप में इनका ही नाम उपस्थित होता है। गार्गी ने तर्कनुसारी प्रश्न किया था यही उसकी ग़लती थी, प्रश्न तो ठीक ही था क्योंकि विराट् के आगे सूत्रात्मा ही समझने लायक है। उद्दालक ने अतः पहले सूचित किया कि वे इस विषय में तर्क से नहीं, पारंपरिक ज्ञान से समझ बूझकर पूछ रहे हैं अतः उसी तत्त्व के बारे में होने पर भी इन्हें उत्तर देना उचित होगा। किं च, पलटवार-सा करते हुए धमकी भी दी कि यदि सूत्र अन्तर्यामी को जाने बिना याज्ञवल्क्य ने गायें ग्रहण की होंगी तो उनका सिर गिर जायेगा! याज्ञवल्क्य तो सर्वज्ञ थे अतः स्पष्ट विस्तार से इन विषयों का वर्णन कर दिया। यह प्रसंग श्लोक २३ तक समझाया जायेगा।

उद्दालकप्रश्नः

सप्तमब्राह्मणे तर्क्यं संत्यज्यागममार्गतः।
ब्रह्माण्डकारणं सूत्रमन्तर्यामी च वर्ण्यते।।२०२।।
सूत्रान्तर्यामिणौ ज्ञातौ गन्धर्वस्योपदेशतः।।
तर्कान्नेति विवक्षित्वा कथां भुज्युवदुक्तवान्।।२०३।।
सूत्रबद्धं दारुयंत्रं पुरुषो नर्तयेद्यथा।।
सूत्रबद्धं जगत्तद्वद् अन्तर्यामी नियच्छति।।२०४।।
सूत्रान्तर्यामिणौ सर्वजगत्यनुगतावतः।।
तौ विद्वानखिलं वेत्तीत्यतो ज्ञातव्यता तयोः।।२०५।।

सप्तम ब्राह्मण के प्रारंभ की प्रतिज्ञा करते हैं **सातवें ब्राह्मण में तर्क छोड़कर आगमोक्त मार्ग से उन सूत्रात्मा और अन्तर्यामी का वर्णन किया जा रहा है जो ब्रह्माण्ड के प्रति कारणभूत हैं।। २०२।। 'सूत्रात्मा व अन्तर्यामी को तर्क से नहीं वरन् गंधर्व के उपदेश से मैंने समझा है' यह कहने की इच्छा से उद्दालक ने वैसे ही कथा सुनायी जैसे भुज्यु ने सुनायी थी।।२०३।।** मद्र-देश में पतंचल काप्य के घर यज्ञों का अध्ययन करते समय उद्दालकादि को पतंचल की भार्या में जिसका आवेश होता था उस कबन्ध आथर्वण ने सूत्र व अन्तर्यामी का रूप बताया था और उससे सर्वज्ञतारूप फल बताया था। उसी पारंपरिक ज्ञान के आधार पर वे याज्ञवल्क्य को चुनौती दे रहे हैं। कथा सुनाने का उद्देश्य अपने ज्ञान को पारंपरिक, न कि तर्कलब्ध बताना है।।२०२-३।।

सूत्र-अन्तर्यामी में अंतर एवं उनके ज्ञान का फल कहते हैं **जैसे धागे से बँधी कठपुतली को पुरुष नचाता है वैसे सूत्र से बँधे जगत् को अंतर्यामी नियंत्रित करता है।।२०४।। इसलिये सूत्र और अन्तर्यामी जगत् में अनुस्यूत हैं। क्योंकि उन्हें जानने वाला सब कुछ जान जाता है इसलिये वे समझने योग्य तत्त्व हैं।।२०५।।** कठपुतली धागे और उसे हिलाने वाले, दोनों से नियंत्रित होती है, वैसे जगत् सूत्र-अन्तर्यामी दोनों से नियंत्रित है। नियंत्रण के लिये वे सर्वत्र उपस्थित हैं क्योंकि व्यापक हैं। अतः इन्हें जानने वाला सर्वज्ञ है।।२०४-५।।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'वायुर्वै गौतम तत् सूत्रम्' कि सूत्रात्मा वायु है। इसे समझाते हैं **भुज्यु को समष्टि-व्यष्टि रूप से जो (हिरण्यगर्भ) समझाया था वही सूत्रात्मा है जिसे यहाँ वायु कहा। उसी ने सारा संसार धारण किया हुआ**

समष्टिव्यष्टिरूपेण भुज्युं प्रति य ईरितः ।।
स एव वायुः सूत्रात्मा तेन सर्वं जगद् धृतम् । ।२०६ । ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं प्राणिकर्म पुरा कृतम् ।
वाय्वात्मना परिणतं वर्तते कारणात्मनि । ।२०७ । ।
मूर्तामूर्तब्राह्मणोक्तवासना एतमाश्रिताः ।
तदात्मकमिदं लिंगं यत्सप्तदशमुच्यते । ।२०८ । ।

है । ।२०६ । । भुज्युप्रसंग में (३.३) 'वायुरेव व्यष्टिः वायुः समष्टिः' से सूत्र को वायु कहा था। (द्रष्टव्य इसी अध्याय में श्लोक ६५-६८)। उद्दालक के प्रश्न के जवाब में भी वही कह रहे हैं। विराट्-ईश्वर के मध्य इसका परामर्श आवश्यक होने से पुनर्वचन सार्थक है। हमारी सारी क्रियाशक्ति प्राण से ही संचालित है। क्रियाशक्तिका समष्टि रूप यहाँ वायु शब्दसे कहा गया है। इस व्यवस्था में ज्ञानशक्ति की समष्टि का स्वरूप अंतर्यामीहै। अंतर्यामी नियंत्रण करने वाला और सूत्र वह जिसके द्वारा अंतर्यामी नियंत्रण करता है। संसार का धारण वायु करती है यह अनुभव में आता है। सारे ब्रह्माण्ड को चलाने वाली समष्टि वायु, हमारे अंदर वह प्राणरूप से व्यष्टिभाव में है और हमारे शरीरादिको संचालित करती है। यहाँ केवल पंचीकृत अर्थात् स्थूल वायु नहीं समझनी चाहिये वरन् क्रियाशक्ति वाली उपाधि समझनी चाहिये जो सूक्ष्मभूतों के रजोंश से संपन्न है। ।२०६ ।।

'वायु' की संसारधारकता व्यक्त करते हैं **ब्रह्मा से घासके तिनके तक सभी प्राणियों द्वारा पूर्व में किये कर्म वायुरूप से बदलकर कारणभूत आत्मा में रहते हैं। ।२०७ ।। मूर्त्तामूर्त्तब्राह्मण में (बृ.२.३; अनु.प्र.१४.६१-६२) कही वासनाएँ इसी वायु में स्थित हैं। जिसे सत्रह टुकड़ों वाला कहा जाता है वह इस लिंगरूप वायु का स्वरूप है। ।२०८ । ।** प्राणियों के कर्म क्योंकि प्रलय में रहने ज़रूरी, कारण कि तभी सृष्टि होने पर उनके फल मिलेंगे, इसलिये वे सूत्रात्मा के रूप में बदल जाते हैं और जब सूत्रात्मा (सूक्ष्म) कारण में लीन होता है तब उस रूप से बने कर्म भी कारण में पहुँच जाते हैं। प्रलयमें तो केवल कारणात्मा ईश्वर रहता है, वायु अर्थात् हिरण्यगर्भ भी रहता नहीं। कारणात्मा से सीधे तो वायु (सूत्र) पैदा होगा अतः प्राणिकर्म वायुरूप हों तभी प्रारंभ से प्राणिकर्मानुसार सृष्टि का विभाजन हो। किंच सूत्र अर्थात् हिरण्यगर्भ भी कर्मवश बनता है यह बृहदारण्यक प्रारंभमें कहा है अतः कारणात्मा में कर्मों को रहना पड़ेगा तभी वायु उत्पन्न होगा और वायु क्योंकि समष्टि के रूप में पैदा होगा इसलिये

विष्टब्धो वायुना देह इत्येतन्मरणे सति।
आवयोर्वपुषः कर्मायोग्यत्वादवसीयताम्।।२०६।।
अपंचीकृतभूतानां कार्यं सूत्रमुदाहृतम्।
अण्डारम्भकभूतानि प्रोतान्योतानि तत्र हि।।२१०।।
सूत्रादप्यान्तरं तत्त्वमन्तर्याम्याख्यमुच्यते।
कार्यकारणभावोऽयमस्मिन्नुक्ते समाप्यते।।२११।।

समष्टि अर्थात् सब प्राणियों के कर्मों का उसकी उत्पत्ति में विनियोग मानना होगा। जो अब ब्रह्मा बना उसके जो पूर्व के निजी (व्यष्टि) कर्म थे वे एवं बाकी सबके भी (समष्टि) जो कर्म थे वे कारणात्मा में रहें तब वायु की सृष्टि हो अतः सृष्टि-अन्यथानुपपत्ति से कर्म तद्रूप से कारणात्मा में रहने वाले समझे जाते हैं। मूर्त्तामूर्त्त ब्राह्मण में बताया था कि वासनाएँ सूक्ष्म शरीर में रहती हैं अतः यहाँ वही याद दिलाया। अध्यात्मा में सत्रह अंग पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि हैं। ये ही अपने समष्टि भाव में वायु हैं। क्योंकि हमारा करना भोगना इन्हीं से है और ये वायु के ही व्यष्टि रूप हैं इसलिये हमारे सभी ज्ञानों व कर्मों पर सूत्रात्मा का नियंत्रण संभव हो जाता है। नियंत्रण ही प्रगति का हेतु है। नियंत्रण को बोझ या अनिष्ट समझना अनुचित है। नियंत्रण का विरोध ही पाप के रूप में व्यक्त होता है। सूत्रके नियंत्रणमें बने रहें तो धर्माचरण चलता रहेगा।।२०७-८।।

वायु की विधारकता अनुभवारूढ करते हैं **वायु ने शरीर का धारण किया हुआ है यह इस से निर्णय हो जाता है कि हम दोनों (श्रोता-वक्ता) के शरीर मृत्यु होते ही कुछ भी करने में अक्षम हो जाते हैं।।२०६।।** देहमें प्राणरूप वायु रहते इसके सभी अवयव संश्लिष्ट रहते हैं किंतु प्राण निकलने के साथ ही बिखराव शुरू हो जाता है। इससे पता लगता है कि प्राण (व्यष्टि सूक्ष्म) शरीर का धारण किये है। ऐसे ही वायु (समष्टि सूक्ष्म) सारे संसार का धारण किये हैं।।२०६।।

वायु के वर्णन और प्राण द्वारा उसके साक्षात् उपस्थापन से सन्तुष्ट हो उद्दालकने याज्ञवल्क्य से अन्तर्यामी के बारे में बताने को कहा। पृथ्वी, जल आदि अनेकों का नाम ले-लेकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि अंतर्यामी इनके भीतर है, पृथ्वी आदि उसे नहीं जानते हालाँकि पृथ्वी आदि उसी के शरीर हैं और उसीसे नियंत्रित हैं। वह अंतर्यामी प्रत्यक्स्वरूप से भिन्न नहीं। यह प्रसंग प्रारंभ करते हैं **अपंचीकृत भूतों के कार्य सूत्र का कथन किया। ब्रह्माण्डोत्पादक भूत इस सूत्र में ही ओत-प्रोत हैं।।२१०।। सूत्र से भी**

भूमिष्ठोऽभ्यन्तरो भूमेर्भूम्यज्ञातश्च भूवपुः ।
नियच्छति भुवं योऽन्तः स आत्माऽन्यस्य तेऽपि मे ।।२१२।।
लोकं धत्ते स्वयं भूमिः स्वान्तर्यामी स्वयं ततः ।
इति स्वभाववादोऽयं भूमिष्ठत्वेन वार्यते ।।२१३।।

भीतरी जो तत्त्व वह अन्तर्यामी कहलाता है। यह कार्य-कारण का क्रम इस अन्तर्यामी का कथन होने पर सम्पूर्ण हो जाता है।।२११।। कारण होनें से सूक्ष्म में स्थूल का ओत-प्रोत होना संगत है। सूक्ष्म से अधिक 'सूक्ष्म' और व्यापक कारण है जो अन्तर्यामी, ईश्वर है। कारण-परंपरा यहाँ समाप्त है अर्थात् यह किसी का कार्य नहीं, इससे सूक्ष्म-व्यापक कोई नहीं। अक्षर को भले ही इससे परे कहें लेकिन वह है इसी का निरूपाधिक स्वरूप अतः पृथक तत्त्व नहीं। अज्ञान जो कारणता की उपाधि वह अनादि होने से उसके कारण का प्रश्न ही नहीं। तर्क की गति विराट् तक, शास्त्र की विषयता ईश्वर तक, ये सीमाएँ हैं। इससे परे अक्षर कार्यकारणभाव से निर्मुक्त अतः अविषय अतः प्रायः लोगों की समझ से परे है। कार्य-कारणता क्योंकि अवास्तविकता की भूमिका पर संभव है इसलिये वास्तविक परमात्मा उससे परे ही होना संगत है।।२१०-१।।

पृथ्वी आदि पर्यायों का वर्णन समझाते हैं **अन्तर्यामी भूमि में है, भूमि के भीतर है, भूमि को अज्ञात है, भूमि उसका शरीर है, भूमि पर उसका भीतर से शासन है वही तुम्हारा हमारा व अन्य सभी का आत्मा है।।२१२।।** याज्ञवल्क्यका वाक्य है 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीम् अन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्मृतः' जिसे यहाँ अनुदित किया। अन्य पर्याय भी इसी तरह है। जैसे हम शरीर में और शरीर के अंदर हैं वैसे अंतर्यामी को बताया। जैसे शरीर हमें नहीं जानता वैसे पृथ्वी आदि अंतर्यामी को नहीं जानते। हमारा शरीर पर जैसे शासन है वैसे उसका पृथ्वी पर है। किंतु हम सब परस्पर भिन्न हैं जबकि अन्तर्यामी सर्वत्र अभिन्न है, समष्टि, व्यष्टि सभी उपाधियों में, सभी का शासक अंतर्यामी एक ही है।।२१२।।

पृथ्वी पर रहते हुए शासक है ऐसा कहने का प्रयोजन बताते हैं। **भूमि लोकों को एवं स्वयं को धारण करती है अतः खुद ही अपना अन्तर्यामी हैऐसा मानना, यह स्वभाव वाद है जिसे 'पृथ्वी पर अंतर्यामी स्थित है' बताने से हटाया।।२१३।।** वस्तु बिना किसी अन्य हेतु के जैसी रहे, जैसे प्रभाव वाली हो उसे उसका स्वभाव कहते हैं जैसे आग का स्वभाव गर्म, जल का स्वभाव गीलापन आदि।

अन्तरत्वेन भूमिष्ठ पर्वतादि निवर्त्यते।
भूदेवतानिवृत्तिः स्याद् यं न जानाति भूरिति।।२१४।।

कुछ विचारक परमेश्वर न मानकर वस्तुओं के स्वभावों से ही सांसारिक व्यवस्था उपपन्न करने का यन्त करते हैं जिन्हें स्वभाववादी कहा जाता है। जगत्कारण को स्वभावरूप मानने का पक्ष श्वेताश्वतर उपनिषत् में भी उपस्थापित कर निवारित किया गया है। बहुत कुछ वर्त्तमान वैज्ञानिकों की भी ऐसी ही सोच है। तदनुसार भूमि पर स्वयं उसी का शासन है यही मान्य है। उसे धारण करने वाले किसी अन्य को मानना व्यर्थ है। जैसे लोकों को यह धारण करती है वैसे खुद को भी कर लेगी, उसे धारण करने वाले किसी 'सूत्र' को और सूत्र के भी मूल 'कारण' को क्यो मानें! इस सम्भवना को याज्ञवल्क्य ने दूर किया यह कहकर कि अन्तर्यामी पृथ्वी पर है। पथ्वी तो 'पृथ्वी पर' नहीं कही जायेगी! अतः 'पृथ्वी पर' से स्पष्ट है कि पृथ्वी अन्तर्यामी नहीं अर्थात् स्वभाववाद को समर्थन नहीं। इससे तर्क देने का मौका नहीं क्योंकि आरुणि तर्करीति छोड़ कर बात कर रहे हैं। संक्षेप में इस वाद का मुख्य दोष है कि इसमें 'कैसे?; का उत्तर पाकर ही चुप होना पड़ता है, 'क्यों?' का उत्तर नहीं मिलता। चेतन स्वानुभव की वस्तु है अतः चेतननियंत्रण में 'क्यों' का पता हम अपनी परीक्षा से लगा सकते हैं, जड में ज्ञानोन्मेष अप्रसिद्ध होने से उसे 'क्यों' के अनुसार रहने वाला मानना केवल अंधविश्वास से कर सकते हैं। अतः स्वभाववादी इस 'क्यों?' प्रश्न को ही नहीं उठाते, उठाने के अयोग्य मानकर चलते हैं। किंतु मानव बुद्धि केवल 'कैसे' समझ कर सन्तुष्ट होती नहीं अतः किसी-न-किसी स्तर पर 'क्यों' का विचार उठता ही है।।२१३।।

लेकिन 'जो पृथ्वी पर रहता है वह अन्तर्यामी है' इतनी ही उसकी परिभाषा नहीं! और भी जोड़ना जरूरी है यह बताते हैं **'भूमि के अंदर है' कहने से भूमि पर होने वाले पर्वतादि अविवक्षित बताये। 'जिसे भूमि नहीं जानती' कहने से भूमिदेवता को अंतर्यामी कहा होगा यह संभावना दूर की।।२१४।।** पहाड़ों को भूधर, धराधर, पृथ्वीधर आदि कहते हैं अतः शंका हो सकती थी कि उन्हें ही शासक कहा हो लेकिन 'अंदर' कहने से निश्चय हो गया कि उन्हें नहीं कहा। किंतु अंदर तो पृथ्वी देवता भी है, वही कही जा रही होगीइस शंका को हटाने के लिये 'जिसे पृथ्वी जानती नहीं कहा। स्थूल पृथ्वी तो जड है, जान सकती नहीं कि निषेध करें अतः जान सकने वाली देवता के बारे में ही कहा कि वह जिसे नहीं जानती वह अंतर्यामी है तो अन्र्यामी पृथ्वी देवता से अन्य हो ही गया क्योंकि खुद को तो वह देवता जानती ही

नान्तर्यामिविदेहत्वे साधनानामसम्भवात्।
देहिता तु न दृष्टेति न दोषो भूवपुष्मतः।।२१५।।
भूदेवताया यो देहो देहोऽन्तर्यामिणोऽपि सः।
देवस्य कर्मणेशस्य मायया चार्जितो यतः।।२१६।।
न चैकदेहयोगेऽपि यन्तृयन्तव्यसंकरः।
बहिष्ठां देवतां भूमिमन्तस्थेशो नियच्छति।।२१७।।
कार्योपाधिर्बहिष्ठः स्यात्कारणोपाधिरान्तरः।
उपाधिमात्रतो भेदो वस्तुतस्तु न भिद्यते।।२१८।।

है। पृथ्वी देवता का निषध नहीं, वह तो है लेकिन वह अंतर्यामी नहीं है। जैसे हम अपने शरीर के अभिमानी हैं लेकिन अपने अंतर्यामी से अनभिज्ञ रहते हैं वैसे पृथ्वी देवता भी अनभिज्ञ है। विचार-पद्धति में परिभाषा के प्रत्येक शब्द का प्रयोजन होना चाहिये यह यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं।।२१४।।

इतना भी अपर्याप्त है यह समझाते हैं **यदि शरीर रहित हो तो अंतर्यामी नहीं हो सकता क्योंकि शासन करने के लिये उसके पास साधन ही नहीं होंगे, एवं पृथ्वी में, उसके भीतर भी कोई देहधारी दीखता नहीं जो अन्तर्यामी हो! यह दोष भी नहीं रहता 'पृथ्वी जिसका शरीर है' कह देने पर।।२१५।। पृथ्वी देवता का जो शरीर वही अन्तर्यामी का भी शरीर है किंतु अन्तर इतना ही है कि देवता ने उसे कर्म से अर्जित किया है जबकि ईश (अन्तर्यामी) ने उसी को माया से अर्जित किया है।।२१६।। एक ही शरीर से सम्बन्ध होने पर भी नियामक और नियम्य अलग हैं क्योंकि 'बाहर' रहने वाली भूमिदेवता पर 'भीतर' रहने वाला ईश नियंत्रण करता है।।२१७।। 'कार्य' उपाधि वाला बाहर रहने वाला और 'कारण' उपाधि वाला भीतर वाला है। इन दोनों में आपास में भेद वास्तविक नहीं, केवल उपाधि भेद से है।।२१८।।** अन्तर्यामी जिस पर नियंत्रण करना ही उसी के शरीर से स्वयं शरीरी बनकर नियंत्रण कर लेता है। उदाहरणार्थ इदानीं काल में साफ्टवेयर बनाने वाला उन सब का नियामक हो जाता है जो उस साफ्टवेयर का प्रयोग करने वाले हैं और इस कार्य के लिये किसी पृथक् साफ्टवेयर की ज़रूरत नहीं, प्रयोक्ता के ही साफ्टवेयर से यह काम हो जाता है। एक ही साफ्टवेयर से दोनों का संबंध है, अंतर इतना है कि एक ने बनाया है जबकि दूसरे ने उसे खरीदा है। ऐसे ही शरीर एक ही है पर देवता ने कर्म से पाया है जबकि ईश्वर ने माया से उसे

अतस्ते मेऽखिलस्यापि सोऽन्तर्याम्यात्मतां गतः।
अमृतत्वान्न जीवत्वमात्मत्वेऽप्यस्य शंक्यते।।२१६।।

स्वायत्त कर रखा है अतः ईश्वर शासन कर लेता है, देवता शासित ही रहता है और इसके लिये ईश्वर को अन्य देह नहीं चाहिये। अथवा, बैंक से उधार की व्यवस्था द्वारा गाड़ी खरीदो तो तुम भी उसके मालिक और बैंक भी। अगर किश्त न भरो तो बैंक गाड़ी ले जा सकता है किंतु भरते रहो तो कभी नहीं ले जा सकता। गाड़ी एक ही किन्तु मालिक दोयह भी लोकसिद्ध दृष्टांत है। वैसे, हम सभी का स्वानुभव है कि बहुत बार 'अंदर' से कोई प्रेरणा करता अवश्य है समस्या, दुविधा होने पर हम स्तब्ध हो जाते हैं तब अनेक बार यह भीतरी प्रेरणा स्पष्ट होती है। गाँधी जी ने भी इस अनुभव का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः अन्तर्यामी जीव से पृथक् मान्य ही है। शरीर एक होने पर भी बाहरी-भीतरी भावों के अंतर से शासित व शासक की व्यवस्था भी संगत है। 'बाहर' अर्थात् कार्य; यहाँ मन को, अन्तःकरण को कार्य समझना चाहिये। पाँचों भूतों के सत्त्वांश से उत्पन्न अतः मन कार्य है। अन्तःकरण (एवं समूचा ही लिंग देह) जिसकी उपाधि, परिचायक है वह बाहरी अर्थात् प्रमाता या जीव है एवं कारण अर्थात् माया उपाधि वाला भीतरी अर्थात् साक्षी है। क्योंकि भूतों द्वारा माया ही मन का कारण है इसलिये मायोपाधिक का मन उपाधिक पर नियंत्रण सहज है। नियामक मायोपाधिक होने से जब उसी के वशीभूत हो कुछ करते हैं तब हमें लगता है 'पता नहीं हमने ऐसा क्यों किया'; 'पता नहीं' यही अविद्यारूप माया है अतः 'मायावश ऐसा किया' यही तात्पर्य निकलता है। नियम्य-नियामक व्यवस्था से यह नहीं कि इनमें भेद सच्चा कहा जा रहा हो! एक ही आत्मा कार्योपाधि से नियम्य एवं कारणोपाधि से नियामक है। जैसे मैं एक पर आँख से देख ही सकता हूँ, चख नहीं, जीभ से चख ही सकता हूँ, देख नहीं, फिर भी हूँ मैं एक ही; ऐसे आत्मा है एक ही, कार्योपाधि से जीवोचित ही व्यवहार कर सकता है, कारणोपाधिक से ईश्वरोचित ही व्यवहार कर सकता है, जीव-ईश्वर परस्पर व्यवस्थित मार्यादा वाले हैं लेकिन आत्मा सर्वथा एक ही है।।२१५-२१८।।

अन्तर्यामी की एकता बताने के लिये याज्ञवल्क्य ने 'एष त आत्मान्तर्यामी' कहा और वह भी कोई जीव नहीं यह 'अमृतः' से निश्चित कर दिया यह व्यक्त करते हैं **इसलिये तुम्हारे, मेरे, सभी के अन्तर्यामी रूप को उसने धारण किया है। आत्मा होने पर भी अमृत है, अतः 'वह भी कोई जीव होगा'यह शंका नहीं होती।।२१६।।** माया एक होने से तदुपाधिक ईश्वर, अन्तर्यामी एक ही है। सभी

सार्वात्म्यं वक्तुमस्यैष बहूपाधिषु वर्णितः ।
सर्वात्मा शक्तियुक्तो यः सोऽन्तर्यामीति गम्यताम् ।।२२० ।।
प्रत्यग्ध्वान्तं चिदाभासं स्वकार्यनियमात्मकम् ।
तदुपाधिर्नियन्तैष परः प्रोक्तो न तु स्वतः ।।२२१ ।।
सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सर्वात्मा सर्वगो ध्रुवः ।
जगज्जन्मस्थितिध्वंसहेतुरेष महेश्वरः ।।२२२ ।।
नारायणाभिधो मंत्र एतस्यैवाभिधायकः ।
पंचाक्षरेण मंत्रेण शिव इत्येष गीयते ।।२२३ ।।

प्राणियों का वही अंतर्यामी है। श्रुति में 'एस ते' अर्थात् 'तुम्हारा' ही कहा लेकिन आचार्य ने उसका आशय स्पष्ट किया कि 'तुम्हारा' अर्थात् सारे प्राणियों का। लोक में शासक जीव देखने में आते हैं तो कोई अन्तर्यामीको जीवविशेष न समझ ले इसलिये याज्ञवल्क्य ने उसे 'अमृत' भी कहा। वह निर्विकार होने से जीव नहीं, जीव तो जीवन-मरण वाला ही है।।२१६।।

इस प्रकार अन्तर्यामी के वर्णन के प्रत्येक शब्द की सप्रयोजनता बताकर पृथ्वी ही नहीं अन्य बहुत सी अध्यात्म-अधिभूत उपाधियों का याज्ञवल्क्य ने क्यों उल्लेख किया यह समझाते हैंयह सभी का आत्मा है **इस बात को कहने के लिये बहुतेरी उपाधियों में इसका वर्णन किया। शक्तियुक्त सर्वात्मा अन्तर्यामी है।।२२०।।**

अनेक उपाधियों का उल्लेख सब उपाधियों के उपलक्षणार्थ है। सर्वात्मा होना ही अन्तर्यामी होने के लिये पर्याप्त नहीं, शक्ति अर्थात् माया से युक्त अर्थात् उपहित भी होना जरूरी है। अत एव अन्तर्यामी है। अंतिम तत्त्व नहीं!।।२२०।।

शक्तियुक्त की ईश्वरता स्पष्ट करते हैं**चित् के प्रतिबिम्बसमेत जो प्रत्यगात्मा का अज्ञान वह स्व अर्थात् चित् का विवर्त्तरूप कार्य अतः स्व से नियम्य है। इस तरह, उक्त उपाधि वाला यह परमात्मा अन्तर्यामी कहा गया है, न कि खुद अपने निरुपाधिक रूप से।।२२१।। यही महेश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सबका आत्मा, व्यापक स्थिर एवं जगत् के उत्पत्ति व्यवस्था विनाशका एकमात्र कारण है।।२२२। नारायण नामक मंत्र इसी का बोधक है एवं पंचाक्षर मंत्र द्वारा यही शिव कहा जाता है।।२२३।। हिरण्यगर्भ संप्रदाय वाले इसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं। व्यास जी ने इसी को पुराणों में विभिन्न रूपों वाला वर्णित किया है।।२२४।।** अज्ञान सर्वानुभवसिद्ध वस्तु है किंतु इसीलिये-अनुभवगम्य होने सेवह

हिरण्यगर्भं हैरण्यगर्भीया एवमूचिरे।
व्यासस्तत्तत्पुराणेषु तत्तद्रूपतयोचिवान्।।२२४।।

जड अतः स्वतंत्र रूप से कुछ करने धरने में असमर्थ हैं। सांख्यवादी भले ही कल्पना करें कि जड प्रकृति स्वयमेव व्यवस्थित कार्य कर लेती है लेकिन यह शास्त्रविरुद्ध और अनुभव से सर्वथा असमर्थित है। वह अज्ञान जड होने पर भी चैतन्य का आभास (तादात्म्य) ग्रहण कर लगता है मानो चेतन हो और इसलिये उसमें व्यवस्थित परिवर्तन भी हो जाते हैं जैसे स्वयं गर्म न होने वाला पानी भी आग के सम्बन्ध से लगता है मानो गर्म हो और वैसा गर्म पानी ऐसे प्रयोजन सिद्ध करता है जो जल के नहीं हो सकते, आग के ही हो सकते हैं। किंतु जहाँ सीधे ही आग का पहुँचना असंभव है वहाँ पहुँचने के लिये आग को पानी का सहारा चाहिये ही। ऐसे ही चित्तत्त्व से ही व्यवस्थित प्रवृत्ति होना संगत है लेकिन वह निर्विकार होने से ऐसा सहारा चाहता है जहाँ विकार हो जायें, इसके लिये उसे अनादिसिद्ध अज्ञान सुलभ है अतः उसी के द्वारा चेतन संसार रूप से विवर्तित हो जाता है। संसार को अविद्या का परिणाम एवं चेतन का विवर्त इसी से कहते हैं कि संसार है तो चेतन के कारण किंतु चेतन में कोई परिवर्तन आये बगैर संसार बनता है एवं संसार रूप से परिवर्तन योग्य वस्तु अज्ञान है। कार्य को कारण का परिवर्तित रूप समझना क्योंकि युक्ति संमत है इसलिये संसार कार्य के लिये भी परिवर्तनशील कारण स्वीकार्य है। कुछ चिन्तक इस युक्ति बंधन से छूटने के प्रयास में संसारको चित्तत्त्व का ही परिणाम मानना चाहते हैं किन्तु तब उन्हें एक अप्रसिद्ध (अनुभव पर अनारूढ) 'अविकृत परिणामवाद' की कल्पना करनी पड़ती है जिसका शास्त्र-युक्ति-अनुभव से विरोध होता है एवं मोक्ष की अस्थायिता माननी पड़ जाती है क्योंकि साधना के फलस्वरूप ऐसा कुछ नहीं बताया जा सकता जिससे वह परिणाम या परिणामसामर्थ्य सदा के लिये नहीं रहे। एवं च शास्त्रादिसंमत प्रत्यगज्ञान द्वारा ही सृष्टि आदि स्वीकारना उपपन्न, अनुभवानुसारी और सफल है। इस अज्ञान को भी कोई वास्तविक तत्त्व न समझे इसलिये कहा कि यह स्व का कार्य अर्थात् आत्मा का विवर्त है। अनादि होने से अज्ञान को कार्य कहना नहीं बनता लेकिन प्रतीति विषय और बाधयोग्य होने से विवर्त कहना बन जाता है। अज्ञान के परिणाम पर जैसे अज्ञान का वैसे आत्मा के विवर्त्त पर आत्मा का स्थायी नियंत्रण रहता है। आत्मा विवर्त्ताधिष्ठान होने से ही कारण अतः उसी ढंग से नियन्ता भी है, स्वतः, निरुपाधिरूपसे न कारण और न नियन्ता है। अतः यहाँ वार्तिक में 'स्वतस्त्वकारणोऽदेहो निर्गुणोऽभेद एव च। चिदाभासः स्वमोहोत्थकार्यैस्तद्वान् इवेक्ष्यते।।' (३.७.३७) कहा है कि

भूम्यादिदेवताः कस्मान्न स्वान्तर्यामिणं विदुः ।
अदृष्टोऽश्रुत इत्याह कारणं तदवेदने ।।२२५।।
दृष्टिश्रुतिमतिज्ञातिविषयत्वं चिदात्मनः ।
उषस्तब्राह्मणे पूर्वं युक्त्या सम्यङ् निवारितम् ।।२२६।।
मागोचरातिवर्तित्वाद् मातृमानादिसाक्षिणः ।
द्रष्टुरन्यस्य चाभावान्न तं पश्यन्ति देवताः ।।२२७।।

कार्य मोहजन्य होने से चैतन्य मानो उन कार्यों से सम्बद्ध उनका कारण व नियन्ता लगता है। इस अन्तर्यामी को ही महेश्वर, ईश्वर, सविशेष ब्रह्म, सगुण ब्रह्म आदि कहा गया है। नारायण मंत्र से इसी का प्रतिपादन है। 'सहस्रशीर्षा' आदि नारायणसूक्त प्रसिद्ध है। अष्टाक्षर मंत्र भी नारायणमंत्र प्रसद्धि है। चार व्यूहों वाले नारायण को पांचरात्र आगमों के अनुसर्त्ता भागवत-मत वाले स्वीकारते हैं, वह इस अन्तर्यामी का ही रूप है। शैवों को सम्मत शिव भी अन्तर्यामी ही है, न कि अक्षर। शैव-वैष्णव दोनों ही विशिष्टाद्वैती यहाँ समझने चाहिये, द्वैत आदि मानने वालों का प्रसंग नहीं। पंचाक्षर शिवसम्बन्धी सुप्रसिद्ध मंत्र है। योगमतानुयामी हिरण्यगर्भ कहे जाते हैं, उनके अनुसार जो हिरण्यगर्भ है वह अंतर्यामी का ही स्वरूप है। व्यास जी ने पुराण में इस अंतर्यामी ईश्वर को विविध नाम-रूप-लीलाओं वाले के रूप में विस्तार से कहा है। वार्तिकार ने यहाँ कहा है कि व्यास जी वेदात्मा एवं अज्ञान नाशक आचार्य हैं उन्होंने प्राणियों के हित की कामना से ही पुराणों का विस्तृत वर्णन उपनिबद्ध किया है। अतः अन्तर्यामी का महत्त्व धर्म, अध्यात्म में असीम है यह स्पष्ट है।।२२१-४।।

आगे याज्ञवल्क्य ने कहा 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता। नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता। एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। अतोऽन्यद् आर्तम्।' कि यह अन्तर्यामी देखता आदि तो है पर दीखता आदि नहीं, देखने आदि वाला इससे स्वतंत्र कोई नहीं है, इस अमृत आत्मरूप अन्तर्यामी से अन्य सब मिथ्या है। इस भाग को स्पष्ट करते हैं **भूदेवता आदि अपने अन्तर्यामी को क्यों नहीं जानते इसमें कारण बताया कि उसका अदृष्ट अश्रुत आदि स्वरूप वाला होना उसकी अज्ञातता में हेतु है।।२२५।। पहले उषस्त ब्राह्मण में युक्ति से भलीभाँति बता दिया था कि चिद्रूप आत्मा दृष्टि श्रुति मति और विज्ञानका विषय नहीं है।।२२६।। क्योंकि प्रमाता-प्रमाणादि का साक्षी अवश्य प्रमाणविषयता से परे है एवं उससे अन्य कोई द्रष्ट है नहीं इसलिये**

अदृष्टत्वाऽश्रुतत्वादि प्रत्यग्ध्वान्तेऽपि संभवेत्।
तन्निवृत्त्यै श्रुतिर्द्रष्टा श्रोता मन्तेत्यभाषत।।२२८।।
द्रष्टृत्वश्रोतृताद्यस्य दृष्टिश्रुत्यादिसाक्षिता।
अलुप्तचित्स्वभावत्वान्न विकारो मनागपि।।२२६।।

देवता भी उसे देख (जान) नहीं पाते।।२२७।। देवताओं की दुर्बलता नहीं कि वे अन्तर्यामी को न जानते हैं वरन् वह चीज़ ही ऐसी है कि जानी न जाये इसलिये नहीं जानते। पुराणों में आपाततः लगता है कि कहीं किसीं को सर्वश्रेष्ट कहा तो कहीं किसी दूसरे को, लेकिन विचारपूर्वक निर्णय है कि एक अंतर्यामी को ही सर्वत्र सर्वश्रेष्ठ बताया है। उसी के सब रूप हैं, सब नाम हैं अतः कहीं किसी एक नाम-रूप को उसका बोधक लेना आवश्यक ही है लेकिन उपाधिविशिष्ट को सर्वोत्तम कहीं नहीं कहा और उपहित वस्तु सर्वत्र एक है। यहाँ जो देवताओं को उसका अज्ञान कहा वह भी देवों के अपकर्ष को बातने के लिये नहीं वरन् अन्तर्यामी की अविषयता बताने के लिये। उषस्त के (३.४) प्रश्न के उत्तर में यह अविषयता समझायी जा चुकी है। परमात्मा अप्रमेय होने पर भी स्वप्रकाश है अतः उसे 'नहीं है' कहना नहीं बनता लेकिन जैसे किसी वस्तु को परीक्षापूर्वक निर्णीत किया जानेपर वह प्रमाणित होती है वैसे इसे प्रमाणित न किया जा सकने से देवता और वे ही नहीं, उनके अनुयायी भी परमेश्वर को नं समझ पायें तो क्या आश्चर्य! बल्कि बड़े-बड़ों का इस बारे में न समझना भी इसमें प्रमाण है कि यह अप्रमेय है।।२२५-७।।

याज्ञवल्क्य ने अदृष्ट अश्रुत इतना ही नहीं साथ में द्रष्टा, श्रोता आदि भी कहा, उसका प्रयोजन बताते हैं **अदृष्टता-अश्रुतता आदि प्रत्यक्सम्बद्ध अज्ञान में भी संभव है, कोई उसे अन्तर्यामी न समझ ले इसलिये वेद ने द्रष्टा, श्रोता, मन्ता आदि भी कहा।।२२८।। दृष्टि-श्रुति आदि का साक्षी रहना ही परमात्मा का द्रष्टा-श्रोता आदि होना है। उसका चैतन्यरूप स्वभाव कदापि लुप्त होता नहीं अतः किंचित् भी विकारात्मक द्रष्टापना आदि उसमें नहीं।।२२६।।** प्रमाणों का अविषय तो अज्ञान, माया भी है; अज्ञान का साक्षात्कार भले ही है, 'मैं अज्ञ' 'मैं घट को नहीं जानता' आदि अनुभव से अज्ञान पता भले ही लगता है लेकिन उसमें प्रमाण कोई नहीं क्योंकि प्रमाण होता ही अज्ञान का विरोधी है! प्रमाण से तो अज्ञान दूर ही हो जाता है अतः उससे विषय किया जा सके यह असंभव है। मायाशक्ति ही अन्तःशासक होगीयह भ्रम दूर करने के लिये याज्ञवल्क्य ने कहा कि अन्तर्यामी चेतन है क्योंकि देखता-सुनता सोचता समझता है। देखना आदि तो परिच्छिन्न, आद्यन्तशाली ज्ञान हैं,

लोकसिद्धा नियम्यस्य जीवस्य द्रष्टृता तथा।
अन्तर्याम्यपि चेद् द्रष्टा देहे भासेत तद्द्वयम्।।२३०।।
इति शंकानिवृत्त्यर्थं नान्योऽतोऽस्तीति भण्यते।
लोके जीवतया मूढैरन्तर्याम्येव भाव्यते।।२३१।।
साधारणो यथा सूर्यो मां प्रत्येवेति पामरैः।
असाधारणरूपेण भाव्यते जीवता तथा।।२३२।।
बुद्धिस्थः पर एवात्मा जीवात्मेति निगद्यते।
बुद्ध्यागमापायसाक्षी नियंतेत्युच्यते परः।।२३३।।

इनसे परमात्मा (साक्षी) सम्पन्न हो तो विकारी क्यों न होगा? इसके उत्तर में आचार्य ने बताया कि अन्तर्यामी का द्रष्टा होना हमारे द्रष्टा होने से पृथक् है। हम अद्रष्टा रहते हैं, द्रष्टा बनते हैं, उस दर्शन से प्रभावित होते हैं, पुनः अद्रष्टा बन जाते हैं, उस द्रष्टापने को याद करते हैं, फिर द्रष्टा बनना चाहते (कामी) हैं, न बन सकें तो नाराज (क्रोधी) होते हैं इत्यादि। अन्तर्यामी का द्रष्टापना ऐसा नहीं वरन् निर्विकार लगातार ज्ञानरूप है। साक्ष्य तो उसके सामने आता-जाता रहता है लेकिन उसमें किंचित् भी परिवर्तन नहीं होता, जानने का कोई प्रयास नहीं होता, उसकी जानकारी से कोई अविद्या मिटती नहीं (क्योंकि साक्षी का अविद्या से विरोध नहीं), उसमें साक्षी बनने से कोई प्रभाव, संस्कार आदि नहीं पड़ते, काम-क्रोधादि नहीं उपजते। इस तरह द्रष्टा आदि होने पर भी हमारी तरह (अंतःकरणावच्छिन्न चेतन, जीव की तरह)। वह द्रष्टा नहीं केवल साक्षी है।।२२८-९।।

वेद ने आगे 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' आदि से पुनरपि कहा कि उक्त अंतर्यामी से अन्य कोई द्रष्टा आदि नहीं; यह कहने का उपयोग स्पष्ट करते हैं **शासित जीव द्रष्टा है यह बात लोकानुभवसिद्ध है, अंतर्यामी भी द्रष्टा हो तो शरीर में दो द्रष्टा प्रतीत होने चाहिय!।।२३०।। इस शंका को दूर करने के लिये कहा है कि उससे अन्य कोई द्रष्टा आदि नहीं। अंतर्यामी ही लोक में मोहग्रस्त लोगों द्वारा जीव रूप से समझा जाता है।।२३१।। जैसे सबके लिये एक-सा जो सूर्य उसे नासमझ लोग 'यह मेरे ही सम्मुख है' यों समझते हैं, वैसे व्यापक आत्मा को परिच्छिन्न उपाधि मात्र में समझनायह जीव भाव का अनुभव है।।२३२।। परमात्मा ही बुद्धि में स्थित होने पर जीवात्मा कहलाता है एवं बुद्धि के आने-जाने का साक्षी रहते वही परमात्मा अन्तर्यामी, शासक कहा जाता है।।२३३।।** 'मैं द्रष्टा' आदि जीवानुभव सुप्रसिद्ध है, इससे अन्य साक्षिरूप द्रष्टा तो प्रसिद्ध नहीं लेकिन उसमें हेतु

सूत्रान्तर्यामिणौ शास्त्रगम्यत्वेन प्रतिष्ठितौ।
अप्रतिष्ठिततर्केण गम्यमार्तमतोऽपरम्।।२३४।।

साक्षी की अनुपस्थिति नहीं वरन् हमारी मूढता है। अन्तर्यामी से अन्य कोई द्रष्टा नहीं मायने स्वतंत्र द्रष्टा नहीं। जैसे बिम्ब यदि दीपकादिप्रकाश है तो उसका प्रतिबिम्ब भी प्रकाश रूप है लेकिन स्वतंत्र प्रकाश नहीं, वैसे अन्तर्यामी के परतंत्र तो जीव (प्रमाता) भी द्रष्टा है लेकिन स्वतंत्र रहकर नहीं। इस तरह प्रसिद्ध द्रष्टा जो जीव और शास्त्रोक्त द्रष्टा जो साक्षी इनको पृथक् नहीं मान सकते कि 'दो द्रष्टाओं' का भान हो! वास्तव द्रष्टा जो साक्षी उसी को भ्रम से प्रमाता रूप द्रष्टा अर्थात् जीव माने हुए हैं क्योंकि मूढ अर्थात् इस विवेक से वंचित हैं कि ज्ञान आगमापायी होता नहीं। सर्वसाधारण सूर्य का उदाहरण स्पष्ट ही है; गर्मी सबके लिये होने पर भी सबको लगता है 'मैं ही गर्मी से तप रहा हूँ; ऐसे ही आत्मा व्यापक होने से सब बुद्धियों के प्रति एक-सा साक्षी है पर हर-एक उसे अपनी एक ही बुद्धि में प्रतिबद्ध समझता है कि 'मुझ में ही प्रत्यग्रूपता है, बाकी सब पराक् हैं।' 'असाधारणरूपेण' अर्थात् सब उपाधियों द्वारा एक-सा उपहित न समझकर एक-एक उपाधि से विशिष्ट समझना। बुद्धिरूप उपाधि में सीमित हुआ समझा जाने पर वह जीव कहलाता है। सीमितता को ही विशिष्टता प्रतिबिम्ब, भास, अवच्छिन्न आदि कहते हैं। बुद्धि रहे या न रहे, दोनों हालतों में एक-सा रहने वाला समझा जाने पर वही साक्षी, अन्तर्यामी, ईश्वर कहलाता है। जैसे घटाकाशको आकाश से अलग समझना वैसे जीव को साक्षी से (अन्तर्यामी से) अलग समझना। जिस बुद्धि को लेकर हम स्वयं को प्रमाता, जीव समझते हैं वह जब सुषुप्ति में नहीं रहती तब भी हम तो बने रहते हैं अतः वस्तुतः प्रमाता व साक्षी अलग है नहीं, केवल मूढता से इनके भेद की कल्पना है।।२३०-३।।

अन्त में 'अतोऽन्यदार्त्तम्' कहा, उसका अर्थ करते हैं **सूत्रात्मा व अन्तर्यामी शास्त्रसमधिगम्य हैं अतः प्रतिष्ठित, नकारने के अयोग्य हैं। इनसे अतिरिक्त सब उसी तर्क से समझा जाता है जो स्वयं अप्रतिष्ठित है अतः वे सब आर्त, मिथ्या, नकारने लायक हैं।।२३४।।** सूत्र व अन्तर्यामी का उपाधि वाला हिस्सा आर्त होने पर भी इनका स्वरूपभूत आत्मा सत्य है। इसी को यों भी कहते हैं कि ये स्वरूपतः अध्यस्त नहीं हैं जबकि उपाधि आदि जगत् स्वरूपतः अध्यस्त है। तर्क प्रतिष्ठित इसलिये नहीं कि औजार है अतः इसे काम में लेने वाले की कुशलता पर इसका महत्त्व निर्भर है। तार्किक द्वारा निर्णीत बात कुशलतर तार्किक द्वारा उलट दी जाती है। नैयायिकों में प्रसिद्ध

द्वितीयो गार्गीप्रश्नः

अष्टमब्राह्मणे ब्रह्मतत्त्वं सम्यङ् निरूपितम्।
सूत्रमन्तर्यामिता च यत्रोतप्रोततां व्रजेत्।।२३५।।
पूर्वत्र गौतमोऽपृच्छत् सूत्रान्तर्यामिवस्तुनी।
ओतप्रोतात्मतां गार्गी तयोरेवात्र पृच्छति।।२३६।।

'शिरोमणि' कहलाने वाले रघुनाथ पण्डित ने स्वयं कहा है कि 'अब तक जो कुछ जैसा माना जाता था, मैंने उस सब को विपरीत कर दिया है!' क्योंकि भूत-भावी सब तार्किक एकत्र होंगे नहीं इसलिये तर्क अप्रतिष्ठित ही रहना है। शास्त्र प्रतिष्ठित अतः श्रद्धेय है। संसार तर्कगम्य है अतः मिथ्या है, परमात्मा अप्रतर्क्य अतः सत्य है। परमात्मा में कोई तर्क नहींयह परमात्मा की सत्यता स्थापित करता है न कि उसे अन्धविश्वास रूप! मिथ्या अनित्य एवं सत्य नित्य है। नित्य यदि अनित्य में ममता रखे तो हमेशा दुःखी रहेगा क्योंकि अनित्य तो आकर निकल जायेंगे, नित्य स्थायी बना रहेगा। जैसे पिता के सामने बेटा, पोता मर जाये तो कष्ट होता है वैसे नित्य तो सदा होता रहेगा क्योंकि बाकी सब तो हैं ही अनित्य। अतः नित्य, सत्य आत्मा को अनित्य, मिथ्या अनात्मा में कैसा भी ममत्व रखना नहीं चाहिये। उसे अन्तर्यामी में ही अहम्भाव स्थिर रखना चाहिये, साक्षी रूप से ही बने रहना चाहिये, तभी कल्याण है। यहाँ तक उद्दालक आरुणि के प्रश्नों का जवाब हुआ।।२३४।।

आठवाँ पुनः गार्गी ब्राह्मण है जिसमें सूत्र-अन्तर्यामी से परे जो अक्षर उसका वर्णन है। इसे श्लोक २८० तक स्पष्ट किया जाना है। ब्राह्मण प्रारम्भ सूचित करते हैं **आठवें ब्राह्मण में वह ब्रह्मरूप सत्त्य ठीक से समझाया गया है जहाँ सूत्र और अन्तर्यामिता ओत-प्रोत की स्थिति पाते हैं।।२३५।। इससे पहले गौतम (उद्दालक) ने सूत्र एवं अन्तर्यामी वस्तुएँ पूछी थीं, यहाँ गार्गी उन्हीं की ओत-प्रोत रूपता पूछ रही है।।२३६।।** श्लोक में 'सूत्रम्' और 'अन्तर्यामिता' शब्द सूचित करते हैं कि सूत्र या हिरण्यगर्भ की जीवरूपता की ओर दृष्टि ले जायी जा रही है एवं 'अन्यदार्तम्' से जीव को भी नकार सकते हैं इस प्रक्रिया की ओर संकेत है। विद्यारण्यस्वामी की ऐसी व्यवस्था प्रायः न होने से इसका विस्तार यहाँ नहीं पर परंपरागत होने से सूचना दी है। पूर्व ब्राह्मण में निर्णीत तत्त्व के अधिष्ठान का प्रश्न है। गार्गी ने पहले इसी को तर्क से पूछने की कोशिश की थी, अब बिना तर्क से पूछ रही है अतः मुनि जवाब भी देंगे। अक्षर है कार्य-कारणभाव से रहित पर हमारा चिंतन इस भाव में बद्ध है अतः

शास्त्र को काल्पनिक कार्यकारणता के हसारे ही समझना पड़ता है। गणित में बहुधा सवाल हल करने के लिये संख्या को पक्का वर्ग बनाने के उद्देश्य से कोई संख्या जोड़ देते हैं, हल निकलने पर वहीं संख्या घटाकर असली उत्तर समझ लेते हैं। महात्माओं में एक दृष्टांत प्रसिद्ध है तीन मित्रों ने धन मिलाकर साझे में काम शुरू किया। एक का उसमें नौवाँ (१/९) हिस्सा था, दूसरे का छठा (१/६) और तीसरे का आधा (१/२) हिस्सा था। सारे पैसों से उन्होंने सत्रह घोड़े खरीदे। बेचते समय मूल्य पर विवाद हुआ तो तीनों ने कहा कि घोड़े बाँटकर प्रत्येक अपनी बुद्धि से बेचे। किन्तु बाँटें कैसे! रुपये-पैसे तो थे नहीं, घोड़े थे। आधे हिस्से वाले को साढ़े आठ घोड़े कैसे मिलें ऐसे ही सबकी दिक्कत थी। किसी समझदार ने निपटारा कराने को कहा 'मेरा एक घोड़ा इनमें मिला लो, तुम्हारा बँटवारा हो जायेगा।' अब कुल अठारह घोड़े थे तो एक को नौ, दूसरे को छह और तीसरे को दो हिस्से में आये, तीनों सन्तुष्ट हो गये तथा अठारवाँ घोड़ा उस समझदार का बचा ही रहा! एक घोड़ा मिलाना केवल हिसाब बैठाने के लिये था, वास्तव में उन्हें वह मिलना नहीं था। इसी तरह कार्यकारणभाव (अध्यारोप) अद्वैत समझने के लिये ही है, वास्तव में नहीं। अभी असंख्य कारण प्रतीत हो रहे हैं, शास्त्र ने घटाते-घटाते उन्हें सूत्र-अन्तर्यामी (उपाधि-उपहित) तक समेट दिया; अब यदि समझ आ जाये कि कार्यकारण भाव है नहीं तो क्योंकि अन्यत्र से कार्यकारणताकी दृष्टि हट चुकी हैं इसलिये स्वीकार हो जायेगा कि कार्यकारणभाव वस्तुतः है ही नहीं, एकमात्र अजात वस्तु है। प्रारंभ में लगता है कि धागे से कपड़ा बना पर विचार करने पर समझ आता है कि धागों से अतिरिक्त कपड़ा कुछ है ही नहीं जो बना हो अतः कपड़े का मिथ्यात्व स्फुट हो जाता है और जब बनने वाला कुछ नहीं तो 'बनाने वाला' किसी को कैसे कहें! यों कार्य-कारण दोनों की अवास्तव स्थिति प्रकट होती है। इसीलिये क्रमशः वर्णन करते हुए वेद ने यहाँ अक्षर का प्रसंग रखा।।२३५-६।।

गार्गी ने पुनः मौका पाने के लिये ब्राह्मणों की अनुमति माँगी और कहा कि इन दो प्रश्नों का यदि याज्ञवल्क्य उत्तर दे दें तो सब मान लें कि वे अजेय हैं। ब्रह्मवेत्ताओं ने याज्ञवल्क्य का महत्त्व समझ ही लिया था अतः विस्तृत परीक्षण अनावश्यक होने से गार्गी का प्रस्ताव स्वीकार लिया क्योंकि जानते थे कि वह अब अक्षर ही पूछेगी जिसके बारे में पहले से जवाब नहीं मिल सकता था। उसने अपने प्रश्नों को कठिन बताने के लिये याज्ञवल्क्य से कहा कि वीर योद्धा के दो प्रबल बाणों जैसे ये प्रश्न हैं! पहला प्रश्न है 'यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यद्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्

अण्डोर्ध्वाऽधोमध्यदेशानूकालं च व्याप्य तिष्ठति।
सूत्रमित्याहुराचार्या ओतं प्रोतं च कुत्रचित्।।२३७।।
अण्डारम्भकभूतानां न पृष्टा सूत्र ओतता।
सूत्रेण विधृतं सर्वमिति पूर्वत्र निर्णयात्।।२३८।।
तार्किकत्वनिवृत्त्यर्थमाचार्योक्तिमुदाहरत्।
निःशेषदेशकालोक्तया सूत्रे सर्वात्मतोदिता।।२३६।।
व्यक्तं सर्वं सूत्ररूपमव्यक्ते व्योमसंज्ञके।
ओत प्रोतं च विद्धीति प्राह पृष्टमनूद्य सः।।२४०।।

भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति'। यह प्रश्न दिखाते हैं **आचार्य कहते हैं कि ब्रह्माण्ड से ऊपर-नीचे और ब्रह्माण्ड के बीच, सब जगह और सब काल को व्याप्त कर सूत्र रहता है, वह कहाँ ओत-प्रोत है?।।२३७।।** 'आचार्य कहते हैं' से बताया कि तर्क का रास्ता छोड़कर प्रश्न है। ब्रह्माण्ड से निरूपित समूचा देश और समूचा काल सूत्रात्मा से व्याप्त है, उसको जो व्याप्त किये है वह पूछा गया है।।२३७।।

प्रश्न उपपन्न करते हैं **ब्रह्माण्डोत्पादक महाभूतों की सूत्र में ओत-प्रोतता नहीं पूछी क्योंकि (ब्रह्माण्डरूप) सबको सूत्र ने धारण किया हैयह पूर्व प्रश्न में ही निर्णीत हो चुका है।।२३८।। तार्किकता हटाने के लिये आचार्य कथन का उल्लेख किया एवं सारे देश-काल के कथन से बताया कि सूत्र सर्वात्मा है।।२३६।।** उद्दालक प्रसंग में निर्णीत से आगे ही पूछना उचित होने से गार्गी का प्रश्न संगत है। अन्तर्यामी भी उक्त था किन्तु अक्षर तक सहसा नहीं पहुँच सकते, 'अक्षर कौन?' यह प्रश्न नहीं उठा सकते क्योंकि अक्षर को जानें तभी पूछें और जान लिया तो पूछना क्यों! अतः अन्तर्यामी पर आधारित होकर ही पूछने के लिये उसको उपस्थित करना ज़रूरी तथा वह भी सूत्र व्यापक के रूप में ही सुबोध होने से यों ही प्रश्न ठीक है। किं च गार्गी को जहाँ चुप किया था, वहीं से पूछ रही है, केवल तर्क रीति छोड़कर, यह भी उसने व्यक्त किया।।२३८-६।।

सूत्र को व्याप्त करने वाले अव्यक्त को आकाश-शब्द से कहते हुए 'आकाशे तदोतं च प्रोतं च' यह याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया। उसे बताते हैं **पूछे गये का उल्लेख करके उन याज्ञवल्क्य ने कहा सारा व्यक्त, जो सूत्र का रूप, वह आकाश-नामक अव्यक्त में ओत-प्रोत है।।२४०।।** देश-काल क्योंकि सूत्र में आ चुके इसलिये अब

देशकालौ च सूत्रेऽन्तर्भूतौ देशात्मकं ततः ।
वियन्नाकाशमत्रेति सूचनायानुवादगीः ।।२४१।।

उन पर निर्भर व्याप्ति कहना न बनने से सूत्र की व्यक्तता (नाम रूप में विभक्तता) के आधार पर अव्यक्त को उससे व्यापक बताया। शासकरूप में जिसे निमित्त कहा था उसी को उपादान रूप से आकाश कहा क्योंकि सिद्धान्त में दोनों कारणताएँ एक में ही है। यहाँ जैसे पूर्व प्रसंग में वायु शब्द भूतपरक नहीं था, वैसे आकाश-शब्द भी भूतपरक नहीं, ईश्वरपरक है। समस्त देश जिसके अन्तर्गत है उसे आकाशरूप भूत में ओत-प्रोत कहना बनता भी नहीं। अक्षराधिकरण (१.३.३.१०-२) में परब्रह्म की अक्षरता इसी से उपपन्न की है कि उसे अम्बर पर्यन्त का विधारक कहा अतः अम्बर अर्थात् आकाश साधारण भूत को यहीं नहीं समझ सकते। आकाशाधिकरण (१.१.८.२२) में आकाश का परमेश्वर के लिये प्रयोग समझाया भी है। अतः आकाश पद का यही अर्थ ग्राह्य है।।२४०।।

जवाब में याज्ञवल्क्य ने गार्गी का प्रश्न क्यों दुहराया यह बताते हैं **देश-काल सूत्र के अन्तर्गत हैं इसलिये यहाँ बताया जा रहा 'आकाश' जगह रूप वियत् नहीं हो सकता यह सूचित करने के लिये अनुवाद वाक्य है।।२४१।।** प्रश्न दुहराने की आवश्यकता के बगैर याज्ञवल्क्य ने दुहराया तो विशेष अभिप्राय से; वह यह कि वे सूत्र को 'आकाश' में ओत-प्रोत कहने जा रहे हैं, गार्गी कहीं उससे भूताकाश न समझ ले इसलिये पूरा प्रश्न दुहरायासंभवतः ऊर्ध्व, अवाक् शब्दों पर काकु से ज़ोर देकर कि भूताकाश तो प्रश्न में ही आ गया, उत्तर में आया आकाश और कुछ है। सीधे ही अक्षरादि नाम से नहीं कहा ताकि गार्गी की समझदारी भी पता चले! यह आचार्य विद्यारण्य के प्रश्न पुनः कथन का तात्पर्य भूताकाशव्यावृत्ति स्पष्ट किया। भाष्य-वार्तिक में ऐसा कुछ स्पष्ट नहीं, आनंदगिरि स्वामी ने बताया है (वार्ति. ३.७.१३) कि प्रश्न दुहराना कद की प्रतिष्ठित मर्यादाओं में परिगणित होने से ऐसा किया है। जो प्रश्न ही न याद रखे वह उसका उत्तर क्या देगा!इस भाव से वाद में प्रवृत्त को प्रश्न दुहराना चाहिये ताकि निश्चित हो कि उसे प्रश्न ठीक-ठीक मालूम है। बहुधा जवाब सुनकर ही पता चलता है कि जिससे पूछा था उसने सवाल ही सही नहीं सुना था! जब वह सवाल दुहराता है तब पूछने वाला निर्णीत कर लेता है कि प्रश्न वही है या नहीं और वही प्रश्न है तो जवाब सुनता है अन्यथा अपना प्रश्न पुनः रखता है। शास्त्रार्थ में अभी भी ऐसी पद्धति चलती है।।२४१।।

बोद्धुं बोधयितुं चैतदव्यक्तं दुःशकन्त्विति ।
विस्मिता प्रणनामाऽसौ तमव्याकृतवादिनम् ।।२४२ ।।

इस उत्तर पर गार्गी बोली 'नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य!' कि ऐसा उत्तर देने वाले आपको प्रणाम है। इसे बताते हैं **इस अव्यक्त को समझना समझाना बहुत मुश्किल है अतः गार्गी को अचम्भा हुआ और उसने अव्याकृत का वर्णन करने वाले मुनि को प्रणाम किया।।२४२।।** पहले तो अव्यक्त को समझना मुश्किल, कथंचित् स्वयं समझ भी लें तो निर्दुष्ट ढंग से शब्दों में उसे व्यक्त करना और भी कठिन है। मन देश-काल से परे सोचने-समझने में अक्षम होने से उनसे अतीत तत्त्व को कैसे मन में बैठाया जायेयह बही जानेगा जो उस तत्त्व में रचा पचा है, उसके बारे में निःशंक है। सर्वत्र व हमेशा हैकहने पर सर्व-देश एवं सर्व-काल में परिच्छिन्न पता चलता है और कहीं नहीं, कभी नहीं हैकहने पर लगता है कि असत् होगा! ऐसी वस्तु को कैसे बतायें! याज्ञवल्क्य ने सूत्र की व्यक्तता का सहारा लेकर हल निकाल लिया अतः गार्गी को आश्चर्य हुआ। व्यक्त सदा अव्यक्त से प्रकट होता मिलता है अतः मन के चिंतन की धारा बिना तोड़े व्यक्त के कारण का कथन किया। इसी उत्तर का विकास वेदान्त में माया के रूपमें हुआ। वेदान्त है ब्रह्मवाद लेकिन उस ब्रह्म तक पहुँचना बिना माया के दुःशक है। मायाविरोधी जब अद्वैती बनते हैं तब चैतन्य को विकारी माने बिना समझ-समझा नहीं पाते। हम तो 'ब्रह्म माया से सुखी-दुःखी है' कहेंगे जिसका अर्थ है कि वह वास्तव में न सुखी, न दुःखी है, केवल ऐसा भास रहा है। माया न मानकर 'सब परमात्मा ही है' कहें तो सुखी-दुःखी अच्छा बुरा सब परमात्मा हो तभी संगत होगा। अतः निर्विकार चैतन्य अंगीकार करें तो बिना माया माने उपपत्ति नहीं। अनेक आधुनिक शब्दों में उलझकर, माया को आचार्यशंकर द्वारा वेदान्तशास्त्र में प्रवेशित विचार बताते हैं, कहते हैं कि अनादि अनिर्वाच्य मिथ्या भावरूप अविद्या या माया उपनिषदों में जगत्कारणता के प्रति नियामक नहीं कही गयी है। किन्तु ये कल्पनायें उपनिषदों का अर्थ न समझने से है। उपनिषदों में जो कुछ ब्रह्म-जगत् के बारे में कहा है उस सबका अर्थ समझें तो स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है कि भाष्यकारोक्त माया के अभिप्राय से ही औपनिषद वर्णन है। याज्ञवल्क्य ने 'आ = समन्तात्, काशते' के तात्पर्य से आत्मा की सदा भासमानताका 'आकाश' शब्द से उल्लेख किया जिसे जगद्धेतुरूप से श्रुति में जगह-जगह कहा है। माया का भी नामतः अनेक स्थलों में कथन है ही और उसे प्रकृति कहकर बताया है

भूयोऽपि पृष्टमप्राक्षीत्प्रधानादिषु शंकया।
प्रधानादीन् जगद्धेतूनूवादिनः स्थापयन्ति हि।।२४३।।
सावधारणमाकाश एवेत्यन्यनिवृत्तये।
आहोत्तरं मूर्धपातं सूचयंस्तर्कनिर्णये।।२४४।।

कि कारण-प्रक्रिया में उसका मुख्य स्थान है। अज्ञानादि रूप से अनुभव मान उसे नकारना असंगत है। सुषुप्ति में अज्ञानभान सर्वसंमत है। यद्यपि जगने पर 'मैं अज्ञ रहा' यों मैं (अहंकार) से सम्बद्ध प्रतीत होता है तथापि मैं के प्राकट्य से पूर्व वह चेतन में ही रहता है। वार्तिकसार में (३.८.१५) कहा है 'अहंकारजनेः पूर्वं मोहश्चिन्मात्र-वर्त्यभूत्। तदुत्पत्तावहंकारविशेषणमिवेक्ष्यते।।' उस मोहयुक्त प्रत्यगात्मा को ही अव्याकृत, एवं सूत्र का कारण याज्ञवल्क्य ने बताया'प्रत्यक्तत्त्वं मोहयुक्तं पूर्वं व्यक्तं जगज्जनेः। अव्याकृताख्यम् अभवत् सूत्रं तत्र समाश्रितम्।।' (वा. सार ३.८.१६)। जगज्जन्म से पूर्व अव्यक्त ही व्यक्त था! अर्थात् तब अव्यक्त ही भासमान था। इस रहस्य तक याज्ञवल्क्य ने दृष्टि पहुँचा दी यह आश्चर्यकारी है।।२४२।।

गार्गी ने फिर से वही प्रश्न पूछा! इसमें हेतु बताते हैं **गार्गी ने पूछे हुए को ही पुनः पूछा इस शंका से कि आकाश शब्द प्रधान (प्रकृति) आदि को तो विषय नहीं कर रहा? शंका संभव इसलिये है कि वादी लोग प्रधान आदि को जगत् के कारण रूप से उपपादित करते हैं।।२४३।।** आकाश से प्रधान कह रहे होंजैसे यह संभावना हुई, वैसे यह भी कि सूत्रपर्यन्त सद्वयमें ही लय हुआ अतः इसका भी सद्वय में लय होता होगा। गार्गी ने मुखतः प्रकृति का उल्लेख नहीं किया क्योंकि त्रिगुणात्मिका प्रकृति तो तर्क संमत वस्तु है, वेद संमत नहीं तथा तर्क का सहारा गार्गी छोड़ चुकी थी। इस तरह वही प्रश्न दुबारा पूछना उपपन्न है।।२४३।।

याज्ञवल्क्य ने पूर्ववत् प्रश्न का अनुवादकर 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' यों एवकार जोड़कर वही उत्तर दिया, इसे समझाने हैं **'आकाश में ही' यों अवधारण सहित उत्तर याज्ञवल्क्य ने दिया ताकि अव्याकृत से अन्य की संभावना मिट जाये। इससे यह भी सूचित किया कि तर्क से निर्णय व्यावृत्ति में प्रवृत्त होने पर मूर्द्धा गिर जायेगी।।२४४।।** अवधारण मायने अन्य की व्यावृत्ति, निषेध। जहाँ विशेषण या क्रिया से एवकार जुड़े वहाँ अयोगादि का व्यवच्छेद होने पर भी 'आकाश एव' में ऐसा कुछ न होने से अन्य व्यावृत्ति ही अर्थ है अर्थात् आकाश से अन्य कुछ विवक्षित नहीं जहाँ सूत्र ओत-प्रोत हो। न गार्गी ने और न याज्ञवल्क्य ने प्रधान,

यद्वा तन्तुष्विव पटः सूत्रं बहुषु संस्थितम्।
इत्याशंक्य पुनः प्रश्न एवकारो बहुत्वनुत्।।२४५।।
कस्मिन्खल्वयमाकाश ओतः प्रोतश्च ईर्यताम्।
अनोतत्वे स्वतंत्रत्वात् प्रधानत्वं प्रसज्यते।।२४६।।

प्रकृति आदि नाम लिये क्योंकि वे तत्त्व तार्किक है। मुनि भी अगर कहते 'प्रधान में ओत-प्रोत नहीं' तो गार्गी तपाक से पूछती 'यह प्रधान क्या होता है?' अतः उन्होंने 'ही' शब्द से काम निकाल लिया। नाम लिये बगैर प्रधान, परमाणु आदि सबका निषेध हो गया।।२४४।।

सद्वय में ओतप्रोतता की संभावना के निवारणार्थ भी इस संवाद का उपयोग बताते है **अथवा, धागों में कपड़ें की तरह सूत्र भी बहुतों में प्रतिष्ठित होगा? यह शंका कर गार्गी का पुनः प्रश्न था और याज्ञवल्क्योक्त एवकार ('ही' शब्द) अनेकता का निरास कर रहा है।।२४५।।** प्रधान तो भाव रूप है जो आत्मा को सद्वय बनाता है, नैयायिक मानते हैं कि कार्य का प्रागभाव (पूर्ववर्त्ति अभाव) कार्योत्पत्ति के लिये आवश्यक है अतः उनके अनुसार प्रागभाव आत्मा को सद्वय बना सकता है। दोनों ही तरह से अव्यक्त इकलौता नहीं रहा जहाँ सूत्र ओत-प्रोत है। 'एव' से मुनि ने दोनों का निषेध कर दिया। व्यक्त का अभाव अव्यक्त नहीं वरन् व्यक्त करने की सामर्थ्य वाला सत्तत्त्व ही अव्यक्त है। अतः यहाँ अभावरूपता की संभावना नहीं। इस तरह सूत्र का हेतु सद्वय होगायह संभावना समाप्त की। यद्यपि नैयायिक 'नैकं स्वकार्ये पर्याप्तम्' अर्थात् अकेली वस्तु किसी का कारण नहीं बन सकती ऐसी घोषणा करते हैं तथापि यह मान्यता निर्मूल है और स्वयं नैयायिक को क्वचित् अकेले को कारण मानना पड़ता है। इस पर वार्तिकसार हिंदी दर्शनीय है।।२४५।।

यों अपने द्वारा पूछे पहले प्रश्न के बारे में स्पष्ट उत्तर से सन्तुष्ट गार्गी ने दूसरा सवाल किया 'कस्मिन्नु खलु आकाश ओतश्च प्रोत्तश्चेति, कि वह आकाश कहाँ ओत-प्रोत है? इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हैं **(गार्गी बोलीहे याज्ञवल्क्य!) 'यह बताइये कि यह आकाश किसमें ओत-प्रोत है?' उसका भाव है कि यदि कहीं ओत-प्रोत नहीं तो स्वतंत्र होने से यह प्रधान (प्रकृति) ही होगा।।२४६।। सूक्ष्म होने से सूत्र ही बताना कठिन, व्योम (आकाश, अव्याकृत) तो सूत्र से भी ज्यादा सूक्ष्म है। व्योम का भी जो आश्रय है वह सर्वाधिक सूक्ष्म होने से वाणी का विषय बनता नहीं।।२४७।। फिर भी याज्ञवल्क्य यदि उस कहे न जा सकने वाले का**

सूक्ष्मत्वाद् दुर्वचं सूत्रं व्योम सूक्ष्मतरं ततः।
व्योमाश्रयः सूक्ष्मतमो न वाग्गोचरमेत्यतः।।२४७।।
वक्ति चेन्निग्रहस्थानमवाच्यस्योक्तितो भवेत्।
अनुक्तौ वादिताहानिरिति गार्ग्या विवक्षितम्।।२४८।।
उक्तदोषद्वयास्पृष्टं प्रत्युत्तरमभाषत।
एतद्वा अक्षरं गार्गि प्राहुस्तद्ब्राह्मणा इति।।२४९।।

वर्णन करेगा तो वाद नियमानुसार हार जायेगा और यदि उसका उल्लेख ही नहीं करेगा तो (जवाब न देने से) वाद में भागीदारी से वंचित हो जायेगा!।।२४८।। आकाश सारे संसार का कारण बताया। उसकी प्रतिष्ठा अन्य कोई नहीं यदि कहें तो उसमें और प्रधान में क्या अन्तर? जड चेतन का फ़र्क कह सकते हैं लेकिन वस्तुभूत कारणता तो स्वीकृत हो ही जाने से याज्ञवल्क्य ईश्वरवेत्ता ही रहेंगे, ब्रह्मवेत्ता नहीं। दूसरी ओर, जो आकाश का अधिष्ठान है वह शब्दों में बाँधा जाने लायक है नहीं, उसे याज्ञवल्क्य शब्दों से बतायें तो ग़लत होगा, हार का हेतुभूत दोष होगा जिसे नैयायिक निग्रह स्थान कहते हैं। इसलिये उन्हें चुप रहना पड़ेगा तो वैसे ही उत्तर न दे पाने से हार जायेंगे। यों उसने पेचीदे सवाल उठाया।।२४९-८।।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'एतद् वै तद् अक्षरं गार्गि! ब्राह्मणा अभिवदन्ति [१]अस्थूलम् [२]अनणु [३]अह्रस्वम् [४]अदीर्घम् [५]अलोहितम् [६]अस्नेहम् [७]अच्छायम् [८]अतमः [९]अवायु [१०]अनाकाशम् [११]असंगम् [१२]अरसम् [१३]अगन्धम् [१४]अचक्षुष्कम् [१५]अश्रोत्रम् [१६]अवाग् [१७]अमनः [१८]अतेजस्कम् [१९]अप्राणम् [२०]अमुखम् [२१]अमात्रम् [२२]अनन्तरम् [२३]अबाह्यं, [२४]न तद् अश्नाति किञ्चन [२५]न तदश्नाति कश्चन।।' इसे समझाना शुरू करते हैं **याज्ञवल्क्य ने ऐसा जवाब दिया जिसमें पूर्वदर्शित दोनों दोष नहीं थे! उन्होंने कहा 'गार्गि! जिसके बारे में तुमने पूछा है वह यही है जिसे ब्राह्मण 'अक्षर' कहते हैं।।'२४९।।** प्रथमतः तो 'ब्राह्मण कहते हैं।' से इस दोष से बच गये कि अवाच्य का कथन किया क्योंकि यह दोष तो ब्राह्मणों पर जायेगा! दूसरी बात, उसे तुमने पूछा यह 'तत्' से सूचित किया अतः यदि वह वस्तु पूछी जा सकती मानो तो बतायी भी जा सके ऐसी माननी पड़ेगी, अगर बतायी न जा सके तो पूछी भी नहीं जा सकती क्योंकि अविषय तो वह दोनों का है! तीसरी बात, 'एतत्' से उसका साक्षात्स्वरूप कह दिये जिस पर किसी को विवाद नहीं। चौथी बात, अक्षर शब्द निषेध मुख से कहने वाला रख दिया (बाकी भी सब ऐसे ही शब्द रखे) ताकि सीधी विषयता की संभावना ही न रहे। यों गार्गी के मंसूबों पर पूरा पानी फेर दिया, सर्वथा सटीक, दोषहीन उत्तर दिया।।२४९।।

एतच्छब्देन तस्याह प्रत्यक्त्वात् साक्षितामसौ[1]।
प्रत्यक्तया तदैकात्म्यं स्वयमेव प्रतीयताम्।।२५०।।
न व्यावृत्तं विशेषेभ्यो नानुवृत्तं च गोत्ववत्।
अव्यावृत्ताननुगतं चैतन्यं केन वीक्ष्यताम्।।२५१।।

उक्त उत्तर का व्याख्यान करते हैं **याज्ञवल्क्य ने एतत् (यह) शब्द से बताया कि प्रत्यक् होने से वह साक्षी है। क्योंकि प्रत्यक् है इसलिये उसकी अभिन्न स्वरूपता खुद समझी जाये।।२५०।। विशेषताओं के कारण वह व्यावृत्त नहीं (क्योंकि निर्विशेष है) और गोत्व की तरह अनुवृत्त नहीं (क्योंकि सद्वय नहीं)। व्यावृत्त और अनुगत न होने वाला चेतन किस साधन से समझना पड़ेगा! (उसे समझना साधनों पर निर्भर ही नहीं)।।२५१।।** एतत् या यह निकटवर्ती को कहते हैं। निरवच्छिन्न निकट प्रत्यक् ही है। 'उप' उपसर्ग के अर्थ के विचार में उपनिषत् शब्द समझाते हुए आचार्यों ने ऐसा ही बताया है। सारोक्त पाठ में 'एतत् शब्द उषस्त प्रश्न में उक्त त्वम्पदलक्ष्य साक्षी का वाचक है।' प्रत्यक् ही जिसमें साक्षी है वही आकाश का अधिष्ठान है। यह तत्त्व क्योंकि आत्मा से अभिन्न है इसलिये शब्द से समझने का बंधन नहीं, खुद ही पता लगता है। वर्तमान में उपाधि से खुद को एकमेक किये हैं इसलिये प्रतीत होता है कि आकाश से परे का तत्त्व कोई और होगा! विविक्त आत्मा की वही वास्तविकता है यह शास्त्रज्ञों से तिरोहित नहीं रहता। इस तरह, उसे विषयतया उपन्यस्त करने के लिये गार्गी नहीं कह सकती यह सूचित किया। जिसमें विशेषताएँ हों वह उनके कारण व्यावृत्त अर्थात् अलग किया जा पाता है। गायों में कोई काली, कोई लाल, कोई चितकबरी हो तो 'लाल गाय' कहकर दूसरी गायों से उसे व्यावृत्त, पृथक् कह सकते है। जिसमें विशेषता न हो उसे व्यावृत्त किया कैसे जाये! अक्षर निर्विशेष अतः अव्यावृत्त है। एवं अनेकों में प्रविष्ट हुआ अनुवृत्त, अनुगत होता है जैसे गायों में गोत्व। जो किसी दूसरे को सहन ही न करे वह अनुवृत्त हो किसमें? इस प्रकार की वस्तु किसी और पर निर्भर रहकर भासे यह संभव नहीं। जैसे सूर्य किसी अन्य प्रकाश पर निर्भर होकर नहीं दीखता वैसे आत्मा किसी पर निर्भर हुआ नहीं प्रतीत होता। अव्यावृत्तता आदि आत्मा का, अक्षर का स्वरूप है; ऐसा नहीं कि याज्ञवल्क्य उसका व्यावर्तक धर्म जानते नहीं थे, या उसकी अनुगति का उन्हें पता नहीं था! जैसे 'वायु नीरूप है' या 'जल निःस्वाद है' का यह अर्थ नहीं कि वायु के

---

[1] प्रत्यक्साक्षिकताम् असौइति सारे पाठः।

यस्मात्प्रसिद्धं नास्त्यन्यत् प्रसिद्धं यन्न कस्यचित्।
स्वप्रभत्वादसंगत्वाद् वैशब्दस्तत्प्रसिद्धये।।२५२।।
साक्षादित्यादिना पूर्वं योऽशनायादिना तथा।
यत्नादभिहितः प्रत्यक् तच्छब्देन स गृह्यते।।२५३।।

रूप या जल के स्वाद को हम जानते नहीं वरन् यह अर्थ है कि इनका रूप या स्वाद होता ही नहीं, वैसे अक्षर में व्यावृत्ति अनुवृत्ति होती ही नहीं।।२५०-१।।

'वै' (निश्चयद्योती) का भाव बताते हैं **जिससे अन्य कोई प्रसिद्ध ही नहीं है और जो (अपने से अन्य)' किसी को प्रसिद्ध ही नहीं है क्योंकि स्वयम्प्रकाश और असंबद्ध है, उसकी प्रसिद्धि स्फुट करने के लिये 'वै' शब्द रखा।।२५२।।** अपना आपा सबको हमेशा प्रसिद्ध है, उसकी प्रसिद्धि अशंकित है। उससे अलग कुछ हो तो प्रसिद्धि की संभावना उठे पर कुछ है ही नहीं जो आत्मा से पृथक् कहा जा सके और है कहा जा सके! अतः एक अक्षर आत्मा ही प्रसिद्ध है। अतः वह 'किसी को पता नहीं! स्वयं ही प्रसिद्ध है, स्वयं के लिये ही प्रसिद्ध है। इसलिये वह लोकप्रसिद्ध चीज़ों में से कुछ होगायह शंका मिट जाती है। यही उसकी स्वप्रकाशता है कि प्रसिद्ध है लेकिन किसी को नहीं! किंच वह असंग, असम्बद्ध है क्योंकि अद्वितीय है, इससे भी वह सुप्रसिद्ध है। हमारा आत्मा असंग है यह हमें सुप्रसिद्ध है। अनादि काल से असंख्य सम्बन्धी बंधु बांधव हमारे रहे पर यहाँ पैदा होते ही उन सबका थोड़ा-सा भी परामर्श हमें नहीं और यहाँ के सम्बन्धों को मरने के क्षण ही छोड़कर चल देंगे; यह हमारी असंगता में प्रत्यक्ष प्रमाण है। क्योंकि हमें अपना स्वरूप प्रसिद्ध है इसलिये भी 'वै' कहा। जैसे रस्सी पर दस चीज़ों का भ्रम हो तो न रस्सी का उनसे कोई संग (संबंध) होता है और न उन्हीं का आपस में कोई संग होता है, वैसे अज्ञान-तत्कार्य के निमित्त आत्मा में किसी संग की संभावना नहीं।।२५२।।

'एतद्वैतत्' यों कहे तत् (वह) शब्द का अर्थ कहते हैं **पूर्व में (उषस्तप्रश्न में) जिसे साभिप्राय बताया था यह कहकर कि 'वह साक्षात् है? आदि तथा 'जो भूख आदि से परे है' आदि, उस प्रत्यक् का यहाँ तत् शब्द से ग्रहण किया है।।२५३।।** उषस्त को साक्षात् आदि से और कहोल को 'योऽशनायापिपासे...अत्येति' से समझाया तत्त्व यहाँ तत् शब्द से परामृष्ट (इंगित) है। 'यत्नात्' अर्थात् 'यत्नं विधाय', यत्न का विधान करके; संन्यास आदि साधन वहाँ वर्णित थे ही। अथवा 'यत्नात्' का मतलब 'साभिप्रायं' है।।२५३।।

क्षराद्विरुद्धधर्मत्वादक्षरं ब्रह्म भण्यते।
कार्यकारणरूपं तु नश्वरं क्षरमुच्यते।।२५४।।
ध्वस्तात्माऽज्ञानतत्कार्याः प्रत्यग्याथात्म्यबोधतः।
त्यक्तसर्वैषणा अत्र ब्राह्मणा इति कीर्तिताः।।२५५।।

अक्षर शब्द का मतलब समझाते हैं **क्षर से विरुद्ध स्वभाव वाला होने से ब्रह्म अक्षर कहा जाता है। कार्य रूप व कारण रूप जो कुछ नाशवान् है वह क्षर कहलाता है।।२५४।।** बिना घटे-बढ़े सर्वथा एक-सा परिपूर्ण रहने वाला होने से यह अक्षर है क्योंकि इससे अतिरिक्त सब 'आर्त' अर्थात् नश्वर है। क्षर अर्थात् विनाशी वस्तुएँ कार्य भी देखी जाती हैं, कारण भी। यह न कार्य है, न कारण, अतः क्षर हो नहीं सकता। कार्य की नश्वरता तो स्पष्ट हैघड़ा फूट ही जाता हैकारण भी इसलिये नश्वर है कि कार्योत्पत्ति हो जाये तब वह 'कारण' नहीं रह जाता, रोटी बन जाने से आटा 'समाप्त' हो जाता है। कारण से कार्य बना सकना चाहिये अतः जब वह कार्याकार धारण कर लेता है तब क्योंकि उससे कार्य अब बन नहीं सकता इसलिये उसे कारण नहीं कह सकते। यह कारण की नश्वरता है। 'क्षराद् विरुद्धधर्मत्वात्' में अक्षर की धर्माश्रयता नहीं वरन् क्षर-समान धर्मों से रहितता से उपलक्षित स्वरूप विवक्षित है।।२५४।।

याज्ञवल्क्य ने 'ब्राह्मण ऐसा कहते हैं' यों उत्तर दिया था; ब्राह्मण से उनका क्या अभिप्राय यह बताते हैं **जो सारी एषणाएँ छोड़ चुके, प्रत्यगात्मा की वास्तविकता के साक्षात्कार से आत्म-सम्बद्ध अज्ञान एवं उसके कार्यों को ध्वस्त कर चुके वे यहाँ 'ब्राह्मण' कहे गये हैं।।२५५।।** पूर्वश्लोक में जो नश्वर क्षर बताया था वह सब अज्ञान और उसका कार्य है। संशय-विपर्यय से रहित जो सही आत्मबोध वह अज्ञान को अतः तत्कार्य को उन्मूलित कर देता है। तदनन्तर एषणा असंभव हो जाती है। तब तक तो प्रवृत्ति मार्गी को 'ऐसा होवे' यह एषणा रहती है, निवृत्ति मार्गी को 'ऐसा न होवे' यह एषणा बनी रहती है। काम-क्रोध-लोभ आदि को भगाने की इच्छा भी है एषणा ही। झूठे हौवे से डरने की तरह कामनादि से छूटने की चाह है। जब तक उस झूठ को पहचाना नहीं तब तक एषणा से बच नहीं सकते और पहचानने के बाद एषणा हो नहीं सकती। ऐसे निरेषण तत्त्ववेत्ता यहाँ ब्राह्मण कहे जा रहे हैं क्योंकि वे ही अक्षर कथन करते हैं।।२५५।।

शास्त्रैकगम्यतासिध्यै वदन्तीत्यभिधीयते।
ब्राह्मणास्तद्वदन्तीति स्वापराधनिषेधगीः।।२५६।।
नावाच्यं वच्म्यहं किन्तु वदन्ति गुरवोऽखिलाः।
इति वच्मि वचस्तेन वादिताऽपि न हीयते।।२५७।।
गुरवोऽपि कथं प्राहुरवाच्यमिति चेच्छृणु।
स्थूलादीनां निषेधेन लक्षयन्त्यक्षरं बुधाः।।२५८।।

'ब्राह्मण कहते हैं' यह क्यों बोला, इसे स्पष्ट करते हैं **अक्षर केवल शास्त्र से सही समझा जा सकता है यह निर्णय व्यक्त करने के लिये 'ब्राह्मण कहते हैं' ऐसा कहा। 'ब्राह्मण उसे बताते हैं' यह कथन इस बात का निषेध करता है कि अक्षर का उल्लेख कर याज्ञवल्क्य ने कोई अपराध किया।।२५६।। 'मैं अवाच्य को नहीं बता रहा बल्कि 'सभी गुरु उसका ऐसा उपदेश देते हैं' यह कह रहा हूँ इसलिये मैंने उत्तर नहीं दिया यह नहीं कहा जा सकता।।२५७।।** याज्ञवल्क्य बताते तो मतलब होता कि वे अक्षर को शब्द का विषय मानते हैं जो ग़लत बात है। किंतु उन्होंने यह ग़लती नहीं की इसे सूचित किया ब्राह्मणों के उद्धरण से। तत्त्वज्ञ जब अक्षर का उपदेश देते हैं तब उसे अवाच्य जानते हुए ही देते हैं अतः उक्त अपराध नहीं होता। वह तत्त्व अन्य किसी तरह नहीं, सिर्फ़ शास्त्र से समझ आता है यों उसमें प्रमाण भी सूचित कर दिया 'मैं नहीं कह रहा' से स्वयं अपराध से बचे और ब्राह्मण कथन बताकर जवाब न दे पाने के संकट से बचेयह याज्ञवल्क्य की चातुरी है। यदि बताते नहीं तो लगता कि वे जानते ही नहीं, इसलिये गायों का पण हार जाते। बताने से वह समस्या नहीं रही। 'अखिल' इसलिये कि अनादि गुरु परंपरा यही बताती है। किसी एक आध ब्राह्मण की बात नहीं, जिसने भी अक्षर समझकर बताया, ऐसा ही बताया। परंपरा का महत्त्व वैदिक सिद्धान्त में असीम है। अन्यों को तो अपनी या किसी एक व्यक्ति की 'मौलिकता' पर भरोसा होता है जबकि वैदिकों को सम्प्रदाय पर श्रद्धा होती है, सम्प्रदाय से बहिर्भूत को वैदिक अश्रद्धेय ही मानता है। पारम्परिक की ही प्रामाणिकता है, स्वानुभव तो सही गलत दोनों ही सुलभ हैं।।२५६-७।।

याज्ञवल्क्य के बाकी वाक्य की व्याख्या करते हैं **यदि पूछो कि गुरुजन भी अवाच्य का कथन कैसे करते हैं? तो सुनो विद्वान् लोग स्थूल आदि के निषेध द्वारा अक्षर को लक्षित करते हैं।।२५८।। यह शंका उचित नहीं कि सबका निषेध होने पर अभाव ही बचेगा क्योंकि निषेध की सीमा बचती ही है।**

अभावशेषो नाशंक्यो निषेधावधिशेषणात्।
नाभावनिष्ठो लोकेऽपि निषेधः किमुताक्षरे।।२५९।।

लोक में भी निषेध अभाव में पर्यवसित नहीं होता तो अक्षर के बारे में प्रयुक्त निषेध अभावबोधक नहीं होता इसमें क्या कहना!।।२५९।। कोई पूछे 'हवा का क्या रंग होता है?' तो जानकार जवाब देगा कि 'हवा का रंग नहीं होता।' रंगरहित कहने से जैसे हवा के रंग के बारे में बताया जाता है वैसे जो कुछ वाणी का विषय है उससे पृथक् कहने से अवाच्य भी शब्दों द्वारा बताया जाता है। निषेध से वह लक्षित अर्थात् अवगत हो जाता है। यह अवगम भी लक्षणावृत्ति से होता है, स्थूलादिका अभाव जिसका परिचय कराता है वह अक्षर है। जो कुछ हटाया जा सके वह सब हटा देने पर जो चिन्मात्र सबको हटाने वाला वही बचता है, उसे हटाने वाला कोई नहीं अतः वह हटाने की, निषेध की सीमा है। वह सद्रूप है, अभावरूप नहीं। जैसे दो डालियों के बीच दृष्टि स्थिर होने पर चन्द्र दीख जाता है। वैसे स्थूलादि का निषेध कर देने पर अक्षर स्फुट हो जाता है। स्थूलादि भ्रमों के चलते ही अक्षर समझ नहीं आ रहा, उनके हटने पर उसे समझना सहज है। आचार्य ने कहा कि लोक में भी निषेध अभावनिष्ठ नहीं होताः 'घड़ा मोटा नहीं' का मतलब ऐसा तो नहीं कि घड़ा ही नहीं है! वरन् घड़ा है, उसकी मोटाई कम है। 'यहाँ कुछ नहीं है' का मतलब यह तो नहीं कि ज़मीन, रोशनी, हवा आदि भी नहीं! ये सब हैं, जो ढूँढ रहे हो वह नहीं है। इसी तरह अक्षर को स्थूलादि के निषेध से कहने पर अभाव ही रहे यह असंभव है।। जैसे 'साँप नहीं, माला नहीं' आदि कहने पर भी रस्सी तो वास्तविक ही रहती है वैसे स्थूलादिका निषेध करने पर भी सच्चिदानंद वस्तु रह ही जाती है। यद्यपि अव्याकृत (आकाश) ही सारे व्यक्त के निषेध से बोध योग्य है, वहीं जब स्थूलादि निषिद्ध हैं तब अक्षर में उनका निषेध व्यर्थ है, तथापि परमतत्त्व को अनेक लोग वस्तुतः नाम रूप से परे नहीं समझ पाते अतः उन्हें वह तत्त्व भी स्थूलादि लगता है, इसलिये उसे अस्थूलादि कहना जरूरी है। किं च आकाश में व्यक्त स्थूलादि ही निषिद्ध हैं, अव्यक्त रूप से तो संमत हैं जबकि अक्षर में उनकी अव्यक्त रूप से भी स्थिति नहीं है।।२५८-९।।

अस्थूलादि बताकर याज्ञवल्क्य बोले 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।' इत्यादि। प्रशासक, अन्तर्यामी के ही द्वारा अक्षर स्फुट होता है। प्रशासन अन्तर्यामी का धर्म होने पर भी अक्षर का तटस्थ लक्षण हो जाता है। यह प्रकट करते हैं **अन्तर्यामी समझ आ जाने के बाद अक्षर समझ आ सकता है।**

अन्तर्यामिणि बुद्धेऽथ सुशकं बोद्धुमक्षरम्।
प्रशासनेन लिंगेन सोऽन्तर्याम्यवबुध्यताम्।।२६०।।
ईशितव्यार्थसम्बन्धादन्तर्याम्येतदक्षरम्।
चैतन्याभासमोहाख्यवर्त्मनैव न तु स्वतः।।२६१।।
एतस्य वा अक्षरस्य शासने सत्यदो जगत्।
स्याद्व्यवस्थितमर्यादं सूर्यचन्द्रादिलक्षणम्।।२६२।।
विवादगोचारापन्ना यन्तृपूर्वा जगत्स्थितिः।
व्यवस्थितत्वाल्लोकस्य राजपूर्वा स्थितिर्यथा।।२६३।।
सूर्यचन्द्रौ द्युभूर्लोकौ कालो नद्यो यथाययम्।
नियमेन प्रवर्तन्ते सा प्रवृत्तिर्व्यवस्थितिः।।२६४।।

प्रशासनरूप चिह्न से वह अन्तर्यामी समझा जा सकता है।।२६०।। यह अक्षर शासन योग्य वस्तु के सम्बन्ध से अन्तर्यामी है (और यह सम्बन्ध) चैतन्य के आभास वाले मोह (अज्ञान) नामक मार्ग (द्वार) से ही है, खुद अक्षर और शासनयोग्य वस्तु में परस्पर कोई संबंध नहीं है।।२६१।। कठिनता से सही पर ईश्वर तक बुद्धि पहुँचती तो है, अतः उसी के माध्यम से अक्षर समझना चाहिये। वेदांत में निरीश्वरवाद को कोई स्थान नहीं। यद्यपि एक प्रक्रिया में जीवकल्पित ईश्वर माना है तथापि वहाँ स्वयं जीव भी कल्पित होने से जीव ईश्वर समान कोटि के हैं अतः साधना में ईश्वर का वही स्थान रहता है जो प्रक्रियान्तर में। संसार शासित मिलता है जिससे प्रशासक समझना सरल है। अक्षर शासक कैसे हो! जिस पर शासन करना है वह संसार अक्षर पर कल्पित है इसी से अक्षर उसका शासक बन गया है। साभास अविद्या ही वह माध्यम है जिससे अक्षर अन्तर्यामी हो जाता है अतः अविद्या रहते जो अन्तर्यामी वही अविद्या मिटने पर अक्षर है। अविद्या मिटे बिना भी है अक्षर ही लेकिन अविद्या वालों को अन्तर्यामी ही लग रहा है। इसीलिये अक्षर के बारे में समझाते हुए याज्ञवल्क्य ने प्रशासक रूप का उल्लेख किया।।२६०-१।।

याज्ञवल्क्यवचन का सारभूत अर्थ बताते हैं **इसी अक्षर का नियंत्रण रहते सूर्य-चन्द्रादिरूप यह जगत् अपनी सीमाओं में बँधा रहता है।।२६२।। जगत् की विचाराधीन नियमितता अवश्य नियामकाधीन है क्योंकि निश्चित नियमों से बँधी है जैसे लोगों की नियमितता राजा के अधीन होती है।।२६३।। सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, भूलोक, काल, नदियाँ सब निर्धारित नियम से प्रवृत्त होते हैं, वह प्रवृत्ति 'व्यवस्था' कही जाती है।।२६४।।** यद्यपि सभी जीव शासित हैं तथापि

धने दानेन नष्टेऽपि तत्फलप्रद ईश्वरः।
यतोऽस्ति तेन दातारं तं प्रशंसन्ति वैदिकाः।।२६५।।
नापूर्वफलदं तस्मिन् मानाभावात् फलं पुनः।
ईशादप्युपपन्नत्वान्नैवापूर्वस्य कल्पकम्।।२६६।।
सेव्याद्राज्ञः फलप्राप्तिर्दृश्यते न त्वपूर्वतः।
दानादिक्रियया सेव्यादीशात्तद्वत्फलं भवेत्।।२६७।।

सूर्यादि का नाम लिया क्योंकि शुद्ध उपाधि वाले होने से वे शासन का उल्लंघन नहीं करते। अशुद्ध उपाधि वाले तो व्यवस्था की सुनिश्चितता के अज्ञानवश उल्लंघन करते फिर दण्ड पाते हैं। याज्ञवल्क्य ने विभिन्न नाम लिये, आचार्य ने समग्र जगत् विवक्षित है यह संक्षेप कर दिया। श्लोक २६३ में अनुमान से यही कहा। जगत् की शासितता विवादग्रस्त नहीं लेकिन उसी के कारण यह विचार चल रहा है अतः उसे विवाद गोचर कहा। 'राजा के अधीन' में वास्तविक राजा समझने चाहिये! आजकल के सरकारी तंत्र, मन्त्री आदि को दृष्टांत नहीं समझ सकते क्योंकि इनका कुछ भी नियंत्रण है नहीं! समूची प्रकृति पर प्रशासन करने वाला अन्तर्यामी ही है।।२६२-४।।

कोई शंका करता कि प्रकृति जड है, उसी पर प्रशासन होता होगा! इसलिये याज्ञवल्क्य ने कहा 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः' कि दानदाता की शिष्टों द्वारा प्रशंसा, देवताओं की यजमानों पर निर्भरता और पितरों का दर्वी होम पर आश्रित रहनाये भी प्रशासक को सिद्ध करने वाले तथ्य हैं। (जो किसी की न प्रकृति न विकृति है वह दर्वीहोम पितरों की तृप्ति के लिये विहित है।) यह प्रसंग समझाते है **धन दान से समाप्त हो जाने पर भी दान का फलदाता ईश्वर है इसीलिये वैदिक लोग धनदाता की प्रशंसा करते हैं।।२६५।। अपूर्व (पुण्य) फलप्रद नहीं क्योंकि अपूर्व अप्रमाणिक है। फल तो ईश्वर से भी उपपन्न है अतः फल लाभ से अपूर्व की कल्पना ही नहीं होती।।२६६।। जिसकी सेवा की जाये उस राजा से फल लाभ देखा जाता है न कि अपूर्व से। इसी तरह दान आदि कर्म से जिसकी सेवा हुई उस ईश्वर से ही दानादि का फल मिलता है।।२६७।।** दाता की प्रशंसा यही मान कर होती है कि वह सत्फल पायेगा। सामने-सामने तो उसके धन का व्यय ही दीखता है जिसे प्रशंसा के योग्य नहीं कह सकते। किन्तु कालान्तर, लोकान्तर में श्रेष्ठ फल सुनिश्चित समझकर ही वह स्वयं भी दान देकर प्रसन्न होता है तथा शिष्ट सज्जन भी उसकी वाह-वाही करते

हैं। केवल धन खर्च ने वाले या डुबा देने वाले की तो कोई प्रशंसा करता नहीं। अतः व्यय या नाश प्रशंसा हेतु नहीं वरन् दान ही है और वह भी इसलिये कि दान से उत्तम फल मिलेगा ऐसा निश्चय है। जिन्हें ईश्वर का निश्चय है वे ही दानादि सत्कर्म करते हैं, अन्य नहीं। पूर्वज ईश्वर पर श्रद्धा रखते थे तो धर्मशाला बना गये; उनके बेटे पोते अश्रद्धालु हैं अतः धर्मशाला की साफ़-सफाई का भी खर्च नहीं उठाते, वह भी रहने वालों से वसूलते हैं। ऐसा भी नहीं कि इनके पास पैसों की कमी हो, भोज में, मौज-मस्ती में, प्रदर्शन में अनाप-शनाप खर्चते हैं, केवल धर्म में खर्चने के लिये कमी रहती है। कारण है कि ईश्वर पर भरोसा नहीं है। अफसर को देने से फायदा होगा यह निश्चय है अतः उन्हें तो देते ही हैं। ग़रीबों को देने से फ़ायदा होगा यह निश्चय नहीं अतः नहीं दे पाते। अतः 'प्रशंसन्ति वैदिकाः' कहा कि वेदादि सच्छास्त्रों पर श्रद्धा रखने वाले ही दानदाता की प्रशंसा करते हैं। मीमांसक पुण्य नामक अपूर्व अदृष्ट ही सत्फल दे देता है, ईश्वर अनावश्यक है ऐसा मानते हैं पर आचार्य ने स्पष्ट किया कि चेतन से फल संगत और ईश्वर प्रमाण सिद्ध है जबकि जड अपूर्व से फल असंगत और स्वयं अपूर्व अप्रामाणिक है अतः मीमांसक की मान्यता ग़लत है। फल मिलना यदि अन्यथा अनुपपन्न होता तो कथंचित् अपूर्व माना भी जाता लेकिन जब फल लाभ ईश्वर से उपपन्न है तब अपूर्व की कल्पना ही निरर्थक है। राग-द्वेष रहित होने से ईश्वर निष्पक्ष फलदाता है यही वेद व युक्ति को संमत है तथा लोक में भी देशान्तर-कालान्तर-निमित्तान्तर में मिलने वाले फल चेतन से ही मिलते हैं अतः दृष्टानुसारी भी ईश्वरवाद है। अपूर्ववाद नहीं। वैदिक वर्णाश्रम धर्म ईश्वर स्वीकारने पर ही निभते हैं। चेतन ईश्वर ने जिसे ब्राह्मण उत्पन्न किया उसका कर्त्तव्य ब्रह्मकर्म है न अन्य कर्म। जैसे राजा ने जिसे जो कार्य सौंपा वही करे तो राजा संतुष्ट होगा। वह छोड़कर मन माना कोई कार्य चाहे जितना अच्छा करे, राजा संतुष्ट नहीं होगा क्योंकि उसके निर्देश का पालन नहीं हुआ। ऐसे ही ईश्वर निर्देश के उल्लंघन से ईश्वर की सन्तुष्टि असंभव है। जो ईश्वरवादी नहीं वे तो मनमाना आचरण कर सकते हैं पर ईष्वरवादी वर्णादिधर्मों का पालन ही करेंगे। जो जिसके लिये विहित है वही उसका धर्म है, अच्छी तरह जो कर सके वह उसका धर्म नहीं हो जाता!।।२६५-७।।

प्रश्न होगा कि मनुष्य ही दाता के प्रशंसक हैं, इतने से ईश्वर सिद्धि कैसे, मनुष्य ना समझ भी हो सकते हैं? उत्तर के लिये मनुष्य से श्रेष्ठों का आचार उपन्यस्त करते है देवता यागकर्त्ता के पास हव्य ग्रहण करने आते हैं, पितर श्राद्धकर्ता के पास कव्य ग्रहण करने आते हैं; यदि प्रशंसक न होता तो ये समर्थ लोग मनुष्यों से

देवता यागकर्तारं पितरः श्राद्धकारिणम्।
नाप्नुयुर्हव्यकव्यार्थं यदि न स्यात्प्रशासिता।।२६८।।
होमयागतपांस्यज्ञैर्बहुकृत्वः कृतान्यपि।
विनाशफलदानीति शासनं तत्प्रशासितुः।।२६९।।

लेने क्यों आते!।।२६८।। स्वर्ग में सोमादि से तृप्त एवं पितृलोक में दिव्य भोगों से तृप्त देवता व पितर भी शास्त्रानुसारी यज्ञ, श्राद्ध आदि करने वाले मानव के सन्निकट ईश्वर के विधान के पालनार्थ ही आते हैं, अन्यथा नहीं। लौकिक मंत्री तक को हम अपनी सुविधा से अपने घर बुलाने में और हमारा दिया खाने को बाध्य करने में असमर्थ हैं तो देवता या पितर हमारे निमंत्रण से आयेंयह अमान्य है। वे तो इसीलिये आते हैं कि ईश्वर का विधान है कि अधिकारी नियमानुसार आह्वान करे तो पहुँचना पड़ेगा। इसके उल्लंघन से बचने के लिये ही वे नियमतः उपस्थित होते हैं। इस प्रकार प्रशासन रूप चिह्न से सिद्ध अन्तर्यामी ही अक्षर समझने का माध्यम है।।२६८।।

प्रशासक के एक और नियम के आधार पर उसकी महत्ता की 'यो वा एतदक्षरं गार्गि! अविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राणि अन्तवद् एवाऽस्य तद् भवति'; इसे कहते हैं **अज्ञानियों द्वारा बहुत बार भी किये गये होम, याग, तप नश्वर फल ही देते हैं; ऐसा उस प्रशासक का नियंत्रण है।।२६९।।** कर्म का महत्त्व मानने वाले भी उसका अनाशी फल नहीं मान सकते क्योंकि श्रुति-स्मृति युक्ति तीनों से उसको असंभव कहा जाता है। कर्म का नश्वर ही फल होयह ईश्वर का ही अनुशासन है अन्यथा बहुतेरे असंभव से लगने वाले कार्य कर्मादि से हो जाते हैं तो मोक्ष क्यों न होता! लेकिन ईश्वर का विधान ही ऐसा है कि कर्म से नहीं ज्ञान से ही मोक्ष होगा अतः यही व्यवस्था है। कहीं यदि कर्मों को अक्षयफलक कहते भी हैं तो प्रशंसा के लिये, वस्तु दृष्ट्या नहीं। अग्नि में आहुति डालने पर होम होता है जब कैसी भी देव पूजा यज्ञ कही जाती है अतः होम व याग पृथक् कहे। सार में याग की जगह दान पाठ है जो श्रुति के अनुकूल नहीं अर्थतः निर्दुष्ट है।।२६९।।

कर्म जैसे प्रबल साधन की अक्षमता और ज्ञान जैसे अयत्नसाध्य उपाय से असीम फलयह विस्मापक व्यवस्था ईश्वर पर श्रद्धा बढ़ाती है यह कहते हैं **इतना भीषण बंधन केवल अज्ञान से है! कर्मोपासना की सहायता के बिना ही ज्ञान से मोक्ष सुलभ है। इस तरह के सारे ही आश्चर्य परमेश्वर के अस्तित्व को सत्यापित करते हैं।।२७०।। इस ईश्वर के बारे में विवाद की शंका भी संभव नहीं, यह**

अज्ञानमात्रतो बंधो ज्ञानमात्रेण मुक्तता।
इत्याश्चर्याणि सर्वाणि कल्पयन्तीश्वरास्तिताम्।।२७०।।
विवादशंकाऽपीशेऽस्मिन्नसंभाव्येति दर्शयन्।
प्रशासनं लिंगरूपं प्रपंचितमनेकशः।।२७१।।
यदप्रबोधात्कार्पण्यं ब्राह्मण्यं यत्प्रबोधतः।
तदक्षरं प्रबोद्धव्यं यथोक्तेश्वरवर्त्मना।।२७२।।

दिखाते हुए उसके चिह्न रूप प्रशासन का नाना प्रकार से यहाँ विस्तार किया।।२७१।। बंधन अत्यंत दृढ है लेकिन बाँधने वाली रस्सी कितनी कमजोर है, अज्ञान ही है। यह अचम्भे की बात है लेकिन वस्तु स्थिति है। इसी तरह मोक्ष के लिये, बंधन नष्ट करने के लिये, अनादि काल से बटोरे कर्म व संस्कारों को समाप्त करने के लिये बेसहाय ज्ञान ही साधन हैयह भी स्तब्ध करने वाली बात है। बल्कि अगर ज्ञान को कर्म की या उपासना की सहायता उपलब्ध करा दें तो वह मोक्ष देने में अक्षम ही हो जाता है, अकेला रहे तभी मोक्ष दे पाता हैयह भी अतीव आश्चर्य की व्यवस्था है। लोकसिद्ध युक्तियों को मौका नहीं मिलने देना ईश्वर की अचिन्त्य सामर्थ्य सिद्ध करता है। इससे अन्य भी आश्चर्य समझ लेने चाहिये। ईश्वर की अस्तिता को आश्चर्य 'कल्पयन्ति' अर्थात् उपपन्न करते हैं। श्रुति सिद्ध ईश्वर में युक्ति चिन्तन रूप मनन का प्रदर्शन है, तर्क से ईश्वर-साधन नहीं। यह भी भाव नहीं कि ईश्वर की कल्पना अर्थात् सम्भावना होती है, वरन् उपपादन होता है यही तात्पर्य है। यह ईश्वर क्योंकि 'अस्मिन्' (श्लोक. २७१) स्वप्रकाश प्रत्यग्रूप है इसीलिये निर्विवाद है। अन्तर्यामी को नकारना किसी के लिये संभव नहीं। बहिर्यामी को हठ से कोई मना कर भी सकता है लेकिन अन्तर्यामी को नहीं। 'केनेषितम्' आदि में स्पष्ट है कि जिसे हम अपना संघात जानते हैं वह भी सर्वथा हमारे नियंत्रण में नहीं। अतः अन्तर्यामी को नकारना संभव नहीं। याज्ञवल्क्य ने प्रशासन के विविध आयाम दिखाकर यही निश्चितता प्रकट की है।।२७०-१।।

अक्षर की महिमा है कि उसे समझने से ही सारे बंधन खुल जाते हैं 'यो वा एतदक्षरं गार्गि! अविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रेति स कृपणः। अथ च एतदक्षरं गार्गि! विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रेति स ब्राह्मणः।' इसे समझाते हैं **जिसका अज्ञान रहते कृपणता है, जिसे समझ लेने पर वास्तविक ब्राह्मणता आती है, उस अक्षर को पूर्वोक्त ईश्वर के माध्यम से अवश्य समझना चाहिये।।२७२।।** कृपणता अर्थात् कर्मफल के भँवर में भरते रह जाना 'कृपणः कृतफलस्यैवोपभोक्ता जननमरणप्रबन्धा रूढः' ऐसा भाष्य है। यदि कंजूस

अक्षरस्य प्रशास्तृत्वं स्वमोहाभासकल्पितम्।
न स्वाभाविकमित्येतद्वक्त्यदृष्टादिवाक्यतः।।२७३।।

अर्थ लें तो भाव है कि संसार के आभास-सुख भी न छोड़ पाने वाला बना रहता है। गीता टीका में आनन्दगिरिस्वामी ने कहा है 'योल्पां स्वल्पामणि स्वक्षतिं न क्षमते स कृपणः तद्विधत्वादखिलोऽनात्मविद् अप्राप्तपरमपुरुषार्थतया कृपणो भवति' (२.७)। संसार सत्य और परमात्मा झूठ लगने तक हम से संसार छूटना असम्भव है एवं संसार पकड़े रहते दुःख बढ़ता ही जायेगा। आत्मबोध से ही संसार की मापिकता व्यक्त होने पर यह छूटता है और तब इसे पकड़ने की कभी इच्छा नहीं होती। ऐसा पर अक्षर अन्तर्यामी के सहारे समझना प्रधान पुरुषार्थ है।।२७२।।

अक्षर को याज्ञवल्क्य ने अदृष्ट किन्तु द्रष्टा इत्यादि वैसा ही बताया जैसे उद्दालक को अन्तर्यामी बताया था। इस सन्दर्भ को स्पष्ट करते हैं **अक्षर में प्रशासकता स्वाभाविक नहीं वरन् कल्पित है और कल्पना इसलिये है कि अक्षर सम्बन्धी अज्ञान है एवं आभास होता है मानो अक्षर उस अज्ञान से मिला-जुला हो। 'अदृष्ट' आदि वाक्य से यह बताया है।।२७३।।** अक्षर-अन्तर्यामी में इतना ही अंतर है कि उपाधि-सम्पर्क वाला समझा जाने वाला अंतर्यामी प्रशासक है और वस्तुतः अक्षर है। अक्षर को प्रशासक के माध्यम से समझ सकते हैं लेकिन बिना उपाधि के वह प्रशासक हो ऐसा नहीं, स्वभाव से अक्षर ही है, निरुपाधिक स्वरूप अक्षर ही है। आत्ममोह अर्थात् अज्ञान और उसका अक्षरतादात्म्यइनके रहते अक्षर अंतर्यामी प्रतीत होता है। हमें स्वयं भीतरी प्रेरक हमसे सर्वथा अतिरिक्त नहीं लगता क्योंकि वस्तुतः आत्मा तो एक ही है, अज्ञान-उपाधि से प्रेरक और मन उपाधि से प्रेरित अथवा मनोविशिष्ट हुआ प्रेरित एवं मन उपाधिक हुआ प्रेरक है। इसी प्रकार प्रशासक-अक्षर में है अभेद, उपाधि-परिप्रेक्ष्य रहने-न-रहने का अंतर है। क्योंकि शासक का कभी स्पष्ट पता नहीं चलता, अज्ञान रहता है इसलिये प्रशासकता में अज्ञान का विनियोग और क्योंकि प्रशासक चेतन ही होता है इसलिये उसमें आत्मता भी है। अज्ञान और आत्मा का मेल आभास में ही संभव है अतः स्वमोहाभासकल्पित बताया। निरुपाधिक अक्षर, मायोपाधिक प्रशासक और मनउपाधिक प्रशासित जीवये तीनों वास्तव में अभिन्न हैं। उपाधि-भेद से एक भी अनेक व्यवहार करता ही है जैसे हाथ से पकड़ने का व पैर से चलने का आदि। चैकोस्लवाकिया पर कब्ज़ा करने के समय संयुक्त राष्ट्रसंघ में सिक्योरिटी काउन्सल का अध्यक्ष रूस का विदेश मंत्री (काउन्सल सदस्य) ही था अतः उसने अपनी महीने भर की अध्यक्षता की

मागोचरातिवर्तित्वाददृष्टं स्यात्तदक्षरम्।
अभावत्वनिषेधार्थं द्रष्ट्रक्षरमितीर्यते।।२७४।।
कूटस्थदृक्त्वं द्रष्टृत्वं न दृश्ये दृष्टिकर्त्तृता।
ओतप्रोतगिराऽशेषदृश्यवस्तुनिराकृतेः।।२७५।।
उक्तद्रष्ट्रतिरेकेण दृश्यं नास्ति यथा तथा।
जीवद्रष्टृनिषेधार्थं नान्यदित्याद्युदीरणम्।।२७६।।

पारी में अध्यक्ष के नाते सवाल पूछे और विदेश मंत्री के नाते जवाब दिये, अमरीका आदि के सदस्यों को बोलने का मौका ही नहीं दिया, तब तक रूस का कब्जा स्थापित हो गया। यों औपाधिक भेद भी पर्याप्त कारगर देखे गये हैं। इसलिये अदृष्ट आदि भी है एवं द्रष्टा आदि भी है।।२७३।।

अदृष्टादिरूपता व्यक्त करते हैं **वह अक्षर अदृष्ट इसलिये है कि ज्ञान की विषयता से परे है। वह अभाव नहीं है यह कहने के लिये उसे द्रष्टा भी बताया।।२७४।। अपरिवर्तनशील दृग्रूपता यहाँ द्रष्टापना है न कि किसी दृश्य के बारे में जन्य दृष्टि के प्रति कर्त्ता बनना। ऐसा इसलिये समझना होगा क्योंकि ओत-प्रोत के कथन से सारी दृश्य वस्तुओं का निराकरण किया जा चुका है।।२७५।।** अक्षर न तो ज्ञान का और न किसी प्रमाण का ही विषय है, स्वरूप से ही प्रत्यक् होने से वह विषयभाव से ही परे है। किंतु फिर भी उसे नकार इसलिये नहीं सकते कि द्रष्टा वही है। आत्मरूप, ज्ञानरूप, चिद्रूप होने से अक्षर की वास्तविकता है। अहमाकारवृत्तिका भी प्रकाशक, सुषुप्ति का भी साक्षी यहाँ दृग्रूप द्रष्टा समझना चाहिये। वृत्तियुक्त हुआ वह दृष्टिकर्त्ता हो जाता है। अथवा मायोपाधि में वह प्रशासक ईश्वर हो जाता है। इसलिये यह द्रष्टा होने पर भी निर्विकार है, कूटस्थ है। जीव-ईश्वर को तो कूट-पक्षीय कह सकते हैं क्योंकि औपाधिकता है लेकिन अक्षर को नहीं, वह तो कूट के अधिष्ठानरूप से स्थित है। अक्षर के स्तर पर दृश्य है ही नहीं कि वह दृश्यसम्पर्करूप दृष्टि स्थापित करे। वह तो है ही दृग्रूप, ज्ञानरूप, बस इतना ही उसका द्रष्टापना है।।२७४-५।।

अक्षर ही ज्ञान है यह और स्पष्ट करते हुए 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टृ' आदि भी पूर्ववत् कहा जिसे बताते हैं **यहाँ बताये अक्षररूप द्रष्टा से अन्य जैसे दृश्य नहीं वैसे जीवरूप द्रष्टा भी नहीं है! यह कहने के लिये 'इस से अन्य नहीं' आदि कथन है।।२७६।।** जीव यद्यपि द्रष्टा के रूप में उपलब्ध है तथापि वस्तुतः वह अक्षरभिन्न कुछ

विजातीयसजातीयवस्त्वन्तरनिषेधतः ।
कूटस्थमेकं चैतन्यं सिद्धं वस्त्वक्षरं परम् ।।२७७।।
एतस्मिन्नक्षरे गार्गि स्रजि क्लृप्तफणीन्द्रवत् ।
ओतः प्रोतश्च निःशेष आकाशोऽकारणात्मनि ।।२७८।।

नहीं है क्योंकि निरपेक्ष दृक् अक्षर ही है। जीव तो अंतःकरण पर निर्भर हुआ द्रष्टा है जबकि अक्षर स्वतंत्र द्रष्टा है। इसका यह अर्थ नहीं कि जीव कुछ पृथक् हो जो मन से मिलकर द्रष्टा हो, वरन् यह अर्थ है कि मन पर निर्भरता के भ्रम से ही जीवरूप भ्रान्ति भासमान है, जीवरूप से वह कोई वस्तु नहीं, वस्तु एक अक्षर ही है। ज्ञान से स्वतंत्र न ज्ञेय न ज्ञाता है अतः ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान पर ही आरोपित हैं यह भाव है। जैसे लहर झाग आदि समुद्र से अन्य चीज़ कुछ नहीं वैसे अक्षर से अन्य वस्तु कुछ नहीं, प्रतीतियाँ भले ही विभिन्न हैं। जीवरूप द्रष्टा क्योंकि मनोवृत्ति पर निर्भर है इसलिये केवल ज्ञातरूप से जानने वाला है जबकि अक्षर स्वतंत्र द्रष्टा है अतः ज्ञात-अज्ञात दोनों तरह से एकरस रहते हुए जानने वाला है। केवल तटस्थता महसूस होने से 'मैं' साक्षिभाव में स्थित हूँ नहीं समझ सकता, एकरसता, निर्विकारता, हेयोपादेय-शून्यता भी कायम रहे तभी साक्षिभाव है। यही अक्षर की स्थिति है।।२७६।।

निष्कर्ष कहते हैं **विजातीय व सजातीय सब तरह की अन्य वस्तुओं के निषेध से सिद्ध हुआ कि कूटस्थरूप, अद्वितीय, चिद्रूप, पारमार्थिक वस्तु अक्षर है।।२७७।।** दृक् से विजातीय दृश्य और सजातीय सभी द्रष्टा हैं; दोनों का निषेध हो गया। द्रष्टा यद्यपि दृङ्मात्र नहीं तथापि दृश्य न होने से दृक् के समान जाति वाला है। यद्वा दृक् को द्रष्टा कह चुके इसलिये सजाति है। दृश्य तो सर्वथा विजातीय है। दृश्य स्वरूपतः ही नहीं है, द्रष्टा नहीं केवल इसलिये है कि वह दृष्टिकर्त्ता है, अगर इस कर्त्तृत्व से छूट जाये तो द्रष्टा है ही जबकि दृश्य भले ही दृश्यभाव से छूटे, नहीं ही है। इसलिये दृश्य व द्रष्टा के निषेध से जो रहा वह अद्वितीय है, एक है। विकारहेतु न रह जाने से निर्विकार कूटस्थ है। दृग्रूप अतः चैतन्य है। अक्षर शब्द शास्त्रों में माया के लिये भी प्रयुक्त है अतः इसे परम् अक्षर कहा, कि यह परमार्थतः है एवं व्यापक अनंत है। यह अक्षर का वर्णन हुआ।।२७७।।

अन्त में याज्ञवल्क्य ने फिर कहा 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति'; इसका अर्थ करते हैं **हे गार्गि! माला में कल्पित नागराज की तरह अकारणस्वरूप अक्षर में समग्र 'आकाश' ओत-प्रोत है।।२७८।। अक्षर निज के अज्ञान से**

अक्षरं स्वात्मसंमोहात् कारणत्वं निगच्छति।
तथा कार्यत्वमप्येतन्निरवद्यं तदेकलम्।।२७६।।
सर्वस्याक्षरमात्रत्वात् कृत्स्नज्ञेयसमाप्तितः।
न ज्ञेयं शिष्यते किंचिन्नाप्यध्वस्तं तथा तमः।।२८०।।

कारणभाव पाता है और यह सारा जगत् भी उसी तरह (अक्षर के अज्ञान से) कार्यभाव पाता है अतः अक्षर अकेला है, सारे दोषों से अस्पृष्ट है।।२७६।। सब अक्षर ही होने से समूचा ज्ञेय समाप्त है अतः जब ज्ञेय नहीं रहा तब न नष्ट हुआ अज्ञान भी नहीं बचा।।२८०।। आकाशपर्यन्त ओत-प्रोतता में कार्य-कारणभाव स्वीकार था, अब उसे अस्वीकार करना होगा तभी अक्षर में आकाश की ओत-प्रोतता समझ आयेगी। 'समग्र' अर्थात् सकार्य। आकाश से अव्याकृत (ईश्वर) कहा था, बाकी सब उसके कार्य 'समग्र' में आ गये। कार्यों समेत कारण अक्षर पर अध्यस्त है। अध्यास वास्तव में कार्यकारण-व्यवस्था से परे है। अतः अज्ञान-मात्र पर टिके 'कार्य' को जैसे 'है' नहीं कहना बनता वैसे 'कारण' को भी 'है' नहीं कहना बनता! कार्य होता तभी कारण कह जाता। जब कार्य-कारण ही हैं नहीं तब अज्ञान को ही 'है' कैसे कहें? वे होते तो उनका उपस्थापक अज्ञान भी होता। जब कार्य-कारणरूप उपपाद्य नहीं तब उपपादक अज्ञान को 'है' कहना ही नहीं बनता। श्रुतियों में घट-मिट्टी आदि उदाहरण ही मिलने से अक्षर की कारणता साफ नहीं हो पाती अतः आचार्य प्रायः रज्जुसर्पादि दृष्टान्तों से यह रहस्य खोल देते हैं। 'एजति-नैजति' आदि विरोध कहकर श्रुति ने यह बताया ज़रूर है पर सामान्य साधक को उतने से स्पष्टता नहीं होती। श्रुति ने रज्जुसर्पादि दृष्टान्तों को महत्त्व इसलिये नहीं दिया कि ये भी कथंचित् उसी तरह के हैं जैसे घटादि। अतः अविद्या का परिणाम सर्प को मानना आदि वैसा ही है जैसे मिट्टा का परिणाम घड़े को। अतः अल्पप्रज्ञ के तोषार्थ भले ही आचार्य इनका उपयोग करें, श्रुति ऐसे हल्के सहारे नहीं खोजती। अकर्त्ता अभोक्ता आत्मा जैसे भ्रमवश कर्त्ता-भोक्ता हो रखा है वैसे सारा कार्य-कारण जगत् हो रखा है। वही आत्मा अक्षर है, परिपूर्ण अद्वय है। ज्ञेय का स्वरूप निरस्त होते ही ज्ञाता स्वतः समाप्त हो जाता है, ज्ञानमात्र रह जाता है, अज्ञान के लिये कोई स्थान नहीं बचता। इस प्रकार जिस परतत्त्व के बारे में गार्गी ने प्रश्न उठाया था उसका सम्पूर्ण वर्णन याज्ञवल्क्य ने सारी सावधानी रखते हुए कर दिया जिससे वे ब्रह्मिष्ठ अतः गायें ले जाने के हकदार सिद्ध हो गये। अतः गार्गी ने ब्राह्मणों से कहा कि याज्ञवल्क्य को प्रणाम कर छुटकारा पा लेना चाहिये क्योंकि उन्हें जीत सकने वाला कोई है नहीं। यह घोषित कर वाचक्नवी चुप हो गयी।।२७८-८०।।

शाकल्यप्रश्नः

नवमब्राह्मणे देवनिर्णयस्तदुपासनम्।
अष्टधा पंचधा चौपनिषदश्चोच्यते क्रमात्।।२८१।।
सूर्यचन्द्रादयो देवाः शासितव्या उदीरिताः।
तेषां विस्तार आनन्त्यं संक्षेपस्त्वेकदेवता।।२८२।।

नौवाँ है शाकल्य ब्राह्मण। यद्यपि ब्रह्मवेत्ता तो गार्गी की चेतावनी से समझ गये कि वास्तव में याज्ञवल्क्य अजेय है तथापि शाकल्य नामक विप्र को जँचा नहीं कि याज्ञवल्क्य सर्वज्ञ है। अधिक संभावना यही है कि क्योंकि वह स्वयं ब्रह्मवेत्ता ही नहीं था इसलिये पिछले तीन ब्राह्मणों की चर्चा, उनका रहस्य, उनकी महत्ता उसके पल्ले ही नहीं पड़ी अतः वेदविद्या में वह जो जानता था उसी सन्दर्भ में उसने परीक्षा उचित समझी। परमात्मोपदेश की परिपूर्णता के लिये उपनिषत् को जो कुछ और कहना है वह शाकल्य संवाद से कह देगी और ब्रह्मज्ञ के विरोध को हानिकर भी बता देगी। शंकरानंद जी ने आत्मपुराण में शाकल्य के मनोभावों का बारीकी से वर्णन किया है, वह विस्तार रुचिकर लेकिन ग्रंथ समझने के लिये अनावश्यक है। श्लोक २९८ तक शाकल्य का प्रसंग चलेगा।

ब्राह्मणारंभ की प्रतिज्ञा करते हैं **नौवें ब्राह्मण में देव का निर्णय, उसकी आठ तरह और पाँच तरह से उपासना एवं औपनिषद पुरुषये बातें, यथाक्रम बतायी हैं।।२८१।।** एक देव का विस्तार कितने देवों के रूप में और विस्तृत देवों को कैसे संकुचित कर एक में समझ सकते हैं यह प्रारंभ में विचार है। फिर आठ तरह बँटे देव की एवं पाँच तरह बँटे देव की उपासनाओं की चर्चा है तथा अंत में उसी अक्षर पुरुष का संदर्भ है जिसे सिर्फ उपनिषत् से समझना संभव है। शाकल्य कर्मी एवं देवताराधक था अतः याज्ञवल्क्य का महत्त्व उसी शास्त्र की जानकारी से आँक सकता था। शतपथ में पूर्व का सन्दर्भ भी है जहाँ याज्ञवल्क्य-शाकल्य में बात-चीत हुई और परमात्म-विषय में शाकल्य को जानकारी न होने से दखल नहीं करना चाहिये ऐसा याज्ञवल्क्य ने सावधान किया। जनकसभा में परमात्मविषय ही उपस्थित होने पर भी शाकल्य ने अध्यारोपणीय भाग की ही चर्चा छेड़ी।।२८१।।

देवनिर्णय का उल्लेख करते हैं **सूर्य, चंद्र आदि देवता शासन के योग्य कहे थे। उनका विस्तार अनन्तता है और संक्षेप एक देवता है।।२८२।।** शाकल्य का प्रश्न देवतासंख्या के बारे में था अतः उनकी अधिकतम एवं न्यूनतम सभी संख्याओं का संग्रह बता दिया गया। कर्म-उपासना की पद्धतियों के लिये इन सबका महत्त्व है।।२८२।।

त्रयश्चेत्यादिभिर्लक्ष्या बहुशब्दैरनन्तता।
सुषुप्तिप्रलयावस्थः कारणात्मैकदेवता।।२८३।।
नानात्वैकत्वरूपाभ्यां तिष्ठति प्राणदेवता।।
नियन्तव्यनियन्तृत्वसम्बन्धस्य प्रसिद्धये।।२८४।।

याज्ञवल्क्य के शब्द तो हैं 'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा' अर्थात् तीन हज़ार तीन सौ छह लेकिन अभिप्राय अनन्तता में है यह बताते हैं **'त्रयश्च' इत्यादि बहुतेरे शब्दों से आनन्त्य लक्षित होता है। सुषुप्ति एवं प्रलय की अवस्था में कारणरूप एक ही देवता रहता है।।२८३।।** याज्ञवल्क्य ने 'अनन्त देवता हैं' यह कहा नहीं, लेकिन तीन हजार आदि जो कहा उससे उनका तात्पर्य आनन्त्य में समझना चाहिये। सचमुच में एक परमेश्वर ही देवता है लेकिन व्यवहार भूमि में जहाँ कहीं परमेश्वर की शासकतादि विभूति प्रतीत हो वे सब देवतारूप हो जाते हैं। भारतीय परंपरा में तो कुदाली तक देवता के रूप में पूज्य है! कलम-दवात आदि की पूजा दीपावली आदि में होती है। वह ईश्वररूप प्रलयदशा में और सुषुप्तिदशा में निर्विवाद है, बाकी अर्थात् कार्यदशा में भी वास्तविक तो वही है लेकिन माध्यमों के द्वारा ढक-सा जाने से अनंत देवताओं की प्रतीति होती है। अतः देवताओं की संक्षिप्त संख्या एक और विस्तृत संख्या अनंत है। जीव भी सुषुप्ति में एक और जागने पर देह-इन्द्रिय-प्राण-मन आदि के सम्बन्धों से विविध प्रतीत होता है, ऐसे ही ईश्वर है। द्रष्टा-श्रोता-वक्ता-मन्ता जैसे विभिन्न, वैसे सूर्य-इन्द्र-वायु आदि विभिन्न हैं, वास्तविक भेद नहीं है। जैसे देखने में आँख ही काम आयेगी, बिगड़ेगी तो उसी की दवा करनी होगी, वैसे तत्तत् देवताओं के तत्तत् काम हैं और वे पूजनीय भी रहते हैं। केवल अज्ञान पुष्ट करने से देखने आदि में मदद नहीं मिलेगी, ऐसे ही केवल कारणोपाधिक के आराधन से तत्तत् कामनाएँ नहीं पूरी होंगी। इसी से सभी देवताओं के पूजनादि तत्तत्काल आदि में कर्त्तव्य हो जाते हैं।।२८३।।

एक के इतने भेद क्यों? यह समझाते हैं **अनेक और एकइन दोनों रूपों से प्राण देवता इसलिये रहता है कि प्रशासित-प्रशासक-भाव संबंध संभव हो।।२८४।।** एक है कारणरूप, प्रशासकरूप, अनेक हैं कार्यरूप, प्रशासितरूप, इनमें परस्पर सम्बन्ध इसी से है कि दोनों एक के ही रूप हैं। जो कार्य से विरक्त है वह सब देवताओं को कारण में एक करने की तरफ जाता है, जो कार्य में आसक्त है वह एक के अधिकाधिक भेद खोजता है, किस-किस कार्य के लिये कौन-कौन देवता हैं उनके क्या-

पृथिव्येवेत्यादिवाक्यादष्टधोपासनेरिता ।
किंदेवेत्यादिवाक्येन पंचधोपासनं श्रुतम् ।।२८५।।
एतावदेव शाकल्यो वेत्ति मायामयं तु तत् ।
याज्ञवल्क्यः स इत्यादिवस्त्वनूद्याऽथ पृष्टवान् ।।२८६।।

क्या मंत्र हैं आदि अनुसन्धान में लगता है। बहुत-से लोग न एक पर स्थिर रह पाते हैं, न अनन्त को सह पाते हैं। वे अपने मतलब की संख्या पर अटक जाते हैं लेकिन वैदिक का सीधा हिसाब है कि घटानी है तो एक संख्या तक आओ, बढ़ानी है तो अनन्त तक जाने दो, 'मेरी संख्या ही ठीक, दूसरे की ग़लत' यह भाव व्यर्थ है। अनन्त भी वास्तव में एक से अलग नहीं हैं, अपनी शासकता व्यक्त करने के लिये ही वह अनन्त रूप धरता है। नियामक क्योंकि अक्षर समझने में माध्यम है और नियामक तब हो जब नियम्य हों इसलिये प्राणदेवता एक और नाना बना है। विद्यारण्य स्वामी शाकल्य के प्रश्नोत्तरों पर विशेष विचार अनावश्यक समझ रहे हैं क्योंकि इन्हें निर्विशेष का विवरण इस ग्रंथ में इष्ट है।।२८४।।

आगे शाकल्य ने पृथ्वी आदि आठ आयतनों वाले के बारे में और पूर्वादि दिशाओं के अभिमानी के बारे में पूछा। याज्ञवल्क्य ने सब प्रश्नों का जवाब दिया। इस बात को सूचित करते हैं **'पृथ्वी ही' आदि वाक्यों से आठ प्रकार की उपासना कही है तथा 'कौन-सा देवता' आदि वाक्य से पाँच प्रकार की उपासना कही है।।२८५।।** उपनिषत् के मुख्य प्रसंग से मेल न खाते शाकल्य के प्रश्नों पर याज्ञवल्क्य भी खीझे थे और अंत में 'अतिप्रश्न'-वश उसे मरना ही पड़ा, अतः आचार्य यहाँ इस संदर्भ का विस्तार नहीं कर रहे।।२८५।।

शाकल्य के सवालों का जवाब देते-देते याज्ञवल्क्य ने अंतिम प्रतिष्ठा 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते' आदि से कही और शाकल्य से उसके बारे में पूछ लिया जिसे वह जानता था नहीं अतः उसकी मूर्धा गिर गयी (३.९.२६)। इस प्रसंग का उल्लेख करते हैं **शाकल्य इतना ही (देवताओं के बारे में ही) जानता था और वह सब मायामय ही है। 'सः' आदि वाक्य से सत्य तत्त्व का अनुवाद कर याज्ञवल्क्य ने प्रश्न उठाया :।।२८६।।** कर्मकाण्डी होने से शाकल्य परमेश्वर से अनभिज्ञ था क्योंकि कर्मकाण्ड तभी तक टिक सकता है जब तक परमेश्वर भूले रहो। कर्मकाण्ड का आधार है कि हम करते हैं उससे फल मिलता है। ईश्वर का स्वरूप स्वतंत्र चेतन है। यदि ईश्वर पर दृष्टि जाये तो मालूम रहेगा कि उसके संकल्प के

बिना कुछ होता नहीं तथा वह सब रूप धरे खेल रहा है। रुद्राध्याय में चोर-उच्चकों के पति रूप में तक भगवान् का वर्णन है, सप्तशती में भी सभी रूपों का उल्लेख है। इन वचनों के अर्थविचार में न जाकर पाठादि से फल मान सकते हैं लेकिन अर्थ का चिंतन करते ही प्रवृत्ति रुक जाती है क्योंकि जिन सब से बचने के लिये हम प्रार्थनाएँ करते हैं वे सब वहाँ उसी परमेश्वर का रूप बता दिये गये हैं। जो हमारे पास है वह भी उसी का रूप, तो क्या चाहकर प्रार्थना करें? सर्वज्ञ-सर्वशक्ति स्वयं जो भी संकल्प करेगा सर्वाधिक उचित ही होना निश्चित है तो हम अपनी अल्प मति से उसमें हेर-फेर की प्रार्थना क्यों करें? अतः ईश्वर-विचार भक्ति में ही प्रेरित कर सकता है, कर्मकाण्ड में नहीं रख सकता। सब कर्म परमेश्वर-प्रसन्नता के लिये करना भक्ति है, कर्मकाण्ड में ऐसा नहीं किया जाता। स्वामी विवेकानंद को काश्मीर में क्षीरभवानी का टूटा मंदिर देख भाव आया 'मैं तब रहा होता तो कभी मंदिर न टूटने देता।' बाद में ध्यान करते हुए उन्हें देवी ने कहा 'मैं तेरी रक्षा करती हूँ कि तू मेरी रक्षा करता है? क्या मेरी इच्छा के बगैर मंदिर टूटा है जो तू रोक लेता!' स्वामी जी ने लिखा है कि उसी प्रबोधन से उनके सब संकल्प हट गये। अतः लौकिक कर्मकाण्ड सामाजिक, राष्ट्रीय आदि कार्यपर भी आग्रह ईश्वरविचार आने पर बच नहीं सकता, स्वयं के योगक्षेम के लिये भी सर्वथा निश्चिन्तता आ जाती है। यद्यपि कर्मकाण्ड के प्रत्येक मंत्र में बीज हैं जिनसे पूर्णतः परमेश्वर-परायणता आ सकती है तथापि संसार में राग रहते हम मंत्रार्थ का विचार बिलकुल न कर उनका प्रयोग, उपयोग ही करते रह जाते हैं। शाकल्य कर्मकाण्डी होने से कर्म-उपासना ही समझता था, उसी के बारे में पूछ सका और यह याज्ञवल्क्यादि ब्राह्मण समझ ही रहे थे कि यह सारा माया का ही विस्तार पूछा गया, 'ब्रह्मनिष्ठ' के निर्णयार्थ उचित प्रश्न नहीं पूछे गये। याज्ञवल्क्य इस विषय में भी निष्णात थे यह प्रकट हुआ, इतना अच्छा है, लेकिन बेमौके की बातें होने से रसभंग तो हुआ ही। गायों के लोभादि से अनधिकार सवाल उठाये अतः दण्डनीय माना गया। उसकी अनधिकारिता व्यक्त करने के लिये ही अब याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया। अब तक उनके परीक्षक ब्रह्मवेत्ता ही थे और याज्ञवल्क्य आदि सब यह जानते थे अतः उनसे अभी तक याज्ञवल्क्य ने पलटकर कुछ पूछा नहीं था। शाकल्य न तो ब्रह्मवेत्ता के रूप में प्रसिद्ध था, न उसके प्रश्नों से ऐसा आभास मिला अतः याज्ञवल्क्य ने ज़रूरी समझा सभा में यह व्यक्त करना कि वह उनका परीक्षक होने लायक ही नहीं कि वे उसके प्रश्नों का समाधान करते जायें। सार्वजनिक सभा में सभी ब्राह्मणों

देवविस्तारसंक्षेपावष्टधा पंचधा च यत्।
उपास्यमुक्तं तत्सर्वं नेति नेतीत्यपोह्यते।।२८७।।
इतिशब्देन निर्दिष्टे दृश्ये तस्मिन्नपोहिते।
योऽवशिष्टः स आत्माऽस्य दृश्यस्यात्मवतो मतः।।२८८।।

को पूछने का मौका था इसलिये शाकल्य के पूछते ही याज्ञवल्क्य ने पहले उसकी परीक्षा की नहीं सोची और जवाब दिये लेकिन शाकल्य को अप्रासंगिक दिशा में बढ़ता जाता देख यहाँ शाकल्य के अज्ञान को व्यक्त भी करना ठीक समझा। उन्होंने कहा कि 'परतत्त्व यही आत्मा है जिसे नेति नेति कहते हैं, जो ग्राह्य नहीं, विशीर्ण (बिखरता) नहीं होता, सम्बद्ध नहीं होता, व्यथित नहीं होता, हिंसित नहीं होता; जितना उपास्य विस्तार है सब इसी का विलास है, यह केवल उपनिषत् से समझ आता है। मैं तुझसे इस पुरुष के बारे में पूछता हूँ, अगर न बता पाया तो तेरी मूर्धा गिर जायेगी!' शाकल्य तो नहीं ही जानता था, उसकी मूर्धा गिर गयी, उसके शिष्यादि उसका शव लेकर गये, मार्ग में चोरों को लगा कुछ माल है तो उसकी हड्डियाँ भी चुरा ले गये! ब्रह्मवेत्ता के साथ दुर्व्यवहार अत्यंत कष्ट देता हैयह भाव है। यह प्रसंग अब कहा जाना है।।२८६।।

याज्ञवल्क्य के प्रश्न का उपक्रम करते हैं **देव के जो विस्तार और संक्षेप कहे, आठ प्रकार और पाँच प्रकार का जो उपास्य बताया वह सब 'नेति नेति' से निरस्त किया जाता है।।२८७।। 'इति'-शब्द से दृश्य का उल्लेख कर, समूचे दृश्य का निरास हो जाने पर जो बचा वही इस सात्मक दृश्य का आत्मा माना गया है।।२८८।।** आत्मा को उपस्थित करने का तरीका ही अनात्म-निषेध का है अतः इति शब्दों से सारे अनात्मा को कहकर न-शब्दों से उसका निरास कर बचे को आत्मा कहा। दृश्य (संसार) जिससे आत्मवान् है, सस्वरूप है, वह यही आत्मा है जहाँ दृश्य का नामोनिशान नहीं है! अध्यासदशा में दृश्य को सात्मक बनाता लगने पर भी रहता उससे परे ही है। व्यवहारसिद्ध आत्मा क्योंकि सदृश्य ही उपलब्ध है इसलिये यहाँ सात्मक दृश्य का उल्लेख किया। मोक्षपर्यन्त आत्मा बिना उपाधि के मिलता नहीं, सुषुप्ति में भी अविद्योपाधि रहती ही है, अतः निरुपाधि समझाने के लिये सोपाधि को उपाधिपक्षीय कहना बन जाता है। जैसे अत्यन्तनिर्जगद्व्योम समझाना मुश्किल वैसे निरुपाधि आत्मा भी समझाना दुष्कर, फिर भी आचार्य लोग तरह-तरह से प्रयास करते ही हैं।।२८७-८।।

आत्मात्मवत्त्वसम्बन्धो नान्यो दृग्दृश्ययोरिति।
मत्वात्मशब्दो दृग्वस्तुन्यवाच्येऽपि प्रयुज्यते।।२८६।।

यदि सात्मक दृश्य (आत्मवान् दृश्य) का निषेध है तो अवशिष्ट को आत्मा कहना कैसे संगत है? यह समझाते हैं **दृग् और दृश्य से अतिरिक्त ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है जिससे वे परस्पर आत्मा-आत्मवान् बनते हों। यह विचार कर वाणी के अविषय दृग्वस्तु के लिये भी आत्मा-शब्द का प्रयोग किया जाता है।।२८६।।**

दृश्य आत्मवान् (सात्मक) भले ही लगे, आत्मा भी उपाधिमान् भले ही लगे, लेकिन इन दोनों का सच्चा तो कोई सम्बन्ध है नहीं अतः सचमुच तो ये दो ही हैं, एक सत्य दृग्, और दूसरा असत्य दृश्य। इनका आपसी संबंध या आत्मरूप होगा या अनात्मरूप, दृश्यरूप होगा। अनित्यादि होने से वह सम्बन्ध आत्मरूप तो मान्य नहीं अतः अनात्मरूप ही होगा। फलतः दृश्य को आत्मवान् कहना ही बनता नहीं! न आत्मा को सोपाधिक ही कहना बनता है। अतः आत्मा को निरसनीय कोटि में रखने पर भी अर्थात् सात्मक दृश्य का निषेध करने पर भी क्योंकि वस्तु-भूमि पर आत्मा उस कोटिका है नहीं इसलिये निषेध की अवधि को आत्मा कहना उपपन्न है। है यह अवाच्य, इसे कहा जा सके यह स्थिति नहीं क्योंकि कहा वही जा सकता है जो ज्ञात हो और (निरुपाधि) आत्मा ज्ञात है नहीं, जो ज्ञात है वह दृश्यात्मा (सोपाधिक आत्मा) है, लेकिन जब दृग्दृश्य-सम्बन्ध ही असिद्ध है तब वास्तव में दृश्यात्मा तो कुछ है नहीं, आत्मा व दृश्य सर्वथा असम्बद्ध ही हैं तो दृश्य सात्मक नहीं, आत्मा सोपाधिक नहीं; ऐसी स्थिति में जो ज्ञात (सोपाधिक) आत्मा है उसी को (सात्मकदृश्य-निषेधपूर्वक) आत्मा कहना निर्दुष्ट है! जब समूचे दृश्य का ही कोई सम्बन्ध आत्मा से सिद्ध नहीं हो रहा तब वाच्यवाचकभाव के भय से आत्मा के उल्लेख से क्योंकर रुका जाये! अवाच्य का वचन इसीलिये नहीं करते कि उसमें वाच्यता नहीं है और वचन वाच्यता वाले का ही होता है; किन्तु उक्तरीत्या आत्मा में कोई भी सम्बन्ध हो नहीं सकने पर वचनप्रयोग से किस सम्बन्ध की संभावना देखकर वचन से परहेज करें? अतः आत्म-शब्द का प्रयोग करना संगत है। 'आत्मशब्देन उच्यते' या 'आत्मशब्दो वक्ति' न कहकर 'प्रयुज्यते' कहा ताकि स्पष्ट हो जाये कि आचार्य यहाँ आत्मा को वाच्य तो नहीं ही मान रहे, केवल कह रहे हैं कि अवाच्य के उल्लेख के लिये वचन का प्रयोग संगत है। अथवा, सदृश्य आत्मा में गृहीतसंगतिक आत्मशब्द लक्षणा से दृश्यशून्य आत्मा का बोध कराता हैयह सरल रीति जाननी चाहिये। वाच्य-संबंध लक्षणा है, आत्मशब्द का वाच्य जो आत्मा वही अपना सम्बन्ध भी है, क्योंकि

ननु ब्रह्माधिकारेऽस्मिन् कथमात्मेति वर्ण्यते।
नैष दोषोऽतिरेकेण नात्मनो ब्रह्मता यतः।।२९०।।
ग्राह्यत्वं शीर्णता संगो बन्धो भीतिश्च हिंसनम्।
जाड्याज्जडस्य धर्माः स्युर्न ते सन्त्यात्मवस्तुनि।।२९१।।

आत्मा-अनात्मा का संबंध इन दोनों से अतिरिक्त तो कुछ है नहीं; आत्मा का अनात्मा से जो सम्बन्ध वह अनात्मा से अन्य है (क्योंकि आत्मरूप है) अतः अनात्मा से सर्वथा अन्य जो निरुपाधिक आत्मा उसका बोध करा सकता है क्योंकि यों आत्मशब्द का लक्षित अर्थ 'दृश्यभिन्न' हो जाता है। हर हालत में आचार्य कह रहे हैं कि 'नेति नेति' कहकर भी आत्मा कहना उचित है।।२८९।।

ब्रह्मनिष्ठ के निर्णय के प्रसंग में आत्मा का उल्लेख संगत बनाते हैं **इस ब्रह्म के सन्दर्भ में 'आत्मा' ऐसा वर्णन क्यों किया जा रहा है? ऐसे वर्णन में कोई ग़लती नहीं क्योंकि आत्मा से हटकर ब्रह्मरूपता नहीं है।।२९०।।** आत्मशब्द साक्षादपरोक्षता को तथा ब्रह्मशब्द व्यापकता, पूर्णता को बताता है लेकिन वस्तु एक ही है जिसे आत्मा और ब्रह्म कहते हैं। बल्कि ब्रह्म को परोक्ष, पराक् न समझ लिया जाये इसलिये उसे आत्मा कहना ही ठीक है जैसे आत्मा को परिच्छिन्न न समझ लिया जाये इसलिये उसे ब्रह्म कहना ही ठीक है। किं च 'नेति नेति ब्रह्म' कहने पर यह नहीं व्यक्त होता कि वह निषेध की अवधि है। आत्मा कहने पर स्पष्ट होता है कि निषेधक अपना निषेध न कर पाने से निषेध की अवधि है। यह भी सूचित करना है कि 'तू आत्मा अर्थात् स्वयं को ही नहीं जानता तो और क्या जानेगा!' इसलिये भी आत्म-शब्द का ग्रहण ठीक है।।२९०।।

उसकी अग्राह्यतादि बताते हैं **ग्राह्यता, शिथिलता, संग, बंधन, भय और नाशये स्वयं जड होने से जड के ही धर्म हो सकते हैं आत्मरूप वस्तु में तो हैं नहीं।।२९१।।** ग्राह्यता आदि दृश्य होने से अनात्मा हैं। अशीर्य अर्थात् विशीर्ण न होने वाला, जिसके अवयव ढीले नहीं पड़ते। व्यथा की व्याख्या भय की। ग्रहणादि को भाष्य में 'कार्यधर्म' कहा है अतः जडधर्म कहा। अन्य भी जडधर्मों का आत्मा में निषेध समझ लेना चाहिये।।२९१।।

अग्राह्य आदि कहे तत्त्व का निर्देश देते हैं **कार्य के हेतुभूत अज्ञान का अपह्नव होन से इन कार्यधर्मों को लाँघकर अपूर्व, अनपर, पूर्ण आत्मा खुद में रहता है।।२९२।।** अपूर्व अर्थात् निष्कारण, अनपर अर्थात् निष्कार्य। खुद में रहता है अर्थात्

कार्यधर्मानतीत्यैतांस्तद्धेत्वज्ञाननिह्नुतेः।
अपूर्वानपरः पूर्ण आत्मा स्वात्मन्यवस्थितः।।२६२।।
इति तत्त्वमनूद्यास्य सृष्टिसंहारहेतुताम्।
तथैवोपनिषद्वेद्यमसंगत्वं च पृष्टवान्।।२६३।।
आत्मा निरुह्य प्रत्यूह्य पुरुषान् योऽत्यवर्तत।
तमौपनिषदं ब्रूहि मूर्धपातस्तु तेऽन्यथा।।२६४।।[1]

जैसे अभी उपाधियों में रहता है, वैसे कहीं नहीं रहता। अन्य कहीं न रहना बताने में तात्पर्य है। 'तदेतद् ब्रह्म अपूर्वमनपरम्' (२.५.१६) आदि मधुविद्या में (अनु. प्र. १६. ४५-७) बता आये हैं।।२६२।।

श्लोक २८६ में 'अनूद्य पृष्टवान्' कहा था; यहाँ तक अनुवाद भाग बताया, अब प्रश्न बताते हैं **इस तरह तत्त्व का उपन्यास करके याज्ञवल्क्य ने पूछा कि यह सृष्टि-संहार का हेतु कैसे है और इसकी उपनिषत् से समझी जाने वाली असंगता कैसे है?।।२६३।।** 'निरुह्य प्रत्युह्य' शब्दों से सृष्टि-संहार स्वयं बतायेंगे (२६६)। 'अत्यक्रामत्' से असंगता कही है 'औपनिषदम्' श्रुति में ही पद है। यद्यपि पुरुष के बारे में ही प्रश्न स्फुट है तथापि उक्त प्रश्न यहाँ अभिप्रेत बताये जा रहे हैं। क्योंकि श्रुति में यह वाक्य साफ़-साफ़ प्रश्न के रूप में नहीं इसलिये इसे दो तरह से माना है : एक तो यह कि आख्यायिका से हटकर वेद ने आत्मस्वरूप का कथन कर दिया और दूसरा यह कि याज्ञवल्क्य ने तत्त्व को उपन्यस्त कर उसके बारे में पूछा। वार्तिकसार में कहा 'इदं यदा श्रुतेर्वाक्यं तदा तत्त्वं निरूपितम्। याज्ञवल्क्यस्य वाक्यत्वे पृष्टमेतद् अनूदितम्।।' ३. ९.४२।। द्वितीय पक्ष ही अनुभूतिप्रकाश में लिया।।२६३।।

मुनिवचन है 'एतान्यष्टावायतनानि, अष्टौ लोका, अष्टौ देवा, अष्टौ पुरुषाः; स यस्तान् पुरुषान् निरुह्य प्रत्युह्य अत्यक्रामत्, तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।' उपासना-प्रश्न में आठ-आठ आयतन, लोक, देव और पुरुष कहे थे (बृ. ३.९.१०-७)। इन सब रूपों में 'निरुह्य' फैलकर एवं 'प्रत्युह्य' सब रूप स्वयं में विलीनकर भी जो इनसे रहता अतीत है वह उपनिषत् से ही पता चलने वाला पुरुष है जिसके बारे में शाकल्य से पूछा जा रहा है। इसका संग्रह करते हैं **'पुरुषों' को फैलाकर और समेटकर (भी) जो आत्मा इनसे अतीत रहा, उस उपनिषद्बोध्य पुरुष का कथन करो, नहीं तो तुम्हारी मूर्धा गिर जायेगी।।२६४।।** श्रुतिस्थ 'पुरुषान्' शब्द यहाँ यथावत् रखा है, यह

---

[1] 'मुर्द्धा पततु तेऽन्यथा' इति सारे पाठः।

योऽनूदितो नेति नेति सच्चिन्मात्रो ह्यविक्रियः ।
उक्तौ पुरुषनिर्वाहप्रतिवाहौ तु मायिकौ ।।२६५।।
सृष्टिरष्टविधोपास्यरूपा निर्वाह उच्यते ।
प्रतिवाहस्तु संसारो दिग्देवद्वारतो हृदि ।।२६६।।

आयतन-लोक-देव की भी उपलक्षणा के लिये है 'श्रौतस्य पुरुषशब्दस्य देवतालोकायतनोपलक्षणत्वात्' (आनंदगिरिटी. बृ. वार्ति. ३.९.११३)। यद्यपि फैलाना-समेटना उपासना के अभिप्राय से कहा था तथापि जीव वैसी उपासना से फल तभी पाता है जब ईश्वर ने वैसा फैलाव और समेटना किया हुआ है अतः जो वस्तुतः फैलाता-समेटता है उसके बारे में पूछा, न कि जो वैसे उपासना करता है, उसके बारे में। आधुनिक काल में भी एक विचारधारा चली है कि पुराण-इतिहास आदि 'मिथ' हैं अर्थात् वे कोई घटनाएँ नहीं, उनमें वर्णित कोई व्यक्ति नहीं, केवल हमें विविध सूचनाएँ-प्रेरणाएँ देने के लिये रूपक हैं! कर्मकाण्डी की उपासना भी इसी विचार पर होती है कि उपासना तो वैध क्रिया होने से सफल है लेकिन उपास्य कोई तत्त्व, वस्तु, देवतादि नहीं है। शाकल्य उपासना जानता था लेकिन उपास्य नकारता था इसीलिये उसकी दुर्गति हुई। जो तो परमेश्वर पर भक्ति रखकर उपासना करता है उसे स्वयं परमेश्वर दर्शन देते ही हैं। अतः यह शंका नहीं उठती कि 'शाकल्य उपासना में पारंगत था तो उपास्य तत्त्व का क्यों कथन नहीं कर पाया, अथवा निर्विशेष न सही, सविशेष को ही क्यों औपनिषद के रूप में नहीं बता पाया?' उसकी दृष्टि में सविशेष भी कोई वस्तु नहीं होने से औपनिषद पुरुष होता ही नहीं, आम्नाय तो क्रियार्थ है, इसलिये याज्ञवल्क्य के प्रश्न का उसके पास जवाब नहीं था। आधुनिक भी 'मिथ'वादी इसीलिये हेय हैं कि वे बिना प्रेरक के प्रेरणा मानना चाहते हैं! कृष्ण-अर्जुन हुए ही नहीं फिर भी कृष्णार्जुन-संवाद हमें सद्बुद्धि देगाऐसी उनकी असंगत कल्पना है। ये भी सब शाकल्य की तरह होने से इनकी भी मूर्धा का पतन निश्चित है। इनके द्वारा कल्पित रूपक इन्हीं के सामने अन्य कल्पनाशील लोग निरस्त कर विपरीत ढंग से रूपक का उपन्यास कर देते हैं तो शर्म से इनका सिर अवश्य झुकता होगा!।।२६४।।

निर्वाह-प्रतिवाह समझाते हैं **'नेति नेति' से जिस निर्विकार अद्वितीय सच्चित्स्वरूप का अनुवाद किया (उसी के) मायिक (अतः मिथ्या) प्रभाव हैं निर्वाह और प्रतिवाह।।२६५।। आठ ढंग से उपास्यरूप सृष्टि निर्वाह और दिगभिमानी देवताओं के माध्यम से 'हृदय' में उपसंहार प्रतिवाह है।।२६६।।** वस्तुतः

वस्तुवृत्तेन निःशेषकार्यकारणवर्जनम्।
तस्यातिक्रान्तिरुद्दिष्टा स चोपनिषदि श्रुतः।।२६७।।
कर्मकाण्डे विरोधित्वाद् नैवायं श्रूयते क्वचित्।
ऐकात्म्यवस्तुविज्ञानं कर्मभिर्हि विरुध्यते।।२६८।।

निर्विकार है, सृष्टि आदि का कारण माया से है यह तात्पर्य है। आठ और पाँच का कथन इसलिये कि शाकल्य ने इसी ढंग की उपासना का ज़िक्र किया था। प्रतिवाह के प्रसंग में पूर्वादि दिशाओं के माध्यम से हृदय तक उपसंहार कहा था (३.६-२०-४) अतः समस्त नाम-रूप-कर्म जहाँ सिमट जाता है वह 'हृदय' विवक्षित है।।२६५-६।।

'अत्यक्रामत्' अर्थात् निर्वाह-प्रतिवाह के बावजूद इससे परे रहा; यह बताते हैं **समस्त कार्य-कारणों से रहित होना यह आत्मवस्तु का स्वभाव है, इसी को कहा कि वह ('अत्यक्रामत्') सबको लाँघे रहता है, सबसे परे रहता है और वह तत्त्व उपनिषत् में सुना गया है।।२६७।।** मायावश कार्य-कारण प्रतीत होने वाली वस्तु का सच्चा स्वभाव है कि वह न कार्य है, न कारण! उपास्य की वास्तविकता निरुपाधिक है। जैसे शाकल्य वैसे ही सब उपासक यही कठिनाई अनुभव करते हैं कि जिन धर्मों से वे उपास्य तत्त्व पहचानते हैं उन धर्मों को अवास्तविक नहीं मान पाते। अतः जो 'अत्यक्रामत्', उसके बारे में पूछने पर शाकल्य चुप हो गया, उन धर्मों का अतिक्रमण उसकी समझ से परे था। जैसे रस्सी वस्तुतः साँप का कारण न होने पर भी साँपरूप भी है इसलिये उसका कारण भी है वैसे आत्मा कार्य-कारण किंतु इनसे परे है। यह तात्पर्य है, यही औपनिषद आत्मतत्त्व है।।२६७।।

क्यों केवल उपनिषद्वेद्य है, यह स्पष्ट करते हैं **विरोधी होने से कर्मकाण्ड में यह तत्त्व कहीं नहीं सुना जाता। एकात्मता जिसकी वास्तविकता है उसका साक्षात्कार कर्मों से विरुद्ध ही है।।२६८।।** आत्मा कर्त्ता-भोक्ता है मानकर कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति अतः अकर्त्ता-अभोक्ता का वर्णन उसके विरुद्ध ही पड़ेगा। केनवाक्यभाष्य के प्रारंभ में ही 'कर्मविषये चानुक्तिस्तद्विरोधित्वात्' आदि बताया है। जब शास्त्र के ही कर्मभाग में इसका उल्लेख नहीं तब लोक में तो इसकी चर्चा ही असंभव है! अतः निर्विकार वस्तु का ज़िक्र आते ही लौकिक-शास्त्रीय सभी विरोध करते हैं। उन्हें इसे समझने की योग्यता ही प्राप्तव्य है यह मानकर विद्वान् उन्हें सत्कर्मों में ही प्रेरित करे यह 'बुद्धिभेदं न जनयेत्' (३.२६) आदि से भगवान् का निर्देश है। स्वयं में भोक्तृत्वानुभव रहने तक कर्त्तव्यनिर्वाह अवश्य करना चाहिये अन्यथा हानि ही है। 'मैं वस्तुतः अकर्त्ता हूँ' इस भरोसे कर्त्तव्य नहीं

याज्ञवल्क्योक्तिः

य औपनिषदस्तस्य विज्ञानानन्दरूपता ।
दातृता भोगमुक्त्योश्च वक्तव्येत्युत्तरा श्रुतिः ।।२६६ ।।
महाप्रलयसंपत्तौ जगतः पुनरुद्भवे ।
कारणं पृच्छ्यते वृक्षसर्वसाधर्म्यपूर्वकम् ।।३०० ।।

छूटते, 'मैं अभोक्ता हूँ' इस भरोसे तो छूट भी सकते हैं। भोग से तटस्थता का अभ्यासी यदि कर्म से तटस्थता का प्रयास करे तो विविदिषु कर्मत्यागी होगा। मोटी भाषा में, जब कहते हैं कि 'सब करने वाला परमात्मा न कि मैं' तब यह भी जानना चाहिये कि 'मैं भोगने वाला भी नहीं हूँ।' यदि सुख-दुःख रोग-भूख आदि मैं भोगता हूँ तो मुझे कर्त्तव्यों का पालन अभी करते रहना है। अपने अधिकारानुरूप कर्म या कर्मत्याग करना चाहिये, अनधिकार चेष्टा से नुकसान ही है। यद्यपि शास्त्रीय होने से आत्मयाथात्म्य और कर्मकाण्ड में विरोध संभव नहीं तथापि जैसे संन्यास धर्म और गृहस्थधर्म का अधिकारनिमित्तक विरोध है वैसे अज्ञानी के लिये ('अविद्यावद्विषयाणि') कर्म और विज्ञानी के लिये अद्वयाविर्भाव दोनों शास्त्रीय किन्तु परस्पर विरुद्ध हैं। अतः यहाँ वस्तु का विरोध नहीं वरन् उसके विज्ञान का विरोध कहा।।२६८ ।।

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने सभी से कहा कि जो कोई कुछ पूछना चाहे, पूछ ले। जब कोई पूछने की हिम्मत नहीं कर पाया तब याज्ञवल्क्य ने सभी के सामने प्रश्न रखा कि पुरुष भी वृक्ष की तरह है; कटने पर वृक्ष मूल से फिर नया उग जाता है, पुरुष मृत्यु से कटने पर किस मूल से उगता है? इसका जवाब कोई न दे सका। श्रुति ने अपनी ओर से विज्ञान-आनंद ब्रह्म को बताया जो कर्मफलदाता है एवं ज्ञानी होकर ब्रह्मरूप से रहने वालों का परम आधार है। इसे समझाना शुरू करते हैं **जो उपनिषद्वेद्य पुरुष है वह विज्ञान-आनन्द-रूप है तथा भोग-मोक्ष प्रदान करने वाला हैयह सब बताना बाकी है इसलिये अगला श्रुतिवाक्य प्रवृत्त हो रहा है।।२६६ ।।** श्रुति के अंतिम वाक्य का विषय यहाँ संकेतित कर दिया। औषनिषद पुरुष विज्ञान-आनंद धर्मो वाला नहीं वरन् तद्रूप है। कर्म-उपासना-ज्ञान सभी का फल वही देता है। ज्ञान का यद्यपि 'फल' नहीं तथापि वृत्त्युपारूढ होकर अविद्यानिवृत्ति वही पुरुष करता है। किं च ज्ञानयोग्यता कर्मोपासना से उसी की कृपा से मिलती है।।२६६ ।।

याज्ञवल्क्य का प्रश्न बताते हैं **महाप्रलय होने पर जगत् की पुनरुत्पत्ति में कौन कारण है?यह वृक्ष की सर्वथा समानता बताकर पूछा गया है।।३०० ।।**

वृक्षः काण्डरुहो बीजरुहश्चेति द्विधा तयोः ।
समः काण्डरुहेणैष रेतसो योऽभिजायते । ।३०१ । ।
न पृच्छ्यतेऽतिस्पष्टत्वात्तदवान्तरकारणम् ।
किन्त्वस्पष्टमशेषस्य पृच्छ्यते मूलकारणम् । ।३०२ । ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बीजाख्यान्मूलकारणात् ।
दृष्टा वृक्षजनिस्तद्वत् कस्मान्मूलाज्जगज्जनिः । ।३०३ । ।

याज्ञवल्क्य ने कहा कि यह बात निश्चित है कि जैसे वनस्पति (वृक्ष) वैसे पुरुष (मनुष्य)। पुरुष के रोएँ होते हैं, पेड़ के पत्ते होते हैं। दोनों की चमड़ी या छाल भी होती है। काटने पर खून या रस दोनों से निकलता है। पुरुष के मांस की जगह पेड़ में कच्ची लकड़ी के टुकड़े हैं, पुरुष की नसों की जगह पेड़ में 'कीनाट' है अर्थात् उन टुकड़ें के भीतर का कड़ा हिस्सा। हड्डियों की जगह (पक्की) लकड़ी है और मज्जा की जगह लकड़ी का भीतरी भाग है। ज़िन्दे पुरुष से बच्चे होते हैं, ज़िन्दे पेड़ को छाँटो तो फिर और नया होकर पनप जाता है। मरणधर्मा जब मृत्यु से कट चुकता है तब किस मूल से फिर उगता है? 'रेतस् से उगता है' तो नहीं कह सकते क्योंकि रेतस् सजीव से ही निकलता है। वृक्ष टहनी से भी होता है और बीज से भी। मूलसमेत बीज का नाश होने पर वृक्ष नहीं पैदा होता। मृत पुरुष किस मूल से उगता है? याज्ञवल्क्य के इस प्रश्न में पुरुष से जगत् भी समझ लें ऐसा यहाँ आचार्य ने बताया। ।३०० । ।

उक्त प्रसंग ही कहते हैं **वृक्ष दो प्रकार के होते हैंबीजरुह और काण्डरुह। रेतस् से जो पैदा होता है वह काण्डरुह के समान है। ।३०१। । उसे नहीं पूछ रहे क्योंकि (उसका मूल तो) अतिस्पष्ट, प्रत्यक्ष है और वस्तुतः है वह अवान्तर अर्थात् मध्यवर्ती कारण, (न कि मूलकारण)। तो क्या पूछ रहे हैं? सबका मूल कारण अस्पष्ट है, वह पूछ रहे हैं। ।३०२। । अन्वय-व्यतिरेक से वृक्ष का जन्म बीज-नामक मूल कारण से देखा गया है, उसी तरह किस मूल से जगत् का जन्म होता है? । ।३०३ । ।** बीज से पैदा होने वालों को बीजरुह और डाली गाड़ने पर जो वृक्ष तैयार हो जाते हैं उन्हें काण्डरुह कहते हैं। जीवित वृक्ष की टहनी के समान जीवित पुरुष का वीर्य है जिसे स्त्रीरूप भूमि में बोने पर गर्भरूप 'नया' वृक्ष तैयार होता है अतः यह उत्पत्ति काण्डरुह के समान है। जैसे काण्ड (टहनी) मध्यवर्ती कारण ही है, मूल तो बीज ही होता है, वैसे ज़िन्दे से पैदा होने वाले बच्चों का जो पितृवीर्यरूप कारण स्पष्ट है वह अवान्तर कारण ही है, मूल नहीं। वह जो अस्पष्ट है, सभी का (पुरुष व जगत् का) मूल

नित्यजातस्वभावत्वं न मन्तव्यं यतो मृतः ।
पुनः पुनर्जायते स्यात् कृतनाशादिरन्यथा ।।३०४ ।।

कारण है, वह पूछा जा रहा है। वृक्ष बीज से पैदा होता है यह अन्वय-व्यतिरेक से पता लगता हैबीज बोने पर वृक्ष होता है, बीज न बोयें तो वृक्ष नहीं होता। इस तरह का कारण क्या है, यह प्रश्न है। कर्म को अवान्तर ही कारण कह सकते हैं क्योंकि जैसे जीवित की ही टहनी होनी पड़ती है ऐसे जीवित से ही कर्म हो सकते हैं। इस तरह यहाँ मूल कारण के बारे में पूछा।।३०१-३।।

'मरकर कोई पैदा होता ही नहीं' ऐसी सम्भावना का निरास करते हैं **यह नहीं मान सकते कि हमेशा पैदा रहना ही स्वभाव है; क्योंकि (देखने में आता है कि) बार-बार मरता और पैदा होता है। यदि ऐसा न हो तो किये कर्मों का नाश आदि मानना पड़ेगा (जो असंगत है)।।३०४।।** यदि मनुष्य मरता नहीं, संसार का प्रलय होता नहीं, तब तो 'न ह्यनीदृशं जगत्' आदि मीमांसकानुसार सब कुछ सनातन मान भी लेते लेकिन सभी प्राणी मरते, सब चीज़ें नश्वर दीखते वैसा मानना असंगत है। यह भी अमान्य है कि मरकर प्राणी फिर पैदा नहीं होता : ऐसी संभावना उठाने वाले का भाव है कि याज्ञवल्क्य उसी का मूल पूछ रहे हैं जो नष्ट होकर पैदा होगा; जो मौजूद है उसका तो पूछ नहीं रहे; यदि नष्ट होकर उत्पत्ति हुआ ही न करे तो प्रश्न व्यर्थ हो जायेगा! जैसे फूटा घड़ा फिर नहीं पैदा होता ऐसे न प्राणी न जगत् नष्ट होकर पैदा होते हैंयह कल्पना करने से याज्ञवल्क्य का प्रश्न निर्मूल रह जायेगा। किंतु ऐसा मानने में दोष है कि प्राणी के कर्म निष्प्रभावी मानने पड़ेंगे अर्थात् जो पुण्य-पाप किये उनका उसे फल भोगना ही नहीं पड़ायह स्वीकारना पड़ेगा। यदि दुबारा पैदा होता तभी पूर्वकृत का फल भोगता, जब पैदा होना ही नहीं तब फल भोगने का प्रश्न ही नहीं। और यदि यों कर्मफल की व्यवस्था नहीं तो शास्त्र निरर्थक हो जायेगा। किं च, प्राणी उत्पन्न होते ही सुख-दुःख भोगते हैं। उनमें कारण क्या, यदि पूर्व में वह प्राणी था ही नहीं कि कोई पुण्य-पाप लेकर यहाँ आया हो? इस प्रकार अकृत-अभ्यागम अर्थात् जिस सुख-दुःख की सामग्री तैयार की नहीं थी वह अकस्मात् आ गयीयह भी असंगत परिस्थिति हो जायेगी। इसलिये यह मत ग़लत है। कुछ तार्किक भी इसी तरह समस्तकार्यों का ध्वंसरूप महाप्रलय हो गया तो पुनः सृष्टि होगी ही नहींऐसी कल्पना करते हैं क्योंकि 'समस्त' में अदृष्ट भी आ जायेगा और वह न रह जाने पर सृष्टिहेतु नहीं बचेगा। लेकिन सृष्टि-प्रलय का क्रम शास्त्र-संमत होने से यह भी मान्यता ठीक नहीं। इस तरह न्याय मीमांसा स्वभाववाद आदि कई पक्षों का यहाँ संग्रह कर 'जात एव न जायते' यह श्रुतिवाक्य है।।३०४।।

को न्वेनं जनयेन्मर्त्यमित्युक्ता न विदुर्द्विजाः।
जित्वा तान् याज्ञवल्क्यस्तु गोसहस्रं गृहीतवान्।।३०५।।

श्रुत्युपदेशः

मुनिपृष्टं जगन्मूलं मुमुक्ष्वनुजिघृक्षया।
आह विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतिरादरात्।।३०६।।
विज्ञानमिति चैतन्यं न क्रिया नापि तत्फलम्।
न कारकं न चाभासः[1] क्रियादेः किंतु भासकम्।।३०७।।

प्रश्न पूरा करते हैं **कौन इस मरणधर्मा को उत्पन्न करता है?यों पूछा गया तो द्विजों को इसका उत्तर मालूम नहीं था। उन सब को जीतकर याज्ञवल्क्य हज़ार गायें ले गये।।३०५।।** भले ही आरुणि, गार्गी आदि ब्रह्मवेत्ता वहाँ रहे हों लेकिन याज्ञवल्क्य के प्रश्न का उत्तर उन्हें नहीं सूझा। ब्रह्म को वे जानते हों पर उत्तर तो प्रश्नानुसार व्यक्त करना पड़ता है। याज्ञवल्क्य के प्रश्न के अनुसार ब्रह्म को मूल कैसे कहा जाये, उन्होंने जिस तरह घटाकर दिखाया यों कैसे सदृष्टान्त बताया जाये, यह उन विद्वानों को समझ नहीं आया। किं च ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा याज्ञवल्क्य की महत्ता स्वीकार चुकने के बाद ही शाकल्य आगे बढ़ा था अतः उसके समाप्त हो जाने के बाद याज्ञवल्क्य की ब्रह्मिष्ठता न व्यक्त हो यह कोई चाहता भी नहीं था कि इस प्रश्न का जवाब देता। इस तरह याज्ञवल्क्य की विजय हुई और जो गायें उनके शिष्य सामश्रवा ने घेर रखी थीं, उन पर उनका स्वामित्व सर्वसंमत हो गया। याज्ञवल्क्य में ऐसी जयेच्छा, गायें ग्रहण करने की इच्छा, शाकल्य के प्रति प्रकट हुआ क्रोध इत्यादि सब जीवन्मुक्तिकालिक बाधित प्रवृत्तियाँ हैं। जैसे शांति आदि वैसे ये, सभी क्षेत्रधर्म हैं जिन्हें मुक्त क्षेत्र में ही देखता है, बद्ध की तरह स्वयं में नहीं। निदिध्यासनादि के समय बहिर्मुखता नहीं रहती, बहिर्मुखता प्रारब्धवश होने पर भी तत्त्वज्ञान के प्रभाव से बाध्यमान ही रहती है, मुक्त को उसकी वैसे ही प्रतीति होती है जैसे हमें आकाश में नीलिमा की। हमें देखते हुए भी मालूम है कि आकाश नीला नहीं, ऐसे मुक्त को सारा द्वैत नहीं है यह ज्ञान बना रहता है, प्रारब्धरूप उपाधि से व्यवहार भी कर लेता है। इस तरह आख्यायिका पूरी हुई।।३०५।।

अध्यायसमाप्ति में श्रुति ने 'विज्ञानमानन्द' आदि कहा, उसे समझाते हैं **मोक्षेच्छुकों**

---

[1] चाभावःइति अनुभूतिप्रकाशपुस्तकेषु। वार्तिकेऽपि ३.९.१५२ 'न चापि तदभावश्च' इत्येवमभावपक्षो वर्णितः। तथापि 'चाभासः' इति वार्तिकसारपुस्तकयोः दृष्ट्वाऽत्र मूले तथा निवेशितः।

निर्धूताशेषदुःखौघहेतुत्वात् सुखमेव तत् ।
अथैष परमानन्दो यो वै भूमेति शास्त्रतः ।।३०८।।

पर अनुग्रह करने की इच्छा से श्रुति ने याज्ञवल्क्य मुनि द्वारा पूछे गये जगद्मूल का सादर कथन किया कि वह विज्ञानरूप, आनन्दरूप है।।३०६।। 'विज्ञान' अर्थात् चैतन्य, न कि कोई क्रिया या क्रिया का फल या क्रियाका जनक या क्रियादि से सम्बद्ध आभास वरन् वही जो सबका भासक है।।३०७।। वह सुख ही हैं क्योंकि सब दुःखसमूह के हेतु से रहित है। 'अब यही परम आनंद है' (बृ.४.३.३३) 'जो निश्चित रूप से बहुतायत (व्यापक) है' (छा. ७.२४.१) आदि वेदवचनों से जगत् का मूल सुख ही है यह निर्णीत है।।३०८।। याज्ञवल्क्य तो गायें लेकर चलते बने पर जो मुमुक्षु वेद के भरोस बैठे हैं उन्हें उस प्रश्न का उत्तर कौन बतायेगा! अतः मुमुक्षुओं की उपेक्षा बिना किये श्रुति ने समझाया कि विज्ञान-आनंदरूप ब्रह्म ही वह मूल कारण है। 'सादर' अर्थात् यह बताना तात्पर्यतः है, इसमें श्रुति प्रमाण है। मुमुक्षुओं को भी महत्त्व दिया इसलिये उनके प्रति आदर रखा यह भी भाव है। उपाधियाँ बदलने पर भी विज्ञानस्वरूप एक ही रहता है जिससे संसार-प्रवाह चलता रहता है। नदी बहती है पर उस गहरायी वाली धरती पर जो नदीतल कहलाती है; जगत्प्रवाह का तल, अधिष्ठान विज्ञान-आनन्द ब्रह्म है, उसी पर यह सब उपलब्ध है। समष्टि-व्यष्टिरूप ईश्वर-जीव प्रवाहस्थानीय ही हैं। मूल तो अधिष्ठान है। उसका स्वरूप 'विज्ञान' अर्थात् अनुभव है। सब कुछ अनुभव पर स्थित है। अनुभवमात्र क्योंकि अद्वय है इसलिये आनंदरूप है। दुःख हमेशा अनुभवातिरिक्त किसी-न-किसी कारण से ही होता है। बिना कारण के दुःख कभी नहीं होता, आनन्द ही अकारण होता है। विज्ञान से अन्तःकरण-परिणाम आदि ज्ञान-धात्वर्थरूप क्रिया, उसका फल या उसका हेतु नहीं वरन् सर्वभासक साक्षात् चैतन्य कहा जा रहा है। आभास अर्थात् वृत्ति संवलित चेतन अथवा नैयायिकाभिमत मनःसंयुक्त आत्मा भी यहाँ विज्ञान नहीं है। 'न चाभावः' पाठ में (श्लोक. ३०७) अर्थ है कि वृत्त्यादिरूप लोकप्रसिद्ध ज्ञान का अभाव मात्र भी यहाँ विज्ञान नहीं वरन् उनके अभाव का भी भासक विज्ञान है। अभाव को विज्ञान मानना संभवतः शून्य को चरम मानने वाले क्षणिक विज्ञानवादियों को अभिमत हो। यहाँ तो अनुभवरूप साक्षी विज्ञान कहा जा रहा है। वह दुःख-हेतुओं से अस्पष्ट, उनका भी साक्षी ही है अतः आनंदरूप है। सब दुःखसमूहों का हेतु है आत्मवस्तु का अज्ञान, उसका भी आत्मा तो साक्षी ही है, अतः दुःख की आत्मा में संभावना नहीं, स्वारसिक आनंद ही उसका स्वरूप है। दुःखहेतु अज्ञान का

अव्यावृत्ताननुगतभास्वद्विज्ञानमात्रतः।
निरवद्यान्वयत्वात्तत्साक्षाद् ब्रह्मेति भण्यते।।३०९।।[1]
तदेवाऽविद्यया शक्त्या भोगमोक्षप्रदातृ हि।
अनुगृह्णातु तद्भूयो विद्यातीर्थमहेश्वरः।।३१०।।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे बृहदारण्यकोपनिषदि आश्वलायनादिमुनिबोधो नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

नितरां विधूनन श्रवण-मनन निदिध्यासन के सतत अभ्यास से ही संभव है। केवल एक साधन से सर्वथा उन्मूलन नहीं होता। शास्त्र का भी बारम्बार विचार करें, युक्तियों का भी पुनः पुनः आलोचन करें तथा 'ऐसा ही है' इस निश्चय को लगातार कायम रखें (क्योंकि यही निदिध्यासन है) तभी आनन्दरूप का आविर्भाव होता है। निष्ठा की कमी रहते प्रयास करने पर दुःख हटेगा, फिर भी तीव्र प्रारब्ध होने पर नहीं हट पायेगा; निष्ठा होने पर दुःख रहेगा ही नहीं, यदि प्रारब्ध लायेगा भी तो क्षेत्र में लाकर रख देगा, विज्ञान तो निर्दुःख आनंद ही रहेगा। बृहदारण्यक में आनंदमीमांसा में ब्रह्मलोक तक गणित कहकर 'अथ एष एव परम आनन्दः एष ब्रह्मलोकः' (४.३.३३) से गणितसमाप्ति कही अतः वही अंतिम तत्त्व विवक्षित मानकर यहाँ आनन्दरूपता में उसे उद्धृत किया। भूम-वाक्य छान्दोग्य के विवरण में (अनु. प्र.४. श्लोक ३६ आदि) दर्शनीय है।।३०६-८।।

'विज्ञानमानन्दं' के बाद आये 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ कहते हैं **क्योंकि वह न व्यावृत्त है न अनुगत वरन् भासमान अनुभवात्मक ही है तथा उसमें शास्त्र का निर्दोष समन्वय है इसलिये उसे साक्षात् ब्रह्म कहा है।।३०९।।** उक्त विज्ञान व्यावृत्त नहीं अर्थात् कुछ भी इससे अलग नहीं, इसके बिना नहीं जैसे साँप, जलधारा आदि रस्सी से अलग नहीं। क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त कुछ वास्तविक नहीं इसलिये वह अनुगत भी नहीं। 'निरवद्यान्वयत्वात्' यह निर्णयसागर एवं मद्रास संस्करणों का तथा पुणेविश्वविद्यालय में संपादित संस्करण का पाठ है। अर्थ है कि इसमें शास्त्र का समन्वय निर्दोष है। अथवा निरवद्यता का अन्वय है अर्थात् यह विज्ञान निर्दोष है। मुत्तुशास्त्री 'निरवद्याद्वयत्वात्' पाठ मानते हैं अर्थात् उसकी अद्वयता अशंकनीय है। सार में (३.६.७२) 'निरविद्याऽद्वयत्वात्'; पाठ है अर्थात् वह अविद्यारहित एवं अद्वितीय है। सभी पाठ ठीक हैं। 'भास्वद्विज्ञान'

---

[1] 'निरविद्याऽद्वयत्वात्तत्'इति सारपाठः।

कहकर सत्त्वगुणकार्यभूत विज्ञान की व्यावृत्ति समझनी चाहिये। सत्त्व से होने वाला सापेक्ष विज्ञान जबकि जगन्मूल निरपेक्ष विज्ञान है। सत्त्वकार्य विज्ञान अज्ञान को विषय नहीं कर सकता (क्योंकि उसका नाशक है) जबकि आत्मविज्ञान अज्ञान को भी विषय करता ही है अतः यह सर्वभासक है जबकि सत्त्वकार्य सर्वभासक नहीं। ऐसा यह आनन्दरूप विज्ञान साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्, अपरोक्ष है। इसे ही यहाँ ब्रह्म कहा है। ।३०६ । ।

अन्त में 'रातिर्दातुः परायणः' कहा; यहाँ 'रातेः' यों षष्ठ्यन्त के अभिप्राय से 'रातिः' कहा है। राति अर्थात् धन का जो दाता होता है अर्थात् दानादि कर्मी होता है उसका यह 'परायण' अर्थात् फलदाता है। किं च 'तिष्ठमानस्य तद्विदः' जो उस विज्ञान का अनुभवी, मात्र उसी रूप से रहता है, उसका भी यही 'परायण' अर्थात् मोक्षदाता है। यह भाव सूचित करते हुए अध्याय पूरा करते हैं **वही अविद्याशक्ति से भोग व मोक्ष दोनों प्रदान करता है अतः विद्यातीर्थमहेश्वर रूप धारण किया वह तत्त्व और अधिक कृपा करे। ।३१० । ।** निरविद्य अद्वय में प्रदातृत्व नहीं लेकिन अविद्यारूप शक्ति से है। वह युगपत् निरविद्य और अविद्या-शक्ति वाला हो सकता है; परमार्थतः निरविद्य तथा व्यवहार की अपेक्षा से, भोग-मोक्ष के अधिकारियों की अपेक्षा से, अध्यास की अपेक्षा से अविद्याशक्ति वाला है। सार में यहाँ 'यत्र वाऽन्यदिव स्यात्' और 'यत्र सर्वमात्मैवाभूत्' वाक्यों के परामर्श से (श्लोक ७५) यह सूचित है। इसी तरह भोगप्रदातृता और मोक्षप्रदातृता में अंतर है, भेद रखते हुए भोग देता है लेकिन मोक्ष देता है अभेद रखते हुए। यह भी सार (७६) में कहा 'तस्मात्तमस्विनो ब्रह्म भेदेनैव परायणम्। ध्वस्ताऽविद्यस्य चैकात्म्यात् कैवल्येन परायणम्।।' अध्याय-समाप्ति में आचार्य कहते हैं कि विद्यातीर्थ नामक आचार्य भी उसी विज्ञान आनन्द ब्रह्म की एक अभिव्यक्ति-विशेष हैं, उन्होंने पर्याप्त कृपा हम पर की है लेकिन क्योंकि वे हैं ही भोग-मोक्ष के प्रदाता इसलिये और अधिक कृपा से हमें कृतार्थ करें। आगे के अध्यायों को रचने की सामर्थ्य, ब्रह्मनिष्ठा आदि की अपेक्षा से 'अधिक' कृपा की प्रार्थना है। ।३१० । ।

।। सत्रहवाँ अध्याय।।

ॐ

जनकविद्याप्रकाशः

अष्टादशोऽध्यायः

षष्ठाध्याये याज्ञवल्क्यो जनकायोपदिष्टवान्।
उपास्तिं तत्त्वविद्यां तु संग्रहाद्विस्तरादपि।।१।।

जनक-याज्ञवल्क्यसंवाद : अठारहवाँ अध्याय

पूर्वाध्याय में याज्ञवल्क्य ने प्रश्न ही उठाया था, उत्तर श्रुति ने भले ही दिया लेकिन मुनि के मुख से निर्णय प्रकट नहीं हुआ अतः जिसने ब्रह्मिष्ठ पता लगाने का प्रयास किया था वह जनक तो वंचित-सा रह गया। इसलिये याज्ञवल्क्य ने उचित समझा कि उससे मुलाकात करें। किं च पिछले अध्याय में जल्प अर्थात् जीत हासिल करने के लिये बातें की गयी थीं अतः वहाँ समझाना उद्देश्य नहीं था जबकि जनक वादी के रूप में समझना चाहने वाला तो था नहीं, अतः वाद अर्थात् गुरु-शिष्यादि के संवाद के ढंग से तत्त्व का उपस्थापन आवश्यक समझकर भी याज्ञवल्क्य फिर उपस्थित हुए। जनक ने पूछा 'और जानवरों की इच्छा से आये हो या सूक्ष्म तत्त्वों के विचार की इच्छा से?' याज्ञवल्क्य ने कहा 'दोनों ही प्रयोजन हैं! अगर कुछ चाहिये न होता तो आश्रम छोड़कर क्यों आता एवं कुछ बताऊँगा नहीं तो तुम दोगे काहे को!' यों यथाव्यवहार स्थिति व्यक्त की। उपदेश देने से पूर्व जनक से पूछा 'जो तुमने आचार्यों से सीखा है वह बताओ।' शिष्य के ज्ञानादि समझ-बूझकर ही उचित उपदेश संभव है। जिस क्रम से शिष्य अब तक चला है, यथासम्भव उसी ढंग से उसे आगे बढ़ाना योग्य है। बहुधा ऐसा हो जाता है कि जो शिष्य को श्रद्धा से गृहीत है, उपदेष्टा उसका निरास कर देता है तो शिष्य उद्विग्न हो जाता है, कदाचित् निर्विशेष से ही विमुख हो जाता है। अतः क्रमानुसार दृष्टि को परिपक्व करना ठीक है। किंच शिष्य की जानकारी के क्षेत्र में आचार्य की जानकारी उससे अधिक हो तो शिष्य को आचार्य पर श्रद्धातिशय होता है और तब जब आचार्य किसी साधन को अक्षम बताता है तो शिष्य को स्वीकार होता है। सगुणोपासना से आगे बढ़ने को कहें तो प्रायः शिष्य के मन में आता है 'शायद गुरु को इस उपासना का, इसके प्रभाव का ज्ञान नहीं इसलिये इसे अक्षम बता रहे हैं!' लेकिन जब समझ आये कि उस विद्या में पारंगत

उपासनोपन्यासः

ध्यानादिहैव देवः सन्मृत्वा देवत्वमाप्नुयात्।
प्रथमब्राह्मणे प्रोक्तं चतुष्पाद्ब्रह्मचिंतनम्।।२।।

होकर गुरु बोल रहा है तब यह भाव नहीं आता। जनक ने समझी हुई जो-जो विद्या बतायी उस सबमें जो-जो कमी थी वह याज्ञवल्क्य ने सूचित कर दी तो जनक को निश्चय हो गया कि इन सबके बारे में तो याज्ञवल्क्य की जानकारी पूर्ण है। अतः जब याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'आगे के लिये क्या तैयारी कर रखी है? (४.२) तब जनक ने अपनी उपासना-कर्मरूप सम्पत्ति का उल्लेख नहीं किया क्योंकि समझ गया कि इस सबको जानने के बावजूद प्रश्न है तो किसी और तैयारी के अभिप्राय से ही होगा। अतः याज्ञवल्क्य का उपदेश कारगर हो गया। इस अध्याय में छह ब्राह्मण हैं। पहले में क्रममुक्तिफलक उपासनाएँ कही हैं, दूसरे में प्रत्यगात्मा का वर्णन है, तीसरे में परलोक व मोक्ष का निरूपण है, चौथे में तत्त्वोपदेश, पाँचवें में साधन-विधान और छठे में वंश-उल्लेख है। विद्यारण्यस्वामी इस ग्रंथ में उपासना-भाग का विस्तार नहीं कर रहे, तत्त्वज्ञान का ही प्रतिपादन कर रहे हैं तथापि इस अध्याय को पिछले अध्याय से भी ज़्यादा, ३२४ श्लोकों में समझायेंगे। इस ग्रंथमें यही सबसे बड़ा अध्याय है। वैसे इस ग्रंथ में सर्वाधिक श्लोक बृहदारण्यक उपनिषत् को ही समझाने में लगे हैंअध्याय १३ से १८ तक इसी के स्थलों का व्याख्यान कुल ११९६ श्लोकों में करते हैं जबकि बाकी इस ग्रंथ में कुछ १०७८ श्लोक हैं! अर्थात् बाकी सब उपनिषदों को मिलाकर जितने श्लोकों की ज़रूरत समझी उससे ज़्यादा बृहदारण्यक को समझाने के लिये समझी। फिर, इससे भी विस्तृत इस उपनिषत् की 'वार्तिकसार' नामक व्याख्या की एवं माध्यन्दिनशाखीय उपनिषत् पर दीपिका भी लिखी। इस से पता चलता है कि आचार्य विद्यारण्य इसे कितना अधिक महत्त्व देते हैं।

अध्याय-प्रतिज्ञा से प्रारम्भ करते हैं **छठे अध्याय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने जनक के हितार्थ संक्षेप एवं विस्तार से उपासना तथा तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया।।१।।** 'छठा' आरण्यक के क्रम से, चौथा उपनिषत् के क्रम से समझना चाहिये। उपासना का संक्षेप और तत्त्वज्ञान का विस्तार किया यह भाव है। किंतु प्रारम्भिक उपासनाएँ जनक को ज्ञात ही थीं अतः उनका विस्तार अपेक्षित ही नहीं था, केवल कमी पूरी करनी ज़रूरी थी अतः संक्षेप उचित होने से ऐसी रीति रखी।।१।।

उपासना-प्रसंग का उपन्यास करते हैं **ध्यान से यहीं देव हुआ मरकर देवभाव पायेगा। पहले ब्राह्मण में चार चरणों वाले के रूप में ब्रह्म का चिन्तन बताया**

वागाद्या देवतास्तासाम् आधारस्तत्तदिन्द्रियम्।
अव्याकृतं च नामेति पादाश्चत्वार ईरिताः।।३।।
असमाप्तेः पुमर्थस्य न मुख्यमनुशासनम्।
तद्ददत्तां याज्ञवल्क्योऽतो नाग्रहीद् गुरुदक्षिणाम्।।४।।

है।।२।। **चार चरण ये कहे हैंवाग् आदि देवता, उनके आधार वे-वे इंद्रियाँ, अव्याकृत उनकी प्रतिष्ठा तथा उनके नाम।।३।।** जनक को शैलिनि आदि ने एक-एक ही चरण बताया था जैसे 'वाक् ब्रह्म है', याज्ञवल्क्य ने बाकी तीन भी बताकर सारे अंग पूरे किये। अधूरे उपदेश के बावजूद याज्ञवल्क्य ने सभी आचार्यों की प्रशंसा की 'यथा मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् ब्रूयात् तथा...अब्रवीत्' कि उन्होंने वैसा ही उपदेश दिया जैसा माता-पिता-आचार्य द्वारा शिक्षित को देना चाहिये। भाव है कि विद्योपदेश श्रेष्ठ है, उपदेष्टा अवश्य आदरयोग्य है, अधूरा बताना अनेक हेतुओं से संभव है, इतने से उसमें कमी न खोजी जाये। छह आचार्यों ने जनक को उपासनाएँ सिखायीं थीं। ये सब ब्रह्मोपासना हैं। इनमें उपास्य से अभेद का ध्यान रखा जाता है अर्थात् विहित विशेषताओं युक्त उपास्यको मैं समझकर ध्यान होता है। अतः इसी जीवन में अभिमानरूप देवभाव अर्थात् देवता से अभेद का सप्रयास बोध होकर मरने पर उपास्य से तादात्म्य प्राप्त हो जाता है। प्रतीकादि भेदोपासना से ऐसा उत्तम फल नहीं मिलता यह सूत्र-भाष्यादि में स्पष्ट है। तत्त्वसाक्षात्कार होते ही सफल है, मरने की इन्तज़ार या मरने के पश्चात् विशेष फल देने वाला नहीं होता। यहाँ कही उपासना में पाद या चरण से जानवरों के पैरों जैसा नहीं वरन् हिस्सा अर्थ में पाद या चरण कहा अर्थात् प्रत्येक देवता की ब्रह्मरूपता का ध्यान करते हुए चार बातें सोचनी हैं। जनक को जिनसे उपदेश मिला था वे थे १. जित्वा शैलिनि २. उदंक शौल्बायन, ३. बर्कु वार्ष्णि, ४. गर्दभीविपीत भारद्वाज ५. सत्यकाम जाबाल एवं ६. विदग्ध शाकल्य। इन्होंने क्रमशः वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और हृदय का ब्रह्मरूप से ध्यान करने को कहा था। याज्ञवल्क्य ने हर एक के बाकी तीन हिस्से बताये कि देवरूप वाक् आदि के साथ इनके आयतनभूत इंद्रिय, प्रतिष्ठाभूत अव्याकृत और तत्तत् नाम का भी चिन्तन कर्त्तव्य है। स्मर्तव्य है कि शाकल्य ने जनक को हृदय-ब्रह्म सिखाया था; इसी स्तर तक वह याज्ञवल्क्य से प्रश्न कर पाया था; स्वयं पूरी जानकारी के अभाव में उसकी उपासना फल न पाने से उसकी दुर्गति हुई।।२-३।।

प्रत्येक देवता के साथ तीन चरणों का उपदेश पाकर जनक दक्षिणा देने को तैयार होता था पर मुनि मना कर देते थे। उनका ऐसा करना क्यों था, यह बताते

है **शिष्य को पुरुषार्थ भली भाँति प्राप्त न होने तक मुख्य उपदेश पूरा नहीं होता इसलिये जनक द्वारा अर्पित गुरुदक्षिणा मुनि ने ली नहीं।।४।।** हर बार जनक को यह कहकर मना करते थे 'पिता मेऽमन्यत, नानुशिष्य हरेत' कि 'मेरे पिता मानते रहे कि अनुशासन (उपदेश) पूरा हुए बगैर गुरुदक्षिणा नहीं लेनी चाहिये।' अर्थात् जनक समझ लेता था कि आगे और समझने योग्य बचा है। यहाँ उपदेश की पूर्ति का रूप बताया पुरुषार्थ की समाप्ति अर्थात् कृतकृत्यता; जो कुछ चाहिये वह जब तक पूरा मिले नहीं, पुरुष को कुछ भी प्रार्थित रह जाये, तब तक उपदेश पूरा नहीं हुआ। प्रार्थना इसी से होती है कि प्रार्थित वस्तु आदि से आनंद होगा अतः निश्चित है कि स्वयं को आनंदरूप नहीं जान रहा! जब आत्मा से अतिरिक्त को समझ ले कि उससे प्रेम किया तो वह रुलायेगी ही, दुःख ही देगी, तब पुरुषार्थ समाप्त होगा। मुख्य ब्रह्मवेत्ता होने से याज्ञवल्क्य ऐसा मुख्य उपदेश दिये बिना दक्षिणा लेना अयोग्य समझते थे। पूर्व में जो गायें ली थीं वे गुरुदक्षिणा नहीं थीं, वरन् शर्त्त पर जीती थीं, चुनौती स्वीकार कर ग्रहण की थीं अतः वहाँ यह नियम लागू नहीं होता। यहाँ उपदेश के निमित्त जनक देना चाहता था इसलिये यह गुरुदक्षिणा है। गुरुदक्षिणा लेने से गुरु 'शिष्य को जो कुछ सिखाना था, सिखा चुका' ऐसी मानो घोषणा कर देता है; अगर शिष्य को अभी सीखना बाकी है तो गुरु कैसे दक्षिणा ले! भारतीय शिक्षा-प्रणाली में यह विशेषता रही कि शिष्य की आर्थिक स्थिति पर शिक्षा कभी निर्भर नहीं रही, शिष्यों ने अपनी-अपनी योग्यतानुसार गुरुओं की, गुरुकुलों की सेवा की तथा गुरुओं ने समग्र शिक्षा देने तक शिष्यों को उन्मुक्त नहीं छोड़ा अतः अधकचरे जानकारों से विद्याओं में शैथिल्य नहीं आ पाया एवं समाज को जो विद्वान् मिले वे समूची विद्या से सम्पन्न ही रहे। आधुनिक प्रणाली मुख्यतः पैसों पर टिकी है, छात्रों को समूची जानकारी मिले इसकी शिक्षकों को परवाह भी नहीं, उनका ऐसा दायित्व भी नहीं माना गया, यत्किंचित् रटकर परीक्षा उत्तीर्ण होने मात्र से प्रमाणपत्र दिये जाते हैं जिससे सर्वथा ग़ैरजानकार लोग विद्वानों के रूप में घूम रहे हैं एवं स्वयं अध्यापक भी बन रहे हैं! ऐसी प्रणाली के पुरोधा जब प्राचीन पद्धति के दोष गिनाते हैं तब समझदारों को उनकी निर्लज्जता पर शरम आती है। याज्ञवल्क्य ने आदर्श उपस्थित किया कि शिष्य को समूची शिक्षा दिये बिना उससे कुछ लेना ग़लत है।।४।।

पहले ब्राह्मण का इतना ही संक्षेप कर श्लोक २२ पर्यन्त द्वितीय ब्राह्मण समझाते

द्वितीये ब्राह्मणे जाग्रत्स्वप्नसुप्तिमुखाद् निजम्।
आत्मानं शास्त्यतो राजा यथाविध्युपसन्नवान्।।५।।
उक्तोपासनतः प्राप्यो देवभावः पुरोदितः।
देवत्वान्मुच्यमानेन प्राप्यं पृच्छत्यसौ मुनिः।।६।।

है **दूसरे ब्राह्मण में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के सहारे निज आत्मा का उपदेश दे रहे हैं अतः राजा विधिवत् याज्ञवल्क्य की शरण गया।।५।।** उपनिषत् में कहा है 'जनको ह वैदेहः कूर्चाद् उपावसर्पन्नुवाच, नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य! अनु मा शाधि' कि सिंहासन से उतरते हुए जनक ने याज्ञवल्क्य को नमस्कारकर उपदेश की याचना की। इससे आचार्य विद्यारण्य बता रहे हैं कि जनक अभी तक शिष्यभाव से बात नहीं कर रहा था लेकिन जब पूर्व ब्राह्मण में उसे पता चल गया कि उसकी समूची जानकारी से याज्ञवल्क्य का ज्ञान महान् है तब वह उनमें गुरुभाव रखकर स्वयं शिष्यभाव से उनके संमुख आया। उसे मालूम था कि शिष्य गुरु के संमुख राजा की हैसियत से बैठकर उपदेश ग्रहण नहीं कर सकता। सारे अभिमान छोड़ने पर ही परम उपदेश लिया जा सकता है। यहाँ मुनि जाग्रदादि अवस्थाओं के माध्यम से आत्मा का वर्णन करेंगे। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीय ये चार पाद प्रसिद्ध हैं; पहले राजा चार पादों से ब्रह्म सुन चुका है अतः यहाँ भी चार पादों के अनुरोध से उपदेश सुग्राह्य होगा ऐसा मुनि का भाव है। तीन अवस्थाएँ सभी को प्रत्यक्ष हैं, इनसे चौथा (तुरीय) वह जो तीनों में आता-जाता है; उस-की कही जाये ऐसी कौन अवस्था होगी! वह किसी में बँधा न होने से वस्तुतः उसकी कोई अवस्था नहीं, अतः वह चौथा ही है। उसे अवस्थारहित तो समझ सकते हैं, अवस्थावान् तो वह नहीं ही है। याज्ञवल्क्य इन्हीं पादों से निज अर्थात् प्रत्यग्रूप आत्मा का कथन करेंगे। यद्यपि आत्मोपदेश मिलेगा इसलिये तो राजा कुर्सी से नहीं उतरा क्योंकि वह आत्मवस्तु से अनभिज्ञ था, तथापि शास्त्र मर्यादा बता रहा है कि आत्मविद्या का आदान-प्रदान यथाविधि ही उचित है। किं च जनक सत्संगी होने से जानता ही था कि उपास्य ब्रह्म से परे केवल ज्ञेय ब्रह्म है अतः जब उपास्य की पूर्णता से आगे सीखना था तब वह आत्मतत्त्व को ही जानने के लिये कुर्सी से उतरा। इससे मुनि भी सावधान हो गये कि आत्मवस्तु की ओर ही उसे ले जाना है।।५।।

उपदेश-प्रारम्भ के लिये मुनि-राजा के प्रश्न उत्तर बताते हैं **उक्त उपासना से प्राप्तव्य देवरूपता पहले कही। देवभाव से छूटता साधक क्या पायेगा?यह मुनि ने पूछा।।६।। राजा बोला 'गन्तव्य तो नहीं जानता!' यों अपने में मौजूद**

इन्धविद्या

गन्तव्यं तु न जानामीत्यविद्यां स्वात्मनि स्थिताम् ।
प्रकटीकुर्वतो राज्ञ इन्धतत्त्वमुपादिशत् । ।७ । ।
इन्धतेऽहर्निशं यस्मादिन्धनामा ततः पुमान् ।
वीर्यवद्दक्षिणं चक्षुः श्रौतो वातिशयोऽत्र हि । ।८ । ।

अविद्या प्रकट करने वाले राजा को मुनि ने 'इन्ध' तत्त्व का उपदेश दिया । ।७ । । देवभाव प्राप्य है, जो मिलता है वह छूटता ही है अतः देवभाव भी छूटेगा, तब क्या गति होगीयह प्रश्न है। यद्यपि मनुष्यादि लोकों में पुनरावृत्ति होगी यह कह सकते हैं तथापि यह कोई गन्तव्य नहीं, केवल भटकना है, इसलिये मुनि के प्रश्न का यह उत्तर नहीं। उपासना क्रममोक्षफलक होने पर भी देवभाव और मोक्ष के मध्यवर्त्ती स्तर को राजा नहीं जानता था, यह भाव है। अतः भाष्यकार ने 'क्या वस्तु पाओगे' ऐसा व्याख्यान किया। राजा स्वयं को अज्ञ पहचानकर जिज्ञासु हो गया तभी उपदेश शुरू किया गया क्योंकि जिज्ञासु ही उपदेश का ग्राहक हो सकता है। सही या ग़लत किसी एक कोटि में स्थित को उपदेश देने पर भी वह ग्रहण नहीं करता, जिसे जिज्ञासा हो वही ग्रहण करता है। ।६-७ । ।

याज्ञवल्क्य ने उपदेश प्रारंभ किया आत्मा को 'इन्ध' नाम वाला और दायीं आँख में रहने वाला बताते हुए। वह उपदेश सुनाते हैं **रात-दिन स्फुरता रहता है इसलिये पुरुष 'इन्ध' नाम वाला है। दायीं आँख ताकत वाली है (इसलिये) या दायीं आँख में वेदसंमत खासियत है (इसलिये पुरुष इसमें रहने वाला कहा है)। ।८ । ।** यद्यपि जाग्रत् में दायीं आँख में रहता है और 'रात-दिन' तो जगे नहीं रहते हैं तथापि रात हो या दिन, जगे होने पर दायीं आँख में रहता है यह तात्पर्य है। अथवा इन्धन ही रात-दिन कहा है, दायीं आँख में रहना नहीं। जागरित अवस्था में बाह्य विषयों से सम्पर्क, उनका भोग, उनसे क्रिया आदि व्यवहार चलता रहता है जिससे पुरुष की इन्धरूपता, स्फुरणात्मकता प्रकट होती रहती है, उसकी आवश्यकता व्यक्त होती रहती है। सुषुप्ति में भी प्रकाशमानता रहती है लेकिन व्यक्त नहीं हो पाती। इस पुरुष को दायीं आँख में रहने वाला कहा क्योंकि प्रायः मनुष्यों के दायें अंग-ज़्यादा ताकतवर होते हैं, लेकिन ऐसा ज़रूरी नहीं इसलिये श्रुतिसम्मत विशेषता मानकर वहाँ रहना संगत समझना चाहिये। ध्यान के लिये स्थान विहित होने से उसमें वैशिष्ट्य स्वीकार्य है। है सारे शरीर में, लेकिन वहाँ ध्यान किया जाये तो सफलता होगी, यह तात्पर्य है। जीव को तीन अवस्थाएँ उपलब्ध

परोक्षनामव्याजेन परमैश्वर्यवाचिनम्।।
इन्धशब्दं[1] प्रयुंजान इन्धस्याहेश्वरात्मताम्।।६।।
दक्षिणाक्षिणि चैतन्यं पुरुषो वामचक्षुषि।।
चैतन्यं स्त्रीति भेदोऽयं कल्प्यते सुखबुद्धये।।१०।।

इसलिये हैं कि वह अपने स्वरूप का विवेक करे तथा दृश्य-मिथ्यात्व समझे। स्वप्न न होता तो दृश्य मिथ्या हो सकता है यह न लगता। स्वप्न से पता लगता है कि दृश्य सत्य होना आवश्यक नहीं। सुषुप्ति से पता चलता है कि स्थूल-सूक्ष्म उपाधियों के बगैर भी मैं रहता हूँ, अतः इनसे स्वतन्त्र ही हूँ। जगद्मिथ्यात्व और आत्मनिरुपाधित्व, इन दोनों के अवगम में अवस्थात्रय-विचार अतीव उपयोगी है।।८।।

आत्मा, जीव आदि साधारण नाम न लेकर 'इन्ध' यह अप्रसिद्ध नाम लेने का प्रयोजन बताते हैं **गैर-साक्षात् नाम के बहाने सर्वोत्तम ऐश्वर्य के बोधक 'इन्ध' शब्द का प्रयोग करते हुए बताया कि इन्ध का स्वरूप ईश्वर ही है।।६।।** याज्ञवल्क्य ने पहले तो दायीं आँख में रहने वाले को 'इन्ध' कहा फिर बताया कि इन्ध को ही इन्द्र कहते हैं क्योंकि देवता चाहते हैं कि उन्हें साक्षात् नाम से न पुकारा जाये। प्रश्न है कि इन्द्र-देवता तो यहाँ प्रकृत ही नहीं है, फिर इन्ध क्यों कहना पड़ा? अगर देवराज का प्रसंग होता तो परोक्ष नाम लेना सार्थक भी होता। इसके उत्तर में कहा कि याज्ञवल्क्य को बताना तो है कि जीव का स्वरूप ईश्वर से अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसके लिये उन्होंने परोक्ष नाम लेने का बहाना किया। इन्धयह परोक्ष नाम है इन्द्र का। इन्द्र-शब्द 'इदि' धातु से बनता है जिसका अर्थ परम ऐश्वर्य है; इस तरह इन्ध शब्द जीव के लिये प्रयोग कर परम ऐश्वर्य सूचित कर जीव-ईश्वर की एकता बतायी। (सार और मुत्तुशास्त्री श्लोक के उत्तरार्ध में 'इन्द्रशब्दं' पाठ मानते हैं।) हर समय जानते रहनायह जीव में प्रकट ऐश्वर्य है। सब देवरूप इन्द्रियों का अधिपति इन्द्ररूप इन्ध दायीं आँख में मौजूद रहता है। सब इंद्रियों द्वारा भोग इसी को अर्पित किया जाता है। इस तरह जीव-ईश्वर की एकता बताने के लिये सीधे के बजाये इन्ध नाम लिया।।६।।

आगे मुनि ने कहा कि बाँयीं आँख में स्थित पुरुष रूप ही इस इन्ध की पत्नी विराट् है। इस रूपक का कथन करते हैं **दायीं आँख में चेतन पुरुष है, बाँयीं आँख में चेतन स्त्री हैयह भेद समझने की सुविधा के लिये माना गया।।१०।।** बाँयी आँख में चेतन को स्त्री अर्थात् विराट् अर्थात् अन्न के रूप में समझकर ध्यान के लिये

---

[1] इन्द्रशब्दमूइति सारे मुत्तुशास्त्रिणश्च पाठः।

उक्ता जाग्रदवस्थैवम् इन्द्रियव्यवहारकृत् ।
दम्पत्योः संगमः स्वप्नो हार्दाकाशोऽथ भण्यते । ।११ । ।
संभूयस्तुतिरत्रेति संस्तावो हृदये सुषिः ।
अणिष्ठान्नरसो रक्तपिंडो यः सोऽन्नमेतयोः । ।१२ । ।
हृद्यन्तः शतनाडीनां पुंजं प्रावरणं विदुः ।
स्वप्नाज्जागरणप्राप्त्यै मार्गो नाड्यूर्ध्वगामिनी । ।१३ । ।
यस्मादन्नरसः केशसहस्रांशेन संमितैः ।
नाडीभेदैः स्वप्नदृश्यं याति सूक्ष्मतरस्ततः । ।१४ । ।

यहाँ ऐसा कहा। आगे स्वप्न में इन्द्र-इन्द्राणी का मिलन बताने में भी रूपक का उपयोग है। जनक वैश्वानर (विराट्) को ही आत्मा जानता था, उसे स्त्री या अन्न के रूप में कहकर स्पष्ट किया कि वह अनात्मा या आत्मा की उपाधिमात्र है। ।१० । ।

'तयोरेष संस्ताव' इत्यादि वाक्य समझाते हैं **इन्द्रिय व्यवहार की स्थानरूप जाग्रद् अवस्था पूर्वोक्त ढंग से कही। अब पति-पत्नी का संगमरूप स्वप्न हृदयाकाश में बताया जाता है। ।११ । । मिलकर स्तुति करने का स्थान हृदयकाश 'संस्ताव' है। अतिसूक्ष्म अन्नरसरूप लाल पिण्ड पति-पत्नी के लिये अन्न है। ।१२ । । हृदय में स्थित सौ नाडियों के समूह को दम्पती का प्रावरण (परिधान) समझते हैं एवं हृदय से ऊपर को जाने वाली नाडी स्वप्न से जाग्रत् में आने का रास्ता है। ।१३ । । केश के हज़ारवें भाग जितनी सूक्ष्म नाडियों द्वारा क्योंकि अन्नरस स्वप्न-द्रष्टा तक आता है इसलिये तैजस और उसका आहार (विश्व और उसके आहार से) सूक्ष्म है। ।१४ । ।** जाग्रत् में भी चेतन (इन्ध) और उपाधि (इन्द्राणी) मिलकर भोग करते हैं लेकिन बाह्य विषय भी आवश्यक रहता है। स्वप्न में बाह्य विषय का कोई उपयोग नहीं, चित्त (उपाधि) और चेतन ही परस्पर व्यवहार कर लेते हैं। दोनों की बराबर प्रधानता स्वप्न में है। स्वप्न-स्थान हृदयाकाश है। उसे संस्ताव कहा : पति-पत्नी एक-दूसरे की स्तुति जहाँ करें वह संस्ताव है। अन्य कोई न होने पर प्रायः दम्पती परस्पर प्रशंसा करते हैं। इन्द्र-इन्द्राणी हृदय में मिलते हैं, वहाँ बाहरी विक्षेप होता नहीं अतः मानो एक-दूसरे की स्तुति करते हों! उनके लिये अन्न है वह सूक्ष्म रस जो हृदय के भीतर लाल पिण्ड के रूप में उपलब्ध है। मल बनकर निकलने वाले से भिन्न जो देह में पचता है उसके स्थूल भाग से शरीर पुष्ट होता है एवं सूक्ष्म भाग (अणिष्ठ, अणुतम) से मन पुष्ट होता है ऐसा छान्दोग्य में वर्णित है। अतः मनःपोषक

स्वप्नावस्था समाप्ताऽथ तस्य प्राचीति वाक्यतः।
सुषुप्तिरुच्यते तत्र युक्ता सर्वदिगात्मता।।१५।।
साश्रयैः करणैर्हीनो ग्रस्ताध्यात्माधिदैवतः।
सुषुप्तावेक एवास्ते प्रज्ञानघनविग्रहः।।१६।।

हिस्सा यहाँ लोहितपिण्ड कहा गया। हृदय में एक सौ एक नाडियाँ हैं, उनमें से ऊर्ध्वगामिनी से अन्य नाडियाँ उस समय (स्वप्न के समय) इन्द्र-इन्द्राणी को (जीव-मन को) ढाँके रहती हैं मानो ओढ़ने का वस्त्रादि हो। फिर ऊर्ध्व नाडी से पुनः जाग्रत् में इन्द्र-इन्द्राणी दायीं-बायीं आँखों में पहुँच जाते हैं। स्वप्न में जो कुछ देखना-करना है उसकी ताकत भी मिलती अन्न से (उसके सूक्ष्मतम भाग से) ही है। वह अन्नरस सूक्ष्म है यह बताने के लिये केश के हज़ारवें हिस्से जितनी नाडियों में रहने वाले के रूप में उसे कहा, यहाँ आयाम में नहीं, सूक्ष्मता में तात्पर्य है। सूक्ष्म होने से उसके आधार पर वासनामय स्वप्नादि या विचारात्मक चिंतन-मनन ही संभव है, शारीरिक श्रमादि नहीं। तथापि अन्न से मन (तेजस) का पोषण होने से अन्न के गुण-दोष का प्रभाव पड़ता है, तदनुसार स्वप्नों में भी तारतम्य, सद्-असद् आदि भेद उपलब्ध होता है।।११-४।।

स्वप्न बातकर मुनि ने प्राणों को दिशारूप बताया, उसका भाव समझाते हैं **स्वप्न अवस्था का वर्णन पूरा हुआ। तदनन्तर 'पूर्व दिशा उसके (पूर्वदिग्वर्ती प्राण हैं)' आदि वाक्य से सुषुप्ति कही जा रही है, वहीं यह संगत है कि सर्वदिशारूपता हो।।१५।। आश्रय अर्थात् शरीर और करणों (इन्द्रियों) से रहित तथा अध्यात्म-अधिदैव अभिमानों से शून्य हुआ प्राज्ञ केवल प्रज्ञान के घनीभूत रूप वाला सुषुप्ति में अकेला ही रहता है।।१६।।** जाग्रत् में स्थूल व स्वप्न में सूक्ष्म भोग होते हैं पर हैं दोनों भोगावस्थाएँ अतः कर्मफलानुसार होती हैं। स्वप्न के बाद ऊर्ध्व नाडी से जाने पर तो जाग्रत् होगी लेकिन उससे न जाकर सूक्ष्म-परिच्छेद भी छोड़ देने पर सुषुप्ति होती है। वह भोगावस्था न होने से कर्मफलरूप नहीं वरन् जितनी देर कोई फल नहीं भोगना उतनी देर रहने वाली दशा है। अतः सुषुप्ति जीव की स्वाभाविक स्थिति है, जाग्रत्-स्वप्न तो प्रारब्धरूप उपाधि से होती हैं। सुषुप्ति में कर्म व भोग नहीं करने इसलिये वहाँ स्थूल-सूक्ष्म सीमाएँ छूट जाती हैं। क्रिया या भोग के लिये ही आत्मा को सीमित होना पड़ता है। परिच्छेद रहते ही भोक्ता-भोग्य का भेद हो सकता है। सीमा न रहने पर सुषुप्ति में व्यापकता हो जाती है जिससे उस जीव को सर्वदिग्रूप कहना बनता है। सुषुप्ति में देह-इंद्रियाँ तो छूटते ही हैं, जीव के अध्यात्म-अभिमान (मैं द्रष्टा

इन्धतैजससौषुप्तैर्विराट्सूत्रेश्वरा अपि।
संलक्षिता अथैतेषां तत्त्वमात्मोपदिश्यते।।१७।।
विराडिन्धादिभिर्भेदैरभिन्नो योऽवभासते।
स एष नेति नेत्यात्मा न कार्यं नापि कारणम्।।१८।।
तेनैव ज्ञात्मनाऽशेषं तद्ध्वान्तं ध्वान्तजं तथा।
जग्ध्वा नेत्यात्मना विद्वान् पूर्णदृष्ट्याऽवशिष्यते।।१९।।

श्रोता आदि) और उसके इन्द्रिय मन पर होने वाले अधिदेव अभिमान (अर्थात् देवताओं के अभिमान) भी नहीं रह जाते, वह केवल प्रज्ञा का पिण्ड बचता है। उस दशा में सारी दिशाओं से वह एक कहा गया है। प्रज्ञारूप होने पर भी विषय-करण-रहित होने से 'कुछ' जानता नहीं है। जानते हुए तो है ही, तभी 'सुख से सोया' यह याद करता है। उपनिषदें स्पष्ट करती हैं कि आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान है, ऐसा नहीं कि मन आदि कुछ जुड़े तब ज्ञान हुआ करे! मन आदि विषयसंपर्क के लिये भले ही चाहिये रहें पर ज्ञान उन पर निर्भर नहीं। लोक में जैसे भोजन में कुछ मीठा खिलाना हो और मिश्री परोसें तो लोग उसे मिठाई नहीं मानते, जबकि सब मिठाइयों का मूल सार वही है! वैसे ही निर्विषय ज्ञान को साधारण लोग ज्ञान ही नहीं समझ पाते, जब वह विषयादि से मिला-जुला उपलब्ध होता है तभी उन्हें लगता है कि ज्ञान है। लेकिन जैसे मिश्री, वैसे प्रज्ञानघन ही वास्तविक है।।१५-६।।

प्राज्ञ को अपरिच्छिन्न बताकर याज्ञवल्क्य ने कहा 'स एष नेति नेत्यात्मा', उसकी व्याख्या शुरू करते हैं **इन्ध, तैजस और सुषुप्तिवर्त्तीइन तीन से विराट्, सूत्रात्मा और ईश्वर भी सूचित हैं; अब इनकी वास्तविकता जो आत्मा उसका उपदेश दिया जाता है।।१७।। अद्वितीय वस्तु होने पर भी विराट्-इन्ध आदि भेदों में बँटा जो प्रतीत हो रहा है वही यह 'नेति नेति' आत्मा है। वह न कार्य है, न कारण है। उसके अज्ञान को एवं अज्ञानजन्य को, अर्थात् समस्त अनात्मा को, सिर्फ वही ज्ञानरूप आत्मा हैयों 'अनात्मा है ही नहीं' इस तरह विलीनकर जानकार पूर्ण के भान से सम्पन्न रहता है।।१८-९।।** इन्ध से विश्व कहा और विराट् लक्षित किया, ऐसे ही तैजस से सूत्र और प्राज्ञ से ईश्वर सूचित है। 'नेति' से क्योंकि अद्वैत बता रहे हैं इसलिये समष्टि का भी संग्रह आवश्यक है तभी 'इति' से उसका अनुवाद होकर 'न' से निषेध होगा। तत्त्व सदा अभिन्न है, अज्ञान के रहते स्थूल-सूक्ष्म-कारण-समष्टि-व्यष्टि भेदों में

गन्तव्यमुपदिश्यैवं प्राप्तोऽस्यभयमित्यृषिः।
ऊचे बोधस्ततः प्राप्तः प्राप्स्यसीत्यन्यथा वदेत्।।२०।।

बँटा उपलब्ध है जैसे एक सूर्य दस काँचों में दस प्रतीत हो जाता है। स्थूलादि सब उपाधियों में सच्चिद्रूप प्रतीत होने से भेद लग रहा है। वास्तविकता तो चिन्मात्र ही है। उपलब्ध भेद को 'इति' से कहकर 'न' से उसका निषेध किया। कार्य-कारण इस द्वैत की अपेक्षा से दो इति शब्द हैं। तत्त्व को न कारण व न कार्य समझ सकते हैं क्योंकि ये सापेक्ष धर्म निरपेक्ष सत्त्य हो नहीं सकते। अज्ञान-तत्कार्य केवल आत्मा हैयही उनका विलय है। आत्मा प्रत्यक्स्वरूप होने से स्वतो भासमान है, उसकी ओर इशारा पर्याप्त है, वह किसी प्रमाण आदि पर निर्भर नहीं। वही वास्तव में पूर्ण है। क्योंकि ज्ञानरूप से सनातन है इसलिये उस पर आरोपित का निषेधमात्र आवश्यक है जो नेति से सम्पन्न हुआ।।१७-९।।

याज्ञवल्क्य ने जनक से जो उसका गन्तव्य पूछा था कि 'उपासनादि से अन्ततः कहाँ जाओगे?' उसी प्रश्न का उत्तर उन्होंने आत्मरूप से वर्णित किया यह समझाते हैं **यों गन्तव्य का उपदेश देकर ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा 'तुम अभय को पा चुके हो।' इससे निश्चित है कि जनक को तत्त्वज्ञान हो गया था, न हुआ होता तो 'अभय पाओगे' ऐसा कहते।।२०।।** नेति से समझाया आत्मा ही अंतिम गन्तव्य है। जब तक अज्ञान है तब तक सर्वत्र भटकना दुर्वार है, ज्ञान होते ही सब यातायात निवृत्त हो जाते हैं, स्वरूपस्थिति ही रह जाती है। यह गंतव्य केवल अज्ञान से व्यवहित होने के कारण ज्ञान से ही उपलब्ध होता है अतः उपदेश से जनक ने जैसे ही उसे समझा वैसे ही उसे इसकी प्राप्ति हो गयी। अत्यन्त अद्वितीय होने से यही अभय है जिसे जनक ने स्व-रूप से पा लिया। यह साधनों से साध्य गंतव्य नहीं कि भविष्य में होवे वरन् नित्य प्राप्त ही है अतः ज्ञानसमकाल उपलब्ध कहा जाता है। अत एव उस वस्तु को पूर्ण कहना बनता है। अयोग्य श्रोता तो संशय विपर्यय से ग्रस्त रहकर शास्त्रोपदेश सुनकर भी अभय को 'प्राप्त' नहीं जानता लेकिन जनक क्योंकि योग्य साधक था इसलिये इन्धादि वाक्यों से समझते हुए उसे 'इति' में सारा द्वैत एकत्र प्रतीत हो गया जिसका निषेध होते ही वह अभय को प्राप्त जान गया। इससे यह भी बताया कि जिस गंतव्यका पूर्व में प्रश्न था उसी का निर्णय यहाँ आत्मा या अभय रूप से किया है।।२०।।

पूर्व में तो जनक पशु-अर्पण की बात करता रहा लेकिन इस परविद्या को पाकर इतना

ज्ञानेन सदृशीमन्यामपश्यन् गुरुदक्षिणाम् ।
अभयं त्वेति वचसा दक्षिणामाशिषं ददौ । ।२१ । ।
उत्तमा दक्षिणैषाशीर्मध्यमा तु नमस्क्रिया ।
स्वभूमिवपुषोर्दानं वित्तशाठ्यनिवृत्तये । ।२२ । ।

ही बोला 'अभयं त्वागच्छताद् याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे, नमस्तेऽस्तु, इमे विदेहा अयमहमस्मि' कि हे याज्ञवल्क्य! आप अभय हों! आपने मुझे अभय दिला दिया, आपको नमस्कार है। यह विदेहराज्य, यह मैं, सब आपके लिये है। इसका तात्पर्य बताते हैं **ज्ञान के तुल्य और कोई गुरुदक्षिणा न समझ पाते हुए 'आपको अभय हो' इस वचन से आशारूप दक्षिणा प्रदान की । ।२१ । । यह आशा उत्तम दक्षिणा थी, मध्यम दक्षिणा के रूप में नमस्कार अर्पित किया तथा 'धन के बारे में शठता (कंजूसी) नहीं कर रहा' यह स्पष्ट करते हुए अपनी भूमि और शरीर का दान किया । ।२२ । ।** पारमार्थिक वस्तु के ज्ञान से व्यावहारिक सब बाधित हो जाने से उस ज्ञान के निमित्त दक्षिणा क्या दी जाये! अतः जनक ने जो अभय पाया वही याज्ञवल्क्य को समर्पित किया, यही उत्तम दक्षिणा है। इसमें आदान-प्रदान आदि औपाधिक कोई व्यवहार नहीं, केवल निष्ठा की अभिव्यक्ति है। ऐसा भी नहीं कि जनक सोचता हो कि मुनि को अभय हासिल नहीं है! जानता था कि स्वयं अभय होने से ही अभय में मुझे स्थित कर पाये हैं, लेकिन अन्य देय है नहीं इसलिये, स्वरूपभूत अभय ही प्रदान किया। यह आत्मस्तर की दक्षिणा होने से उत्तम है। जिस अन्तःकरण के द्वारा आचार्य ने उपदेश दिया उसे मध्यम दक्षिणा प्रणाम दिया। राजा के प्रणाम से मुनि के मन को ही प्रसन्नता होगी। जैसे यज्ञ में आचार्य को ही ज़्यादा दक्षिणा मिलती है, अन्य ऋत्विकों को कम, वैसे आत्मा को उत्तम दक्षिणा दी, मन को मध्यम। जिस शरीर में रहकर मुनि उपदेश दे सके उसकी सेवा के लिये राज्यादि दक्षिणा भी प्रदान की। किं च अभय नमस्कार ही देकर चुप हो जाता तो किसी को शंका होती कि 'कंजूसी कर रहा है! देना नहीं चाहता इसलिये बड़ी बातें कर रहा है।' इस तरह की शंका का मौका न रहे इसलिये जनक ने अपने समेत सारा राज्य प्रदान कर दिया। इस प्रकार द्वितीय ब्राह्मण का संक्षेप हुआ । ।२१-२ । ।

तृतीय है 'ज्योतिर्ब्राह्मण', इसमें आत्मा की स्वयंज्योतीरूपता वर्णित है। श्लोक २०३ तक इसका विस्तार करना है। पहले विषय-प्रदर्शन करते हैं **तीसरे ब्राह्मण में स्वप्न और सुषिप्ति का विस्तार है क्योंकि वे ही परलोक और विमोक्ष के लिये**

ज्योतिर्ब्राह्मणम्

तृतीयब्राह्मणे स्वप्नसुषुप्त्योरतिविस्तृतिः ।
क्रियतेऽतो हि दृष्टान्तौ परलोकविमोक्षयोः । ।२३ । ।
देहादिव्यतिरिक्तत्वस्वप्रभत्वम् असंगता ।
स्वप्नप्रसंगतस्त्वेतत् त्रयमत्र प्रपंच्यते । ।२४ । ।
अद्वैतत्वं दृष्ट्यलोप आनन्दैकस्वभावता ।
इदं त्रयं सुषुप्तस्य प्रसंगेनोपपाद्यते ।२५ । ।

उदाहरण हैं। ।२३।। स्वप्न के प्रसंग से ये तीन बातें स्पष्ट की जा रही हैंदेहादि से आत्मा भिन्न है, स्वप्रकाश है और असंग है। ।२४।। सुषुप्त के प्रसंग से ये तीन बातें उपपादित कर रहे हैंआत्मा अद्वैत है, ज्ञान का लोप नहीं, आनंद ही उसका एकमात्र स्वभाव है। ।२५। । नेत्यादि उपदेश देकर याज्ञवल्क्य लौट गये। कालान्तर में जनक से प्रेमवश मिलने आये। कुछ चाहकर तो आये थे नहीं अतः 'जनक से कुछ कहना नहीं है'ऐसा मुनि का विचार था। जनक ने स्वागत सत्कार के बाद देखा कि वे अपनी तरफ से कोई उपदेश दे नहीं रहे तो उसी ने पूछने का निश्चय किया। संभवतः याज्ञवल्क्य ने टाला हो कि 'ये सब बातें रहने दो, हम तो सिर्फ़ मिलने चले आये', इत्यादि; तो जनक ने वर का उल्लेखकर उनसे उत्तर पा ही लिया! एक समय जनक-याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र-विषयक विचार किया था जिसमें जनक के ज्ञान पर खुश हो उन्होंने उसे वरदान दिया था कि जनक जो मर्ज़ी सो उनसे पूछ सकता है। उसी वर को याद दिलाकर जनक ने अब पूछा कि पुरुष का तो आप बोध करा गये किंतु यह 'किंज्योति' है अर्थात् विषयादि-व्यवहार में निमित्तभूत क्या है? इसी का क्रमशः उत्तर देते-देते याज्ञवल्क्य बहुत कुछ बता गये! मरकर परलोक जानाइसे स्वप्न के उदाहरण से तथा सुषुप्ति के उदाहरण से मोक्ष को उन्होंने स्पष्ट किया। परलोक जाना वैसा बताया जैसे सपने में जाते हैं। सपना सबको आता है अतः उसके सहारे परलोकप्राप्ति समझी जा सकती है। सुषुप्ति में भी सभी जाते हैं अतः उसके आधार पर मोक्ष का बोध संभव हो जाता है। पूर्व ब्राह्मण में इनका वर्णन तो किया था पर यहाँ विस्तार करेंगे। यद्यपि जनक पूर्व में ही अभय पा चुका था अतः तत्त्वज्ञानी था तथापि आत्मवेत्ता का विचार-चिंतन आत्मसन्दर्भ में ही चलता है एवं जो कुछ स्पष्टताएँ बढ़ायी जा सकें वे बढ़ाता रहता है इसलिये आत्मा की निरुपाधिक पूर्णता में निःशंक होते हुए भी उसके मन में प्रश्न उठना और मुनि से उत्तर माँगना संगत है। तत्त्ववेत्ता के लिये आचार-प्रदर्शन भी

हो गया कि आत्मचर्चा से ही समय-यापन करे। ध्यानी साधक जैसे रुचिपूर्वक ध्यानतत्पर रहता है बिना विधिप्रयुक्त हुए भी, मननशील उसी तरह ऊहापोह में रुचि से संलग्न रहता है, इससे निष्ठा में परिपाक होता है। प्रायः वेदान्त ग्रंथों के लेखक ऐसे ही ब्रह्मवेत्ता रहे जिनकी विचारपरायणता का ही प्रसाद इतना विपुल साहित्य है। सभी वेदान्तोपदेशक इसी प्रकार तत्त्वानुसन्धान से स्वयं का जीवन सार्थक एवं जिज्ञासुओं का कल्याण करते हैं। सपने के माध्यम से पहली बात समझायेंगे कि आत्मा देहादि से स्वतंत्र है। देह में बुखार हो फिर भी सपने में हम स्वस्थ होते हैं! ऐसा कई बार अनुभव होता है। बूढ़े हैं पर स्वप्न में जवान होकर कैलास की यात्रा कर रहे होते हैं। इस तरह शरीर से भेद स्वप्नविचार से पता चल जाता है। दूसरी बात स्वप्रकाशता सपने में स्फुट है : जाग्रत् में सूर्य आग आदि की रोशनी के बिना कुछ न देख सकने पर भी सपने में इन सबके बिना ही देख लेते हैं! जाग्रत् में वायु के सहारे ही शब्द से संपर्क करते हैं (अतः वायुरहित बोतल में बजती घंटी सुन नहीं पाते) लेकिन सपने में बिना हवा के ही सब सुनते हैं! जुकाम से नाक बंद हो तो जाग्रत् में गंध नहीं आती पर उसी रात सपने में आराम से सूँघ लेते हैं। इस प्रकार जाग्रत् में जो सहारे ज्ञान के लिये चाहिये उनमें से कोई भी स्वप्न में बिना लिये सारा व्यवहार कर सकना हमारी स्वप्रकाशता व्यक्त करता है। यहाँ रोशनी का उदाहरण लेंगे, आवाज़ का भी लेंगे, लेकिन तात्पर्य है कि आत्मा ज्ञान के लिये किसी के परतंत्र नहीं है यह समझा जाये। स्वप्रकाश तो जाग्रत् में भी हैं लेकिन यहाँ सहारों के चलते स्पष्ट नहीं होता कि सहारों का कितना योगदान है और कितनी हमारी स्वतंन्रता है। स्वप्न में बाहरी सहारे न रहने से अपना स्वातंत्र्य प्रकट हो जाता है। तीसरी बात सपने में निश्चित होती है कि मैं असंग हूँ! जाग्रत् के सारे संग वहाँ सर्वथा नहीं रहते। जिनके बारे में हम स्वयं को दृढ आसक्त समझते हैं उन्हीं के प्रति वहाँ सर्वथा अनासक्ति अनुभव में आती है। इसका विस्तार श्लोक ९३ से १३५ तक करेंगे।

जैसे आत्मा के बारे में ये तीन बातें स्वप्न-विचार से पता चलती हैं वैसे सुषुप्ति के बारे में सोचने से पता चलता है कि आत्मा अद्वितीय है, भानरूप है, आनंदरूप है। स्वप्न में तो काल्पनिक ही सही पर सद्वयता रहती है, सुषुप्ति में किसी सद्वयता का प्रसंग नहीं रह जाता। मोक्ष में भी ऐसे ही अद्वयता है। इन्द्रिय-मन के बिना भी तब चिद्रूपता रहती है, मोक्ष में भी इनके बिना रहती है। सुषुप्ति में अहंकार तक न रह जाने पर भी प्रत्यग्रूप चैतन्य का अस्तित्व मोक्ष की प्राप्ति संभव दर्शाता है। किं च सुषुप्ति नियमतः आनंद की स्थिति होती है एवं अनात्मा वहाँ कुछ है नहीं तो आत्मा ही वह आनंद है। इसी से मोक्ष

वरदानेन संवादमिच्छन्तं तमशंकया।।
आदौ राजेष्टमप्राक्षीत् प्रत्यग्ज्योतिर्बुभुत्सया।।२६।।
देहेन्द्रियादिसंघातः पुमान् किंज्योतिरुच्यताम्।।
उपवेशनगत्यादि न युक्तं ज्योतिषा विना।।२७।।

पुरुषार्थ सिद्ध होता है। जाग्रत् में हमें भ्रम है कि सुखहेतु कोई और होता है, विषय व्यक्ति आदि से ही आनंद आ सकता है; लेकिन सुषुप्ति इस भ्रम को दूर कर देती है क्योंकि वहाँ निर्विषय सुख होता है और सविषय सुखों की अपेक्षा अत्यधिक होता है! अतः लोग विषयभोग छोड़कर सोते हैं। इस पर श्लोक १३६ से १८६ तक विचार करेंगे। इस प्रकार इस ब्राह्मण के महत्त्वपूर्ण विचारों का आचार्य ने निचोड़ बता दिया। उपनिषत् के विषयों को यों ढूँढकर संकलित करने में आचार्य विद्यारण्य स्वामी अप्रतिम प्रतिभा रखते हैं।।२३-५।।

ग्रंथव्याख्या प्रारंभ करते हैं **वरदान के निमित्त से जब संवाद करने के लिये मुनि तैयार हो गये तब राजा ने बेखटके उनसे प्रत्यगात्मा की ज्योति समझने की इच्छासे प्रारंभ में प्रश्न किया।।२६।।** श्रुति का कथन है 'समेनेन वदिष्ये' जिसे भाष्य में 'स मेने न वदिष्ये' समझाया कि बात न करने की सोचकर मुनि आये थे। वार्तिककार ने बताया कि 'सम् एनेन वदिष्ये' अर्थात् 'इससे संवाद करूँगा' इसलिये आये थे! दोनों तरह पदच्छेद सम्भव है। अनुभूतिप्रकाश में 'संवदिष्ये' मानकर मुनि को संवादेच्छुक कहा है लेकिन भाष्य से एकवाक्यता के तात्पर्य से मान सकते हैं कि वरदान की याद दिलायी तो मुनि संवादेच्छुक हो गये तब पूछा। 'अशंकया' अर्थात् मुनि के मौन से जो राजा को पूछने में संकोच हो रहा था, वह हट गया। गुरु बोलना न चाहे तब शिष्य को पूछने में रुकावट महसूस होती है। इष्ट प्रश्न किया अर्थात् आत्मज्योति समझने की उसे अभिलाषा थी जिसके बारे में पूछा। तात्पर्य है कि केवल औत्सुक्य से, बहुज्ञता चाहकर आदि नहीं वरन् वास्तविक जिज्ञासा से पूछा। किं च बोध के लिये पूछा, न कि वाद के लिये।।२६।।

'याज्ञवल्क्य! किंज्योतिरयं पुरुषः? इति' यह राजा का प्रथम प्रश्न है। इसे व्यक्त करते हैं **बताइये कि शरीर-इन्द्रिय का संघातरूप पुरुष किस ज्योति वाला है? बैठना-चलना आदि ज्योति (प्रकाश) के बिना होना संगत नहीं है।।२७।। उसकी ज्योति क्या संघात में ही है या संघात से अतिरिक्त है?।।२७ १/२।।** जनक के पुरुषशब्द का 'प्राकृतः कार्यकरणसंघातरूपः शिरःपाण्यादिमत्' अर्थ भाष्य में

किं संघातगतं ज्योतिः किं वा संघातिरेकि तत्।
अतिरिक्तत्वमादत्त आदित्यादेरुदाहृतेः।।२८।।
रविसोमाग्निशब्दादिज्योतींष्युक्तानि जागरे।
निदर्शनतया ज्योतिस्तैः स्वप्नेऽप्यनुमीयताम्।।२९।।

है। नेत्यादि आत्मवस्तु स्वरूप से भले ही भासे, लोकव्यवहार के लिये वह पर्याप्त नहीं अतः इसमें कौन-सा ज्ञान हेतु हैयह प्रश्न का भाव है। लौकिक व्यवहार आत्मरूप ज्ञान से ही संभव है या यह कोई और ही ज्ञान हैयह जिज्ञासा का विषय है। आत्मा की ही सोपाधिक अभिव्यक्ति लौकिक ज्ञान हैयह निर्णय होने पर ज्ञान-ज्ञेय के सम्बन्ध की अन्यथानुपपत्ति से ज्ञेय का ज्ञान पर अध्यास सिद्ध होने से दृश्यमिथ्यात्व उपपन्न होगा। यदि आत्मा से इतर ही लौकिक ज्ञान है तो इस प्रकार दृश्यमिथ्यात्व भी सिद्ध नहीं होगा एवं ज्ञाता-ज्ञेय का संबंध भी विचारणीय हो जायेगा। इसलिये राजा ने व्यावहारिक ज्योति के बारे में सवाल उठाया। संघात या इसमें से कोई चीज़ ज्योति (ज्ञान) हैयह एक संभावना, संघात से पृथक् ही कुछ है जो ज्योति हैयह दूसरी संभावना है। चार्वाक, आधुनिक वैज्ञानिक आदि संघात में ही ज्योति की कल्पना करते हैं कि शरीर में ही ज्ञान हो जाता है! नाडियों के भरोसे, भेजे में हलचल के भरोसे इन्हें लगता है कि ज्ञान हो जाता है।

संघात अर्थात् मिल-जुलकर तालमेल पूर्वक सप्रयोजन चेष्टा करने वाला समूह। हमें बैठना हो तो आँख देखती है कि कंकड़ आदि तो नहीं, हाथ देखता है कि धूल आदि तो नहीं, कान देखता है कि कोई मना तो नहीं कर रहा, इत्यादि। ऐसे ही चलना हो तो देखना पड़ता है। सभी इंद्रियाँ एवं मन मिल-जुलकर जानकारी बटोरते हैं तब क्रियायें होती हैं अतः देहादि संघात है। संघात या इसमें कोई तत्त्व प्रकाश (ज्ञान) हैयह जडवादी कहता है। इस मत का खोखलापन व्यक्त करते हुए याज्ञवल्क्य स्पष्ट करेंगे कि संघात से अन्य ही ज्योति पुरुषव्यवहार में हेतु है।।२७+१/२।।

'आदित्यज्योतिः सम्राट्! इति होवाच' याज्ञवल्क्य का उत्तर था, उसे बताते हैं **मुनि ने आदित्यादि को उपस्थापित कर संघात से अतिरिक्त ही ज्योति हैयह पक्ष स्वीकारा।।२८।। जाग्रत् अवस्था में सूर्य, चन्द्र, अग्नि, शब्द आदि ज्योतियाँ कही ताकि उनके दृष्टान्त से स्वप्न में भी संघात-भिन्न ज्योति का अनुमान हो जाये।।२९।।** राजा के प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने सूर्यादि ज्योतियाँ बतायीं! यह उत्तर लगता अति स्थूल है; राजा इतना भी न समझता रहा हो कि हम सूर्यादि की रोशनी

स्वाप्नदेहव्यवहृतिर्भिन्नज्योतिःपुरःसरा ।
व्यवहारत्वतो जाग्रद्व्यवहारो यथा तथा ।।३० ।।

से चलते-बैठते हैं, यह संभव नहीं। फिर याज्ञवल्क्य ने ऐसा जवाब क्यों दिया? इस पर समझाया कि मुनि का भाव था यह कहने का कि संघात से भिन्न ही ज्योति पुरुष को चाहिये अतः ज्योतीरूप चेतन संघात से स्वतंत्र है। पहले कहा कि सूर्यरूप ज्योतिवाला पुरुष व्यवहार कर पाता है। राजा ने पूछा कि सूर्यास्त के बाद कौन-सी ज्योतिवाला होता है? मुनि ने कहाचाँदरूप ज्योति वाला। फिर पूछा कि जिन रातों को चाँद भी नहीं होता तब किस ज्योतिवाला होगा? कहाअग्निरूप ज्योतिवाला। पूछाआग भी न हो तब? मुनि बोलेतब शब्द ही ज्योति होगा? अंधेरे में एक-दूसरे को दायें-बायें आदि निर्देश देते हैं तो रास्ता पता चल जाता है। राजा ने पूछा कि जहाँ कोई बताने वाला भी न हो वहाँ किस ज्योतिवाला होता है? इस पर मुनि ने 'आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति इति, आत्मनैवाऽयं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' कहा कि आत्मा ही तब ज्योति है। लेकिन ऐसा नहीं कि रवि-सोम-अग्नि-शब्द की परिगणना में अभिप्राय हो, उनका तात्पर्य संघातान्य ज्योति में है। वाक् (शब्द) यद्यपि संघात में ही है तथापि एक व्यक्ति की वाणी दूसरे के लिये ज्योति होती है अतः जिसके लिये ज्योति है उसके तो संघात से अन्य ही है। अत एव सूर्यादि भी तत्तद् देवताओं के संघातरूप होने पर भी यहाँ दृष्टांत लिये गये हैं। अन्ततः याज्ञवल्क्य ने बताया कि आत्मा ही ज्योति है और वह संघात से अन्य है ही। जाग्रत् में निर्णय होने पर स्वप्न के बारे में प्रश्न उठता है कि वहाँ बाहरी प्रकाशादि न होने से किस ज्योति से व्यवहार चलता है? जवाब अनुमान से मिलता है। अनुमान अगले श्लोक में बताना है, उसके लिये ज़रूरी था दृष्टांत प्रसिद्ध करना, वह जाग्रत् में कर दिया ताकि व्यवहार और संघातभिन्न ज्योति की व्याप्ति ग्रहण हो। संघात की दृश्यता को अनुकूल तर्क जानना चाहिये।।२८-९।।

पूर्वसंकेतित अनुमान व्यक्त करते हैं **स्वप्न में होता शरीर-व्यवहार, संघात-भिन्न ज्योति से सम्पन्न होता है, क्योंकि व्यवहार है, जैसे जाग्रत् का व्यवहार।।३०।।** व्यवहार होनायही इसमें हेतु है कि इसे संभव करने वाला प्रकाश देहादि से अन्य हो। चार्वाकादि की सोच पहले ही कदम पर ग़लत दिशा पकड़ती है, इसी से वे संघात या जड प्रकाशों में ही भटकते रह जाते हैं। उपनिषत् ने प्रथमतः ही इस पर ध्यान आकृष्ट किया कि संघातभिन्न प्रकाश चाहिये। पहले भले ही सूर्यादि जड ही प्रकाश संघातभिन्न बताये लेकिन संघातभेद के सहारे सूर्यादि के भी साक्षी-पर्यन्त पहुँचने का मार्ग खुल गया

सुप्तौ च पुनरुत्थानव्यवहारस्य कारणम् ।
अस्ति ज्योतिरिति ज्ञात्वा तद्विशेषं स पृष्टवान् ।।३१।।
स्वप्रकाशस्वरूपत्वात् तद्विशेषो ह्यतिस्फुटः ।
तथाऽप्यविद्यया छन्नः सोऽस्पष्ट इव वर्तते ।।३२।।
एतादृश्या अविद्याया विचारेण निवृत्तये ।
आत्मैव ज्योतिरस्येति प्राह स्वप्नावभासकम् ।।३३।।

एवं जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों के लिये एक नियम हो गया कि सर्वत्र प्रकाश संघातभिन्न ही होता है। चार्वाकादि जाग्रत् में शरीर से बाहरी प्रकाश की ज़रूरत कहेंगे, स्वप्नादि में शरीर के भीतरी प्रकाशों की चर्चा करेंगे! यों उन्हें विभिन्न नियम मानने पड़ेंगे जबकि वेदान्ती एक ही नियम से सर्वत्र व्यवस्था कर रहा है। इस प्रकार जडवादियों का दोष भी व्यक्त हो गया।।३०।।

सूर्यादि के राहित्य में स्वप्न की तरह सुषुप्ति भी होती है अतः उसका प्रकाशक भी समझ लेना चाहिये, इस अभिप्राय से बताते हैं **सोने पर फिर जगने के व्यवहार में कारण बनने वाली भी कोई ज्योति है ऐसा जानकर राजा ने 'वह कौन है' यह पूछा।।३१।। (आत्मरूप) वह खास ज्योति स्वप्रकाश-स्वरूप होने से अतिस्पष्ट होने पर भी अविद्या से ढँकी है अतः अस्पष्ट-सी हो रखी है।।३२।। ऐसी अविद्या की विचार से निवृत्ति के लिये कहा कि स्वप्न का अवभास कराने वाली इस पुरुष की ज्योति आत्मा ही है।।३३।।** 'सुप्तौ' अर्थात् सुषुप्ति में; वहाँ आनंदानुभव और अज्ञानानुभव ये दो अभिज्ञात्मक व्यवहार होते हैं। किं च सुषुप्ति से उठने (जगने) का व्यवहार भी प्रारंभ तो सुषुप्ति में होगा अतः उसके कारणरूप से आत्मज्योति बतायी। राजा इतना समझता है कि कोई प्रकाश अवश्य है लेकिन उसका ठीक-ठीक स्वरूप जानने के लिये प्रश्न किया। यद्यपि सुषुप्ति-प्रकाश आत्मा होने से स्वयं भासमान एवं प्रत्यक् सत्तारूप से स्पष्ट है तथापि क्योंकि अविद्या से आवृत है इसलिये लगता है मानो उसका साफ बोध न हो। अतः प्रश्न संगत है। जाग्रत्-स्वप्न में अज्ञान व अज्ञानकार्य दोनों से ढँका है, सुषुप्ति में कार्य से तो नहीं पर अज्ञान से ढँका ही है। तीनों अवस्थाओं में परिस्थिति वही है कि 'सच्चिदानन्द आत्मा ही मैं हूँ' ऐसा भान नहीं है। आत्म-सम्बन्धी अविद्या विचार से ही दूर होगी। शास्त्र का श्रवणादि विचाररूप ही है, बिना विचार के तो, शास्त्र अनादि काल से है ही, वह हमारा अज्ञान कहाँ दूर कर पाया! अतः अज्ञाननिवृत्ति में विचार ही हेतु है। इसलिये याज्ञवल्क्यने आत्मोपदेश दिया ताकि जनक

भास्यं स्वप्नसुषुप्त्यादि यस्मिन् भाने प्रकल्पितम्।
तद्भानं तत्स्वरूपत्वादात्मशब्देन भण्यते।।३४।।
आत्माऽविद्यां तदुत्थं वा पराग्धीरवगाहते।
प्रत्यग्बुध्यावगाह्योऽत आत्माऽहं भामि केवलः।।३५।।
आत्मैवेत्येवकारेण स्वप्नदृश्येष्वनात्मसु।
ज्योतिष्ट्वशंका व्यावृत्ता वासनामयवस्तुषु।।३६।।
अस्येति वासनारूपो दृश्यो देहादिरुच्यते।
भास्यभासकसंबंधः षष्ठ्योक्तो वासनात्मनोः।।३७।।
ज्योतिष्ट्वं भासकत्वं स्याच्चिदाभासमुखेन तत्।
उपपन्नमसंगस्य भान्वादिवदनुग्रहात्।।३८।।

आत्मा का विचार-दृष्टि से आलोचन कर इस बारे में अविद्या दूर करे। यदि जनक पूर्व ब्राह्मण में निवृत्ताऽविद्य था तो यहाँ भाव है कि जो अन्य साधक यह वेदभाग पढ़े वह विचार में प्रवृत्त हो। अथवा प्रकाशक-सम्बन्धी अविद्या जनक में बची रही, वह निवृत्त हो इसके लिये विचार ज़रूरी मानकर उपदेश दिया, यह भाव है।।३१-३।।

याज्ञवल्क्यवचन समझाते हैं **सुषुप्ति आदि सब भानविषय जिस भान में अध्यस्त हैं वह भान उन सबका स्वरूप होने से 'आत्मा' इस शब्द से कहा गया है।।३४।। बहिर्मुख बुद्धि आत्मा की अविद्या या उससे जन्य को ही ग्रहण करती है। अन्तर्मुख बुद्धि से जो ग्रहण होता है वह अकेला मैं आत्मा प्रकाशमान रहता हूँ।।३५।। 'आत्मा ही' इस 'ही' शब्द से स्वप्न में दृश्य वासनाकार्यरूप अनात्म वस्तुएँ ज्योति होती होंगीयह शंका हटाई।।३६।। 'आत्मा ही इसकी ज्योति है' में 'इस' से वासनाकार्य दृश्यभूत देहादि कहा गया है तथा 'की' से वासना और आत्मा का भास्य-भासकभाव सम्बन्ध कहा गया है।।३७।। 'ज्योति' अर्थात् भासक। चिदाभास द्वारा असंग आत्मा में भासकता संगत है जैसे विद्यमानतामात्र से सूर्यादि में प्रकाशकता समझी जाती है।।३८।।** भानरूप को आत्मा कहा क्योंकि सब भास्यों का, दृश्यों का वही स्वरूप है जैसे रस्सी ही सर्पादि का स्वरूप होती है। भान को भास्य का स्वरूप न मानें तो भास्यभासकभाव संगत नहीं होता यह प्रतिकर्मव्यवस्था के (विषयविषयिभाव के) प्रसंग में विवरणाचार्य आदि ने स्पष्ट किया है। संक्षेप में इतना जान लेना चाहिये कि ज्ञान स्वभाव से निर्विकार (अपरिवर्तनीय) होने पर भी घटाकार-पटाकार सुखाकार-दुःखाकार आदि परिवर्तनों वाला

लग रहा है अतः अवश्य यह भ्रम है अर्थात् घट-सुख आदि का ज्ञान में अध्यास है। अतः यहाँ ज्ञान को घट आदि सब दृश्यों का स्वरूप (अधिष्ठान) कहा। बुद्धि पराक् अर्थात् दृश्य को ग्रहण करे तो अविद्या-तत्कार्य में ही उलझी रह सकती है। आत्मरूप भान को तभी समझ पायेगी जब प्रत्यक् की ओर एकाग्र होगी। स्व से पृथक् को पराक् और स्व को प्रत्यक् कहते हैं। बुद्धि खुद पर केन्द्रित हो तभी अपने वास्तविक तत्त्व को समझ सकती है, यह भाव है। याज्ञवल्क्य को यहाँ 'विचार' शब्द से यह अन्तर्मुखता अभिप्रेत है। वेदांती से अन्यों को 'मैं' का विचार व्यर्थ लगता है, वेदान्ती को 'यह' का विचार व्यर्थ लगता है। मैं का स्वभाव बताया 'केवलः भामि' अकेला भासता रहने वाला। अतः अंतःकरणादि-सहित-रूप को छोड़ उससे रहित साक्षिरूप को आत्मा कह रहे हैं। मुनि ने 'आत्मा ही' यों 'ही' से सभी अनात्माओं को हटाया अतः स्वप्नोत्पन्न सूर्यादि से स्वप्नादि व्यवहार होता है आदि भ्रम दूर हो गये। अन्यथा लगता कि जैसे व्यावहारिक सूर्य से व्यावहारिक घट दीखता है वैसे सपने का घड़ा देखने के लिये सपने का सूर्य चाहिये। 'ही' से यह संभावना कट गयी। अत एव क्षणिक विज्ञान की प्रकाशरूपता का निरास है क्योंकि वह भी अनात्मा है। 'इसकी' शब्द का भाव क्या? जाग्रत् में तो सिर-पैर वाला जीव 'इस' शब्द से समझा था। यहाँ संस्कार से आरोपित देहादि 'इस' से समझने हैं। सपने में अनुभूयमान शरीरादि किस रोशनी से व्यवहार करते हैंयह प्रश्न का अर्थ होने से इसी तात्पर्य से उत्तर है। 'इसकी ज्योति' यों इस और ज्योति का आपसी संबंध 'की' से बताया। वह संबंध यही है कि 'इस'-पदार्थ देहादि भास्य (भानविषय) हैं एवं ज्योति भासक (भानरूप) है। भासकता में भान के प्रति कर्तृत्व कहने को ही है जैसे सूर्य में; सूर्य हैबस इतने से ही वह प्रकाशक अर्थात् प्रकाश *करने* वाला समझा जाता है, ऐसे ही आत्मा है, इतने से ही वह भान *करने* वाला कहा जाता है। जो तो भान कभी हुआ कभी नहीं, किसी के बारे में हुआ, किसी के बारे में नहींइत्यादि परिस्थिति है, वह इसलिये कि विषयभाग में आर्भास का योगदान है : वृत्ति में आभास होने से भान 'होता' है, वृत्ति कभी और किसी के बारे में ही बनती है अतः कभी और किसी का ही भान होता है। स्वयं तो वह सनातन भान है। भानु का अनुग्रह अर्थात् सान्निध्य; इससे अन्य आगन्तुक अनुग्रह ज़रूरी नहीं। यदि आभास के लिये दृष्टांत चाहिये तो भानु का अनुग्रह अर्थात् हमारी चक्षु पर उनकी कृपा, जिसके रहते हम देखते हैं, जिसके बिना नहीं देखते। घटादि को भानु अपनी रोशनी से भी प्रकाशित करते हैं और अपनी कृपा द्वारा हमारी नेत्रज्योति से भी प्रकाशित करते हैं, तब घटादि का भान होता है। नेत्र द्वारा भान में उनका अनुग्रह हेतु है।

भान्वादयः प्रभाद्वारा चक्षुराद्यनुगृह्णते।
तथैवात्मानुगृह्णीते चिदाभासेन शेमुषीम्।।३९।।
अविद्यान्वयवद्बुद्धेश्चिदाभासान्वयस्तथा[1]।
अस्ति तद्व्यतिरेकेण बुद्धेः परिणतिर्वृथा।।४०।।
चिदाभासविहीनस्य चित्तस्य परिणामतः।
न किंचिद्भासते वस्तु साभासा धीस्ततः सदा।।४१।।
साभासपरिणामेन दुःख्यस्मीत्यपि धीर्भवेत्।
तथा साभासमज्ञानं न वेद्मीत्यनुभूयते।।४२।।

ऐसे ही अधिष्ठान-विधया आत्मा विषय-सम्बद्ध है पर जब चित्त में पड़े आभास से भी संबंध करे तब विषयभान होता है। इस प्रकार 'आत्मैवास्य ज्योतिः' का स्पष्टीकरण हुआ।।३४-८।।

उक्त व्यवस्था व्यक्त करते हैं **सूर्य आदि प्रभा के माध्यम से चक्षु आदि पर अनुग्रह करते हैं, इसी प्रकार आत्मा चिदाभास के माध्यम से बुद्धि पर अनुग्रह करता है।।३९।।** सूर्यादि अपनी प्रभा (रोशनी) से चीज़ों को घेरते हैं तभी हमारी आँख उन्हें देख पाती है अतः सूर्यादि का चक्षु पर अनुग्रह प्रभा द्वारा होने वाला बताया। इसी तरह आत्मा बुद्धि में जो अपना आभास डालता है उसी से वह बुद्धि पर अनुग्रह करता है क्योंकि उस चिदाभास के रहते ही बुद्धि विषयों को जान पाती है। साक्षात् तो आत्मा अनुग्रह आदि कुछ कर नहीं सकता क्योंकि निर्विकार है लेकिन बुद्धि में प्रतिबिम्बित हो जाने से वह सब कुछ कर लेता है। प्रतिबिम्ब कोई 'वस्तु' न होने से इसे 'आभास' कहा एवं इसके द्वारा करना भी मिथ्या ही रहा।।३९।।

बुद्धि में आभास उपपन्न करते हैं **अविद्या-सम्बन्ध की तरह बुद्धि से चिदाभास का सम्बन्ध है। आभास के बिना बुद्धि का परिणाम निष्फल है।।४०।। चिदाभासरहित चित्तविकार (वृत्ति) से किसी वस्तु का भान नहीं होता, इसलिये बुद्धि हमेशा आभासयुक्त रहती है।।४१।। आभासयुक्त वृत्ति से 'दुःखी हूँ' यह भी अनुभव होता है और आभासयुक्त अज्ञान का अनुभव 'नहीं जानता' के रूप में होता है।।४२।।** अविद्यासम्बन्ध अर्थात् अविद्या से आत्मा का सम्बन्ध। जड अविद्या से कुछ होता नहीं अतः उसमें जो आत्माभास है उसी के चलते संसार आदि परिणाम, व्यवस्था आदि संभव है। इसी तरह बुद्धि जड है, विषय भान में स्वयं असमर्थ

---

१. तथेत्यत्र सदेति सारे।

अन्यथात्मनि कौटस्थ्याद्बुद्धौ चैतन्यवर्जनात्।
सर्वोऽपि व्यवहारः स्यादन्धकारप्रनृत्तवत्।।४३।।

है, आत्माभास के प्रभाव से ही भान आदि सब कर पाती है। किं च बुद्धि अविद्याकार्य होने से उसमें अविद्या अनुस्यूत है ही, इसी तरह आत्मा अधिष्ठान होने से उसका भी बुद्धि में प्रवेश आभासरूप सम्बन्ध, हमेशा हैयह 'अविद्या-सम्बंध' का भाव है। सार और तदनुसारी मुत्तुशास्त्री का 'सदा' पाठ इस पक्ष में और संगत है। जैसे घड़े में मिट्टी ही नहीं, घटहेतु आकाश-पर्यन्त सभी की अनुवृत्ति मान्य है वैसे परिणामी और अधिष्ठान दोनों कारण बुद्धि में अनुवृत्त कहे गये हैं। आभास इसलिये स्वीकार्य है कि वह न हो तो वृत्ति निष्प्रयोजन हो जायेगी, वृत्ति बनी इसमें ही कोई प्रमाण नहीं होगा! विषय-व्यवहार होने से ही वृत्ति मानी जाती है, जब आभास के अभाव में व्यवहार न होगा तो वृत्ति हुई यही क्यों कहा जायेगा! हमेशा साभास रहने से ही विज्ञानवादी को बुद्धि में ज्ञानरूपता का भ्रम हुआ। जैसे बाह्य घटादि का भान साभास वृत्ति से वैसे 'मैं दुःखी हूँ' आदि भान भी दुःखाकारवृत्ति में चिदाभास के कारण ही होते हैं। 'नहीं जानता' यह अनुभूति भी अज्ञान में पड़े आभास के ही कारण है, अन्यथा चैतन्य तो जाननारूप ही है! अतएव दुःखी अनुभव-दृष्टांत लिया; सुखी-अनुभव तो कथंचित् आत्मसुख से भी उपपन्न हो जाता!।।४०-२।।

पूर्वदर्शित रीति मानना ज़रूरी बताते हैं **क्योंकि आत्मा में अपरिणामिता है एवं बुद्धि जड है इसलिये यदि पूर्वोक्त ढंग से दोनों का सम्बन्ध न हो तो सारा व्यवहार अंधेरे में नाच की तरह हो जायेगा।।४३।।** व्यवहार के लिये परिणाम (बदलाव) चाहिये जो आत्मा में असंभव और ज्ञान चाहिये जो बुद्धि में असंभव, लेकिन आभास द्वारा दोनों का संबंध हो जाने से आत्मा में परिणाम और बुद्धि में ज्ञान दोनों सुसंगत हो जाते हैं। इस तरह न हो तो जैसे अंधेरे में नाच किसी को मालूम नहीं चलेगा वैसे कोई व्यवहार किसी को मालूम नहीं चलेगा। इसी से आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व उपपन्न किया गया है। फिर भी आत्मा वास्तव में अकर्त्ता-अभोक्ता बना रहता है। चिद्रूप से अकर्तादि एवं आभासरूप से कर्त्ता आदियह व्यवस्था है। अत एव चिद-चिद् ग्रंथिरूप अहंकार रहते ही कर्तृत्वादि है, उसके बिना नहीं। आत्मा को अध्यात्म-अधिभूत व्यवहार प्रतीयमान है अतः अंधेरे में नाच-सी स्थिति न होने से उक्त व्यवस्था ठीक है।।४३।।

आत्मा को ज्योति कहने पर प्रश्न होता है कि फिर वह सूर्यादि ज्योतियों की तरह

चिदाभासानुग्रहोऽत्र ज्योतिष्ट्वं भानुवन्मतम्।
न तु रव्यादिवच्चक्षुर्ग्राह्यभास्वररूपता।।४४।।
आदित्यादिरनात्माऽर्थः सिध्यत्यक्षादिमानतः।
मात्रादिसिद्धिदस्यास्य स्वतः सिद्धेर्न मेयता।।४५।।
नाप्रमेयत्वमात्रेण शशशृंगादितुल्यता।।
अनन्यानुभवेनास्य विशदं स्फुरणं यतः।।४६।।

दीखता क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हैं **आत्मा के सन्दर्भ में ज्योतीरूपता यही है कि वह ज्ञान का आभासरूप अनुग्रह करता है जैसे सूर्य (चक्षु पर अनुग्रह करता है)। सूर्यादि की तरह आँख से दीखने वाली चमक आत्मा में हो, यह बात नहीं।।४४।।** अँधेरे में भी आदित्य का हमारी आँखों पर अनुग्रह रहने मात्र से जैसे बिना रोशनी जलाये घड़ा दीख नहीं सकतायह नहीं कह सकते कि आँख पर अनुग्रह करते हुए सूर्य मौजूद है तो उसी की रोशनी से घड़ा देख लोवैसे चैतन्यरूप आत्मा में चक्षुर्ग्राह्यता की आपत्ति नहीं कर सकते। यौक्तिक दृष्टि से, यदि अनुमान करें कि आदित्य की तरह ज्योति होने से आत्मा चक्षुर्ग्राह्य है; तो प्रमेयत्व उपाधि है : आदित्य प्रमेय है, आत्मा प्रमेय नहीं अतः आदित्य चक्षुर्ग्राह्य होने पर भी आत्मा चक्षुर्ग्राह्य नहीं। वस्तुतस्तु ज्योति, प्रकाश आदि शब्द शक्तिवृत्ति से चाक्षुष रोशनी को कहते हैं, लक्षणा से ज्ञान को एवं आत्मा को ज्ञान के अभिप्राय से ज्योति कहा जा रहा है अतः ये शंका-समाधान विशेष महत्त्व नहीं रखते।।४४।।

आत्मा की ज्योतीरूपता होने पर भी प्रत्यक्षादि से पता न चलना उपपन्न करते है **सूर्यादि अनात्म पदार्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध होते हैं लेकिन प्रमाता आदि को भी सिद्ध करने वाले इस आत्मा को प्रमाणों से सिद्ध नहीं कर सकते, यह स्वयं ही सिद्ध है।।४५।। अप्रमेय होने मात्र से इसे खरगोश के सींग-सा असत् नहीं कह सकते क्योंकि किसी अन्य के बिना होते रहने वाले अनुभव-रूप से इसका स्पष्ट स्फुरण है।।४६।।** सूर्यादि बिम्ब स्थूल होने से, परिच्छिन्न होने से, दृश्य होने से साफ ही अनात्मा हैं अतः उन्हें प्रत्यक्षादि प्रमाण के बल पर ही स्वीकारा जाता है यह उचित है लेकिन आत्मा यों प्रमाण पर निर्भर सिद्धि वाला इसलिये नहीं कि प्रमाण की भी सिद्धि करने वाला आत्मा है! असिद्ध रहकर तो आत्मा को सिद्ध करेगा नहीं और सिद्ध होने के लिये उसे निर्भर आत्मा पर ही रहना है। इसलिये आत्मसिद्धि से तो बाकी सब सिद्ध हो सकता है लेकिन और कोई आत्मा को सिद्ध नहीं कर सकता।

स्यात्स्वप्नव्यवहारोऽयमात्मना ज्योतिषा दृशा।
देहादिव्यतिरिक्तत्वमेवं सिद्धं चिदात्मनः।।४७।।
आत्मैवास्येति देहादेः स्वरूपत्वेन चिच्छ्रुता।
चितो देहादिभेदोऽपि भान्वादिवदुदीरितः।।४८।।

जैसे प्रमाण वैसे प्रमाता भी आत्मा से सिद्ध होने के पश्चात् ही प्रमा के प्रति कर्त्ता बनेगा। इसी तरह प्रमेय क्योंकि प्रमाण-व्यापार से पूर्व अज्ञात रहता है इसलिये वह भी आत्मा से ही सिद्ध है, अज्ञाततया साक्षी से भास्य होने से ही मान्य है। न्यायरत्नावली में प्रमानिवर्त्याऽज्ञानविषयत्व को प्रमेयत्व मानकर (पृ. २८१ प्रक. द्वा.) भी यही व्यक्त किया। इस प्रकार प्रमाता आदि सबको सिद्ध करने वाला इनसे कैसे सिद्ध हो! अत एव इसे स्वतः सिद्ध, अप्रमेय स्वीकारते हैं। फिर भी अलीक, असत् इस लिये नहीं कि सबको सदा प्रत्यग्रूप से भास रहा है। शशशृंग, खरगोश के सींग भी अप्रमेय, प्रमाण-अगोचर हैं लेकिन इसलिये कि वे हैं ही नहीं जबकि आत्मा अप्रमेय है क्योंकि प्रमाणादि का भी साधक है, इसलिये दोनों में महान् अंतर है। बौद्धों का अनात्मवाद इसी भूल से है कि आत्मा प्रमेय नहीं तो वे समझते हैं कि सत् भी नहीं! प्रमेय मानने से मिथ्यात्व और न मानने से असत्त्वये दो पक्ष मानकर उन्हें आत्मा असत् जँचा। वेदान्त में इसी भ्रम से बचाने के लिये स्वप्रकाशता, स्वतःसिद्धता का विस्तृत वर्णन है। सभी कुछ जिस पर निर्भर होकर सिद्ध है उसे स्वयंसिद्ध स्वीकारने के सिवाय और कोई तरीका नहीं कि बौद्धों की गलती से बचा जा सके।।४५-६।।

यहाँ तक के उपदेश का संक्षेप करते हैं **स्वप्न का सर्वानुभूत व्यवहार दृग्रूप आत्मज्योति से होता है अतः चिद् आत्मा देहादिसंघात से पृथक् है यह सिद्ध हुआ।।४७।।** प्रारंभ में कहा था कि व्यवहार-साधक प्रकाश देहादि से स्वतंत्र होता है, सूर्यादि उदाहरणों से यह निश्चित किया था। स्वप्न (और सुषुप्ति) का व्यवहार जब आत्मप्रकाश से सम्पन्न होने वाला निर्णीत हुआ तब पूर्वोक्त नियम से सिद्ध हो गया कि आत्मा संघात से स्वतंत्र है। यहाँ स्वप्न का ही नाम लिया क्योंकि सुषुप्ति में व्यवहार यद्यपि समझाया था (श्लोक. ३१) तथापि इतना प्रसिद्ध नहीं है।।४७।।

इस पर जनक का सवाल है 'कतम आत्मा?' कि आत्मा है कौन-सा? इसे समझाते हैं **पहले 'आत्मैवास्य' द्वारा देहादि का स्वरूप चेतन को बताया और अब चेतन को सूर्यादि की तरह देहादि से भिन्न भी बता रहे हैं!।।४८।।** **ये दोनों पहले-पीछे की बातें आपस में विरुद्ध हैं, यह विचारकर भूपति ने पूछाआत्मा**

पूर्वोत्तरविरुद्धार्थं मत्वा पप्रच्छ भूपतिः ।
बहवोऽर्थाः समीक्ष्यन्त आत्माऽत्र कतमो वद ।।४९ ।।
पिंडस्तावदिहैकोऽर्थो द्वितीयो लिंगसंज्ञितः ।
चिद्‌बिम्बिताऽवधिश्चान्यश्चतुर्थो नेति नेति यः ।।५० ।।

रूप से बहुत चीज़ें अनुभव में आती हैं, इनमें से आपको संमत आत्मा कौन है यह बताइये ।।४९ ।। श्लोक ३४ में देहादि का स्व-रूप होने से भान को आत्मा कहा था जिससे लगता है कि देहादि से आत्मा अलग नहीं होगा। फिर अंत में उसे संघात से अलग बता दिया! अतः विरोध लगता ही है। यद्यपि विचार से तो सर्पादिका स्व-रूप जैसें रस्सी वैसे देहादि का स्वरूप आत्मा बताया था अतः वास्तविक भेद ही वहाँ भी समझ आता है तथापि जैसा सुनायी दे रहा है वैसा अर्थ मानकर प्रश्न है। सारा संसार ब्रह्मरूप तथा ब्रह्म संसारातीतजैसे ये दोनों वाक्य; या मोक्ष नित्यप्राप्त है एवं मोक्षार्थ ब्रह्मज्ञान का प्रयास कर्त्तव्य हैये दोनों वाक्य विरुद्ध लगते हैं, वैसे राजा को मुनिवचन भी लगे। अतः निर्णय के लिये जिज्ञासा की। उषस्त चाक्रायण एवं कहोल कौषीतकेय (३.४ एवं ५) भी इसी तरह आत्मनिर्धारण पूछ चुके हैं। उषस्त को समझाया था कि प्राणादि से व्यवहार करने वाला, दृष्टि आदि का द्रष्टा आदि आत्मा है। कहोल को बताया था कि छह ऊर्मियों से अतीत आत्मा है। यहाँ भी समझायेंगे। आत्मवस्तु दुर्बोध होने से पुनः पुनः उसका स्पष्टीकरण उपनिषत् में आवश्यक पड़ता है एवं इस अभ्यासरूप चिह्न से यह भी निर्णय होता है कि आत्म-प्रतिपादन उपनिषत् को तात्पर्यतः अभिप्रेत है।।४८-९।।

राजा को बहुतेरे आत्मा कौन-कौन से लगे यह बताते हैं **पहले तो शरीर एक चीज़ जो आत्मा कहलाती है। दूसरा सूक्ष्म शरीर है जो आत्मा कहा जाता है। तीसरा है अंतःकरण में प्रतिबिम्बित होने वाला चैतन्य एवं चौथा आत्मशब्दार्थ है जिसे मुनि ने 'नेति नेति' कहा था।।५०।।** स्थूल शरीर आत्मा सर्वत्र प्रसिद्ध है। काम, क्रोध, सुख आदि व्यवहार, मरण आदि का संदर्भ हो तो सूक्ष्म शरीर आत्मा कहा जाता है। इनमें समष्टि-व्यष्टि दोनों स्थूल-सूक्ष्म शरीर समझ लेने चाहिये। तीसरा आत्मा शास्त्रीय है जिसे चिद्बिम्बितावधि कहा। यह शब्द वार्तिक में ४.३.२८९ है, आनंदगिरि स्वामी ने अर्थ किया है अन्तर्यामी, साक्षी। (मुत्तुशास्त्री ने चिद्‌बिम्बतावधि पाठ माना, निर्णयसागर, पुणे एवं मद्रास संस्करणों में भी वैसा माना, लेकिन वार्तिक एवं उसकी टीका के अनुरोध से '...बिता...' पाठ स्वीकारा गया है।) बिम्बित मायने प्रतिबिम्बित होने वालों की सीमाभूत चित्यह शब्दार्थ है। चित् अविद्या में, साविद्यचित् अंतःकरण में,

देहादिभेदमाश्रित्य योऽयमित्युत्तरं जगौ।
अधिष्ठानारोप्यभाव आत्माऽस्येति विवक्षितः।।५१।।
विचारदृष्ट्याऽधिष्ठानमेवास्याध्यस्तवस्तुनः।
तथापि जाड्यचैतन्यभेदोऽप्यस्तीह लौकिकः।।५२।।
एवं सत्यविरोधः स्याद्भेदाभेदार्थवाक्ययोः।
योऽयमित्युत्तरे शब्दद्वयमेवं विविच्यताम्।।५३।।

अंतःकरण-प्रतिबिम्बित इंद्रियों में इत्यादि परंपरा के अनुरोध से अवधि या सीमा चित् को कहा। चौथा है जो बिम्बित भी नहीं होता, व्यवहार से परे है। इनमें से ज्योतीरूप कौन है यह विचारणीय है।।५०।।

याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' कि प्राणों से अतिरिक्त जो विज्ञानप्राय, हृदय के अंदर ज्योतीरूप से भासमान, उसे आत्मा कहा। इसे स्पष्ट करते हैं **देहादि विभिन्न उपाधियों का सहारा लेकर 'जो यह' आदि उत्तर मुनि ने दिया। 'आत्मैवाऽस्य ज्योतिः' आदि में जो संसार का स्वरूप आत्मा को कहा था, वह यह बताने के अभिप्राय से कि आत्मा अधिष्ठान है, संसार आरोप्य (अध्यस्त) है।।५१।। विचार की दृष्टि से आत्मा अध्यस्त वस्तुओं का अधिष्ठान ही है फिर भी जडता-चेतनता का लोकसिद्ध भेद भी यहाँ (आत्मा और संसार में) है।।५२।। इस प्रकार समझ लेने पर आत्मा का देहादि से भेद एवं अभेद बताने वाले वाक्यों का आपसी विरोध समाप्त हो जाता है। 'जो यह' इस उत्तर में आये दोनों शब्दों का इस ढंग से विचार किया जाये :।।५३।।** शंका थी कि आत्मा देहादि से भिन्न भी कहा और पहले उनका स्वरूप अर्थात् अभिन्न भी कहा था जिससे विरोध लगता है। समाधान किया कि स्वरूप उसे अधिष्ठान की दृष्टि से कहा था अतः वहाँ भी देहादि को अध्यस्त होने से आत्मा से अतिरिक्त ही बताया था। उपदेश तो उपाधियों के सहारे ही होगा अतः यह सावधानी हमेशा चाहिये कि न उन्हें सत्य समझें और न उनकी असत्यता से आत्मवस्तु को ही असत्य समझ लें! बौद्धादि ने यही किया, उपाधि निषेध करते-करते मान लिया कि कुछ भी नहीं है। सर्प की रज्जुरूपता केवल विचारदृष्ट्या है, प्रतीतिदृष्ट्या नहीं अतः प्रतीति के स्तर पर भेद मानकर व्यवहार संगत है। अतः जड-चेतन के विवेक का स्थान यथावत् रहता है, व्यवहार में सांकर्य आदि का प्रसंग नहीं आता। अनुभवी का विचार परिपक्व होने से भेदव्यवहार भी उसकी वास्तविकता को तिरोहित नहीं होने देता जैसे गहना

यः पृष्टः स पराग्वृत्तिप्रमामेयातिलंघितः।
प्रत्यङ्मुखेन मानेन त्वयमित्युपदिश्यते।।५४।।
परांचीति च मंत्रोक्तिः साक्षादात्मेति च श्रुतिः।
पराङ्मानप्रमेयत्वमात्मनो विन्यवारयत्।।५५।।

व्यवहार सुनार के लिये सोना छिपने नहीं देता। जब तक परिपाक न हो तब तक सायास विचार में तत्पर रहना ही उचित है, भेद-संस्कार धूमिल करते जाना ही श्रेष्ठ है। इसलिये पूर्वापर विरोध उक्त उपदेश में असंभावित है।।५१-३।।

विचार का ढंग ही समझाते हैं **'यः' (जो) अर्थात् जिसके बारे में पूछा गया था वह ऐसी वस्तु है जो परागर्थों में बर्तने वाली प्रमा से प्रमेयों को लाँघकर रहती है। 'अयम्' (यह) अर्थात् जिसे प्रत्यक् की ओर उन्मुख प्रमाण से समझाया जाता है।।५४।।** प्रमाण प्रायः पराग्वृत्ति होते हैं, पराक् अर्थात् दृश्य अर्थों में ही बर्तते हैं, उन्हीं के बारे में कुछ बताते हैं। ऐसे प्रमाणों से जो कुछ पता चलेगा वह उपाधि ही है जिसे लाँघकर परे रहने वाला आत्मा है, उपाधि से अस्पृष्ट है। 'यः' या 'जो' दूरवर्त्ती को कहते हैं, इस भाव से आत्मा को 'यः' कहा। प्रकृत के भाव से भी उसे 'यः' कहा क्योंकि पृष्ट होने से वही प्रकृत है, उसी का प्रकरण चल रहा है। जब प्रमाण को प्रत्यङ्मुख अर्थात् प्रत्यग्भूत आत्मा की ओर एकाग्र करते हैं तब 'अयम्' यह, सन्निहितरूप से आत्मा समझ आता है। आत्मा प्रमाणविषय तो नहीं बनता लेकिन प्रत्यङ्मुख, अंतर्मुख बनाना ही सबसे कठिन है। हम संसार में दूर से दूर, कठिन से कठिन खोज के लिये जाने को तैयार रहते हैं, इस प्रत्यग्भूत आत्मस्वरूप को खोजने की सोच ही नहीं पाते। कारण है कि हम विवेक-वैराग्य की कमी से आत्मबोध का महत्त्व नहीं समझ पा रहे। संसार में उपलब्धियों को सार्थक मान रहे हैं, संसार-समाप्ति की सार्थकता नकार रहे हैं। कीचड़ में फँसे व्यक्ति को वहीं रहने देकर भोजन पानी पहुँचाना बेहतर है या कीचड़ से निकाल बाहर करना? सांसारिक उपलब्धियाँ फँसे रहने की तरह तथा मोक्ष बाहर निकलने की तरह है। कीचड़ में रुचि हो जाये तो जैसे व्यक्ति निकलना न चाहे वैसे हम संसार से बहिर्भूत होना नहीं चाह रहे। इसलिये विवेक-वैराग्यपूर्वक अन्तर्मुखता उपजानी चाहिये।।५४।।

आत्मा को 'यः' 'अयम्' कहना वेदवाक्यों से समर्थित करते हैं **'इन्द्रियाँ पराग्दर्शी हैं' यह मंत्र में कहा, 'अव्यवहित वस्तु आत्मा है' यह भी वेदवचन है। इस प्रकार वेद ने बताया है कि आत्मा बहिर्मुख प्रमाणों से नहीं समझा जा सकता।।५५।। कुम्हार द्वारा जैसे घड़ावस्तु प्रत्यक्ष देखी जाती है वैसे**

कुंभकारेण कुभार्थो यथा प्रत्यक्ष ईक्ष्यते।
विज्ञानेन तथा प्रत्यङ्ङात्माकारेण गृह्यते।।५६।।
अयमित्यभिधायोग्यो लोके देहोऽपि वीक्ष्यते।
विज्ञानमय इत्युक्त्या स्थूलदेहो निवर्त्यते।।५७।।

आत्माकार बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान से प्रत्यग्वस्तु ग्रहण की जाती है।।५६।। 'इंद्रियाँ' इत्यादि कठोपनिषत् (४.१) तथा 'अव्यवहित' आदि बृहदारण्यक (३.४.१) के वचन हैं जिनका अनुभूतिप्रकाश अध्याय ११ श्लोक ६६ आदि तथा अध्याय १७ श्लोक ७१ आदि में विचार हो चुका है। साक्षात् अपरोक्ष होने से परागर्थक प्रमाणों का अविषय हैयह वेद का अर्थ है। जैसे उसे अविषय कहा, वैसे उसे शास्त्रादि द्वारा समझने लायक भी कहा। वहाँ तात्पर्य है कि बुद्धि जब आत्मा का आकार ग्रहण करती है तब आत्मसम्बन्धी अज्ञान दूर हो जाने से आत्मा जैसा है वैसा प्रकट हो जाता है। निर्णयसागर में 'ध्याकारेण', पुणे संस्करण में भी 'ध्याकारेण' पाठ है; मुत्तुशास्त्री का 'विज्ञानेन' पाठ है, वार्तिकसार में 'धीज्ञानेन' पाठ है। वार्तिक में (४.३.३०२) 'विज्ञानेन' पाठ है, आनन्दगिरि टीका में 'आत्माकारेण विज्ञानेनेति सम्बन्धः' व्याख्या है। अतः अनुभूतिप्रकाश में भी विज्ञानेन पाठ उचित है। प्रायः विज्ञान कहते हैं अनुभव को। बुद्धि जब अपरोक्ष विषय का आकार लेती है तब उस विषय का अनुभव होता है अतः जैसा बुद्धि का आकार वैसा अर्थात् उस आकार का अनुभव हो जाता है। घड़ा प्रत्यक्ष रहते इंद्रिय द्वारा बुद्धि घड़े के आकार की बने तो घड़ा प्रत्यक्ष ग्रहण होता है; आत्मा स्वभाव से सदा प्रत्यक्ष है, उसके आकार की बुद्धि अर्थात् 'मैं' ऐसी वृत्ति, इसके माध्यम से आत्मा का अपरोक्ष ग्रहण हो जाता है। वृत्ति न रहते भी आत्मा अपरोक्ष होने के बावजूद उसका ग्रहण नहीं होता। अतः वृत्ति का उपयोग है। जब तक अन्तःकरण आदि उपाधियों से एक-मेक समझा है तब तक ऐसा ही बुद्धि का आकार बनकर ऐसे ही आत्मा का ग्रहण होता है, जब विवेकपूर्वक महावाक्य सुनते हैं तब अखण्ड तत्त्व का ग्रहण होता है। किंतु ग्रहण आत्मा का प्रत्यग्रूप से होता है अतः उसे 'अयम्' कहना बनता है।।५५-६।।

'योऽयम्' के बाद 'विज्ञानमयः;' कहा, उसका उपयोग बताते हैं **'यह' ऐसा कहलाने लायक (आत्मा) शरीर भी लोक में देखा जाता है (अतः) 'विज्ञानमय' यह कहने से स्थूल शरीर की अविवक्षा प्रकट की जा रही है।।५७।। 'जिससे सब कुछ जाना जाता है' इस व्युत्पत्ति से विज्ञानशब्द से बुद्धि कही। विज्ञानमयता**

विज्ञायतेऽनेन सर्वमिति विज्ञानशब्दतः।
धीरुक्ता तन्मयत्वं तु तत्प्राचुर्यं विवक्षितम्।।५८।।
आचख्युर्मयटं केचिद्विकारार्थे न तच्छुभम्।
अनिर्मोक्षो विकारार्थे प्रायोऽर्थस्तूपपद्यते।।५६।।

तो विज्ञान की प्रचुरता (अधिकता) बताना इष्ट है।।५८।। स्थूल शरीर लोकसिद्ध आत्मा है, वह 'अयं' (यह) भी कहा ही जाता है, वही यहाँ न समझ लिया जाये इसलिये 'विज्ञानमय' कहा। स्थूल देह अन्नमय है, विज्ञानमय तो है नहीं, अतः उसकी व्यावृत्ति हो गयी। 'विज्ञानमय' में विज्ञान-शब्द बुद्धि के लिये है, 'मयट्' प्रत्यय प्राचुर्य या बहुलता बताने के लिये है; इस प्रकार 'विज्ञानमय' का अर्थ वह आत्मा है जिसके अनुभव में बुद्धि ही प्रधान बनी हुई है। बुद्धिरूप उपाधि से आत्मा अविविक्त है अतः हम आत्मा को समझते हैं तो उसमें बुद्धि ही ज़्यादा दीखती है। जैसे भोजन में घी ज़्यादा हो जाये तो घृतमय भोजन कहते हैं क्योंकि बाकी स्वाद गौण और घीका स्वाद प्रधान होता है, वैसे विज्ञानमय में विज्ञान मायने बुद्धि की खास उपलब्धि है, निर्विकार सच्चित् गौण हो रखा है। लोक में प्रत्यक्ष है कि बिना रोशनी के कोई रूप नहीं दीखता लेकिन हम रूप के प्रति सजग रहते हैं, रोशनी को महत्त्व नहीं देते; ऐसे ही बुद्धि से एकमेक तो स्वयं को स्पष्ट जानते हैं, उससे स्वतंत्र अपना रूप महत्त्व का नहीं समझते।।५७-८।।

'मयट्' प्रत्यय का प्राचुर्य अर्थ ही यहाँ उपपन्न है यह स्पष्ट करते हैं **कुछ लोग इस मयट् को विकारार्थक समझाते हैं लेकिन वह ठीक नहीं क्योंकि विकाररूप अर्थ स्वीकारने पर मोक्ष असंभव हो जायेगा। 'प्रायः' अर्थात् प्राचुर्य अर्थ तो संगत है।।५६।।** 'विज्ञान' से परमात्मरूप विज्ञान अभिप्रेत मानकर 'परमात्मा का विकार जीव है' ऐसा 'विज्ञानमय' शब्द का भाव कुछ व्याख्याताओं को अभीष्ट है किंतु जीव को यदि विकार मानें तो मोक्ष नहीं हो पायेगा, कथंचित् कुछ निमित्तादिवश विज्ञानरूपता आयी भी तो क्योंकि विज्ञान (परमात्मा) विकारी वस्तु (परिवर्तनशील) माना गया इसलिये पुनरपि वह जीवाकार में विकृत हो जायेगा। इसलिये मयट् को कार्यार्थक और विज्ञान को परमात्मार्थक न मानकर विज्ञान को बुद्धिरूप एवं मयट् को प्राचुर्यार्थक मानना ही सारे श्रुतिप्रसंगों के अनुकूल अतः उपपन्न है।।५६।।

विज्ञानमय कहने का और भी भाव बताते हैं **जैसे चंद्र से सम्बद्ध ही राहु अनुभव किया जाता है वैसे बुद्धिरूप विज्ञान से सम्बद्ध ही प्रत्यग्वस्तु का अनुभव होता**

बुद्धिविज्ञानसंपृक्तश्चन्द्रसंसक्तराहुवत् ।
प्रमीयते ततः प्रत्यग्विज्ञानमय उच्यते ।।६०।।
द्रष्टृत्वाद्यभिसंबंधः कारकस्यापि सर्वदा ।
धीविज्ञानकृतोऽतोऽपि विज्ञानमय उच्यते ।।६१।।

है इसलिये उसे विज्ञानमय कहा है ।।६०।। हमेशा अकारक रहने पर भी आत्मा का द्रष्टृत्व आदि से सम्बन्ध बुद्धिरूप विज्ञान के कारण होता है, इसलिये भी आत्मा विज्ञानमय कहा जाता है ।।६१।। अन्य ग्रहों की तरह राहु स्वतः दीख नहीं सकता; चन्द्र-सूर्य का जब ग्रास करता है तभी दीखता है, इसी तरह आत्मा का अनुभव तभी हो जब वह बुद्धि से जुड़े, बिना बुद्धि से जुड़े आत्मा 'का' अनुभव होता नहीं। यों, बुद्धि पर निर्भर उसका अनुभव होने से आत्मा को बुद्धिमय या विज्ञानमय कहना बन जाता है। शुद्ध आत्मा ज्ञान का विषय हो नहीं सकता। यद्यपि चंद्रादि-संबद्ध ही मिलता है तथापि राहु को चन्द्रमात्र नहीं कह सकते, चन्द्र से स्वतंत्र ग्रह है, उसकी गति आदि पता है तभी ग्रहणादि के काल का पहले से निर्णय होता है। इसी प्रकार बुद्धि से स्वतन्त्र आत्मा भी मान्य है, श्रुति एवं अनुमान उसे निश्चित करते हैं लेकिन उसका अनुभव बुद्धिवृत्ति से युक्त स्थिति में ही होगा, अन्यथा नहीं। असंग होने पर भी आविद्यक, मायिक सम्बन्ध से आत्मा व बुद्धि का मेल हो जाता है यह आत्मानुभव की अन्यथानुपपत्ति से स्वीकार है। एक और हेतु है आत्मा को विज्ञानमय कहन में : आत्मा निर्विकार अतः कारक (क्रिया-सम्बद्ध) नहीं हो सकता जबकि हमें आत्मा (मैं) की प्रतीति होती है 'जानने वाला' के रूप में। जानने वाला अर्थात् जानना-क्रिया का कर्त्तारूप कारक। यह अनुभव संभव बनाने वाला है बुद्धिरूप ज्ञान; बुद्धि आत्मप्रभा स्वयं में ग्रहण कर 'ज्ञान' बन जाती है, बुद्धिरूप अर्थात् वृत्तिरूप ज्ञान तो जन्मादि वाला अतः क्रियात्मक है; इस प्रकार बुद्धि के ज्ञानकर्तृत्व का बिम्बभूत आत्मा पर आरोप होकर 'मैं जानने वाला' यह अनुभव संभव हो जाता है। 'मैं' वस्तुतः सिर्फ ज्ञान है, ज्ञानवान् नहीं; बुद्धि वस्तुतः 'मैं' नहीं है; फिर भी मैं और बुद्धि एकमेक हो जाने से 'मैं' 'जानने वाला' हो जाता हूँ। क्योंकि विज्ञानरूप बुद्धि के प्रभाव से ही आत्मा की ज्ञातारूप से उपलब्धि संगत है इसलिये आत्मा को विज्ञानमय कहना ठीक है। रहस्य याद रखना चाहिये कि ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है, बुद्धि नहीं; उत्पन्न आदि होने वाली बुद्धिवृत्ति ही है, आत्मा नहीं; इनके अन्योन्याध्यास से आत्मा में ज्ञातृत्व हो जाता है। अतः 'धीविज्ञानकृत' आत्मरूप ज्ञान नहीं वरन् उसका ज्ञातृत्वादि ही है। ज्ञाता अत एव चिदचिद्ग्रंथि या अहंकार है। इस

सर्वार्थकारणं बुद्धिर्द्वारमात्रं ततोऽपरम्।
इन्द्रियं तन्मयस्तस्माच्चिदाभासैकवर्त्मना।।६२।।
प्राणा बुध्यविनाभूता इति प्राणमयोऽप्यतः।
प्राणात्मवादः संप्राप्तः प्राणेष्विति निवार्यते।।६३।।
दशेन्द्रियाणि मरुतः पंच च प्राणशब्दिताः।
प्राणेषु योऽर्थोऽनुगतः स आत्मेत्यवधार्यताम्।।६४।।

'मैं' को अनिर्वाच्य अस्तित्व वाला न मानने पर सांख्यादिवाद प्रसक्त होता है पर वेदान्ताचार्यों ने इसे मिथ्या माना है अतः सारा शास्त्रीय व लौकिक व्यवहार तथा मोक्ष भी संगत है।।६०-१।।

जैसे बुद्धि से जुड़ा ज्ञाता लगता है ऐसे आँखों से जुड़ा द्रष्टा, कानों से जुड़ा श्रोता आदि भी लगता है तो चक्षुर्मय आदि न कहकर विज्ञानमय ही क्यों कहा? यह बताते हैं **सभी विषय जानने में कारण बुद्धि है, उससे अन्य इंद्रियाँ केवल द्वार हैं। इसलिये केवल चिदाभास के मार्ग से आत्मा विज्ञानमय है।।६२।।** इन्द्रियाँ तत्तत् विषय से संपर्क में द्वार पड़ने से विषयज्ञान में भले ही कारण कही जायें लेकिन प्रमाणव्यापार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह बुद्धि की ही वृत्ति होती है अतः सभी ज्ञान बुद्धिवृत्तिरूप होंगे ही। इसलिये बुद्धिमय या विज्ञानमय तो कहना बनता है, चक्षुर्मय आदि नहीं। फिर भी इन्द्रियादि से तादात्म्य आगे (४.४.५) याज्ञवल्क्य 'चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' आदि से बतायेंगे जिसका श्लोक २३२ में उल्लेख होगा। अगला प्रश्न है कि बुद्धि-आत्मा का सम्बन्ध ही नहीं तो आत्मा विज्ञानमय कैसे कहा गया? भोजन-घी का सम्बन्ध हो तो भोजन को घृतमय कह सकते हैं, असम्बन्ध रहते तो नहीं कह सकते? इसके उत्तर में बताया कि जैसे प्रतिबिंबरूप में मुख-दर्पण का सम्बन्ध होता है वैसे बुद्धि में जो चिद् का आभास है, बस वही आत्मा-बुद्धि का सम्बन्ध है जिसके चलते आत्मा बुद्धिमय कहा-समझा जाता है। अतः वास्तव में असम्बन्ध होने पर भी विज्ञानमयता घट जाती है। (वार्तिक ४.३.३१४-६ में वह दर्शनीय है।)।।६२।।

'योऽयं विज्ञानमयः' के बाद आये 'प्राणेषु' का अर्थ कहते हैं **बुद्धि के बिना प्राण नहीं रहते अतः (बुद्धिमय को) प्राणमय भी होना पड़ेगा! इस तरह संभावित प्राणात्मवाद 'प्राणों में' कहकर निरस्त किया।।६३।। दस इन्द्रियाँ और पाँच वायुएँये सभी प्राण-शब्द से कहे जाते हैं। निश्चय यह करना है कि प्राणों में जो वस्तु अनुस्यूत है वह आत्मा है।।६४।।** प्राणापानादि भेद वाला प्राण अर्थात्

धीरेवात्मेत्यपाकर्तुं हृदीति श्रुतिरभ्यधात् ।
स्वार्थबुद्धौ य आभाति स आत्मा बुद्धिवृत्तिदृक् ।।६५।।

जीवनीशक्ति भी विज्ञान की (बुद्धि की) तरह आत्मा की पहचान के लिये आवश्यक है तो आत्मा को प्राणमय भी कहना चाहिये लेकिन प्राणों में जडता व्यक्त होने से आत्मा उनसे एकमेक नहीं लगता अतः ऐसा नहीं कहा वरन् 'प्राणेषु' द्वारा स्पष्ट किया कि वह प्राण नहीं किन्तु उनसे प्रत्यग्भूत है। किं च, प्राण बिना बुद्धि के रहेंगे नहीं क्योंकि दर्पण के आगे-पीछे के हिस्सों की तरह प्राण-बुद्धि हैं, अतः विज्ञानमय कहने से प्राणमयता तो अर्थसिद्ध है। फिर, सुषुप्ति में बुद्धि के बगैर प्राण रहने से प्राण ही आत्मा हैंयह संभावना भी है। इस प्रकार प्राणमय मान लें तो सुषुप्ति भी सात्मक सिद्ध होगी और अन्य अवस्थाओं में भी प्राण तो रहेंगे ही अतः जाग्रत्-स्वप्न भी सात्मक हैं। यों जो प्राणात्मवाद का पक्ष आ सकता है उसे हटाने के लिये 'प्राणों में' कहा। प्राण-शब्द से जीवनीशक्ति के सहित इंद्रियाँ भी ग्रहण करनी चाहिये। इस प्रकार दस इन्द्रियाँ और पाँच प्राण इन सब से आत्मा पृथक् है यह 'प्राणों में' कहने का भाव है। पृथक् इसलिये है कि सबमें अनुगत प्रतीत होता है। अनुगत चीज़ जैसे धागा, व्यावृत्तों से जैसे मणियों से अलग ही होती है। इंद्रियों में मैं हूँ, प्राणों में मैं हूँयों इन सबमें मैं की अनुगति उसे इन सबसे स्वतंत्र बताती है।।६३-४।।

'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' के बाद 'हृदि' कहा, उसका अर्थ बताते हैं **बुद्धि ही आत्मा है यह भ्रम मिटाने के लिये श्रुति ने 'हृदि' (हृदय में) कहा। 'स्व' (मैं) इस आकार की अनुभूति का जो विषय बुद्धि में भासता है, बुद्धिवृत्तियों का साक्षी वह आत्मा है।।६५।।** 'प्राणेषु' द्वारा प्राणभिन्न समझ आने पर भी विज्ञानमय से विज्ञानरूप बुद्धि ही क्यों न समझी जाये? अतः बुद्धि ही आत्मा होगीइस सम्भावना को दूर करने के उद्देश्य से 'हृदि' कहा अर्थात् वह बुद्धि न होकर बुद्धि के प्रति भी प्रत्यक् रहने वाली वस्तु है। 'हृच्छब्देन पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डः तात्स्थ्याद् बुद्धिः' ऐसा भाष्य है अतः हृदि का भाव हैबुद्धि में। किंतु 'मैं' से घड़े में पानी की तरह बुद्धि में आत्मा नहीं कह रहे किन्तु बुद्धि में प्रतीयमान को कह रहे हैं। बुद्धि में घड़ा भासता है तो बुद्धि से स्वतंत्र ही घड़ा सिद्ध होता है, ऐसे ही बुद्धि में भासने वाला आत्मा बुद्धि से स्वतंत्र ही सिद्ध होता है। बुद्धि जब स्व-आकार, मैं-आकार लेती है तब भासमान वस्तु आत्मा है जैसा कि आचार्य ने अन्यत्र कहा है 'अस्मत्प्रत्ययविषय' आत्मा है। यद्यपि देहेन्द्रियादियुक्त आत्मा वर्तमान में स्व-बुद्धि में भासता है तथापि पूर्वोक्त विचार के अनन्तर बनने वाली

हृदीत्याधारनिर्देशाद्धीस्थवृत्तिषु चात्मता।
प्रसक्ता तन्निवृत्त्यर्थम् अन्तरित्युपदिश्यते।।६६।।
परागर्थानुसारिण्यो यतो धीवृत्तयस्ततः।
प्रत्यक्त्ववाचकेनान्तःशब्देनैता निवर्तिताः।।६७।।
जाड्यमात्मन इच्छन्ति कणभुङ्मतजीविनः।
तेषां विप्रतिषेधार्थं ज्योतिरित्यभिधीयते।।६८।।

विवेकपूर्ण स्व-बुद्धि में जो भासता है उसे 'हृदि' से कहा है। बुद्धि की समस्त वृत्तियों का वही नित्यसिद्ध साक्षी है।।६५।।

'हृदि' के बाद 'अन्तः' क्यों कहा, यह समझाते हैं **'हृदय में' यों हृदय को आधाररूप से कहा होने से संभावना होती कि बुद्धि में स्थित वृत्तियाँ आत्मा होंगी; उस सम्भावना को निवृत्त करने के लिये 'अन्तः' (अन्दर) कहा।।६६।। बुद्धि की वृत्तियाँ क्योंकि विषयभूत वस्तुओं को ग्रहण करती हैं इसलिये प्रत्यग्रूपता के बोधक 'अन्तः'-शब्द से उनमें आत्मा का निषेध हो गया।।६७।।** हृदय से बुद्धि समझ लेने पर भी शंका संभव थी कि बुद्धि में होने वाली वृत्तियाँ आत्मा होंगी; 'चलां बुद्धिं' यह पक्ष दक्षिणामूर्तिस्तोत्र (श्लोक. ५) में भी उठा है, क्षणिक विज्ञान से परे कुछ नहीं यह भी लगभग ऐसी ही कल्पना है; अतः 'अन्तः' कहकर समझाया कि वृत्तियाँ आत्मा नहीं। अन्तः शब्द से यह अर्थ कैसे निकला? अन्तः का अर्थ है अंदर अर्थात् प्रत्यक्; वृत्तियाँ स्वभाव से बाह्य (पराक् अनात्मरूप) वस्तुओं से सम्पर्क रखती हैं अतः उन्हें बाह्य कहना ही ठीक है न कि अन्तः इसलिये अन्तः से प्रत्यगात्मा कह दिया गया। यद्यपि प्रत्यगाकार भी वृत्ति बनती है तथापि केवल योग्याधिकारी को शास्त्र-श्रवण से, अतः उस स्थिति के अलावा जो वृत्तियाँ बनती हैं उनके अभिप्राय से 'परागर्थानुसारिण्यः' कहा है।।६६-७।।

अगले शब्द 'ज्योति' को स्पष्ट करते हैं **कणाद ऋषि की मान्यता के अनुसार वैचारिक जीवन-व्यतीत करने वाले, आत्मा को जड मानना चाहते हैं। उनके सिद्धान्त का निषेध करने के लिये 'ज्योति' ऐसा कहा।।६८।।** कणाद ऋषि के मत को वैशेषिक दर्शन कहा जाता है, गौतम ऋषि का न्यायदर्शन भी आत्मादि वस्तुओं को प्रायः वैसा ही स्वीकारता है जैसा वैशेषिक, अतः 'कणभुङ्मतजीवी' से दोनों का संग्रह है। वे आत्मा को ज्ञानवान्, ज्ञानाधिकरण तो मानते हैं लेकिन ज्ञानरूप नहीं मानते। मनःसंयोग से आत्मा में ज्ञानरूप गुण उत्पन्न होता-नष्ट होता हैऐसी उनकी कल्पना है।

जडबुध्याद्युपादानं तमस्तस्यावभासकम्।
सकृद्विभातं चिन्मात्रं ज्योतिरात्मेति भण्यते।।६६।।

वे ज्ञानवान् को चेतन और जहाँ मनःसम्बन्धादि से भी ज्ञान न हो ऐसे घटादि को जड कहते हैं। वेदान्त सिद्धान्त में ज्ञान ही चेतन है, आत्मा स्वयं ज्ञान है, न कि ज्ञानवान्। यहाँ 'ज्योति' से ज्ञान कहा जिससे व्यक्त हुआ कि वैशेषिकाभिमत ज्ञानाधिकरणरूप वस्तु श्रुतिसंमत आत्मा नहीं है। काणादों का भ्रम वाजिब इसलिये है कि आपाततः आत्मा मनोयुक्त (बुद्धियुक्त, विज्ञानमय) रहते ही समझा जा पाता है और तब ज्ञाता (ज्ञानवान्) ही लगता है। यह तो औपनिषद निर्देश से जब 'बुद्धिवृत्तियों का बदलना कौन जानता है, वृत्ति-उत्पत्ति कौन देखता है, सुषुप्ति कौन अनुभव करता है?' आदि की परीक्षा करें तभी समझ आता है कि आत्मा मन से स्वतंत्र एवं ज्ञानस्वरूप है। ज्योति शब्द का ज्ञान अर्थ है।।६८।।

संसार जड है तो इसका कारण आत्मा जड ही क्यों न हो? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ज्योति पद का अर्थ कहते हैं **जड जो बुद्धि आदि (संसार) उनका उपादान कारण तम (अज्ञान) है, उसको प्रकाशित करने वाला केवल चैतन्य आत्मा (यहाँ) ज्योति कहा जा रहा है जो एक बार ही प्रकाशमान है।।६६।।** वेदान्त में आत्मा को संसार का विवर्त्तोपादान माना है न कि परिणामी उपादान अतः जैसे जड रस्सी से चेतन साँप हो जाता है वैसे चेतन ब्रह्म से जड संसार हो रखा है। यद्यपि औपनिषद भूमिका पर परिणामी कारण की जिज्ञासा नहीं होती क्योंकि विवर्त्त का निष्कर्ष अजात होता है, तथापि विवेकादि साधनों की भूमिका पर एवं व्यावहारिक व्यवस्थाओं के उपपादनार्थ जिज्ञासा होती है और उसके समाधान में तम, अज्ञान, माया का वर्णन प्रवृत्त होता है। उसका प्रकाशक ज्योतिरूप आत्मा है। 'सकृद्विभात' अर्थात् हमेशा एकरस भानरूप। सकृत् कहते हैं 'एक बार' को; यहाँ अर्थ है कि दुबारा तो होगा नहीं तथा हो रहा है अतः एक ही बार है, अर्थात् लगातार कायम है। छान्दोग्य (८.४.२) में 'सकृद्विभातः सदा विभातः' माण्डूक्यकारिकामें (३.३६) 'सकृद्विभातं सदैव विभातं सदा भारूपम्, अग्रहणान्यथाग्रहणाविर्भावतिरोभाववर्जितत्वात्।...नित्यचैतन्यभारूपत्वाच्च युक्तं सकृद्विभातम्' आदि भाष्य इस शब्द को स्पष्ट करते हैं। अज्ञान, तम यद्यपि युक्तिसंमत कारण है तथापि उसकी अनुभूति 'मुझे नहीं पता' यही होती है अतः अनुभूयमान विषय (ग़ैर-आत्मा) होने से उसके प्रकाशक (अनुभविता) ज्योति को स्वीकारना अनिवार्य है। चेतन ही अज्ञान को जानता है। बुद्धिवृत्तियाँ भी जानती हैं लेकिन 'सकृत्' या सदा नहीं,

अचेतनोऽपि बुध्यादिश्चेतनावानिवेक्ष्यते।
यस्य संनिधितस्तस्य चिज्ज्योतिष्ट्वमतिस्फुटम्।।७०।।
आत्मच्छायं पयोऽशेषं यथा मारकतो मणिः।
परीक्षणाय प्रक्षिप्तः कुर्यादात्मा तथैव हि।।७१।।

जब उत्पन्न होंगी तभी जानेंगी; आत्मा भी जानता है लेकिन 'सकृत्' सदा, क्योंकि स्वयं सदा मौजूद है। उसी को याज्ञवल्क्य ज्योति कह रहे हैं।।६९।।

आत्मा की ज्ञानरूपता उपपन्न करते हैं **जिसकी निकटता से अचेतन भी बुद्धि आदि चेतनावान् (ज्ञानवान्) की तरह लगते हैं, उसकी चिदात्मक ज्योतीरूपता अत्यंत स्पष्ट है।।७०।। जैसे परीक्षा के लिये दूध में डाली मरकत मणि सारे दूध को अपने रंग से रंजित कर देती है वैसे ही आत्मा (अनात्मभूत बुद्धि आदि को ज्ञानवाला) कर देता है।।७१।।** आग के सम्पर्क से जल आदि गर्म होते हैं तो आग गर्म है इसमें क्या कहना, इसी तरह आत्मसंपर्क से बुद्धि आदि सचेतन हो जाते हैं तो आत्मा की चेतनता का क्या कहना! बुद्धि आदि 'चेतनावान् इव' इसलिये कि घटादि की अपेक्षा से चेतनावान् होने पर भी प्रत्यगात्मा की अपेक्षा से दृश्य ही हैं। चेतना शब्द के प्रयोग से स्पष्ट किया कि चाक्षुष प्रकाश ज्योति-शब्द से बिलकुल विवक्षित नहीं। आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है, ज्ञान उसका कोई गुण, अवयव आदि नहीं, तो वह बुद्धि आदि को ज्ञानवान् कैसे बना सकता है? इसके समाधान में दृष्टांत दिया : मरकत किसी ऐसी मणिका नाम है जिसे दूध में डालने पर दूध मणि के रंग वाला दीखता है, मणि हटाते ही सफेद दीखता है। जैसे मणि का रंग मणि को छोड़कर दूध में गया नहीं, फिर भी दूध को रंगा दिखा दिया, वैसे आत्मा निर्विकार रहते हुए ही बुद्धि आदि को ज्ञानयुक्त प्रतीत करा देता है। ऐसी मणि सुलभ न हो तो चुम्बक भी दृष्टांत है; चुम्बक की संनिधि में लोहा भी (सुई आदि भी) चुम्बक-सा हो जाता है, चुम्बक हटने पर लोहे की चुम्बकीय विशेषतायें समाप्त हो जाती हैं, चुम्बक दोनों हालतों में निर्विकार रहता है। जिसकी निकटता से लोहा चुम्बक-सा होता है उस चुम्बक की चुम्बकीय शक्ति जैसे अशंकनीय है वैसे आत्मा की चिच्छक्ति भी संदेहयोग्य नहीं।।७०-१।।

'बुद्धि आदि चेतनावान्-से लगते हैं' कहने पर प्रश्न होता है कि 'आदि' में किनका संग्रह है। इसे प्रकट करते हुए देहपर्यन्त आत्मबुद्धि (चेतनबुद्धि) में हेतु समझाते है **ज्योतीरूप आत्मा पहले तम को चैतन्य-सा बनाता है। तम के सम्बन्ध से बुद्धि को, बुद्धि-सम्बन्ध से इंद्रियों को और इंद्रियों के सम्बन्ध से शरीर**

ज्योतिरात्मा चितिच्छायं प्रथमं कुरुते तमः।
तमोयोगेन धीस्तद्वद्धीयोगादिन्द्रियं तथा।।७२।।
अक्षयोगात्तथा देह एवमेते चिदात्मवत्।
भासन्ते तेष्वतः पुंसां प्रत्यगात्मत्वविभ्रमः।।७३।।

कोयों ये सब चिद्रूप आत्मा वाले भासते हैं। इसीलिये लोगों को इनमें भ्रम होता है कि ये आत्मा हैं।।७२-३।। चेतन की साक्षात् उपाधि अज्ञान, उसमें चिदाभास पड़ने से ही सारी सृष्टि-प्रक्रिया चलती है। समष्टि में इस साभास उपाधि को ईश्वर और व्यष्टि में प्राज्ञ कहते हैं। चेतन के आभास के कारण चेतन से एकमेक हुई अविद्या (माया) चेतन ही लगती है तो 'माया सब कुछ करती है' आदि प्रतीति हो जाती है। व्यष्टि में अनुभव है कि 'मोह हमसे कार्य करा लेता है'; मोह जड है, कैसे करायेगा! लेकिन साभास होने से चेतन-सा लगता है। आगे, अज्ञान से बुद्धि पैदा होती है तो उसमें भी आभास पड़ता है; अज्ञान ने ही बुद्धि-आकार लिया अतः आभास पृथक् मानने की ज़रूरत नहीं; इसी तरह आगे भी उपाधियों में बढ़ोतरी होती जाती है और सबसे आभास का सम्बन्ध होता जाता है। इसलिये बुद्धि में अज्ञान रहना भी संगत है जैसे घड़े में मिट्टी रहती है। चाहे जितना किसी विषय में जान लें फिर भी असीम बातें अज्ञात रह जाती हैं। बल्कि जितना जानें उतना पता चलता है कि न जाना हुआ कितना ज़्यादा है। बच्चा सोचता है कि क-ख-ग-घ पढ़ लिये तो भाषा आ जायेगी! किन्तु जब स्नातकादि स्तर तक भाषा पढ़ता है तब समझ आता है कि समूची हिंदी किसी को पूरी आ जाये, यह संभव ही नहीं। ऐसे ही सर्वत्र सविषय अर्थात् बुद्धिस्तर के ज्ञान से अज्ञान का अन्वय रहता ही है। फिर, इन्द्रियाँ आयीं, उनसे बुद्धि का संबंध होगा अतः आभास इंद्रियों में भी रहेगा, वे भी चेतन लगती हैं। तदनन्तर स्थूल शरीर से सम्बन्ध रहते वह चेतन प्रतीत होता है।

प्रश्न होगा कि इन्द्रिय-पर्यन्त सूक्ष्मभूतकार्य होने से आत्मच्छाया ग्रहण होना ठीक है। स्थूल शरीर कैसे छायाग्राही या साभास हो सकता है? उत्तर है कि छाया, आभास आदि शब्द सर्वत्र अन्योन्याध्यास के बोधक हैं और अध्यास स्थूल शरीर से सभी को स्पष्ट है अतः स्थूल को सच्छाय, साभास कहना ठीक है। जो रूपकदृष्टि से ही समझ सके उसके लिये भाष्यकार ने बुद्धि में छाया और उसके बाद सम्बन्ध मात्र से छायानुगति कही: 'बुद्धिस्तावत् स्वच्छत्वात्...आत्मचैतन्यज्योतिःप्रतिच्छाया भवति। ... मनसि...बुद्धिसम्पर्कात्, ...इन्द्रियेषु मनःसंयोगात्,...शरीरे इन्द्रिय सम्पर्कात्।' मरकत-दुग्ध के दृष्टांत से भाष्यकार ने माना कि एक-साथ सारे संघात को सच्छाय कर देता है '...कार्यकरणसंघातं चैकीकृत्य

तमेव भान्तमात्मानमनुभात्यखिलं जगत्।
इति श्रुत्यन्तरे स्पष्टमुक्तं ज्योतिष्ट्वमात्मनः।।७४।।
आत्मेत्येवं[1] प्रबुद्धेऽस्मिन् ज्योतिषि ध्वान्तनाशतः।
सर्वस्यैवात्मयाथात्म्यादात्मा पुरुष उच्यते।।७५।।

आत्मज्योतिश्छायं करोति।' मकान में कमरा, उसमें बक्सा, उसमें थैला, उसमें कमीज, उसकी जेब में रुपयायों मकान से घिरा आकाशादि जैसे जेब तक समझ आता है, वैसे अर्थात् अवच्छेदवाद के उदाहरण से भी यही बात समझ सकते हैं। पूर्व में अध्याय १४ श्लोक १६ आदि में भी वर्णित प्रसंग का अनुसंधान कर लेना चाहिये। क्योंकि ये सभी उपाधियाँ, संघात चिदात्मा-जैसे लगते हैं इसीलिये हमें भ्रम रहता है कि ये ही, संघात ही प्रत्यगात्मा है। पामरों को संघात में और वादियों को तत्तत् उपाधि में प्रत्यगात्मता प्रतीत हो जाती है। (निर्णय सागार व पुणे संस्करण में श्लोक ७३ द्वितीयार्ध **'भासन्ते ते स्वतः पुंसां'** पाठ है; तब अर्थ है कि विभ्रम स्वतः है अर्थात् निरुपाधिक है। 'तेष्वतः' सारानुसारी मुत्तुशास्त्री का पाठ है, इसमें अर्थ स्पष्ट है कि उक्त क्रम से उपपन्न होने के कारण भ्रम हो जाता है।) ।७२-३।।

उक्त विषय को वाक्यान्तर से समर्थित करते हैं **उसी आत्मा के भासते, उसके अनुसार अखिल जगत् प्रतीत होता हैयों अन्य श्रुतिवाक्य में आत्मा की ज्योतीरूपता स्पष्ट बतायी है।।७४।।** यह वाक्य कठ (५.१५), मुंडक (२.२.११) एवं श्वेताश्वतर (६.१४) में प्रसिद्ध है, अनुभूतिप्रकाश ६.७०-१, ११.९३-४ एवं १२.१७ में इस पर विचार हो चुका है। भगवान् ने १५.६ में भी यह सूचित किया है।। ७४।।

'योऽयं विज्ञानमयो हृद्यन्तर्ज्योतिः' के बाद कहा 'पुरुषः', उसे समझाते हैं **इस प्रकार इस ज्योतीरूप आत्मा का प्रबोध हो जाने पर क्योंकि अज्ञान निवृत्त हो जाता है इसलिये सभी की वास्तविकता आत्मा ही रह जाने से आत्मा पुरुष कहलाता है।।७५।।** प्रबोध से साक्षात्कार बताया, परोक्ष ज्ञान से पुरुषता नहीं मिलती। सारा द्वैत, परिच्छेद, भेदरूप जगत् अज्ञान का ही फल है इसलिये जैसे ही तत्त्वज्ञान से अज्ञान नष्ट हुआ वैसे ही समझ आता है कि अब तक जो भेद-विस्तार दीख रहा था उसकी वास्तविकता केवल आत्मा है। स्वप्न से जगते ही जैसे स्वप्नदृष्ट का बाध होने पर उन सब चीज़ों की वास्तविकता आत्मा समझ आती है वैसे ही अज्ञाननिवृत्ति से द्वैत की सत्यता आत्मा समझ आती है। इसलिये वही पूर्ण, पुरुष है। जैसे जगने पर

---

१. आत्मन्येवम् इति सार-मद्र-मुत्तुपाठः।

आत्माज्ञानसमुच्छित्तौ तज्जस्य न हि वस्तुनः।
प्रत्यग्रूपात् पृथग्रूपं संभाव्यं केनचित् क्वचित्।।७६।।
पूर्णत्वात् पुरुषः सोऽयं ज्योतिरात्मेति भण्यते।
पूर्णस्य लोकसंचारः[1] कथं स्यादिति भण्यताम्।।७७।।
यः पूर्णः स समानः सन् बुध्यालोकावुभावपि।
संप्राप्तप्रतिपत्तव्यावनुसंचरति क्रमात्।।७८।।

यह प्रतीत होने पर भी कि 'स्वप्नदृष्ट सड़क की वास्तविकता मैं हूँ', ऐसा नहीं लगता कि 'मैं सड़क हूँ, ज़मीन पर बिछी लम्बी जगह हूँ, आदि,' वैसे पूर्णता के बोध में भेद को स्थान नहीं रहता।।७५।।

यही स्पष्ट करते हुए 'स समानः' इत्यादि उपदेश किस प्रश्न के उत्तर में है यह बताते हैं **आत्मसम्बद्ध अज्ञान निवृत्त हो जाने पर कोई कभी कहीं संभावना नहीं करता कि अज्ञानजन्य वस्तु किसी ऐसे स्वरूप वाली है जो प्रत्यगात्मा से अलग हो।।७६।। पूर्ण होने से वही यह ज्योतीरूप पुरुष आत्मा कहा जाता है। पूर्ण होने पर भी लोक-लोकांतर में इसका संचरण कैसे होता है, यह बताइये (ऐसा राजा का प्रश्न मानकर 'स समानः' आदि वाक्य है।)।।७७।।** अज्ञानजन्य का मतलब ही है कि वह वस्तु सचमुच में नहीं, केवल प्रतीति है, अतः अज्ञान मिटने पर उसका किसी भी तरह का रहना घटता नहीं। 'क्वचित्' से देश-काल दोनों समझने चाहिये अतः इह लोक में भेद मायिक है किंतु वैकुण्ठादि में अमायिक, चिन्मय, दिव्य, सत्य हैंइत्यादि कल्पना का भी निरास जानना चाहिये। अद्वितीयता को ही यहाँ पूर्णता कहा जाता है, व्यापकता कहा जाता है। पूर्ण व्यापक होने से लोकसंचार नहीं कर सकतायह शंका होती है। यदि न जा सके तो पाप-पुण्य व्यर्थ हो जायेंगे! अतः याज्ञवल्क्यने 'स समानः' आदि कहा।।७६-७।।

अब उक्त वाक्य की व्याख्या करते हैं **जो पूर्ण है वह बुद्धि के समान हुआ प्राप्त और प्राप्य दोनों लोकों में यथाक्रम संचार करता है।।७८।।** पूर्ण होने पर भी बुद्धि से तादात्म्य रखकर स्वयं को उतना ही जानता है अतः बुद्धि के संचार से संचारी हो जाता है जैसे घट के गमनागमन से घटाकाश का गमनागमन होता है। जीवनदशा में स्थूल देहपर्यंत अहम्भाव है लेकिन मरने पर केवल सत्रह अवयवों वाला अथवा पुर्यष्टकरूप शरीर ही (सूक्ष्म ही) जाता है जिसमें प्रधान है बुद्धि अतः 'बुद्ध्या समानः'

---

[1] °रो बुद्ध्युपाधित्वकारणात्सारे।

किं पुनः स्यात् समानत्वम् आत्मबुध्योस्तदुच्यते।
विवेकानुपलम्भेन तादात्म्यं रज्जुसर्पवत्।।७९।।
सम एव धिया लोकौ संचरत्येष न स्वतः।
अतः संसारमिथ्यात्वं ध्यायतीवेति वर्ण्यते।।८०।।
ध्यायन्त्यां ध्यायतीवात्मा चलन्त्यां चलतीव च।
बुद्धिस्थे ध्यानचलने कल्प्येते बुद्धिसाक्षिणि।।८१।।

कहा। बुद्धि से 'मैं' अर्थात् साहंकार उपाधि समझनी चाहिये। बुद्धि से जो एकमेकता का भ्रम वही लोक-लोकान्तर जाने-आने का निमित्त है। सम्प्राप्त लोक अर्थात् उपलब्ध, इह लोक। प्रतिपत्तव्य अर्थात् प्राप्त होने वाला, भावी लोक। इस लोक में भी बुद्धियुक्त होने से ही आये हैं, रहते हैं, व्यवहार करते हैं एवं परलोक भी बुद्धियुक्त होने से ही जाना होगा। अगर बुद्धिसंबंध कट जाये तो उत्क्रमण भी नहीं होगा।।७८।।

आत्मा बुद्धि के समान होता हैइसका भाव बताते हैं **आत्मा और बुद्धि की समानता क्या है? बताते हैंविभिन्न प्रतीत न होने से रस्सी-साँप की तरह तादात्म्य (ही यहाँ 'समानः' से कहा जा रहा है)।।७९।।** आत्मा व बुद्धि चीज़ें सर्वथा अलग होने पर भी हमें अलग-अलग नहीं लगती, एकमेक हुई ही मिलती हैं, जिसे बुद्धि (मैं) समझते हैं उसे ही आत्मा समझते हैं। सूक्ष्म वस्तुओं में भेदज्ञान विवेक पर निर्भर है जैसे असली-नकली नोट का फ़र्क़ बैंक का अभ्यासी रोकड़िया तो तुरंत जानता है जबकि सामान्य लोग उन्हें एक ही समझकर धोखा खाते रहते हैं। दीर्घकाल तक विवेक का अभ्यास न करने तक साभास बुद्धि ही आत्मा प्रतीत होती है। सिर्फ़ विवेक न होना तो अभाव है, वही 'समानः' का अर्थ नहीं, वरन् उसके प्रभाव से तादात्म्य अर्थात् बुद्धि-आत्मा का अभेदबोध 'समानः' का अर्थ है। रस्सी को ढंग से न देखने पर वह साँप दीखती है तो जो साँप लग रहा है और जो वहाँ रस्सी है उनमें अभेद प्रतीत होता है, उसी को तादात्म्य कहते हैं। वैसा बुद्धि-आत्मा में है, यही अर्थ है 'वह बुद्धि के समान हुआ' कहने का।।७९।।

आगे श्रुति है 'ध्यायतीव लेलायतीव', इसे समझाते हैं **बुद्धि-समान हुआ ही लोकों में संचरण करता है, खुद नहीं। इसलिये 'मानो ध्यान करता है' से संसरण मिथ्या है यह बता रहे हैं।।८०।। बुद्धि एकाग्र रहते लगता है आत्मा ध्यान कर रहा है, बुद्धि चंचल होते लगता है वह चंचल है अर्थात् बुद्धि में होने वाले ध्यान व चांचल्य का बुद्धिसाक्षी आत्मा पर अध्यास हो रहा है।।८१।।**

आलोके व्यंजके यद्वदभिव्यंग्यघटाकृतिः ।
आरोप्यते तथा बौद्धः संसारो बुद्धिसाक्षिणि ।।८२।।

'स्वतः' अर्थात् उपाधिनिरपेक्ष पूर्ण पुरुष में संचरणादि संभव नहीं। हमें बुद्धि से तादात्म्य रहते ही 'मैं एकाग्र या मैं चंचल' ऐसी प्रतीतियाँ होती हैं। परलोक भी बुद्धि जाती है तो 'मैं' साथ चला जाता हूँ जबकि वास्तव में न आत्मरूप मैं इस लोक में आया, न परलोक जाता हूँ। 'कर्मण्यकर्म' (४.१८) आदि गीता में इस पर प्रकाश डाला गया है।।८०-१।।

साक्ष्यनिष्ठ का साक्षी में आरोप उदाहरण से समझाते हैं **अभिव्यक्त होने वाले घट का आकार जैसे उसको अभिव्यक्त करने वाले प्रकाश पर आरोपित कर दिया जाता है वैसे बुद्धिगत संसरण बुद्धिसाक्षी पर आरोपित है।।८२।।** प्रकाश वास्तव में घटादि विषयों का साक्षी-जैसा है। कहते भले ही हैं कि घड़े को प्रकाशित करते हुए प्रकाश घट के आकार का हो जाता है, लेकिन वास्तव में प्रकाश में कोई फ़र्क़ आता नहीं; ऐसा नहीं कि घड़े के साथ संबंध न होने तक प्रकाश का 'अपना' कोई आकार था, घड़े से जुड़कर वह आकार ख़त्म होकर नया आकार बना, इत्यादि वरन् घड़े के आकार का प्रकाश पर आरोप हो गयाइतनी ही बात है। पानी जिस बर्तन में रखो उसी आकार का 'हो' जाता हैऐसा भी लगता अवश्य है पर वस्तुतः पानी उस आकार का 'हो' तो नहीं जाता! ऐसे ही प्रकाश भी घट की आकृतिका लगता ही है, वैसा 'हो' नहीं जाता। इसी प्रकार संसार, संसरण, परिवर्तन बुद्धि में हैं, आत्मा केवल साक्षी, अभिव्यंजक है, फिर भी बुद्धि के परिवर्तन आत्मा पर अध्यस्त हैं, यह तात्पर्य है। प्रकाश जैसे कहने को ही प्रकाशक है वैसे आत्मा केवल कहने को साक्षी भी है, वास्तव में वह चिन्मात्र है। यहाँ जैसे प्रकाश का दृष्टांत लिया वैसे अन्यत्र आकाश का दृष्टान्त भी लेते हैंघट-संबंध से आकाश घटाकार प्रतीत होता है, घट के गमनादि से गतिवाला प्रतीत होता है, इत्यादि लेकिन भाव एक ही है। पूर्व में ज्योतीरूपता का प्रसंग होने से प्रकाश का दृष्टांत संगत हो जाता है।।८२।।

याज्ञवल्क्य ने वाक्य पूरा किया 'स हि स्वप्नो भूत्वा इमं लोकम् अतिक्रामति मृत्यो रूपाणि' कि बुद्धितादात्म्यापन्न हुआ वही स्वप्न होकर जाग्रत् का अतिक्रमण कर लेता है, मृत्यु के रूपों से परे हो जाता है। इसे समझाते हैं **ध्यान आदि अवास्ताविक हैं इस बात में 'वही स्वप्न होकर' आदि श्रुति हेतु बता रही है। प्रकृत वह आत्मा बुद्धि के वशीभूत हुआ स्वप्न बन जाता है।।८३।। बुद्धि के जगे रहने पर जैसे आत्मा 'मैं जग रहा हूँ' समझता है वैसे बुद्धि के सपना देखने पर उसी स्वप्न**

ध्यानादीनामवस्तुत्वे स हि स्वप्न इति श्रुतिः ।
हेतुमाह स आत्माऽयं स्वप्नो भवति धीवशात् । ।८३ । ।
बुद्धिजागरणे यद्वज्जागर्मीत्यभिमन्यते ।
बुद्धिस्वप्ने तथा स्वप्नरूपत्वमभिमन्यते । ।८४ । ।
जाग्रद्भोगमिमं लोकं स्वप्नो भूत्वाऽतिवर्तते ।
वासनाराशिसाक्षित्वं स्वाप्नं भोगं तदाऽप्नुयात् । ।८५ । ।
अविद्याकामकर्माख्यमृत्यो रूपाण्यतीत्य सः ।
जाग्रद्देहेन्द्रियादीनि तिष्ठति ज्योतिरात्मना । ।८६ । ।

को अपना रूप समझता है । ।८४ । । स्वप्न होने पर जाग्रत्-कालीन भोगरूप इस लोक को लाँघता है एवं तब स्वप्नगत भोग पाता है अर्थात् वासनाराशि का साक्षी बनता है । ।८५ । । अविद्या, कामना, कर्मइन नामों वाले जो मृत्यु के रूप हैं अर्थात् जाग्रत् के शरीर इंद्रिय आदि, उनसे परे हो वह ज्योतीरूप से ही रहता है । ।८६ । । 'वह स्वप्न होकर' कहने का भाव है कि बुद्धि की अवस्थाएँ वस्तुतः आत्मा की नहीं हैं। वस्तु कभी बदलती नहीं, आत्मा वस्तुतः ध्यान करता तो सदा करता, चंचल होता तो सदा होता आदि, लेकिन ऐसा न होकर क्षण-क्षण में परिवर्तन होते रहते हैं, इससे स्पष्ट है कि वे कोई भी परिवर्तन, वास्तविक नहीं हैं। आत्मा में वे वास्तविक नहीं इतना ही नहीं, स्वरूपतः ही अवास्तविक हैं। इस तथ्य को अवस्थान्तरण से व्यक्त कियाबूढ़ा व्यक्ति सपने में जवान हो जाता है! मरकर अगले शरीर में तो बालक ही हो जाता है! यदि वस्तुतः आत्मा शरीर होता तो यह सब संभव नहीं था। ऐसे ही दुःखी व्यक्ति सपने में सुखी या विपरीत भी हो जाता है जिससे पता चलता है कि बुद्धिरूप भी आत्मा नहीं है। बुद्धि के जगने-सोने पर जैसे जीव का जगना सोना निर्भर है वैसे ध्यान-चांचल्य भी, अतः ये न स्वयं वास्तविक हैं और न आत्मा के धर्म हैं। आत्मा को तो केवल अभिमान (अध्यास) है कि जग रहा हूँ, सपना देखा था इत्यादि। श्रुति में कहा 'स्वप्नो भूत्वा इमं लोकम् अतिक्रामति', यहाँ 'इमं लोकम्', 'इस लोक को' अर्थात् जाग्रत् अवस्था के भोगों को। भोगों से भोक्ता-भोग्य भी समझ लेने चाहिये। स्वप्न में भोग तो है लेकिन वासनामय से अतिरिक्त कोई भोग्य नहीं है। 'वासनाराशि' से तात्पर्य है कि उन पदार्थों का उपादान मिट्टी-पानी आदि विभिन्न वस्तुएँ या कुम्हार-जुलाहा आदि विभिन्न निमित्त नहीं; वहाँ केवल व्यष्टि अज्ञान, उसमें एकत्र वासनाएँ और कर्मइन्हीं के प्रभाव से भोग्यप्रतीति हो जाती है। अतः जो राशि अर्थात् बाहुल्य, वैविध्य है वह वासनाओं के ही

तस्मात् स्वाभाविको नैव क्रियाध्यानादिलक्षणः ।
लोकद्वयानुसंचारः किंत्वौपाधिक इष्यताम् ।।८७।।

कारण है। जब वासनामय स्वप्न में पहुँचते हैं तब जाग्रत् भोग पीछे छूट जाते हैं मानो इन्हें लाँघकर हम आगे बढ़ गये। अंत में शब्द आये 'मृत्यो रूपाणि'; मृत्यु के रूप यहाँ अविद्या, कामना और कर्म विवक्षित हैं। आत्मा को परिच्छिन्न समझे बिना, विकारी समझे बिना कामना नहीं, कामना के बगैर कर्म नहीं हो सकते। इसलिये ये तीनों अविद्या का ही विस्तार हैं। इस तरह अविद्या को मृत्यु बताया। अपने स्वरूप का अज्ञान वास्तविक मृत्यु है। त्रिरूप उक्त मृत्यु की अभिव्यक्ति जाग्रदादि में है। जाग्रत् एवं तदन्तर्गत शरीर तथा मन-इंद्रिय-प्राणइन्हीं में मृत्यु के रूप व्यक्त हैं। स्वप्न में यद्यपि काम-कर्म अनुभव में आते हैं तथापि व्यवहार-भूमि में ही बाधित हो जाने से उन्हें मृत्यु का कार्यकारी रूप कहना नहीं बनता। स्वप्न में किये कर्म सफल भी नहीं होते, न लोक में, न परलोक में उनकी सफलता है। अतः 'जाग्रद्देहेन्द्रियादि' कहना सुसंगत है। इन्हें लाँघने पर प्रकाशरूप ही आत्मा रहता है। यद्यपि अभी पहुँचा स्वप्न में ही है तथापि मृत्युरूपों से तो छूट गया, यह भाव है। प्रकाशरूपता का प्रतिबोध भले ही विचार से होगा लेकिन प्रकाशरूपता है इतना निर्णीत है। अज्ञाननाश से अतिक्रमण हो तब मुक्ति है, उसके बिना क्योंकि पुनः जाग्रदादितादात्म्य स्थापित हो जाता है इसलिये लंघन अपना लाभ नहीं दे पाता। स्वप्न-विचार से जाग्रन्मिथ्यात्व के निश्चय को दृढ करते रहना मुमुक्षुका कर्त्तव्य है। लौकिकों का यत्न जाग्रत्सत्यता सिद्ध करने का होने से वे स्वप्नादि भ्रमों का परीक्षण ही नहीं करना चाहते किंतु वेदान्ती अपनी तीनों अवस्थाओं का, प्रमा-भ्रम-संशय-अज्ञान का परीक्षण करता ही रहता है तभी दृश्यमिथ्यात्व का निश्चय प्राप्त करता है। तदनन्तर स्वप्रकाश ज्योतीरूप की निरंकुश स्फूर्ति है।।८३-६।।

श्लोक ७७ से शुरू चर्चा पूरी करते हैं **इसलिये दोनों लोकों में बुद्धि के पीछे-पीछे संचरण करना अर्थात् क्रिया ध्यान आदि करना, आत्मा का स्वभाव नहीं किंतु उपाधि-अध्यास से है।।८७।।** इह लोक एवं भूत-भावी लोक, इनमें गमन-आगमन आत्मा करता हुआ इसीलिये प्रतीत होता है कि बुद्धि आदि उपाधि से एकमेक समझा जा रहा है अतः उपाधि-तादात्म्यवश ऐसा है, न कि स्वरूपभूत।।८७।।

उपनिषत् ४.३. के वाक्य ८ को समझाना प्रारम्भ करते हैं **जाग्रत् के देहादि जो मृत्यु के रूप, उनका स्वप्न में भले ही लंघन हो जाये लेकिन जन्मान्तर में तो (देह का लंघन नहीं होता होगा)? ऐसी शंका कर याज्ञवल्क्य ने 'स वा अयं**

जाग्रद्देहादिकं मृत्यो रूपं स्वप्नेऽतिवर्तताम्।
न जन्मान्तर इत्येवमाशंक्योक्तं स वा इति।।८८।।
युज्यते जायमानः सन्दुःखैरात्मैष ऐहिकैः।
मृतो वियुज्यते भाविजन्म स्वप्नसमं ततः।।८९।।

पुरुषो जायमानः शरीरम् अभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति' ऐसा कहा।।८८।। उक्त श्रुति का अर्थ है कि आत्मा पैदा होते हुए अर्थात् शरीराभिमानी बनते हुए 'पाप्मभिः' अर्थात् धर्माधर्म के आश्रयभूत कार्य-करणों से सम्बद्ध हो जाता है और मरते हुए अर्थात् शरीर छोड़ते हुए उन कार्य-करणों को छोड़ जाता है। इससे व्यक्त किया कि क्योंकि शरीर छोड़कर मरता है इसलिये शरीर से अलग है यह निःसन्दिग्ध है।।८८।।

वाक्य-तात्पर्य समझाते हैं **यह आत्मा, उत्पन्न होता हुआ इह लोक (नवीन शरीर) के दुःखों से जुड़ता है, मरने पर उनसे छूट जाता है, इसलिये अगला जन्म स्वप्न की तरह है।।८९।।** आत्मा नित्य होने पर भी उत्पद्यमान स्थूल शरीर से तादात्म्य के कारण उत्पन्न होने वाला कहा-समझा जाता है। प्रारब्ध के उपभोगार्थ जन्म होता है अतः पैदा होते ही दुःख (और सुख) शुरू हो जाते हैं। प्रारब्ध अवश्य भोक्तव्य है इस निश्चय से व्यक्ति मृत्यु आदि से भयभीत नहीं रहता; बिना प्रारब्ध-समाप्ति मर नहीं सकते, समाप्ति होने पर बच नहीं सकते अतः मृत्यु से सदा डरना व्यर्थ समझ आ जाता है। अभी तो लगता है कि उपाय से बचना हो सकता है और उपाय असीम होने से अधिकाधिक उपायों की ओर बढ़ते हैं। भय मिटने पर उपलब्ध उपाय का स्वभाववश अवलम्बन करने से ही सन्तोष हो जायेगा। प्रारब्धरूप ईश्वरेच्छा पर निर्भरता अभयी जीवन बिताने का एकमात्र रास्ता है। पाप-दुःख, या पुण्य-सुख इनमें बीजभाव-फलभाव का ही अंतर है, वस्तु वही है। अच्छे-बुरे कर्मों से पुण्य-पाप द्वारा सुख-दुःख मिलता है, यह निरन्तरता है अर्थात् ये चीज़ें अलग-अलग नहीं, क्रिया के ही विकसित रूप हैं। यद्यपि मरने पर, जाते हुए ही कर्म साथ ले जाता है तथापि वे ही कर्म जो नवीन शरीर में भोगने हैं, अतः उन्हें भावी देह के कर्म कहना बनता है तथा क्योंकि वे प्रकट सुख-दुःख के रूप में शरीर में ही होते हैं अतः उत्पन्न होते हुए उनसे सम्बद्ध होता हैयह भी ठीक है। दुःखों के बाहुल्यवश या परमार्थ से वंचित रखना सुखों में भी होने से उन्हें दुःख में ही गिन लिया। जब जिस शरीर में खुद को समझता है तब उसीके दुःख भोगता है, शरीर छोड़ने पर नहीं अतः शरीरों से आत्मा अलग है यह उसी प्रकार सिद्ध हो जाता है जैसे जाग्रत्

जन्मात्र नासतः सत्त्वं किंतु देहेन संयुतिः ।
प्रादुर्भावो जनेरर्थः सत एव स युज्यते ।।९०।।
मृतिः प्राणवियोगः स्यान्नतु नाशः सतो मतः ।
मृङ्प्राणत्याग इत्युक्त्या स्वयं नष्टः कथं त्यजेत् ।।९१।।

से स्वप्न में जाने से सिद्ध होता है। प्रश्न था कि स्वप्न में लंघन होने पर भी जन्मान्तर में क्योंकि स्थूल देहेन्द्रियादि और उनसे भोग होता ही है इसलिये आत्मा सदेह ही रहा, देहभिन्न कैसे? उत्तर दिया कि देह बदल गया, आत्मा नहीं बदला, इससे सिद्ध हो गया कि सभी स्थूल शरीरों से भिन्न है। जैसे प्रकाश सदा प्रकाश्य पर ही दीखने पर भी प्रकाश्यभिन्न समझ आता है वैसे आत्मा देहभिन्न समझ आता है। खास तो जन्मान्तर-स्वप्न की समानता से दोनों का मिथ्यात्व कहा है।।८९।।

आत्मा का जन्म कहने का मतलब बताते हैं **आत्मप्रसंग में असत् का सत् हो जाना जन्म नहीं वरन् देह से सम्बन्ध जन्म है। जनि-धातु का अर्थ है 'प्रकट होना' तथा वह मौजूद का ही होना युक्तियुक्त है।।९०।। इसी तरह प्राणों का वियोग मरण है न कि सद्रूप आत्मा का नाश। मृङ्-धातु का अर्थ 'प्राण छोड़ना' बताया है, स्वयं नष्ट हुई चीज़ कुछ छोड़ेगी कैसे!।।९१।।** प्रायः मानते हैं कि जो है नहीं, वह जब हो जाता है तब उसका जन्म है और फिर जब नहीं रह जाता तब मरण है। लेकिन आत्मप्रसंग में ये जन्म-मरण नहीं हैं। वास्तव में तो अनात्मा घटादि का भी 'असत् का सद्भावरूप' जन्म असंभव है, जैसा 'नासतो विद्यते भावः' आदि गीता में स्पष्ट है अतः वेदान्त भी पूर्व भूमि के रूप में परिणाम की ही अनुमति देता है, प्रारंभवाद की नहीं। इसी दृष्टि से श्लोकस्थ 'अत्र' से औपनिषद दर्शन समझना चाहिये। आत्मा सदा है। शरीराभिमानवश कर्मवान् फिर उनके कारण फलवान् प्रतीत होता रहता है, इसमें जब-जब नया स्थूल देह अभिमान का विषय बनता है तब-तब जन्म और जब-जब प्राण-देहसंबंध टूटने पर वैसा विषय नहीं रहता तब-तब मरण कहा जाता है। जैसा पूर्व श्लोकों में बताया था कि कर्म-फल बीज-वृक्ष की तरह हैं, अतः जैसे बीजदशा में वृक्ष का रूप-रंग हर कोई नहीं समझ पाता वैसे कर्मकाल में उसका फल समझ नहीं आता जिससे हम पाप करते जाते हैं यह सोचते हुए कि पाप से कार्यसिद्धि होती जा रही है। फिर जब दुःख सामने आते हैं तब घबराते हैं, शोकमग्न हो जाते हैं। किंतु अज्ञान, मोह के वश में रहने से पुनरपि वही सिलसिला चला देते हैं! जन्म-मरण का यही भाव व्याकरण से निकलता है : जन्म-शब्द जनि-धतु से बना है और जनिका मतलब है प्रादुर्भाव, प्रकट

इमं लोकं परं चायं जाग्रत्स्वप्नप्रवाहवत्।
सदा भजति तेनास्य सिद्धा देहादिभिन्नता।।९२।।
लोकायताः परं लोकं नेच्छन्त्यन्ये तु मन्वते।
त्रीँल्लोकान् स्वप्नसंयुक्तांस्ततस्तस्येति वक्त्यसौ।।९३।।

होना। जो उपस्थित किंतु छिपा है वही प्रकट होता है, जो है ही नहीं, वह कैसे प्रकट हो सकता है! ऐसे ही प्राणों को छोड़ देनामृङ्धातु से कहा जाता है, छोड़ वही सकता है जो उपस्थित हो। अतः अन्यत्र जन्म-नाश चाहे जैसे समझें, आत्मा के तो जन्म मरण 'असत् का सद्भाव, सत् का असद्भाव' नहीं ही मान सकते। त्यागने छोड़ने वाला बना रहे और जो छोड़ना है वह छूटे, तब छोड़ना कहा-समझा जाता है। अत एव मरने को तलाक नहीं कहते! पति-पत्नी छूटते तो मरने से भी हैं लेकिन छोड़ने वाला रहा नहीं अतः यह नहीं कह सकते कि उसने पत्नी को छोड़ दिया। अतः प्राण वही त्यागता है जो रहता है। इससे आत्मा शरीरादि से अलग है यह और स्पष्ट हो जाता है। अतः भगवान् ने निर्णय ही दे रखा है कि जो 'नहीं है' वह कभी 'है' नहीं हो सकता, जो 'है' वह कभी 'नहीं है' नहीं हो सकता। स्वरूप कभी छूटता नहीं, सदा रहता है। हम इसी बारे में भ्रान्त हैं अतः 'है' को 'नहीं है' बनाना चाहते हैं, 'नहीं है' को 'है' बनना चाहते हैं! हमें लगता भी है कि हम इसमें कामयाब हो रहे हैंयह भ्रांति को दृढ करता जाता है। भ्रमानुभव से मानी चीज़ें ही मिथ्या, माया कही जाती हैं। जन्म-मरण ऐसे ही भ्रम हैं, सद्रूप आत्मा का न जन्म है, न मरण है क्योंकि वह तो अखण्ड 'है' ही है। 'है' व 'नहीं है' के बारे में यह स्पष्टता आ जाने पर वैराग्य स्वाभाविक हो जाता है।।९०-१।।

आठवें वाक्य की व्याख्या पूरी करते हैं **जाग्रत्-स्वप्न के प्रवाह की तरह यह आत्मा सदा इस लोक और परलोक का सेवन करता है अतः सिद्ध होता है कि यह शरीरादि से भिन्न है।।९२।।** लोकद्वय से सभी शरीर अभिप्रेत हैं अतः अनादि-अनन्त जन्म-मृत्यु का चक्र ही स्थूल देहादि से आत्मभेद सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है।।९२।।

अगला श्रुतिवाक्य कहता है कि इस पुरुष के दो ही स्थान हैंयह और परलोकस्थान। इनकी सान्धिरूप स्वप्न स्थान तीसरा समझ सकते हैं जहाँ रहते हुए यह आत्मा इस और परलोक स्थान दोनों को देख लेता है। इसे श्लोक ९८ तक समझायेंगे **लोकायत (चार्वाक) परलोक नहीं स्वीकारते, बाकी तो मानते हैं। इसलिये (चार्वाक को सन्तुष्ट करने के लिये) 'तस्य' आदि वाक्य स्वप्न-समेत तीन लोकों का कथन**

अयोगं परलोकस्य वारयत्येवकारतः।
सन्ध्यत्वेन तृतीयत्वं स्वप्नलोकस्य वार्यते।।६४।।
भोगभावात्तृतीयत्वमुच्यते चेत्तथोच्यताम्।
वस्तुतो न तृतीयत्वं धर्माधर्मप्रसंगतः।।६५।।
देशयोरुभयोः संधिर्न हि देशान्तरं यथा।
लोकयोरुभयोः संधिस्तथा लोकान्तरं न हि।।६६।।
इमं लोकमिव स्वप्ने परलोकं स पश्यति।
अतः प्रत्यक्षतोऽस्तित्वं परलोकस्य गम्यताम्।।६७।।
अतीतजन्मवृत्तान्तं बाल्ये प्रायेण पश्यति।
ऐहिकं यौवनेऽन्ते तु तपस्वी भावि वीक्षते।।६८।।

करता है।।६३।। लोकायत, चार्वाक प्रत्यक्ष पर ही निर्भर रहने से परलोक या जन्मान्तर नहीं मानता अतः प्रत्यक्ष से ही उसे परलोक समझाने के लिये श्रुति ने सपने को इह-परलोक की संधि के रूप में बताया। जो ज्ञान ऐहिक नहीं वे भी सपने में होते हैं, देवता राक्षस आदि दीखते हैं, उनके लिये आवश्यक संस्कार आ ही तब सकते हैं जब परलोक, जन्मान्तर रहा हो। यों स्वप्नप्रत्यक्ष से जन्मान्तर को सिद्ध करना याज्ञवल्क्य का अत्यन्त प्रौढ प्रयास है।।६३।।

वाक्य है 'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः', इसका अर्थ बताते हैं **एव शब्द से परलोक के असंबंध का या अयुक्तता का निषेध किया एवं स्वप्नलोक के तीसरेपन का निषेध उसे सन्ध्य (संधिरूप) कहने से किया।।६४।।** 'दो ही स्थान हैं' में 'ही' (एव) से लोकायत की बात ग़लत घोषित की। वह एक ही स्थान मानता है अतः स्पष्ट किया कि दो हैं, एक ही नहीं। कोई सपने को तीसरा मानता, उसे भी मना किया कि सपना तो संधिमात्र होने से तीसरा स्थान नहीं है, भले ही तीसरा कह दिया जाये।।६४।।

स्वप्न को तीसरा न कहना उपपन्न करते हैं **सपने में भोग होने से उसे तीसरा कहा भले ही जाये, वास्तव में वह तीसरा नहीं अन्यथा वहाँ भी धर्म-अधर्म होना ज़रूरी होगा!।।६५।। दो देशों की सीमा जैसे कोई अलग देश नहीं होता वैसे दोनों लोकों की संधि अन्य लोक नहीं है।।६६।। सपने में इस लोक की तरह परलोक भी आत्मा देखता है इसलिये परलोक का अस्तित्व प्रत्यक्ष से ही समझ सकते हैं।।६७।। बाल्यावस्था के सपनों में प्रायः बीते जीवन के वृत्तांत**

देखता है, यौवन के सपनों में इस लोक के स्वप्न देखता है और अन्त में तपस्वी हुआ भावी जन्म से सम्बद्ध स्वप्न देखता है।।९८।। भोगभूमि लोक कही जाती है अतः स्वप्न को लोक कह सकते हैं लेकिन उसे लोक उपचार से ही कहना संभव है। सचमुच वह लोक हो तो मनुष्याभिमान रहते वहाँ किये कर्मों से पुण्य-पाप भी होने लगेंगे जो न शास्त्रसम्मत है, न कोई वादी मानता है। चार्वाक भी सपने में किये को किया तो गिनता नहीं! जगते ही स्वप्न में किये का बाध हो जाता है। जब उन कर्मों में अभिमान ही नहीं रहा तो उनके फल का प्रसंग ही समाप्त है। सपने में भोगे सुख-दुःख का बाध नहीं होता; अच्छा सपना देखकर मज़ा नहीं आया थाऐसा जगने पर नहीं लगता। था सपना अर्थात् अवास्तविक पर देखते हुए अच्छा तो लगा ही था, सुख आया ही थायही प्रतीत होता है। ऐसे ही दुःख के बारे में है। लेकिन 'किया तो था ही' यह क्रिया के बारे में नहीं लगता वरन् 'देखा ही था, किया नहीं था' यही प्रतीत होता है। अतः भोग ही स्वप्न में मान सकते हैं, कर्म नहीं। इससे सपना लोक नहीं, यह सिद्ध होता है। दो लोकों की संधि ही सपना है इसलिये भी पृथक् लोक नहीं यह स्पष्ट है। इसलिये वहाँ भी कुछ वस्तुतः उत्पन्न हो सके इसका 'मायामात्रं तु' सूत्र से (३.२.३) निषेध किया है। स्वप्न में देखने के लिये ज़रूरी है संस्कार, वासनायें। जिन चीज़ों के संस्कार इस लोक में असंभव हैं उन्हें सपने में देखते हैं तो निश्चित है कि किसी पूर्वजन्म में परलोक के अंदर वे संस्कार एकत्र हुए थे। यों सपने से परलोक सिद्ध हो जाता है। सपने में स्वयं को दिव्य विमान में घूमता देखते हैं तो अवश्य उसका संस्कार दिव्य लोक में ही अर्जित किया होगा अन्यथा सपने में वैसा दीख नहीं सकता। स्वप्न की अन्यथानुपपत्तिरूप दृष्टार्थापत्ति के बल पर परलोक प्रमाणित होता है। जातमात्र बालक भी सपने तो देखता है, उसके पास यहाँ के तो संस्कार हैं नहीं अतः अवश्य पूर्व के संस्कारों से देखता है। कई बच्चे तो पूर्वजन्म याद भी रखे हुए देखे-सुने जाते हैं। जवानी के सपने प्रायः उन्हीं संस्कारों से आते हैं जो यहाँ बटोरे हैं। बुढ़ापे में भी यदि गृही रह गया तो इस लोक की ही चिंता से यहीं के सपने भी देखेगा लेकिन यदि तपस्वी हुआ तो क्योंकि वह अपने उज्ज्वल भविष्य के लिये उत्सुक होता है इसलिये तपोबल से वह सपने उस बारे में देखता है। संस्कारवश न होने पर भी तपोवश वह दर्शन होता है जिससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि भावी जन्म है। इससे बताया कि लोकायत भी तपस्या करे तो भावी का स्वयं स्वप्न में दर्शन कर सकता है अर्थात् प्रत्यक्ष से भावी जन्म की सिद्धि कर सकता है।।९५-८।।

सपने में भावी का दर्शन श्रुति ने 'अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तम् आक्रमम् आक्रम्य उभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति' से कहा, उसे बताते हैं **जैसे**

आक्रम्य यादृग्देहादि भाविजन्मानि वीक्षते।
स्वप्नेऽपि तादृगाक्रम्य सुखदुःखानि पश्यति।।९९।।
बहुजन्मसु संचाराद्देहादिव्यतिरिक्तताम्।
निरूप्याथ स्वप्रभत्वं स यत्रेति निरूप्यते।।१००।।
स यदा वासनामस्य जाग्रल्लोकस्य सर्वशः।
आदाय शेते विज्ञेया तस्य स्वप्रभता तदा।।१०१।।
स यत्र प्रस्वपित्यत्र स्वयंज्योतिः पुमानिति।
योज्यमस्येत्यादिना तु स्वापशब्दार्थ उच्यते।।१०२।।
न सुषुप्तिरिह स्वापः किंतु स्वप्नो विवक्षितः।
स जाग्रद्वासनाजन्यप्रपंचप्रतिभात्मकः।।१०३।।

'आक्रम' के सहारे भावी जन्म में देहादि देखता है वैसे 'आक्रम' के सहारे सपने में भी सुख-दुःख देखता है।।९९।। जिसके द्वारा अगले देह से सम्बन्ध होता है उस कर्म उपासनादि को यहाँ 'आक्रम' कहा। कर्मोपासना के फलस्वरूप ही भावी जन्म मिलता है। सपने में भी कर्मोपासनावश सुखादि भोगे जाते हैं। तपस्वी, भाविदेहप्रद कर्म के ही प्रभाव से भावी को सपने में देख लेता है, यह भाव है। गैरतपस्वी में ऐसी सामर्थ्य नहीं होती।।९९।।

श्लोक २४ में प्रतिज्ञात तीन में से प्रथम प्रतिपाद्य का प्रसंग समाप्त करते हैं **बहुत जन्मों में संचरण के आधार पर आत्मा देहादि से पृथक् है यह निरूपित कर अब 'स यत्र' आदि वाक्य से स्वप्रकाशता का निरूपण किया जाता है।।१००।।** व्याख्येय वाक्य है 'स यत्र प्रस्वपिति अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्राम् उपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति अत्रायं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिर्भवति' (९) 'सर्वावान्' इस जाग्रत् लोक की 'मात्रा' वासना लेकर एवं स्थूल में अभिमान (विहत्य) छोड़कर जीव खुद अपनी वासनाओं से सपने बनाता है और अपनी रोशनी से ही उन्हें अनुभव कर लेता है। सबका अर्थात् सारे प्राणियों का अवन (रक्षण) करने से जाग्रत् का जीव सर्वावान् है यह ग्रंथकार ही बता देंगे।।१००।।

उक्त वाक्य का तात्पर्य कहते हैं **वह जब इस जाग्रत् लोक की सारी वासना ग्रहण कर सोता है तब पुरुष स्वप्रकाश हैयों वाक्य समझना उचित है। 'अस्य' आदि शब्दों द्वारा 'सोना' शब्द का अर्थ बताया।।१०१-२।। यहाँ गहरी नींद नहीं, सपना 'सोने' का अभिप्राय है। जाग्रत् की वासनाओं से जन्य प्रपंच**

जाग्रल्लोकस्तु सर्वावानशेषमवतीत्यतः ।
अवितृत्वं च सप्तान्नब्राह्मणे[1] प्राक् प्रपंचितम् ।।१०४ ।।
यद्वाऽध्यात्मादिभेदोऽयं सर्वोऽत्रास्तीति सर्ववान् ।
तस्य सर्वावतोऽशेषवासना स्वप्नसृष्टिकृत् ।।१०५ ।।

का प्रतिभास ही स्वप्न का स्वरूप है ।।१०३ ।। जाग्रत् में बाहरी विषयों से संपर्क होने पर उनकी वासनाएँ पड़ती हैं तथा भ्रमों की भी वासनाएँ पड़ती हैं। शोभन-अशोभन, सुन्दर-स्वादिष्ट आदि सब भ्रमों की ही वासनायें हैं। इन सभी को साथ लेकर जीव सोता है। बाहरी विषय-इन्द्रिय तो यहीं छोड़ जाता है, केवल वासनाएँ लेकर सोता है। तब दीखने वाला सपना आत्मा के ही प्रभाव से है। जो चीज़ जैसी है उसको वैसा प्रकट कर देनायह प्रकाश करता है। जैसे आँखों को रूप देखने के लिये सूर्यादि रोशनी चाहिये वैसे जीभ को स्वाद चखने के लिये जल चाहिये, सर्वथा सूखी जीभ स्वाद नहीं ले सकती, ऐसे ही अन्यत्र कोई-न-कोई सहारा चाहिये रहता है तो निर्णय मुश्किल हो जाता है कि आत्मा अकेला समर्थ है, लेकिन सपने में अन्य कुछ न चाहिये रहने से निर्णय हो जाता है। इसीलिये 'सोने' से सपने की अवस्था समझनी चाहिये क्योंकि वहीं यह स्वप्रकाशता व्यक्त है। जाग्रत् प्रपंच जैसे परमेश्वर द्वारा प्रकाशित है, स्वप्न प्रपंच वैसे जीव द्वारा प्रकाशित है। उसके सहारे ज्योतीरूपता समझ आ सकती है।।१०१-३।।

'सर्वावतः' शब्द दो तरह से समझाते हैं **सब की रक्षा करता है इसलिये जाग्रत् लोक सर्वावान् है। सबका रक्षक होना पहले सप्तान्न ब्राह्मण में (बृ.१.५) समझा चुके हैं।।१०४।। अथवा, अध्यात्म आदि यह सारा भेद जाग्रत् में है इसलिये यह सर्ववान् है (और उसे ही सर्वावान् कहते हैं)। उस सर्वावान् की सारी वासना स्वप्न का सर्जन करती है।।१०५।।** उक्त ब्राह्मण में सभी के अन्नों का वर्णन है। अन्न मिलते रहने से सब सुरक्षित रहते हैं। सातों अन्न जाग्रत् में ही उपस्थित हैं अतः यह सबका अवन अर्थात् रक्षण करता है। सार में 'सप्तान्नब्राह्मणात् प्राक्' पाठ है। बृ. १.४.१६ में आत्मा को सब भूतों का 'लोक' कहा है अर्थात् उपकारक बताया है, वह प्रसंग सूचित है। सर्वावान् के दूसरे अर्थ में सर्ववान् मुख्य शब्द है, उसे ही सर्वावान् कहा है। दीर्घ को छान्दस समझना चाहिये। स्वप्न में अधिभूत-अधिदैव नहीं रहते अतः उसकी व्यावृत्ति कर जहाँ सारा ही भेद उपस्थित है उस जाग्रत् को सर्ववान् कहा। वहाँ वासना

---

१. सप्तान्नब्राह्मणात्इति सारे।

आदाय वासनां स्थूले देहे हित्वाऽभिमन्तृताम् ।
सूक्ष्मेऽभिमानं निर्माय पश्यन्नेषोऽवतिष्ठते । ।१०६ । ।
हननं च विनिर्माणं जीवकर्मवशादिति ।
विवक्षुः स्वयमित्याह दैवं कर्मानुसार्यतः । ।१०७ । ।

बटोरकर उनसे जीव सपना बुन लेता है। यद्यपि स्वप्न की वासना से स्वप्नान्तर बन सकता है तथापि बिना जाग्रद्वासना के नहीं बनता क्योंकि एक तो स्वप्न की वासनाएँ अत्यल्प होती हैं, दूसरा वे इतनी दृढ प्रायः नहीं होती कि उद्बुद्ध होवें। फिर भी उनका उपयोग नकारते नहीं, जाग्रद्वासना स्वप्नसृष्टि करती है इतना ही कह रहे हैं। 'कृत्' से वासना को हेतु बताया। ।१०४-५ । ।

स्वप्न बताते हैं **स्थूल शरीर में अभिमान त्यागकर, वासनाएँ लेकर, सूक्ष्म में अभिमान बनाकर (सपना) देखते हुए यह (आत्मा) रहता है। ।१०६ । ।** सोते समय जाग्रत् में, स्थूल देह में अभिमान नहीं रहता, इसकी सुविधा, रोग आदि का संपर्क छूट जाता है। वासनाओं से सपने में नये सूक्ष्म अर्थात् वासनामय शरीर बनाकर उनमें अभिमान करते हैं तब वहाँ के भोग होते हैं। सपने में जवान शरीर बनाकर उसमें अभिमान करते हैं कि यह मैं हूँ तब अपनी जवानी का वहाँ भोग करते हैं। वहीं पड़ौसी का बूढ़ा शरीर भी बनाते तो हैं लेकिन उसमें 'यह मैं हूँ' ऐसा अभिमान नहीं करते तो अपनी बुढ़ौती का वहाँ भोग भी नहीं होता। अतः केवल स्वाप्न शरीर ही नहीं, उनमें अभिमान का भी निर्माण करते हैं। जाग्रत् में जैसे जहाँ अभिमान है वहीं भोग है, अन्यत्र नहीं, ऐसे ही स्वप्न में स्थिति है। कर्म और भोग का मूल केवल अभिमान है। ।१०६ । ।

श्रुति में 'स्वयं विहत्य, स्वयं निर्माय' यों स्वयं शब्द रखा, उसका उपयोग व्यक्त करते है **स्थूल को छोड़ना और वासनामय का निर्माण जीव के कर्म के प्रभाव से होता है यह बताने के लिये 'स्वयम्' कहा। इससे व्यक्त हुआ कि दैव भी कर्मों के अनुसार होता है। ।१०७ । ।** चाहे मरकर जन्मान्तर के लिये जाना हो, चाहे जाग्रत् से स्वप्न में जाना हो, होता कर्मवश है और इसीलिये कर्मानुष्ठाता को स्वयं उसमें जिम्मेवार बताया है। जाग्रत् में भोग्य कर्म कुछ देर के लिये ख़त्म हैं, स्वप्न में भोग्य कर्मों का उद्भव (फलोन्मुखता) है तब जीव खुद जाग्रत् में अभिमान छोड़कर सपने में नये वासनामयको तैयारकर उसमें अभिमान बनाकर सपना देखता है। मरकर जाने पर तो भगवान् का बनायासृष्टि के ढंग के अनुसार माता-पिता अन्नादि क्रम से तैयारशरीर होता है जिसमें अभिमान करते हैं, सपने में भगवान् का बनाया न होने से स्वयं बनाना

स्वेन भासेति शब्दाभ्यां स्वकीया वासनोच्यते।
स्वरूपभूता चित्स्वेन ज्योतिषेति विवक्षिता।।१०८।।
इत्थंभावे तृतीया स्याद् वासनाज्योतिषोस्ततः।
भास्यभासकरूपेण स्थितिः स्वप्न इतीर्यते।।१०६।।
अत्रान्यऽज्योतिषोऽभावात् स्वयंज्योतिः पुमान् भवेत्।
न ज्योतिष्ट्वं वासनाया भास्यत्वेन परिक्षयात्।।११०।।

पड़ता है। अगर स्वप्नभोग्य भी कर्म न हों तब तो सुषुप्ति हो जायेगी। कर्म जैसे स्वप्न में वैसे जन्मान्तर में हेतु हैं। वहाँ उत्पाद्य शरीर भगवान् ने उत्पन्न होने वाले प्राणी के कर्मानुसार ही बनाया है। अतः दैव या ईश्वरेच्छा प्राणिकृत कर्म के अनुरूप होने से वैषम्य आदि कोई दोष दैव पर नहीं दिया जा सकता। इससे भी 'स्वयम्' कहना सार्थक हो जाता है।।१०७।।

आगे श्रुति है 'स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति', इसे समझाते हैं **'स्वेन भासा' इन दो शब्दों से अपनी वासना कही है, 'स्वेन ज्योतिषा' शब्दों से स्वरूपात्मक चैतन्य कहा है।।१०८।। उभयत्र तृतीया विभक्ति इत्थंभाव अर्थ में है, अतः कहा यह जा रहा है कि सपने में अपनी वासना ही भास्य (विषय) रूप से तथा अपनी ज्योति ही भासक रूप से स्थित हैं।।१०६।। स्वप्न में अन्य प्रकाश न होने से पुरुष स्वयं प्रकाश होता है। वासना वहाँ भास्य बनकर कृतकार्य हो चुकती है अतः वह वहाँ प्रकाश नहीं है।।११०।।** भास् और ज्योतिदोनों शब्द समानार्थ होने से समझाया कि भास् से वासना और ज्योति से ज्ञान (प्रकाश) अभिप्रेत है। ऐसे ही 'स्वेन' 'स्वेन' यों दो बार स्व-शब्द आया; भास् के साथ स्व का मतलब स्वकीय है तथा ज्योति के साथ स्व का मतलब स्वरूप है। अर्थात् वासना तो आत्मा नहीं उससे सम्बद्ध है जबकि ज्योति आत्मा ही है। चारों पद तृतीया विभक्ति में हैं, तृतीया यहाँ इत्थंभाव अर्थ के लिये रखी। इत्थंभाव अर्थात् 'वस्तु ऐसी है।' लक्ष्य को लक्षित करने के लिये कहे शब्द में तृतीया लगाने पर यह अर्थ प्रसिद्ध है जैसे 'जटाभिः तापसः', 'जटाओं से तपस्वी है' में 'जटाओं से' अर्थात् जटाओं से पता चलता है कि व्यक्ति तपस्वी है, जटा तपस्वी का लक्षण है। अतः वासना द्वारा या प्रकाश द्वारा यह अर्थ नहीं वरन् वासनारूप से और प्रकाशरूप सेयह अर्थ है। वासना केवल वासना के आकार में नहीं वरन् भास्य अर्थात् वासनामय शरीरादि के आकर में होती है तब स्वप्न होता है। 'स्वेन ज्योतिषा' से भासकरूप कहने का भाव है कि केवल ज्योतीरूप से आत्मा रहता है; क्योंकि वासनामय

आत्मबुद्धिमनश्चक्षुरालोकविषयैर्युते।
न जागरे स्वयं ज्योतिर्विवेक्तुं शक्यते नृभिः।।१११।।
न सुषुप्तेऽपि तच्छक्यं भास्याभिव्यक्त्यभावतः।
स्वप्ने तु भास्यमस्त्येकं ततो ज्योतिर्विविच्यते।।११२।।

दृश्य बने हैं इसलिये वे प्रकाशित हो जाते हैं तो प्रकाश को ही प्रकाशक कह दिया है, प्रकाशन करने के लिये प्रकाश ने किया कुछ नहीं। यों इत्थंभाव से ज्योति की निर्विकारता बतायी। जाग्रत् के बजाये स्वप्न में स्वप्रकाशता तो सुविधा के लिये कही है, वहाँ अन्य प्रकाश अप्रसिद्ध होते प्रकाश की स्थिति आत्मा को प्रकाश सिद्ध करती है। जाग्रत् में है भले ही आत्मा ही प्रकाश लेकिन अन्यान्य प्रकाश प्रसिद्ध तो हैं अतः वही एकमात्र प्रकाश है यह निर्णय नहीं हो पाता। पुनरपि प्रश्न उठ सकता है कि स्वप्न में वासना भी तो है, वह क्यों न प्रकाश मान ली जाये? इसका उत्तर दिया कि वासना क्योंकि वहाँ दृश्य बन चुकी है इसलिये वह प्रकाश नहीं मानी जा सकती, द्रष्टा-दृश्य एक ही वस्तु नहीं होती।।१०८-१०।।

स्वप्न-उपन्यास की आवश्यकता स्पष्ट करते हैं **आत्मा, बुद्धि, मन, चक्षु, आलोक और विषयइतनी चीज़ों से संपन्न जाग्रत् में विवेक से स्वयंज्योति का निर्णय लोग नहीं कर सकते।।१११।। सुषुप्ति में भास्य की अभिव्यक्ति ही नहीं रहती अतः वहाँ भी स्वयंज्योति का पता नहीं चलता। सपने में तो एक वासना ही भास्य है अतः विवेकपूर्वक ज्योति का निर्णय किया गया है।।११२।।** जाग्रत् में तो प्रकाश समझी जा सकें ऐसी चीज़ें बहुत हैं तथा सुषुप्ति में कुछ प्रकाशित हो रहा है ऐसा ही नहीं लगता, इसलिये ये दोनों अवस्थाएँ ज्योतिः-स्वरूप के निर्णय के लिये उचित नहीं। सपने में अन्य प्रकाश है नहीं, वासना नामक जो अनात्मा है वह दृश्य हो गयी है, इसलिये जो अद्वितीय आत्मा वहाँ है वही प्रकाश है यह समझ सकना संभव है। सुषुप्ति की तरह समाधि में भी दृश्य न रहने से दर्शन नहीं होता तो दृष्टिरूपता का निर्णय संभव नहीं। तार्किकों को समाहित होने पर भी आत्मा ज्ञानरूप नहीं समझ आया। जैसे प्रकाश्य के बिना प्रकाश प्रतीत नहीं होता वैसे दृश्य के बिना ज्ञान भी प्रतीत नहीं होता, भले ही मौजूद रहे। सांख्य योग आत्मा को ज्ञानरूप स्वीकारते हैं तो समाधि के नहीं, विवेक के आधार पर। यद्यपि वेदान्तविचारक सुषुप्ति में अज्ञान का और आनन्द का भान होने से वहाँ भास्य नहीं यह नहीं मानते, तथापि वहाँ भास्य की 'अभिव्यक्ति' तो नहीं ही है : अज्ञान तो है ही अनभिव्यक्त का नाम; और

स्वप्ने जागरवद् दृष्टा मातृमानादयस्ततः।
दुर्विवेचत्वमाशंक्य न तत्रेति निषिध्यते।।११३।।
रथाश्वादीनि वस्तूनि जाग्रत्कर्मक्षये सति।
लीयन्ते वासनास्तेषां तिष्ठन्ति स्वप्रसिद्धये।।११४।।
लोकसिद्धमुपादानं निमित्तं वा न विद्यते।
स्वप्ने तेन रथादीनां मिथ्यात्वं युज्यतेतराम्।।११५।।
असंगस्यापि संभाव्यम् अविद्याकामकर्मभिः।
स्रष्टृत्वमित्यभिप्रेत्य स हि कर्तेत्यवोचत।।११६।।

आनंद वहाँ विषयतया प्रतीत होता ही नहीं। अतः शास्त्रीय ढंग से सुषुप्ति की परीक्षा भले ही सार्थक निकले, 'नृभिः' अर्थात् जनसामान्य तो वहाँ भी स्वप्रकाश का विवेक कर नहीं सकते।।१११-२।।

दसवाँ वाक्य है कि रथ, घोड़े रास्ते सपने में नहीं होते पर जीव उन सबको उत्पन्न करता है, हर्ष व आनन्द को उत्पन्न करता है, नदी तालाब उत्पन्न करता है क्योंकि वही कर्त्ता है। इसे बताते हैं **स्वप्न में भी जाग्रत् की तरह प्रमाता-प्रमाण आदि देखे जाते हैं अतः विवेक की दुष्करता समान होगी? यह शंकाकर श्रुति 'न तत्र' से स्वप्न में इस सारे भेद का निषेध करती है।।११३।। जाग्रद्-भोग्य कर्म क्षीण होने पर रथ अश्व आदि वस्तुएँ लीन हो जाती हैं, उनकी वासनाएँ रहती हैं ताकि स्वप्न सम्पन्न होवे।।११४।। लोकप्रसिद्ध उपादान या निमित्त स्वप्न में नहीं होते अतः वहाँ दृष्ट रथादि मिथ्या हैं यह अत्यधिक संगत है।।११५।। असंग आत्मा भी उत्पादक हो यह इसलिये युक्त है कि अविद्या-कामना-कर्म इसमें द्वार बन जाते हैं। इस अभिप्राय से 'क्योंकि वह कर्त्ता है' कहा।।११६।।** सपने में विभिन्न इंद्रिय आलोक आदि प्रतीत होने से प्रकाशबाहुल्य की संभावना हटाने के लिये वहाँ इन सबका निषेध किया। फिर वहाँ प्रकाश्य कुछ नहीं होगायह संभावना हटाने के लिये मिथ्या रथादि की उत्पत्ति कही। जाग्रत् में भूत-भौतिक सामग्री से वस्तुओं का निर्माण होता है, स्वप्न में केवल वासना से हो जाता है अतः स्वाप्न वस्तुएँ मिथ्या ही समझ आती हैं। जाग्रद्भ्रमों में मिथ्या को न मानने वालों के लिये स्वप्न भारी समस्या है! वेदान्त तो तीनों अवस्थाओं का स्पष्ट विचार करता है, जाग्रद्भ्रम और स्वप्न दोनों के लिये एक ही व्यवस्था मानता है अतः मिथ्या के बारे में संशय नहीं रहता। स्वप्न में जो कुछ अनुभव में आता है वह मिथ्या है। है तो जाग्रद्दृश्य भी मिथ्या, तथापि जनसामान्य को

ब्राह्मणोक्तार्थदार्ढ्यार्थं श्रुतिर्मन्त्रानुदाहरत् ।
स्वयंज्योतिष्ट्वदेहादिभिन्नत्वे तेष्वतिस्फुटे ।।११७।।
आराममेव मायोत्थं स्वप्ननिर्माणलक्षणम् ।
पश्यन्ति जन्तवस्तस्य न तं पश्यति कश्चन ।।११८।।
चिकित्सकप्रसिध्यापि सुप्तो देहाद्विभिद्यते ।
द्रुतं न बोधयेत् सुप्तमिति प्राहुश्चिकित्सकाः ।।११९।।

वैसा मान्य नहीं, सपने को मिथ्या जनसामान्य भी मानता है। मिथ्या पदार्थों का रचयिता आत्मा इसी से बन पाता है कि वह अविद्या से आवृत है, अतः कामनाग्रस्त है, और उसने पुण्य-पाप बटोर रखे हैं। इन तीन के बिना आत्मा कर्त्ता नहीं बनता। जैसे स्वप्न का, वैसे ही जाग्रत् का भी कर्त्ता वह इन्हीं तीन से बनता है अतः जाग्रत् भी मिथ्या ही है।।११३-६।।

इसके अनन्तर याज्ञवल्क्य ने मंत्र उद्धृत किये हैं, उनका अभिप्राय संगृहीत करते हैं **ब्राह्मण में कहे अर्थ की दृढता के लिये श्रुति ने मंत्र उद्धृत किये जिनमें स्वयंज्योतीरूपता एवं आत्मा की देहादिभिन्नता अति स्पष्ट हैं।।११७।। स्वप्न- रचना-सी रचना वाले मायिक संसाररूप बगीचे को ही लोग देखते हैं, उस आत्मा को कोई नहीं देखता।।११८।।** मंत्रों में वही अर्थ समझाया है अतः आचार्य ने केवल उन्हें सूचित किया, व्याख्या नहीं की। जैसे स्वप्न देखते हैं, स्वप्नरचयिता को नहीं समझ पाते, वैसे संसार सब देखते हैं, परमेश्वर कोई नहीं समझता।।११७-८।।

याज्ञवल्क्य ने आयुर्वेद की बात से भी आत्मा को शरीरातिरिक्त सिद्ध किया 'तन्नायतं बोधयेद् इत्याहुः' कहकर। वह भी बताते हैं **चिकित्सकों में प्रसिद्ध एक नियम से भी निश्चित है कि सोया हुआ व्यक्ति स्थूल शरीर से अलग है। 'सोये हुए को अचानक नहीं जगाना चाहिये'ऐसा चिकित्साशास्त्री कहते हैं।।११९।।** उनका कहना है कि हड़बड़ाकर उठने पर कदाचित् जिन नाडियों में आना उचित था उनकी बजाये अन्यत्र प्रवेश हो जाता है जिससे अचिकित्स्य रोग हो जाया करते हैं। अतः धीरे-धीरे जगाना ही स्वास्थ्य के लिये उचित है। शरीर ही आत्मा होता, तो यह समस्या न आती। अतः उनका मत भी देहभिन्न आत्मा सिद्ध करता है।।११९।।

फिर श्रुति है 'अथो खल्वाहुः जागरितदेश एवास्यैष इति' कि चार्वाक मानता है कि

देहान्यत्वस्वप्रभत्वे असोढ्वा स्वप्नमप्यमुम्।
अपह्नुवानाश्चार्वाकास्तस्याहुर्जागरात्मताम्।।१२०।।
तदसत् स्वप्नपार्थक्यं प्रसिद्धं लोकशास्त्रयोः।
अत्रायं पुरुषस्तेन स्वप्रभश्चेतनः पृथक्।।१२१।।

जागरित स्थान में ही सपना भी होता है! इस प्रसंग को उठाते हैं **आत्मा देहभिन्न और स्वप्रकाश है यह सहन न कर इस सपने का भी निषेध कर इसे जाग्रद्रूप ही बताते हैं!।।१२०।। किंतु वह मत ग़लत है। लोक में व शास्त्रों में जाग्रत् से स्वप्न अलग है यह प्रसिद्ध है। इसलिये स्वप्न में यह चेतन पुरुष स्वप्रकाश और स्थूलभिन्न है ही।।१२१।।** कुछ लोग इतना मुखर न हो सकें लेकिन स्वप्न का एक पृथक् स्तर, धरातल मानना चाहते हैं जो जाग्रत् के समकक्ष सत्य है अतः सपनों के जाग्रत् से अनोखे सम्बन्ध मानकर व्यवहार करते हैं। चार्वक तो स्वप्न की सविषयता, वहाँ भी स्वाप्न इंद्रियादि की आवश्यकता, शरीरपरिच्छेद में उपलब्धि इत्यादि पर ज़ोर देकर स्वप्न कोई दूसरी अवस्था नहीं यह मानता है। इस पक्ष में प्रमाण-युक्ति कुछ है नहीं, लोक-शास्त्र विरोध है अतः इतने से ही इसका निरास कर दिया। भाष्यकार ने इतना जोड़ दिया कि जाग्रत् की इंद्रियाँ उपरत होने पर ही स्वप्न आता है तो उसे जाग्रत् कैसे कहें! पचीस साल का व्यक्ति यदि अंधा हो जाये जाग्रत् में, तो भी सपने में रूप देखता रहता है। यदि जाग्रत्-स्वप्न एक होते तो यह कैसे संभव होता है? इसलिये यह पक्ष विशेष विचारणीय नहीं। वार्तिककार ने समझाया है कि 'अथो खलु' आदि चार्वाकपक्ष पठित यहाँ होने पर भी समझना चाहिये नौवी कण्डिकाके 'स यत्र प्रस्वपिति' आदि वाक्य से पहले क्योंकि इस वाक्य से कहे मत का ही वहाँ खण्डन किया है अर्थात् वहाँ सिद्धान्त पक्ष है जिसका पूर्वपक्ष यहाँ पठित है। पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् मानकर यों योजना उचित हो जाती है।।१२०-१।।

पन्द्रहवीं कण्डिका है 'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति स्वप्नायैव। स यत् तत्र किंचित् पश्यति अनन्वागतस्तेन भवति। असङ्गो ह्ययं पुरुष इति।' इसमें आत्मा की असंगता को बताना प्रारंभ किया। अवस्थाओं में जाते-आते रहने पर भी जो जहाँ अनुभव करता है उसे वहीं छोड़कर चला जाता हैयह आत्मा को असंग सिद्ध करता है। और भी इसमें कुछ सूचित है, वह स्पष्ट करते हैं **कर्मफल सुख-दुःख सपने में भी आत्मा को होते देखे जाते हैं (अतः उनके हेतुभूत कर्म आत्मा के ही धर्म होंगे) यह शंका मानकर 'स**

मोदत्रासौ कर्मकार्यौ दृष्टौ स्वप्नेऽपि चात्मनः।
इत्याशंक्य स वा एष इति कर्म विविच्यते।।१२२।।
कालुष्यं जागरे जीवे स्वप्ने स्वल्पप्रसन्नता।
सम्यक् प्रसीदत्यत्रेति संप्रसादः सुषुप्तकम्।।१२३।।
स्वप्ने रत्वा चरित्वाऽथ विश्रान्तः संप्रसादके।
पुनरायात्यसौ नाडीं स्वप्नार्थमिति योजना।।१२४।।
दृष्ट्वैवेत्येवशब्देन न कृत्वेति विवक्षितम्।
न कर्म कुरुते स्वप्ने कारकाणामसंभवात्।।१२५।।

वा एषः' वाक्य से बता रहे हैं कि कर्म आत्मा से पृथक् है।।१२२।। जाग्रत् में जीव में कलुषता, स्वप्न में थोड़ी प्रसन्नता और सुषुप्ति में भली भाँति प्रसन्न होने से सुषुप्ति का नाम ही यहाँ श्रुति ने 'सम्प्रसाद' रखा।।१२३।। सपने में रमण व विचरण करके फिर थक कर सम्प्रसाद में आराम करने के पश्चात् पुनः स्वप्न देखने के लिये उचित नाडी में आ जाता है।।१२४।। 'देखकर ही' यों 'ही' शब्द से बताना चाहते हैं कि 'करके नहीं' अर्थात् स्वप्न में कर्म नहीं करता क्योंकि वहाँ क्रियासाधन होते ही नहीं।।१२५।। सपने में सुख-दुःख होते ही हैं और वे कर्मफल ही हैं तो स्वप्न में कर्म (अदृष्ट) की अवस्थिति होने से उसके निर्वर्त्तक कर्म (क्रिया) की भी संभावना हो जाती है कि स्वप्न में पुण्य-पाप किये जाते होंगे। इस पर श्रुति ने कहा कि कर्म आत्मधर्म नहीं, ज्ञान आत्मरूप है अतः 'दृष्ट्वैव' देखकर अर्थात् जानकर ही वहाँ से आत्मा लौटता है, कर्मानुष्ठान करके नहीं। स्वप्न में भोग ही होता है, कर्म नहीं। श्रुति में 'सम्प्रसादे रत्वा' कहा; सम्यक् जहाँ प्रसाद, प्रसन्नता, शान्ति हो उस सुषुप्ति के लिये सम्प्रसाद यह शब्द रखा है। इससे प्राप्त होता है कि बाकी दोनों अवस्थाओं में सम्यक् प्रसाद नहीं है। अतः वहाँ की हालत आचार्य ने बतायी कि सपने में थोड़ी-बहुत प्रसन्नता भले ही है, जाग्रत् में तो कालुष्य ही है। उत्कट रागादि और विक्षेप कालुष्य हैं जो जाग्रत् में सुलभ हैं। स्वप्न में क्योंकि थोड़े-से संस्कार ही उद्बुद्ध होते हैं, बाह्य सम्पर्क कोई होता नहीं इसलिये खास विक्षेप नहीं और स्वप्न इतना छोटा होता है कि खास रागादि का मौका नहीं अतः वहाँ प्रसन्नता है। हिंदी में खुशी को प्रसन्नता कहते हैं लेकिन संस्कृत में स्वच्छता, निर्दोषता, स्थिरता से होने वाली शांतिरूप खुशी ही प्रसन्नता कही जाती है। जड वस्तुओं में सिर्फ स्वच्छता और अचंचलता को प्रसन्नता कहते हैं। सुषुप्ति में अप्रसन्नता का हेतु बुद्धि रहती ही नहीं अतः सम्यक् प्रसाद है। ज्ञान

जागरात्स्वप्नमाप्नोति स्वप्नात्सुप्तिमिति क्रमात् ।
वैपरीत्यं प्रतिन्यायं प्रतिमार्ग इतीर्यते । ।१२६ । ।
प्रतियोनि यथास्थानं स्वप्ननाड्यादि भण्यते ।
प्रतिमार्गमवाप्याथ स्वप्नाय स्थानमाव्रजेत् । ।१२७ । ।

स्वयं नहीं वरन् उसका कार्य बुद्धि अशांति में हेतु है। सुषुप्ति में वह नहीं रहने से पूर्ण शांति है। फिर प्रारब्धवश स्वप्नादि अवस्थाओं में आने के लिये तत्तत् नाडी में घुसना पड़ता है। 'दृष्ट्वैव' से श्रुति ने कहा कि पुण्य-पाप को सिर्फ़ देखकर; सिर्फ से बताया कि वहाँ आत्मा करता कुछ नहीं, देखता ही है, जानता या भोगता ही है। पुण्य-पाप अर्थात् उनके फल सुख-दुःख, उन्हें अनुभव तो स्वप्न में करता है लेकिन पुण्यादि को संपन्न नहीं करता। स्वप्न में वासना है और भोग के लिये वह भी पर्याप्त है जबकि कर्म के लिये वासना पर्याप्त नहीं, इंद्रियादि साधन एवं घृत आदि सामग्री चाहिये। वासना से भोग जाग्रत् में भी होता है : जो पत्नी दस दिन पहले मर चुकी उसके मरने की खबर पति को दसवें दिन मिली लेकिन बीते नौ दिन वह 'मेरी पत्नी सुंदर है, प्रिय है, प्रतीक्षा कर रही है' आदि वासना से ही प्रसन्न होता रहा! ऐसे ही दुःख भी वासनामात्र से हो जाता है। अतः स्वप्न में वासना के सहारे भोग संगत है, कर्म संभव नहीं। एवं च कर्म आत्मस्वभाव न होने से आत्मा से सर्वथा पृथक् समझ आ जाते हैं जिस विवेक को श्लोक १२२ में कहा था। ।१२२-५ । ।

'प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति' इस भाग का अर्थ कहते हैं **जाग्रत् से स्वप्न, स्वप्न से सुषुप्तिइस क्रम से विपरीत क्रम को 'प्रतिन्याय' कहा अर्थात् जाने के क्रम से उलटा क्रम। ।१२६ । । 'प्रतियोनि' अर्थात् स्वप्न नाडी आदि उचित स्थान। स्वप्न देखने के लिये प्रतिमार्ग से आकर उचित स्थान पर पहुँचता है। ।१२७ । ।** सुषुप्ति से जाग्रत् के बीच प्रायः स्वप्न एवं जाग्रत् से सुषुप्ति के बीच प्रायः स्वप्न यह क्रम स्वाभाविक है। स्वप्न-सुषुप्ति में जाना-आना चलता रह सकता है। वस्तुतः क्रम में तात्पर्य नहीं वरन् संचरण बताने के द्वारा असंगता बताने में है। विभिन्न अवस्थाओं के दौरान जीव के रहने के विभिन्न स्थान प्रसिद्ध हैं जैसे दायीं आँख, कण्ठ और हृदय। ऐसे ही अवस्थानुरूप नाडियों के उपयोग की चर्चा बृ.२.१.१६ भाष्यवार्तिक में आयी है एवं अनुभूतिप्रकाश अध्याय ६ श्लोक २४-६ में संकेतित हो चुकी है। ।१२६-७ । ।

अब असंगता व्यक्त करते हैं **आत्मा 'अनन्वागत' अर्थात् असम्बद्ध (या**

अनन्वागमने हेतुरसंगत्वं हि-शब्दतः।
सूच्यते बाधकस्तर्कः प्रसिद्धिर्वाऽत्र लौकिकी।।१२८।।
यद्वाऽनन्वागतत्वेन विवेकः कर्मणः कृतः।
असंगत्वेन कामस्य कामो न ह्यात्मनो गुणः।।१२६।।
'स ईयते यत्र कामं' 'यथाकामं प्रवर्तते'।
इति श्रुतिद्वयं स्वप्ने विस्पष्टं काममब्रवीत्।।१३०।।

अप्रभावित) रहता है इसमें कारण आत्मा की असंगता है। श्रुतिस्थ 'हि' शब्द से बाधक तर्क और लौकिक प्रसिद्धि सूचित है।।१२८।। जाग्रत् के अभिमान, सुखादि यथावत् स्वप्नादि में अनुगत नहीं होते, स्वप्न के जाग्रत् में नहीं होते, दोनों के सुषुप्ति में नहीं होते, सुषुप्ति की निर्विशेषता जाग्रत्-स्वप्न में नहीं होती, फिर भी तीनों जगह आत्मा एक हैयह आत्मा की वास्तविक अनासक्तिका ही चमत्कार है। पत्नी बारम्बार सास के विरुद्ध बोलती रहे तो अत्यंत मातृभक्त का भी माँ के साथ व्यवहार कुछ-न-कुछ बदलता है क्योंकि पत्नी की बातों का अनुगम रहता है, ऐसे ही कार्यालय में अतिविक्षेप होवे तो घर आकर भी व्यवहार चिड़चिड़ा रहता है क्योंकि अनुगम रहता है लेकिन जाग्रत् आदि में ऐसा नहीं होता। इससे आत्मा को असंग समझने में सहारा मिलता है। आत्मा को संगवान् मानने में बाधक तर्क 'हि' शब्द से कहा अर्थात् वह संगवान् हो तो तर्क, युक्ति का विरोध होगा। युक्ति इसमें आचार्यों ने बतायी है कि स्वप्न के दोषों से दोषवर्धन होता रहने से चित्तशुद्धि असंभव होगी। जाग्रत् में सावधान रहने वाले से भी सपने में पाप या विधि का अतिक्रमण हो ही जाता है और उसे नियंत्रित करना भी संभव नहीं अतः स्वप्न में भी पाप न हो यह मुमकिन न होने से हमेशा जीव पापवान् रहेगा तो ज्ञानाधिकारी नहीं हो सकेगायह तर्क है। एवं लोक में भी स्वीकृत है कि स्वप्न में किये-कराये से जाग्रद् में दण्ड-पुरस्कारादि नहीं मिलता, स्वप्न के दान से जाग्रत् में पुण्य नहीं होता इत्यादि। इन दोनों से समर्थित है कि आत्मा असंग है।।१२८।।

अनन्वागत और असंग पदों का अन्य भाव भी बताते हैं **अथवा, अनन्वागत कहकर कर्म का विवेक (पृथक्करण) किया और असंग कहकर कामना का विवेक किया क्योंकि कामना आत्माका गुण नहीं है।।१२६।। 'कामनानुसार जाता है' (बृ. ४.३.२), 'कामनानुसार प्रवृत्ति करता है' (२.१.१८)ये दोनों श्रुतिवाक्य स्वप्न में कामना का स्पष्ट कथन कर चुके हैं किंतु यदि श्रुतितात्पर्य होता कि स्वप्न में कामना सत्य है तो वह प्रामाणिक कामना जगने पर भी बनी**

स्वप्नकामस्य वस्तुत्वं श्रुतिभ्यां चेद्विवक्षितम्।
प्रबोधेऽप्यनुवर्तेत तच्च नास्ति ततो मृषा।।१३१।।
जाग्रत्प्रत्यक्षमाश्रित्य जागरे मृत्युसत्यताम्।
आशंक्य पुनरप्राक्षीद् दृष्ट्वैवेति तदुत्तरम्।।१३२।।
मूढप्रत्यक्षतः कर्ता विद्वत्प्रत्यक्षतोऽक्रियः।
विवेकिनाम्नुभवादात्मज्योतिर्विवेचितम्।।१३३।।

रहती जबकि ऐसा होता नहीं इसलिये इसे मिथ्या समझना ही उचित है।।१३०-१।। स्वप्न में किये कर्मों का असम्बन्ध और वहाँ की कामनाओं का असम्बन्धयों दोनों का असम्बन्ध एक-एक शब्द से कहा यह इस विकल्प में अर्थ है। यद्यपि स्वप्न में भी आत्मा कामनावान् मिलता है और तत्र-तत्र वैसा कहा भी है, तथापि सतात्पर्य अकामत्वश्रुति और अननुवृत्ति-प्रत्यक्ष से आत्मा का कामना-सम्बन्ध मिथ्या निर्णीत होता है। वास्तविक वही होता है जो कदापि बदले नहीं, कभी 'है' कभी 'नहीं है' होने वाला वास्तविक नहीं होता। आत्मा में बुद्धितादात्म्यवश ही कामना है, स्वतः नहीं।।१२६-३१।।

इस सन्दर्भ में जनक ने बार-बार कहा 'अब मोक्ष के लिये ही उपदेश दीजिये' और मुनि आगे-आगे समझाते चले। यहाँ भी ऐसे प्रश्नोत्तर का आशय बताते हैं **जाग्रत् के प्रत्यक्ष के आधार पर जाग्रत् में मृत्त्यु की सत्यता की शंकाकर जनक ने फिर पूछा तथा (बुद्धान्त-पर्याय में) 'देखकर ही' यह मुनि ने उसका उत्तर दिया।।१३२।।** यहाँ पहले (१५) वाक्य में 'सम्प्रसादे रत्वा', दूसरे में 'स्वप्ने रत्वा' और तीसरे में 'बुद्धान्ते रत्वा' कहा है अर्थात् सुषुप्ति से आना, सपने से आना और जाग्रत् में रमण-आचरण के बाद स्वप्न में जानाये बताये हैं। इनमें बुद्धांत अर्थात् जाग्रत् वाला वाक्य 'जाग्रत् में भी पुण्य-पाप को देखकर ही जीव स्वप्न में चला जाता है' यह कह रहा है। इससे समझाया कि जाग्रत् में भी देखना ही आत्मा के लिये संभव है, करना नहीं! जनक की शंका थी कि 'स्वप्न में अकर्ता होंने से भी क्या लाभ, जाग्रत् में तो कर्त्ता ही हूँ अतः मृत्त्यु का रूप यथावत् है?' याज्ञवल्क्य ने बताया कि स्वप्न की तरह जाग्रत् में भी अकर्त्ता ही है! जाग्रत् में भी आत्मा वास्तव में कर्त्ता नहीं हो सकता।।१३२।।

अकर्त्ता है तो वैसा भासता क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हैं **मोहग्रस्त रहते जो प्रत्यक्ष है उससे आत्मा कर्त्ता लग रह है लेकिन विद्वान् जब मोह मिटा लेता है तब अक्रिय आत्मा ही प्रत्यक्ष होता है। विवेकवानों के अनुभव के अनुसार आत्मरूप ज्योति का स्पष्टीकरण किया गया है।।१३३।।** श्रुति ने ज्योति के बारे

असकृत्स्वप्नबुद्धान्तसंचारेऽपि न सङ्गवान्।
इत्यर्थेऽस्मिन्महामत्स्यो दृष्टान्तत्वेन वर्ण्यते।।१३४।।
इत्थं स्वप्नप्रसंगेन देहादिव्यतिरिक्तता।
स्वप्रभत्वमसंगत्वं चेत्येतेऽर्थाः प्रपंचिताः।।१३५।।
स एष परलोकस्य दृष्टांतः स्वप्न ईरितः।
सुषुप्तिर्मोक्षदृष्टान्तस्तदर्थो ग्रंथ उत्तरः।।१३६।।
तद्वा अस्यैतदित्यत्र प्राप्तकामस्वभावताम्।
वक्तुं सुप्तावदुःखत्वं वक्ति श्येननिदर्शनात्।।१३७।।

में बताया विवेकियों के अनुभव को महत्त्व देकर क्योंकि मूढ, अविवेकी, मोह में बँधों का प्रत्यक्ष प्रमाण कोटि में नहीं आता। सर्वत्र यही नियम है कि विवेकी का परीक्षित अनुभव की ठीक होता है। हमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व का जो अनुभव है वह बिना विवेक के, बिना परीक्षा के है अतः उसकी अपेक्षा श्रुतिसंमत विवेकपूर्ण विद्वदनुभव ही प्रबल है, वही मोक्षोपयोगी है।।१३३।।

अठारहवें वाक्य को सूचित करते हैं **बारम्बार स्वप्न व जाग्रत् में संचरण करते रहने पर भी आत्मा संगवाला नहीं हैइस बात में दृष्टांतरूप से महामत्स्य (बड़े मच्छ) का वर्णन किया गया है।।१३४।।** उस वाक्य में बताया है, जैसे बड़ा मच्छ नदी के दोनों किनारों पर क्रमशः तैर लेता है वैसे जीव अवस्थाओं में संचरण करता है। मच्छ प्रवाह के परवश या किनारा-विशेष में आसक्त नहीं होता, ऐसा आत्मा अवस्थाओं के परवश नहीं और आसक्त नहीं यह भाव है।।१३४।।

स्वप्न-प्रकरण का उपसंहार करते हैं **इस तरह, स्वप्न के प्रसंग से ये बातें समझायींआत्मा शरीरादि से अलग है, स्वप्रकाश है तथा असंग है।।१३५।।** श्लोक २४ में प्रारंभ विषय यहाँ पूरा हुआ।।१३५।।

कण्डिका १९ से ३३ तक के प्रसंग का श्लोक १८९ तक वर्णन प्रारंभ करते हैं **शास्त्रवर्णित एवं सर्वानुभूत स्वप्न परलोक के लिये दृष्टान्त बताया। मोक्ष में दृष्टांत है सुषुप्ति। यह समझाने के लिये आगे का ग्रंथ है।।१३६।।** श्लोक २५ में यह सूचना दे चुके हैं।।१३६।।

श्रुत्युक्त उदाहरण बताकर तात्पर्य सूचित करते हैं **'तद्वा अस्य' इत्यादि (४.३.२१) में आत्मा स्वभाव से पूर्णकाम है यह बताने के लिये यहाँ श्येन (बाज) के उदाहरण से सुषुप्ति में दुःखराहित्य कह रहे हैं।।१३७।।** वाक्य है 'तद्वा अस्यैतद्

आत्मस्वभावो निःशेषं पुंजीकृत्येह लक्ष्यते।
सुप्तौ मुक्ताविवाद्वैतस्वप्रभानन्दलक्षणः।।१३८।।
अविद्या तु स्थिताऽप्यत्र द्वैतदुःखाद्यनुद्भवात्।
स्वभावं न तिरोधत्ते स्वप्रभानन्दमद्वयम्।।१३९।।

अतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयं रूपम्।' अतिच्छन्द अर्थात् कामवर्जित और अपहतपाप्मा अर्थात् कर्मवर्जित अभयात्मक रूप सुषुप्ति में स्थित रहता है। इसकी व्याख्या के प्रारंभ में १९वें वाक्य में श्येन (बाज) का उदाहरण लिया कि उड़ते-उड़ते थक कर जैसे श्येन घोंसले की ओर जाता है वैसे जाग्रत्-स्वप्न से थका जीव सुषुप्ति में जाता है। जीव-श्येन के दो पंख कर्म और ज्ञान हैं, इन्हें सिमेटने पर ही सुषुप्ति (और मुक्ति) होती है। पक्षी की पूंछ की जगह जीव में इच्छा है, बहिर्मुखता की इच्छा रहते उधर एवं आत्मा की इच्छा रहते उधर गति होती है। सुषुप्ति में कर्म फलीभूत नहीं होते, नये ज्ञान के साधन नहीं होते, इच्छा व्यक्त नहीं होती तो स्वाभाविक आनन्द ही रहता है। कामना दुःख है, कामना पूरी होना अर्थात् समाप्त होना ही वैषयिक सुख है। यदि कामना है नहीं तो पूरी हुई से कोई फ़र्क नहीं रहा अतः सुख ही है। अकामहत को अन्यत्र भी सुखसंपन्न बताया है। वासनाजन्य दुःख भी सुषुप्ति में संभव नहीं क्योंकि वे सब तब अज्ञान में छिप जाती हैं। अतः सुषुप्ति को मोक्ष के लिये उचित दृष्टांत माना है।।१३७।।

उदाहरण-औचित्य व्यक्त करते हैं **आत्मा का संपूर्ण स्वभाव एकीभूत होकर सुषुप्ति में परिलक्षित होता है जैसे मुक्ति में अद्वैत स्वप्रकाश आनंद स्फुरित होता है।।१३८।। अविद्या तो सुषुप्ति में रहती है फिर भी क्योंकि द्वैत दुःख उद्भूत (प्रकट) नहीं होता इसलिये स्वप्रकाश आनन्द अद्वय आत्मस्वभाव को ढाँकती नहीं।।१३९।।** सुषुप्ति का सुख आत्मरूप है। जैसे रस्सी का अज्ञान स्वयं दुःख नहीं देता वरन् जब वह सर्पाकार बने तब दुःख देता है वैसे सुषुप्ति में अज्ञान रहते भी दुःख नहीं होता क्योंकि कार्यभूत द्वैत वहाँ नहीं है। स्वभाव नहीं ढकता अर्थात् आनन्दभान कायम रहता है जो जाग्रत्-स्वप्न में कामनादि से ढका रहने से कायम नहीं रहता केवल संतोष, शांति के समय कुछ क्षणों के लिये प्रकाशमान होता है। तिरोहित (छिपा) न होने पर भी ऐसा नहीं कि स्फुट भासे! इतना अंतर सुषुप्ति व मोक्ष में है। अतएव जो कुछ आधुनिक मूलाविद्या को बिना माने व्यवस्था बनाते हैं उनका प्रयास विफल हो जाता है क्योंकि तब मोक्ष व सुषुप्ति में कोई भेद नहीं बता सकते।।१३८-९।।

द्वैतदुःखादिरूपं यत्स्वात्मनः स्वप्नजाग्रतोः।
तदविद्योत्थमित्येतत्ता वा अस्येति वर्ण्यते।।१४०।।
विद्यायाः परमोत्कर्षे जाग्रत्साक्ष्यात्मवासना।
सर्वोऽस्मीति मतिं स्वप्ने करोत्यद्वैतभासिनीम्।।१४१।।
सर्वात्मभावः परमो लोको बाधविवर्जनात्।
बाध्यन्ते देवराजाद्या इवशब्दश्रुतत्वतः।।१४२।।
नन्वद्वैतमपि द्वैतं सुप्त्यसुप्त्योरिहात्मनि।
क्रमाद्भात्यत्र किं रूपं तस्येत्याशंक्य वर्ण्यते।।१४३।।

आगे श्रुति में नाडियों में भटकना और उसका चरम उत्कर्ष बताया है, उसे सूचित करते हैं **'ता वा अस्य' इत्यादि से वर्णन किया कि जाग्रत्-स्वप्न में स्वात्मा का जो द्वैतरूप दुःखरूप आदि होता है वह अविद्या से उत्पन्न है।।१४०।। विद्या की सर्वोत्तम स्थिति है जाग्रत् के साक्षी आत्मा की वासना, वह सपने में अद्वैत-प्रकाशक 'सब हूँ' ऐसा निश्चय पैदा करती है।।१४१।।** नाडी-उपाधि पर निर्भर बताने से अस्वाभाविकता व्यक्त कर उसे आविद्यिक, मिथ्या बताया। संसार में सर्वोत्तम स्थिति है अद्वैत की दृढ वासना हो जाना। वैसी वासना होने पर सपने में भी वही अद्वैत भासता है। जाग्रत् की साधना की दृढता का पता स्वप्न से चलता है।।१४०-१।।

सर्वात्मभाव की परमता समझाते हैं **बाधित न होने से सर्वात्मता परम लोक है। देवराज आदि भावों का बाध हो जाता है। अतः श्रुति ने इव-शब्द रखा है।।१४२।।** सपने में देखें 'मैं देवता हूँ' या 'राजा हूँ' तो जगने पर बाध होता है लेकिन सपने में भी देखी सर्वात्मता का जगने पर बाध नहीं होता, इसलिये वह परम लोक (दर्शन) है। 'चार तिया बारह'यह सपने में भी कहें तो वैसा ही सही है जैसे जाग्रत् में; इसी तरह सर्वात्मता सनातन सत्य है। अतः उदाहृत श्रुति में 'देव इव राजेव' यों 'इव' जोड़ा जबकि 'सर्वोऽस्मीति मन्यते' में इव नहीं जोड़ा। इव अर्थात् मानो। देवादिभाव तो मानो वहाँ होता है, सच में नहीं जबकि सर्वभाव होना मानने की ज़रूरत नहीं, उसे हुआ ही समझना है क्योंकि जगने पर भी वह कटेगा नहीं।।१४२।।

इक्कीसवीं कण्डिका में जिस प्रश्न का उत्तर दिया वह बताते हैं **आत्मा में सुषुप्तिकाल में अद्वैत, गैर सुषुप्तिकाल में द्वैतदोनों क्रमशः भासते हैं अतः इनमें से आत्मा का स्वरूप कौन-सा है? यह शंका कर इक्कीसवीं कण्डिका में वर्णन किया है।।१४३।।** द्वैती लोग मानते हैं कि आत्मा सचमुच में सद्वितीय है,

यत्सार्वात्म्यं पुरा प्रोक्तं तदेवाद्वैतमात्मनः।
रूपमागमतः स्वानुभूतेश्च पुरुषार्थतः।।१४४।।
शास्त्रप्रसिद्धिं तच्छब्दो वक्ति स्वानुभवं पुनः।
एतच्छब्दः पुमर्थत्वमतिच्छंदादिनोच्यते।।१४५।।

साधनादि न होने से सुषुप्ति में ऐसा लगे भले ही कि कुछ दूसरा नहीं है। जैसे अंधेरा हो जाने से दुश्मन-मित्रादि समाप्त नहीं हो जाते ऐसे सुषुप्ति हो जाने से द्वैत छूट नहीं जाता। प्रायः लौकिकों को भी यह जँचता है। इसका समाधान देंगे।।१४३।।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं **पहले कही सर्वात्मता ही आत्मा का स्वरूपभूत अद्वैत है। आगम और अनुभव से वही समर्थित है एवं वही परम पुरुषार्थ है।।१४४।।** आगम अर्थात् उपनिषत्, वेद। वही आत्मा के बारे में प्रमाण है। स्वानुभव में सुषुप्ति और निर्विकल्प समाधि दोनों का संग्रह है। केवल प्रमाण की अपेक्षा जब तदनुसारी अनुभव भी मिले तब निश्चय दृढ होता है। केवल अनुभव तो ग़लत भी हो सकता है अतः समर्थक प्रमाण चाहिये। सुषुप्ति में आवरण रहने पर भी निर्विकल्प समाधि में वह भी कार्यकारी नहीं रहता अतः स्पष्टता होती है। तीसरी बात है कि अद्वैत सार्थक है। सद्वैतरूप तो अनादि काल से है ही! उससे संसारदुःख ही है। अद्वैतरूप पुरुषार्थ है। यह भी सप्रयोजनतारूप तर्क सत्यता में मान्य है। प्रयोजनसाधक होने से रस्सी सच्ची, वैसा न होने से साँप झूठायह माना जाता है। दुःख द्वैत की अपेक्षा अवश्य रखता है, आनंद अद्वैत में हमेशा है। सुषुप्ति में द्वैत नहीं तो नियमतः आनंद है। इन तीन हेतुओं से अद्वैत ही वास्तव में आत्मा का स्वरूप निर्णीत होता है।।१४४।।

उक्त तीनों हेतु श्रुतिशब्दों पर आरूढ करते हैं **'तत्'-शब्द शास्त्रप्रसिद्धि, 'एतत्'-शब्द स्वानुभव और 'अतिच्छन्दा' आदि शब्द पुरुषार्थता बताते हैं।।१४५।।** 'तत्' का अनुवाद 'वह' है जो दूर या परोक्ष को बताता है। शास्त्र से समझी बात परोक्ष ही लगती है। 'एतत्' अर्थात् 'यह' जो पुरःस्थित, प्रत्यक्ष को बताता है अतः इससे स्वानुभव का कथन माना। 'अतिच्छन्दा, अपहतपाप्मा, अभयम्' ये तीन शब्द पुरुषार्थद्योती हैं। अतिच्छन्दा अर्थात् निष्कामयह वांछनीय स्थिति है क्योंकि कामना दुःख ही देती है पाप्मा अर्थात् पाप या कर्म; उनसे राहित्य भी अपेक्षित है क्योंकि कर्म भी बंधनकारी है। भय से छूटना तो इष्ट है ही। यों इन शब्दों से तीसरा हेतु कहा।।१४५।।

अन्यत्र भी प्रसिद्ध है यह कहते हैं **समाधि और सुषुप्ति में अद्वैत स्वयं अनुभव में आता ही है, बहुत-से शास्त्रवाक्य भी घोषित करते हैं कि शिव**

शिवमद्वैतमित्यादि शास्त्रमुद्धुष्यते बहु।
समाधिसुप्त्योरद्वैतं स्वयमेवानुभूयते।।१४६।।
छन्दः कामः कर्म पापं भयं स्यात् कर्मणः फलम्।
अनर्थरूपं त्रितयमद्वैते वीक्ष्यते न हि।।१४७।।
त्रितयेन तु यद्युक्तं द्वैतं तस्य पुमर्थता।[1]
नेति द्वैतं श्रुतावस्यां वैशब्देन निवर्त्यते।।१४८।।

अद्वैत है इत्यादि।।१४६।। 'शिवमद्वैतम्' माण्डूक्योपनिषत् (७) में सुप्रसिद्ध है जहाँ तुरीय तत्त्व आत्मा को ही परम कल्याणरूप बताया है। यद्यपि सुषुप्ति में अनुभूयमान प्राज्ञ को शिव नहीं कहा तथापि प्राज्ञ ही तुरीय के निकटतम पड़ता है अज्ञानदशा में आत्मा को समझने के लिये। अतः यहाँ आचार्य ने सुषुप्ति में अनुभव को ग्रहण किया।।१४६।।

पुरुषार्थता व्यक्त करते हैं **'छन्द' मायने कामना, 'कर्म' अर्थात् पाप, भय मतलब कर्म का फल। ये तीनों अनर्थात्मक हैं एवं अद्वैत में तीनों नहीं मिलते।।१४७।।** जिसे चाहें, जिसके लिये प्रार्थना करें वह अर्थ है। कामना, पाप और भयइन तीन के लिये कभी प्रार्थना नहीं करते! कामना हमारी प्रार्थना के बगैर जबरदस्ती हम में पैदा होती रहती है। काम्य वस्तुओं को तो चाहते हैं, कामनापूर्ति तो चाहते हैं लेकिन कामना नहीं चाहते अर्थात् हम में कामना बनी रहे, पूरी न हो यह नहीं चाहते। कारण है कि कामना एक तरह का दुःख ही है, तभी वह पूरी अर्थात् समाप्त हो तब सुख होता है। ऐसे ही पाप-पुण्यरूप कर्म भी चाहते नहीं, करना पड़ता है। या कामनापूर्ति के लिये, या किसी बंधनवश कर्म करते हैं, कर्म करना अपने आप में प्रार्थना का विषय नहीं होता। इसी तरह भय कभी नहीं चाहते। कर्मफल से ही भय होता है, पापफल से स्पष्ट ही भय है, पुण्यफल भी क्षीण न हो जाययह भय लगा रहता है। सुषुप्ति, समाधि, मोक्षइनमें ये तीनों नहीं होते। इसलिये अद्वैत आत्मवस्तु पुरुषार्थ है।।१४७।।

उदाहृत श्रुति के 'वै' शब्द का अर्थ भी बताते हैं **द्वैत तो उक्त तीनों (कामनादि) से सम्बद्ध है अतः वह पुरुषार्थ नहीं हैइस प्रकार इस श्रुति में 'वै' शब्द से द्वैत हटाया गया है।।१४८।।** (सारानुसारी पाठ का अर्थ है **क्योंकि उक्त तीनों तरह के अनर्थ से छूटा नहीं है, और भी अनर्थों से युक्त है, इसलिये इस श्रुति में**

---

[1] 'त्रितयानर्थनिर्मुक्तं नाऽनर्थान्तरयोगि च। इति द्वैतं श्रुतावस्यां वैशब्देन निवार्यते।।' इति सारे पाठो मुत्तुशास्त्र्यभिमतश्च।।

योषिदालिंगितः क्षेत्रं गृहं वाऽप्यविचारयन्।
यथा सुखी तथा सुप्तः कामभीत्यादिवर्जनात्।।१४६।।
तद्वा अस्येति वाक्येन कामाभावः प्रपंच्यते।
आत्मरूपं यदद्वैतमाप्तकामं तदीक्ष्यताम्।।१५०।।
सुषुप्तश्च समाधित्सुर्बाह्यं कामयते न हि।
अपि त्वात्मानमेवात्मा प्राप्त एवाऽखिलैः सदा।।१५१।।

'वै' शब्द से द्वैत का निवारण किया है।) 'वै' अर्थात् ही; इससे निवृत्ति कही जाती है जैसे 'आप ही आइयेगा' मायने और किसी को साथ मत लाइयेगा। यहाँ मोक्ष में 'ही' से द्वैत को निवृत्त किया क्योंकि वह कामनादि से तो युक्त है ही, अन्य भी अनर्थों से युक्त ही है।।१४८।।

लोकसिद्ध दृष्टांत से श्रुति ने सुषुप्ति-सुख का वर्णन किया, उसे सूचित करते हैं **स्त्री से आलिंगित व्यक्ति, खेत-घर आदि की चिन्ता बिना करते हुए जैसे सुखी होता है वैसे सोया व्यक्ति कामना भय आदि से रहित होने से सुखी होता है।।१४६।।** स्त्री अर्थात् प्रिय, सुन्दर पत्नी से आलिंगित पुरुष उतनी देर बाहर-भीतर की सब चिंताएँ छोड़ता है तभी सुखी होता है। जिसे तब भी वे चिन्ताएँ बनी रहें, वह स्त्रीसुख से वंचित रहता है। इसी तरह सुषुप्ति में (एवं समाधि में) परमात्मा से आलिंगित जीव बाहर-भीतर के सब ज्ञानों से छूटा रहता है अतः सुखी होता है। द्वैत-प्रतीति रहते सुख नहीं, यही सार है। यहाँ स्त्री की भी प्रतीति जब नहीं रहती उस काल का सुख दृष्टान्त है।।१४६।।

आगे श्रुति है 'तद्वा अस्यैतद् आप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपं शोकान्तरम्', इसे समझाते हैं **'तद् वा अस्य' आदि वाक्य से कामराहित्य का खुलासा किया है। आत्मा का स्वरूप जो अद्वैत है वह 'आप्तकाम' है यह समझना चाहिये।।१५०।। सुषुप्त और समाधि में प्रवेशेच्छुक बाह्य विषय नहीं चाहता वरन् आत्मा को ही चाहता है और आत्मा सबको सदा प्राप्त है।।१५१।।** कामराहित्य का विस्तार तीन शब्दों से कियाआप्तकाम, आत्मकाम और अकाम। सुषुप्ति में अज्ञानपूर्वक आत्मा में लीन होना चाहता है, समाधि में ज्ञानपूर्वक आत्मा में लीन होना चाहता है लेकिन दोनों जगह किसी अनात्मा को नहीं चाहता। आत्मा नित्यप्राप्त होने से वह ऐसा 'काम' अर्थात् काम्य वस्तु है जो हमेशा 'आप्त' पायी हुई है। अत एव आत्मा को 'प्राप्त' करने के साधन वास्तव में अनात्मा निवृत्त करने के ही उपाय हैं, अनात्मनिवृत्ति होने से नित्यप्राप्त

काम्यभोजनतस्तृप्तस्तदा भोज्यं न वांछति।
एवं काम्यात्मनि प्राप्ते किमन्यत् काम्यते पुनः।।१५२।।
आत्मरूपमकामं यत्तच्छोकरहितं सदा।
शोकान्तरं पृथक् शोकादिति निःशोकतोच्यते।।१५३।।
ननु देहाभिमानश्च धर्माऽधर्मौ च शोकदाः।
यथा जागरणे तद्वत्सुषुप्तौ च प्रसज्यते।।१५४।।
मैवं पिताऽहमित्यादिदेहात्मभ्रान्तिलोपनात्।
पितृत्वयुक्तदेहेऽभिमानः सुप्तस्य नेक्ष्यते।।१५५।।

आत्मा अनावृत हो जाता है।।१५०-१।।

आत्मकाम की अकामता बताते हैं **अभीष्ट भोजन से तृप्त व्यक्ति उसी समय और भोजन नहीं चाहता, इसी तरह कमनीय आत्मा जब सदा प्राप्त है तब और क्या चाहा जाये!।।१५२।।** जैसे भोजन से तृप्ति के लिये भोजन में इष्टता चाहिये वैसे मुमुक्षा के बगैर आत्मलाभ तृप्ति नहीं देगा। अत एव केवल द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थान के लिये ही समाधि नहीं बतायी, जो ऐसा आत्मेच्छु नहीं उस बहिर्मुख के लिये विविध विभूतियाँ देने वाली समाधियाँ भी पतंजलि ने बतायीं। आत्मा का अभिलाषी ही आत्मतृप्त होकर अकाम होगा, अन्य नहीं। अत एव भगवान् ने आत्मरति-आत्मतृप्त आत्मसन्तुष्ट (३.१७) क्रम रखा।।१५२।।

शोकान्तर-शब्द समझाते हैं **जो अकाम आत्मस्वरूप है वह सदा शोकरहित है। शोकान्तर अर्थात् शोक से अलग; एवं च इस शब्द से निःशोकता कही जा रही है।।१५३।।** शोकान्तर मतलब 'अन्य शोक' नहीं वरन् शोक से भिन्न अतः अशोक। अपनी प्रिय वस्तु व्यक्ति आदि के वियोग से शोक होता है, आत्मा का वियोग संभव नहीं अतः आत्मा शोक से पृथक् ही है। जाग्रत्-स्वप्न में अनात्मा में आत्मभ्रम रहते उनके वियोग से शोक होता रहता है। सुषुप्ति-समाधि में कोई अनात्मा है नहीं जिसमें तादात्म्य करें और वह वियुक्त होकर शोक दे अतः अशोकदशा ही है।।१५३।।

फिर वेद में कहा है कि सुषुप्ति में माता माता नहीं रह जाती इत्यादि। उसे प्रश्नोत्तर से व्यक्त करते हैं **शोकप्रद देहाभिमान, धर्म एवं अधर्म जाग्रत् की तरह क्या सुषुप्ति में नहीं हैं?।।१५४।। नहीं हैं, क्योंकि 'मैं पिता हूँ' आदि देह में आत्मबुद्धि तब लुप्त रहती है, सोये में यह अभिमान नहीं होता कि 'पितापने वाला शरीर मैं हूँ' आदि, अतः सुषुप्ति में देहाभिमान अस्वीकार है।।१५५।।**

तत्तद्देहाभिमानस्तु क्षीणस्तत्कर्मसंक्षयात्।
पुण्येन पाप्मनाऽनन्वागतं रूपं परात्मनः।।१५६।।
हृदयाख्यं मनस्तस्य पुण्यपापे ततोऽखिलाः।
शोका मनोगताः सुप्तौ शोकानात्माऽतिवर्तते।।१५७।।

उन सब देहों का अभिमान तब इसलिये क्षीण होता है कि तब देहों के कर्म फलोन्मुख नहीं होते, जो परमात्मरूप वहाँ रहता है वह पुण्य-पाप से असम्बद्ध है।।१५६।। सुषुप्त पुरुष मरा नहीं है, पुनः उठेगा तो धर्माधर्मादि संपन्न ही उठेगा। अतः जेब में पैसा रखने से जैसे कोई निर्धन नहीं हो जाता कि हाथ में पैसा नहीं तो दरिद्र हो गया, वैसे सोये को अभिमानादि से रहित कहना नहीं बनता। किंतु श्रुति इस बात को नहीं मानती अतः कहती है कि वहाँ माता आदि माता आदि नहीं रहते। अभिमानलोप सर्वानुभवसिद्ध है, धनादि जेब में रखने पर धनाभिमान लुप्त होता नहीं अतः सुषुप्ति एवं जाग्रत् में अंतर प्रत्यक्ष है। सुषुप्ति, समाधि, मोक्ष में देहाभिमान नहीं रहते। कर्मफल भोगने के लिये देहाभिमान चाहिये, जब फलभोग का काल नहीं तब निरुपयोग अभिमान नहीं रहता। इसलिये कर्म में भी अभिमान के प्रति हेतुता है। सुषुप्ति-आदि फल भोगने की स्थितियाँ हैं नहीं अतः उनमें देहाभिमान भी रहता नहीं। उन दशाओं में आत्मा अकेला है अतः पुण्य-पाप से उसका स्वाभाविक असम्बन्ध ही रहता है।।१५४-६।।

बाइसवीं कण्डिका में पिता आदि न रहना और कर्म से असम्बंध बताकर 'तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति' कहा, उसका अर्थ कहते हैं **(यहाँ) हृदय कहा गया है मन। उसी पर पुण्य-पाप आश्रित हैं। अतः (पुण्यादि-फलभूत) सारे शोक (सुख-दुःख) मन में ही होते हैं। सुषुप्ति में आत्मा शोकों से परे रहता है।।१५७।।** सुषुप्ति में मन विलीन होने से तत्प्रतिबद्ध कर्म एवं तत्फल शोक नहीं रह जाते। मनस्तादात्म्य न रहते कर्म सम्भव नहीं एवं भोग भी संभव नहीं अतः कर्म और फल मन पर निर्भर हैं। स्वाभाविक शोकातीतता (शोकान्तरता) का यहाँ सोपपत्ति निगमन हुआ कि क्योंकि शोक मन के हैं अतः आत्मा अशोक है।।१५७।।

तेइसवीं कण्डिका है 'यद्वैतन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयम् अस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्।' इसे समझाते हैं **प्रश्न होता है कि सुषुप्ति में जैसे शोकादि लुप्त होते हैं वैसे चैतन्य (ज्ञान) भी लुप्त हो जाता है तभी सब लोग कहते हैं कि सोया व्यक्ति कुछ नहीं**

ननु शोकादिवत् सुप्तौ चैतन्यमपि लुप्यते।
सुप्तौ न पश्यतीत्येवमाहुः सर्वेऽपि लौकिकाः।।१५८।।
आत्मन्यदृष्टवशतो ज्ञानमिच्छादिवद्भवेत्।
इत्याहुस्तार्किकाः सुप्तौ न ज्ञानं कर्मणः क्षयात्।।१५६।।
यद्वैतन्नेत्यादिवाक्यैरस्योत्तरमुदीर्यते।
न चिल्लोपः किंतु बुद्धेर्लोप इत्येतदुत्तरम्।।१६०।।
तच्छब्दः सुप्तिमाचष्टे वैशब्दोऽवधृतौ भवेत्।
तत्र सुप्तौ पुमान्नैव पश्यतीति जना जगुः।।१६१।।
अदर्शनं सर्वथेति तदाहुरविवेकिनः।
तद्विवेच्यं तथा चात्मा पश्यन्नेव न पश्यति।।१६२।।

जानता।।१५८।। तार्किक भी मानते हैं कि आत्मा में अदृष्ट (प्रारब्ध) के कारण जैसे इच्छादि वैसे ज्ञान भी उत्पन्न होता है। सुषुप्ति में कर्म क्षीण हो जाने से ज्ञान नहीं होता।।१५६।। सुषुप्ति में कुछ नहीं जानते यह सबका अनुभव भी है और दूसरों के बारे में भी कहते हैं 'वह सो रहा है, उसे कुछ पता नहीं।' नैयायिक मानते हैं कि पुण्यपापरूप अदृष्ट व्यक्त होने पर ही आत्ममनःसंयोग से ज्ञानादि यथावश्यक गुण यथाक्रम उत्पन्न होते हैं। सुषुप्ति में उनके अनुसार मन रहने पर भी अदृष्ट फलोन्मुख न होने से ज्ञानादिजनक संयोग नहीं होता तो ज्ञानादि भी नहीं होते। वेदान्त में तो इच्छादि मनोधर्म हैं लेकिन नैयायिकादि उन्हें मनःसंयोग के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होने वाले धर्म मानते हैं। यों लौकिक एवं तार्किक मान्यता के अनुरूप सुषुप्ति में ज्ञान भी न रहना स्वीकारें तो इसी दृष्टांत से मोक्ष में ज्ञान नहीं रहेगा और ऐसा जड (ज्ञानहीन) मोक्ष पुरुषार्थ ही नहीं बनेगा। इसलिये यह प्रश्न निरासयोग्य समझा गया।।१५८-६।।

उक्त श्रुति से उत्तर बताते हैं **'यद्वैतन्न' आदि वाक्यों से इस प्रश्न का उत्तर कहा है। उत्तर इतना ही है कि सुषुप्ति में चित् (ज्ञान) का नहीं, बुद्धि (उपाधि) का ही लोप होता है।।१६०।। 'तत्' शब्द सुषुप्ति को कहता है, 'वै' अर्थात् 'ही' (अवधारण, निश्चय) 'सुषुप्ति में पुरुष नहीं ही जानता' ऐसा लोग कहते हैं। किंतु यह जो अविवेकियों का कथन है कि तब हर तरह का अननुभव है, उसका विवेकदृष्टि से विचार करना चाहिये। वस्तुतः उस अवस्था में आत्मा, जानते हुए ही नहीं जानता है!।।१६१-२।। साक्षीरूप चैतन्य नित्य**

साक्षिचैतन्यनित्यत्वात् पश्यन्नेव व्यवस्थितः।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयलोपाद्व्यवहारं न पश्यति।।१६३।।
तस्मात्सुप्तौ चिदद्वैतं यद्रूपं परमात्मनः।
एतद्द्रढयितुं प्रोक्ताः पर्याया बहवः श्रुतौ।।१६४।।

होने से वह जानता हुआ ही स्थित रहता है लेकिन ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के लोप से व्यवहार को नहीं जानता।।१६३।। यों सुषुप्ति में परमात्मा का जो अद्वैत चैतन्य स्वरूप है उसे सुदृढ समझाने के लिये श्रुति में यहाँ अनेक पर्याय कहे।।१६४।। आत्मस्वरूप ज्ञान सनातन अतः सुषुप्ति में भी है, बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान बुद्धि न रहने से तब नहीं है। स्वरूप और वृत्ति यों दो तरह का ज्ञान न मानकर सिर्फ वृत्तिरूप ज्ञान मानने से नैयायिकों का वैसा मानना ठीक है, सुषुप्ति में वृत्तिज्ञान नहीं रहता यह ठीक बात है। लेकिन आत्मा ज्ञानस्वरूप है यह श्रुतिसंमत होने से स्थायी नित्य ज्ञान सुषुप्ति में भी कायम रहता है यही तथ्य है। वृत्तिज्ञान से पृथक् स्वरूपज्ञान बिना वेद के समझ आ नहीं सकता, अतः बौद्धों को भी भ्रम हुआ। अब फिर से वेद से विमुखता हो रही है तो शहरों में कई हिंदू बौद्ध बन रहे हैं। वेद बताता है कि आत्मा सच्चिदानन्द है, अनात्मा असत् जड दुःख है, दोनों को भ्रम से एकमेक करने से हम इस बारे में गड़बड़ाये हुए हैं। सुषुप्ति में वृत्ति अतः वृत्तिरूप ज्ञान नहीं रहता अर्थात् जिस जड से एकमेक करके ज्ञान समझते हैं वह वृत्ति (और बुद्धि) नामक जड वस्तु नहीं रहती। तथापि अज्ञानसाक्षी और भासमान आनन्द के रूप में चित् अर्थात् ज्ञान रहता ही है। स्मृति को, 'आनन्द से सोया, कुछ नहीं जाना'इसे महत्त्व देने पर सुषुप्तिकालिक ज्ञान का सद्भाव अंगीकार हो जाता है। बुद्धि रहते जैसे साक्षी उसे प्रकाशित करता है, बुद्धि न रहने को भी वैसे ही प्रकाशित करता है। ज्ञाता आदि त्रिपुटी में जो ज्ञान वह वृत्तिरूप है, उसका लोप सुषुप्ति में अवश्य है, उसके साक्षी का लोप नहीं। अतः अनेक ज्ञान-पर्यायों का श्रुति ने प्रयोग किया कि देखता है, सूँघता है, चखता हैआदि (कंडिका २३-३०)। देखना आदि चाक्षुषादि बोधों के अभिप्राय से नहीं, यह तो स्पष्ट है क्योंकि सुषुप्ति का प्रसंग है, ज्ञानकी विद्यमानता बताना ही अभिप्रेत है। सुषुप्ति के रूप का यथाशास्त्र भलीभाँति विचार करने से परमात्मा के रूप का काफी स्पष्ट अवबोध प्राप्त होता है। समाधि सुलभ न होने से साधारण साधक सुषुप्ति का यथाशक्ति चिन्तन करे तो अवश्य लाभ मिलता है। विचार बार-बार करना पड़ता है, 'समझ लिया' इस भरोसे आवृत्ति न करने से संस्कार नहीं पड़ पता, समझी बात भी 'सोच' में, सोचने के ढंग में नहीं जज़्ब हो पाती। पर्यायबाहुल्य से

[1]ननु सर्वैर्जनैर्द्वैतं जागरे स्पष्टमीक्ष्यते।
सद्वैत एव किं न स्यादात्मेत्याशंक्य वर्ण्यते।।१६५।।
यत्रैव जागरे स्वस्मादन्यत्किंचिदिव भ्रमः।
तत्रैवान्यः स्वयं द्रष्टा दृश्यमन्यदिवेक्षते।।१६६।।

श्रुति भी विचार-आवृत्ति का विधान कर रही है। ज्ञान आवर्त्तन से नहीं, लेकिन ज्ञान की रुकावटें और दुर्बलतायें उससे अवश्य दूर होती हैं यह आवृत्त्यधिकरण में विस्तार से निर्णीत है।।१६०-४।।

इकतीसवीं कण्डिका बताती है कि भेद हो तभी भेदग्रह होता है! यह सीधी-सी बात श्रुति को क्यों कहनी पड़ी, यह समझाते हैं **सभी लोगों को जाग्रत् में स्पष्ट ही द्वैत दीखता है तो आत्मा सद्वैत (द्वैतयुक्त) ही क्यों न हो? यह शंका उठाकर वर्णन किया।।१६५।। जहाँ जाग्रदादि में ही स्वात्मा से अन्य भ्रम से कुछ है-जैसा लगता है वहीं अन्य हुआ स्वात्मा द्रष्टा बना अन्य-जैसे दृश्य को देखता है।।१६६।।** शंका सार्वजनिक है कि आत्मा सुषुप्ति में अद्वैत भले ही हो जाग्रत्-स्वप्न में सद्वैत (सोपाधिक) भी है ही, फिर यह कैसे स्वीकारें कि वास्तव में अद्वैत है न कि सद्वैत? समाधान केवल श्रुति के आधार पर होता है कि श्रुति ने द्वैत को भ्रम, अद्वैत को सत्य कहा है इसलिये स्वीकारना ठीक है कि वास्तव में वह अद्वैत है। यहाँ कुछ तर्क भी संभव हैंजाग्रत् का स्वप्न में और स्वप्न का जाग्रत् में बाध होता ही है लेकिन अद्वितीय चैतन्य का कभी बाध होता ही नहीं (और सुषुप्ति में सिद्धि होती है) इसलिये वही सत्य है। किंच, चैतन्य के आधार पर सिद्ध होने वाला द्वैत चैतन्य का बाधक हो यह संभव भी नहीं। किं च 'न सत्यमापेक्षिकमीक्षितं क्वचित्' न्याय से जो भी सापेक्ष है वह मिथ्या है। द्वैत भेदरूप होने से सापेक्ष है, अद्वैत स्वरूप होने से निरपेक्ष है अतः यही सत्य है। किं च कोई एक अनुगत द्वैत नहीं जिससे आत्मा सद्वैत मिलता हो, द्वैत बदलते रहते हैं अतः जैसे बदलते आकारों में मिलता आकाशादि स्वयं निराकार ही होता है वैसे आत्मा अद्वैत ही हो सकता है। वास्तव में सद्वैत होता तो कोई अनुगत द्वैत सदा मिलता। अन्य भी इस संदर्भ में आचार्यों ने तर्क दिये हैं, स्वयं भी विचार करना चाहिये। सद्वैत आत्मा स्वप्न में उपलब्ध हैइससे सद्वैतता भ्रम है क्योंकि 'अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु' भ्रम में सत्य कभी भासता नहींयह चिंतन का ढंग होने से बात

---

१. इहत्यश्लोकौ १६५-६ मुत्तुशास्त्रिणां संस्करणे स्खलितौ, तैर्दत्तसंख्यानुसारं तैः स्वीकृतावेव।

यद्वै तदित्युपक्रम्य व्याख्यातं वस्तु विस्तरात्।
सलिलादिगिरा तस्य क्रियते चोपसंहृतिः।।१६७।।
आत्मा सलिलवच्छुद्धः कार्यकारणहीनतः।
स्वतोऽवबोधमात्रत्वात् कुतोऽविद्यादिसंगतिः।।१६८।।
अंतरेणापि सम्बन्धं कार्यकारणवस्तुनः।
स्वतोऽनेकात्मकं तत् स्याद् इत्याशंक्यैकतोच्यते।।१६९।।

स्पष्ट हो जाती है। जितना द्वैत में राग घटेगा उतना ही अद्वैत हृदयंगम होगा, अन्यथा उसे बचाने की भावना से उसके निरासक तर्कों को हम सबल ही नहीं होने देते।।१६५-६।।

बत्तीसवीं कण्डिका प्रारंभ होती है 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' वाक्य से। जैसे अकेला जल शुद्ध ही होता है ऐसे एक जो द्रष्टारूप आत्मा वह अद्वैत ही है तभी शुद्ध है। जल में अच्छा-बुरा कुछ भी दूसरा जुड़ जाये तो वह शुद्ध नहीं कहलाता। इस वाक्य का अर्थ कहते हैं **यद्वैतत्' से प्रारंभ कर जिस वस्तु का विस्तार से व्याख्यान किया उसका 'सलिलः' आदि वाक्य से उपसंहार किया जा रहा है।।१६७।। आत्मा जल-सा शुद्ध है क्योंकि कार्य-कारण से रहित है। खुद केवल ज्ञानरूप है तो अविद्यादिका उससे सम्बन्ध कैसे हो!।।१६८।।** इस प्रसंग में तात्पर्य-ग्राहक छहों लिंग स्पष्ट आये हैं। यहाँ सूचित की उपक्रमोपसंहार की एकवाक्यता तो कण्डिका २३ से शुरू किये वर्णन के बारे में है, लेकिन याज्ञवल्क्योपदेश में छहों लिंग उपलब्ध हैं। अभ्यास व युक्तियाँ प्रभूत हैं, ज्योतिर्विषयक प्रश्न से अपूर्वता, आप्तकामत्वादि से फल समझने चाहिये। 'न तत्र रथा' आदि, 'आरामम् अस्य' आदि, सुषुप्ताद्वैत-वर्णनादि एवं आगे आनंद-मीमांसाये अर्थवाद हैं। कार्य अर्थात् स्थूल सूक्ष्म और कारण अर्थात् अव्याकृत, दोनों से अद्वैत का संपर्क नहीं। यद्यपि सुषुप्ति में कारणोपाधि है तथापि मुक्ति में नहीं। वस्तुतस्तु सुषुप्ति में भी नहीं क्योंकि ज्ञान का अज्ञान से योग ही असंभव है! इसलिये अशुद्धिहेतु न होने से आत्मा शुद्ध है।।१६७-८।।

'सलिलः' के बाद 'एकः' क्यों कहा यह बताते हैं **कार्यरूप व कारणरूप वस्तुओं के सम्बन्ध के बिना भी आत्मा खुद अनेकात्मक होगा?यह शंका कर, एकता कही गयी।।१६९।।** सलिल उदाहरण से सूचित शुद्धि से विजातीय भेद, अद्वैत-शब्द से सजातीय भेद और एक-शब्द से स्वगत भेद का निरास है यह भाव है। खुद अनेकात्मक जैसे छिलका, गूदा, रस, बीज आदि विभिन्न होने पर भी 'एक कैथ का फल है' यह व्यवहार होता है। हाथ, पैर, मुँह आदि असंख्य भेद रहते 'एक आदमी बैठा है' यह

अकारकस्वभावत्वम् अद्रष्टेत्यभिधीयते।
यत्र हि द्वैतमित्युक्तेर्यत्र त्वस्येति चेरणात्।।१७०।।
स्वतः पूर्णात्मकं ज्योतिरेष द्रष्टेति चोच्यते।
अविद्याकार्यराहित्याद् अद्वैतोऽयं भवेत् स्वतः।।१७१।।

व्यवहार होता है। आत्मा में ऐसा भी कोई भेद नहीं, यह अर्थ है।।१६६।।

'एको द्रष्टा'यहाँ अद्रष्टा भी पदच्छेद संभव है, उसका भाव सूचित करते हैं **आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि वह कारक नहीं हैयह बात 'अद्रष्टा' शब्द से कही है। 'जहाँ द्वैत-सा होता है', 'जहाँ इसका सब आत्मा हो गया'इन वचनों से स्वाभाविक अकारकता कह चुके हैं।।१७०।।** उदाहृत वचन मैत्रेयी ब्राह्मण में २.४.१४ में है। 'ध्यायतीव' (४.३.७) आदि में भी यह सूचित है। जैसे आधुनिक युग की बिजली के बगैर कोई विद्युत्-यंत्र नहीं चलते लेकिन स्वयं बिजली रोशनी हवा ठंडक गर्मी पीसना आदि कुछ नहीं कर सकती, ऐसे उपाधि से आत्मा कारक बना-सा लगता है जबकि स्वयमेव वह कारक न है न हो सकता है, उसका स्वभाव ही ऐसा है। कारक अर्थात् क्रियाहेतु। आत्मा स्वयं क्रिया से सर्वथा अस्पृष्ट है, न उसका हेतु है, न फल है। 'अद्रष्टा' से दृष्टिक्रिया का वह हेतु नहीं यह बताकर सब क्रियाओं के प्रति हेतुता निषिद्ध की।।१७०।।

अब 'द्रष्टा' पदच्छेद के अनुसार अर्थ कहते हैं **अथवा स्वयं अखण्डस्वरूप ज्योति 'द्रष्टा' कही है। अविद्या-तत्कार्य से रहित होने के कारण यह स्वतः अद्वैत है।।१७१।।** (मुत्तुशास्त्री एवं मद्रास संस्करण में **'ज्योतिर्यद्वा द्रष्टा'** पाठ है जो बेहतर है। 'यत्र' पाठ में अर्थ है कि 'जिस पक्ष में द्रष्टा छेद है वहाँ'। भाष्य में 'द्रष्टा' और वार्तिक (४.३.१८०४) में 'अद्रष्टा' छेद है। 'यत्र' पाठ में 'च'कार दोनों छेदों को मान्यता देकर सार्थक है।) सारे विशेष न रहने पर बची आत्मवस्तु जड नहीं यह बताना आवश्यक होने से द्रष्टा भी छेद उचित है। नाम-रूप, कार्य-कारण, सत्-त्यत् आदि दो तरह से बँटा माया-तत्कार्य द्वैत है, इससे रहित आत्मा अद्वैत है, अत एव पूर्ण है, उसी से सब व्याप्त है। अहंकार-ममकाररूप द्वैत ही अपूर्णता लाता है, उसके न होते पूर्णता सहज है।।१७१।।

उसी आत्मा को 'एष ब्रह्मलोकः' कहा, उसे समझाते हैं **प्रत्यग्रूप ज्ञान से अदूरवर्त्ती होने से आत्मरूप वस्तु प्रत्यक्ष है इसलिये 'एषः' यों आत्मा का उल्लेख किया। 'जो साक्षात्' है यह श्रुति भी आत्मा को प्रत्यक्ष, अपरोक्ष कहती**

प्रत्यग्दृष्ट्यव्यवहिते प्रात्यक्ष्यादात्मवस्तुनः।
एष इत्यात्मनिर्देशो यत्साक्षादिति च श्रुतेः।।१७२।।
अव्यावृत्तानुगतं निःसामान्यविशेषवत्।
ब्रह्मेति मुख्यवृत्त्येह वस्तु श्रुत्याभिधीयते।।१७३।।
तथा लोकयतेर्धातोर्दर्शनार्थत्वहेतुतः।
प्रकृतत्वात्तथा दृष्टेर्लोकनं लोक उच्यते।।१७४।।

है।।१७२।। 'एषः' अर्थात् 'यह' प्रत्यक्ष वस्तु कही जाती है। आत्मा यद्यपि सामने तो नहीं कि 'यह' कहा जाये तथापि अपरोक्ष होने से प्रत्यक्ष तो कहा ही जा सकता है। बिना किसी माध्यम के हम सदा आत्मा को जानते ही हैं, कभी शंका भी नहीं होती कि हूँ या नहीं! प्रत्यक्स्वरूप क्योंकि ज्ञान है इसलिये स्वप्रकाश होना स्वाभाविक है। व्यवहित कहते हैं जिसके और अपने बीच कुछ और हो जैसे हमारे सामने पर्दा है और उसके पीछे कोई वस्तु पड़ी है तो उस वस्तु को हम से व्यवहित एवं पर्दे को व्यवधान कहते हैं। खुद का खुद से तो कोई व्यवधान होगा नहीं अतः वह अव्यवहित है। ज्ञान अपने से अव्यवहित को प्रकाशित करता ही है अतः प्रत्यक्स्वरूप का प्रकाश निश्चित है। फिर भी उसकी वास्तविकता का यथाशास्त्र विचार न करने से उसके यथार्थ रूप के बारे में हम अज्ञानी हैं! अतः स्वयम् को विभिन्न अनात्मरूपों का मानते हैं। इन्हीं भ्रमों को दूर करने के लिये शास्त्र के निर्देश हैं, सारी विवेक की साधना है। शरीर-मन आदि अवास्तविक आत्माओं में आत्मबुद्धि हटने पर वास्तविक आत्मा का ही भान रह जायेगा। वह भान अब भी है लेकिन अज्ञानवश भ्रमों से तिरोहित-सा है। 'यत्साक्षात्' पूर्व में व्याख्यात श्रुति है, बृ. ३.४ एवं ५; अनुभूतिप्रकाश १७. श्लोक. ७५ आदि में इसपर विचार हो चुका है।।१७२।।

'ब्रह्मलोक' कहने का भाव व्यक्त करते हैं **यहाँ श्रुति द्वारा मुख्य वृत्ति से वह वस्तु कही है जो न व्यावृत्त है न अनुगत, न सामान्य वाली है न विशेष वाली।।१७३।। इसी प्रकार लोक-शब्द से लोकन अर्थात् ज्ञान कहा है। लोकृ-धातु का अर्थ दर्शन होता है एवं प्रकरण भी दृष्टि (ज्ञान) का चल रहा है। इसलिये (भुवन आदि अर्थ के बजाये लोकन अर्थ ही अभिप्रेत है)।।१७४।।** अव्यावृत्त आदि शब्द पिछले अध्याय में (१७.७८) समझा चुके हैं। अद्वितीय होने से सामान्य-रहित तथा शुद्ध होने से विशेष-रहित है। अतः सप्रकारक-ज्ञान का विषय नहीं। मुख्य वृत्ति अर्थात् अभिप्राय प्रकट करने की सामर्थ्य। प्रायः शक्ति को मुख्य

विज्ञानपुरुषस्यास्य योक्ता ब्रह्मात्मता पुरा।
नैष्ठिकी गतिरेषाऽत्र गत्यन्तरसमाप्तितः।।१७५।।
सम्पच्च परमैषैव मोहोत्थाश्चान्यसंपदः।
उत्कर्षातिशयः संपद्विभूतिश्चेति भण्यते।।१७६।।

वृत्ति कहते हैं, तब अर्थ है कि ब्रह्मशब्द शक्ति से ही ऐसे अर्थ का उपस्थापक है। शक्तिग्रह के लिये अवान्तर वाक्य एवं समाधि-प्रत्यक्ष का अवलम्ब है ही। यहाँ ब्रह्म को ही ज्ञान होने से लोक कहा 'ब्रह्म च तद् लोकश्च' यों कर्मधारय है, ब्रह्म का लोक यों षष्ठी तत्पुरुष नहीं है। ब्रह्म ही लोक हैयह कहने से प्रज्ञानघनता स्फुट हो जाती है।।१७३-४।।

ब्रह्मलोक को ही 'एषाऽस्य परमा गतिः, एषाऽस्य परमा सम्पत्' भी कहा। उसका संग्रह करते हैं **इस विज्ञानात्मा की जो ब्रह्मस्वरूपता पूर्व में बतायी, वही नैष्ठिक गति है क्योंकि वहाँ अन्य सब गति समाप्त हो जाती है।।१७५।।** 'परम' की व्याख्या 'नैष्ठिक' है। जहाँ स्थिति निश्चित हो, हिलना-डुलना न हो उसे निष्ठारूप अतः नैष्ठिक कहते हैं। नि+स्था यों यह शब्द बनता है। स्था अर्थात् गति-समाप्ति। क्योंकि गति की निष्ठा कही इसलिये मूल में 'गत्यन्तर' शब्द रखा अर्थात् अन्य गतियाँ समाप्त होती हैं। अब केवल ज्ञानरूप गति रहती है। जिस अज्ञान से गत्यंतर संभव थीं, वह न रह जाने से यह नैष्ठिक है। जहाज का पंछी जब निर्णय कर लेता है कि कहीं और ठौर नहीं है तब जहाज पर बैठ जाता है, वह जैसे सापेक्षरूप से नैष्ठिक है वैसे जीव का ब्रह्मभाव निरपेक्ष रूप से नैष्ठिक है। जाग्रत्-स्वप्न में भटक कर शांति न मिलने पर सुषुप्ति में जाना भी सापेक्ष नैष्ठिक गति है। वैराग्य-पूर्वक अन्तर्मुख होने पर ही गत्यन्तर छूटती है, परम गति मिलती है।।१७५।।

उसी की सम्पद्रूपता बताते हैं **यही परम सम्पत् है। अन्य सम्पत्तियाँ तो मोह से ही उत्पन्न हैं। अत्यधिक उत्कृष्टता को सम्पत् और विभूति कहते हैं।।१७६।।** आत्मा ही सत्त्य सम्पत्ति है। अन्य सम्पत्तियाँ तो आगन्तुक निमित्तों (उपाधियों) की अपेक्षा से आती-जाती रहती हैं, आत्मा ही स्थायी है। लोक में भी कभी-कभी लोग स्थायी की उपेक्षा कर देते हैं अस्थायी के मोह में : ब्राह्मण यावज्जीवन दान-दक्षिणा पा सकता हैयह उसका स्थायी अधिकार है। नौकरी धन्धे से उसे अनाप-शनाप धन मिलता है लेकिन यह अस्थायी अधिकार है, नौकरी या धन्धे पर निर्भर है। फिर भी अनेक ब्राह्मण अस्थायी अधिकार के मोह में स्थायी अधिकार की उपेक्षा किये रहते हैं, अपने

एषोऽस्य परमो लोको लोकास्त्वन्ये क्षयिष्णवः।
क्षयिष्णुसाधनायत्ता न त्वेषोऽसाधनाश्रयात्।।१७७।।
आनन्दः परमोऽस्यैव सुखोत्कर्षसमाप्तितः।
सर्वानंदातिशायित्वात् तथा चैतत् प्रवक्ष्यते।।१७८।।
आनन्दः परमोऽस्यैष इत्युक्तार्थप्रसिद्धये।
एतस्यैवेति वचसा समर्थो हेतुरुच्यते।।१७९।।

ब्राह्मणत्वाभिमान को भुलाये रखते हैं, तप-श्रुत से दूरतर होते जाते हैं। कर्म-उपासना से पायी तो नैमित्तिक, क्षयिष्णु सम्पत्ति है, आत्मा ही परम संपत्ति है। सच्चिदानंदरूप कभी कहीं जाने वाला नहीं, घटने वाला नहीं। सम्पत् शब्द से अतिशय उत्कर्ष कहा जाता है जिसे विभूति, वैभव भी कहते हैं। उत्तमता की सीमा आत्मा ही है।।१७६।।

आगे वचन है 'एषोऽस्य परमो लोक एषोस्य परम आनन्दः' इसे समझाते हैं **आत्मा ही इसका (विज्ञानमयका) परम लोक है, अन्य लोक तो क्षयशील हैं क्योंकि क्षयी साधनों पर निर्भर हैं, यह परम इससे है कि साधनों पर निर्भर नहीं है।।१७७।। इसका परम आनन्द भी यही है क्योंकि आत्मा में ही सुख का उत्कर्ष पूर्ण होता है। सारे आनन्दों से अधिक आनंदरूप होने से आत्मा परम है। यह तथ्य व्यक्त किया जाने वाला है।।१७८।।** लोक चाहे देवतादि के ही हों, क्षीण ही होते हैं। कर्मादि से प्राप्त हैं अतः कर्म जब भोगकर खर्च हो जाते हैं तब लोक से गिरना पड़ता है। यह तो लोकक्षय है ही, लय आदि में वे स्वरूपतः ही समाप्त हो जाते हैं, इसलिये भी क्षयी हैं। हमसे ज़्यादा वहाँ उम्र होती है इसी से हमें वे स्थायी लगते हैं लेकिन वहाँ वालों के लिये तो वह भी उम्र उतनी ही कम है जितनी हमारे लिये यहाँ की उम्र! आत्मा स्वरूप है, साधन से प्राप्त है नहीं, स्वरूपतः अनादिनिधन है, इसलिये वह नित्य स्थायी लोक है। इसकी प्राप्ति अर्थात् इसके स्वरूप का अवबोध, तत्त्वज्ञान। जैसे स्वरूप ही संपत्ति है, बाकी सब विपत्ति ही है, वैसे आत्मा ही नित्य लोक है, अन्य सब अस्थायी निवास हैं। आत्मा ही परम आनंद भी है। सुखों की बढ़ोत्तरी आत्मा में पहुँचकर ही ख़त्म होती है। आनंदमीमांसा में यही बताने जा रहे हैं।।१७७-८।।

आत्मानन्द की परमता को यह कहकर संगत किया 'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'। इसे बताते हैं **इसी का आनंद परम हैइस कही बात को सिद्ध करने के लिये 'एतस्यैव' आदि वाक्य से सक्षम हेतु कहा।।१७९।। यह आनंद सम्पूर्ण होने पर भी उसे सही-सही न समझने के कारण बुद्धि आदि उपाधि की**

कृत्स्नोऽपि चैष आनन्दस्तदविद्यैकहेतुतः ।
बुध्याद्युपाध्यवच्छेदान्मात्रेति व्यपदिश्यते । ।१८० । ।
मानुषादिकहैरण्यगर्भान्तानन्दमात्रया ।
परानन्दं बोधयितुं श्रोत्रिये तदुदाहृतिः । ।१८१ । ।
श्रोत्रियो वेदशास्त्रज्ञो निष्पापो ब्रह्मवित्त्वतः ।
भोग्यदोषान्विविच्यास्ते नातः कामेन हन्यते । ।१८२ । ।
सुखं तृप्तिरकामत्वमित्येकार्था इमा गिरः ।
सर्वकामविहीनेऽतः सुखं सर्वं व्यवस्थितम् । ।१८३ । ।[1]

सीमा में प्रतीत होता 'मात्रा' (हिस्सा) कहा जाता है । ।१८० । । आत्मा ही सम्पूर्ण आनंद है। हम यह समझते नहीं तो कामना होती है। फिर जब कामना पूरी होने पर वृत्ति लौटते हुए आत्माभिमुख होती है तब उसमें जो आत्मच्छाया पड़ती है उतने-से को हम आनंद या सुख माने बैठे हैं। यों थोड़े-थोड़े हिस्सा-रूप सुखों से ही सारे जीव गुज़ारा कर रहे हैं। चाहते सारे सुख अपने लिये हैं अतः हम स्वयं ही सर्वाधिक सुखरूप हैंइसका हमें अज्ञान है। क्योंकि वास्तविक सुख आत्मा है इसलिये अन्य विषयों में तो कभी सुखबुद्धि होती है, कभी नहीं रहती; उनमें सुखरूपता स्थिर नहीं; जबकि आत्मा में सुख(प्रिय)बुद्धि हमेशा ही रहती है, इसमें कभी परिवर्तन नहीं आता। इसका अज्ञान ही इस महान् आनंद से हमें वंचित किये है। सुषुप्ति में अपार आनंद है पर अज्ञान रहते उसे महत्त्व न देकर वृत्ति-सुखों की ही गणना करते रहते हैं। सच न जानने से झूठी चीज़ों में रमण होता ही है। रत्ती बीनने वाली गजमुक्ता चुनकर फैंक देती है। हम भी प्रतिबिम्ब को ही स़र्वस्व समझे हैं, बिम्ब के बारे में बेखबर हैं। ।१७६-८० । ।

आनन्दमीमांसा का सार व्यक्त करते हैं **मानुष आनन्द से प्रारम्भ कर हिरण्यगर्भ के आनन्द पर्यन्त सभी सीमित सुखों के वर्णन से पर-आनन्द को समझाने के लिये श्रोत्रिय में उस आनन्द का उल्लेख किया। ।१८१ । । श्रोत्रिय वेद एवं शास्त्रों का जानकार होने से पापरहित और ब्रह्मवेत्ता होता है अतः भोगविषयों के दोषों को विवेक से जानकर उनके प्रति विरक्त रहता है अतः कामना से पीडित नहीं होता। ।१८२ । । सुख, तृप्ति, अकामतातीनों शब्दों का एक ही अर्थ है। अतः जिसमें कोई कामना नहीं उसमें सारा सुख मौजूद है। ।१८३ । ।**

---

[1] मुतुशास्त्रीमं श्लोकमुपरिष्टात् (१८४), तं चेह (१८३) पठति। सारे (४१०, ४१३) क्रमं दृष्ट्वा मद्र-निर्णयसागर-पुणेसंस्करणानुसारमत्र मुद्रितम्। ।

श्रोत्रिये कामराहित्यात् सर्वानन्दाः सह स्थिताः।
सोऽश्नुते सकलान् कामान् सहेति प्राह तित्तिरिः।।१८४।।

श्रोत्रिय में कामना न रहने से सारे आनन्द एक-साथ उपस्थित हैं। तित्तिरि ऋषि ने भी कहा है कि वह सारी कामनाएँ एक-साथ पूरी किये रहता है!।।१८४।।

वेद ने कहा है कि भोगक्षम, समृद्ध, स्वतन्त्र, मानवोचित सब भोगों से संपन्न मनुष्य को जो आनंद होता है वह मनुष्यों का सर्वाधिक आनन्द है। उससे सौ-सौ गुणा अधिक आनंद पितर, गन्धर्व, कर्मदेव, आजानदेव, प्रजापति एवं ब्रह्मा के लोकों में है किन्तु जो श्रोत्रिय, निष्पाप, निष्काम, उसे ये सब आनन्द सदा उपलब्ध हैं। वेदज्ञ को श्रोत्रिय कहते हैं। जानकार पाप से बचता है तो चित्त शुद्ध होने से ब्रह्म को समझकर द्वैत से विरक्त रहता है अतः स्वात्मभूत पूर्णानन्द सर्वदा प्राप्त करता है, उसे कम करने वाली बहिर्मुखता के लिये द्वाररूप कामना उसके निकट आती ही नहीं। यह प्रसंग तैत्तिरीयोपनिषत् में भी है एवं अनुभूतिप्रकाश ३.१३६ में निर्दिष्ट है। श्रुत्युक्त मानुषानंद ही असंभव-सा है सांसारिक व्यक्ति के लिये! ऐसा बताना इस सूचना के लिये है कि हम जिसे बहुत ज़्यादा आनन्द मानते हैं वह तो मानुषानन्द का भी करोड़वाँ हिस्सा शायद ही हो! जबकि श्रोत्रियादि होवें तो समग्र आनन्द एक-साथ हासिल कर सकते हैं। श्रुति ने 'अवृजिन' से निष्पाप कहा। कुटिलता पापों का प्रवर्त्तक होती है। ऋजु व्यक्ति पापी हो यह कठिन है। श्रोत्रिय-अकामहत दोनों विशेषणों से ब्रह्मज्ञता सूचित है। ज्ञानपूर्ववर्ती वैराग्य और परवर्त्ती उपरति, दोनों का संग्रह है। 'विविच्य आस्ते' अर्थात् विवेक करके कामना से अविचलित रहता है, न कि विवेकपूर्वक किसी-किसी स्वर्गादि भोग से आकृष्ट हो कुछ करता है! मूढ तो सदोष जानकर भी व्यसनी की तरह भोगपरायण रहता है लेकिन विवेकी जिसे दोषवाला समझ लेता है उससे दूर ही रहता है। इसलिये 'मैं संसार भोग नहीं पा रहा' इत्यादि रूप कोई उसे मज़बूरी नहीं महसूस होती वरन् तृप्ति रहती है। लोक में सुख थोड़े से होता है, पर्याप्त से तृप्ति तो होती है पर कुछ समय की, पर्याप्त से भी कहीं अधिक हो तभी अकामता की झलक मिलती है। किन्तु आत्मानंद के संदर्भ में सुख-तृप्ति-अकामता एक ही स्थिति है! तारतम्य को कोई स्थान ही नहीं है। समग्रता बहुत्व पर निर्भर नहीं, अखण्ड व्यापक अद्वैत के बल पर है। श्रोत्रिय को सर्वानन्द अर्थात् जो परछाई-आनंद, टुकड़ा-आनन्दों का मूल स्रोत बिम्बभूत भूमा है वह भासमान है अतः सारे आनंद मानो एक-साथ ही हैं। भगवान् ने 'सम्प्लुतोदक' (२.४६) आदि से इसे सूचित किया है। श्रोत्रियसुख अन्यों के सुख

सूत्रात्परमनन्तत्वाद् गणितं विनिवर्तते।
यतो वाचो निवर्तन्त इति श्रुत्यन्तरं जगौ।।१८५।।
श्रोत्रियेणानुभूतो यो ब्रह्मानन्दोऽस्य विप्रुषः।
सार्वभौमादिसूत्रान्ताः प्राणिनोऽनुभवन्त्यमी।।१८६।।

का कुल जोड़ नहीं समझना चाहिये वरन् इन सब सुखों की कोई कीमत न रहे ऐसा सुख समझना चाहिये। शरीर-मन-प्राण से तादात्म्य रहते इनके परस्पर विपरीत आकर्षणों से आत्मा बहुतेरी सौतों से घिरे पति की तरह पीडित ही रहता है। श्रोत्रिय का वह तादात्म्य मिट चुकने से वह इनकी कामनाओं को स्वयं पर ओढ़ता ही नहीं अतः आनन्दमग्न बना रहता है। कामना से अतिविवेकपूर्वक बचे रहना अनिवार्य है। छोटी-से-छोटी कामना भी महान् अनर्थकारी हो जाती है। एक महात्मा को केवल कौपीन पहनने की इच्छा थी, उसी के चलते उन्हें राजदण्ड भोगना पड़ायह कथा प्रसिद्ध है। प्रायः कामना छोटी बनकर आती है कि उसकी लम्बाई-चौड़ाई पहचानी न जा सके लेकिन अगर कहीं उसे छोटा समझकर उसे पूरा करने चल पड़े तो अपने विकराल शिकंजे में ऐसा जकड़ती है कि समझ ही नहीं आता कि हो क्या गया! अतः 'छोटी है, इसे पूरा कर दें तो शांति रहेगी' यह मानसिकता अपनाना ही अपने से दुश्मनी करना है। उठते ही उसे विवेकपूर्वक निरस्त ही करना उचित है। बिना कामना के अणुमात्र भी दुःख नहीं है। रोगादि भी इसी से दुःखद हैं कि हमें नीरोगता की कामना है! जो वपु को प्रारब्ध के लिये समर्पित कर चुकता है वही आनन्द पाता है। प्रारब्ध के बिना कुछ भोगना है नहीं, प्रारब्ध अवश्य भोगना हैयह भी निश्चिय स्थिर हो जाये तो व्यक्ति जो उपस्थित है उसी को तल्लीनता से अंगीकार कर सकेगा, 'यह न होकर वह होता' की उसे भावना ही नहीं उठेगी क्योंकि जानता है कि जो होना है वही हो रहा है, कुछ और न होना है न हो सकता है। अतः वह कामपीडित न होने से निश्चिंत रहता हुआ भगवत्प्रसादरूप जीवन जी लेता है। श्रोत्रिय तो ब्रह्मनिष्ठ है, वह तो द्वैत के बाध से ही इससे परे है। उसकी मुक्त स्थिति ही परम आनंद है जिस तक दृष्टि ले जाने के लिये आनंदमीमांसा है।।१८१-४।।

यही परमता व्यक्त करते हैं **सूत्रात्मा से आगे आनंद का परिगणन समाप्त है क्योंकि सूत्र से परे जो ईश्वर उसमें सूत्र से सौ-हज़ार आदि गुणा नहीं वरन् अनंत गुणा आनंद है! अन्यत्र श्रुति ने कहा है कि उसका वर्णन वाणी नहीं कर सकती।।१८५।। श्रोत्रिय को अनुभूयमान आनन्द की मानो बूँदें वे सुख हैं जिन्हें सार्वभौम मनुष्य से सूत्रात्मा पर्यन्त प्राणी अनुभव करते हैं।।१८६।।**

वक्तव्यार्थे समाप्तेऽपि राजा पृच्छति पूर्ववत्।
भीतो मुनिर्भये हेतुं मेधावीत्यादिनोक्तवान्।।१८७।।
सर्वेभ्यो निर्णयेभ्यो मामरौत्सीन्न तु मुंचति।
अयमेव भये हेतुर्नोत्तरानवबोधनम्।।१८८।।

विषयप्रयुक्त सुख में गणना संभव है, दो लड्डू से चार लड्डू का सुख दुगुणा कह सकते हैं, लेकिन निर्विषय सुख को गिन नहीं सकते। जैसे तैजसके स्वाप्न सुख से प्राज्ञ का सौषुप्त सुख असंख्य गुणा ज़्यादा कहा जायेगा वैसे सूत्र से ईश्वर का सुख इतना अधिक है कि गणना असंभव है। इसे दूसरी तरह यों कहा कि श्रोत्रिय के आनंद को यदि सागर समझें तो उसकी बूँदें बाकी सारे आनंद हैं। एक बूँद सूत्रानन्द है तो बूँद से सागर को कितने गुणा बड़ा कहा जाये! इस प्रकार परम आनन्दरूप आत्मा ज्योति का कथन किया।।१८५-६।।

इतना उपदेश सुनकर जनक ने वही, गोसहस्र-दक्षिणा निवेदित कर 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' कहा कि अब वही बताइये जिससे मोक्ष होवे! इस पर मुनि 'बिभयाञ्चकार। मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य उदरौत्सीद् इति' डर-से गये कि यह राजा मेधावी है तभी मैं वक्तव्य समाप्त करूँ तो रोक देता है, और भी ज्ञातव्य है यह भाँप लेता हैं इस बात का उल्लेख करते हैं **बताने जैसी बातें पूरी हो चुकने पर भी राजा पहले जैसे ही पूछने लगा तो याज्ञवल्क्य डर गये! उनके डर का हेतु 'मेधावी' आदि शब्दों से वेद ने बताया।।१८७।। 'मुझे सारे निर्णयों से रोक लिया, छोड़ता नहीं'यह डर में हेतु है, न कि वे उसके प्रश्न का उत्तर न जानते हों यह कारण है।।१८८।।** मेधावी से स्मरण-सामर्थ्य और 'सर्वेभ्यः' आदि से प्रज्ञादोनों से राजा की सम्पन्नता व्यक्त की। 'निर्णयों से रोकना' अर्थात् अब तक जो कहा वही अंतिम ज्ञातव्य है यह स्थापित न होने देना। राजा उपदेश समझ लेता था तथा उतना मात्र मोक्षप्रद नहीं यह अनुभव कर मोचक बोध अवश्य अवशिष्ट है यों सामान्यतः जानकर पूछता था। राजा गृहस्थ था, राज्यादि कार्य संचालित करता था, ऐसा क्या तत्त्वबोध का अधिकारी है? इस विचार से याज्ञवल्क्य अंतिम बोध बिना दिये रुकते थे, पर जब वह आगे पूछे तब उसकी योग्यता प्रकट हो जाती थी। इसी क्रम से अब तक चले, अब अंतिम बोध ही बाकी होने से 'कहीं योग्यता-निर्णय में मैं न चूक जाऊँ' ऐसा मुनि को भय है।।१८७-८।।

याज्ञवल्क्यवचन समझाने से पूर्व राजा का अभिप्राय बताते हैं **परलोक और मोक्ष**

स्वप्नः सुप्तिश्च दृष्टान्तौ परलोकविमोक्षयोः ।
तावेव मुनिना प्रोक्तौ शिष्टं दार्ष्टान्तिकद्वयम् । ।१८६ । ।
स्वप्नाज्जागरणं यद्वद् देहाल्लोकान्तरं तथा । ।
इत्यभिप्रेत्य मुनिना स्वप्नाद् बोधोऽभिधीयते । ।१६० । ।
शकटं बहुभिर्द्रव्यैर्योजितं गुरुभारतः । ।
कुर्वन् शब्दान् बहून् याति चेतनेन प्रयोजितम् । ।१६१ । ।

में दृष्टांतरूप स्वप्न और सुषुप्ति बताये लेकिन बचे हुए जो इनके दार्ष्टान्त, वे अभी नहीं बताये । ।१८६ । । दृष्टांत जिस बारे में हो उसे दार्ष्टान्त कहते हैं। अब तक स्वप्न-सुषुप्ति तो स्पष्ट पता चले लेकिन परलोक व मोक्ष की उतनी स्पष्टता नहीं हुई। इसलिये राजा ने आगे पूछा । ।१८६ । ।

अतः मुनि बोले 'स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति बुद्धान्तायैव । ।' यह वाक्य पहले भी ४.३.१६ आ चुका है, श्लोक १३१ में इसकी ओर संकेत है। पुनः इसलिये ताकि दार्ष्टान्त से दृष्टान्त का सम्बन्ध ज्ञात रहे। इसका संक्षेप करते हैं **स्वप्न से जाग्रत् की तरह शरीर से लोकान्तर जाया जाता है इस अभिप्राय से मुनि ने सपने से जगने का उल्लेख किया । ।१६० । ।** सपने में किया-कराया वहीं छोड़कर जगने जैसा ही यहाँ करा-कराया सब छोड़कर परलोक जाना है। यह स्मरण रखें तो यहाँ के महत्त्व को अधिक आँक कर पाप-प्रवृत्ति छोड़ सकते हैं। परलोक के लिये कोई पाप नहीं करता! सारे पाप इहलोक के लिये हैं। पाप से प्राप्त तो यहीं छूटना है, पाप अवश्य साथ जायेगा यह याद रखना चाहिये। इहलोक को यहाँ श्रुति ने स्वप्न के उदाहरण से कहकर स्वप्न-सदृश बता दिया । ।१६० । ।

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा 'तद् यथाऽनः सुसमाहितम् उत्सर्जद् यायाद् एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन् याति यत्रैतद् ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति' (३५)। जैसे यात्रा के लिये सुसज्जित बैलगाड़ी चूं-चां करती चलती है वैसे जब साँस उखड़ने लगता है तब यह शरीरस्थ विज्ञानमय आत्मा प्राज्ञ अर्थात् परमात्मा से नियंत्रित हुआ चला जाता है। इसे बताते हैं **बहुत सामान से लदी बैलगाड़ी अधिक बोझ के कारण बहुत आवाज करती हुई, गाड़ीवान् से नियंत्रित होकर जाती है । ।१६१ । । इसी तरह चिद्रूप परमात्मा से नियंत्रित, शरीर में स्थित विज्ञानमय पहले अपूर्ण साँस लेते हुए फिर हिचकी आदि आवाज़ करते हुए**

शरीरस्थो हि लिंगात्मा ह्यन्वारूढश्चिदात्मना।
शब्दान् कुर्वन् हि हिक्कादीन् प्रैत्यूर्ध्वश्वासपूर्वकम्।।१६२।।
उपाध्यारोहमन्वात्मा रूढवत् प्रतिभासते।
भानोरिवोदपात्रादावारोहो नात्मनः स्वतः।।१६३।।
मर्मसूत्कृष्यमाणेषु वायुनोदानरूपिणा।
मुमूर्षोरत्र यद्दुःखं स्मर्यतां तन्मुमुक्षुभिः।।१६४।।
रोगेण जरया वाऽयं देहकार्श्यं यदाऽऽप्नुयात्।
तदाम्रादिफलं वृन्ताद् इवांगेभ्यः प्रमुच्यते।।१६५।।

प्रयाण करता है।।१६२।। कर्म और वासना के बोझ से दबी लिंगशरीररूप गाड़ी यहाँ से जायेगी। जैसे सपने की चीज़ें वहीं छूट जाती हैं, संस्कार (स्मृति) जाग्रत् में भी आ जाते हैं वैसे घर खेत आदि तो यहाँ छूट जायेंगे, इनकी वासना ही भार बनकर साथ जायेगी। वासना आगे जाने में प्रेरक बनती है। गाड़ी को जैसे गाड़ीवान् निर्देशित करता है वैसे प्राज्ञ अर्थात् स्वयंज्योतिस्वभाव परमात्मा लिंगदेह को निर्देशित करता है, तभी वह सही गन्तव्य पर पहुँचता है।।१६१-२।।

आत्मा का देहत्याग उपपन्न करते हैं **उपाधि के आरोह के पीछे आत्मा आरोह किया जैसा लगता है। जलपात्र आदि में सूर्य के आरोह जैसा आत्मा का आरोह है, बिना उपाधि के खुद उसका आरोह नहीं होता।।१६३।।** जैसे जलपात्र चले तो उसमें पड़ा प्रतिबिम्ब चलता-सा है जिससे सूर्य चल रहा है ऐसा लग जाता है, वैसे सूक्ष्मशरीर के आरोह अर्थात् वर्तमान स्थूल शरीर को छोड़कर जाते समय सूक्ष्म में पड़ा चिदाभास जाता-सा है जिससे आत्मा जाने वाला समझ लिया जाता है। मरने पर विज्ञानमयरूप उपाधि का स्थूल से वियोग होता है और उस उपाधि के माध्यम से ही स्थूल में आत्मा उपलब्ध होता था अतः अब वैसा उपलब्ध नहीं होता, इसी को कहते हैं कि आत्मा चला गया। आत्मा स्वरूप से नित्य व्यापक है, उसमें गमनादि संभव नहीं।।१६३।।

इस प्रसंग में मरण-वर्णन वैराग्योत्पादन के लिये है यह समझाते हैं **उदानरूप वायु द्वारा मर्म उखाड़े जाते समय मरणासन्न को लोक में जो दुःख होता है वह मोक्षेच्छुकों को हमेशा याद रखना चाहिये।।१६४।। रोग या बुढ़ापे से जब यह स्थूल देह दुर्बल हो जाता है तब जैसे पके आमादि फल पेड़ से गिर जाते हैं वैसे सब अंगों से लिंगरूप उपाधि छूट जाती है।।१६५।।**

निर्गत्य हृदयस्थानान्नाडीमार्गेण जागरम्।
प्राप्तोऽत्र वैपरीत्येन नाडीमार्गाद्धृदि व्रजेत्।।१६६।।
जाग्रत्स्वप्नादिसिद्ध्यर्थं गमनागमने पुरा।
इदानीं त्वन्यदेहेऽसौ प्राणं धारयितुं व्रजेत्।।१६७।।

हृदयरूप स्थान से निकलकर नाडियों के जिस रास्ते (जीवित काल में) स्वप्न से जाग्रत् में आता है, मरते समय उससे उल्टे रास्ते उन्हीं नाडियों के द्वारा हृदय में पहुँचता है।।१६६।। स्थूल शरीर के विशेष स्थल मर्म कहे जाते हैं जहाँ प्राण-देह बंधन की विशेष ग्रंथियाँ हैं। वहाँ चोट लगना जानलेवा भी हो सकता है। मरते समय उन सब मर्मों से प्राण को उखाड़ना उदान वायु के लिये ज़रूरी है। वे मानो खूँटे हैं जिनसे प्राण शरीर में स्थित है, प्राण जाये तभी जब वे खूँटे उखड़े हों। उनके उखड़ते समय असह्य वेदना होती है, व्यक्ति छटपटा जाता है। उस स्थिति को हमेशा याद रखें तो मोक्ष के लिये तीव्रतम प्रयास कर पायेंगे। पाप से बचते हुए पुण्य तुरन्त करना भी तब सहज होता है जब वह दुःख याद रहे। मुर्दा देखकर कुछ देर तो उधर वृत्ति जाती है, सोचते हैं कि संसार असार है, लेकिन सदा याद न रख पाने से जल्दी ही वह सब भूलकर भोगादि में ही रमे रहते हैं। वृक्ष में वृन्त (डण्ठल) से फल लटकते हैं, पकने पर प्रायः अनायास गिर जाते हैं, ऐसे मृत्यु-काल में स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर वियुक्त हो जाता है। श्रुति में यहाँ (कंडिका ३६) आम, उदुम्बर और पीपलतीन फलों का उदाहरण दिया। इसमें आम तब के लिये दृष्टांत है जब पुष्ट देह वाला व्यक्ति घात आदि से मरता है जैसे कच्चा भी आम दण्डे आदि से मारकर गिराया जाता है। उदुम्बर तो बुढ़ापे में मरने के लिये सीधा ही दृष्टांत है। पीपल तेज़ हवा से गिरता है, इसी तरह बिजली गिरना, भूकम्प आदि से अर्थात् आधिदैविक कारणों से जीव मरता है। तीनों का यहाँ 'आम्रादिफल' में संग्रह कर दिया। नींद से जगते समय नाडियों से हृदय से बाहर निकलते हैं, मरते समय उन्हीं नाडियों से पहले हृदय में प्रविष्ट होते हैं फिर वहाँ से आगे बढ़ते हैं।।१६४-६।।

हृदय से नाडी द्वारा गमनागमन समान होने पर भी मरने में विशेष बताते हैं **पहले (जीवनकाल में) जाग्रत्-स्वप्न आदि को सम्पन्न करने के लिये नाडियों से जाना-आना होता था, अब तो (मरते वक़्त) वह अन्य स्थूल शरीर में प्राणों का धारण करने के लिये जायेगा।।१६७।।** हृदय में पहुँचना रोज़ होता है लेकिन लौटने के लिये, क्योंकि नींद पूरी होते ही नाडियों द्वारा हृदय से निकल आता है।

ननूपादित्सिते देहे भोगाय प्राणधारणम्।
भोग्यसम्पादने नास्ति शक्तिरस्येति चेच्छृणु।।१६८।।
तत्कर्मोपार्जितैरन्यैर्भोग्यं संपादयेत् पुरा।
इत्येतद्विशदीकर्तुं राजदृष्टान्त उच्यते।।१६६।।
राज्ञा जीवितदानेन ह्युग्रादय उपार्जिताः।
मुमूर्षुणा भाविदेहबन्धवः कर्मणार्जिताः।।२००।।
एनं पुत्रादिभावाय प्रतीक्षन्तेऽखिलाः सदा।
ऋतावस्मिन्समायाति ब्रह्म पुत्रादिरूपतः।।२०१।।

मरते समय हृदय में जाता है लेकिन वापिस नहीं आता, वहीं से नये शरीर में चला जाता है।।१९७।।

प्रश्नपूर्वक कण्डिकारम्भ करते हैं **जिसे ग्रहण करना है उस शरीर में भोग के लिये ही प्राणों को धारण (स्थापित) करना है लेकिन इस मुमूर्षु में भोगों के सम्पादन की तो शक्ति है नहीं, फिर यह वहाँ जाकर करेगा क्या! यह शंका है तो सुनो।।१९८।।** मरणासन्न अशक्त है, वहाँ जाकर जन्म लेगा तब भी अशक्त होगा। जाना वहाँ भोग करने है तो अशक्त का जाना कैसे उपपन्न होता है? यह प्रश्न है। उत्तर में श्रुति ने दृष्टांत से बताया है 'तद्यथा राजानम् आयान्तम् उग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायाति अयमागच्छतीति, एवं हैवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायाति इदमागच्छतीति' (३७)। तात्पर्य है कि जैसे राजा के आने पर उसके कर्मचारी आगे से आगे व्यवस्था कर इन्तज़ार करते हैं वैसे सारे भूत इस ब्रह्म (आत्मा) की अगुवायी की तैयारी किये रहते हैं जिससे अशक्त हुआ भी यह वहाँ पहुँचकर भोग कर लेता है। इसे अगले श्लोकों में बतायेंगे।।१९८।।

प्रश्न का श्रुत्यनुसारी उत्तर देते हैं **जीव के कर्मों से इस काम के लिये नियुक्त अन्यों द्वारा जीव के वहाँ पहुँचने से पहले ही वहाँ भोग्य तैयार कर लिया जाता है। यही स्पष्ट करने के लिये राजा का दृष्टान्त है।।१९९।। राजा वेतनादि देकर उग्र आदि सेवक तैयार रखता है। ऐसे ही मरने वाला जीव कर्म से उन बंधुओं को तैयार रखता है जो भावी देह में व्यवस्था करें।।२००।। 'इस ऋतु में पुत्रादिरूप से ब्रह्म आ रहा है' यों सब लोग सदा इसका इन्तज़ार करते हैं।।२०१।।** राजा ने वेतनादि से जो सेवक रखे हैं वे ही पहले से तैयारी कर इन्तज़ार करेंगे, ऐसे ही जीव के कर्मों से सभी पृथ्व्यादि भूत भाविदेह में तैयारी रखते हैं और

नन्विंद्रियाणि प्रेतस्य लीयन्ते वपुषा सह ।
इत्याहुस्तार्किका ब्रह्म निरुपाधि कथं व्रजेत् ।।२०२।।
प्राणोपाधिक एवात्मा गच्छतीति विवक्षया ।
प्राणानामात्मसामीप्यगतिं वक्ति मृतौ श्रुतिः ।।२०३।।
राजानं प्रयियासन्तम् आभिमुख्येन सेवितुम् ।
आयान्त्युग्रादयस्तद्वत् प्राणानामात्मसंगतिः ।।२०४।।

इन्तज़ार में रहते हैं कि यह ब्रह्म आने वाला है। जीव को ब्रह्म इसलिये कहा कि वास्तव में वह ब्रह्म ही है। जहाँ पैदा होना है वहाँ माँ के लिये घी मेवा आदि की व्यवस्था पहले से होती है। यह लोक में दृष्ट है। बच्चे के लिये कपड़े भी लोग बनवा रखते हैं। इस सब में उस जीव के कर्म हेतु हैं जो पैदा होने वाला है। 'उग्र' से 'सुरक्षाकर्मी' समझने चाहिये 'उग्रशब्देन कथ्यन्ते यष्टिका भटभर्त्सकाः' ऐसा सार में है। 'उग्रे कर्मणि ये राज्ञा नियुक्ताः पापकारिषु, उग्रास्तेऽत्राभिधीयन्ते जातितो वाऽभिधा भवेत् ।।' ऐसा वार्तिक में ४.३.१६६१ है। जैसे पृथ्व्यादि भूत तैयारीपूर्वक इन्तज़ार करते हैं वैसे माता-पिता आदि भी तैयारी और इन्तज़ार करते हैं। पुत्रादिभाव कहा अर्थात् कोई पुत्र की, कोई पुत्री की, कोई भतीजे की, कोई पौत्र की इत्यादि की इन्तज़ार करता है। आने वाले को 'ब्रह्म' जानना तो चाहिये लेकिन अविवेकी ऐसा समझते नहीं। ब्रह्म ही उपाधिपरिच्छेद से जीव हुआ गमन-आगमन करता है।।१९९-२०१।।

सोपाधिक गति उपपन्न करते हैं **तार्किक कहते हैं कि मरे व्यक्ति की इन्द्रियाँ शरीर-समेत ही लीन हो जाती हैं। लेकिन बिना उपाधि के ब्रह्म तो जा सकता नहीं।।२०२।। इसलिये प्राणरूप उपाधि वाला ही आत्मा जाता है यह बताने के लिये श्रुति ने बताया कि मरते समय प्राण आत्मा के समीप आ जाते हैं।।२०३।। प्रवासार्थ जाते राजा के साथ रहकर उसकी सेवा करने के लिये जैसे उग्रादि आते हैं वैसे प्राण भी आत्मा के साथ एक से दूसरे शरीर में जाते हैं।।२०४।।** प्रशस्तपाद आदि ने मन की ही गति मानी है, इंद्रियादि की नहीं (द्रष्टव्य कंदली पृ ७३६-९ सम्पूर्णा.) उनके भी मत में आत्मा की तो गति होती नहीं है। उनकी मनोमात्रगति की बात मानें तो मनउपाधिक की गति अंगीकार करनी होगी लेकिन श्रुतियों के अनुसार केवल मन नहीं, अनेक चीज़ें साथ जाती हैं। यह विषय तदन्तर-प्रतिपत्त्यधिकरण (रंहत्यधिकरण) में ३.१.१ तथा ४.२ के प्रारंभ में ब्रह्मसूत्रों में निर्धारित है। अतः यहाँ भी राजा जैसे सेवक-सहायकों के साथ यात्रा करता है वैसे जीव प्राणों

चतुर्थब्राह्मणविवृतिः

तृतीयब्राह्मणे प्रोक्ता देहे स्वप्नादिसंसृतिः ।
देहान्तरेषु संसारो मुक्तिश्चाथ प्रवक्ष्यते ।।२०५।।

सहित जाता है यह उपनिषत् ने स्पष्ट किया। प्राण से सारा पुर्यष्टक समझ लेना चाहिये। राजा के खास साथी ही यात्रा में जाते हैं वैसे यहाँ भी श्रुतिनिर्दिष्ट तत्त्व ही जायेंगे। हो सकता है उनमें कोई चीज़ न ले जाते तो वहाँ भी मिल सकती थी लेकिन अपनी वस्तु के प्रयोग में जो निःशंक सुविधा है वह तो न मिलती! इसलिये लोक में भी सामान साथ ले जाते हैं, ऐसे ही जीव अपनी उपाधि साथ ले जाता है। अत एव मरते समय सब तत्त्व हृदय में आकर इकट्ठे हो जाते हैं। जिन सेवकों ने पहुँचने वाली जगह में पहले से तैयारी की है उनकी अपेक्षा साथ वाले सेवक विशेष होते हैं वैसे प्रकृत में भी भावी देह के निर्माण आदि के व्यवस्था-कर्त्ताओं की अपेक्षा साथ जाने वाले तत्त्व विशेष हैं, ज़्यादा निजी हैं, लगभग मैं ही हैं!।।२०२-४।।

यहाँ तक तीसरे अर्थात् ज्योतिर्ब्राह्मण को समझाया। अब चौथे अबल्य ब्राह्मण का विचार कर रहे हैं। विषय उसी क्रम में चल रहा है। ब्राह्मणभेद अध्ययन क्रम से अंगीकार है, उपपत्ति आचार्यों ने दी है कि ज्योतिर्ब्राह्मण में देहान्तरगति संक्षेप में कही थी, यहाँ उसे और समझाकर आगे सुषुप्तिदार्ष्टान्त मोक्ष का कथन करना है अतः संक्षिप्त पूर्व में और विस्तृत यहाँ वर्णन होगा।

ब्राह्मणभेद सूचित करते हैं **तीसरे ब्राह्मण में शरीर के भीतर होने वाला स्वप्नादि-संसरण बताया। अब (चौथे में) अन्य देहों में संसरण एवं मुक्ति बतायेंगे।।२०५।।** संसार दोनों हैशरीर में रहते जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में भटकना भी और देह छोड़कर अगला देह लेना भी। पहले वाले का विस्तार से वर्णन हो चुका। दूसरे वाले का कुछ ज़िक्र तो हुआ, विस्तार अब होगा। संसरण से छूटना तो अब ही बतायेंगे, केवल दृष्टांतभूत सुषुप्ति पहले बता आये हैं।।२०५।।

पूर्व ब्राह्मण की समाप्ति के प्रसंग से सम्बन्ध जोड़ते हुए श्रुति ने दुर्बल की मरणावस्था बताते हुए पिछली बात से अधिक यह जोड़ा 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' कि मरणासन्न व्यक्ति अपनी सब इंद्रियाँ हृदय में समेट लेता है। अतः तब देखना सूँघना चखना बोलना सुनना सोचना छूना सब बन्द हो जाते हैं। इसे बताते हैं **अज्ञ मरणासन्न के देह में जब अतिशय दुर्बलता आ जाती है तब वह बेहोश-सा हो जाता है। तब चक्षु आदि प्राण देही के पास (हृदय में) आ जाते**

स मुमूर्षुर्यदा देहे दौर्बल्यं प्राप्य मूढताम्।
प्राप्नोतीव तदा चक्षुराद्या आयान्ति देहिनम्।।२०६।।
राजदृष्टांततः प्रोक्तां प्राणानामात्मसंगतिम्।
अनूद्य तत्प्रकारोऽत्र विस्तरेणाभिधीयते।।२०७।।
तेजोमात्राश्चक्षुराद्याः प्रसृता मत्स्यजालवत्।।
जागरेऽथ मुमूर्षुस्ताः समादाय हृदि व्रजेत्।।२०८।।
अनुगृह्णाति यः पूर्वं चाक्षुषः पुरुषो रविः।।
भोगार्थमधुना सोऽयं भोगाभावादुपेक्षते।।२०९।।
इंद्रियस्योपसंहाराद् आदित्यस्याप्युपेक्षया।।
आत्मा द्रष्टुमसामर्थ्याद् अरूपज्ञो भवेत्तदा।।२१०।।

हैं।।२०६।। राजा के उदाहरण से जो यह बताया था कि प्राण आत्मा के पास आ जाते हैं, उस बात का उल्लेखकर यहाँ विस्तार से उस आने वगैराह का ढंग बताया है।।२०७।। 'मूढतां प्राप्नोति इव' यों इव से बताया कि एक तो यह मुमूर्षा मूर्छा से पृथक् है, और दूसरा, स्वयं आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान यथावत् रहता है, उसमें कमी नहीं आती है।।२०६-७।।

उक्त श्रुति का अर्थ कहते हैं **'तेजोमात्राः' अर्थात् चक्षु आदि जाग्रत् काल में (शरीर में) वैसे ही फैली हैं जैसे मछली पकड़ने का जाल फैला रहता है। मरणासन्न उन्हें इकट्ठा कर हृदय में प्रवेश करता है।।२०८।।** चक्षु आदि तत्तत् इंद्रिय एवं प्राणापानादि वृत्तियाँ सभी शरीर में अपनी-अपनी जगह व्यवस्थित हैं मानो शरीर-भर में तेजोमात्राओं का जाल बिछा हो। जाल मछली पकड़ने के लिये फैलाया जाता है, जीव ने भी विषय पकड़ने के लिये जाल फैला रखा है। कोई-कोई इंद्रिय तो शरीर के बाहर भी फैली रहती है ताकि विषय पकड़ में आ जाये! मरते समय जीव अपना यह जाल साथ ले जाने के लिये समेट लेता है।।२०८।।

जाल सिमटने के बाद विषयज्ञान बंद होता है यह बताते हैं **सूर्यात्मक जो चाक्षुष पुरुष जीवनदशा में भोग के लिये आँख पर अनुग्रह रखता था, वह अब आँख की उपेक्षा कर देता है क्योंकि (प्रारब्ध पूरा हो जाने से जीव का) कोई भोग रह नहीं गया है।।२०९।। इन्द्रियाँ उपसंहृत हो चुकने से, आदित्यादि देवताओं द्वारा उपेक्षा किये जाने से आत्मा देखने आदि में असमर्थ होने के कारण रूपादि को नहीं जान पाता।।२१०।। यह बात सभी लोगों को प्रसिद्ध है।**

अस्मिन्नर्थे सर्वलोकप्रसिद्धिरभिधीयते।।
एकीभावादयं नैव पश्यतीति जगुर्जनाः।।२११।।
चक्षुर्बुद्धावैक्यमेति रवौ रव्यंश एकताम्।।
इंद्रियान्तरवद्देवेष्वयं न्यायोऽत्र योज्यताम्।।२१२।।
कृत्स्नप्राणोपसंहारसंयुक्तस्य मुमूर्षतः।।
नाड्यग्रं हृदयस्याथ प्रकर्षेण प्रकाशते।।२१३।।
भाविदेहात्मता यास्य प्रत्यक्चैतन्यबिंबिता।।
वासनैवात्मनः सैषा प्रद्योतवचसोच्यते।।२१४।।
स एष कर्मजो बुद्धेः प्रकाशो जायते मृतौ।।
स्वकर्मनिर्मितं लोकं तेनात्माऽयं प्रपश्यति।।२१५।।

मरणासन्न के बारे में लोग कहते ही हैं 'सब प्राण हृदय में इकट्ठे हो गये अतः यह देख नहीं रहा' इत्यादि।।२११।। चक्षु बुद्धि से एक हो जाती है, सूर्य का जो अंश चक्षु में था वह सूर्य से एक हो जाता है। ऐसे ही अन्य इंद्रियाँ बुद्धि से एक हो जाती हैं और उनमें जो अधिदैवांश हैं वे तत्तत् देवताओं से एक हो जाते हैं।।२१२।। इंद्रियाँ काम कर सकें ऐसी उन्हें सामर्थ्य उनके अधिष्ठाता देवता देते हैं ताकि जीव भोग सके। जब भोग पूरे हो गये तब इंद्रियों को कार्यकारी रहने की ज़रूरत नहीं अतः देवता वह सामर्थ्य स्वायत्त कर लेते हैं, इंद्रियों से हटा लेते हैं। तब इंद्रियाँ जीव के साथ रहती हैं लेकिन जानती-करती कुछ नहीं जैसे बिजली कट जाने पर लट्टू-पंखादि जलते-चलते नहीं। इंद्रियादि का 'एकीभाव' अर्थात् हृदय में इकट्ठा हो जाना लोक में भी प्रसिद्ध है, मरणासन्न के निकट स्थित लोग स्वयं अनुभव कर लेते हैं। करणों का 'बुद्धि' में जाना अर्थात् 'लिंग' रूप से एक हो जाना। जब तक देखना-सुनना आदि करें तब तक इंद्रियादि हैं, जब ये कुछ न कर सकें तब केवल 'लिंग' ही सबको कह सकते हैं, यह भाव है।।२०६-१२।।

हृदय में एकत्र होने के बाद का क्रम कहते हैं **जिस मरणासन्न के सारे प्राणों का उपसंहार हो चुका उसके हृदय में जो नाडियों के मुख (सिरे) हैं वे अत्यधिक प्रकाशमान हो जाते हैं।।२१३।। 'प्रकाशमानता' से आत्मा की प्रत्यक् चैतन्य से अवभासित वासना कही जा रही है जो भावी शरीर में मैं-रूप से प्रतीत होती है।।२१४।। मरते समय बुद्धि में यह प्रकाश कर्म के प्रभाव से होता है। भावी लोक भी जीव के कर्म से निर्मित है अतः जीव उसे देख लेता है।।२१५।।** जैसे

स्वप्नवत्प्राप्य तद्भावं पश्चाद् देहाद् विनिःसरेत्।
गम्यलोकानुसारेण द्वारं स्याच्चक्षुरादिकम्। ।२१६।।
देहाज्जिगमिषुः प्राणसहितो निर्गतः पुनः।
सविज्ञानो भवेत्पूर्वं हृदि प्रद्योतनं यथा।२१७।।
पुरा नाडीविशेषेण निर्गन्तुं ज्ञानमीरितम्।
गन्तुं लोकविशेषेऽथ पुनर्विज्ञानमीर्यते। ।२१८।।

स्वप्न में वासनामय शरीर का भान होता है वैसे मरते समय वासनामय ही भावी शरीर का 'यह मैं हूँ' ऐसा भान होता है। उसी भान को यहाँ श्रुति ने 'प्रद्योतते' कहा है, अत्यधिक प्रकाश कहा है। जैसे स्वप्न में कर्मफलानुरूप वासनामय देह दीखता है वैसे मरते समय भी भावी देह दीखता है क्योंकि वही कर्म के फलरूप से मिलने वाला है। जिसका भावी जन्म होना नहीं उस तत्त्वज्ञ को ऐसा 'प्रद्योतन' भी नहीं होता एवं वक्ष्यमाण उत्क्रमण भी नहीं होता। ।२१३-५।।

देह छोड़ने का वर्णन करते हैं **स्वप्न में अपना शरीर देखने की तरह मरते समय भावी शरीर में अहम्भाव पाकर फिर जीव शरीर से निकलता है। जहाँ जाना है उस लोक के अनुसार निकलने के लिये चक्षु आदि द्वार बनते हैं। ।२१६।। देह से जाते हुए प्राणों समेत जाता है। शरीर से निकलने पर फिर वैसे ही विशेष अनुभव वाला होता है जैसे पहले हृदय में प्रद्योतन हुआ था। ।२१७।। पहले ज्ञान इसलिये कहा था कि किस नाडी से निकलना है यह पता चले, अब किस लोक में जाना है यह समझने के लिये आवश्यक विज्ञान याज्ञवल्क्य ने 'सविज्ञानो भवति' से कहा। ।२१८।।** स्वप्न में स्वयं को जवान देखते हुए जैसे याद नहीं रहता कि 'हूँ तो मैं (जाग्रत् में) बुड्ढा', वैसे मरते समय अपना भावी रूप देखते समय याद नहीं रहता कि मैं फिलहाल और कोई हूँ। अर्थात् वर्त्तमान शरीर का अभिमान उस भावी देह के अभिमान को काटता नहीं। देह से निकलने के द्वार गन्तव्य लोकानुसार होते हैं। उत्तम लोकों में चक्षुरादि द्वारों से एवं अधो द्वारों से अधोलोकों को जाया जाता है। सपने में जैसे इंद्रियादि के बगैर सब पता चल जाता है वैसे पूर्वोक्त प्रद्योतन से उचित नाडीद्वार का पता चल जाता है। जीव के निकलने पर प्राण साथ जाते हैं। शरीर से निकलते ही फिर'सविज्ञान' हो जाता है अर्थात् गन्तव्य लोक का रास्ता समझ कर उस पर चल देता है। यह सारा यहाँ वर्णन हमें चेताने के लिये है कि 'मरते समय परमेश्वर-चिन्तन कर लेंगे' सोचकर अभी अगर उसे टाला तो मरते समय वह चिंतन

हेतुर्जाग्रद्वासनास्य स्वप्नारंभे यथा तथा।
जन्मान्तरारंभहेतुः कः स्यादिति तदुच्यते।।२१६।।
विद्या संपादिता तेन पुरा कर्म च यत्कृतम्।
या वासना च तत्सर्वं जन्मभोग्यादिकारणम्।।२२०।।
देहं विद्या परिच्छिद्यादीदृशो देह इत्यथ।
विकर्तृकर्मवोढ्री तु पूर्वप्रज्ञेह पूर्वयोः।।२२१।।
समर्था सैव ते यस्मादुद्वोढुं ज्ञानकर्मणी।
नरस्यातः प्रधानत्वात्ताभ्यां सा गृह्यते पृथक्।।२२२।।

संभव न होगा क्योंकि वह तो कर्मवश ही हो पाता है। बाह्य-आभ्यन्तर कर्म यदि योग्य एकत्र हो गये तब तो मरते समय परमेश्वर के आकार की वृत्ति बनेगी, अन्यथा नहीं। उस समय जीव वृत्ति बनाने में स्वतंत्र नहीं होता, मूढ-सा होता है। स्वस्थ रहते ही चित्त को शिवाकार में ढाल लेना उचित है।।२१६-१८।।

उक्त बात श्रुतिने कही है 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' कि उपासना, कर्म और वासनाये तीनों जीव का अनुगमन करते हैं। (समन्वारभेते अनुगच्छतः।) इसे समझाते हैं **जैसे जाग्रत् के संस्कार स्वप्नोत्पत्ति में हेतु हैं वैसे जन्मान्तर की उत्पत्ति में क्या हेतु है? यह बताते हैं।।२१६।। जीव ने जो पहले उपासना और कर्म किये हुए हैं तथा जो वासनाएँ बटोरी हुई हैं, वे सब जन्म और वहाँ उपलभ्य भोग्य आदि में कारण बनते हैं।।२२०।। उपासना निर्धारित करती है भावी देह को कि ऐसा शरीर होगा, कर्म उसके विकार का अर्थात् अवयवोपचयादिका हेतु बनता है तथा पूर्वोक्त दोनों को ढोने वाली है वासना।।२२१।। क्योंकि ज्ञान-कर्म दोनों को ढोने में वासना ही समर्थ है अतः जीव के लिये वह प्रधान होने से उन दोनों से अलग इसकी गणना की।।२२२।।** श्रुति का विद्यापद उपासनार्थक है, ब्रह्मविद्या का बोधक नहीं क्योंकि ब्रह्मज्ञ तो मरकर जाता नहीं है। विहित कर्म-उपासना सत्फल एवं निषिद्ध कर्म-उपासना असत्फल देंगे। निषिद्ध भी उपासनाएँ हैं, नग्न स्त्री देखना, उसका ध्यान करना आदि निषिद्ध उपासनाएँ हैं। जीवन में सभी तरह के कर्म-उपासना जीव बटोरता है। इन सबके संस्कार (वासना) अवश्य रहते हैं। उन्हीं के सहारे उपासना-कर्म साथ चलते हैं। इन दोनों में से उपासना से देह अर्थात् मनुष्य-देव-दानव-पशु आदि योनि निर्धारित होती है कि किस योनिका शरीर मिलेगा तथा शरीर के आकार-प्रकार सकलांगता-विकलांगता, सौंदर्य-कुरूपता, बली-दुर्बलता

सर्वगस्य मनोमात्रगतिं ब्रूतेऽत्र तार्किकः ।
श्रुतिस्तु स्वमतं ब्रूते जलूकाख्यनिदर्शनात् । ।२२३ । ।
जलूका हि तृणाग्रस्था स्वमुखेन तृणान्तरम् ।
अवलंब्य वपुः शिष्टं सर्वं तत्रोपसंहरेत् । ।२२४ । ।

आदि को कर्म प्रयुक्त करते हैं। भोग भी कर्म से मिलते हैं। बहुधा उपासना उत्तम होने से योनि उत्तम मिलकर भी कर्म निकृष्ट होने से भोग दुःख का ही अधिक होता है तथा कई बार योनि निकृष्ट लेकिन भोग सुख का ही अधिक होता है। कारण है कि उपासना-कर्म का सामंजस्य न होने से दोनों के फल असमान मिल जाते हैं। उपासना और कर्म दोनों का निर्वाह वासना से ही होता है। उत्तम योनि में निकृष्ट रुचियाँ या निकृष्ट योनि में उत्तम रुचियाँ देखने को मिलती हैं जो बता देती हैं कि वासनाओं में भेद है। वासना से ही संकल्प और उससे कर्म-उपासनामें प्रवृत्ति होने से वह निर्वाह करने वाली कही है। अतः संस्कारों को सर्वाधिक महत्त्व देना उचित है। यदि सही संस्कार दृढ पड़ गये तो मज़बूरी में भी ग़लत कार्य नहीं हो पायेगा। लगभग सौ साल पूर्व बिहार में भीषण अकाल पड़ा था, तब के अंग्रेज़ों के लेख हैं कि पटना में लोग सड़कों पर भूखे मर गये लेकिन हलवाइयों की दुकानों में काँच की अल्मारियों में रखे पदार्थ भी चुराकर नहीं खाये! चोरी बुरी हैइसका दृढ संस्कार घटते-हटते आज हर तरह से सम्पन्न लोग होटलों से चम्मच ही चुरा लेते हैं! अतः संस्कारों को महत्त्व देने के लिये यहाँ श्रुति ने विद्याकर्म को समास में इकट्ठा कर दिया, पूर्वप्रज्ञा का स्वतन्त्र उल्लेख किया। ।२१९-२२ । ।

मरकर जाना चिड़िया के उड़ने जैसा, नौका में जाने जैसा, आदि दृष्टांतों से लोग बताते हैं, श्रुति ने जलूका (लीच) के उदाहरण से बताया है 'तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वा, अन्यम् आक्रमम् आक्रम्य आत्मानम् उपसंहरति' कि जैसे जलूका तिनके के किनारे पहुँचकर आधा शरीर आगे निकालती है और टिकने के लिये दूसरा तिनका मिल जाने पर उस पर आश्रित होने के बाद ही पूर्व तिनके से अपना सारा शरीर उठाती है, इसी प्रकार नया शरीर निर्धारित होने के बाद ही जीव पूर्व शरीर छोड़ता है। यह प्रसंग सूचित करते हैं **सर्वव्यापक आत्मा के केवल मन की मरने पर गति होती है ऐसा तार्किक कहते हैं लेकिन इस बारे में श्रुति अपना मत जलूका के उदाहरण से बताती है। ।२२३। तिनके के कोने पर पहुँची जलूका अपने मुख से दूसरे तिनके का सहारा लेने के बाद बाकी सारा शरीर वहाँ ले जाती है। ।२२४। । इसी तरह सूक्ष्मशरीररूप उपाधि वाला आत्मा बुद्धि से प्राप्तव्य देह को याद करते हुए**

लिंगदेहोपाधिरात्मा धिया देहान्तरं स्मरन्।
लिंगोपाधिकमात्मानं प्रापयेदन्यदेहकम्।।२२५।।
ननु देहान्तरारंभे उपादानं किमात्मनः।
एतद्देहारंभकं यत्तदेवोतान्यदीर्यताम्।।२२६।।
स्वर्णकारः सुवर्णांशमादायान्यं नवं नवम्।
तेनैव कुरुते भूय उपमृद्यातियत्नतः।।२२७।।
पंचीकृतास्तु भूतांशाः स्थूलदेहस्य हेतवः।।
अल्पत्वेनातिसूक्ष्मास्तैर्लिंगं तिष्ठति वेष्टितम्।।२२८।।

सूक्ष्मशरीर-उपाधि वाले स्वयं को उस देह में पहुँचाता है।।२२५।। क्योंकि जलूका, जौंक की तरह जाता है इसलिये अगला शरीर उसका होने पर पूर्व को छोड़ता है। इससे ये प्रश्न व्यर्थ हो जाते हैं कि मानव गर्भ में जीव किस महीने प्रवेश करता है, क्योंकि गर्भ का विकास ही सजीव होता है। आधुनिकों ने पहले तो निर्जीव कहकर अण्डे खाने शुरू किये, अब गर्भ को निर्जीव कहकर भ्रूणहत्या में तत्पर हैं। श्रुति स्पष्ट बता रही है कि पहले जीव ने उसे स्वीकार किया तभी वह बढ़कर उसके अनुरूप तैयार होगा। आयुर्वेद में तो माना है कि मरने से छह महीने पूर्व मनुष्य को अगले शरीर की वासना उद्भूत हो जाती है। काल के बारे में जैसा भी हो, श्रुति ने माना है कि प्राप्य देह अपनी निर्धारित करके तब वर्तमान देह छोड़ी जाती है। भावी देह को 'स्मरन्' (याद करते हुए) इसलिये कहा कि वह वासना से ही ज्ञात होती है। यह अर्थ नहीं कि किसी पुराने देह को याद करता हो। औपाधिक की ही उक्त ढंग से गति सिद्ध होने से आत्मा का गमनागमन संगत हो जाता है।।२२३-५।।

अब बताते हैं कि नया शरीर बनता काहे से है **नया शरीर बनाने के लिये आत्मा के पास उपादान (सामग्री) क्या है? वर्तमान शरीर बनने वाले पदार्थों से ही अगला भी शरीर बनता है या उसके लिये अलग पदार्थ चाहिये? यह बताया जाये।।२२६।। सुनार सोने का टुकड़ा लेकर उसी को बारम्बार गला कर अतिप्रयत्न से नये-नये गहने बना लेता है।।२२७।। पंचीकृत भूतों के अंश स्थूल देह के उपादान हैं। इस शरीर से जाते समय सूक्ष्म शरीर उन उपादानरूप भूतों से घिरा रहता है लेकिन वे मात्रा में इतने कम होते हैं कि अतिसूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष नहीं होते।।२२८।। उन्हीं से यह शरीर निर्मित है, पिता के वीर्य से तो पोषित ही है। वीर्य-निर्मित बाहरी हिस्सा मरते समय वैसे ही छूट जाता है**

निर्मितस्तैरयं देहः पोषितः पितृवीर्यतः ।।
मृतौ कंचुकवत्त्याज्यो बाह्यांशो वीर्यनिर्मितः ।।२२६।।

जैसे कुर्त्ता आदि खोल देते हैं।।२२६।। जन्म-जन्मान्तर में साथ जाने वाली चीज़ों में स्थूल भूतों के भी स्वल्प अंश हैं। जैसे खाद-मिट्टी से गड्ढा तैयार किया रहे तब उसमें बीज डालते हैं तो पौधा होता है वैसे शुक्र-शोणित आदि मिल-जुलकर स्थान तैयार रखते हैं जिसमें जायमान जीव अपने वे भूतांश लाकर डालता है, तब शुक्रादि से शरीर वैसे ही बनता जाता है जैसे बीज से खाद-पानी आदि मिलने पर अंकुरादि पैदा होते हैं। मरते समय उन मूल भूतांशों को जीव साथ ले जाता है, जो स्थूल शरीर यहाँ रह जाता है वह माता-पिता के अंशों से निर्मित खोल की तरह है। मिश्री बनाते समय एक छोटी-सी डली चासनी में डुबाकर रखते हैं, धीरे-धीरे उसके चारों ओर चीनी चिपकती जाती है, बहुत बड़ा कुज्जा तैयार हो जाता है, इसी तरह जीव के लाये भूतांशों के चारों ओर सारा शरीर निर्मित हो जाता है। जाते समय उन अंशों को जीव ले जाता है। अतः जो भूतांश वर्तमान शरीर के उपादान हैं वे ही सब भूत-भावी शरीरों के भी उपादान हैं। माता-पिता के रज-वीर्य एवं भोजन पानी आदि सब पोषक होने से उपादान कोटि के हैं जैसे खाद-पानी वृक्ष के उपादान कहे जाते हैं जबकि मूल उपादान बीज होता है। श्रुति ने इसके लिये सुनार का दृष्टांत लिया है, वह पुराना गहना तोड़कर उसी सोने से नया गहना बनाता है। पुराना जब गलाता है तब पुरानी खोट हट जाती है, नये के लिये नयी खोट डाली जाती है। पुरानी खोट की जगह मुर्दारूप से छोड़ा शरीर है, नयी खोट की जगह भावी माता-पिता के रज-वीर्य हैं तथा सोने की जगह भूतांश हैं एवं गहने की जगह शरीर है। यहाँ भूतांश पंचीकृत विवक्षित हैं। सभी भूतों के अंश जाते हैं, न कि केवल जल के, जैसा कि 'अप्परिवेष्टित' सुनकर क़ुछ लोग समझ लेते हैं। अप् अर्थात् जलका कथन उपलक्षणार्थ है। पंचीकृत होने पर भी इतनी कम मात्रा में होते हैं कि देखे आदि नहीं जा सकते। जब काफी स्थूल बैक्टीरिया, वायरस ही आँखों से नहीं दीखते तो पंचीकृत अवश्य दीखने चाहिये यह आग्रह कुतर्क ही है। उन भूतांशों से लिपटा हुआ ही लिंग शरीर प्रयाण करता है। तदन्तरप्रतिपत्ति (३.१.१-७) अधिकरण में इसी बात पर चर्चा है। एवं रत्नप्रभा, ब्रह्मामृतवर्षिणी एवं गौडब्रह्मानन्दीय सूत्रमुक्तावली में स्थूल भूतों का गमन सूचित भी है। यह विषय अत्यंत गूढ है। शंकरदिग्विजयों के अनुसार भगवान् वेदव्यास और आचार्य शंकर का इसी अधिकरण पर लम्बा शास्त्रार्थ चला और अंत में व्यास जी ने आचार्य की सूत्रव्याख्या सही घोषित की। कथा का जो भी अर्थ हो लेकिन इतना निर्णीत है कि यह

अधिष्ठानारोप्यभागौ तेषु देहेषु यौ स्थितौ।
तावुभौ विशदीकर्तुं स वा इत्यादिका श्रुतिः ।२३०।।
यः संसारी पुरा प्रोक्तः स एवायं स्वतः स्फुरन्।
साक्षिचैतन्यरूपत्वादधिष्ठानमनात्मनः।।२३१।।
विज्ञानं कर्तृतोपाधिर्मनःप्राणादयोऽखिलाः।
बहिर्बहिः समारोप्याः सर्वमारोपितं चिति।।२३२।।

विषय इतना गंभीर माना गया कि व्यास-शंकर ने शास्त्रार्थ के योग्य ठहराया। अतः इसे यथाशास्त्र समझना ही उचित है, व्यर्थ कुतर्क इस विषय में कर्तव्य नहीं।।२२६-८।।

अनादि शरीर-परम्परा में होने वाले सब शरीर परमात्मावबोध में निमित्त बन सकते हैं यह श्रुति ने अगले वाक्य में बताना शुरू किया 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः' इत्यादि से। इसे समझाते हैं **उन शरीरों में जो अधिष्ठान और आरोप्य हिस्से हैं उन दोनों को स्पष्ट करने के लिये 'स वै' इत्यादि श्रुति है।।२३०।। जो पहले संसारी कहा गया वही अपरोक्ष स्वयंप्रकाश साक्षी चैतन्यरूप होने से सारे अनात्मा का अधिष्ठान है।२३१।। विज्ञान अर्थात् कर्तृता की उपाधि मन-प्राण आदि सारे अनात्मा, चैतन्य पर बाहर-बाहर से आरोपित हैं।।२३२।।** जैसे चित्र में कपड़ा कागज आदि अधिष्ठान और राम-कृष्ण-पक्षी-वृक्ष आदि आरोप, दोनों भाग होते हैं वैसे सब देहों में साक्षी अधिष्ठान एवं सभी कोश आरोप हैं। मरने पर जाने वाले भी दोनों ही भाग हैं। उपहित का गमन उपपन्न कर चुके अतः अधिष्ठान का औपाधिक गमन कहना बन जाता है। संसारी के रूप में कहा-समझा जाने वाला ही सचमुच में साक्षी चैतन्य है। वास्तविकता के अज्ञान से संसारी प्रतीत हो रहा है, कर्त्ता-भोक्ता प्रतीत हो रहा है, जन्म-मरण वाला एवं लोक-लोकान्तरगामी समझ आ रहा है। लोकांतर-सम्बन्धी आत्मा प्रत्यक्षसिद्ध न होने पर भी शास्त्र-युक्ति से समझ आता ही है। करने वाला और इसे जानने वालाये परस्पर भिन्न होने पर भी अन्योन्याध्यासवश एक लग रहे हैं, विवेक से इनका अन्तर स्फुट हो जाता है। दोनों को 'मैं' तो कहते समझते हैं लेकिन विवेक से पता चलता है कि दोनों अलग हैं। अज्ञान हटने पर तो उनको कभी एकमेक नहीं समझा जायेगा लेकिन विवेक से कुछ काल तक उनका स्वतंत्र अहसास संभव है। यही अभ्यास बढ़ते-बढ़ते पूर्ण विवेक के रूप में विकसित होता है। साक्षी ही वास्तव में अधिष्ठान है, बाह्य-आभ्यन्तर सारे जगत् का उसी पर आरोप है। आरोप्यांश हैं हमारे सारे कोश जिन सबको मिलाकर विज्ञान कहा। इन्हीं के चलते आत्मा कर्त्ता बनता है। ये

तद्यदित्यादिना सर्वशब्दस्यार्थ उदाहृतः।
प्रत्यक्षवस्तुन्यध्यासे सतीदंमयता भवेत्।।२३३।।
परोक्षवस्तुन्यध्यासाददोमय इतीर्यते।
आरोपोक्तिसमाप्त्यर्थमितिशब्दः प्रयुज्यते।।२३४।

बाहर-बाहर आरोपित हैं अर्थात् सबसे भीतर साक्षी, उस पर आनंदमय, उसके बाहर बुद्धि, उसके बाहर मन, उसके बाहर प्राण, उसके बाहर स्थूल शरीरयों सभी साक्षी पर आरोपित हैं। जिससे जितना अधिक तादात्म्य वह उतना भीतर कहा जाता है। शरीर में यों दोनों अंश हैं, विवेक दृष्टि से अधिष्ठानांश में ही मैं-बुद्धि स्थिर करनी चाहिये, आरोप्यभाग से मैं-बुद्धि दूर रखनी चाहिये।।२३०-२।।

आरोप्यभाग का श्रुति ने 'पृथिवीमय आपोमयः' आदि अनेक शब्दों में विस्तार कर सबको 'सर्वमयः' से इकट्ठा कर इस सर्वमयता को 'तद् यद् एतद् इदंमयोऽदोमय इति' से समझाया। इसका अर्थ बताते हैं **'तद् यद्' इत्यादि से 'सर्व' शब्द का अर्थ व्यक्त किया है। प्रत्यक्ष वस्तु का अध्यास होने पर 'इदंमयता' होगी एवं परोक्ष वस्तु के बारे में अध्यास से 'अदोमय' कहा जायेगा। 'इति' शब्दसे आरोप्य के वर्णन की समाप्ति सूचित है।।२३३-४।।** 'इदम्' पुरःस्थित अतः प्रत्यक्ष को एवं 'अदः' दूरस्थ अतः परोक्ष को कहते हैं। हिंदी में इदं के लिये 'यह' और 'अदः' के लिये 'वह' शब्द हैं। 'इदंमय' को 'यहमय' तथा 'अदोमय' को 'वहमय' कह सकते हैं। पहले एक-एक उपाधि का नाम लेकर पृथ्वीमय आदि कहा, अब सामान्य कह दिया यहमय-वहमय अर्थात् स्वयं को हम कभी प्रत्यक्ष उपाधि से जुड़ा अनुभव करते हैं, कभी परोक्ष से। सत् आदिरूप परमेश्वर पर भी प्रत्यक्ष परोक्ष दोनों ही तरह की चीज़ें आरोपित रहती हैं। अतः प्रत्यक्ष या परोक्ष चाहे जैसी अध्यात्म या अधिभूत उपाधि प्रतीत हो, विवेकी को साक्षिरूप या सद्रूप परमात्मा को उसके अधिष्ठानरूप से समझते रहना चाहिये। 'यहमय' कहने से पता चलता है कि वह 'यह' ही नहीं है; ऐसे ही केवल 'वह' ही नहीं है; अतः जो वस्तु यहमय-वहमय लग रही है उसे अधिष्ठान चैतन्य जानना है। 'मैं सुखी, दुःखी' यों प्रत्यक्ष आरोप है, उनके हेतु के बारे में 'मैं पुण्यशाली, पापशाली' यों धर्म-अधर्म का परोक्ष आरोप है। पुण्य-पाप क्रिया के रूप में तो 'इदंमय' हैं और जिसे वह क्रिया उत्पन्न करती है उस अपूर्व के रूप में 'अदोमय' हैं। इस प्रकार उपाधिमात्र को 'यहमय' 'वहमय' में एकत्र कर लिया।।२३३-४।।

गमनागमनशील शरीर की आरोप्य-अधिष्ठान उभयरूपता कहकर गतिहेतु बताया

इदंमयत्वं विस्पष्टमैहिकत्वादुपेक्ष्य तत्।
अदोमयत्वं व्याचष्टे यथाकारीति वाक्यतः।।२३५।।
करणं नित्यकर्म स्यात्काम्यं तु चरणं भवेत्।
करणं कर्मशक्तिर्वा[1] चरणं प्रत्ययात्मकम्।।२३६।।

'यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।' इसे समझाते हैं **'इदंमयता' इहलोकीय होने से सुस्पष्ट होने के कारण उस पर और कुछ न कहकर 'यथाकारी' आदि वाक्य से अदोमयता का व्याख्यान करते हैं।।२३५।।** प्रत्यक्ष-अनुमान से अगम्य अर्थ ही वेद का प्रतिपाद्य होना संगत है इसमें महाराजा मनु की भी संमति है। उल्लेख भले ही अन्य बातों का हो जाये लेकिन वे अभिप्रेत नहीं होती। अतः 'यहमय'-रूप प्रत्यक्ष-अनुमान से समझ सकने के कारण वेदार्थ के रूप में विशेष विचार के योग्य नहीं। 'वहमय'-रूप शास्त्र से पता चलता है अतः उसे स्वयं श्रुति ने 'यथाकारी' आदि से समझाया है।।२३५।।

उक्त श्रुति का अर्थ कहते हैं **('यथाकारी' शब्द में) करण का अर्थ नित्य कर्म अथवा कर्म की शक्ति है और ('यथाचारी' शब्द में) चरण का अर्थ काम्य कर्म अथवा सब प्रकार के ज्ञान की योग्यता है।।२३६।।** वर्णादि के अनुसार अवश्य करणीय शास्त्रोक्त क्रियाएँ नित्य कर्म कहे जाते हैं। जो अपनी कामना से ही प्रयुक्त होकर शास्त्रीय या अशास्त्रीय कर्म किये जाते हैं वे काम्य हैं। शास्त्रीय नित्य भी हैं काम्य भी; जिन्हें करना ज़रूरी, उनसे कोई फल चाहो या न चाहो करना अवश्य होगा अन्यथा दोष होगा, वे नित्य हैं। जो हैं तो शास्त्रोक्त लेकिन उनके फल चाहो तभी करो, न करने से भी दोष नहींवे काम्य कर्म। काम्य तो लौकिकादि भी होंगे, अशास्त्रीय, शास्त्रविरुद्ध भी होंगे। यद्यपि स्नान शौचादि को भी लोक में नित्य कर्म कहते हैं तथापि यदि उन्हें शास्त्रोक्त मर्यादानुसार किया जाये तभी वे 'यथाकारी' से कहे करण में गिने जायेंगे अन्यथा शास्त्रोल्लंघन ही माना जायेगा। कुछ कर्म हो सकते हैं जो विधि-निषेध दोनों के विषय न हों, उनसे पुण्य-पाप दोनों नहीं होंगे, वे 'यथाकारी' में भी नहीं आयेंगे। क्रिया-सामर्थ्य और ज्ञानसामर्थ्य भी करण-चरण से कथित हैं। ज्ञान से उपासना को समझना चाहिये क्योंकि वही अगले जन्म में फल प्रदान करती है। जैसे कर्म और जैसी उपासना यहाँ करते हैं वैसा ही भावी जन्म में फल पाते हैं यह अर्थ है। यह 'अदोमयता' (वहमयता)

---

[1] 'कर्म वा करणे शक्तिः' इति निर्णयसागरपाठः।

वासना कर्म विद्या च त्रयं जन्मप्रयोजकम् ।
उक्तं तत्र प्रधानत्वं कर्मणः श्रूयते पुनः ।।२३७ ।।
पूर्वकांडपरा इत्थं कर्मप्राधान्यमूचिरे ।
अथ वेदान्तशास्त्रज्ञाः प्राहुः कामप्रधानताम् ।।२३८ ।।
इत्येतद्विशदीकर्तुं स यथेत्युत्तरा श्रुतिः ।
कामः क्रतुः कर्म जन्मेत्येषामेष क्रमो भवेत् ।।२३९ ।।

का व्याख्यान हुआ, यह तथ्य परोक्ष है कि यहाँ के कर्म-उपासना भविष्य में फलेंगे अतः यह बात श्रुति ने बतायी। यथाकारी भी आत्मा का ही एक रूप है, यथाचारी भी तथा इससे 'साधु' या 'पाप' (अर्थात् पापी)ये भी आत्मा के ही रूप हैं जो फलावस्था में मिलेंगे।।२३६ ।।

विद्या (उपासना), कर्म और पूर्व प्रज्ञा (वासना)ये तीन परलोक ले जाने वाले कहे थे। इनमें वासना का महत्त्व श्रुति बता रही है 'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत् कर्म कुरुते तद् अभिसम्पद्यते' (५)। पुरुष काममय है। जैसी कामना करता है वैसा संकल्प और वैसा ही कर्म करके वैसा ही फल पाता है। इस तरह कामना, वासना, पूर्वप्रज्ञा का महत्त्व स्पष्ट होता है। इस वाक्य को बताते हैं **वासना, कर्म और विद्या, तीनों को जन्म का हेतु बताया। पूर्वकाण्ड में तात्पर्य वाले मीमांसक कहते हैं कि इन तीनों में कर्म की प्रधानता श्रुतिकथित होने से कर्म ही प्रधान है। लेकिन वेदान्त शास्त्र के ज्ञाता कामना को प्रधान बताते हैं।।२३७-८ ।। यह विषय व्यक्त करने के लिये 'स यथा' इत्यादि वाक्य है। कामना, क्रतु (संकल्प), कर्म और जन्मयह क्रम है।।२३६।।** कामना वासनाधीन है। जिन चीज़ों की वासना न हो उनके प्रति कामना भी आकृष्ट नहीं होती। यद्यपि नवीन भोग काम्य बनते हैं तथापि उनके समान भोगों की वासना के कारण ही। जैसे दूसरों से बात करने की वासना है तभी उसके नवीन साधन दूरभाष की कामना हो जाती है। इस वासना को ही भगवान् कहीं-कहीं 'प्रकृति' कहते हैं (४.३३) और इसी का निग्रह अतिकठिन है। विवेक से ही प्रकृति पर विजय संभव है, हठ से तो कुछ काल बाद मौका मिलने पर प्रकृति अधिक बलवती होकर निग्रह का ध्वंस ही करती है। प्रकृति से ही कामना नियत है अतः वासना, प्रकृति, कामना, श्रद्धा (गी. १७. ३) आदि को प्रायः एकार्थक मान लेते हैं। कर्मकाण्डी कर्म को ही प्रधान मानते हैं,

रुचेरतिशयः काम्ये विषये क्रतुरीर्यते।
पाक्षिकं कर्म कामे स्यात् करोत्येव कृतौ सति।।२४०।।
कामप्राधान्यदार्ढ्यार्थं मंत्रस्योदाहृतिः श्रुतौ।
लिंग्यते गम्यते सर्वं मनसाऽतोऽस्य लिंगता।।२४१।।

भावना को भी नहीं और वासना (कामना) को भी नहीं। उपासनाकाण्डी ज्ञान (उपासना) को ही प्रधान मानते हैं। भावना का ही महत्त्व बताते हैं, कर्म और वासना का नहीं। वेदान्तशास्त्र तीनों को हेतु मानते हुए भी कामना (वासना) को प्रधान मानता है। अत एव गायत्री मंत्र में 'धियः प्रचोदयात्' से बुद्धि को सही प्रेरणा मिले यही प्रार्थना करते हैं क्योंकि प्रेरणा ठीक मिल गयी तो आगे सारा क्रम उचित ही होगा। वासना, संस्कार बदलने से कामना बदलेगी जिससे क्रतु-कर्म भी बदलेंगे ही। अतः वासना की प्रधानता स्पष्ट है। वासना का प्रभाव यों स्पष्ट होता है कि आज से साठ वर्ष पूर्व उम्रदार आदमी के भी मन में यह विकल्प नहीं आता था कि पिता की आज्ञा नहीं भी मानी जा सकती है। न जँचने वाले कार्य भी लोग तत्परता से आज्ञा मानकर कर लेते थे। आज प्रौढ तो छोड़ो, बालक तक की वासना है कि पिता की बात न मानना निर्दोष है! इतना अंतर वासनाभेद से ही है।।२३७-९।।

काम-क्रतु-कर्म इनमें काम-कर्म प्रसिद्ध हैं, क्रतु शब्द का अर्थ बता देते हैं **कमनीय विषय में अत्यधिक रुचि क्रतु कही जाती है। कामना-मात्र से कर्म-प्रवृत्ति हो भी सकती है, नहीं भी, लेकिन क्रतु होने पर व्यक्ति तदनुसार कर्म अवश्य करता है।।२४०।।** कामना ही बढ़ जाने पर क्रतु हो जाती है। क्योंकि क्रतु में इतना वेग होता है कि फलभूत कर्म हो ही जाता है इसलिये इसे 'संकल्प' भी कहते हैं। 'करोति एव' इसलिये कहा कि क्रतु होकर भी व्यक्ति अपनी ओर से ही चेष्टा कर सकता है, कार्य सम्पन्न होना तो अनेक कारकों पर निर्भर रहता है।।२४०।।

उक्त अभिप्राय में अगला श्रुतिवचन योजित करते हैं **कामना की प्रधानता को दृढ स्थापित करने के लिये श्रुति में मंत्रों का उद्धरण है। सब कुछ मन से 'लिंग्यते' ग्रहण होता है इसलिये मन को 'लिंग' कहते हैं।।२४१।।** प्रायः ब्राह्मण में विस्तार से उपपादित विषय का मंत्र द्वारा संक्षेप उपस्थापित किया ही जाता है, वैसे ही यहाँ भी है। मंत्र है 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किञ्चेह करोत्ययम्।। तस्माल्लोकात् पुनरेति अस्मै लोकाय कर्मणे। इति नु कामयमानः।' अर्थात् लिंगरूप मन जहाँ आसक्त है वहीं जीव भी पहुँचता है

यः पुरा स्वप्नदृष्टांतात्परो लोको विवक्षितः ।
इति न्वित्युपसंहारं तदुक्तेः कृतवान्मुनिः ।।२४२।।
मुक्तिः सुषुप्तिदृष्टान्ताद् मुनिना या विवक्षिता ।
मुनिरारभते वक्तुं तामथेत्यादिवाक्यतः ।।२४३।।
पूर्वोक्तकामिवैषम्यम् अथशब्देन सूच्यते ।
कामी संसरतीत्युक्तं कामाभावे विमुच्यते ।।२४४।।
परमानंदरूपत्वम् आत्मनश्चेद् विबुध्यते ।
कुतः कामयते भोग्यं ततो बोधादकामता ।।२४५।।

क्योंकि वह भी उसी फल में सक्त है। जाता कर्मद्वारा है, यहाँ किये कर्मों का फल भोगने परलोक जाता है, भोगकर यहाँ लौट आता है और कर्म करने के लिये। लेकिन यह चक्र कामनावान् का ही है। इस मंत्र में मन को लिंग इसलिये कहा कि आत्मा हो या अनात्मा, सब जाने मन से ही जाते हैं। 'लिंग्यते' का भाष्य में 'अवगम्यते' अर्थ कहा है, उसी का यहाँ उल्लेख किया। अग्निका अवगम कराने वाले धूम को भी इसी तात्पर्य से लिंग कहते हैं। मन की आसक्तिवश ही परलोक में फलों का हम चयन करते हैं, मरकर उन्हीं फलों को पाते हैं।।२४१।।

स्वप्न-प्रसंग का उपसंहार बताते हैं **पहले स्वप्न के दृष्टांत से 'परलोक' बताया था उसके बोधन का समापन 'इति नु' कहकर याज्ञवल्क्य मुनि ने किया।।२४२।।** सकाम का ही इह पर लोकों में यातायात चलता रहता है जैसे जाग्रत्-स्वप्न में आना-जाना चलता रहता है। श्लोक ६७ में स्वप्न परलोक का सम्बन्ध कहा था एवं श्लोक १३६ में उपसंहार किया था। यहाँ मंत्र में उसी का विषय इंगित है।।२४२।।

आगे श्रुति है 'अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।।' (६)। आत्मैककाम होने से जो पूर्णकाम है अतः उससे सारी कामना निकल चुकी होने से अकाम है, कुछ नहीं चाहता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, ब्रह्म रहता हुआ ही वह ब्रह्म को पा जाता है। इस वचन का भाव स्पष्ट करते हैं **सुषुप्ति के दृष्टान्त से मुनि जिस मुक्ति का निरूपण करना चाहते रहे उसे 'अथ' इत्यादि वाक्य से कह रहे हैं।।२४३।। 'अथ' शब्द से सूचित किया कि पूर्वोक्त कामवान् से विलक्षण का कथन हो रहा है। कामवान् संसरण करता है यह कहा (अतः अर्थसिद्ध है कि) कामना न रहने पर मोक्ष है।।२४४।। यदि आत्मा की परमानन्दरूपता समझ**

बोधलभ्यमकामत्वं यथाकामेत्यसूत्रयत्।
योऽकाम इत्यादिनैतत् सूत्रं विव्रियते स्फुटम्।।२४६।।
योऽकामस्तस्य न प्राणा उत्क्रामन्तीति योजना।
संसृतिः कामिनो यद्वदकामो मुच्यते तथा।।२४७।।
दृष्टानुश्रविका बाह्यकामा यस्य न संत्यसौ।
अकामस्तादृशत्वं तु निष्कामत्वेन सिध्यति।।२४८।।
विभ्रमापादिताः कामाः प्रत्यक्तत्त्वविवेकिनः।
यस्माद्विनिर्गताः सोऽयं निष्काम इति भण्यते।।२४६।।

आ जाये तो भोगयोग्य विषय क्यों चाहेगा! इसलिये आत्मज्ञान से अकामता सहज है।।२४५।। 'अथाकामयमानः' से सूत्र बताया कि बोध से अकामता होती है। 'योऽकामः' इत्यादि से इसी सूत्र का स्पष्ट व्याख्यान श्रुति ने किया।।२४६।। पूर्व में सुषुप्ति का विस्तार से वर्णन इसीलिये किया था कि उसे मोक्ष के लिये सही उदाहरण माना था। अब दार्ष्टान्त मोक्ष का वर्णन करेंगे। मोक्षभाग् वही होगा जो सब कामनाओं से रहित है। थोड़ी भी कामना रही तो पूर्वप्रदर्शित गमनागमन की ही गति है, कामना सामप्त होने पर ही मोक्ष है। कामना ही रस्सी है जिससे जीव विषयों से बँधता है अतः कामना मिट जाने पर स्वतः मुक्त हो जाता है। कामना आनन्द की ही होती है। आनंद के लिये साधनों को चाहते हैं। अपना स्वरूप असीम आनन्द समझ आ जाये तो क्योंकि स्वरूप सदा प्राप्त है इसलिये सभी कामनाएँ परिपूर्ण हो जाती हैं। अपनी परमानंदरूपता का अपरोक्ष होते ही कामना के योग्य कोई अनात्म विषय रह नहीं जाता। अतः ज्ञान ही कामनानिवारक है, मोक्षहेतु है। कामना उपाधिधर्म होने से आत्मा स्वयं को उपाधि से स्वतंत्र जानते ही कामना-रहित हो जाता है।।२४३-६।।

श्रुत्यर्थ कहते हैं **जो अकाम है उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करतेयह अन्वय है। जैसे कामनावान् का संसरण ही होता है वैसे अकाम का मोक्ष ही होता है।।२४७।। देखे-सुने बाह्य विषयों की जिसे कामनायें नहीं होतीं वह अकाम है। ऐसी स्थिति निष्कामता से प्राप्त होती है।।२४८।। कामनायें सारी केवल भ्रम से आ पाती हैं। प्रत्यगात्मरूप तत्त्व का जिसने यथाशास्त्र विवेचन कर लिया उसमें से सारी कामनाएँ निष्कासित हो जाती हैं अतः वह निष्काम कहलाता है।।२४६।। आप्तकाम होने से ही संभव है कि बुद्धि से सारी कामनाएँ निकल जायें। जिसे चाहते हैं वह जब तक मिल न जाये तब तक**

आप्तकामत्वतः सिद्ध्येद् बुद्धेः कामविनिर्गमः ।
अप्राप्तौ काम्यमानस्य कामः क्वापि न निःसरेत् ।।२५० ।।
एवं सत्याप्तकामत्वं निःकामत्वस्य साधनम् ।
कामाप्तौ त्वात्मकामत्वमेव हेतुर्न चेतरत् ।।२५१ ।।
निरुपाधिपरानंद आत्मेति श्रुतिसंमतः ।
आनन्दाः सर्वभूतानां तस्मिन्नन्तर्भवन्ति हि ।।२५२ ।।
पुत्रादिजन्या आनंदा अपि तस्मिन्नवस्थिताः ।
तथाविधात्मकामोय आप्तकामो भवेदयम् ।।२५३ ।।

कामना समाप्त हो यह कभी संभव नहीं ।।२५० ।। यह परिस्थिति होने पर स्पष्ट है कि आप्तकामता निष्कामता का साधन है एवं कामपूर्त्ति में हेतु तो आत्मकामता ही है, अन्य कोई नहीं ।।२५१ ।। 'उत्क्रमण' अर्थात् वर्तमान देह छोड़कर भावी देह के लिये जाना। मुक्त का जन्मान्तर न होने से उत्क्रमण का प्रयोजन नहीं है। उसके प्राण यहीं लीन हो जाते हैं। मुक्त होगा वही जिसे न लौकिक और न शास्त्रीय किसी भोग की कामना है। अकाम अर्थात् कामना है नहीं; निष्काम अर्थात् कामना निकल गयी। थोड़ा ही अंतर है। क्योंकि आत्मा-अनात्मा के स्वरूप और सम्बन्ध के बारे में भ्रम है इसी से कामना संभव है। मैं भोक्ता हूँयह भ्रम है, विषयभोग सुख देता हैयह दूसरा भ्रम है; इन्हीं पर कामना का दारोमदार टिका है। जब आत्मस्वरूप का स्पष्ट यथाप्रमाण अवबोध होता है तब भ्रम सहेतु मिट जाने से कामना स्वतः निवृत्त हो जाती है। विषयों को सत्त्य मानकर कामना कायम रहती है, जैसे ही पता चलता है कि वे हैं ही नहीं, वैसे ही कामना समाप्त हो जाती है। क्योंकि एक आत्मा ही पूर्ण है, त्रिविध परिच्छेदरहित है इसलिये उसी की कामना हो तभी संसार की, अनात्मा की, अपूर्ण की कामना निवृत्त हो। आत्मा हमेशा प्राप्त है अतः आत्मकाम की कामना हमेशा पूरी ही है। अनात्मकाम रहते कभी आप्तकामता अर्थात् समस्त कामनाओं की समग्र पूर्ति नहीं हो सकती। अतः मुक्त क्योंकि आत्मा से अन्य की कामना नहीं करता इसलिये पूर्णकाम है।।२४७-५१।।

आत्मा की आनंदरूपता के आधार पर निष्कामता से मोक्षलाभ संगत बताते हैं **सारी उपाधियों से रहित आत्मा परम आनन्द है यह वेद का सिद्धान्त है। सारे प्राणियों के आनन्द उसी में समाये हुए हैं।।२५२।। पुत्रादि से मिलने वाले आनंद भी उस आत्मा में विद्यमान हैं। ऐसे आत्मा की ही जिसे कामना रह जाये उसी की समस्त कामना पूरी होती है।।२५३।। ऐसा आप्तकाम (पूर्णकाम)**

य ईदृगाप्तकामो यः स निष्कामो भवेत्ततः।
निष्कामत्वादकामः सन्संसारात् प्रविमुच्यते।।२५४।।
उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य प्राणा अज्ञानबाधनात्।
नोत्क्रामन्ति न तिष्ठन्ति न च नश्यन्त्यहेतुतः।।२५५।।

निष्काम हो जाने से अकाम हुआ संसार से सर्वथा छूट जाता है।।२५४।। वेदानुसार उपाधि दुःख तो दे सकती है, सुख नहीं। सुख अकेले आत्मा का स्वभाव है। सुषुप्ति में यह सर्वानुभूत भी है। वहाँ अज्ञानरूप उपाधि होने से आनन्द का विशद बोध नहीं। मोक्ष में अज्ञान भी न रहने से वह कमी भी दूर हो जाती है। केवल आत्मा ही आनंद होने से सारे संसार के सुखों का उसी में समावेश है जैसे घटाद्याकाशों का आकाश में या प्रतिबिंबों का बिम्ब में समावेश (अंतर्भाव) होता है। जो जिसके बिना उपलब्ध न हो वह तद्रूप होता है, आनन्द मैं के बिना उपलब्ध न होने से मैंरूप ही है। मैं न होवूँ और आनन्द होवेयह असंभव है, अकल्पनीय है। अतः आनन्द मैंरूप ही संगत है। 'मैं' से देवदत्तादि विशेष नहीं वरन् प्रत्यगात्ममात्र विवक्षित है। मैं में ढूँढने से आनन्द ही मिलता है। यही उपाधिस्वतन्त्र परमानंद है, यही जब एकमात्र अभीष्ट समझ आ गया तब बाह्य अर्थात् अनात्म-विषयक कामना असंभव हो जाती है। आत्मा स्वरूप, सदा उपलब्ध है अतः ऐसा व्यक्ति आप्तकाम ही होगा। इसीलिये अनात्मकामनाएँ निकल चुकने से निष्काम एवं कोई अपूर्ण कामना न रहने से अकाम ही होगा। ऐसा साधक सिर्फ परमानन्दरूप परमात्मा को चाहता है, और कुछ चाहता नहीं, इसलिये उसे परमात्मा ही मिल जाता है, वह मुक्त ही हो जाता है। श्रुति ने अन्यत्र कहा है 'यमेवैष वृणुते' जो केवल परमात्मा को चाहे उसे परमात्मा मिल सकता है। अतः आत्मकाम ही मुक्त होता है।।२५२-४।। (यत् = यस्मात्।)

मुक्त के मरण की विलक्षणता बताते हैं **जिसे दृढतम तत्त्वसाक्षात्कार उत्पन्न हो चुका उसका अज्ञान बाधित हो चुकने से उसके प्राण न उत्क्रमण करते हैं, न रह जाते हैं, न नष्ट ही होते हैं क्योंकि तीनों के प्रति कोई हेतु ही नहीं है!।।२५५।।** जैसे रस्सी जान चुकने पर साँप न सरक कर जाता है, न रहता है, न नष्ट ही होता है वैसे भावी फल देने वाले कर्म न होने से प्राण उत्क्रमण नहीं करते, प्रारब्ध नहीं होने से रहते नहीं, जिस उपादान में लीन होनारूप नाश उनका होता वह उपादान अज्ञान भी न रह जाने से प्राण नष्ट भी नहीं होतेयह अर्थ है। अतः हम लोगों के मरण से ज्ञानी का मरण विलक्षण है।।२५५।।

बंधस्य कल्पितत्वेन तन्मुक्तिरपि कल्पिता।
इत्यभिप्रायमाचष्टे ब्रह्मैवेत्यादिवाक्यतः।।२५६।।
अविद्याध्वस्तिमापेक्ष्य सम्यग्धीजन्ममात्रतः।
आत्मा ब्रह्मैव सन्साक्षाद् ब्रह्माप्येतीति सुस्थितम्।।२५७।।
इत्येतत्सर्ववेदान्तसर्वस्वं ब्राह्मणोदितम्।
अस्यैवार्थस्य दाढर्यार्थं मन्त्रोदाहरणं भवेत्।।२५८।।
कामिनः सर्वसंसारः पुरा मंत्रेण वर्णितः।
अकामस्य विमोक्षोऽत्र तथा मंत्रेण वर्ण्यते।।२५९।।

छठे वाक्य की अंतिम पंक्ति 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' समझाते हैं**बन्धन कल्पित होने से उससे छूटना भी कल्पित हैयह 'ब्रह्मैव' इत्यादि वाक्य से प्रकट अभिप्राय है।।२५६।। सही ज्ञान के केवल जन्म से हुई अविद्यानिवृत्ति की अपेक्षा से 'ब्रह्म को पा जाता है' ऐसा कहते-समझते हैं जबकि आत्मा साक्षात् (स्वयम्) ब्रह्म ही है।।२५७।।** कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमान बंधन है, इसकी निवृत्ति मोक्ष है। बंधन वास्तविक नहीं, भ्रान्त अभिमान ही है। अतः बंधननिवृत्ति भी वास्तविक नहीं लेकिन प्रतीति के कारण मान्य होने से उसके मिटने को 'छूटना' समझना संगत है। आत्मस्वरूप तो अकल्पित सत्त्य है पर उसे मुक्त या छूटा समझना कल्पित है क्योंकि कल्पित बंध के आधार पर है। अतः 'ब्रह्मैव सन्' अर्थात् 'ब्रह्म ही रहते हुए' से सनातन ब्रह्मरूपता कही। सही ज्ञान अर्थात् अप्रतिबद्ध अखण्ड साक्षात्कार, उससे अविद्यानिवृत्ति होती है, इतने मात्र से 'ब्रह्म-प्राप्ति' ऐसा व्यवहार हो जाता है। जैसे गले की माला पीछे की ओर हो जाये तो 'खो गयी' और पता चलते ही 'मिल गयी' व्यवहार हो जाता है वैसे यहाँ जानना चाहिये। अखण्ड सच्चिदानन्द परमात्मा सदा एकरस है पर अज्ञानरूप मायावश नाना दीखते बंधनकारी हो गया है, तत्त्वबोध से अज्ञान मिटते ही बंधनकारी नहीं रह जाता, स्वाभाविक पूर्णरूप रहता है।।२५६-७।।

उक्त विषय उपनिषत् ने मंत्र से कहा 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते।।' इसका संग्रह करते हैं **इस तरह ब्राह्मण में सारे वेदान्त का सर्वस्व (मूल प्रतिपाद्य) बताया। इसी बात को पक्का करने के लिये मंत्र उद्धृत किया है।।२५८।। पूर्वमंत्र ('तदेव सक्तः' आदि) में बताया था कि कामी का ही सारा संसरण है। यहाँ मंत्र में वर्णन है कि अकाम का मोक्ष है।।२५९।। जीव के हृदय में स्थित सकल कामनाएँ जब छूट जाती**

पुंसो हृदि श्रिताः कामा मुच्यन्ते निखिला यदा।
तदानीममृतो भूत्वा ब्रह्मैवात्र समश्नुते।।२६०।।
ननु ब्रह्माश्नुतेऽत्रेति जीवतो मुक्तिरीरिता।
जीवंश्चेत् को विशेषोऽस्य बन्धान्मुक्ताविती‍र्यताम्।।२६१।।
अभिमानः पूर्वमासीद्देहादावधुना तथा।
नास्तीत्यत्रातिविस्पष्टः सर्पदृष्टान्त उच्यते।।२६२।।

हैं तब वह अमर होकर यहीं ब्रह्मभाव पा जाता है।।२६०।। सर्वस्व अर्थात् समूची पूँजी। वेदांतशास्त्र एवं इसके साधक की समूची पूँजी एकमात्र परब्रह्म है, कोई अनात्मा नहीं। कामना रहते जन्म-जन्मान्तर का यातायात 'जातस्य हि ध्रुवः' न्याय से निश्चित है। अभी हम कामना 'अपनी' मानते हैं। वस्तुतः अभी भी वे 'हृदिश्रित' हृदय की, मन की ही हैं। मन न रहने पर सुषुप्ति में कामना का नामो-निशान नहीं रहता। कामना की बंधनरूपता प्रत्यक्षसिद्ध हैजिसे जिसकी कामना हो वही उस विषय से बँधता है जिसे उसकी कामना नहीं, उसे वह विषय बाँधता भी नहीं। अतः कामना बंधन है, कामनानिवृत्ति मोक्ष है। अत एव 'अत्र' यहीं, अभी ही मोक्ष है, किसी देशान्तर-कालान्तर में नहीं। होता हुआ भी कामना से तिरोहित है अतः उनके मिटने से होता हुआ लगता है।।२५८-६०।।

अगला श्रुति वाक्य कहता है कि जैसे साँप की केंचुली बिल में पड़ी रहती है ऐसे मुक्त का शरीर रह जाता है। इसका भाव व्यक्त करते हैं **'यहाँ ब्रह्मभाव पा जाता है' इससे जीवित अवस्था में मोक्ष बताया लेकिन मुक्त भी जीवित रहता है तो बताना चाहिये कि बंधावस्था की अपेक्षा मुक्ति में उसमें (मुक्त में) क्या फ़र्क़ है?।।२६१।। बंधावस्था में शरीरादि में उसे अभिमान था, अब (मोक्षदशा में) वैसा अभिमान नहीं हैयह फ़र्क़ है। इस बारे में बहुत सटीक साँप का उदाहरण बताया है।।२६२।।** जीवन्मुक्ति वेदान्तसंमत, विद्वदनुभूत स्थिति है जिसे तर्क से संभावित ही कर सकते हैं, तर्क स्तर पर उसकी चर्चा निर्णायक नहीं हो सकती। मुक्त जियेगा तो भूख-प्यास-ठंड आदि लगेगी, खायेगा-पियेगा-ओढेगा, यह सब शरीर में आत्मभाव के बिना कैसे संभव है, इच्छादि के बिना कैसे संभव है? इस पर विचार कर कुछ लोग इन अनुभूतियों व प्रवृत्तियों की भी समाप्ति भूमिकारोहण के रूप में समझाते हैं। प्रधान पक्ष यहाँ स्पष्ट किया कि 'तथाऽभिमानो नास्ति' बद्ध का देहादि में मिथ्याभिमान है जबकि मुक्त का वैसा नहीं। मुक्त का 'आहार्य अभिमान', 'बाधित

प्रत्यग्ज्ञानशिखिध्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके।
नेति नेति स्वरूपत्वादशरीरो भवत्ययम्।।२६३।।
स्थूलदेहं परित्यज्य लिंगदेहयुतो यदि।
मृतस्तदा स्यान्न त्वेवममृतोऽसावतो भवेत्।।२६४।।

अभिमान', 'अभिमानाभास' आदि जो कुछ जीवनोपपादन के लिये ज़रूरी लगे, मान लें, लेकिन बद्ध-समान अभिमान नहीं होता। अतएव 'विद्वांस्तथाऽसक्तः' (३.२५) आदि गीतावचन भी समझ आ जाता है। साँप अपनी केंचुली छोड़ देता है तो भी वह दीखती साँप-सी है पर साँप है नहीं। पहले ज़रूर वह साँप थी। अब साँप भी उसे देखते हुए 'यह मैं हूँ' ऐसा नहीं समझता। उसके कटने-फटने से कुछ भी प्रभावित नहीं होता। इसी तरह अहंकार से देहपर्यन्त को 'मैं' समझने वाला बद्ध जब मुक्त होता है तब ये सब उपाधियाँ उसे यावज्जीवन उपलब्ध होने पर भी इनमें 'मैं'-बुद्धि नहीं होती। व्यवहारार्थ मैं शब्द इनके लिये बोल तो देता है लेकिन जानता है कि ये मैं हूँ नहीं। चिर अभ्यस्त वासना से व्यवहार की संगति तृप्तिदीप (श्लोक. २६२) में भी बतायी है। जीवन्मुक्ति में दैहिक क्रियाकलाप बंद होना ज़रूरी मानना निराधार है। शरीरादि के विकारों से चित्तवृत्तियों तक ही अनुमान हो सकता है, अभिमान का नहीं। इस प्रकार बद्ध-मुक्त में अभिमान का ही अन्तर है, स्वरूप तो बद्ध का भी ब्रह्म ही है।।२६१-२।।

अगला श्रुतिवाक्य है 'अथाऽयम् अशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव।' इसे समझाते हैं **प्रत्यगात्मा के ज्ञानरूप वह्नि से सकारण मिथ्याज्ञान के जल जाने पर यह आत्मा अशरीर रह जाता है क्योंकि इसका स्वरूप ही 'नेति नेति' है।।२६३।।** इति अर्थात् सभी दृश्य जहाँ नहीं वह आत्मा सदा अशरीर है लेकिन यह न जानते हुए भ्रम से शरीरादि को मैं समझे है। विवेक से जब समझ लेता है कि सच्चिदानन्द जो आत्म-रूप हैं उनसे विहीन दृश्य नाम-रूप, शरीरादि हैं ही नहीं तो ये मैं कैसे हो सकते हैं! तब वास्तविक प्रत्यक्चैतन्य पर एकाग्र रहकर अन्यत्र आत्मबुद्धिरूप भ्रम जला डालता है जिससे अपनी सच्ची अशरीरता व्यक्त हो जाती है।।२६३।।

अशरीर से वर्त्तमानदेहराहित्य बताकर अमृत से भाविदेह-राहित्य समझाते हैं **स्थूल देह छोड़कर अगर सूक्ष्म देह (पुर्यष्टक) से सम्बद्ध रहता तब 'मरा' कहलाता लेकिन मुक्त यों सूक्ष्म से भी युक्त होता नहीं अतः वह अमृत है।।२६४।।** मरणप्रक्रिया बता चुके हैं, उसमें सूक्ष्मवान् रहना पड़ता है। तीनों शरीर छोड़ चुका विद्वान् मर भी नहीं सकता!।।२६४।।

प्रकृष्टचेष्टाहेतुत्वात् साक्ष्युक्तः प्राणशब्दतः।
को ह्येवान्यादिति प्रोक्तं चेष्टाहेतुत्वमात्मनः।।२६५।।
साक्षिणो ब्रह्मरूपत्वं ब्रह्मैवेत्यभिधीयते।
संसर्गशंकानुत्त्यर्थमेवकारः प्रयुज्यते।।२६६।।
संयोगः समवायो वा नैव ब्रह्मात्मनोरिह।
अखण्डैकरसत्वं तु भवतीति विवक्षितम्।।२६७।।
तदेव विशदीकर्तुं तेज एवेत्युदीर्यते।
चैतन्यं तेज इत्युक्तं तच्चैकमुभयोरपि।।२६८।।

श्रुति में मुक्त को प्राण क्यों कहा, यह बताते हैं **चेष्टाओं का मूल हेतु होने से साक्षी प्राण-शब्द से कहा गया है। आत्मा चेष्टाओं का हेतु है यह 'कौन अनन करता' आदि श्रुति में कहा है।।२६५।।** क्रिया प्राणों से होने पर भी प्राण जड होने से स्वयं सचेष्ट न हो सकने से आत्मा के ही बल पर सचेष्ट होते हैं जैसे मन आत्मा के ही बल पर सज्ञान होता है। आत्मा साक्षी न हो तो प्राण चेष्टा न करे जैसे ईट-पत्थर नहीं करते। आत्मा कोई चेष्टा किये बिना अपने प्रभाव से सारी चेष्टाएँ करा लेता है। अगर आत्मा भी चेष्टा करता तो उसकी चेष्टा भी अन्याधीन हो जाती! अतः चेष्टा का मुख्य मूल निश्चेष्ट होना ही उचित है। 'बिना हिले हिलाने वाला' आदि पाश्चात्य दार्शनिक भी परमात्मा को बताते हैं। सूर्य किसी से कुछ करने को कहता नहीं फिर भी सूर्य की मौजूदगी में सब अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं, ऐसे ही आत्मा के होने से ही सारी उपाधियाँ अपनी चेष्टाएँ करती रहती हैं। वह साक्षी है इसी से सारी चेष्टाएँ हो रही हैं अतः उसे चेष्टा का प्रकृष्ट हेतु बताया। उदाहृत श्रुति तैत्तिरीय २.७.१ में है 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' कि आनंदरूप व्यापक परमात्मा न होता तो प्राणनादि चेष्टाएँ कौन करता!।।२६५।।

'प्राणो ब्रह्मैव' आदि समझाते हैं **साक्षी ब्रह्मात्मक है यह 'ब्रह्मैव' से कहा। ब्रह्म और साक्षी अलग लेकिन परस्पर सम्बद्ध होंगेइस शंका को हटाने के लिये एव-शब्द (ही-शब्द) का प्रयोग किया।।२६६।। ब्रह्म और साक्षी आत्मा में परस्पर संयोग-समवायादि सम्बन्ध नहीं हैं, इनकी तो अखण्ड एकरसता हैयह तात्पर्य है।।२६७।। इसे ही स्पष्ट करने के लिये 'तेज एव' कहा : तेज-शब्द से चैतन्य को कहा, साक्षी व ब्रह्म में चैतन्य एक ही है।।२६८।। चैतन्य से अतिरिक्त अविद्यादिकी निवृत्ति भी नहीं हैऐसा भाव 'तेज एव' में प्रयुक्त एव**

अविद्यादिनिवृत्तिश्च चैतन्यव्यतिरेकतः।
नास्तीत्येवमभिप्राय एवकारेण सूच्यते।।२६६।।

शब्द का है।।२६६।। अंशादिरूप जीव स्वीकारने वाले मतों के निरासार्थ एव शब्द है। भेदाभेदादि वाद काफी पुराने हैं, उन्हीं के विभिन्न संस्करण शैव-वैष्णव आदि प्रचलित हैं। द्वैतियों से पृथक् ये विचारक जीव को ब्रह्म से स्वतंत्र नहीं मानते इतना तो ठीक लेकिन फिर भी किसी-न-किसी तरह का दोनों में फ़र्क़ समझते हैं जिसे निवृत्त करने के लिये एव कहा। जब फ़र्क़ है तो दोनों में कोई सम्बन्ध भी होगा। भगवान् वैकुण्ठ में हैं, हम वहाँ पहुँचकर उनके चरण स्पर्श करेंगे तो उनसे संयोग होगायह एक तरह का संबंध मानते हैं। इससे सूक्ष्म है समवाय जैसे शरीर और हाथ-पैर आदि का आपसी सम्बन्ध है। जाति जैसे सब व्यक्तियों में है वैसे सब जीवों में ईश्वर है इत्यादि समवाय सम्बन्ध बताने के ढंग हैं। किन्तु उपनिषत् का सिद्धांत है कि सर्वथा अभेद होने से ऐसा कोई सम्बन्ध सम्भव ही नहीं है! साक्षी और ब्रह्म केवल शब्दों में भेद है, अर्थ में नहीं। चिन्मात्रस्वरूप की एकरसता ही अद्वैत का ख्यापन करती है। इसीलिये प्राण शब्द से कहे साक्षी की चित्स्वरूपता 'तेज' शब्द से कही जिसे ज्योतिर्ब्राह्मण में समझा चुके हैं। परिवर्तन किये बिना प्रकट करनायह भौतिक प्रकाश और ज्ञान में समानता होने से ज्ञान को तेज कहते हैं। यद्यपि शरीर की एक आभाविशेष होती है जो दैवी संपत्तिशालियों में अधिक होना उचित है तथापि जब सनातनी 'तेजस्वी' कहता है तब वह दिव्य ज्ञान के अभिप्राय से ही है, भौतिक प्रकाश के अभिप्राय से नहीं। 'उभयोः' से औपाधिक भेद का अनुवादकर 'एकम्' से स्वाभाविक अभेद का विधान है एवं स्वभाव का 'चैतन्यम्' से स्वरूपोल्लेख है। क्योंकि स्वरूप ही वस्तुभूत अद्वैत है इसलिये अविद्यानिवृत्ति भी उससे अलग नहीं अर्थात् तत्त्वज्ञान से होने वाला अज्ञाननाशरूप कोई अभाव पदार्थ आत्मा से पृथक् नहीं रह जाता। 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः'यह सिद्धांत है, अज्ञान स्वयं कल्पित है अतः उसका नाश अधिष्ठान आत्मा ही हो सकता है। अभाव से भी जीव-ईश का विभाग संभव हैएक नित्यमुक्त है, दूसरा सादिमुक्त है। जैसे एक कभी जेल गया ही नहीं, अभियुक्त ही नहीं बना, और दूसरा जो जेल से छूट आया; इस समय तो दोनों छूटे हैं लेकिन दोनों में अंतर है ही और वह यही है कि दूसरे के साथ 'छूटा हुआ' अर्थात् सजा-पूर्तिरूप दण्डध्वंस विशेषण है। ऐसे ही जीव-ब्रह्म भले ही बाकी मायनों में एक हों लेकिन अभाव के निमित्त से दोनों में अंतर रह जायेगा। भावाद्वैती अर्थात् भावभूत कुछ द्वैत वास्तविक नहीं है, अभावभूत तो हैऐसा मानने वालों का यही कहना है। किन्तु

तत्त्वविद्यारसाकृष्टः श्रोतुं वांछति संग्रहात्।
साधनान्यपि विद्यायाः श्रोतुमिच्छति भूपतिः।।२७०।।
एतत्सर्वं विवक्षुः सन्मुनिः संग्रहरूपिणः।
श्लोकानुदाहरत्तत्र ज्ञानमार्गमिमं जगौ।।२७१।।

आचार्य शंकर ने जगह-जगह स्पष्ट किया कि कैसा भी द्वैत श्रुतिसंमत नहीं अतः यहाँ अविद्यानिवृत्ति भी चिद्रूप ही है यह कहा। 'आदि' से अविद्या के कार्य बंधनादि समझने चाहिये। यद्यपि अविद्यानिवृत्ति कैसी हैइस पर वेदान्ताचार्यों ने अनेक संभावनाएँ व्यक्त की हैं तथापि मूल सिद्धांत यहाँ बता दिया कि परमात्मा से पृथक् वह कुछ भी नहीं है।।२६६-९।।

महर्षि याज्ञवल्क्य के इस सविस्तर उपदेश के बाद जनक ने 'सोहं भगवते सहस्रं ददामि' इतना ही कहा, पहले की तरह 'मोक्षोपयोगी उपदेश दीजिये' ऐसा भी नहीं कहा तथा दक्षिणा में कोई विशेष भी नहीं किया जिससे उसकी पूर्ण सन्तुष्टि व्यक्त हो। उसकी ऐसी प्रवृत्ति का अभिप्राय बताते हैं **तत्त्व की विद्या के रस के आकर्षणवश भूपति श्रवण करते ही रहना चाहता है। किंच संक्षेप में विद्या के साधन भी सुनना चाहता है।।२७०।।** ज्ञान में तो रस है ही लेकिन मुमुक्षु को तत्त्व-वर्णन सुनने में भी रस ही आता है। जनक सुनने से विरत नहीं हुआ अतः सामान्य दक्षिणा कही, तत्त्वावगम हो चुकने से 'विमोक्षायैव ब्रूहि' नहीं कहा। इतना ही नहीं, उसे यह भी जानने की इच्छा थी कि तत्त्वबोध के साधन क्या हैं। यद्यपि पहले राजा के सामने ही कहोल (३.५) को विद्यासाधन बताये थे तथापि 'संग्रहात्' सारे साधन इकट्ठे सुनना चाहता है, वहाँ मुख्य साधन कहकर बाकी केवल इंगित थे। इसलिये आगे का ग्रंथ साधन-प्रधान है। विद्यारसिकता के कारण ही साधन-जिज्ञासा है, रसिक ही साध्य उपलब्धि के लिये यत्नशील होता है। यद्यपि जनक को तत्त्वबोध हो गया था तथापि रसिक जैसे अन्यों को भी रस चखाना चाहता है वैसे जनक सभी के उपयोगी साधन पूछ रहा है ताकि अयोग्य को भी योग्य बनाकर रसपान कराया जा सके। विद्या के परिपाक में भी साधनों का उपयोग होने से राजा की जिज्ञासा संगत है।।२७०।।

सहस्रदक्षिणा सुनकर एवं जनक की भावना समझकर मुनि ने चौदह श्लोकों (मंत्रों) द्वारा तथा फिर ब्राह्मण द्वारा संग्रहपूर्वक साधनोपदेश दिया जिसे ग्रंथकार समझाना शुरू करते हैं **यह सब बताना चाहते हुए याज्ञवल्क्य ने संग्रहरूपी श्लोक उद्धृत किये जिनमें यह ज्ञान-मार्ग बताया।।२७१।।** 'उद्धृत' से ज़रूरी नहीं कि अन्यत्र प्रसिद्ध

श्लोकेनाद्येन यः पंथाः प्रोक्तस्तस्मिन् मतान्तरम् ।
उपन्यस्याथ सिद्धान्तं प्राह श्लोकान्तरेण सः । ।२७२ । ।
ब्रह्मविन्मुक्तिमाप्नोति तेन बोधात्मना पथा ।
पुण्यकृत्तैजसश्चादौ भूत्वाऽथ ब्रह्मविद्भवेत् । ।२७३ । ।
तेजःशब्देन संशुद्धा बुद्धिरेवाभिधीयते ।
पुण्ये कृते बुद्धिशुद्धौ विद्या स्यात्स्मर्यते तथा । ।२७४ । ।

श्लोक सुनाये हों, यही अर्थ है कि मन्त्रबद्ध उपदेश दिया। ये मंत्र संग्रहरूपी हैं अर्थात् अनेक रहस्य इकट्ठे कर निरूपण करने वाले हैं। 'यह' अर्थात् पूर्व में सूचित एवं आगे बताया जाने वाला । ।२७१ । ।

पहला मंत्र 'अणुः पन्था' (४.४.८) आदि है जिसमें धीरों के जाने लायक बारीक लम्बा पुराना रास्ता बताया गया है जो मोक्ष तक पहुँचाता है। इससे सम्बन्ध जोड़ते हुए दूसरे मंत्र का भाव बताते हैं **पहले श्लोक से बताये रास्ते के बारे में मतान्तर व्यक्तकर दूसरे श्लोक से तत्सम्बन्धी सिद्धान्त मुनि ने बताया । ।२७२ । ।** ज्ञानमार्ग निष्काम या ईश्वरार्पण कर्म से प्रारंभ होता है जिसमें वैराग्य एक मुख्य मुकाम आता है जिसके बाद ही शमादि सहित श्रवणादि के कदम लिये जा सकते हैं। अतः रास्ता लम्बा है। विवेकी तो मानते हैं कि काम्य कर्म भी यदि शास्त्रानुसार ही किये जायें तो क्योंकि तदन्तर्गत वेदादिवचनों को कहा सुना समझा जायेगा इसलिये शनैः-शनैः 'कामनाओं से परे भी कुछ है' यह विचार अवश्य जगेगा जो लौकिक उपायों से कामनापूर्ति करने से नहीं होगा। इस मार्ग में मतान्तर है कि परमात्मा सगुण है। नाडियों में चित्त रहते विभिन्न गुणों की अनुभूति होती है, उनसे वास्तव में सम्बद्ध ही परमात्मा का स्वरूप हैयह भ्रम मतांतर है जिसे स्वयं याज्ञवल्क्य ने ग़लत समझाया। नौवें वाक्यरूप मंत्र की पहली अर्धाली मतांतर और दूसरी सिद्धांत बताती है। ।२७२ । ।

नौवे की अंतिम पंक्ति 'तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च' का अर्थ कहते हैं **उस ज्ञानरूप रास्ते से ब्रह्मज्ञ मोक्ष पाते हैं। पहले पुण्यकारी और तेजस्वी होकर तब ब्रह्मज्ञानी हुआ जाता है। ।२७३ । । ('तेजस्वी' में) तेज-शब्द से संशुद्ध बुद्धि ही कही गयी है। पुण्य करने पर बुद्धि शुद्ध होती है तब विद्या का आविर्भाव होता है। ऐसा ही स्मृतियों में भी प्रसिद्ध है। ।२७४ । ।** जैसा निर्गुण सच्चिदानन्द ब्रह्म है वैसा ही उसका अनुभव हो, वह ब्रह्मज्ञान है जिससे मुक्ति होती है। क्योंकि वास्तव में ब्रह्म सोपाधिक है नहीं इसलिये सोपाधिक ब्रह्म के ज्ञान से मोक्ष भी नहीं। ज्ञान ही मोक्ष का

यत्पुण्यं बुद्धिशुद्ध्यर्थं यो योगश्चात्मबोधकृत्।
श्लोके द्वितीये तौ प्रोक्तौ तृतीये त्वन्यथोच्यते।।२७५।।
यत्काम्यं कर्मयोगश्च योऽणिमादिप्रदो द्वयम्।
तत्संसारस्यैव हेतुर्न मुक्तावुपयुज्यते।।२७६।।

रास्ता है। 'ज्ञान' से अखण्ड साक्षात्कार मुख्य अर्थ है तथा 'एजज्ज्ञानम्' (१३.११) में बताया संग्रह गौण अर्थ है, दोनों यहाँ अभिप्रेत हैं। यथावस्तु प्रकाश यह ज्ञान का प्रधान भाव ही मुख्य मार्ग है, उस तक पहुँचाने वाले उपाय गौण ज्ञान हैं। जैसे शत्रु-मित्र आदि भाव से व्यक्ति को देखने पर ठीक ज्ञान नहीं हो पाता, उन भावों से रंजित ज्ञान ही होता है, ऐसे ही परमात्मा के साथ भी कोई संबंध जोड़ते हैं तो जैसा परमात्मा है वैसा ज्ञान नहीं हो पायेगा। 'मल्लानामशनिः' आदि भागवत में यह प्रसिद्ध है कि केवल योगी ही श्रीकृष्ण को परतत्त्व देख पाये, बाकी सब तो अपने संबंधों से रंजित हो अन्यथा-अन्यथा ही देखते रह गये। अन्य साधना-पद्धतियाँ ज़ोर देती हैं परमेश्वर से सम्बन्ध जोड़ने पर ताकि भावना में तेज़ी आये लेकिन वेदान्त ज़ोर देता है सम्बन्ध हटाने पर ताकि यथावस्तु समझ आये! ईशोपनिषत् में भी सत्य के अपावरण की प्रार्थन की गयी है। पुण्य अर्थात् ईश्वरार्पित नित्यादि अनुष्ठान से ही ऐसी जिज्ञासा संभव है जब चित्त में तेज अर्थात् वैराग्यादिरूप शुद्धि आ जाये। चित्त स्वभाव से सात्त्विक है क्योंकि भूतों के सत्त्वांश का कार्य है, लेकिन रजः तमः से प्रच्छादित है। पुण्यों से वह प्रच्छादन दूर होने पर स्वाभाविक सात्त्विकता में तथ्य का सही प्रकाश हो जाता है। रागादि से प्रवृत्ति के बजाये धर्मबुद्धि से प्रवृत्ति करने पर रागादि क्षीण होना स्वाभाविक है। मन के अनुसार चलते रहें तो रागादि कभी दूर नहीं होंगे। हमें क्या अच्छा लगता हैइसे छोड़कर केवल शास्त्र का अनुसरण करें तभी रागादि दूर होंगे। यहाँ सूचित स्मृति 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' (शांतिपर्व २०४.८) आदि प्रसिद्ध है। तेजस्विता जैसे पुण्य कर्मो से आती है वैसे उपासना से भी आती है। वह भी मानस कर्म ही है अतः यहाँ पृथक् उल्लेख नहीं किया।।२७३-४।।

दसवाँ वाक्य 'अन्धं तमः' आदि मन्त्र है, उसका उल्लेख करते हैं **दूसरे श्लोक में बुद्धिशुद्धि में हेतुभूत पुण्य और आत्मज्ञान कराने वाले योग का कथन किया। तीसरे श्लोक में पूर्वोक्तकी अपेक्षा अन्य तरह के अनुष्ठान बताये।।२७५।। कामनापूर्ति के लिये किये कर्म तथा अणिमादि सिद्धि देने वाला योगये दोनों संसरण के ही हेतु हैं, मोक्ष के लिये इनका कोई उपयोग नहीं।।२७६।।** योग का एक रूप भक्ति है। ईश्वरप्रणिधान का योगसूत्रादि में ही महत्त्व बताया गया है। दूसरा

युज्यते मुक्त्यभावोऽयं तत्त्वबोधविवर्जनात् ।
जन्मप्रवाह एवातश्चतुर्थे श्लोक ईर्यते ।।२७७ ।।
ब्रह्मावबोधयुक्तानां निःशेषो दुःखसंक्षयः ।
श्लोकेन पंचमेनात्र विस्पष्टमभिधीयते ।।२७८ ।।
न दुःखक्षय एवास्य किंतु विश्वस्य कर्तृता ।
सर्वलोकात्मता चेति षष्ठे श्लोक उदीर्यते ।।२७६ ।।

रूप सिद्धिलाभार्थ की जाने वाली साधना है। पहले का ज्ञान में विनियोग है, दूसरे का नहीं। स्वर्गादि चाहे-जिस लोक ले जायें, जो काम्य कर्म एवं उपसिनाएँ हैं वे संसरण में ही भटकाते रहेंगे, इससे छुड़ायेंगे नहीं। मोक्षार्थ कर्म-उपासना ही ज्ञानसाधन हैं। उपनिषत् के श्लोकों के पदशः व्याख्यान में यहाँ आचार्य प्रवृत्त नहीं, उनका प्रधान सूचितार्थ बता रहे हैं। ।२७५-६ ।।

ग्यारहवें वाक्य का अर्थ बताते हैं **यह सर्वानुभवसिद्ध मोक्ष का अभाव (बंधन) तत्त्वज्ञान न होने से रहना युक्तियुक्त है। अज्ञान से जन्मों का प्रवाह होता ही रहता है। यह चौथे श्लोक में कहा ।।२७७ ।।** तत्त्व का स्वरूप और उससे अपना अभेदइन दोनों को न जानना तथा जगत् को सत्य और स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता जानना यही परिस्थिति बंधन के लिये उपयुक्त है। तत्त्व का भी आपात ज्ञान या परोक्ष ज्ञान या अदृढ अपरोक्ष ज्ञान इस बंधन से नहीं छुड़ायेगा वरन् दृढ अपरोक्ष ही छुड़ायेगा ।।२७७ ।।

बारहवें वाक्य की व्याख्या पंचदशी में एक समूचा प्रकरण ही है! ज्ञानफलदर्शक उस मंत्र का भाव व्यक्त करते हैं **इसी प्रसंग में पाँचवें श्लोक द्वारा बताया कि ब्रह्म के अनुभव से सम्पन्न मुक्तों के सारे दुःख यहीं ऐसे क्षीण हो जाते हैं कि उनका कोई अवशेष नहीं रह जाता ।।२७८ ।।** बाध का मतलब कारण समेत कार्य-नाश बताया गया है। दुःख तो सभी के समाप्त होते हैं पर कारण अविद्या बची रहने से नये-नये दुःख उत्पन्न हो जाते हैं। ज्ञानी के दुःखों का बाध हो जाने से अब दुःख के मायने ही समाप्त हैं। 'अत्र' का 'संक्षयः' से भी संबंध है। अर्थात् जीवितकाल में ही दुःख ख़त्म हो जाते हैं। दूसरों को तो मुक्त के शरीर-मन के कष्ट दीखते हैं, उनसे उसका तादात्म्य है नहीं अतः उसके कोई दुःख नहीं, यह अन्यत्र विस्तार से बताया गया है ।।२७८ ।।

तेरहवें वाक्य में भावरूप से मोक्ष दशा कही यह सूचित करते हैं **तत्त्वज्ञ के केवल दुःख ही क्षीण नहीं होते किन्तु वही विश्व का कर्त्ता एवं सारे लोकों का आत्मा हो जाता है। यह छठे श्लोक में बताया ।।२७६ ।।** 'मुझ में ही सब उत्पन्न,

शास्त्राधिकारयुक्तेऽस्मिन् देहे विद्यात्परं पदम्।
अन्यथाऽनर्थ इत्येवं सप्तमे श्लोक ईर्यते।।२८०।।
गर्भप्रवेशादिरूपा जुगुप्सा नात्मवेदिनः।
इत्येषोऽर्थोऽष्टमे श्लोके विस्पष्टमभिधीयते।।२८१।।
निःशेषविक्रियाहेतुकालातिक्रमहेतुतः।
देवैरुपास्य इत्येतन्नवमे श्लोक उच्यते।।२८२।।

प्रतिष्ठित और विलीयमान है' ऐसे मुक्तानुभव से स्थिर होता है कि स्वयं को वह ईश्वर से अन्य कुछ भी नहीं जानता। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः' आदि ईशवाक्य (७) इस विषय में स्पष्ट है। जगद्रचनादि क्यों नहीं करता? इत्यादि प्रश्न निरर्थक हैं क्योंकि ईश्वरात्मना वह जगद्रचनादि कर ही रहा है।।२७६।।

चौदहवें वाक्य में तत्त्वबोध की तत्काल आवश्यकता कही है, उसे दिखाते हैं **शास्त्रों में अधिकार से सम्पन्न इस शरीर में परम पद समझ लेना चाहिये। यदि ऐसा न किया तो अनर्थ ही कायम रहेगा। यह बात सातवें श्लोक में समझायी है।।२८०।।** पश्वादि शरीरों में शास्त्र सुन समझ नहीं सकते, तद्नुसार साधन नहीं कर सकते। ईश्वरकृपा से मानव जन्म मिला, शास्त्र मिले, उन्हें पढ़ने-समझने की सामर्थ्य मिली तो उसका उपयोग कर कर्म-उपासना-भक्ति पूर्वक ज्ञान पाकर मोक्ष हासिल करने में ही बुद्धिमानी है अन्यथा ऐसा मौका दुर्लभ है। ग़ैर मनुष्य उत्तम शरीरों में ज्ञानाधिकार होने पर भी कर्माधिकार के अभाव में भोगाधिक्य रहते वैराग्योत्पादक निष्काम कर्म न कर सकने से ज्ञान होना है कठिन।।२८०।।

मुक्त के पुनर्जन्म के निषेधक पंद्रहवें वाक्य का अर्थ कहते हैं **आत्मवेत्ता को गर्भ-प्रवेशादि घृणित स्थिति में नहीं रहना पड़तायह बात आठवें श्लोक में साफ़-साफ़ कही है।।२८१।।** भूत-भव्य के ईश्वर देव को आत्मा जानने वाले को जन्मादि नहीं लेना पड़ता। श्रुति के अनुसार गर्भवासादि संसार ही जुगुप्सा, घृणा के योग्य है अतः इसी से बचने में चतुराई है। आत्मबोध के बिना केवल सुअर के गोबर से बचकर भैंस के गोबर में पैर डालने की तरह सारी ऐहिक-आमुष्मिक चेष्टाएँ हैं, यह भाव है।।२८१।।

मुक्त की ब्रह्मरूपता सर्वश्रेष्ठ बताने वाले सोलहवें वाक्य का कथन करते हैं **सारे विकारों के हेतुभूत कालको भी लाँघा होने से ब्रह्म सब देवताओं का उपास्य है। यह नौवें श्लोक में कहा है।।२८२।।** काल ब्रह्म से प्रकट है अतः ब्रह्म

चेतनाचेतनाधार आत्माऽस्य ब्रह्मतोचिता।
इति दर्शयितुं श्लोकं दशमं श्रुतिरब्रवीत्।।२८३।।
प्राणादिसंघ आत्मा स्यादेतस्य ब्रह्मता कथम्।
इत्याशंक्योत्तरं श्लोक एकादश उदीर्यते।।२८४।।
तस्यास्य दर्शनोपायः कः स्यादित्यभिचोदिते।
श्लोकेन द्वादशेनाह मनसैवेति निर्णयम्।।२८५।।

कालातीत है। विकार काल से ही संभव है, काल बीतने से ही परिवर्तन हो सकता है। काल से अतीत ब्रह्म अविकारी ही है। देवता विकारी हैं, काल के अन्तःपाती हैं। अतः वे ब्रह्म की उपासना करते हैं। उपास्य के अनुरूप उपासक बन जाता है अतः काल के अतिक्रमण के लिये ही वे ब्रह्म की उपासना करते हैं। ब्रह्मज्ञ क्योंकि ब्रह्म ही है इसलिये यह उपासना उसी की हो जाती है।।२८२।।

सत्रहवाँ वाक्य सर्वाधार के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादक समझाते हैं **चेतन-अचेतन के आधर आत्मा का ब्रह्म होना ही संगत हैयह दिखाने के लिये दसवाँ श्लोक श्रुति ने कहा।।२८३।।** अहंकार से शरीरपर्यन्त चेतन जगत् क्योंकि वहाँ चिद्रूपताका अध्यास है, बाकी सारा अचेतन जगत् क्योंकि वहाँ सद्रूपता का ही अध्यास है, चिद्रूपता का नहीं। दोनों तरह के संसार का आधार आत्मा ही है अतः वही ब्रह्म है। इस सत्रहवें वाक्य पर एक पूरा अधिकरण (ब्र. सू. १.४.३.११-१३) विचार करता है। 'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति' (ईश०६) आदि शास्त्र इसमें सार्थक है।।२८३।।

अठारहवें मंत्र का भाव व्यक्त करते हैं **प्राण आदि का समुदाय आत्मा है, यह ब्रह्म कैसे? यह प्रश्न होने पर ग्यारहवें श्लोक में उत्तर दिया है।।२८४।।** अविवेकी अहंकार से देहपर्यन्त उपाधियों के संघात को आत्मा समझता है अतः उसे शंका होती है कि इस आत्मा को शास्त्र ब्रह्म कैसे कहता है? उत्तर में उपनिषत् ने समझाया कि प्राण नहीं वरन् जिसके बल पर प्राण प्राण है, जिसके बल से चक्षु चक्षु है, जिससे सामर्थ्य पाया श्रोत्र भी श्रोत्र और मन मन है, उस सनातन स्वतःस्फूर्त्त तत्त्व को आत्मा कहते हैं। उपाधि-संघात नहीं वरन् इसका साक्षी आत्मा है जो ब्रह्म है।।२८४।।

उन्नीसवें वाक्य का अर्थ बताते हैं **ऐसे इस आत्मा के दर्शन का उपाय क्या? यह पूछा जाने पर बारहवें श्लोक से निर्णीत उत्तर बताया कि मन ही उपाय है।।२८५।।** बंधन और मोक्ष दोनों का साधन मन है। साँप भी तभी दीखता है जब मन कार्य करे हालाँकि आधा-अधूरा करे; रस्सी भी मन से ही दीखती है। शास्त्राचार्योपदेश

अत्यन्तभेदाभावेऽपि भेदाभेदौ तयोरिति।
मतं वारयितुं श्लोकस्त्रयोदश इहोच्यते।।२८६।।
बोधादूर्ध्वं च कर्तव्यमस्तीत्याशंक्य वार्यते।
चतुर्दशेन श्लोकेन संग्रहोऽत्र समाप्यते।।२८७।।

से बिना संस्कार पये मन बंधन में हेतु है, संस्कृत मन मोक्ष में हेतु है। संस्कृत मन वेदमंत्रों का अर्थ समझता है परमात्मा, जबकि असंस्कारी उन्हीं से जगत् की विशेषताएँ, उपयोगिताएँ ढूँढता रहता है। कर्मकाण्ड के मंत्र भी वर्णन परमेश्वर का करते हैं लेकिन असंस्क़ारी को वे केवल विनियुक्त के रूप में ही सार्थक समझ आते हैं यह उनका दुर्भाग्य है। शुद्ध, नीराग, विवेकशील मन वेदप्रकाश में अद्वय वस्तु देख पाता है, प्रतीयमान नाना का सर्वथा निषेध कर पाता है।।२८५।।

बीसवाँ वाक्य अद्वैत का प्रतिपादक है। उसका उपन्यास करते हैं **जीव-ब्रह्म में अत्यंत भेद न होने पर भी भेद-अभेद दोनों होंगे? इस मत के वारण के लिये तेरहवाँ श्लोक है।।२८६।।** प्रायः मान्यता है कि जीव सर्वथा अलग वस्तु है, ब्रह्म सर्वथा अलग वस्तु है। इसकी अपेक्षा सूक्ष्म मान्यता है कि इनमें भेद होने पर भी किसी तरह का अभेद भी है। इस मत के अनेक संस्करण हैं। कोई बंध में भेद, मोक्ष में अभेद कहते हैं। कोई शरीरी की तरह ब्रह्म और उसके शरीर की तरह जीवयों दोनों का भेद-अभेद साथ-साथ और सनातन कहते हैं। आश्मरथ्य एवं औडुलोमि के मतों का भी यहाँ परामर्श कर लेना चाहिये जिन्हें सूत्रभाष्य (१.४.६.१९-२२) में संग्रह किया है। भेद तो असंगत है ही, भेदाभेद भी असंगत है यह 'एकधैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।' इस बीसवें वाक्य से बताया। मटमैला दीखता हुआ भी आकाश जैसे निर्मल है वैसे भेद दीखते काल में भी आत्मा अभिन्न है।।२८६।।

इक्कीसवाँ श्लोक विद्वत्संन्यासपरक समझाते हैं **आत्मबोध के बाद भी क्या कोई कर्त्तव्य रह जाता है? इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर चौदहवें श्लोक द्वारा दिया गया है। मंत्रों द्वारा किया संग्रह यहाँ पूरा हुआ।।२८७।।** मंत्र है 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायेद् बहूञ्शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।।' एकमात्र आत्मा को समझकर बुद्धिमान् ब्राह्मण सिर्फ़ प्रज्ञा करे, बहुत्व की ओर कोई प्रवृत्ति न करे, बहिर्मुखता केवल हर्षक्षय ही करेगी। इस तरह ब्रह्मसंस्थता से अतिरिक्त कुछ कर्त्तव्य विद्वान् के लिये नहीं यह इस वाक्य का अर्थ है। मंत्रों में जो विषय इकट्ठा कर बताना था वह इन चौदह मंत्रों में समा गया।।२८७।।

मंत्रब्राह्मणसंघेन यत्तत्त्वं प्राङ् निरूपितम्।
तद्विद्यासाधनं सर्वं मुनिरेष विवक्षति।।२८८।।
तत्रादौ वेद्यतत्त्वस्यानुवादेन परिस्फुटम्।
निरूप्यते स्वरूपं तत् स वा इत्यादिवाक्यतः।।२८९।।

अगले ग्रंथभाग का विषय सूचित करते हैं **मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद ने पहले जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया उसके ज्ञान के सारे साधन याज्ञवल्क्य मुनि बताना चाहते हैं।।२८८।।** उपसंहार के अभिप्राय से पूर्वोक्त का ही यथावश्यक अधिक अंगों के निर्देश सहित उपदेश देने के लिये आगे का ग्रंथ है। एक विशेष बात यहाँ बतानी है कि समूचा कर्मकाण्ड वेदान्त के अर्थ को समझने में उपयोगी है! 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि अब वचन आयेगा। अतः भगवान् वार्तिककार ने कहा है 'पूर्वो भागः समस्तोऽपि वेदान्तार्थाऽवबुद्धये। यथा भवति वेदस्य तथाऽथ प्रतिपाद्यते।।' ४.४.६७३।। स्वयं भाष्य में भी है 'आत्मविषये सर्वो वेदो यथोपयुक्तो भवति तत्तथा वक्तव्यमिति तदर्थेयं कण्डिकारभ्यते।' (४.४.२२)।।२८८।।

कण्डिका प्रारंभ होती है परमात्म-निरूपण से 'स वा एष महान् अज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तास्मिञ्छेते।' इसे स्पष्ट कहते हैं **उक्त वर्णन में पहले विज्ञेय तत्त्व का पुनरुल्लेख करते हुए 'स वै' आदि वाक्य से स्वरूप का अतिस्पष्ट निरूपण किया है।।२८९।।** आत्मा ही वेद्य, जानने योग्य वस्तु है। स्वरूप से प्रत्यक्ष होने पर भी हम उससे अपरिचित हैं अतः वह हमारे लिये विज्ञेय है। उपाधियों में दृढ अध्यास के चलते निरुपाधि स्वरूप आपाततः समझ आने पर भी हमें आकृष्ट नहीं करता, हमारी वृत्ति उस पर स्थिर नहीं रहती। जैसे मूत्र की आशंका से उत्तंक महर्षि ने अमृत नकार दिया ऐसे उपाधि छूटने के डर से हम आत्मा को अंगीकार नहीं करते। सुषुप्ति-प्रत्यक्ष को थोड़ा भी महत्त्व नहीं देते, जाग्रत्-स्वप्न के ही भरोसे रह जाते हैं। इसीलिये शास्त्र पुनः पुनः स्पष्ट करता ही रहता है। वह महान् अर्थात् व्यापक और अज अर्थात् जन्महीन है। विज्ञान और प्राण अर्थात् ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति वाली उपाधियों में वही महान् प्रतीत होकर परिच्छिन्न भी बना है। हमारा अहंकार इन दो शक्तियों को लेकर ही है, अहंकार रहते ही हमारा व्यवहार है, सुषुप्ति-समाधि में अहंकार के बिना व्यवहार भी नहीं है। यहाँ वेद ने 'स वै' से वस्तुतत्त्व और 'योऽयम्' आदि से उसका परिच्छिन्न रूप एक-साथ बताकर तत्-त्वम् के अभेद का उपदेश दिया।।२८९।।

उसी को 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' क्यों कहा, यह समझाते हैं

ब्रह्मत्वादेव जीवस्य भ्रान्तजीवत्ववारणात् ।
वशित्वाद्या ब्रह्मधर्माः शिष्यन्तेऽतोऽयमीश्वरः ।।२६० ।।
जीवत्ववद्वशित्वाद्या यद्यपि भ्रान्तिकल्पिताः ।
तथाप्येते समीचीनाः स्वप्ने पुत्रान्वयो[1] यथा ।।२६१ ।।
अत एव हि जिज्ञासुं प्ररोचयितुमीरितैः ।
वशित्वाद्यैः प्रेर्यतेऽसौ यज्ञादौ ज्ञानसाधने ।।२६२ ।।
जीवधर्माश्चेशधर्माः सन्तीत्येतन्न मे मतम् ।
असतामेव तेषां तु भानं मायिकमिष्यते ।।२६३ ।।

जीव ब्रह्म ही है अतः भ्रमसिद्ध जीवरूपता के निवारण से बचे हुए जो वशित्वादि ब्रह्म के धर्म उनसे वह ईश्वर है ।।२६० ।। यद्यपि वशित्वादि भी जीवत्व की तरह भ्रम से कल्पित हैं तथापि ये भले (अच्छे) लगते हैं जैसे सपने में भी पेशाब से बचकर पैर रखना (या पुत्र प्राप्त करना) भला लगता है ।।२६१ ।। इसलिये जिज्ञासु को आत्मा में रुचि बढ़े इस उद्देश्य से कहे वशित्वादि द्वारा ज्ञान के उपायभूत यज्ञादि के अनुष्ठान के लिये जिज्ञासु प्रेरित किया जा रहा है ।।२६२ ।। वशित्वादि भी तत्पदार्थशोधन में वैसे ही निकल जायेंगे जैसे जीवधर्म कर्तृत्वादि, लेकिन प्रारंभ में आकर्षणार्थ उन्हें मानकर प्रवृत्ति होगी। मुक्त ईश्वररूप होता है आदि शास्त्रोपदेश इसी भाव से है। जैसा झूठा होने पर भी साँप डराता है, माला आकृष्ट करती है वैसे कर्तृतादि बंधरूप लगते हैं, वशित्वादि प्राप्तव्य लगते हैं। पुत्रान्वय अर्थात् पुत्रप्राप्ति, मूत्रात्यय अर्थात् पेशब लाँघना। जगने पर याद आये तो अच्छा लगता है कि सपने में पुत्रजन्म हुआ या सपने में भी मूत्र में पैर नहीं पड़ा; सप्रने में भी पुत्र मर जाये तो जगने पर याद आने से बुरा ही लगता है; वैसे ही मैं झूठ-मूठ भी कर्त्ता-भोक्ता नहीं, वशी आदि ही होना चाहूँयही संगत है। इसीलिये श्रुति ईश्वरधर्म मुक्तोपसृप्य में बताती रहती है। ज्ञान के बाद भले ही वे भी निरस्त हो जायें, अभी तो हमें चित्तशोधक कर्मों में प्रेरित करते ही रहेंगे।।२६०-२।।

जीव-ईश्वर के वशवर्तित्व-वशित्व आदि धर्म हैं जो साधनावश चले जायेंगे ऐसा भ्रम वारित करते हैं **ऐसा मेरा (याज्ञवल्क्य का) मानना नहीं है कि जीव और ईश्वर के धर्म (ब्रह्म में कभी भी वस्तुतः) हैं। बिना हुए ही मायावश वे प्रतीत होते हैं।।२६३।। विद्यमान वस्तु की किसी समय होने वाली असत्तायह नाशका**

---

१. मूत्रात्ययः इति सारानुरोधी मुत्तुशास्त्रिमतः पाठः।

कादाचित्की सतोऽसत्तेत्येष नाशो न तेष्वतः।
कालत्रयासत्त्वबोधरूपो बाधस्तु संभवेत्।।२६४।।
बाधिता अपि भासन्ते सामग्रीसंभवे सति।
आरब्धाशेषसामग्रीविनिवृत्तौ न भासनम्।।२६५।।

रूप उन धर्मों का इसीलिये नहीं कि वे विद्यमान ही नहीं हैं! उनका नाश तो बाधरूप ही संभव है। बाध अर्थात् यह ज्ञान कि उनका त्रिकाल में असत्त्व ही है।।२६४।। जीव-ईश्वर स्वरूप से एक सत्त्य ही हैं, उनके कर्तृत्वादि और वशित्वादि धर्म मिथ्या ही हैं। मिथ्या मायने बिना हुए प्रतीत होना। इसलिये इन धर्मों की नाशरूप निवृत्ति नहीं वरन् बाधरूप निवृत्ति ही संभव है। नाश अर्थात् कभी है ऐसी वस्तु का कभी न रहना जैसे घड़ा है, फूट गया तो नहीं है। जो कभी है ही नहीं उसका यों तो नाश संभव नहीं अतः उसका बाध ही हो सकता है जैसे भ्रमदृष्ट सर्प का बाध ही होता है। जीव-ईश्वर के कर्तृत्वादि धर्म मायिक (मिथ्या) होने से बाध के ही योग्य हैं।। अतः इसका हटना निवृत्त की निवृत्ति है जैसे ब्रह्मलाभ प्राप्त की प्राप्ति है।।२६३-४।।

उक्त निवृत्ति का नाश से वैशिष्ट्य दिखाते हैं **बाधित हुए भी वे धर्म सामग्री रहते प्रतीत होते हैं। प्रारब्ध बचा रहना ही इस प्रसंग में सामग्री है, वह समाप्त होने पर प्रतीति भी नहीं रहती।।२६५।।** नाश के बाद तो प्रतीति नहीं होती, घट फूटने के बाद 'घड़ा है' नहीं लगता, 'घड़ा नहीं है' यही लगता है। बाध के बाद प्रतीति संभव है, सोपाधिक भ्रमों में यह उपलब्ध हैदर्पणस्थ प्रतिबिम्ब को 'नहीं है' जानते हुए 'है' के रूप में देखते हैं, जल में डूबा डंडा टेढ़ा नहीं है जानते हुए टेढ़ा देखते हैं, आकाश नीला नहीं है जानते हुए नीला देखते हैं इत्यादि। जीव-ईश धर्मों की प्रतीति में सामग्रीभूत उपाधि प्रारब्ध है। जिस जीव का प्रारब्ध है वह तत्त्वसाक्षात्कार के बाद भी कर्तृत्वादि देखता रहेगा, जानते हुए कि वे नहीं हैं, एवं वशित्वादि भी देखता (समझता) रहेगा, जानते हुए कि वे भी हैं नहीं। उसके प्रारब्ध की समाप्ति पर उसे दोनों धर्म प्रतीत होना भी बंद हो जायेंगे। ईश्वर-धर्मों की प्रतीति भी प्रारब्धोपाधिक है, जब तक किसी भी जीव का प्रारब्ध है तब तक ईश्वर-धर्म भासमान रहेंगे। अतः जीवन्मुक्ति युक्तियुक्त समझ आ जाती है।।२६५।।

जीव-ईश्वर धर्मों में अंतर स्पष्ट करते हैं **(सामग्री-समाप्ति से) निवृत्त हो चुकने के कारण जीवधर्म किसी को नहीं प्रतीत होते। ईश्वर-धर्म ईश्वर के किसी कर्म से तो हैं नहीं अतः (एक जीव के प्रारब्ध सर्वथा समाप्त होने पर भी)**

निवृत्तत्वाज्जीवधर्मा भासन्ते नैव कस्यचित्।
अनिवृत्ता ईशधर्मा अकर्मापादितत्वतः।।२६६।।
भान्ति ते त्वीश्वरस्यापि बद्धानां च स्वबुद्धितः।
ईश्वरस्य हि लीला तैर्बद्धानां त्वतिविस्मयः।।२६७।।[1]

निवृत्त बिना हुए बाकी बन्धनग्रस्त जीवों को अपनी बुद्धियों से भासित होते रहते हैं। उन धर्मों से ईश्वर की तो लीला चलती है, बद्ध लोग उन्हीं से आश्चर्यचकित होते हैं।।२६६-७।। मुक्त के जीवित काल में उसे अपने कर्तृत्वादि बाधित प्रतीत होते रहे और दूसरे भी उसके व्यवहार से उसमें कर्तृत्वादि समझते रहे। उसका प्रारब्ध समाप्त होने के बाद न उसे उन धर्मों की प्रतीति और मृत में क्रियादि दीखती नहीं इसलिये दूसरे भी उसे कर्त्तादि नहीं समझते। क्योंकि जीवोंके अपने-अपने कर्मों से अपना-अपना प्रारब्ध है इसलिये प्रारब्धपूर्ति से जीवभाव निवृत्त होना संगत है। ईश्वर तो शास्त्र में अधिकृत नहीं, कोई कर्म कर नहीं सकता अतः उसका कोई प्रारब्ध नहीं; उसके धर्म तो जीवों के प्रारब्ध से भासमान हैं। अतः कुछेक जीवों के मोक्ष से ईश्वर-धर्मों की निवृत्ति की संभावना नहीं। सभी जीव मुक्त हों तभी ईश्वर-धर्मों का भासना बंद हो। ईश्वर-धर्मों का बाध तो प्रत्येक तत्त्वनिष्ठ को होता है फिर भी ईश्वर-धर्मों की प्रतीति आसर्वमोक्ष रहती है। जो बचे बद्ध हैं वे ईश्वर को वशी आदि ही समझते हैं और उन धर्मों से ईश्वर जो कुछ सृष्टिसंचालनादि अनायास करता है उसे देख-देखकर आश्चर्यचकित होते रहते हैं। ईश्वर के लिये संचालनादि कर्म लीलामात्र हैं, उसे कोई ज़ोर नहीं पड़ता कर्मफल देने में, किसी पर कृपा कर देने में, लेकिन हमें आश्चर्य होता है कि कैसे इतना पेचीदा संसार चला रहा है, क्योंकि किसी की प्रार्थना झट सुन रहा है, किसी की दीर्घातिदीर्घ काल तक की प्रार्थना मानो सुन ही नहीं रहा, क्यों ईश्वरविरोधियों को, नास्तिक पापियों को सुख-समृद्धि सफलता दिये जाता है, क्यों भक्तों पर कष्ट डालता हैइत्यादि असंख्य आश्चर्य होते हैं जबकि ईश्वर लीलातिरिक्त कोई वास्तविक भेदव्यवहार कर ही नहीं रहा। (पाठान्तर में अर्थ है'वशित्वादि ईश्वरधर्म ईश्वर को भी प्रतीत होते हैं, बुद्ध (मुक्त) ईश्वर से अभिन्न माना जाता है, अतः ईश्वर के धर्म वशित्वादि यदि मुक्त में प्रतीत हों तो आश्चर्य ही क्या है!' (हरिहर कृपालु, सार. ४.४.३६१) 'स्वबुद्धितः' का अर्थ 'अज्ञबुद्धि से'यह समझना चाहिये।।२६६-७।।

---

[1] 'बुद्धानां च स्वबुद्धितः। ईश्वरस्य ततो धर्माः सन्तु न त्विह विस्मयः।।' इति सारानुसारी मुत्तुशास्त्रिसम्मतः पाठः।

सर्वेश्वरादिकः पूर्वशेषश्चेदुपसंहृतिः ।
उत्तरस्य तु शेषत्वे बुभुत्साविषयो भवेत् । ।२६८ । ।
यः सर्वेशत्वादिलक्ष्यस्तं वेदाध्ययनादिभिः ।
ज्ञातुमिच्छत्यविज्ञातः स एवार्थो यतस्ततः । ।२६६ । ।
बहिरंगं कर्मजातं संन्यासस्यान्तरंगता ।
प्रत्यासन्ना शान्तिदान्तिक्षान्त्याद्या इत्यसौ क्रमः । ।३०० । ।[1]

आत्मा कर्म से बढ़ने-घटने वाला नहीं, यह कहने के बाद श्रुति है 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानाम् असम्भेदाय' अर्थात् संसारमर्यादा स्थापित रखने वाला सर्वशासक वही है। इसका पूर्वोत्तर दोनों प्रसंगों से सम्बन्ध बताते हैं **सर्वेश्वर आदि वचन पूर्वकथत से जुड़ा समझें तो उपसंहाररूप है और आगे के सन्दर्भ से जोड़ें तो मतलब है कि इस सर्वेश्वर आदि रूपवाले को ही यज्ञादि से चित्त तैयार कर साधक जानना चाहते हैं। ।२६८ । ।** 'तमेव विज्ञाय' (कं. २१) में कहे 'तम्' का रूप 'सर्वस्येशानः' से 'असंभेदाय' तक कहा अथवा 'तमेतं... विविदिषन्ति' (कं. २२) में कहे 'तम्' का परिचय 'एष सर्वेश्वर' आदि से दियायों दोनों तरफ सम्बन्ध समझ सकते हैं। जिस प्रकार मुक्त में ईश्वरधर्म हैं उसी प्रकार साधक उन्हें अपने में लाये यह सूचित करने के लिये दोनों से संबंध माना। ईश्वर-धर्म उपासनाविधया भी साधक स्वयं में समझ सकता है तथा मुक्त जैसे ईश्वर से स्वयं को पृथक् कुछ नहीं जानता वैसे साधक प्रयास करे कि स्वयं को ईश्वर से अलग न देखे, यह भी संभव है अर्थात् सर्वथा शरणागति अभिप्रेत है। कृतार्थ-लक्षण साधक के कर्त्तव्य होते हैं यह गीताभाष्य में स्पष्ट कहा है। ।२६८ । ।

अगला वाक्य है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप और अनशन द्वारा ब्राह्मण इस आत्मा को जानना चाहते हैं। इसे समझाते हैं **जो 'सर्वेश्वर' आदि शब्दों से लक्ष्यरूप से समझा जाता है, क्योंकि वही अर्थ अविज्ञात है इसलिये वेदाध्ययन आदि द्वारा उसे ही साधक जानना चाहता है। ।२६६ । । विद्या के प्रति कर्मसमूह बहिरंग उपाय हैं, संन्यास अन्तरंग उपाय है तथा शम, दम, (तितिक्षा) आदि (और भी अधिक) निकट के साधन हैं। यह साधनों में क्रम है। ।३०० । । कर्म शुद्धि सम्पन्न कर**

---

[1] 'प्रत्यासन्नतराः शान्तिदान्त्याद्या इत्यासौ क्रमः'पाठान्तरम्।

प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः ।
कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव । ।३०१ । ।
सामर्थ्यमीदृक् चेदस्ति कर्मणां तर्हि किं तव ।
ज्ञानेनेति न वक्तव्यं मुनित्वार्थमपेक्षणात् । ।३०२ । ।
बुभुत्सते यमात्मानं सर्वैर्यज्ञादिकर्मभिः ।
एतमेव विदित्वाऽसौ मुनिर्भवति नान्यथा । ।३०३ । ।

प्रत्यगुन्मुखता पैदा कर कृतकार्य हो जाते हैं अतः बरसात के ख़त्म होने पर बादलों की तरह समाप्त हो जाते हैं । ।३०१ । । परमेश्वरप्राप्ति सभी जीवों का लक्ष्य है, प्राप्तव्य है । सर्वेश्वर आदि शब्द वाचकरूप से सविशेष को कहने पर भी लक्षणा से निर्विशेष को कहते हैं, वही प्राप्तव्य, ज्ञेय है । हमारे हृदय में उपस्थित होने पर भी उस परमतत्त्व को हम जानते नहीं । मैं-रूप से जानने पर भी व्यापकादि रूप से न जानने के कारण वही विज्ञेय है । किंतु उसे समझने की सामर्थ्य लाने में कर्मादि का उपयोग है । साधन दो तरह के होते हैंबहिरंग एवं अन्तरंग । फलपर्यंत सम्बद्ध रहने वाले अंतरंग होते हें, शुरू में उपयोगी फिर निरुपयोग हो जाने वाले बहिरंग होते हैं । यहाँ वेदाध्ययनादि बहिरंग एवं संन्यास अन्तरंग है । फल के लिये आवश्यक तो सब हैं पर फलकाल तक रहना-न रहना इनमें भेद है । 'शान्तो दान्तः' आदि 'पश्येत्' से जोड़कर कहे हैं अतः वे और अधिक नज़दीक पड़ते हैं अर्थात् संन्यासी को भी शमादि-सम्पन्न रहना ही पड़ेगा तभी आत्मदर्शन होगा ।

स्वभावतः परमात्म-श्रवण, परमात्म-चिन्तन ही पसन्द आने लगनायह प्रत्यक्प्रवणता (प्रत्यगुन्मुखता) है । यह स्थिति आने तक कर्म उपयोगी है, बाद में नहीं । बरसात-बाद बादलों की तरह व्यर्थ हुए कर्मों का परित्याग ही उचित है । अभी परमात्म-परायणता में कामना ही रुकावट डालती है, कामना मिटने पर रुकावट न रहने से वह सहज हो जाती है । अतः ज्ञानसाधन सकाम कर्म नहीं वरन् निष्काम कर्म ही है । अध्ययन-यज्ञ-दानादि अलग नहीं, कामना-निष्कामता से उनका प्रभाव अलग है । यह भाव है । ।२९९-३०१ । ।

आगे श्रुति है 'एतम् एव विदित्वा मुनिर्भवति', इसका औचित्य व्यक्त करते हैं **कर्मों की ही यदि ऐसी सामर्थ्य है तो तुम्हें ज्ञान से क्या लाभऐसा पूछना उचित नहीं क्योंकि मुनिभाव के लिये ज्ञान ज़रूरी है । ।३०२ । । यज्ञादि सब कर्मों से जिस आत्मा को जानना चाहते हैं उसी को जानकर साधक मुनि हो सकता है, जाने बगैर नहीं । ।३०३ । ।** जैसे ज्योतिष्टोम स्वर्ग-साधन है तो उसका अनुष्ठान कर

अरुचिप्रतिबंधस्य कर्मभिः प्रक्षये सति।
गृहस्थो वा परिव्राड् वा शास्त्रेणात्मानमीक्षते।।३०४।।
जनकोषस्तगार्ग्यादिर्न स्याद्वेदनमन्यथा।
सुलभं तु परिव्राजो बहुविक्षेपवर्जनात्।।३०५।।
सोढ्वापि कर्मविक्षेपं चित्तैकाग्र्ये क्षमो यदि।
तदा वेत्तु गृहस्थोऽपि प्रव्रजत्वन्यथा पुमान्।।३०६।।
अतो विदित्वेति वाक्यं सामान्यविषयं भवेत्।
प्रव्रजन्तीति वाक्यं तु विशेषेण प्रवर्तते।।३०७।।

लेना ही पर्याप्त है, उसी के बल पर फल मिल जाता है, वैसे ही निष्काम यज्ञादि ज्ञानार्थ हैं तो उनका अनुष्ठान ही पर्याप्त हो, ज्ञानार्थ श्रवणादि न चाहिये रहेंऐसी बात नहीं। यज्ञादि चित्त को सक्षम बनाते हैं, श्रवणादि उसमें आत्माकार का आधान करते हैं। श्रुति ने 'मुनि' बनने के लिये 'जानना' उपाय कहकर यही क्रम समझाया। 'विविदिषन्ति यज्ञेन' में यज्ञादि विद्या के उपाय हैं या विद्या के विषय में होने वाली इच्छा के? विद्या के तो यज्ञादि उपाय हो नहीं सकते क्योंकि यज्ञ कोई प्रमाण नहीं, ऐसे ही दानादि भी क्रियाएँ हैं, प्रमाकरण नहीं। इसलिये इच्छा के ही साधन हैं। इतना ज़रूर है कि इच्छापूर्ति अर्थात् ज्ञान भी हो, इसके लिये आवश्यक सामग्री जुटाने में अपेक्षित अदृष्ट सहयोग भी यज्ञदि से मिलता है अर्थात् वें इच्छा भी पैदा करते हैं, उसे पूरा करने में भी सहयोग देते हैं। लेकिन पूरा होने के लिये आवश्यक श्रवणादि तो अनुष्ठेय ही हैं।।३०२-३।।

ज्ञानमात्र में शुद्धचेता का अधिकार बताते हैं **कर्में द्वारा अरुचिरूप प्रतिबन्ध समाप्त होने पर गृहस्थ हो या संन्यासी, शास्त्रश्रवणादि से आत्मदर्शन पा लेता है।।३०४।। यदि ऐसा न होता तो जनक, उषस्त, गार्गी आदि को ज्ञान ही न होता। संन्यासी का लाभ यह है कि बहुत विक्षेप न होने से उसे ज्ञान अर्जित करना सरल है।।३०५।। कर्मनिमित्तक विक्षेप सहकर भी यदि गृहस्थ चित्त को एक ब्रह्म में स्थिर कर सके तो वह भी आत्मा को जाने, और यदि विक्षेपवश एकाग्र न हो सके तो ऐसा पुरुष कर्मसंन्यास करे।।३०६।। इस तरह 'विदित्वा' वाक्य सामान्य के बारे में और 'प्रव्रजन्ति' वाक्य विशेष के बारे में है।।३०७।।** निष्काम कर्म से चित्त शुद्ध हुआ यह इससे पता चलता है कि लगातार हमें आत्मचिन्तन रुचता है या नहीं। सोने का समय छोड़ बाकी सारा समय आत्मविचार में लगाना पसंद

सकृद्बोधो वेदनं स्याद् मुनित्वं ज्ञानशीलता।
अज्ञानहानिर्बोधात् स्याज्जीवन्मुक्तिर्मुनित्वतः।।३०८।।

आये तब चित्त को शुद्ध जानना चाहिये। यों तैयार अधिकारी गृहस्थ भी ज्ञान पाये तो कोई निषेध नहीं। लेकिन ऐसा होना गृहस्थ के लिये है कठिन क्योंकि विक्षेप उसे बहुत रहते हैं। फिर भी जनकादि योग्य साधक ज्ञान पा तो सके ही अतः गृहस्थ के लिये भी ज्ञान सर्वथा असंभव नहीं। संन्यासी को विक्षेप बहुत कम है अतः वह थोड़े प्रयास से ही ज्ञान पा सकता है। जिसमें इतनी सामर्थ्य नहीं उस मुमुक्षु को तो संन्यासपूर्वक ही ज्ञान प्राप्त करना होगा। ज्ञानलाभ के लिये कर्म छूटना तो ज़रूरी पर उन्हें विवेकमात्र से छोड़ा गया या स्वरूप से भी छोड़ा गयायह फ़र्क़ है। जनकादि ने विवेक के बल पर कर्तृत्व त्यागा, संन्यासी विवेक को स्वरूपतः कर्मत्याग का सहारा देकर वही स्थिति पाता है। इससे संन्यास की अन्तरंगता समझ आ जाती है। 'विदित्वा मुनिर्भवति' में वेदन का कर्त्ता गृहस्थ-संन्यासी आदि भेद छोड़कर अधिकारिमात्र है अर्थात् चाहे जो योग्य साधक जानकर मुनि होता है। 'प्रव्राजिनो लोकम् इच्छन्तः प्रव्रजन्ति' में आत्मलोकेच्छुक प्रव्रज्या का कर्त्ता सामन्य अर्थात् अधिकारी तो है ही, साथ में विशेष अर्थात् प्रव्राजी (प्रव्रजनशील) संन्यासी भी है। निरन्तर श्रवणादि में संलग्नता तो सभी के लिये अनिवार्य है, इसके लिये कर्मसंन्यास करे या न करे, यह अपनी-अपनी योग्यता पर निर्भर है।।३०४-७।।

वेदन (ज्ञान) और मौन (मुनिभाव) स्पष्ट करते हैं**एक बार जान लेना वेदन है और ज्ञान ही स्वभाव हो जाना मुनिभाव है। वेदन से अज्ञान दूर हो जाता है जबकि जीवन्मुक्ति मुनि बनने से होती है।।३०८।।** 'एक बार' का मतलब आपात, अदृढ प्रतिबद्ध आदि नहीं, यह समझाने के लिये उसका फल अज्ञानहानि बता दिया। आपातादि से अज्ञान नहीं मिटता। एक बार कहने का मतलब है अज्ञाननिवृत्ति से ज़्यादा ज्ञान कुछ कर सके ऐसी उसमें निष्ठा नहीं आयी। अतः 'मैं कर्त्ता-भोक्ता' यह निश्चय तो कट जाता है लेकिन जीवन रहते कर्तृत्व-भोक्तृत्व की प्रतीति के समय 'मैं अकर्ता-अभोक्ता' का भाव अभिभूत हो जाता है जिससे जो जीवन्मुक्ति की मस्ती होती है वह नहीं आ पाती। मुनि या निष्ठा हो जाने पर अपनी अकर्त्ता-आदि रूपता क्षणभर को भी तिरोहित नहीं होती।।३०८।।

अत एव वेदन के अनन्तर भी संन्यास उपयोगी बताते हैं **बिना मुनि (संन्यासी) हुए जो वेदन प्राप्त कर चुका वह भी विद्वत्संन्यास ग्रहण करे। यह बात 'एतद्ध**

बुद्धोऽपि न मुनिः[1] स्याच्चेद्विद्वत्संन्यासमाचरेत् ।
एतद्धस्मेति वाक्येन तदेतदभिधीयते ।।३०९।।
परिव्राड्भिर्बुद्ध आत्मा कीदृगित्यभिशंकिते ।।
स एष नेति नेतीति श्रुतिः प्राहोत्सुका सती ।।३१०।।

स्म' वाक्य से कही है।।३०९।। सार में श्लोकारंभ है 'जीवन्मुक्तिरभीष्टा चेत्' (४.४.४३७) अर्थात् जीवन्मुक्ति यदि अभीष्ट हो तो विद्वत्संन्यास ग्रहण करे। प्रतिबंधक विशेष के बिना सामन्यतः तो तत्त्वसाक्षात्कार के बाद संन्यास ही स्वाभाविक होता है क्योंकि प्रपंच में अत्यन्त अरुचि, महत्त्वशून्यता की दृष्टि बन जाती है। फिर भी हेतु दिया कि जीवन्मुक्ति के विशेष आनंद के लिये संन्यासी बने ही। यह विद्वत्संन्यास अकर्त्रात्म-बोध की कायमतारूप है, आश्रमप्रवेश, लिंगधारणादि इसके अर्थसिद्ध रूप भले ही हों, स्वरूप नहीं। याज्ञवल्क्य ने ज्ञानलाभ के अनन्तर ही संन्यास किया यह पन्द्रहवें अध्याय में बता चुके हैं। विद्वत्-विविदिषा-आश्रमयों तीन तरह के संन्यास अध्याय १७ श्लोक १९२ के व्याख्यान में कहे थे, उस संदर्भ का अनुसंधान कर्तव्य है। इस बात को 'एतद्धस्म वै' आदि प्राचीन तत्त्वज्ञों के आचार से यहाँ कहा (४.४.२२) कि उन्होंने विचार किया कि जब आत्मा ही हमारे लिये तत्त्व है तो प्रजादि से क्या फ़ायदा! अतः उन्होंने एषणाओं से व्युत्थित हो भिक्षोपलक्षित आचरण (अर्थात् संन्यास) ही किया।।३०९।।

इसके अनन्तर बाइसवीं कण्डिका में 'स एष नेति नेत्यात्मा' आदि आत्मवर्णन आया है, उसका उल्लेख करते हैं **संन्यासियों द्वारा समझा आत्मा कैसा है? इस प्रश्न का उत्तर देने को उत्सुक श्रुति ने 'स एष नेति नेति' आदि कहा।।३१०।।** बृहदारण्यक में ३.९.२६, ४.२.४, यहाँ (४.४.२२) और ४.५.१५ यों चार बार इसी तरह आत्मा को बताया अतः आचार्य ने लिखा कि श्रुति इस रहस्य को व्यक्त करने को उत्सुक है, उतावली है। आत्मस्वरूप के बारे में शंकाएँ होती रहने से पुनः पुनः उनके निरासार्थ श्रुति का प्रयास उचित है। अध्याय १७ श्लोक २८६-२९२ तक इस श्रुति को समझाया गया था, यहाँ अर्थविस्तार नहीं किया। संन्यासी द्वारा अपरोक्ष किया आत्मा सर्वोपाधिविनिर्मुक्त है, सर्वथा अविषय है।।३१०।।

सन्तापहीनतारूप विशेषता ज्ञानी में निरूपित करते हैं **भिक्षादि द्वारा शरीर-पोषण आदि समान रहते अज्ञानी की अपेक्षा आत्मतत्त्व के जानकार में क्या खास है?**

---

[1] 'जीवन्मुक्तिरभीष्टा चेद्' इति सारे पाठः।

ननु भिक्षादिना देहपोषणादौ समे सति।
आत्मतत्त्वविदः कोऽतिशयो मूढादितीर्यताम्।।३११।।
सर्वेषामपि मूढानां चिन्ते स्तः पुण्यपापयोः।
एतमेवैकमात्मज्ञं चिन्ते द्वे प्राप्नुतो नहि।।३१२।।
उभे उ हेति हेतूक्ते तच्चिन्ताया असंभवे।
अतिक्रामति तत्त्वज्ञः पुण्यपापे उभे अपि।।३१३।।
कृते देहादिभिस्ते द्वे अकृते वा द्विधाऽपि च।
एवं तत्त्वविदं ते द्वे नैव तापयतः क्वचित्।।३१४।।

यह बताया जाये।।३११।। (बताते हैं) सभी अज्ञानियों को पुण्य-पाप की चिन्ताएँ सालती हैं लेकिन इस एक आत्मतत्त्ववेत्ता को वे चिन्ताएँ होती ही नहीं।।३१२।। उन चिन्ताओं की संभावना क्यों नहीं इसे 'उभे उ ह' से कहा। आत्मतत्त्वज्ञ पुण्य-पाप दोनों को लाँघ जाता है।।३१३।। शरीरादि द्वारा पुण्य-पाप किये हों या न किये हों, दोंनों हालतों में इस तत्त्ववेत्ता को उनके बारे में कोई संताप नहीं होता।।३१४।। बाहरी व्यवहार अज्ञानी और ज्ञानी का लगभग समान होता है। अज्ञानी संन्यासी भी भिक्षा से जीवनयापन करता है, विद्वान् भी वैसा ही करता है। लेकिन अंतर दोनों में यह है कि अज्ञानी को ये सन्ताप रहते हैं 'मैंने अमुक पुण्य कर क्यों न लिया, अमुक पाप क्यों कर लिया', जबकि ज्ञानी को ये सर्वथा नहीं होते क्योंकि वह अकर्ताभाव में प्रतिष्ठित रहता है। यद्यपि मूर्ख अज्ञानी पाप करते समय, पुण्य की उपेक्षा करते समय लगता है मानो पाप-पुण्य की चिंता न करता हो तथापि फल मिलते समय उनकी चिन्ता करता ही है। व्यास जी ने कहा है कि लोग पुण्य का फल तो चाहते हैं, पुण्य करना नहीं चाहते, पाप के फल से बचना चाहते हैं लेकिन खोज-खोजकर पाप करते हैं! प्रातः उठना, नहाना, जप आदि करना, शुद्धिपूर्वक भोजन करना आदि सीधे-सीधे धर्मों की उपेक्षा करने वाले दुःख आने पर शिकायत करते हैं 'हमने कुछ बुरा किया नहीं, हम पर दुःख क्यों आया?' अर्थात् फलकाल में चिंता करते ही हैं। ज्ञानी को ऐसी कोई चिंता कभी नहीं होती। इसमें हेतु है कि वह उस तत्त्व में प्रतिष्ठित रहता है जो पुण्य-पाप से परे है। पुण्य-पाप व्यावहारिक हैं, आत्मवस्तु पारमार्थिक है। पुण्यादि शरीर-मन के स्तर पर ही होते हैं अतः उनके होने-न होने से आत्मस्तर पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। अज्ञानी तो 'मैं करता हूँ' समझता है अतः उसे फ़र्क़ पड़ता है, उसे सन्ताप होता है, ज्ञानी को कर्तृत्वबुद्धि होती नहीं अतः न फ़र्क़ पड़ता है न सन्ताप

अन्तरंगतरा ये ते शान्तिदान्त्यादयोऽखिलाः ।
वक्तव्या इत्यभिप्रेत्य श्रुतिस्तत्र प्रवर्तते । ।३१५ । ।
रुचिमान् कर्मसंन्यासी युक्तः शमदमादिभिः ।
मुख्याधिकारी भूत्वाऽसावात्मन्यात्मानमीक्षते । ।३१६ । ।

होता है। भगवान् ने अतः स्पष्ट किया कि अज्ञान से विमूढ हुआ ही 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा मानता है (३.२७)। ज्ञानी यों विमूढ नहींयही उसमें विशेष है, बाह्य व्यवहार में कोई वैशिष्ट्य नहीं। ।३११-४। ।

तेइसवी कण्डिका है 'तदेतद् ऋचाऽभ्युक्तम् एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा तो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन।। इति।। तस्माद् एवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति'। इसमें पहले ब्रह्मभूत ब्रह्मवेत्ता की स्थायी, स्वतन्त्र महिमा बतायी फिर 'पश्यति' अर्थात् आत्मदर्शन का ढंग (इतिकर्त्तव्य) समझाया कि शम आदि युक्त हुआ साधक प्रत्यक् में पूर्ण का दर्शन कर सकता है। वही मोक्षप्रद सर्वात्मा का, अखण्ड तत्त्व का साक्षात्कार है। इसे स्पष्ट करते हैं **संन्यास से भी अंतरंग (भीतरी, अनिवार्य) शम, दम आदि सारे साधन बताना आवश्यक होने से श्रुति इस विषय में प्रयत्न कर रही है :। ।३१५। । आत्मा में जिसे रुचि हो चुकी वह कर्मत्यागी शम-दम आदि से सम्पन्न मुख्य अधिकारी होकर आत्मा में आत्मा को देखता है। ।३१६। ।** 'शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेः, तेषाम् अवश्यानुष्ठेयत्वात्' ऐसा व्यासवचन है (ब्र. सू. ३.४.२७) अतः शमादि की अधिक अंतरंगता है। विविदिषा से सम्बन्ध वाले कर्मों की अपेक्षा दर्शन से सम्बन्ध वाले होने से तो इनका महत्त्व है ही, संन्यास के बारे में क्योंकि विकल्प कहा था इसलिये उसकी भी अपेक्षा इन्हें ज़्यादा नज़दीकी कहने की आवश्यकता पड़ी। गृहस्थ भी यदि दर्शन कर पायेगा तो तभी जब शमादि-संपन्न हो, यह भाव है। शम अर्थात् मन को कामना के वश में न रहने देना। विषयों में सुखभ्रम से ही कामना होती है, विवेकाभ्यास से उन्हें दुःखरूप निर्णय करने से शम संभव होता है। ऐसा व्यक्ति हमेशा प्रारब्ध-निर्भर रहेगा, ईश्वराश्रित रहेगा अतः कामना उसे प्रेरित कर नहीं सकेगी तो शांत स्वभाव से बना रहेगा। दम अर्थात् इन्द्रियों की विषयों की ओर छलांग रोके रखना, उन्हें विषयों में रमण न करने की आदत वाला बना लेना। थोड़ा-सा विषय संपर्क होते ही इन्द्रिय उधर भागती है, किन्हीं की फुसफुसाहट सुनते ही कान सारी बात सुनने को चौकन्ने हो जाते हैं, सुंदर व्यक्ति पर नज़र पड़ते ही

उसे निहारते रहने को आँख तैयार रहती है; इत्यादि। इंद्रियों को यों शिक्षित करना पड़ेगा कि अत्यावश्यक होने पर ही विषय-सम्बन्ध करें, अन्यथा गोलक में ही स्थिर रहें जैसा कि कुछुए के उदाहरण से भगवान् ने (२.५८) बताया। उपरति अर्थात् हो सके तो सर्वकर्मनिवृत्ति, अन्यथा आवश्यक से अधिक अपने कर्म बढ़ाना नहीं। कर्म में एक विलक्षण वेग होता है जो नियंत्रण न करें तो बढ़ता जाता है; उससे बहिर्मुखता बढ़ना अनिवार्य है अतः आत्मदर्शन के लिये उस वेग पर नियंत्रण अनिवार्य है जिसे उपरति, उपरामता कहा। गृहस्थ यह ध्यान रखे कि परमात्म-मार्ग पर चलने की गति में कमी न आये उतनी ही प्रवृत्ति करे क्योंकि मिलना तो प्रारब्ध से है, अपनी चेष्टा बढ़ाने से नहीं। यह तभी हो सकता है जब तितिक्षा अर्थात् कष्ट सहने में उत्साह हो। पुरानी सोच में कष्ट सहना भोग-विलास या सुविधा भोगने की अपेक्षा बेहतर माना जाता था अतः तितिक्षा कुछ हद तक सहज थी। वर्तमान सोच कष्ट सहना मज़बूरी गिनती है, सुविधा भोगना उचित मानती है। किन्तु सुविधा सदा विषय-निर्भरता बढ़ाकर विक्षेपहेतु बनती है। अनिवार्य से अधिक सुविधा अवश्य हानिकर है। ऐसा व्यक्ति समाहित, एकाग्र हो सकेगा, रह सकेगा, तभी आत्मदर्शन कर पायेगा। आत्मा क्रिया से असम्बद्ध है अतः आत्मस्वभाव से रहने का मतलब कर्मसंन्यास हो जाता है। रुचि अर्थात् तीव्र मुमुक्षा हो जाने पर कर्म छोड़ना स्वाभाविक भी है, शास्त्रीय भी है। अकर्तापना जितना याद आयेगा उतनी ही क्रियाप्रवृत्ति छूटेगी। इसी रुचि से हुए संन्यास की पक्वता शमादि से आती है। विषय में रुचि रहते कामना नहीं छूटने से कर्म नहीं छूटते, विषयाकर्षण मिटने पर कर्म में प्रवर्त्तक कुछ रह नहीं जाता। ऐहिक-आमुष्मिक पदार्थों से सर्वथा वैराग्य होने पर ही आत्मरुचि पूरी होती है और कर्म छूटते हैं। शमादि सहित करने तो पड़ेंगे श्रवणादि, उन्हीं का प्रभाव आत्मदर्शन है। 'मुख्याधिकारी' अर्थात् रुचि से प्रारंभ कर तितिक्षा-समाधान पर्यन्त सब विशेषताओं से परिपूर्ण साधक। आत्मदर्शन तभी संभव है जब आत्मा पर ही बुद्धि स्थिर हो इसलिये 'आत्मा में ही आत्मा को देखता है' ऐसा कहा। अनात्मा में अर्थात् जहाँ प्रत्यग्भाव व्यक्त नहीं वहाँ चित्त रहते आत्मदर्शन असंभव है। अभी हम अनात्मभूत कोशों में आत्मदर्शन कर रहे हैं, यही भ्रम है जो दूर करना आत्मा में आत्मदर्शन है। ।३१५-६ ।।

आगे वाक्य है 'नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सः' अर्थात् उसे पाप छूते नहीं, संतप्त नहीं करते, वह पापों को तर जाता है, उन्हें तपा चुकता, जला चुकता है, पाप आदि सब दोषों से रहित हो जाता है, उसे अपने पूर्ण स्वरूप के बारे में कोई संशय नहीं रहता। इसका संग्रह करते

पुण्यं च जन्महेतुत्वादत्र पाप्मेति वर्ण्यते।
कर्महानिः पूर्वमुक्ता या तस्या उपसंहृतिः।।३१७।।
ब्रह्मत्वमेव ब्राह्मण्यमित्यभिप्रायमात्मनः।
विशदीकर्तुमाहैष ब्रह्मलोक इतीदृशम्।।३१८।।

है **जन्म के प्रति कारण होने से पुण्य भी इस प्रसंग में पाप के रूप में उल्लिखित है। पहले कही कर्मसमाप्ति का ही यहाँ उपसंहार है।।३१७।।** शब्द पाप लिया लेकिन श्रुति का भाव है कि जो कुछ भी जन्म-मरण के प्रवाह में रख सकता है उस सबसे वह अस्पृश्य हो जाता है अतः पुण्य के बंधन से भी छूट जाता है यह समझ लेना चाहिये। सुख भी प्राप्ति से पूर्व, नाश के बाद एवं सातिशय आदि रहते दुःख ही है यह लोकसिद्ध है। पुण्यवश श्रेष्ठ ही सही, कोई जन्म लेना पड़ेगा, गर्भवासादि झेलना पड़ेगा और अंत में मरना भी पड़ेगा। अतः पुण्य दुःख अवश्य देता है इसलिये उसे पाप-शब्दसे कहना संगत है। मुक्त को न पुण्य न पाप फल देते हैं। पूर्व में ४.३.२२ में पुण्य-पाप से असंबंध कहा था, उसका यहाँ निर्णय हो गया।।३१७।।

अंत में मुनि बोले 'ब्राह्मणो भवति एष ब्रह्मलोकः सम्राड्! एनं प्रापितोऽसि' कि वही ब्राह्मण होता है, यही ब्रह्मलोक है; हे राजन्! तुम इस ब्रह्मलोक तक पहुँचाये जा चुके हो इस वचन को सूचित करते हैं **ब्राह्मण होने का मतलब ब्रह्म होना ही है यह अपना अभिप्राय व्यक्त करने के लिये 'यही ब्रह्मलोक है' ऐसा कहा।।३१८।।** आत्मा का ब्रह्मरूप से प्रकट हो जाना यहाँ ब्राह्मण होना विवक्षित है। केवल 'ब्राह्मणो भवति' कहते तो भ्रम संभव था कि मुनि वर्णभूत ब्राह्मण कह रहे होंगे अर्थात् ज्ञान से ब्राह्मण होगा अन्यथा ब्राह्मण नहीं है! आधुनिक युग में ऐसी विचारधारा प्रचलित है कि गुणादि से ब्राह्मणादि समझ लिये जायें। अतः भ्रम न रहे इसलिये याज्ञवल्क्य ने उसी को 'ब्रह्मलोक' भी कह दिया! यहाँ ब्रह्मदर्शन ही अभीष्ट है, वर्णादि का प्रसंग ही नहीं कि तद्विषयक कोई बात यहाँ कही जाये। अतः 'ब्राह्मण होता है' अर्थात् ब्रह्मज्ञ होता है। 'लोक' से दर्शन समझना चाहिये।।३१८।।

याज्ञवल्क्य का उपदेश पूरा होने पर राजा ने पहले की तरह हज़ार गौ ही दक्षिणा नहीं कही वरन् 'सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चाऽपि सह दास्याय' कहा कि सारा राज्य आपको देता हूँ एवं स्वयं को भी आपके दासरूप में समर्पित करता हूँ। इसे कहते है **साधनों समेत विद्या सम्पूर्ण हो चुकने से इस राजा ने अपने शरीर सहित राज्य इस गुरु को निवेदित कर दिया।।३१९।।** जनक तत्त्व समझ गया था अतः

ससाधनाया विद्यायाः संपूर्णत्वादयं नृपः।
स्वदेहसहितं राज्यं गुरवेऽस्मै न्यवेदयत्।।३१९।।

श्रुत्युक्तः प्रतिपाद्यसारः

आख्यायिकां परित्यज्य श्रुतिरस्मदनुग्रहात्।।
सगुणं निर्गुणं ब्रह्म संक्षिप्योचे स वा इति।।३२०।।
पूजास्वीकारदातृत्वगुणयुक्तं महेश्वरम्।।
य उपास्ते पुमानेष यथेष्टं लभते धनम्।।३२१।।

शरीर आदि सारे अनात्मा से मम-अहंभाव छूटने का ही उसने यों उल्लेख किया। शिष्य यही उचित गुरुदक्षिणा समर्पित कर सकता है कि सारे अनात्मा से तादात्म्य हटा ले। गुरु भी कोई परिच्छिन्न वस्तु नहीं कि शिष्यप्रदत्त को ग्रहण कर सके। वह तो पहले ही समझ चुका है कि अनात्मा अवस्तु है। अतः निवेदन ही शिष्य करेगा, गुरु ग्रहण करे इसकी संभावना नहीं।।३१९।।

राजवचन समाप्त होने पर श्रुति है 'स वा एष महान् अज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद' (४.४.२४) महान् और अज आत्मा ही अन्न खाता और अन्न देता है। इसे द्योतित करते हैं **मुनि याज्ञवल्क्य का संवादरूप कथानक पूरा कर चुकने पर श्रुति ने हम पर कृपावश 'स वै' आदि से संक्षेप में सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म को बताया।।३२०।। 'महेश्वर पूजा स्वीकार भी करता है एवं प्रदान भी करता है' यों महेश्वर की जो उपासना करता है उस पुरुष को इच्छानुसार धन मिलता है।।३२१।।** परमेश्वर ही एकमात्र समझने योग्य तत्त्व है। उसके दो रूप हैंसगुण एवं निर्गुण। इन्हें अत्यन्त संक्षेप में यहाँ वेद ने बताया क्योंकि जीवों पर श्रुति को अत्यधिक दया बनी रहती है। वेद हमें केवल कृपा से प्रेरित हो उपदेश देता है। 'वही यह महान् अज आत्मा है'इतना निर्गुण का वर्णन है। 'अन्नादः' आदि सगुण का वर्णन है। 'भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः' (गी. १३.२२) आदि स्मृति इस विषय में स्पष्ट है। श्रुति में अन्न कहा, अभिप्राय सभी विषयों से है, हमारे द्वारा अर्पित सभी कुछ परमात्मा ग्रहण करता है एवं वही हमें सब कुछ देता है। गीता में (९.२६) कहा ही है कि भगवान् भक्तिपूर्वक अर्पित पत्ते आदि 'खा' लेते हैं। हमें वे ही सर्वस्व देते भी हैं। लोक में भी प्रेम हो तो देना-लेना दोनों होते हैं। अहंकारी केवल देना जानता है, लोभी सिर्फ़ लेना चाहता है, प्रेमी लेना-देना दोनों में उत्साही होता है, उस व्यवहार से प्रसन्न, सन्तुष्ट होता है। परमेश्वर परम प्रिय होने से 'अन्नाद' एवं 'वसुदान' दोनों है। इन गुणों वाले परमेश्वर की उपासना इच्छानुरूप धन देती है। यद्यपि कामना को दुष्पूर, अनल कहा है तथापि परमेश्वरप्रेमी

विद्वद्दृष्ट्या स एवात्मा जरामरणवर्जितः।
आनन्दो भयहीनश्च ब्रह्मैवातो न चेतरः।।३२२।।
य एवं ब्रह्म जानाति तद् ब्रह्मैव भवत्यसौ।
हिशब्दोऽशेषवेदान्तप्रसिद्धं सूचयेदिह।।३२३।।
जनकायात्मविद्यैषा याज्ञवल्क्येन वर्णिता।
[1]तद्व्याख्यानेनानुगृह्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः।।३२४।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचिते अनुभूतिप्रकाशे बृहदारण्यके जनकविद्याप्रकाशो नामाष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

की इच्छा होगी ही ऐसी जो भगवान् सहज में पूरी करें, अनाप-शनाप इच्छाएँ उसे होंगी नहीं। भक्त का कोई काम भगवान् रुकने नहीं देते एवं धनादि के कारण वह ग़लत रास्ते पड़ जाये इतना उसे देते भी नहीं। यह प्रेमी का स्वभाव है कि हित प्रधान रखता है।।३२०-१।।

अंतिम कंडिका है 'स वा एष महान् अज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म। अभयं वै ब्रह्म। अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।' इसे ध्वनित करते हुए अध्याय उपसंहृत करते हैं **वही आत्मा अजर, अमर, आनन्द, अभय, ब्रह्म है, अन्य कोई ऐसा नहीं यह विद्वान् की दृष्टि से निर्णीत तथ्य है।।३२२।। जो इस तरह अपरोक्ष ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है। 'हि' शब्द यहाँ सूचित करता है कि सारे वेदान्तों में यह वास्तविकता प्रसिद्ध है।।३२३।।** सगुण ही विद्वान् को सुलभ ज्ञानदृष्टि से निर्गुण है। जैसे जो हम कर्ता-भोक्ता हैं वही हम इन कर्तृत्वादि से रहित हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में समझना चाहिये। 'न चेतरः' अर्थात् आत्मा, प्रत्यगात्मा से पृथक् कोई वस्तु नहीं, ब्रह्म ही एक अखण्ड तत्त्व है। जरा-मरण-भय आदि संसार धर्मों से अतीत वही आनन्दरूप पूर्ण प्रत्यक्तत्त्व है। यही वेदान्त का सार है, यही इस अध्याय का संदेश है।।३२२-३।।

अध्याय समाप्त करते हैं **यह आत्मविद्या याज्ञवल्क्य ने जनक को समझायी। श्रीविद्यातीर्थरूप महेश्वर इसके व्याख्यान से अनुगृहीत करें।।३२४।।** व्याख्या से संतुष्ट हो ऐसी कृपा करें कि आत्मविद्या स्थिर हो यह अर्थ है। आचार्य की ईश्वररूपता शास्त्र-प्रसिद्ध है अतः यही प्रार्थना है कि ग्रंथार्थ अधिगत हो गया, अब यही सत्त्य भासता रहे ऐसी आचार्य की, ईश्वर की कृपा हो।।३२४।।

।। अठारहवाँ अध्याय।।

---

१. तद्व्याख्यानेन सन्तुष्याद् इति मुत्तुशास्त्रीपाठः।

ॐ

तलवकारविद्याप्रकाशः

एकोनविंशोध्यायः

शाखा तलवकाराणां सामवेदगताऽस्ति या।
विद्योक्ता तत्र संक्षेपात्तां विस्पष्टमिह ब्रुवे।।१।।

केनोपनिषद्विवरण : उन्नीसवाँ अध्याय

भगवान् श्रीकृष्ण ने जिसे अपनी विभूति बताया है उस सामवेद की यद्यपि एक सहस्र शाखायें रही तथापि कालक्रम में घटते-घटते कौथुमी और राणायनीय दो शाखायें ही अध्ययन में प्रचलित रह गयी हैं। जैमिनीय या तलवकार शाखा भी ग्रंथ रूप में उपलब्ध है। उसी के ब्राह्मण भाग में 'केनेषितम्' से प्रारम्भ हुई उपनिषत् को केनोपनिषत् या तलवकारोपनिषत् कहते हैं जिसमें चार खण्ड हैं। पहले अध्याय ३-५ तक में सामवेदीय छान्दोग्योपनिषत् का विचार कर आये हैं, अब केनोपनिषत् का सार बतायेंगे। इसी प्रतिज्ञा से प्रकरण प्रारम्भ करते हैं **तलवकारों की सामवेद में स्थित जो शाखा है उसमें विद्या बतायी गयी है, उसे यहाँ संक्षेप से साफ-साफ बताता हूँ।।१।।** तलवकारयह प्रकृत शाखा का ही नाम प्रसिद्ध है। इसमें विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या कही गयी है। परमात्मस्वरूप का प्रतिपादन समग्र वेद में हर शाखा में, मन्त्रादि सब भागों में उपलब्ध है। यद्यपि सर्वत्र पूर्ण उपनिषत् अर्थात् उपदेश है तथापि सभी शाखाओं में एक ही वस्तु कथित है इस निर्णय के लिये सबके समन्वितार्थ को समझना आवश्यक है, जिससे सभी उपनिषदें अध्येतव्य हैं। आचार्य यद्यपि इस ग्रंथ में सर्वत्र संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं तथापि यहाँ 'संक्षेपात्' कहने का खास तात्पर्य है : आचार्य श्री शंकर ने ईशादि दस उपनिषदों की भाष्यरूप व्याख्या रची यह निर्विवाद है। इनमें एक केन ही ऐसी उपनिषत् है जिस पर आचार्य ने दो भाष्य लिखे! पहला है पदभाष्य जो प्रायः वैसा ही है जैसी अन्य उपनिषदों की व्याख्या अर्थात् मन्त्रों के शब्दार्थ, तात्पर्यार्थ का वर्णन और उपपादन उसमें है। दूसरा है वाक्यभाष्य जो विचार-प्रधान है। उपनिषदों में अनेक दुरूह स्थल हैं जिनका प्रायः बादरायणाचार्य ने ब्रह्मसूत्रों में स्पष्टीकरण कर दिया है। अतः आचार्य शंकर ने उन स्थलों पर जो चिन्तन

भूमिका

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।'
इत्यर्जुनाय भगवानाह प्रश्नाख्यसाधनम्।।२।।

किया वह सूत्रभाष्य में निबद्ध कर दिया। किन्तु केनोपनिषत् के ऐसे स्थलों पर बादरायणाचार्य ने मीमांसा ग्रथित की नहीं है अतः सूत्रभाष्य में इस उपनिषत् पर चिन्तन व्यक्त नहीं हो पाया। उस कमी को पूरा करने के लिये आचार्य ने इस उपनिषत् पर दूसरा भाष्य रचा। यद्यपि पदभाष्य में ही ये विचार निहित हैं तथापि वहाँ प्रकट अर्थात् खोलकर नहीं बताये हैं जिससे आवश्यक था कि उन बिन्दुओं का विस्तार सूचित हो। यह विस्तार वहीं जोड़ने पर मूल का भाव समझना दुष्कर होता! अतः पहला भाष्य ग्रन्थ समझाने के लिये और दूसरा उस पर सूक्ष्म विवेचन करने के लिये है। अन्य उपनिषदों के लिये यह कार्य ब्रह्मसूत्रों के अंतर्गत हो जाने से उन पर यों पृथक् लेख अनपेक्षित रहा। यद्यपि अल्पदृष्टि वाले आधुनिकों को उक्त भाष्यद्वय में कुछ परस्पर वैमत्य दीखता है तथापि साम्प्रदायिक व्याख्यानानुसार दोनों की सर्वथा एक वाक्यता ही है। यहाँ विद्यारण्यस्वामी ने वाक्य-भाष्य के विचारों के संग्रह का प्रयास बिना किये पदभाष्य की ही प्रणाली से व्याख्या की है, इसी के सूचनार्थ 'संक्षेपात्' कहा है। 'इह' से ग्रन्थ का समापन भाग सूचित है। अगले अध्याय में अनुभूतिप्रकाश पूरा हो जायेगा, इससे पूर्व बृहदारण्यक का काफी विस्तार कह चुके हैं, ग्यारह सौ छियानबे श्लोकों द्वारा! अतः इस उपान्त्य अध्याय में मात्र सौ श्लोकों में विद्या कही जा रही है जो इसके संश्लिष्ट रूप का हेतु है।।१।।

उपनिषदें प्रायः संवाद शैली में निबद्ध हैं। केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, तैत्तिरीय बृहदारण्यक, छांदोग्य का काफी भाग, श्वेताश्वतर, कैवल्य आदि सभी बातचीत, सवाल-जवाब के ढंग से उपदेश देती हैं। केन अर्थात् 'किसके द्वारा?' इस प्रश्नात्मक प्रथम शब्द के बल पर ही इस उपनिषत् का नामकरण है जैसे 'ईशा' से प्रारंभ होने के कारण माध्यंदिन एवं काण्व संहिताओं की उपनिषत् का नाम पड़ा है। क्यों ऐसे प्रश्न-उपन्यासपूर्वक समझाया गया हैयह बताते हुए भूमिका रचते हैं' **नमस्कार, प्रश्न और सेवा से उसे जानो' यों भगवान् ने अर्जुन को प्रश्न-नामक ज्ञानोपाय बताया है।।२।।** गीता (४.३४) में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा कि तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे ब्रह्मतत्त्व समझायेंगे लेकिन इसके लिये उन्हें दीर्घ नमस्कार करना होगा, उनकी सेवा करनी होगी तथा उनसे इस बारे में साफ-साफ सवाल करना होगा। इससे प्रश्न

'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि तु मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्।।३।।

को ज्ञान-प्राप्ति में एक उपाय घोषित किया है। नम्रता का प्रणाम से ख्यापन होता है। नम्र, विनयी ही शिष्य बनने लायक है। उद्धत, गर्वीला आत्मविद्या के श्रवण का योग्य अधिकारी नहीं है। क्योंकि गुरु का कोई लौकिक-अलौकिक हित बचा नहीं है जो शिष्य साध सके इसलिये एकमात्र सेवा उपाय है जिससे गुरु को उपदेश-प्रदान के लिये उन्मुख कराया जाये। किन्तु सेवक नम्र हो तो भी जब तक पूर्व तैयारी कर तरीके से जिज्ञासा नहीं करेगा तब तक भी तत्त्वज्ञ प्रवृत्त नहीं होगा उसे समझाने में। आधुनिक मान्यता बिना पूछे बोलने की है, इसी को प्रचार समझते हैं, लेकिन शास्त्रकी मर्यादा है कि पूछे जाने पर ही परमात्मा का वर्णन सुनाया जाये। अर्जुन जैसे घनिष्ठ ने भी जब तक शिष्यभाव से जिज्ञासा नहीं की तब तक इतने दीर्घ काल में भी भगवान् ने उसे गीता नहीं सुनायी थी, इसीसे उन्होंने परिप्रश्न का महत्त्व बता दिया। जो हृदय से पूछता नहीं वह सुनाने पर भी ग्रहण नहीं करता। यद्यपि अनात्मविषयों के बारे में सुनने मात्र से रुचि होती है क्योंकि अनात्मसंस्कार पहले से हैं ही तथापि आत्मसंस्कार पूर्व से अर्जित न होने से आत्मा के बारे में बलात् सुनने से उसे ग्रहण नहीं कर पाते। इसलिये साधक को कर्त्तव्य निर्देश है कि विचारपूर्वक आत्मजिज्ञासा उपजाये ताकि तत्त्व को पूछने में प्रेरित हो।।२।।

जैसे गीता में शिष्य के लिये नियम किया कि पूछे, वैसे मनुस्मृति (१.१२०) में गुरु को भी निर्देश दिया है कि कब बताये **जब तक पूछा न जाये तब तक किसी को न बताये, ग़लत ढंग से पूछने वाले को भी न बताये। मेधावी स्वयं जानते हुए भी लोक में ग़ैरजानकार-सा आचरण करे।।३।।** शिष्यभाव से जिससे पूछा जाये वही आचार्य उपदेश करे क्योंकि उसी की बात जिज्ञासु सुनने को उत्सुक है। हमारे सामने किसी और से पूछा, हम उत्तर जानते हैं, पर उचित है कि हम न बोलें, जिससे पूछा वही बोले। हमारा बोला व्यर्थ ही जायेगा ऐसा नहीं, लेकिन हमारे लिये यों बोलना उचित नहीं। मुझे जानकारी हैइतने मात्र से बताना ही है, यह वृत्ति धीरे-धीरे बहिर्मुखता ही बढ़ायेगी अतः तत्त्वज्ञ के लिये उचित नहीं। लोकसिद्ध है कि तत्त्व की जानकारी के प्रति महत्त्वभाव न रहने पर उपेक्षा बढ़ते-बढ़ते तिरस्कार तक होने लगता है। इसीसे मनु महाराज ने कहा कि जानते हुए भी जड की तरह आचरण करे। मुत्तुशास्त्री का 'लोकम्' की जगह 'लोके' यों सप्तम्यन्त पाठ है। 'लोके' इसलिये कहा

इति शास्त्रमवेक्ष्यात्र कश्चिच्छिष्यगुणान्वितः।
उपसद्य गुरुं सम्यगप्राक्षीदात्मबुद्धये।।४।।

कि लौकिकों की दृष्टि में इहलोक ही सर्वस्व है अतः परमात्मा तो दूर, परलोक भी उनके विचार में स्थान नहीं पाता। जैसे जौहरियों से बैंगन-गाजर के बारे में विचार-विमर्श निरर्थक वैसे लौकिकों से परमात्मचर्चा व्यर्थ है। नाम-रूपात्मक जगत् ही सब कुछ समझने वालों से नाम-रूपरहित आत्मवस्तु के बारे में कहना इसलिये मायने नहीं रखता कि वे नाम-रूपरहित के आकार की बुद्धिवृत्ति ही न बना पाने से इसके बारे में कुछ भी समझ नहीं सकते, सोच नहीं सकते अतः सही मायने में 'सुन' भी नहीं सकते। शब्द तो सुनेंगे पर उसका कोई अर्थ उन्हें नहीं स्फुरेगा। आजकल एक नारा है। 'आगे किसने देखा है', मोटी बात है कि अगर देखा होता तो 'पीछे' होता, आगे कैसे होता? आगे है, इसीलिये नहीं देखा। आगे नहीं देखाइससे यह तो नहीं प्राप्त होता कि वह है ही नहीं। लेकिन इतने विचार में अक्षम होने से वे इस नारे से सन्तुष्ट होकर निर्णय कर लेते हैं या इस भ्रममें पड़ जाते हैं कि उन्हें निर्णय है कि भविष्य है ही नहीं। 'भ्रम' इसलिये कि वस्तुतः वे भविष्य के प्रति विविध आशाएँ, कामनाएँ कायम रखते ही हैं; यदि निश्चय हो जाये कि भविष्य नहीं है तो हमारी प्रायः सब कामनाएँ छूट जायें क्योंकि वर्तमान तो उपस्थित ही होने से उसकी कामना पूरी हो ही गयी। लेकिन सांसारिकों की कामनायें बनी रहती हैं फिर भी कहते हैं 'आगे किसने देखा' अतः भ्रम ही है। मेधावी जानते हुए भी, कुछ न कहे जब देखे कि श्रोता ऐसे अविचारशील हैं। इस स्तर वालों के लिये 'जोषयेत् सर्वकर्माणि' आदि नियम ही लागू होगा। जडवत् का यह मतलब नहीं कि ग़लत या शास्त्रविरुद्ध आचार करे! मेधावी के लिये वैसा संभव भी नहीं और उचित भी नहीं। इतना ही तात्पर्य है कि अयोग्य को तब तक सूक्ष्म तत्त्व न समझाना प्रारम्भ करे जब तक वह समझने के लिये तैयार न हो जाये।।३।।

इस भूमिका पर ग्रंथारम्भ सूचित करते हैं **पूर्वदर्शित आदि शास्त्रवचनों का विचारकर, शिष्योचित गुणों से युक्त किसी शिष्य ने गुरु के निकट जाकर आत्मज्ञान पाने के लिये सही तरीके से प्रश्न किया।।४।।** पूछने वाला शास्त्र को जानता हो तभी परमात्मजिज्ञासा करेगा। जो शास्त्र के धर्म-भाग से ही परिचय नहीं रखता, उसका पालन नहीं करता, वह ब्रह्म-भाग में सद्भाव रखे यह संभव नहीं। आजकल रिवाज़ है अध्यात्म को धर्महीन बताने का, लेकिन वैदिकों की दृष्टि में यह असंभव है। शास्त्र का विचार करने वाला जब स्वयं को शिष्यगुणों से युक्त पाता

प्रश्नः

मनःप्राणौ श्रोत्रचक्षुर्वाचश्च वपुषि स्थिताः।
प्रवर्त्तन्ते स्वस्वकार्ये विद्यते प्रेरको न वा।।५।।

है तब प्रश्न उठाता है। शिष्य के प्रधान गुण प्रणिपात और सेवा है। आचार्य ने उपदेशसाहस्री में विस्तार से गद्य भाग में शिष्य-गुण बताये हैं। दैवी सम्पत्, त्रयोदशाध्याय गीता में कहे अमानित्वादि, शम-दमादि अनेक गुण शास्त्र में सूचित हैं। पूर्वोक्त गीतावाक्य में सभी के संग्रहार्थ प्रणिपातादि कहे। ऐसा शिष्य गुरु के निकट यथाविधि जायेगा, समित्पाणि आदि होकर जायेगा। आत्मानुभूति ही क्योंकि उसका उद्देश्य होगा इसलिये वह पाने के लिये ही उसका प्रश्न होगा, बहुश्रुत होने के लिये या अन्य किसी प्रयोजन से नहीं। साधक को गुरु से वही पूछना उचित है जिसे समझकर उसे अपना जीवन ढालना हो, अन्यथा सिर्फ़ जानकारी के लिये न पूछे, क्योंकि दोनों तरह के प्रश्नों के प्रत्युत्तर अलग-अलग होंगे। स्वयं का प्रश्न हो तो उत्तर से सन्तोष संभव है, अन्यों का, विभिन्न शास्त्रों का प्रश्न हो तो निर्दुष्ट उत्तर भी किसी संतोष का हेतु नहीं बन सकता। भूखे को दाल-भात भी खिलाओ तो उसका पेट भर जाता है पर जो डटकर भोज में तृप्त होकर आया है उसे अच्छी से अच्छी सामग्री में नुक्स ही मिलेंगे। साधक के प्रश्न का ढंग भी उचित होना चाहिये अर्थात् गुरु की परिस्थिति आदि के अनुकूल एवं आदरादिपूर्वक प्रश्न करे। किं च शास्त्र की मान्य पद्धतियाँ जानकर उनके अनुसार पूछने पर आचार्य के लिये समझाना आसान हो जाता है। माध्यमिक स्तर की गणित जानकर उच्च माध्यमिक के स्तर का गणित-सवाल करे तो उसे समझाना सरल है बजाये उसके जो प्राथमिक स्तर की गणित जानता है, या जो उतनी भी नहीं जानता।।४।।

उपनिषत् प्रारंभ होती है 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचम् इमां वदन्ति चक्षुःश्रोत्रे क उ देवो युनक्ति।।' मन-प्राण-वाक्-चक्षुः-श्रोत्र पर किसका नियन्त्रण है?यह भाव है। इस प्रश्न का उपस्थापन करते हैं **शरीर में मन, प्राण, श्रोत्र, चक्षु और वाक् स्थित हैं जो अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते रहते हैं। इनका कोई प्रेरक है या नहीं?।।५।।** शरीरस्थ सभी करणों के जो-जो नियत कार्य हैं, उन्हीं का वे संपादन करते हैं; आँखें सुन नहीं लेंगी, कान देख नहीं लेंगे! लेकिन सवाल है कि इन साधनों की ये प्रवृत्तियाँ किसी प्रेरक के अधीन हैं, या नहीं? प्रवृत्ति निःसन्देह है, प्रवृत्त करने वाला पूछा जा रहा है। मन आदि जो कहे वे

न चेत्तर्हि जडत्वेन प्रवृत्तिर्मनआदिषु।
न स्याद्विना प्रेरकेण शकटाद्यप्रवृत्तितः।।६।।
चैतन्यमिन्द्रियाणां चेद् ब्रह्मासत्त्वं प्रसज्यते।
इंद्रियेभ्यश्चेतनोऽन्यः प्रेरकोऽभ्युपगम्यताम्।।७।।

उन सबके संग्रहार्थ हैं जो यहाँ नहीं कहे।।५।।

प्रेरक की सूक्ष्मता समझाने के लिये विचार करते हैं **यदि प्रेरक न हो तो मन आदि जड होने से इनमें प्रवृत्ति संभव नहीं क्योंकि प्रेरक के बिना जड छकड़े आदि में प्रवृत्ति नहीं होती।।६।।** यद्यपि प्रेरक है मानकर, वह कौन हैयह प्रश्न है तथापि प्रसिद्ध सम्भावना उठाकर परीक्षा कर रहे हैं। मन आदि किसी प्रेरक के अधीन नहीं वरन् स्वयमेव ज्ञानों व क्रियाओं में संलग्न हो जाते हैंयह मानना इसलिये असंगत है कि मन आदि सब जड हैं और जडों में स्वतन्त्र प्रवृत्ति कहीं नहीं दीखती कि इनमें मानी जा सके। छकड़ा अर्थात् गाड़ी को जब तक बैल आदि चेतन न खींचे, स्वयम् कहीं नहीं पहुँच सकती। यंत्र को भी संचालित कोई-न-कोई चेतन ही करता है। 'स्व-चालित' का इतना ही अर्थ है कि चेतन को साक्षात् बहुत कम कार्य करना पड़ता है, यह नहीं कि चेतन प्रेरक के बगैर जड व्यवस्थित प्रवृत्ति कर सके। चेतन तो चाहे गधा भी हो, बिना हाँके भी चल-फिर लेगा, पानी तक, घास तक पहुँच जायेगा। महँगी स्वचालित मोटरकार से भी यह आशा नहीं कर सकते कि टायरों पर एक ही जगह दबाव लम्बे समय तक न पड़े इसके लिये कुछ देर बाद गाड़ी थोड़ा-बहुत आगे-पीछे हो जाये या टंकी खाली होने पर खुद पैट्रोल पंप पहुँच जाये इत्यादि। मन आदि जड हैं अतः छकड़े की तरह उन्हें प्रेरकाधीन मानना अनिवार्य है।।६।।

मन आदि को जड ही क्यों माननायह समझाते हैं **इन्द्रियाँ यदि चेतन हों तो ब्रह्म ही नहीं रह जायेगा! अतः इन्द्रियों से भिन्न उनका प्रेरक चेतन अंगीकार्य ही है।।७।।** चेतन अर्थात् ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमें स्वतंत्र, इच्छा करने वाला, इच्छापूर्ति के लिये प्रयास में सक्षम। चेतनका निजीरूप ज्ञान है लेकिन इच्छा-क्रिया भी चेतन-सम्बन्ध सूचित करने वाले चिह्न हैं। ब्रह्म व्यापक वस्तु है। उससे अतिरिक्त चेतन हो तो उससे ब्रह्म परिच्छिन्न होने से व्यापक नहीं रहेगा कि ब्रह्म कहला सके। किंच चेतन ज्ञानात्मक होने से ज्ञेय नहीं अतः प्रत्यग्भिन्न चेतन अपरोक्ष होता नहीं और परोक्ष उसे सिद्ध करने वाला शास्त्ररूप प्रमाण व्यापक तथा एक बताता है। इसलिये इंद्रियादि नाना चेतन मानना ग़लत हो जाता है। अनेकात्मता-बोधक ग़ैरवैदिक शास्त्रों का

अनुसरण करें तो उन्हें स्वतः प्रमाण मानें या परतः? स्वतः मानने पर शास्त्रों में परस्पर विरोध उनमें से एक को भी प्रमाण नहीं रहने देगा। परतः मानने पर अज्ञेय आत्मा में कोई प्रमाण संभव न होने से वे शास्त्र आत्मभेद के साधक नहीं रह जायेंगे। वेदभिन्न शास्त्रों के अनुयायी उन्हें अपौरुषेय, स्वतःप्रमाण मानते भी नहीं। ज्ञेय, अनेक चेतन ही जब युक्ति से अस्वीकार हैं तब व्यापक के बहुत्व को असंगत समझना उचित ही है। मन आदि को हम जानते हैं अतः उनकी दृश्यता स्वानुभवसिद्ध है। जैसे जड होने से टेलीफोन, दूरभाष तभी बजेगा जब उसे कोई बजाये ऐसे मन आदि से कोई कराये तभी उनमें ज्ञान या क्रिया होगी, खुद होना संभव नहीं। चेतन हों तो इन्द्रियाँ स्वयम् कार्यकारी रहें, हमारे जगने-सोने से उनकी सामर्थ्य पर अंतर न आये। आता है अतः उनका प्रेरक उनसे अन्य आत्मा है यह सिद्ध होता है। जड अपनी योग्यतानुसार एकरस प्रवृत्ति करता है, इन्द्रियाँ योग्य रहते भी सदा प्रवृत्त भी नहीं रहतीं और कभी सावधान कभी असावधान आदि अनेकरस भी प्रवृत्ति करती हैं अतः उनकी प्रवृत्ति-निवृत्ति चेतनाधीन ही निर्णीत होती है क्योंकि इस भेद के लिये जरूरी चैतन्य उनमें मानना इसलिये संभव नहीं कि वे दृश्य, ज्ञेय हैं। जड पर चेतनका नियंत्रण होने से वही कर्त्ता बनता है, जड केवल करण, साधन होते हैं। अविचारशील इस कर्तृत्व के दायित्व से बचने का बहाना ढूँढने के लिये साधनों पर दायित्व डालते हैं किन्तु वैसी सोच अस्वाभाविक होने से सदा उस पर कायम नहीं रहते। कुछ वर्ष पूर्व एक महिला डकैत बनी, अनेक पुरुषों को उसने सड़क पर गोलियों से समाप्त कर दिया। सरकार आदि ने माना कि क्योंकि उस महिला पर समाज ने कोई अत्याचार किया था, उसकी प्रतिक्रिया में वह बागी बनी थी अतः क्षम्य थी। फिर वह सांसद बनकर मरी तो राष्ट्रपति-प्रधानमंत्री आदि ने उसे श्रद्धांजलि अर्पित की! इससे लगता है कि प्रतिक्रियात्मक अपराध क्षम्य है। किंतु वहीं सरकार गोधराकाण्ड की प्रतिक्रिया में किये कृत्यों को अक्षम्य घोषित करती है। इससे पता चलता है कि हृदय में सरकार भी समझती है कि जिसकी प्रतिक्रिया है वह नहीं वरन् जो प्रतिक्रिया करता है वह स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय करता है कि क्या करना, क्या नहीं, अतः वही ज़िम्मेवार भी है। तथापि ऐसी विषम मान्यताओं के चलते समाज अवश्य दिग्भ्रान्त होता है, अल्पमेधा लोग समझ नहीं पाते कि प्रतिक्रिया करना ठीक है या ग़लत। अतः सरकार आदि महत्त्वपूर्ण संस्थाओं और व्यक्तियों को कम से कम व्यक्त वे ही आचार-विचार करने चाहिये जो युक्ति-प्रमाण से परीक्षित हैं, जिन पर वे सदा कायम रह सकें। यही बात अन्य सामाजिक, आर्थिक

इंद्रियैः साधनैर्जीवो यः कर्ताऽसौ प्रवर्तकः।
इति चेन्न यतो जीवे पारतन्त्र्यमवेक्ष्यते।।८।।
व्यापारमिन्द्रियोत्थानं न करिष्येऽमुमित्ययम्।
संकल्प्यापि करोत्येव भूताविष्ट इवातुरः।।९।।

आदि परिस्थितियों के सन्दर्भ में है। जैसे समाज आदि समान रहते भी विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न चेष्टाएँ जीवस्वातन्त्र्य सिद्ध करती हैं वैसे वैयक्तिक जीवन में भी जीवात्मा की स्वतन्त्रता निश्चित होती है, न कि मन इन्द्रिय आदि की। उनसे अन्य अर्थात् जिसकी सत्ता-स्फूर्ति मनआदि की सत्तादि पर निर्भर नहीं ऐसे चेतन प्रेरक को स्वीकारना उचित ही है।।७।।

उक्त तर्क से मनआदि से भिन्न चेतन अंगीकार्य हो तो वही होगा जो जीवात्मारूप से प्रसिद्ध है अतः उसके बारे में प्रश्न उठाना व्यर्थ है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं **इन्द्रियरूप साधनों से जो करने वाला जीव है वही उनका प्रेरक क्यों न माना जाये? इसलिये नहीं माना जा सकता कि जीव में भी परतन्त्रता दीखती है।।८।। 'इन्द्रिय-साध्य अमुक कार्य नहीं करूँगा' यों संकल्प करके भी जीव वह कार्य वैसे ही कर लेता है जैसे कोई भूतावेश से पीडित व्यक्ति (न चाहकर भी चेष्टाएँ करता है)।।९।।** यद्यपि जीव में चेतना की उपलब्धि होने से पूर्वदर्शित समस्या का समाधान संभव लगता है तथापि जीव भी परतन्त्र मिल रहा है जबकि चेतन वास्तव में स्वतन्त्र ही हो सकता है। हम सभी अनुभव करते हैं कि ध्यान करना चाहते हैं पर मन विक्षिप्त हो जाता है, इन्द्रियाँ रोकना चाहते हैं पर वे चपल बनी रहती हैं, इत्यादि। रोगी को पता है कि आराम करना है पर भूत चढ़ जाये तो उछल-कूद मचाता है यह लोक में दीखता ही है। केवल बांहरी भूत ही नहीं, भीतरी भूत भी अण्डबण्ड बुलवाता-कराता है; शहरों में लोग कहते हैं कि खाने के लिये काम करते हैं और खाने के लिये ही उनके पास समय नहीं होता! यह विचार की अव्यवस्था वैसी ही है जैसे भूतावेश वालों की सोच किसी प्रमाण-युक्ति का अनुसरण नहीं करती। कार्यक्षेत्र के निकट का आवास छोड़कर दूर रहेंगे, फिर गाड़ी का खर्च और सड़क के धक्के सहते रहेंगे! ये सब बताते हैं कि जीव भी सर्वथा स्वतन्त्र नहीं। खुद उन्हीं को नहीं पता कि क्यों कर रहे हैं जिससे परतंत्रता निर्णीत होती है। जीव में चेतना का आभास ही है अतः स्वतंत्रताका आभास तो मिलता है और व्यवहार स्तर पर उसी स्वतंत्रता के प्रयोग से प्रगति करना अनिवार्य है भी, तथापि परमार्थ का विचार प्रवृत्त

इंद्रियाधिष्ठातृदेवा न स्वतन्त्रा यथा वयम्।
धर्माधर्मात्मकं कर्म न स्वतन्त्रं जडत्वतः।।१०।।
तस्मात् केन प्रेरितं सद्विषयान् मनुते मनः।
कर्तुमुच्छ्वासनिश्वासौ प्राणः केन प्रणीयते।।११।।
वाक्चक्षुःश्रोत्रमुख्यानि प्रेरयेत् करणानि कः।
ईश्वरश्चेत् किमेकोऽसौ बहवोऽमीत्युतेर्यताम्।।१२।।

होने पर वास्तविक चेतन को समझना भी उचित होने से केनइत्यादि द्वारा उसके बारे में पूछा गया है।।८-६।।

शरीराभिमानी न सही, अन्य कोई नियामक होगाइस संभावना को भी समाप्त करतेहैं **इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता भी हमारी तरह ही परतन्त्र हैं। पुण्य-पाप रूप कर्म भी जड होने से स्वतन्त्र नहीं।।१०।।** आँखों के अधिष्ठाता सूर्य हैं लेकिन यह नहीं कह सकते कि वे ही स्वतंत्र रहकर आँखों को चलाते हैं क्योंकि हैं वे भी जीव अतः हमारी तरह उनकी परतंत्रता उचित है, पुराणादि में वर्णित भी है। धर्माधर्मरूप अदृष्ट तो जड है अतः मन आदि का स्वतंत्र प्रेरक होना संभव नहीं।।१०।।

प्रसिद्ध व्यवस्थानुसार सन्तोषजनक उत्तर अनुपलब्ध होने से उपनिषत् में प्रश्न उठाना उपपन्न करते हैं **इसलिये पूछा जाता है कि किससे प्रेरित हुआ मन विषय-चिन्तन करता है, साँस लेने-छोड़ने के लिये प्राण किससे प्रेरित होता है, वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि करणों को कौन प्रेरित करता है? यदि ईश्वर प्रेरणा करता है तो वह एक है या बहुतेरे ईश्वर हैं? यह सब बताइये।।११-२।।** 'प्रेरक' से उस स्वतन्त्र तत्त्व के बारे में पूछा है जो हमें अनुभव नहीं हो रहा। स्वयं को चेतन हम भी जानते हैं लेकिन सब प्रवृत्ति-निवृत्ति में स्वतन्त्र नहीं अनुभव करते अतः प्रश्न है। इंद्रियाँ व मन सोते समय आराम कर भी लें पर प्राण लगातार चलता ही रहता है जो अवश्य किसी महान् शासक का सूचक है। किं च मन रहते अहंकार का बोध भी होता है जिससे 'मन को मैं प्रेरित कर रहा हूँ' यह भी अनुभव हो सकता है किन्तु प्राण के लिये ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अहंकार न रहने पर भी सुषुप्ति के दौरान प्राण चलते ही रहते हैं। जाग्रत् में भी हम कोई सावधान चेष्टाकर प्राणों को नहीं चलाते वरन् परमेश्वर के संकल्पानुसार बनी व्यवस्था से ही वे चलते रहते हैं। अतः प्राणन-अपानन कराने वाला हमेशा परमात्मा ही हैइसे सदा ध्यान में रखने से परमात्मसाक्षात्कार होता है। इसी से अन्यत्र 'साँस लेने छोड़ने को व्रत' कहना संगत है। परमात्मा स्वतन्त्र

प्रवर्त्यानामनन्तत्वाद् वैलक्षण्याच्च नैकता।
नैकमत्यं बहुत्वे स्याद् बहुराजकदेशवत्।।१३।।

है। धर्माधर्म की वासनाओं के अनुरूप वह जीवको और उसके माध्यम से मन आदि को प्रेरित करता है। उसके बारे में इतना ही निर्णय चाहिये कि वह एक है या अनेक? यद्यपि लगता है कि ईश्वर मानने वाले उसे अवश्य एक स्वीकारते होंगे तथापि जब सृष्ट आदि के कर्त्ता ब्रह्मा आदि को पृथक्-पृथक् स्वीकारते हैं तब अनेक ईश्वर मानने वाली स्थिति ही होती है। इस पक्ष में ईश्वर-शब्द का अर्थ कुछ संकुचित जरूर करना पड़ता है लेकिन हैं ऐसा मानने वाले भी काफी, अतः प्रश्न उठना उचित है। देवताओं और ईश्वरों में इतना ही अन्तर मानते हैं कि देवता पराधीन हैं जबकि ईश्वर अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं।।११-२।।

एक या अनेक ईश्वर मानने पर दोष बताते हैं **क्योंकि प्रवृत्त होने वाले अनन्त और परस्पर विलक्षण हैं इसलिये प्रवर्त्तक एक होना उचित नहीं। ईश्वर बहुत से हों तो उनमें एकमतता नहीं होगी तो जैसे वह देश (अव्यवस्थित) हो जाता है जहाँ बहुतेरे राजा हों (वैसे संसार हो जाये)!।।१३।।** प्रवर्त्य अर्थात् प्रवृत्त होने वाले जीव असंख्य और आपस में विपरीत स्वभाव के हैं, सबका प्रेरक एक संगत नहीं। हाथी किसी मनुष्य को कुचलने दौड़ता है, वह मनुष्य बचने के लिये भागता है; यदि दोनों का प्रेरक एक है तो वह चाहता क्या है? अगर हाथी कुचले यह उसे इष्ट है तो मनुष्य को भागने की क्यों प्रेरणा देता है तथा मनुष्यका बचना इष्ट है तो हाथी को क्यों उस पर दौड़ाता है? इसी प्रकार अत्यन्त विलक्षण, विरुद्ध प्रवृत्तियाँ संसार में लगातार देखने में आ रही हैं। इससे यह अमान्य है कि सबका प्रेरक एक ईश्वर है। पारसी धर्म वालों ने माना कि अच्छाई का प्रेरक है अहुर्मज़्दा और उससे अलग है बुराई का प्रेरक अर्हिमान्। अन्ततः अहुर्मज्दा की ही विजय होगी। मनुष्य का कर्त्तव्य उसी को साथ देना अर्थात् एकमात्र अच्छाई का पक्ष अपनाना है। बुराई का साथ दिया तो अन्ततः नरक ही पहुँचेंगे। यों दो ताकतें उन्होंने समझी। ईसाइयों में गॉड-डेविल, मुसलमानों में खुदा-शैतान ये जोड़े भी उसी रीति से प्रचलित हैं। यद्यपि वैदिक परम्परा से यह विचार सर्वथा विपरीत है अतः मुखतः इसे कोई हिन्दूवादी नहीं कहता तथापि द्वैतवादी इस समस्या से परेशान जरूर रहते हैं कि एक ईश्वर पुण्य-पाप दोनों का समान प्रेरक कैसे? यदि उसे पाप अनिष्ट है तो पापी की क्रिया-सामर्थ्य ही क्यों नहीं रोक देता, गायों को मरने क्यों देता है? इत्यादि। किन्तु यह भी संभव नहीं कि अनेक

अथोत्तरम्

उक्तदोषनिवृत्त्यर्थं गुरुर्वचनमब्रवीत्।
श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि तदर्थस्तु विविच्यते।।१४।।

(एकाधिक) ईश्वर हों क्योंकि संसार है अत्यन्त व्यवस्थित, नियमित और यदि एक से ज़्यादा इसके मालिक होते तो ऐसी व्यवस्था, नियमबद्धता संभव नहीं, जैसे गणतंत्र आदि में अनेक शासक हो जाते हैं तो अव्यवस्था ही मिलती है। इस प्रकार वागादि का प्रेरक इनसे स्वतंत्र चेतन मानना भी जरूरी, वह एक हो यह भी जरूरी अतः शिष्य स्वयं निर्णय न कर पाने से गुरु से पूछे यह उचित ही है।।१३।।

उपनिषत् में इसका जवाब दिया 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः। प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।' अर्थात् श्रोत्र-मन-वाक्-प्राण-चक्षु को जो श्रोत्रादि बनने में समर्थ बनाने और रखने वाला परमेश्वर है वही इनका नियन्ता है, उसे समझकर जब श्रोत्रादि में अहन्ता छोड़ता है तब जीव बुद्धिमान् बनता है और संसार से विमुख हुआ अमर हो जाता है। भाष्यकार ने 'ज्ञात्वा' का अध्याहार मानकर ऐसा ही अर्थ किया है। 'अतिमुच्य' अर्थात् श्रोत्रादि में आत्मभाव छोड़कर। 'प्रेत्य' अर्थात् पुत्र-मित्र-कलत्र-बंधु आदि इस लोक में ममभाव-अहंभाव छोड़कर। इस उत्तर को उपन्यस्त कर समझाते हैं **प्रेरक-सम्बन्धी बताये दोष को हटाने के लिये गुरु ने 'श्रोत्रका श्रोत्र' आदि वचन कहा। उसके अर्थ का विवेचन किया जाता है।।१४।।** क्योंकि प्रश्न न केवल वाजिब है वरन् शिष्य की वास्तविक जिज्ञासा से उठा है इसलिये गुरु ने आवश्यक समझा उसका उत्तर देना, अन्यथा उपेक्षा भी की जा सकती थी। गुरु के लिये यह व्यवहार-निर्देश भी है कि शिष्य की जिज्ञासा शान्त करे क्योंकि यदि शिष्य का मानस संशयग्रस्त रहा तो वह कोई भी उपदेश ग्रहण नहीं कर पायेगा। यद्यपि यह है अतिकठिन तथापि अनुभव-सिद्ध है कि जो गुरु सम्बद्ध-असम्बद्ध सर्वविध शंकाओं का समाधान कर पाते हैं, उनके उपदेश को अधिक श्रद्धा और सावधानी से सुना-माना जाता है जबकि जो यों शंकायें दूर न कर सकें उनके ठीक, संगत उपदेश भी उतनी गम्भीरता से नहीं ग्रहण किये जाते। किं च शिष्य की बुद्धि अनियंत्रित है अतः उसे, चाहे अनर्गल ही सही, यदि कोई प्रश्न उठा तो उसके उत्तर के बगैर वह क्योंकि उसी सन्दर्भ में उलझा रहेगा इसलिये बाकी का उपदेश ग्रहण नहीं कर पायेगा। नियंत्रित बुद्धि वाला तो प्रश्न उठने पर भी उसे कालान्तर में समाधेय के रूप में चित्त में निहित कर सकता है पर

अन्तर्याम्येक एवेशः स च सर्वं नियच्छति।
अधीयन्ते पृथिव्यादौ स्थितं वाजसनेयिनः।।१५।।

अशिक्षितमति वैसा नहीं कर पाता अतः उसे तत्काल उत्तर मिलने का महत्त्व है। उपनिषत् ने उत्तर तो सुझाया लेकिन इस ढंग से कहा कि एकाएक किसी की समझ में नहीं आता, अतः इसका विवेचन आचार्य करने जा रहे हैं।।१४।।

जटिल समस्याओं को सुलझाने का खास ढंग दिखाते हुए आचार्य विद्यारण्य पहले स्पष्ट प्रतिज्ञा द्वारा संक्षेप में निर्णय बताकर तब विस्तार से विवरण आरंभ करते हैं। समस्या कठिन है ही, अगर समाधान भी कठिन ही रहा तो समझना अतिकठिन हो जायेगा। अतः उसे यथासम्भव सरल शब्दों में व्यक्त करने के पश्चात् उसकी सूक्ष्मताओं से परिचय कराना चाहिये यह आचार्य का तात्पर्य है। पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर में श्रुत्यन्तर-संवाद भी दिखाते हैं ताकि तथ्यको समग्रता से ग्रहण किया जाये **अन्तर्यामी एक ही ईश्वर है और वह सबको नियन्त्रित रखता है। वाजसनेयशाखा वाले पढ़ते हैं कि वह पृथ्वी आदि में मौजूद है।।१५।।** अनेक ईश्वर वाला पक्ष तो सीधे ही निरस्त कर दिया कहकर कि वह एक है। 'कानका कान' आदि ढंग से बताने का भाव व्यक्त किया कि यहाँ अन्तर्यामी रूप का उपदेश है। उपाधियों में रहकर, उपाधियों से एक होकर उन्हें प्रवृत्त करनायह अन्तर्यामिता है। बाहरी शासन का प्रसंग यहाँ नहीं लाया गया। यद्यपि हमें लगता है मानो ज़बर्दस्ती हमसे करवाया जा रहा है तथापि कराने वाला अपने से पृथक् नहीं प्रतीत होता बल्कि अपने में ही कोई अंश लगता है जिसकी वजह से हम करते भी हैं और एक अंश रहता है जो नहीं चाहता कि वैसा करें। वह अंश कामना, क्रोध, ज़िद, शिक्षा आदि कुछ भी लगे लेकिन हमसे सर्वथा विलग नहीं लगता क्योंकि परमेश्वर का यह अन्तर्यमन है, भीतर रहकर प्रेरणा देना है। बुद्धि, भावना, मोह, संस्कार आदि अनेक रूपों में हम प्रेरक को देखते हैं किन्तु सदा स्वयं से एकमेक पाते हैं। यही रहस्य है कि एक, समानभाव से प्रेरक रहता भी ईश्वर सारी विविधता का हेतु बना रहता है। प्रेर्यमाण उपाधियों की विविधता से भेद है, प्रेरक में भेद नहीं, आवश्यकता भी नहीं। जैसे एकरूप बिजली समान-भाव से प्रेरक बनकर पंखा, लट्टू आदि में विविध प्रवृत्ति करा लेती है वैसे समझ सकते हैं। बिजली उपाधियों पर (उपकरणों पर) बाहरी नहीं भीतरी नियंत्रण करती है, बिजली रहे तो वे चलेंगे, अन्यथा नहीं चलेंगे, ऐसे ही यहाँ अन्तर्यामी का नियंत्रण बता रहे हैं। इस स्वरूप की शास्त्र-प्रसिद्धि शुक्ल यजुर्वेद की उपनिषत् में

स्थित्वा मनस्यान्तरोऽस्माज्ज्ञायते मनसा न सः।
मनस्तस्य शरीरं स्यान्नियच्छत्यान्तरो मनः।।१६।।
एवं श्रुतः स सर्वेषु प्राणवागादिवस्तुषु।
अन्तः प्रविष्टः शास्ताऽयमिति श्रुत्यन्तरं जगौ।।१७।।

'अन्तर्यामी-ब्राह्मण' नामक प्रसंग में उपलब्ध है। बृहदारण्यक ३.७ में उद्दालक आरुणि ने याज्ञवल्क्य से अन्तर्यामी के बारे में पूछा तो उन्होंने जवाब में कहा कि जो पृथ्वी, जल, अग्नि, अंतरिक्ष, वायु, द्यु, आदित्य, दिशा, चन्द्र-तारे, आकाश, अँधेरा, तेज (शास्त्रीयज्ञान), सभी भूत, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान, रेतस्-इनमें रहता है, इनके भीतर है, जिसे पृथ्वी आदि सभी नहीं जानते पृथ्व्यादि जिसके शरीर हैं, वह इन्हें भीतर से नियंत्रित करता है। वहाँ भाष्यकार ने समझाया है कि जिसे नियंत्रित करना है उसी को परमेश्वर उपाधिरूप से प्रयोग में ले लेते हैं अर्थात् नियमन करने के लिये परमेश्वर को कोई अलग उपाधि नहीं चाहिये। अतः 'ईश्वरसाक्षिमात्रसान्निध्येन हि नियमेन प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याताम्' (भाष्य) ईश्वररूप साक्षी की मौजूदगी ही काफी है कि उपाधियाँ अनुरूप चेष्टा करें। अन्तर्यामी एक ही है, यह भी वहाँ स्पष्ट किया है। उपाधियों की योग्यता के फ़र्क़ से चेष्टाओं का फ़र्क़ भी संगत होता है। सत्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति का भेद है लेकिन भेदक उपाधि है न कि प्रेरक, यह भाव है। पुनरपि पूर्वोक्त भेदवाद की प्राप्ति नहीं होती कि अर्हिमान या शैतान की जगह उपाधि आ गयी, क्योंकि उपाधि अवास्तविक आरोपमात्र है। सत् हो या असत्-दोनों मिथ्याभूत उपाधि के स्तर के भेद हैं, जो सत्य है वह तो प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों से परे है। मतान्तर में ईश्वर की सत्ता की बराबरी वाला विरोधी है जबकि वेदान्त में नहीं, यह भाव है।।१५।।

केन में कहे श्रोत्रादि सभी उक्त अन्तर्यामी ब्राह्मण में आये हैं अतः सबके प्रतिनिधिरूप में मन ग्रहणकर उसकी अन्तर्यामी-नियंत्रितता व्यक्त करते हैं **इस मनके भीतर रहकर जो मन से जाना नहीं जाता, मन उसका शरीर है, वह अन्दर स्थित तत्त्व मनको नियंत्रित करता है।।१६।। इस प्रकार प्राण, वाक् आदि वस्तुओं के भीतर उसकी उपस्थिति वेद में सुनी गयी है। दूसरी जगह वेद में कहा है कि यह अन्दर घुसा हुआ प्रशासक है।।१७।।** 'मनके भीतर' होने से निश्चित है कि वह मन नहीं है जैसे लट्टू में होने पर भी बिजली लट्टू नहीं है। उपहित उपाधिरूप नहीं होता। किंच, मन उस साक्षीको जान नहीं सकता कि 'मेरा यह

शासक, प्रकाशक है'। मनके सम्बन्ध से कही बात जीव में भी समझनी चाहिये कि वह हमारे अंदर हैं। हमें चला रहा है पर हम उसे कुछ भी नहीं समझ पाते! हमारा मन ही उस अंतर्यामी का शरीर हैयह स्थिति उसे और दुर्लक्ष्य बना देती है। अगर मनोभिन्न होता तो मनका विषय बन जाता और घटादि की तरह समझ आ जाता पर पहले मन ही समझना कठिन और यह वह है जिसके प्रति मन भी केवल शरीर का काम कर रहा है अतः यह और भी सूक्ष्म हो गया। जैसे लोक में उपकरण समझने की अपेक्षा 'बिजली क्या है'यह समझना कठिन है वैसे अंतर्यामी समझना कठिन है। मन के प्रति प्रत्यग्रूप होने से मन उसे नहीं जानता, विषयों की तरह अन्तर्यामी को नहीं समझ पाता। हालाँकि अंततः समझेगा मन ही लेकिन वैसे नहीं जैसे घटादि को समझता है।

शतपथकी तरह तैत्तिरीय आरण्यक (३.११) में भी परमात्माका अन्तर्यामी रूप बताया है। अनेक मंत्रों का 'हृदय' अर्थात् रहस्यभूत प्रतिपाद्य बताने के लिये प्रवृत्त उस अनुवाक में प्रारम्भ किया 'सुवर्णं धर्मं परिवेद वेनम् इन्द्रस्यात्मानं दशधा चरन्तम्। अन्तःसमुद्रे मनसा चरन्तम् ब्रह्मान्वविन्ददद् दशहोतारमर्णे।। अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् एकः सन् बहुधा विचारः। शतं शुक्राणि यत्रैकं भवन्ति सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति।। सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ति स मानसीन आत्मा जनानाम्। अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा सर्वाः प्रजा यत्रैकं भविन्त।।' मंत्रद्रष्टा कहते हैं कि इन्द्र अर्थात् परमेश्वर का जो सुवर्ण-सा स्वप्रकाश और धर्म अर्थात् अन्यों का प्रकाशक जो वेन अर्थात् कमनीय आत्मा अर्थात् स्वरूप है उसे मैं परिवेद अर्थात् सर्वत्र अवस्थित समझता हूँ। दस अर्थात् अनेक तरह से वही विचरण कर रहा है। सृष्टि से पूर्व जो जल अर्थात् कर्म-समेत सूक्ष्मभूतसमूह था उसी में व्याप्त रहकर उस परमात्मा ने मन से विचार किया कि सृष्टि करूँ। उस अर्ण अर्थात् जल में ब्रह्मा अर्थात् प्रजापति ने 'दशहोता' अर्थात् दशहोतृमन्त्रों से प्रतिपाद्य परमात्मा का ही 'अन्वविन्दत्' दर्शन किया। वह परमात्मा भीतर घुसकर सब लोगों का प्रशासन कर रहा है। एक रहता हुआ ही नाना प्रकार से विचरण कर रहा है। सैकड़ों (शुक्र) प्रकाश उससे अभिन्न हैं। सभी वेद एकमत से उसमें तात्पर्य वाले हैं। सब यजमान उसीके आराधक हैं। लोगों का वह आत्मा 'मानसीन' अर्थात् योगयुक्त मन से उपलभ्य है। सबमें प्रवेशकर सबका वह शासक सर्वात्मा भी है, सारी प्रजायें उसमें एकमेक हो जाती हैं। आगे वहीं उसी की जीवरूपता बतायी है 'अन्तः प्रविष्टं कर्त्तारम् एतम्' इत्यादि तथा हमेशा हमारे साथ

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म वेदेषु वर्णितम्।
तदेव मायासंयोगादीश्वरत्वं प्रपद्यते।।१८।।

होने पर भी हम इसे जान नहीं पाते 'सहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः!' (३.११.५) इस प्रकार कृष्णयजु में भी अन्तर्यामी का विवरण होने से 'श्रोत्रका श्रोत्र' आदि से वही समझना संगत है।।१६-१७।।

श्रोत्रस्यादि केन का भाव और उसमें शाखान्तर का समर्थन दिखा चुके। अब विवेचन प्रारंभ करते हैं **वेदों में वर्णित जो सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म वही माया-सम्बन्ध से ईश्वरभाव पा जाता है।।१८।।** शब्दभेद के बावजूद ब्रह्म और ईश्वर में वस्तुकृत भेद नहीं है। सत्यादिस्वरूप ब्रह्म ही माया-संबंध की दृष्टि से ईश्वर कहा-समझा जाता है, ब्रह्म में ही ईश्वरता का व्यवहार होता है। ईश्वर की सत्यतादि यथावत् हैं, माया-सम्बन्ध के अभिप्राय से शब्दभेद है। ईश्वरभाव को पाया ब्रह्म ही सबको नचा रहा है। सारा संसार उसीका मानो शरीर है। माया अर्थात् अज्ञान; अज्ञान ही क्योंकि हमें ठग-सा लेता है इसलिये माया कहा जाता है। लोक में भी जिस बारे में हम समझते नहीं उसी में ठगे जाते हैं। हमारे अज्ञानका ही ठग ऐसा प्रयोग करते हैं कि हम धोखा खा जाते हैं, यही ठगों की कुशलता, उनकी माया कहलाती है। हमारा अज्ञान और उनकी माया कोई अलग चीज़ें नहीं, एक ही है। गाँव वाले बिजली के उपकरणों के बारे में नहीं समझते तो ठग उन्हीं के द्वारा ग्रामीणों को ठग लेते हैं, यन्त्रसिद्ध कार्य को चमत्कार के रूप में दिखाते हैं। ऐसे ही जो रसायन नहीं समझते उन्हें रसायन-प्रयोग से ठगा जा सकता है। सभी लोग किसी-न-किसी स्तर पर पहुँचकर अज्ञानी हैं, नहीं जानते; दो-चार-छह कोटियों तक जानने वाले भी आगे की कोटि पर कहते हैं 'यह तो पता नहीं।' इससे वेदान्ती मानता है कि सब चीज़ों का अंतिम कारण अज्ञान है। इसी अज्ञानरूप माया को जो मायिक ही सम्बन्ध अर्थात् अनिर्वाच्य, अवास्तविक सम्बन्ध उसी से ब्रह्म का 'ईश्वर' ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरह 'जीव' ऐसे व्यवहार का हेतु भी वही अज्ञान है, ब्रह्म में ही जीवत्व का भी अध्यास है। इसीलिये जीव-ईश्वर यह विभाग मायिक बताया जाता है जो परमार्थ सत्य ब्रह्म पर कल्पित है।।१८।।

उक्त माया को स्वीकारना और उसीसे ईश्वरभाव मानना शास्त्रानुकूल है। माया स्वयं प्रामाणिक तो हो नहीं सकती लेकिन अनुभूयमान है ही, अर्थापत्ति से समर्थित है और वेदकी प्रक्रिया के अनुकूल होने से अंगीकार्य है। इसी उद्देश्य से माया के सन्दर्भ

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
पराऽस्य शक्तिर्विविधा ता मायाशक्तयोऽखिलाः।।१६।।

में वैदिक उल्लेख दिखाते हैं **माया को तो प्रकृति समझो, माया वाले को तो महेश्वर समझो। इसकी उत्तम सामर्थ्य नाना प्रकार की है, वे प्रकार सब माया शक्तियाँ हैं।।१६।।** 'मायां महेश्वरम्' श्वेताश्वतर ४.१०, 'परास्य विविधा' श्वेताश्वतर ६.८ के उद्धरण हैं और 'ता खिलाः' से बृहदारण्यक २.५.१६ का यह वचन सूचित है 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश'। प्रकृति-शब्द से कही वस्तु ही वेदान्तों में माया-शब्द से कही जाती है। संसाररूप खेल करना मायाका कार्य है। प्रकृष्ट कृति करते रहने से ही वह प्रकृति है। बिना रुके ज़्यादा-ज़्यादा कृति करना इसका स्वभाव है। माया द्वारा ब्रह्म नयी-नयी समस्या बनकर सामने आता ही रहता है, यदि सोचें कि सब समस्याओं का समाधान या किसी समस्या का स्थायी समाधान निकल जायेगा, तो दुःखी रहेंगे क्योंकि ऐसा कभी होगा नहीं। इस प्रकृति के अधिष्ठाता को जानकर इस गोरख-धन्धे से निकल तो सकते हैं, अज्ञान दूर करके माया के क्षेत्र से परे तो जा सकते हैं, लेकिन इसके भीतर इसे व्यवस्थित नहीं कर सकते। इस पर नियंत्रण ईश्वरका ही है और रहेगा, जीव का न है, न होगा। परमेश्वर को न जानने तक ही माया सब कार्य करती है। जानने योग्य मया नहीं वरन् इसे चलाने वाला आत्मा ही है। अध्यात्म या वैदिक दृष्टिकोण और अधिभूत या वैज्ञानिक दृष्टिकोण में यह आधारभूत फ़र्क़ है कि एक आत्मोन्मुख हैं व दूसरा अनात्मोन्मुख है। वैदिक जितनी प्रगति करता है उतना शान्त होता है, बहिर्मुख की प्रगति अशांति बढ़ाती है। परमात्माकी तरफ बढ़ने से सुखी होते जाते हैं। माया को बढ़ाने से दुःखी होते जाते हैं। सामान्य व्यवहार में भी यह अंतर प्रत्यक्ष है। परमेश्वर-केन्द्रित जीवन में साधन (उपकरण) तो सीमित रहते हैं लेकिन सुख-शांति-चैन रहता है जबकि संसार-केंद्रित जीवन में साधन असीम हो सकते हैं पर सुख-शांति-चैन का नामो-निशान नहीं रहता। परमात्मा की ओर बढ़ने पर सुविधायें कुछ नहीं मिलेंगी, सुविधाओं का रास्ता ही दूसरा है! उसमें तो सुविधाओं का त्याग करना है। स्वामी विवेकानन्द ने एक जगह कहा है कि हम हिन्दू इस बातका प्रयोग करते रहे कि कितने थोड़े में काम चल सकता हैयह आधारभूत दृष्टि है। जितनी कम सहायता से हम जी सकते हैं वह हमारी महत्ता है। आज दृष्टि है कि हमारे पास कितनी ज़्यादा सुविधायें हैं उससे हमारी महत्ता है। हिन्दू की दृष्टि में आदर के योग्य वह बनता है जो कम-से-कम में संतुष्ट

मायाभिरीशो बहुधा भाति सर्वेषु वस्तुषु।
श्रोत्रशक्तिमुपादाय श्रोत्रं सृष्ट्वाऽत्र भात्यसौ।।२०।।

है जबकि गैर हिंदू दृष्टि उसे महत्त्व का गिनती है जो ज़्यादा-से-ज़्यादा में भी असन्तुष्ट होकर और हासिल करने के लिये उत्साहित रहता है। आज यद्यपि हिंदुस्तान में भी ऐसी दृष्टि घर कर रही है तथापि मूलरूप से यह हिन्दू संस्कृति की सोच नहीं है। अत एव आधुनिकता में उपभोग करना भी एक सिद्धांत बना लिया गया है, जो उपभोक्ता नहीं उसे आधुनिकता का विरोधी मानते हैं। उपभोगवृद्धि के प्रभाव से ही प्राकृतिक संसाधनों का अनर्गल दोहन, अपशिष्ट की मात्रा में बेतहाशा बढ़ोतरी, आर्थिक स्रोतों का संकुचित नियंत्रण तथा स्पर्धा आदि क्लेशात्मक परिस्थितियाँ पनपती जा रही हैं। इसलिये श्रुति ने सावधान किया कि जिसका विस्तार यह संसार है वह माया है, उसका कार्य ही ठगना, धोखा देना है, उससे यथासंभव बचने में ही लाभ है, उसके दाव-पेंच समझने का प्रयास निरर्थक है। वास्तविकता समझनी तो है उसकी जिसका माया पर नियंत्रण है, मायी महेश्वर की विद्या तो पुरुषार्थप्रद है। श्वेताश्वतर में इसके अगले (४.११) ही मंत्र में कहा है 'तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति' कि स्तवनीय, वरप्रद, ईशान (प्रशासक), देवका निश्चय करके ही अत्यंत शांति मिलती है।

श्लोकोक्त द्वितीय उद्धरण में उसी मायाका वैविध्य कहा है। मंत्र है 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' परमेश्वर के कार्य-करण नहीं हैं, 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' उसके बराबर और उससे अधिक कोई दीखता नहीं, 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' उसकी परा शक्ति नाना प्रकार की सुनी गयी है 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' जो स्वाभाविक है और ज्ञान, इच्छा और क्रिया के रूप में व्यक्त होती है। श्रोत्र का श्रोत्र आदि कहने पर हमें जिस भी तरह की सामर्थ्य उपलब्ध है, सभी अंतर्यामी की ही स्वभावसिद्ध शक्ति है अतः उस शक्ति में इन सभी प्रकारों से व्यक्त होने की योग्यता अंगीकार्य है। फिर भी परमेश्वर में शक्ति है एक माया ही, भेद तो उसी माया के हैं; यह चतुर्थ पाद में कहा। तदनुसार श्रोत्रादिका ही भेद है, उनका जो श्रोत्रादि, विभिन्न शब्दों से कहा गया है, वह अभिन्न है यह भाव है।।१९।।

उक्त जो एक की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ, उन्हीं को स्पष्ट करते हैं **ईश मायाशक्तियों द्वारा सभी वस्तुओं में बहुत तरह से प्रतीत होता है। सुनने की शक्ति ग्रहण कर श्रोत्र बनाकर वह (ईश) उसमें (श्रोत्रमें) प्रतीत होता है।।२०।।** 'मायाभिः' यों

येन शब्दः श्रूयते तच्छ्रोत्रं श्रोत्रत्वमस्य यत्।
तस्येशशक्त्या सृष्टत्वाच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमीश्वरः।।२१।।
व्याकृताऽव्याकृताकारौ यौ श्रोत्रस्य तयोरिदम्।
श्रोत्रं व्याकृत आकारः शक्तिरव्याकृताभिधा।।२२।।
तच्छक्त्युपहितत्वेन ब्रह्मापि श्रोत्रमुच्यते।
शृणोत्यकर्ण इत्युक्तं श्रोत्रशक्तियुतत्वतः।।२३।।

बहुवचन उसकी शक्तियों के आनन्त्यकी दृष्टि से है। परमेश्वर सभी चीज़ों में प्रतीत होता है अतः नाना तरह से उसकी उपलब्धि है पर सम्भव यह इसीलिये है कि माया में असंख्य शक्तियाँ हैं जिनके प्रयोग से परमेश्वर असंख्य तरह का मिलता रह सकता है। दृष्टान्त से समझाते हैंपरमेश्वर पहले श्रोत्र बनाता है उसी माया से जिसमें सुनने की शक्ति है; फिर कान में जो सुनने की शक्ति उपलब्ध होती है उस रूप में परमेश्वर उपलब्ध हो जाता है। कान में जो सुनने की शक्ति है वह वास्तव में परमेश्वर की मायाशक्ति ही है लेकिन उसकी सिर्फ़ सुनने की शक्ति वहाँ व्यक्त है। माया क्योंकि परमेश्वर की ही शक्ति है और शक्ति बिना शक्तिमान् के न रह सकती है, न प्रकट (कार्यकारी) हो सकती है इसलिये कान में सुनने की सामर्थ्य के रूप में परमेश्वरकी उपस्थिति सिद्ध होती है। कान के दृष्टांत से कही बात आँख आदि में तो है ही, सारे संसार की सभी चीज़ों में इसी तरह परमेश्वर की प्रत्यक्ष उपस्थिति समझें यह केन उपनिषत् का अपूर्व उपदेश है।।२०।।

जैसे आँख-नाक-हाथ-पैर आदि से विभिन्न तरह प्रकट होता हुआ भी जीव एक बना रहता है वैसे सभी उपाधियों से सब तरह प्रकट होता ईश्वर भी एक ही है यह समझाकर अब बताते हैं कि श्रुति में ‘श्रोत्रका’ से क्या कहा और श्रोत्रका जो ‘श्रोत्र’ बताया वह क्या है **जिस (करण) से शब्द सुना जाता है वह श्रोत्र है। इसका जो श्रोत्रत्व (श्रोत्रपना, जिसके कारण यह श्रोत्र कहा-समझा जाता है) वह ईशकी शक्ति से उत्पादित होने के कारण ईश्वर श्रोत्रका श्रोत्र है।।२१।। श्रोत्रके जो व्यक्त (करणरूप) और अव्यक्त (कारणरूप) आकार हैं उनमें यह (अर्थात् सुनने वाला) व्यक्त आकार है जबकि शक्ति वह आकार है जिसे अव्याकृत कहते हैं।।२२।। उस शक्तिरूप उपाधिकी दृष्टि से ब्रह्म भी श्रोत्र कहलाता है। उक्त श्रोत्रनामक शक्ति से सम्पन्न होने के कारण वेद में कहा गया है कि परमात्मा बिना कान के सुनता है।।२३।। (केन वाक्य में) षष्ठी विभक्तिके बोधक प्रत्यय**

षष्ठ्यन्तं करणं तस्य प्रथमान्तं प्रवर्तकम्।
मनसो मन इत्यादावयं न्यायः समीक्ष्यताम्।।२४।।

वाले श्रोत्र शब्द से करण एवं प्रथमा विभक्तिके बोधक प्रत्यय वाले श्रोत्र शब्द से उस करण को प्रवृत्त करने वाले परमात्माको कहा गया है। 'मनका मन' इत्यादि वाक्यों में (भी) इस ढंग से समझ लिया जाये।।२४।। केन में 'श्रोत्रस्य' अर्थात् 'कानका' और 'श्रोत्रम्' अर्थात् 'कान'यों दो श्रोत्रादि शब्द आये हैं अतः दो अर्थ बताये : एक तो इन्द्रियरूप श्रोत्र प्रसिद्ध है; उसका जो श्रोत्र कहा वह है प्रेरकरूप परमात्मा। वास्तव में परमात्मा की जो शक्ति करणरूप श्रोत्र को इस लायक बनाती है कि यह सुन सके, वही श्लोक में 'श्रोत्रत्व' कही गयी है। जैसे बिजली की ही शक्ति पंखे को चलने में समर्थ बनाती है अतः पंखापना उसे कह सकते हैं, वैसे प्रकृत में भी है। जैसे पंखे आदि उपकरणों का भेद उनमें व्यक्तिगत है, सभी में मूलशक्ति बिजली की है जो एकरूप है, वैसे यहाँ इंद्रियादि के वैयक्तिक योग्यता-भेद के रहते ही आत्माकी शक्ति एकरूप है। आगे प्रश्न होता है कि करणरूप श्रोत्र में वह शक्ति पहुँची कैसे? इसके उत्तर में कहा कि वह उत्पन्न ही ईश की शक्ति से हुआ है इसलिये जैसे मिट्टी से बने घड़े में मिट्टी की शक्ति रहेगी ही वैसे श्रोत्र में सुनने की शक्ति रहना सहज है। पुनः प्रश्न होता है कि एकरूप शक्ति से श्रोत्र-मन-वाक्-प्राण-चक्षु आदि विभिन्न सामर्थ्यों वाले करण कैसे बने? इसके उत्तर के लिये पहले ही कह चुके हैं कि माया की असंख्य शक्तियाँ हैं। जैसे मिट्टी से ही दर्पण, पारदर्शी काँच, घड़ा ईंट आदि विभिन्न सामर्थ्य वाली चीज़ें बनती हैं वैसे समझना चाहिये। मिट्टी की अभिन्नता की तरह माया की अभिन्नता भी संगत है।

इस प्रकार श्रोत्रके दो स्तर (आकार) हुएएक व्याकृत या व्यक्त, दूसरा अव्याकृत या अव्यक्त। जहाँ नाम-रूप-कर्म का विभाजन हो उसे व्याकृत कहते हैं एवं ऐसे विभाजन से रहित को अव्याकृत कहते हैं। इंद्रियरूप में श्रोत्र यह नाम है, तदनुकूल रूप है एवं सुनना इसका अपना कर्म है अतः इंद्रिय व्याकृत है। यहाँ व्याकृत से गोलक नहीं समझें इसके लिये श्लोक २४ में मूलकार ने ही 'करणम्' कहा है। श्रोत्र का अव्याकृत आकार वह शक्ति है जिससे यह श्रोत्र बनता है। सुषुप्ति में वही आकार रह जाता है, व्याकृत आकार उसी में विलीन हो जाता है। अव्याकृत शब्द वेदादि शास्त्रों में माया के लिये प्रचलित है अतः बताया कि यहाँ कही शक्ति वही है जिसे अव्याकृत कहा जाता है। यद्यपि 'श्रोत्र का श्रोत्र' यों कहे दूसरे श्रोत्र-शब्द से शक्ति

ईश्वरः प्रेरकः

एकत्वेऽपीश्वरस्येत्थं तच्छक्तीनां बहुत्वतः।
विलक्षणाऽनन्तवस्तुप्रेरणं संभविष्यति।।२५।।

बतायी गयी तथापि शक्ति परतंत्र वस्तु होने से शक्तिमात्र विवक्षित नहीं वरन् शक्तिमान् अभिप्रेत है अतः कहा 'ब्रह्माऽपि उच्यते।' शब्द अभिधा से शक्ति को कहकर तात्पर्य वृत्ति से ब्रह्मको कहता है अतः 'अपि' या 'भी' कहा। शक्तिमान् ब्रह्मको शक्ति से उपहित कहा। उपाधि से जिसका परिचय मिलता है उसे उपहित कहते हैं। उपाधि अर्थात् वास्तव में असम्बद्ध और अप्रभावी रहकर भी उपहित का उपाधि-सम्बद्ध रूप से व्यवहार कराने वाली, उपहित को प्रभावित प्रतीत कराने वाली वस्तु। जैसे स्फटिक लाल दीखे यह संभव करने वाला लाल फूल उपाधि है। शक्ति अर्थात् माया यद्यपि ब्रह्म से सचमुच में सम्बद्ध नहीं और उस पर कोई प्रभाव भी नहीं डालती तथापि ब्रह्म शक्तिमान् और कारणादि सप्रपंच रूप से प्रतीत होता है अतः शक्ति उपाधि है। सुनने की शक्ति भी परमेश्वर की उपाधि है जिससे परमेश्वर को श्रोत्र कह दिया। उसकी इस औपाधिक सामर्थ्य से ही अन्यत्र (श्वे. ३.१९) उसे बिना कानों के सुनने वाला कहा गया है। प्रेरित होने वाले कानों पर निर्भर न रहकर सुनता हैइतना ही तात्पर्य है, न कि वह स्वरूप से सुनने वाला है। इसी रीति से प्रकृत केनवाक्य में श्रोत्रस्य-मनसः-वाचः-प्राणस्य-चक्षुषः यों जो षष्ठी विभक्ति वाले श्रोत्रादि शब्द हैं वे प्रवृत्त होने वाले करणों का कथन कर रहे हैं तथा श्रोत्रम् आदि प्रथमा विभक्ति वाले शब्द प्रवृत्त करने वाले परमात्मा, अन्तर्यामी को कह रहे हैं। 'कानका कान'इनमें 'कानका' यह षष्ठ्यन्त कान शब्द है जो करण (इंद्रिय) का बोधक है और दूसरा 'कान' शब्द प्रथमान्त है जो अन्तर्यामी का बोधक है। 'कानका कान' आदि का अर्थ है इन्द्रिय-मन-प्राणों का प्रवर्तक। 'मनसो मनः' अर्थात् 'मनका मन'यहाँ भी मनोरूप अंतरिन्द्रिय का प्रवर्तक। ऐसे ही सभी उक्त इंद्रियादि एवं अनुक्त भी प्रवर्त्यों के बारे में समझ लेना चाहिये।।२१-२४।।

प्रवृत्ति-वैलक्षण्य के आधार पर प्रवर्तक की एकता के बारे में उठे (श्लोक. १३) प्रश्न का यों समाधान हो गया यह निगमन करते हैं **इस प्रकार ईश्वर एक होने पर भी उसकी शक्तियों की बहुतायत के चलते सम्भव हो जायेगा कि विलक्षण और असंख्य वस्तुओं का प्रेरण हो।।२५।।** ईश्वर चेतन होने से एक ही होना संगत है और शास्त्र ने भी उसे एक ही बताया है। उसकी माया नामक उपाधि में अनंत

शक्तियाँ हैं, अनन्त कार्य सम्पन्न करने की सामर्थ्य है। इसी से एक रहते हुए भी परमेश्वर सभी वस्तुओं को नाना प्रकार के कार्यों में प्रेरित कर पाता है। हम एक हैं, हमारी बुद्धि ब्राह्म मुहूर्त में जग जाने की चेष्टा करती है, हमारा मन तब भी सोने की चेष्टा करता है; दोनों की परस्पर विरुद्ध प्रवृत्तियाँ हैं लेकिन दोनों का प्रवर्त्तक तो एकमात्र हम ही हैं! एक रहते हुए ही उपाधि की विभिन्न वृत्तियों से विभिन्न चेष्टाएँ कर लेते हैं। विवाह के बाद मन से पीहर में रहना चाहते हुए भी बुद्धि से ससुराल जाना चाहने वाली लड़की तो एक ही होती है। स्वयं को सुधारने के सभी प्रयासों में यह द्वैध प्रत्यक्ष होता है, मन ग़लत आदत रखना चाहता है, बुद्धि उसे छोड़ना चाहती है। जो वृत्ति बलवान् होगी वह जीत जायेगी। यदि मन जीता तो बाद में भले ही हम दुःखी हों, पश्चात्ताप करें, लेकिन आखिर मन को भी जीतने की सामर्थ्य दी किसने थी? हमने ही! इसी तरह दानवों को जीतने की सामर्थ्य को अलग ईश्वर नहीं देता, जो देवों को जिताता है वह राक्षसों को भी जिताता है लेकिन फ़र्क़ ईश्वर या उसके सामर्थ्य प्रदान में नहीं वरन् देवों या दानवों की ताकत में है। जो जब ज़्यादा ताकतवर होगा वह तब दूसरे को दबा लेगा। जैसे हमारा स्थिर पक्ष बुद्धि वाला होता है, मन, वाला नहीं, ऐसे परमेश्वर का पक्ष देवों वाला है, असुरों वाला नहीं। यह केन में ही आने वाली आख्यायिका में व्यक्त भी है। प्रश्न होगा कि हम तो अनीश हैं इसलिये मन की करके पछता भी लेते हैं लेकिन ईश्वर सर्वज्ञ समर्थ है, वह पछता तो सकता नहीं, उसकी इच्छा के विपरीत कहीं कुछ हो सकता नहीं, यदि वह देव-पक्ष वाला है तो असुर-पक्ष कैसे जीत पाता है? उत्तर है कि जैसे हमारी अनीशता वैसे परमेश्वर की समता, तटस्थता, निष्पक्षता यह संभव कर देती है कि उसके बनाये नियमों के पालन से प्रगति होती रहे। आसुर-सम्पत् 'निबंध' के लिये है अतः असुरों की 'प्रगति' की वही दिशा होगी, दैवी सम्पत् की प्रगति की दिशा 'विमोक्ष' की ओर होगी। किंतु यथानियम प्रयास करने वाले को सामर्थ्य देना रोके ऐसा अन्याय परमेश्वर नहीं करता। दुरुपयोग अर्थात् धर्म-विरुद्ध उपयोग का प्रभाव दुःख अवश्य देगा लेकिन पाप करने में रुकावट नहीं डालेगा क्योंकि समभाव कायम रखता है। इसमें उसकी निष्ठुरता नहीं क्योंकि शास्त्र-गुरु आदि द्वारा लगातार सावधान करता रहता है ताकि जीव स्वयं विकसित होकर स्वतंत्र बने। यदि बलात् बुराई रोककर अच्छाई कराता तो जीव को बन्धक बनाये रखने की स्थिति होती जो निष्ठुरता कही जाती। अभी तो करुणापूर्ण न्यायशीलता ही है।।२५।।

अक्षाधिष्ठातृदेवेषु जीवेष्वक्षेषु चेश्वरः।
अन्तर्यामितया स्थित्वा नियच्छति यथातथम्।।२६।।

केन में श्रोत्रादि ही कहे लेकिन अंतर्यामी ब्राह्मण के अनुसार यहाँ सभी प्रवर्त्त्य विवक्षित हैं यह बताते हैं **इंद्रियों में, उनके अधिष्ठाता देवताओं में एवं सभी जीवों में अंतर्यामी रूप से रहकर ईश्वर ठीक-ठीक नियंत्रण करता रहता है।।२६।।** जैसे इन्द्रियादि तत्तत् उपाधियों को सामर्थ्य देता है वैसे उनके अभिमानी जीवों को भी वही सामर्थ्य देता है। जीवों में ही कुछ हैं जो इंद्रियादि के अधिष्ठाता हैं, बाकी केवल अपने 'क्षेत्र' के अभिमानी हैं। दोनों जीव ही हैं, अधिष्ठाता देवताओं का कार्यक्षेत्र बड़ा है, बाकी कां कम है, यह फ़र्क़ है। इंद्रिय में एक सामर्थ्य सीधे ईश्वर से प्राप्त है जिससे वह देखने में सक्षम है, या सुनने में सक्षम है आदि, और दूसरी सामर्थ्य अधिष्ठाता देवताके माध्यम से प्राप्त है। जिससे वह अपनी उस क्षमता को व्यक्त कर पाती है। अधिष्ठाता देवता यदि अपनी सामर्थ्य न दे तो आँख देख नहीं पायेगी, भले ही उसकी दर्शन सामर्थ्य बनी रहे। कुछ उस तरह समझ सकते हैं जैसे बैंक में लॉकर दो चाबियों से खुलता है, एक लॉकर जिसने किराये पर ले रखा है उसकी और दूसरी बैंक-प्रबंधक की। एक सज्जन कलकत्ता में थे जिनकी आँखों ने देखना छोड़ दिया, कोई इलाज कारगर नहीं हुआ। उनके घर जब वार्षिक दुर्गापूजा हुई तब भावविभोर होकर स्तुति करने लगे दुःखी होकर कि 'जन्मभर माँ का पूजन किया और आज उसका दर्शन करने लायक भी नहीं रहा!' प्रार्थना करते-करते ही उनकी रोशनी लौट आयी और जीवन-भर बनी रही। अधिष्ठाता देवता ने सामर्थ्य रोक रखी थी, देवीकी कृपा से देवता ने पुनः सामर्थ्य दे दी। आँख की सामर्थ्य तो यथावत् थी, अत एव देव-सामर्थ्य मिलते ही देखने लगी, किसी ओषधि आदि की ज़रूरत नहीं पड़ी। अधिष्ठाता देवों में भी है अन्तर्यामी वही ईश्वर, उसी का उन पर भी पूर्ण नियंत्रण है। 'ठीक-ठीक' अर्थात् ऐसा नियंत्रण कायम रहता है जो ईश्वर के स्थापित समग्र नियमों के अनुसार है। चाहे जितनी श्रेष्ठ उपाधि वाला हो, ग़लती का वह भी वैसा ही दण्ड पाता है जैसा कनिष्ठ उपाधि वाला और सही काम का फल छोटा भी वैसे ही पाता है जैसे बड़ा। किसके लिये क्या सही और क्या ग़लत हैयह परमेश्वर द्वारा निर्धारित है। मनुष्य के लिये सही को धर्म के रूप में शास्त्रों द्वारा परमेश्वर ने प्रकट किया अतः हम यह जान सकते हैं कि हमारे लिये क्या अच्छा-बुरा है पर इतने मात्र से अन्यों के बारे में निर्णय करने में हम समर्थ नहीं हो जाते! अतः अपने धर्मों

शक्तौ चिदाभासवत्यां स्थिता नियमनक्रिया।
तदधिष्ठानचैतन्ये नियन्तृत्वं प्रकल्पितम्।।२७।।

के पैमाने पर देव-ऋषि आदि को मापना ग़लत हो जाता है। नियम निर्धारित हैं, अटल हैं अतः इन्हें स्वयं परमेश्वर का शरीर मानते हैं तब उन्हें धर्मरूप में प्रणाम करते हैं 'तस्मै धर्मात्मने नमः'। क्योंकि उसी के बनाये हैं इसलिये वह स्वयं उनके अधीन हुए बगैर उनका पालन करता है। स्वतन्त्रता से वह नियमानुसार कार्य करता है। दूसरे के बनाये नियम अनिच्छा से मानने पड़ें तब परतंत्रता होती है, अन्यथा नहीं। इस तरह ईश्वर का स्वातंत्र्य, प्रेरकत्व, ऐक्य आदि उपपन्न है।।२६।।

अन्तर्यामी ईश्वर अर्थात् कारण ब्रह्म है, न कि निर्विशेष, इसे स्पष्ट करते हैं **नियंत्रित करना रूप क्रिया उस (माया) शक्ति में रहती है जिसमें चेतनका आभास है। उस शक्तिके अधिष्ठान चैतन्य में नियंत्रण-कर्तृत्व अध्यस्त है।।२७।।** नियंत्रित करना एक क्रिया है जिसे किसी क्रियावान् में रहना पड़ेगा। क्रियावान् वही होगा जो परिवर्तनशील है या परिच्छिन्न है क्योंकि क्रिया या परिणामरूप होती है या परिस्पन्दरूप। सच्चिदानंद ब्रह्म न परिवर्तनशील है न परिच्छिन्न अतः वह क्रियावान् हो नहीं सकता। नियमनादि क्रिया रहती है माया में। उस माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है अतः लगता है कि ब्रह्म ने क्रिया की। जैसे दर्पण के दागों का मुख पर आरोप हो जाता है वैसे माया की क्रिया का मायावी पर आरोप है। 'प्रतिबिम्ब है' का भी भाव स्पष्ट किया कि चैतन्य मायाका अधिष्ठान है, चैतन्य पर माया की कल्पना है। यह अनादि अध्यास है। जैसे रस्सी पर अध्यस्त सर्प रस्सी की सत्ता स्वयं में दिखाता है वैसे चेतन पर अध्यस्त माया (और मन) चेतन की चिद्रूपता स्वयं में दिखाती है, इसी का नाम माया (या मन) में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ना है। क्योंकि इस प्रतिबिम्बन के बगैर माया में नियमन क्रिया नहीं रहती इसलिये माया को स्वतंत्र रूप से नियामक नहीं कह सकते। क्योंकि माया के बगैर ब्रह्म में भी नियमन क्रिया नहीं रहती इसलिये अकेले ब्रह्म को भी नियामक नहीं कह सकते। अत एव मायोपाधिक को ही ईश्वर कहा जाता है। इस प्रकार 'किसके नियंत्रण में मन आदि हैं?' का उत्तर हुआ कि ईश्वर के नियंत्रण में मन आदि सारा संसार है।।२७।।

ईश्वर नियन्त्रक ही नहीं, मोचक भी है! उसके सोपाधिक रूपको, मायावीरूप को देखते रहें तो नियामक बना रहता है लेकिन उसके निजी रूप को, मायारहितरूपको देखने पर मोचक बन जाता है। इसीलिये सांसारिक उन्नति भी परमेश्वर से मिलती है

नियन्तृत्वोपाधिना यः परमात्मोपलक्षितः।
तम् इन्द्रियनिरोधेन धीराः पश्यन्ति योगिनः।।२८।।

और संसार से छुटकारा भी उसी से मिलता है। इस बात को केनोपनिषत् के ही द्वितीय मंत्रके बाकी भाग में कहा 'अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' अर्थात् धीर मायने परमात्मबुद्धि पा चुके साधक 'अतिमुच्य' मायने श्रोत्र आदि उपाधियों से तादात्म्य हटाकर 'अस्मात् लोकात्' मायने पुत्र-मित्रादि विषयों से 'प्रेत्य' मानो मरकर अमृत अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाते हैं। इस श्रुतिको समझाते हैं **नियमन-कर्तृत्वरूप उपाधि से जो परमात्मा उपलक्षित है उसे धीर योगी इन्द्रियों के नियंत्रण से देखते हैं।।२८।।** जैसे जगत्कारणत्व उपाधि, वैसे नियमनकर्तृत्व भी उपाधि है। ईश्वर के पाँच कृत्य प्रसिद्ध हैंउत्पादन, रक्षण, संहार, नियमन और मोचन। छांदोग्यादि में कारणत्व-प्रधान उपदेश है, इसीका जन्मादि सूत्र में विस्तार है, केन में नियामकत्वरूप उपाधि के सहारे परमेश्वर का परिचय कराया है। परमात्मा वही है, उस तक चित्त पहुँचाने के लिये उपयोगी उपाधि का ही अंतर है। वस्तुतः उपाधि भी एक माया ही है लेकिन उसकी शक्तियों में भेद है जिससे उत्पादकत्व आदि विभिन्न धर्म प्रतीत होते हैं। परमात्मा नियामक हैयों क्योंकि उसे समझ पाते हैं इसलिये उसे नियामकत्व से उपलक्षित कहा। श्लोक २३ में उपहित कहा था क्योंकि सविशेष का प्रसंग था, यहाँ उपाधि से उपलक्षित कहा क्योंकि निर्विशेष बताना है। स्वरूप से बहिर्भूत रहना तो उपाधि व उपलक्षण में एक-सा लेकिन उपाधि यावत्कार्यावस्थायी होती है जबकि उपलक्षण वैसा नहीं, कादाचित्क होता है। घड़ा आकाश की उपाधि है पर तब तक रहेगा ही जब तक घटाकाश में पानी आदि रखा जा सकेगा जबकि कौवा देवदत्त के घर का उपलक्षण है अतः 'कौवे वाला घर देवदत्तका है' यह बताते-बताते भी उड़ सकता है और घरकी पहचान करा चुके यह हो सकता है। माया उपाधि है ईश्वर की और उपलक्षण है ब्रह्मकी। ईश्वर को नियामक भगवान् ने भी कहा है 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।'१८.६१।। सब भूतों के हृदयदेश में रहता ईश्वर सारे भूतों को वैसे ही माया से घुमाता रहता है जैसे यंत्र (झूले) पर चढ़े लोगों को यंत्री (झूलाचालक) घुमाता है। उपाधि वाले परमेश्वर की आराधना, उपासना होती है, उससे उत्तमोत्तम फल मिलते हैं पर उसका अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता। अपरोक्ष तो उपलक्षित परमेश्वर का ही होता है और अपरोक्ष होने पर संसारबंधन समाप्त हो जाते हैं। जो उस उपलक्षित की प्राप्ति करना

अदर्शने त्वहंकारतादात्म्यं चिति कल्प्यते।
तादात्म्याध्यासतो जीवो भूत्वाऽसौ बंधमाप्नुयात्।।२९।।
अध्यासवारिका बुद्धिर्येषां धीरास्त ईरिताः।
बन्धान्मुक्त्वा वपुस्त्यक्त्वा ते स्युर्मरणवर्जिताः।।३०।।

चाहे वही धीर है। धी अर्थात् तत्त्वज्ञान में रमण करने वाला धीर है। हमेशा विचारपूर्वक सच्चिदानन्द परमात्मा में ही मन एकाग्र करना धीर का कार्य है। इसके लिये अत्यंत धैर्य अनिवार्य है, इसलिये धीर से धैर्यवान् भी कहा जाता है। धीर ही इंद्रियनिरोध में सक्षम होगा। इंद्रियाँ 'प्रमाथी' हैं, बलात् मनका हरण कर लेती हैं (गी. २.६०) जिसके फलस्वरूप प्रज्ञा हाथ से निकल जाती है (गी. २.६७)। ऐसी इंद्रियों पर धैर्यवान् ही नियंत्रण रख पाता है। इन्द्रियाँ आकर्षण यह दिखाती हैं कि 'भोग का सुख तो सद्यः उपलब्ध है, नियंत्रण का फल ऐसा है नहीं, न जाने हो भी कि नहीं'। धीर तो इंतजार करता रहता है कि नियंत्रण पकने दें तब देखें कि इसका स्वाद कैसा है, अधीर चार-छह दिन के नियंत्रण की निष्फलता (अप्रभाविता) देखकर पुनः इंद्रियों को भोगकी छूट दे देता है जिससे नियंत्रण में परिपक्वता आ ही नहीं पाती। धीर को योगी होना पड़ेगा, निरन्तर अभ्यासी होना पड़ेगा। लक्ष्यवेध के लिये सतत प्रयासशीलता योग है, जुटे रहना है। श्रुति के 'अतिमुच्य' का 'इन्द्रियनिरोधेन' व्याख्यान है तथा 'धीराः' का अर्थ किया 'योगिनः'। नियमनकर्त्तारूप परमात्मा के स्वरूप को समझने वाले साधक को इंद्रिय-नियंत्रण और चित्तैकाग्रता का विशेष ख्याल रखना चाहिये। इंद्रियाँ वही करें जो अंतर्यामी की प्रेरणा है और चित्त इस पर स्थिर रहे कि उसकी प्रेरणा को ग्रहण करे, अन्य प्रेरणाओं की उपेक्षा करता रहे, तभी नियामक का स्वरूप आविर्भूत होगा। किंच इंद्रियनिरोध से साधन-सम्पत्ति, धीराः से श्रवण, योगिनः से मनन और पश्यन्ति से विज्ञानरूप निदिध्यासन समझ लेना चाहिये।।२८।।

धैर्यपूर्वक योगी बनकर शम-दम आदि का क्लेश सहते हुए दर्शन करने का क्या लाभ, न करने से क्या हानियह स्पष्ट करते हैं **परमात्मदर्शन न रहने पर चैतन्य पर अहंकार का तादात्म्य आरोपित रहता है। तादात्म्यके अध्यास से चेतन जीव होकर बँधा रहता है।।२९।। जिन्हें वह अध्यास समाप्त करने वाली बुद्धि प्राप्त हो गयी वे धीर कहलाते हैं। वे बंधन छोड़कर, शरीर छोड़कर मरणरहित हो जाते हैं।।३०।।** आत्मदर्शन का लाभ मोक्ष और अदर्शन से हानि बन्धन ही है। आत्मदर्शन के लिये आत्मश्रवण प्रथम आवश्यकता है। आत्मस्वरूप समझे बिना

ऐक्यभ्रान्तिर्बन्धकृत् स्याद् अहंकारचिदात्मनोः।
तद्विवेके कुतो बंधः शरीरं चात्मनः कुतः।।३१।।
देहप्राणवियोगः स्यान्मरणं यस्य तौ नहि।
तद्वियोगः कथं तस्य चिदेकरसवस्तुनः।।३२।।

उसके निमित्त कौन योगी बनेगा! लक्ष्य-वेध में तत्पर को योगी कहते हैं अतः पहले लक्ष्यबोध चाहिये। इसी में श्रवण-मनन का विनियोग है। संसार के बिगड़ने से 'मेरा' कुछ नहीं बिगड़ता यह निश्चय हुए बिना मोक्षसाधना में कोई संलग्न नहीं रह सकता, सांसारिक छोटे-बड़े कार्य लगातार सामने आते रहने से इनमें उलझा रहता है। मेरा स्वरूप शरीर-मन नहींयह निश्चय परोक्षतः भी हो जाये तभी अध्यात्मोन्मुखता कायम रहती है। आत्मबोध न रहने तक चिति अर्थात् शुद्ध चैतन्य में अहंकार का तादात्म्य अध्यास स्थिर रहता है। तादात्म्य अर्थात् ऐसा अभेद (अभेद ज्ञान) जो भेद के (भेदज्ञानके) बावजूद बना रहे। भले ही कदाचित् अहंकार में आत्मभिन्नता समझ आये फिर भी लगता वह आत्मरूप ही रहता है। मैं से स्वयं को अलग जानने वाला ही धीर है। सच्ची बुद्धिमानी इसी विवेक में है। संसार के बारे में बहुत कुछ जान लेना, उपकरण बना-चला लेना वस्तुतः बुद्धि का विकास नहीं है। शरीर-मन और इनके रोग-शोक आदि से अप्रभावित वस्तु को स्वस्वरूप समझने वाला बुद्धिमान् है। वही बन्धन से छूटेगा, अन्य नहीं। शरीर-मन आदि को स्वयं से एकमेक समझना अध्यास, भ्रम है जो धीरों का निवृत्त होता है अतः वे बंधनमुक्त हो चुकते हैं। प्रारब्धपर्यंत शरीर में रहकर फिर उनका मरण भी अप्रासंगिक हो जाता है।।२६-३०।।

आत्मबोध की मोचकता उपपन्न करते हैं **अहंकार और चिद्रूप आत्मा की एकता का भ्रम बन्धनकारी है। उन दोनों का परस्पर भेद समझ चुकने पर बंध किस कारण से होगा और शरीर आत्मा 'का' क्यों होगा!।।३१।। शरीर और प्राण का आपसी वियोग मृत्यु है। शरीर प्राण दोनों जिसके हैं नहीं ऐसी ज्ञानमात्ररूप वस्तु का वियोग कैसे होगा?।।३२।।** मैं से एक होते ही, अहंकार से जुड़ते ही हम मायाके संसार में पहुँच जाते हैं। इस भ्रमसिद्ध एकता से रहित हम हैं तो केवल ज्ञानरूप। अतः विवेक अर्थात् अहंकार और निजस्वरूप के विभेद का साक्षात्कार बंधन से छुड़ा देता है। यद्यपि विवेकमात्र नहीं, अभेदज्ञानको मोक्षहेतु बताया गया है तथापि बन्धन व्यक्त तभी हो सकता है जब ऐक्य भ्रम हो अतः जिसे विवेक होने से वह भ्रम नहीं रहा उसे बंधन की अभिव्यक्ति का अनुभव संभव नहीं।

इन्द्रियाद्यतीतता

बन्धो देहो मृतिर्बोधमात्राच्चेत् सन्ति नो तदा।
सर्वे बुध्वा निजात्मानं कृतकृत्याः कुतो नहि।।३३।।

शरीर-मन के बगैर बंधन अनुभव में आयेगा नहीं और इन्हें वह स्वयं का रूप समझेगा नहीं। फिर भी कारणभूत अविद्या रहते अव्यक्त बंधन बचता है जैसा सुषुप्ति में भासता है, उसकी निवृत्ति के लिये अभेदज्ञान चाहिऐ और तभी अहंकार की समूल, आत्यंतिक निवृत्ति होती है। किंतु विवेक होने पर ही वह तत्त्वबोध संभव, सुलभ होता है अतः विवेक को भी मोचक कहना संगत है। जैसे 'फ्यूज' के माध्यम से ही बिजली घर आदि की तारों द्वारा पंखे आदि तक पहुँचती है अतः 'फ्यूज' हट (उड़) जाने पर सरकारी तारों में रहते हुए भी घर आदि की तार आदि से उसका संबंध नहीं होता, वैसे आत्मा का शरीर आदि से सम्बन्ध अहंकार के ही मार्फ़त है, अहंकार निवृत्त होने पर आत्मा यथावत् रहे, उसका किसी उपाधि से कोई सम्बन्ध न रह सकने से बंधन असंभव है। कारण-रूप से अहंकार बना रहते अव्यक्त बंधन (या मोक्ष सुख का सावरण भान) रह सकता है लेकिन जब अहंकार समूल मिट जाता है तब बंधनका प्रसंग ही नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति मरता नहीं। मरने का मतलब अहं समझे जाते स्थूल शरीर से अहं समझे जाते प्राण अर्थात् सूक्ष्म शरीर का सर्वथा अलग हो जाना जिसे लोक में 'प्राण निकलना' भी कहते ही हैं। जिसे दोनों शरीरों में अहंबुद्धि नहीं उसका इसलिये मरण नहीं कि जिन शरीरों का वियोग होगा भी वे 'उसके' नहीं हैं अतः जैसे रोज़ लाखों प्राणियों के मरते रहने पर भी देवदत्तादि (जीवित व्यक्ति) मरता नहीं क्योंकि उन शरीरों में उसे मैं-बुद्धि नहीं, वैसे विवेकी को किसी भी शरीर में मैं-बुद्धि न रहने से कोई भी शरीर परस्पर वियुक्त हों, इससे वह धीर मर नहीं पाता। वह स्वयं को चिद्रूप, ज्ञानरूप जानता है, ज्ञान में भी घटा-बढ़ी आदि कोई फर्क़ नहीं और ज्ञान वस्तु अर्थात् सनातन सत्तत्व है। ऐसे को ही मैं जानने वाला मर सके यह संभव नहीं। यही उक्त विवेक का प्रभाव है।।३१-२।।

आगे उपनिषत् कहती है कि उस आत्मा को चक्षुरादि इंद्रियाँ व मन विषय नहीं करते अतः उसे समझने-समझाने का तरीका निश्चित करना संभव नहीं। ऐसा कथन किस अभिप्राय से है, यह बताते हैं **शरीर ही बंध है और ज्ञानमात्र से अमरता हो सकती है तो सभी लोग निज आत्मा को समझकर कृतार्थ क्यों नहीं हो जाते?।।३३।। (उत्तर है-) सद्गुरु से जिन्होंने परमात्मोपदेश नहीं पाया है वे**

गुरूपदेशरहिता आत्मानं बोद्धुमक्षमाः ।
चक्षुर्वागादयो यस्मान्न गच्छन्ति चिदात्मनि । ।३४ । ।
चक्षुर्न गच्छेन्नीरूपे वागवाच्यं कथं वदेत् ।
अविकल्पमसंकल्पं ग्रहीतुं न मनोऽर्हति । ।३५ । ।

आत्मा को समझने में असमर्थ रहते हैं क्योंकि आँख, वाणी आदि चिदात्मा तक नहीं पहुँचते । ।३४ । । रूपहीन को चक्षु नहीं देखती, वाचकशक्ति के अविषय को वाक् बोलती नहीं और संकल्प-विकल्प से रहित वस्तु का ग्रहण मन नहीं कर पाता । ।३५ । । (श्लोक ३३ में 'बोधमात्राद् अमृतिः' ऐसे प्रश्लिष्ट अकार मानकर योजना की है। 'मृतिः' ही शब्द मानें तो अर्थ है 'यदि ज्ञानमात्र से बंधन शरीर और मरण नहीं रहें तो सभी... ।' पूर्वयोजना में 'सन्ति' का 'कृतकृत्याः' से सम्बन्ध है, दूसरी में बंधादि से है ।) ज्ञान ही अगर मोक्ष के लिये पर्याप्त हो तो सभी जीव प्रत्यग्भूत तत्त्व के साक्षात्कार से सहजरूप से ही मुक्त होने चाहिये, अनादि बन्धन उपपन्न नहीं। भाव है कि ज्ञानमात्र मोक्षप्रद नहीं, बंधन ऐक्यभ्रममात्र नहीं। ज्ञानमात्र से बंधनाभाव और मरणाभाव की तरह शरीराभाव की संभावना या शरीर को मिथ्या मानकर संगत है, या शरीराभावका मतलब शरीर-सम्बन्धाभाव से है। अर्थात् जैसे मिथ्या रजत का शुक्तिज्ञानमात्र से अभाव हो जाता है वैसे आत्मज्ञानमात्र से शरीरका भी अभाव होना चाहिये। यदि शरीर नहीं, शरीर से सम्बन्ध ही मिथ्या है तो आत्मज्ञानमात्र से शरीरसंबंध नहीं रहना चाहिये। शरीरसंबंध न रहने को ही शरीर न रहना कह दिया है। लोक में भी 'देवदत्त का शरीर नहीं रहा' का मतलब होता है किं उस शरीर से देवदत्त का संबंध नहीं रहा, अन्यथा, शव तो पड़ा ही होता है। सर्वथापि, प्रश्न है कि आत्मा सर्वसुलभ वस्तु है तो उसे जानकर प्राणिमात्र मुक्त क्यों नहीं हो पा रहे? इसका उत्तर दिया कि गुरूपदेश से ही आत्मज्ञान होगा, उसके बिना नहीं। उपदेश भी ग्रहण करने की हममें सामर्थ्य चाहिये उसके बिना मिला हुआ भी उपदेश कारगर नहीं होगा। इंद्रिय-मनका विषय होता तो बिना उपदेश के या बिना हमारी योग्यता के उसे समझ लेते, किंतु इन्द्रियादिका अविषय होने से वैसा संभव नहीं। जैसे कसौटी पर कसने से गुलाब की महत्ता का निर्धारण संभव नहीं वैसे इंद्रिय-मन से आत्मा समझना संभव नहीं। अतः इंद्रियादि-निर्भरवादी आत्मा का अस्तित्व ही नकारते हैं। आत्मा को जानने का एकमात्र तरीका गुरुमुख से वेदान्तश्रवण है। प्रत्यक्ष भी आत्मा, बिना वेदान्तानुसारी उपदेश के समझा नहीं जा सकता। जैसे स्वयं कौन्तेय था फिर भी 'मैं

एवं सति कथं यूयं जानीथ मनसेति चेत्।
आचार्यनिरपेक्षेण न विद्मो मनसा वयम्।।३६।।

कौन्तेय' समझने के लिये कर्ण को कृष्णादि के वचनों पर निर्भर रहना पड़ा वैसे हमें श्रुति पर निर्भर रहना पड़ेगा। स्वतः प्रमाण वेद और तदनुसारी युक्ति से ही चिन्मात्र-स्वरूपता का निश्चय संभव है। अत एव यह अनुभव भी स्वयं को ही होना संभव है। जैसे मुक्का खाने के दर्द को खुद ही जान सकते हैं, अन्य की दर्द का साक्षात्कार संभव नहीं, वैसे आत्मरूपता को खुद ही अनुभव करना संभव है। परमात्मा रूपी द्रव्य या रूप तो है नहीं कि चक्षु से पता चले और उसमें प्रवृत्तिनिमित्त जात्यादि न होने से वह शब्दशक्ति का विषय नहीं कि उसे शब्द से कहा समझा जा सके। मनका कार्य संकल्प-विकल्प और आत्मा संकल्पादि से रहित है अतः मन का विषय नहीं। पक्षतः स्वीकारयोग्य स्वरूप या धर्म को 'कल्प' कहतें हैं; किसी कल्प को सम्यक् समझना संकल्प एवं विरुद्ध कल्प को उपस्थित करना विकल्प है। मन ये दोनों कार्य करता है। परमात्मा में वैसा कोई स्वरूप या धर्म नहीं अतः वह संकल्पादि के अयोग्य है। परमात्मा का सत्त्यादि स्वरूप तो है लेकिन वह पक्षतः नहीं वरन् सर्वतः ही स्वीकार्य है, यह भाव है। इस प्रकार बिना शास्त्राचार्योपदेश के परमात्मबोध की असंभवता स्पष्ट की जिससे 'सब क्यों मुक्त नहीं हो जाते?' का समाधान हो गया कि क्योंकि उस उपदेश को ग्रहण करने में असमर्थ हैं, उसके अयोग्य हैं, इसलिये सब मुक्त नहीं हो जाते; जो योग्य, समर्थ हैं, वे उपदेश ग्रहण कर मुक्त होते ही हैं।।३३-५।।

इन्द्रिय मन के अविषय को आचार्य भी कैसे जानता हैयह प्रश्नोत्तर से स्पष्ट करते हैं **ऐसा है तो आप (आचार्य) लोग भी मनसे उस तत्त्वको कैसे जानते हैं? 'आचार्य-उपदेश के सहारे के बिना अकेले मन से हम भी नहीं जानते।'** ।३६।। तात्पर्य है कि अनादि गुरुपरम्परा से उपदेश पा-पाकर ही प्रत्येक आचार्य भी उसे समझता है। समझना मन से ही है क्योंकि प्रमाण-वृत्ति मन की ही होती है, लेकिन आचार्योपदेश की अपेक्षा अर्थात् निर्भरता से ही मन वैसी वृत्ति बना सकता है, उसके बिना न इंद्रियादि के सहारे और न संकल्पादि या तर्कादि के सहारे।।३६।।

प्रश्न होता है कि वाक् का भी उसे अविषय कहा तो आचार्य से कोई उपदेश पा कैसे सकता है? इसका उत्तर बताते हैं **शब्द-शक्तिके अविषय पदार्थ को आचार्य भी कैसे कहेगा? अभिधावृत्ति से उसे कह सके ऐसा कोई प्रकार मुझे नहीं**

आचार्योऽपि कथं ब्रूयादवाच्यमिति चेद्यथा।
बोधयेदभिधावृत्त्या तं प्रकारं न वेद्म्यहम्।।३७।।
'षष्ठीगुणक्रियाजातिरूढयः शब्दहेतवः।
नात्मन्यन्यतमोऽमीषां तेनात्मा नाभिधीयते।।'३८।।[1]
ईदृशं यूयमाचार्याच्छ्रुतवन्तः कथं त्विति।
ब्रूषे चेच्छुश्रुमात्मानमतद्व्यावृत्तितो वयम्।।३९।।

मालूम।।३७।। शब्द शक्ति की प्रवृत्ति में हेतु होते हैंषष्ठी (सम्बन्ध), गुण, क्रिया, जाति या रूढि। इनमें से एक भी आत्मा में है नहीं अतः इसे अभिधावृत्ति से व्यक्त नहीं किया जाता।।३८।। अगर पूछो कि 'इस तरह का आत्मा आपने आचार्य से कैसे सुना?' तो (जवाब है कि) हमने आत्मा को अतद्-व्यावृत्ति (या अपोह) से समझा।।३९।। शब्द का जो कोशादि प्रसिद्ध, लोकप्रसिद्ध, प्रयोग में प्रचलित सर्वसम्मत अर्थ वह वाच्य अर्थ कहा जाता है जिसका ज्ञान कराने के लिये शब्द को अर्थान्तर उपस्थापित नहीं करना पड़ता। वाच्य से सम्बद्ध अर्थ को शब्द बताये तो उसे लक्ष्य अर्थ कहा जाता है, उसके ज्ञान के लिये शब्द को पहले वाच्यका उपस्थापन करना पड़ता है। गंगा से नदी अर्थ वाच्य है, तट अर्थ लक्ष्य है जिसे गंगा कहने पर पहले नदी अर्थ प्रतीत होगा फिर तात्पर्यानुरोध से उसे छोड़ तट समझ आयेगा। वाच्यबोधन की सामर्थ्य शब्द की शक्ति कही जाती है। वह उसी को विषय करती है जिसमें सम्बन्धादि हो। सम्बन्ध जैसे माता, पिता आदि शब्दों का अर्थ। लाल, पीला आदि शब्दों से लाल आदि गुणवाली चीज़ें कही जा सकती हैं। क्रियावान् भी पाचक, पाठक आदि शब्दों का अर्थ होता है। घटत्वादि जाति वाले घट आदि तो घटादि शब्दों के वाच्य प्रसिद्ध हैं। रूढि अर्थात् प्रमाणतः उपस्थित के साथ जहाँ सम्बन्ध निर्दिष्ट कर दिया जाये उस अर्थ का शब्द से ज्ञान, जैसे देवदत्त आदि शब्दों से उन व्यक्तियों का कथन होता है। आत्मा इन सब निमित्तों से वर्जित होने से अवाच्य है। अप्रमेय होने से परमात्मा रूढिग्राह्य नहीं है। लोग कह देते हैं कि जिसे कोई खुदा कहता है, कोई गोड कहता है उसी को हम ईश्वर कहते हैं। लेकिन यह तब होता जब वह वस्तु आँख आदि का विषय होती; उसे सामने कर उसके ये तीन नाम दे देते, फिर चाहे-जिस नाम से व्यवहार होता रहता जैसे एक चीज़को मेज़,

---

[1] नैष्कर्म्यसिद्धि ३.१०३।

ज्ञातं चाज्ञातमित्येवं जगद् द्वेधावभासते।
तस्योभयस्य व्यावृत्त्या परमात्मावशिष्यते।।४०।।
धीर्वृत्तिविषयीकृत्य यद् घटाद्यवभासयेत्।
विदितं तद्यत्र नो धीस्तत्स्यादविदितं खलु।।४१।।

टेबल, चौकी आदि कहते हैं। परमेश्वर क्योंकि यों सर्वसाधारणरूप से अनुभव में आता नहीं इसलिये कोई भी नाम उसे दिया नहीं जा सकता। अतः परिभाषा से ही समझना पड़ेगा कि खुदा मायने क्या, गोड मायने क्या आदि। परिभाषाओं में अंतर है, अतः ये शब्द एकार्थबोधक नहीं हैं। यदि हम खुदा को जानते तब कोई कह सकता था कि ‘इन्हीं जनाब का नाम गोड भी है’, लेकिन हम क्योंकि न खुदा, न गोड, न ईश्वर से वाकिफ़ हैं इसलिये किसी भी शब्द से हम उस तत्त्व को नहीं समझ सकते। इकलौता होने से ईश्वर की जाति भी नहीं। सर्वज्ञता आदि गुण, जगद्रचना आदि क्रिया भी हमें वैसे ही अज्ञात हैं जैसे ईश्वर इसलिये उनके सहारे भी शब्द से ईश्वर नहीं कहा जा सकता। असंग होने से सम्बन्ध द्वारा भी वह वाच्य नहीं। इसलिये ‘चाहे जिस शब्द से कहें, सब एक ईश्वर को कहते हैं’ यह अनर्थक बात है। इसी तरह अखण्ड अद्वय आत्मवस्तु सर्वविशेष-रहित होने से शब्दशक्ति का विषय नहीं। अतः उसे अतद्-व्यावृत्ति से कहा समझा जाता है। तत् अर्थात् परमात्मा। जो परमात्मा नहीं वह अतत्, उसकी व्यावृत्ति मतलब निषेध। जो कुछ परमात्मा नहीं उस सबके निषेध से, बचे हुए स्वप्रकाश तत्त्व को समझना संभव है। इस निषेध के लिये शब्दों का उपयोग है। अतद्व्यावृत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण है राम-लक्ष्मण, साथ खड़े थे, कुछ दूर ऋषि पत्नियों के साथ सीता जी खड़ी थीं। ऋषिपत्नियों ने पूछा ‘दोनों राजकुमारों में से तुम्हारा पति कौन-सा है?’ सीता जी ने जवाब दिया ‘गोरा वाला मेरा देवर है।’ इससे ऋषिपत्नियों को पता चल गया कि राम जी कौन-से हैं। सीधे सीता जी ने नहीं कहा फिर भी ठीक-ठीक पता चला और सीता जी के कथन से ही चला। ऐसे ही सारे अतत् का निषेध होने से फलतः तत् का अवगम हो जाता है।।३६-९।।

तत्-अतत् का विभाजन स्पष्ट करते हैं **जगत् दो तरह से प्रतीत होता हैज्ञात और अज्ञात। इन दोनों के निषेध से परमात्मा बचा रह जाता है।।४०।। वृत्ति से विषय बनाकर बुद्धि जो घटादि प्रकाशित करती है वह ज्ञात होता है। जिसे बुद्धि यों नहीं प्रकाशित करती वह अज्ञात होता है। यह बात प्रसिद्ध है।।४१।।** केन वाक्य ‘अन्यदेव तद् विदिताद् अतोऽविदितादधि’ का

उपदेशप्रकारः

ज्ञाताज्ञाते साक्षिभास्ये स साक्षी भासते स्वयम्।
ज्ञाताज्ञातपरित्यागे साक्षिशेषो ह्यतिस्फुटः।।४२।।
वेद्मीति यद्बलादात्थ न वेद्मीत्यपि यद्बलात्।
तदन्यनिरपेक्षं सद्भातीत्यस्मद्गुरोर्वचः।।४३।।

यह व्याख्यान है। संसार दो तरह का ही है, ज्ञात या अज्ञात। दोनों तरह का संसार परमात्मा नहीं, परमात्मा न ज्ञात है, न अज्ञात। हम स्वयं को न जाना हुआ कह सकते हैं, न नहीं जाना हुआ कह सकते हैं अतः स्वात्मा ही विदिताविदित से अन्य है। विदित अर्थात् बुद्धि जिसे वृत्ति द्वारा घेरकर उसके आच्छादक अज्ञान को हटाये। जिसका आच्छादन नहीं हटाती वह अविदित, अज्ञात बना रहता है। यह सर्वानुभवसिद्ध विभाजन है। बुद्धि के भी द्वारा प्रकाशन करने वाला आत्मा इस विभाजन से परे है।।४०-१।।

उक्त ज्ञात-अज्ञात की व्यावृत्ति से साक्षिचैतन्य ही अवशेष रहता है यह कहते हैं **ज्ञात व अज्ञात साक्षी से भासित होते हैं। वह साक्षी खुद भासता है। ज्ञात-अज्ञात को छोड़ने पर अत्यंत स्पष्ट है कि साक्षी ही बचा रहता है।।४२।। जिसके बल से ‘जानता हूँ’ कहते हो और जिसके बल से ‘नहीं जानता’ भी कहते हो, किसी अन्य का सहारा न लेने वाली वही सद्रूप वस्तु (ज्ञाताज्ञातका निषेध होने पर) भासमान रहती हैयह हमारे गुरु का वचन है।।४३।।** ज्ञान का विषय ज्ञात, अज्ञान का विषय अज्ञात है, दोनों को भासित करने वाला साक्षी है। घटादि विषयका जब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तब घटादि विषय साक्षी से ग्रहण किया जाता है अतः विषय भी प्रत्यक्ष होता है। विषय की प्रत्यक्षता का प्रयोजक तो प्रमाता से अभेद है लेकिन विषय ज्ञात है इसका ग्रहण तो साक्षीको ही सम्भव है। मानसोल्लासवार्तिक ३.६ में आचार्य ने कहा है ‘जानामीत्येव यज्ज्ञानं भावान् आविश्य वर्तते। ज्ञातं मयेति तत् पश्चाद् विश्राम्यत्यन्तरात्मनि।।’ पहले ज्ञान पदार्थों को ‘मैं जानता हूँ’ यों व्याप्त अर्थात् स्वयं से संबद्ध करता है फिर वही अन्तरात्मा में आकर ‘जान लिया’ यों ठहरता है। विषयाकार वृत्ति से तो प्रमाता सम्बद्ध होता है किन्तु भान (ज्ञान) का मूल स्रोत साक्षी ही होने से भास्य सब साक्षी का ही होगा। ज्ञानवृत्ति के माध्यम से हो या अज्ञान के, जो भी भासेगा वह साक्षी से ही भास सकता है। संसार ज्ञात-अज्ञात का पुंज है और वे साक्षी से भास्य हैं तो स्वयं साक्षी किसी और से भास्य हो नहीं सकता क्योंकि ऐसा कुछ रहा ही नहीं जो साक्षी से भास्य न हो। अतः

अज्ञातज्ञातयोः साक्षी ब्रह्मेत्येवंविधा तु धीः।
अज्ञानं नाशयत्येव न ब्रह्म स्फोरयत्यसौ।।४४।।
स्वतः स्फुरणरूपेऽस्मिन् किमन्यत् स्फुरणं भवेत्।
स्फोर्यत्वाभावतस्तस्य न मनोगम्यता भवेत्।।४५।।
अवाङ्मनसगम्यं तदाचार्येणोपदिश्यते।
शिष्येण बुध्यते चेत्थं न किंचिन्नोपपद्यते।।४६।।

साक्षी स्वयं ही भासमान है। जब ज्ञात-अज्ञात को व्यावृत्त, निषिद्ध कर दिया तब सारा संसार, दृश्यमात्र निवृत्त हो जाने से स्वप्रकाश साक्षी ही रह जाता है जिसे बताने के लिये शब्द चाहिये ही नहीं क्योंकि वह स्वयं भासमान ही है। यह द्रष्टा नहीं है। द्रष्टा वह है जो साधनों से जाने जबकि साक्षी को कुछ जानने के लिये साधन नहीं चाहिये, साधनों को भी वही जानता है। अतः द्रष्टा (प्रमाता) हम तभी होते हैं जब कुछ 'बनें', मनवाले, आँखवाले आदि बनें तभी द्रष्टा होंगे जबकि कुछ न बनने पर जैसे हैं वैसे साक्षी ही हैं। साक्ष्य पर भी साक्षी की निर्भरता नहीं, भले ही 'साक्षी' ऐसे व्यवहार के लिये साक्ष्य की जरूरत हो। जैसे प्रकाश्य के होने-न होने से निरपेक्ष ही सूर्य चमकता है वैसे आत्मा भासमान है। कम जानना, ज्यादा जानना आदि ज्ञानतारतम्य द्रष्टा में ही होता है। साक्षी इन सभी तरह की सापेक्षताओं से मुक्त अतः निर्विकार है। राग-द्वेष आदि समस्त विकारों से रहित स्थिति में ही साक्षी समझ आ सकता है, उससे पूर्व तो द्रष्टा को ही साक्षी नाम से समझते रहते हैं। विषयों को जानना एवं न जानना, दोनों जिससे प्रकाशित हैं वही सद्रूप, भानरूप आत्मा है। आचार्य उसी को ज्ञात-अज्ञात के अपोह द्वारा हमेशा समझाते रहे हैं, यही सदा की परंपरा है। अतः केन में यहाँ कहा कि विदित-अविदित से अन्य है ऐसा हमने पूर्वाचार्यों से सुना जिन्होंने हमें समझाया। इसी से यहाँ कहा कि यह ह़मारे गुरु का वचन है।।४२-३।।

ब्रह्म का ज्ञान होता है तो ब्रह्म ज्ञात (ज्ञान विषय) कैसे नहीं? यह समझाते हैं **ब्रह्म वह है जो ज्ञात-अज्ञात का साक्षी हैऐसी बुद्धिवृत्ति केवल अज्ञान नष्ट करती है, ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करती।।४४।। खुद स्फुरण जिसका स्वरूप है ऐसे इस ब्रह्म में और क्या स्फुरण होगा! क्योंकि किसी से प्रकाशित हो सकता नहीं इसलिये ब्रह्म मनका (बुद्धिका, ज्ञानका) विषय नहीं है।।४५।। मन-वाणीका अविषय वह तत्त्व आचार्य द्वारा समझाया भी जाता है, शिष्य द्वारा समझा भी जाता है। इस तरह इस बारे में कोई असंगति नहीं है।।४६।।**

अनिदं ब्रह्म

यन्नाभिधीयते वाचा वाग्येन प्रेर्यते सदा।
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते।।४७।।

शरीर-मन की सीमाओं में बँधा प्रतीत होता साक्षी ही जब वे सीमायें हट जायें तब असीम भासता है अतः सीमाओं को हटाने के लिये ही बुद्धिवृत्ति कारगर है, भासता तो आत्मा खुद ही सदा है। अतः बुद्धि उसे 'स्फोरित' अर्थात् प्रकाशित करे यह न संभव और न जरूरी ही है। फिलहाल आत्मा को संसार से एकमेक जान रहे हैं, इसमें से संसार भाग हटा देना ही आवश्यक है, आत्मा तो अभी भी जान ही रहे हैं, आगे भी जानते रहेंगे। जैसे प्रकाश्यों को जानने के लिये प्रकाश चाहिये लेकिन प्रकाश को जानने के लिये कोई अन्य प्रकाश नहीं चाहिये वैसे आत्मा को जानने के लिये कोई ज्ञान नहीं चाहिये। हमारी ऐसी समझ हो रखी है कि जिसका भान हो वही है, जिसका भान नहीं वह है ही नहीं। लेकिन ब्रह्म ऐसी वस्तु हैं जो है पर उसका कभी भान नहीं। वह भानरूप है, उसका भान नहीं है। अतः ब्रह्म समझना कठिन हो जाता है। उसके बारे में अर्थात् उसे विषय करता कोई स्फुरण (ज्ञान) है भी नहीं और होता तो व्यर्थ भी था जैसे सूर्य को प्रकाशित करती कोई रोशनी है भी नहीं और होती तो व्यर्थ भी थी। इसलिये यद्यपि आचार्य और शास्त्र उसे शब्दों के सहारे समझा देते हैं तथापि रहता वह मन-वाणी से परे ही है। शिष्य भी उसे अविषय रूप से ही समझ लेता है। इतना अवश्य है कि अतिदीर्घ काल तक एकाग्रतापूर्वक विचार चाहिये तभी यह अविषय-भाव दृढ होता है अन्यथा थोड़ा-बहुत समझने पर भी जैसे ही विचार रुकता है तुरंत हम द्रष्टा बन जाते हैं। जब दीर्घकाल तक विचार से साक्षी के स्वरूप में प्रतिष्ठा दृढ हो जाती है तब अनायास साक्षिभाव में स्थिति रहती है। इस प्रकार विदित-अविदित से अन्य ब्रह्मका अज्ञान निवृत्त होने में कोई विसंगति नहीं।।४४-६।।

उपनिषत् में वाक्-मन-चक्षु-श्रोत्र-प्राण का उल्लेख करते हुए इनकी ब्रह्म में अविषयता तथा उसमें इनके प्रति प्रेरकता बताकर अनात्मभूत उपास्य की अपेक्षा प्रत्यक्स्वरूप को ब्रह्म जानने का विधान किया है। उस भाग को समझाना प्रारंभ करते हैं **जो वाणी द्वारा अभिधाशक्ति से कहा नहीं जाता, वाक् हमेशा जिससे प्रेरणा पाती है, उसे ही तुम ब्रह्म समझो न कि इसे जिसकी उपासना की जाती है।।४७।। उपासक तो स्वयं से अन्य उसका ध्यान करते हैं जो सर्वज्ञ**

उपासकास्तु सर्वज्ञसर्वशक्त्यादिशब्दतः।
वाच्यं स्वभिन्नं ध्यायन्ति न मुख्यं ब्रह्म तद्भवेत्।।४८।।
स्फोर्यते मनसा यन्न स्फोरकं मनसस्तु यत्।
तद् ब्रह्म विद्धि न त्वेतद्यत्तु स्फोर्यमुपासते।।४६।।
भावनाजन्यवृत्त्यैव स्फोर्यं ध्यायन्त्युपासकाः।
उपासकेन दृश्यं तद् ब्रह्म मुख्यं कथं भवेत्।।५०।।

सर्वशक्तिमान् आदि शब्दों का वाच्य है। वह उपनिषदों में आये ब्रह्म-शब्द का प्रधान अभिप्रेत अर्थ नहीं है।।४८।। मनसे प्रकाशित न होते हुए जो मनका प्रकाशक है उसे ब्रह्म जानो न कि इस (मनसे) प्रकाशित होने वाले को जिसकी उपासना की जाती है।।४६।। भावना से उत्पाद्य मनोवृत्ति से ही स्फुरित होने वाले का उपासक ध्यान करते हैं। उपासक को दृश्य वह वस्तु ब्रह्म-शब्द का मुख्य अर्थ कैसे हो सकती है!।५०।। परमात्मा को शास्त्र सबका प्रकाशक अतः सबसे अप्रकाश्य कहता है। हम घड़े को आँख से देखते हैं : यहाँ देखना ज्ञान है, आँख उसमें साधन है, हम ज्ञाता और घड़ा ज्ञेय है; ज्ञाता, ज्ञानसाधन, ज्ञेयये तीनों निर्भर हैं ज्ञान पर। यदि देख न पाते तो न आँख की साधनता होती, न हम ज्ञाता होते, न घड़ा ज्ञेय होता। लेकिन वह ज्ञान किसी अन्य से तो जाना नहीं जाता। बाकी की जानकारी उस ज्ञान से पर उसकी जानकारी अन्य किसी से नहीं। यह दृष्टान्त परमात्मा को समझने के लिये उचित हो जाता है। वाणी अर्थात् वाक् से व्यक्त होने वाला शब्द। वह अभिधा अर्थात् वाचक शक्ति से जाति आदि वालों का बोध कराये यही देखा गया है और ब्रह्म उन सब प्रवृत्ति-निमित्तों से रहित है अतः शब्द से अभिधान-योग्य नहीं है। किन्तु वाक् इन्द्रिय भी चेतन से प्रेरित होकर ही शब्द को व्यक्त करती है एवं शब्द भी ईश्वर-प्रदत्त शक्ति से ही अर्थ को व्यक्त करता है। बिना चेतन से प्रेरणा पाये वाक् नहीं बोलती जैसे वादक-चेष्टा के बिना सितार नहीं बजता। शब्द भी अर्थ बताता है क्योंकि उसमें इसकी सामर्थ्य भरी गयी है अतः भरने वाले चेतन का ही प्रभाव है कि शब्द से अर्थ पता लगता है। आधुनिक लोग ईश्वर न भी मानें तो इतना मानते ही हैं कि जीवों ने शब्दों में वह सामर्थ्य स्वीकारी है तब शब्दों से अर्थबोध होता है। यद्यपि यह शास्त्र-संमत पक्ष नहीं तथापि प्रकृत में इतना ही कह रहे हैं कि शब्द जो अर्थबोधन करता है वह चेतन का प्रभाव है और यह बात जीव चेतन के प्रभाव को मानने से भी सिद्ध है अतः आधुनिकों को भी मान्य है। जो जिसके बल पर कार्य करे वह उस पर

'अपने' बल का प्रभाव नहीं डाल सकता क्योंकि 'अपना' उसके पास बल है ही नहीं! अतः शब्द चेतन को प्रकाशित करे यह संभव नहीं।

किंतु यह ब्रह्म समझा जा सकने पर भी ध्यान-विषय नहीं बनता। उपासक आत्मा का सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् आदि तरह से ध्यान कर सकते हैं लेकिन केवल अपोह की वृत्ति बनाने पर शून्य में पहुँचते हैं अतः सच्चिदानंद का ध्यान नहीं कर पाते। किं च ध्यान क्रिया है, चेष्टासाध्य है, सचेष्ट ध्याता स्वयं का अस्तित्व नकार नहीं सकता अतः उसके लिये ध्येय हमेशा 'इदम्' अर्थात् अप्रत्यक् ही रहेगा। यदि आत्मध्यान मानें तो भी अपनी ध्यातृरूपता कायम रखनी ही पड़ती है तो ध्यातृत्वविशिष्ट और ध्येयत्वविशिष्ट में अंतर रहता है अर्थात् ध्यान करते हुए वृत्ति बनानी पड़ती है कि मैं सब क्रियाओं से रहित हूँ आदि। इस प्रकार ध्यान स्तर पर सविशेषता का सर्वथा त्याग संभव न होने से ध्येय ब्रह्म को इदम् ही कहा जाता है। ज्ञान क्योंकि 'करना' नहीं पड़ता, चेष्टापेक्ष नहीं, अतः उससे ज्ञातृत्व का आपादन न होने से आत्मरूपता, निर्विशेषता रह जाती है, यह अन्तर है। उपास्य की इदमास्पदता से ही उसे अब्रह्म मानना पड़ता है क्योंकि इदम् कदापि आत्मा (चिद्रूप) होना संभव नहीं। 'मुख्य ब्रह्म' अर्थात् उपनिषत्प्रसंगों में ब्रह्म शब्द का तात्पर्य-विषयीभूत अर्थ। शब्द का अभिप्रेत अर्थ मुख्य होता है। किं च ब्रह्म शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ व्यापक वस्तु है अतः सर्वविध व्यापकता वाला ही उसका मुख्य अर्थ है, अन्यत्र सापेक्ष व्यापकता के सहारे यदि इस शब्द की प्रवृत्ति हो तो वह अमुख्य या गौण अर्थ ही होगा। कोश में 'तत्त्व' को ब्रह्मपदार्थ कहा है अतः परमार्थ सत्त्य ही मुख्य अर्थ है। उपासना का विषय मुख्य ब्रह्म संभव नहीं क्योंकि उपासना-विषयतारूप परिच्छिन्नता, व्यवहारयोग्यता एवं सर्वज्ञता आदि विशेषों वाला ही उपास्य होता है। जैसे वाणी का वह विषय नहीं वैसे मनका भी नहीं। घड़ा आदि मनका विषय बनता है क्योंकि तभी घड़ा आदि स्फुरित (स्फुरणयोग्य) हो पाता है जैसे तेल चुपड़ी लकड़ी ही चमक पाती है, सूखी लकड़ी नहीं। ब्रह्म स्वयं स्फुरणरूप है अतः मन उससे जुड़कर उसमें क्या वैशिष्ट्य लाये! दक्षिण भारत के अँधेरे मंदिरों में काली मूर्तियाँ होती हैं तो आरती करने से उनका दर्शन हो पाता है, अन्यथा नहीं अतः आरती उतारने का दृष्ट प्रयोजन भी है। सूर्यनारायण की आरती उतारते हैं तो अदृष्ट प्रयोजन भले ही सिद्ध हो, दृष्ट कोई फल नहीं होता। इसी तरह घड़े को विषय कर मन कोई प्रयोजन सिद्ध कर पाता है पर ब्रह्मको विषय कर कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करता अतः यह मानने का कोई आधार

नहीं कि वह उसे विषय करता भी है! यद्यपि वृत्तिव्याप्ति को माना जाता है तथापि यहाँ 'स्फोर्यते' कहा है अर्थात् मनोनिमित्तक स्फुरण का निषेध है अतः मनोविषयता का अभिप्राय भी स्फुरणसम्पादक विषयता से है। ऐसी विषयता नहीं, यह तात्पर्य है। अविद्यानिवृत्ति आदि के लिये जरूरी मनका आकार-विशेष ग्रहण करना तो अभिमत है, वह बात दूसरी है।

ब्रह्म की जैसे यह पहचान की वह मन से स्फुरणा नहीं पाता वैसे दूसरी यह कि मनको वही स्फुरणा प्रदान करता है। बाह्य वस्तुओं को जानने में मनका उपयोग है लेकिन स्वयं मनको जानने के लिये एक आत्मतत्त्व के अलावा किसी का उपयोग नहीं। कोई दूसरा व्यक्ति अकस्मात् भेष बदल कर सामने आये तो जानकार भी एकाएक नहीं पहचान पाता, ध्यान दे, आवाज सुने तब भले ही पहचाने। लेकिन यदि हम स्वयं कभी भेष बदल लेते हैं तो हम स्वयं को न पहचानेंऐसी कभी भी परिस्थिति नहीं होती! अन्यत्र मन, मनकी सावधानी आदि चाहिये, मनके लिये नहीं चाहिये क्योंकि मन सीधे ही परमात्मा से स्फुरित होता है। अत एव वह ध्येय नहीं। ध्यान में ध्याता भावना के प्रकर्ष से वृत्ति बनाता है जिससे ध्येयका स्फुरण होता है। भावना अर्थात् दृढतर संस्कार जो श्रद्धा, राग, द्वेष आदि किसी भी हेतु से डाले जायें। देवता, ईश्वर आदि का ध्यान प्रायः श्रद्धा से डाले संस्कारों से होता है। भावना ज़्यादा हो तब वृत्ति से ध्येय का अनुभव होता है। कम भावना रहते तो ध्यान क्रियामात्र रहती है, 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' यही लगता है, लेकिन भावना ज़्यादा होने पर ध्येय का स्फुरण होता है 'मैं ध्येय का साक्षात्कार कर रहा हूँ' यह प्रतीति होती है। शास्त्रानुसारी होने से प्रतीति को झूठा कहना नहीं बनता पर जो शास्त्रादि प्रमाणों के अनुसार न हो उसे मनोराज्य आदि नामों से भ्रमात्मक मानना पड़ता है। उपासक जिसका ध्यान करते हैं उसका स्फुरण क्योंकि उक्त वृत्ति पर निर्भर है अतः घट आदि की तरह वह मनका स्फोर्य ही होना संगत है जिससे उसे मुख्य ब्रह्म कहना नहीं बनता। जैसे मनःस्फोर्य घटादि भी व्यावहारिक हैं वैसे उपास्य भी है, उसे रज्जुसर्पादि की तरह प्रातिभासिक ही माना जाये ऐसा नियम नहीं यद्यपि कदाचित् वैसा भी होता है। हर हालत में, वागादि के प्रेरक अन्तर्यामी को यहाँ ज्ञेय ब्रह्म कहकर, ध्येय से पृथक् बताकर, उसकी पारमार्थिकता व्यक्त की है। इससे उनका मुख बंद हो जाता है जो वेदान्त की मर्यादाएँ बिना समझे कह देते हैं कि केवलाद्वैत में ईश्वर नकारा जाता है आदि।।४७-५०।।

मन के सन्दर्भ में कही बात का अन्यत्र अतिदेश करते हैं **जो आँख से नहीं**

न दृश्यते चक्षुषा यच्चक्षुषो भासकं तु यत्।
तद् ब्रह्म विष्णुमूर्त्यादिर्न मुख्यब्रह्मताऽस्ति हि।।५१।।
न श्रूयते यच्छ्रोत्रस्य साक्षी यद् ब्रह्म तद्भवेत्।
श्रुतं प्रणवनामादि न मुख्यब्रह्मतामियात्।।५२।।
न प्रेर्यते यत्प्राणेन प्राणस्य प्रेरकं तु यत्।
तद् ब्रह्म न तु हंसाख्यमंत्रः प्राणप्रचोदितः।।५३।।
अन्यैरपीन्द्रियैर्गम्यं न यत् किन्त्वक्षभासकम्।
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते।।५४।।

दीखता बल्कि चक्षु को ही भासित करता है, वह ब्रह्म है। विष्णु-मूर्ति आदि ब्रह्म शब्द का मुख्य अर्थ नहीं।।५१।। जो सुना नहीं जाता वरन् कानों का भी साक्षी है, वह ब्रह्म है। सुने गये ओंकार, नाम आदि ब्रह्म-शब्दका मुख्य अर्थ नहीं हैं।।५२।। जो प्राणों से प्रेरित नहीं होता किंतु प्राणों का प्रेरक है वह ब्रह्म है। प्राण से चलने वाला हंस नामक मंत्र ब्रह्म नहीं है।।५३।। अन्य भी इन्द्रियों से जो विषय नहीं किया जाता किन्तु इन्द्रियों का प्रकाशक है, उसे ही तुम ब्रह्म समझो, न कि उसे जिसकी उपासना की जाती है।।५४।। नाम-रूप-कर्म ये परमात्मा का स्वरूप नहीं एवं इन्द्रियाँ और प्राण इन्हीं को प्रकट करते हैं अतः इंद्रिय- विषय परमात्मा नहीं। विष्णुमूर्ति अर्थात् जो चतुर्भुजादि शरीर विष्णुरूप से व्यवहार्य है। जैसे देवदत्तादि शरीर जीवात्मा नहीं वैसे विष्ण्वादि भी शरीर परमात्मा नहीं। इसी प्रकार ओंकारादि शब्द भी परमात्मा 'का' भले ही है लेकिन शब्द स्वयं परमात्मा नहीं। ऐसे ही राम, शिव आदि सभी नाम परमात्मा नहीं। अत एव बिंदु की तरह नाद का उपयोग होने पर भी उसे परमात्मस्वरूप नहीं समझा जा सकता। इन्द्रियों से अतिरिक्त प्राणों का भी उल्लेख किया ताकि स्पष्ट हो कि ज्ञानशक्ति की तरह क्रियाशक्ति का भी परमात्मा विषय नहीं। प्राण शरीर के सभी अवयवों को प्रेरित करता है, कोई भी देहावयव तभी तक कार्यकारी रहता है जब तक उसमें प्राण प्रेरकरूप से उपस्थित हो। प्राण जिस भाग को छोड़ दे वह सूख जाता है यह पेड़-पौधों तक में देखा जाता है। प्राण का प्रेरक ही परमात्मा है, उससे प्रेरित होने वाला नहीं। सीधे शब्दों में कहें, तो 'मैं हूँ इसलिये जानता व करता हूँ' न कि जैसा कुछ लोग समझते हैं कि 'क्योंकि जानता करता हूँ इसलिए मैं हूँ।' आत्मा स्वयंसिद्ध है, बाकी सब उससे स्फोर्य है, वह किसी से स्फोर्य नहीं है, यही प्रकरणार्थ है।।५१-४।। आगे उपनिषत् में कहा है कि 'यदि समझते हो कि आत्मा को अच्छी तरह समझ

मीमांसा

सर्वप्रत्ययवेद्यं यत्सोपाधि ब्रह्म विद्यते।
उपासकात् पृथग्भूतं तदेवोपासते जनाः।।५५।।
ब्रह्माभासमिदंरूपमुपेक्ष्यानिदमात्मकम्।
मुख्यब्रह्मैव साक्ष्याख्यं ज्ञात्वा स्वानुभवं वद।।५६।।

गये तो वास्तव में कम ही समझे हो! अभी और मीमांसा की ज़रूरत है।' इसे बताते हैं **उपाधि-समेत जो ब्रह्म सारी बुद्धि वृत्तियों से समझा जाता है एवं उपासकों से अलग होता है, लोग उसीकी उपासना करते हैं।।५५।। 'यह' इस तरह समझे जाने वाले इस ब्रह्मवत् प्रतीयमान वस्तुकी उपेक्षाकर जो 'यह' ऐसा नहीं है उस साक्षी नामक मुख्य ब्रह्म को ही जानकर अपना अनुभव बताओ।।५६।।** सभी 'प्रत्यय' अर्थात् प्रतीतियाँ विषय तो एक परमात्माके सिवाये किसी को नहीं करतीं। जैसे भ्रम से साँप देखने वाले की आँख टिकी तो रस्सी पर ही है, भले ही उसे यह पता नहीं है वैसे सभी को ज्ञान हो तो ब्रह्म का ही रहा है भले ही यह पता न होने से ग़लत ज्ञान हो रहा है, संसार दीख रहा है। जो कुछ समझदार हैं वे संसार को विराट् पुरुष अर्थात् परमात्माका शरीर देख पाते हैं। हर हालत में सभी प्रत्ययों का वेद्य, ज्ञेय तो परमात्मा है इसमें संदेह नहीं। भागवत में कहा है 'ज्ञानमेकं पराची- नैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा।' यह वेद्य ब्रह्म है सोपाधि अर्थात् उपाधि-सम्पर्क वाला। स्थूलादि कोई-न-कोई उपाधि से एकमेक हुए को ही वेद्य (ज्ञेय) समझा जाता है। सर्वथा संसारी तो घटादि उपाधि वाले को जानता है एवं उपासक विराट् आदि उपाधि वाले को जानता है। ऐसा ज्ञेय ही उपासकों द्वारा ध्येय है। उसे उपासक अपने से अलग ही समझता है। यहाँ जो 'वेद्य' कहा वह इस तात्पर्य से नहीं कि इसके ज्ञान से मोक्ष होता है। वैसे अभिप्राय से तो निरुपाधि को ज्ञेय कहते हैं। यहाँ अविद्यादशा में जो ज्ञेय है उसका उल्लेख है। वैसे, निरुपाधि ही सोपाधि बना ध्येय है अतः 'सर्वप्रत्यय' में कहे 'सर्व' से अखण्ड प्रत्यय भी मानें तो असंगत नहीं। सोपाधि समझने पर स्वयं को तथा ब्रह्म को परिच्छिन्न कर देते हैं अतः तुच्छ संसार-विषयों में ही उलझे रह जाते हैं। यह रूप भले ही लगे परमात्मा लेकिन है उसका आभास ही, वस्तुतः ब्रह्म नहीं है। इसे उपेक्षायोग्य समझना उचित है। कारण कि यह रूप पृथग्भूत, विषयभूत, युष्मत्प्रत्ययगोचर, दृश्य होने से व्यापक सच्चिदानंद नहीं हो सकता जो ब्रह्म शब्द का मुख्य अर्थ है। अतः जो कभी दृश्य होता नहीं उस

त्वत्कारुण्यात् सुष्ठु वेद ब्रह्माहमिति वक्षि चेत्।
अल्पं वेत्सि न संपूर्णं ज्ञातृज्ञेयविभेदतः।।५७।।
अखण्डैकरसे तत्त्वे ज्ञातृत्वं प्रत्यगात्मनः।
देवस्य[1] ब्रह्मतेत्येवं खंडनादल्पवेदनम्।।५८।।
मीमांस्यमेव तेऽथापि भेदभ्रमनिवृत्तये।
मीमांसित्वा निश्चयं ते वदेत्युक्तस्तथाऽकरोत्।।५६।।

साक्षी को ब्रह्मरूप जानना चाहिये। प्रकाश्य नहीं वरन् प्रकाश होने से सर्व-प्रकाशक परमात्मा है। गुरु ने निर्देश दिया कि उस प्रत्यक्स्वरूप को समझकर कहो कि क्या समझे।।५५-६।।

शिष्य को और भी चेतावनी देते हैं कि अपनी समझकी ठीक परीक्षा करके ही जवाब देना, शीघ्रता में अपरिपक्वता का परिचय मत देना **यदि कहोगे 'आपकी कृपा से मैं ब्रह्मको अच्छी तरह समझ गया' तो (यह निश्चित हो जायेगा कि) थोड़ा ही जानते हो, समूचा नहीं, क्योंकि ज्ञाता-ज्ञेय के विभाजन को सुरक्षित रख रहे हो।।५७।। अखण्ड और एक-समान रहने वाले तत्त्व में प्रत्यगात्मा (मैं) की ज्ञाता-रूपता और देव (परमेश्वर) की ब्रह्मरूपतायों टुकड़े करने से थोड़ा ही जानते हो (यह पता लगता है)।।५८।। अतः भेदके भ्रमको मिटाने के लिये और भी विचार कर्त्तव्य है। विचार करके तुम्हारा निश्चय सुनाओ ऐसा निर्देश पाये शिष्य ने वैसा ही किया।।५६।।** जब तक अहंकार है, त्वंमर्थ का शोधन नहीं हुआ, तब तक ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के खण्डों (हिस्सों) सहित ही ज्ञान होगा। अखंड ज्ञान के लिये अहं को हटाना पड़ेगा। अत एव सुषुप्ति के अनुभव का उल्लेख किया जाता है, वहाँ अहम् न रहने से ज्ञान में खण्ड भी नहीं रहते। यद्यपि वहाँ अज्ञान है तथापि क्योंकि अहम् नहीं इसलिये 'सुख से सोया' याद आने पर भी 'मैं सुख को भोग रहा था' यों त्रिपुटी याद नहीं आती। 'तत्त्वमसि' से आपाततः भी 'अहं ब्रह्म' समझ आता है पर इसमें अहम् और ब्रह्म में भेद है। जब विवेक हो चुकता है तब 'अहं ब्रह्म' अनुभूति में अहं और ब्रह्मका भेद नहीं है। इसे शब्दों में व्यक्त करना पेचीदा होने से ही यहाँ आचार्य शिष्य को सावधान कर रहे हैं कि सही अनुभव पाकर फिर सही तरह बताओ ताकि स्पष्ट हो जाये कि अखण्ड साक्षात्कार हो गया। इस सुस्पष्टता के लिये

---

[1] ज्ञेयस्येति पिपठिषामि। मुतुशास्त्री 'ब्रह्मणो ज्ञेयत्वेन च विभागं करोषी'ति व्याख्यानादेवं सूचयतीव।

भेदभ्रमो निवृत्तोऽद्य यथाशास्त्रं विचारतः।
सुवेदेति न वेदेति द्वाभ्यां हीनं तु शेषितम्।।६०।।
स्वप्रकाशं तमात्मानं तथात्वेनैव वेद्म्यहम्।
नान्यथाऽतो यथाशास्त्रं बुद्धं ब्रह्मेति निश्चयः।।६१।।
सुवेदेत्यक्षविषये न वेदेत्यप्यभासिते।
वक्तुं युक्तं स्वयं भाते कथं तद्युज्यते द्वयम्।।६२।।
मध्येऽस्माकं हे सखायो ज्ञाताज्ञातत्ववर्जितम्।
ब्रह्मेति वेत्ति योऽसौ हि यथाशास्त्रं विबुद्धवान्।।६३।।

मीमांसा या विचार ही सक्षम उपाय है, अन्य कोई नहीं। श्रुति ने कैसे-कैसे क्या-क्या कहा और उस सबका अनुभव से कैसे सामंजस्य हैयह चिन्तन तब तक करना है जब तक सारे वेदोपदेश और अपने सब अनुभव एक ही निर्णय में पर्यवसित हों। इसी सश्रद्ध सोद्देश्य विचार को मीमांसा कहते हैं। सखण्डता और व्यापकता के विरोध के परिहार की प्रक्रिया विवेक है जिसके सहारे जानना पर जानने वाला न बनना और ब्रह्म को ही जानना पर उसे जाना गया न बनानाइस विरोधाभास का परिहार होता है। शिष्य ने ऐसा ही प्रयास कर वक्ष्यमाण उत्तर दिया।।५७-६।।

उपनिषत् में शिष्य ने कहा 'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद् वेद तद् वेद नो न वेदेति वेद च।।' २.२।। अर्थात् 'भलीभाँति जानता हूँ ऐसा नहीं मानता पर नहीं जानता ऐसा भी नहीं क्योंकि जानता हूँ! हम में से जो कोई भी इस बात को समझता है वही तत्त्व जानता है। 'नहीं जानता' और 'जानता हूँ' दोनों ही उसके बारे में कहना नहीं बनता। इस प्रत्युत्तर का संग्रह करते है **शास्त्रानुसार चिन्तन से अब भेदका भ्रम दूर हो गया है। 'अच्छी तरह जानता हूँ' और 'नहीं जानता' इन दोनों से रहित तो बचा लिया है।।६०।। उस स्वयम्प्रभ आत्मा को वह वैसा ही है यों मैं जान रहा हूँ, अन्य किसी तरह का नहीं समझ रहा। इसलिये निश्चय है कि शास्त्रानुसार ब्रह्म जान लिया।।६१।। 'अच्छी तरह जानता हूँ' उसे कहना बनता है जो इन्द्रियगोचर हो; 'नहीं जानता' उसे कहना बनता है जो भास न रहा हो। जो खुद भासमान है उसके बारे में दोनों बातें कैसे संगत हों?।।६२।। हे मित्रो! हमारे बीच जो समझता है कि ब्रह्म ज्ञातता और अज्ञातता से रहित है, वही शास्त्रानुसार समझा है।।६३।।** शास्त्र के अनुसार चिन्तन ही एकमात्र उपाय होने से शिष्य ने उसी से समझ लिया : अभेद (अखण्ड) के ज्ञान की

जरूरत नहीं, वह तो सदा है ही, जरूरत भेद का भ्रम मिटाने की है। त्रिपुटी निवृत्त होने पर अवशिष्ट चिन्मात्र साक्षी ही अखण्ड है। विषयतया न जानने से 'अच्छी तरह' जानना नहीं कह सकते और नित्य भान होने से न जानना भी नहीं कह सकते। आत्मा स्वप्रकाश अर्थात् अपने अपरोक्ष व्यवहार में खुद ही समर्थ है, उसे ऐसा ही रहने देते हुए उसे समझना है। यदि उसे 'अन्यथा' अर्थात् बुद्धिवृत्ति आदि किसी अन्य के सहारे अपरोक्ष-योग्य समझा तो स्वप्रकाशता का विरोध होगा अतः 'अन्यथा' न समझकर यही समझना है कि मैं निरपेक्ष ज्ञानमात्र हूँ। यही शास्त्रानुसारी ब्रह्मनिश्चय है। आत्मनिश्चय ही ब्रह्मनिश्चय है। 'सुवेद' अर्थात् भलीभाँति समझना तब कहते हैं जब विषय इन्द्रियों के संमुख हो, उसमें अनेक विशेषताएँ हों जिन्हें जाना जाये। 'न वेद' या न जानना तब कहते हैं जब वस्तु का भान ही न हो। आत्मा ज्ञानरूप है, नित्य ही जाना जा रहा है। जाग्रत् आदि कल्पित पदार्थ आते-जाते हैं पर आत्मा सदा भासमान है, कुछ और है तब भी, कुछ और नहीं है तब भी। किन्तु आत्मा होने से ही वह इन्द्रियों के सम्मुख नहीं और अद्वय होने से उसमें विशेषतायें भी नहीं अतः उसके बारे में 'भलीभाँति' जानने की बात भी निरर्थक है। प्रारब्धपर्यन्त त्रिपुटी का व्यवहार रहने पर भी आत्मा को स्वयं में न ज्ञातृत्व प्रतीत होता है, न नाम-रूप में उसे ज्ञेयता (जानने योग्यता) प्रतीत होती है। न नाम-रूप के अनुभव को वह ज्ञान ही समझता है क्योंकि वे अनुभव अविद्या-निवर्त्तक तो हैं नहीं कि ज्ञान कहे जायें। अतः शिष्य ने घोषणा की कि आत्मा का ज्ञान ऐसा ही है। अनादिकाल से अज्ञान में रहकर भी आत्मा का स्फुरण बंद नहीं हुआ! इसी के स्फुरण से अज्ञान भी जाना जाता रहा। जो कभी सर्वथा अज्ञात न रहा हो उसे अब ज्ञात भी कैसे कहें! पहले अज्ञात हो फिर अज्ञात न रहे तो ज्ञात कहना बनता है, सदा भासमान को ज्ञात भी कहना नहीं बनता। यह उसकी ज्ञात-अज्ञात से विलक्षणता तत्त्वज्ञ को ही प्रत्यक्ष है।।६०-३।।

केनश्रुति ने निर्णय दिया है कि 'जिसे अमत है उसे मत है जबकि जिसे मत है वह अनजान है! जानकारों को उसका अनुभव नहीं, जो उसको नहीं जानते उन्हीं को प्रत्यक्ष है।' (अमत अर्थात् मति का विषय न बना हुआ। मत अर्थात् अनुभूयमान। दूसरे 'मत' का अर्थ है मति का विषय बना हुआ।) इसे समझाते हैं **जो लोकसिद्ध वस्तु होती है और जो ब्रह्म है, वे क्योंकि परस्पर विपरीत स्वरूप वाले हैं इसलिये जिसे (ब्रह्म) अमत है उसे मत है, जिसे मत है वह नहीं**

यल्लौकिकं वस्तु यच्च ब्रह्म तद्धि विलक्षणम्।
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।।६४।।
लोके घटो मतो येन स घटज्ञ इतीर्यते।
येन मन्त्रा मतं ब्रह्म न त्वसौ ब्रह्मविद्भवेत्।।६५।।
मन्तृमन्तव्यरूपेण विविधत्वं विजानता।
अविज्ञातं ब्रह्मतत्त्वमखण्डैकरसात्मकम्।।६६।।
विविधत्वमविज्ञाय यदखंडत्ववेदनम्।
तद्भवेद् ब्रह्मविज्ञानं धीमद्भिर्बुध्यतां तथा।।६७।।

जानता।।६४।। यद्यपि नित्य ही अद्वैत है तथापि इस सत्त्य से अनजान रहते सभी को नाम-रूप कर्मात्मक संसार उपलब्ध है जो लोकसिद्ध वस्तु है। इसे वस्तु इसलिये नहीं कहा कि यह वास्तविक है वरन् इसीसे कि लोक अर्थात् शास्त्रसंस्कारशून्य रहते यह सिद्ध अर्थात् उपलब्ध सत्त्य प्रतीत होता है। इसकी यह सिद्धता और प्रतीयमान सत्यता ही साधक को आकृष्ट किये रहती है अन्यथा शास्त्र तो संसार की असारता तथा परमात्मा की सारिष्ठता ऐसी प्रतिपादित करते हैं कि तत्काल तीव्रतम मुमुक्षा हो जाये! जब तक यह द्वैत उपलब्ध है तब तक समझना है कि ब्रह्म इससे विलक्षण है। परमार्थ समझने के पश्चात् तो या द्वैत वस्तु है नहीं कि 'उससे' अलग समझें और यदि है भी तो ब्रह्म का विलासमात्र होने से ब्रह्म से पृथग्भूत नहीं है कि विलक्षणता के मायने हों। उक्त विलक्षणता प्रसिद्ध है कि लौकिक वस्तु असत् जड दुःख है, ब्रह्म सत्-चित्-आनंद है। चिद्रूपता के कारण ही जिसे लगे कि ब्रह्म 'मत' अर्थात् मतिगोचर हो गया वह अज्ञानी ही है, जो उसकी मति-अविषयता समझ चुका उसे वह भास गया।।६४।।

सद्-असत् आदि विलक्षणता की तरह यह भी विलक्षणता है कि दोनों की समझ अलग-अलग हैं **लोक में घड़ेका जानकार वह कहा जाता है जिसके द्वारा घड़ा मतिका विषय बनाया जा चुका है किंतु जिस मननकर्त्ता द्वारा ब्रह्म मति-विषय बनाया जाता है वह ब्रह्मका जानकार नहीं हुआ करता।।६५।। मननकर्त्ता और मननविषयइस रूप से भेद समझने वाले को ब्रह्मतत्त्व नहीं मालूम है क्योंकि वह स्वरूप से ही अखंड एकरस है।।६६।। भेद का अनुभव बिना किये जो अखण्डता की अनुभूति वह ब्रह्मसाक्षात्कार है। बुद्धिमानों को वैसे समझना चाहिये।।६७।।** विषयतया ज्ञान लोक में सही मानते हैं। कहते भी हैं कि तटस्थ

ईदृशः प्रतिबोधो यस्तेन चेद्विदितं तदा।
मतं ब्रह्म भवेद्विद्वानमृतत्वं हि विन्दते।।६८।।
नित्यानित्यविवेकादियुक्तेन मनसा पुमान्।
वेदितुं लभते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।।६९।।

होकर अर्थात् ज्ञेय से स्वयं को पृथक्, असम्बद्ध रखकर समझना ही ठीक समझना है। इसीलिये स्वयं अपने बारे में जिसकी जो समझ हो उसे लोग महत्त्व नहीं देते, दूसरों की उसके बारे में समझ को ही महत्त्व देते हैं और उसे भी समझाते हैं कि दूसरों की समझ के अनुसार वह स्वयं को समझे। इस तरह लोकदृष्टि में विषयभाव ज्ञान के याथार्थ्य में प्रयोजक है। ब्रह्म (आत्मा) के बारे में इससे विपरीत है। इसे विषय समझना ही समझ को ग़लत बना देता है क्योंकि यह वस्तु है ही ऐसी कि विषय हो न सके। विषय बने का नाम दृश्य और दृश्य मिथ्या है जबकि ब्रह्म सत्य है अतः जो विषय के बारे में जाने उसे मिथ्याज्ञानी अर्थात् अज्ञानी ही कहना बनता है। संसार के अंतर्गत जो कुछ है सब दृश्य है अतः इसकी जानकारी अविद्या का ही विलास है। अतः आरोपित विविधता, द्रष्टा-दृश्य के विभाजन को निरस्त कर जो वास्तविक अखण्डता, पूर्णता का अनुभव वह आत्मबोध है। विविधता का अविज्ञान अर्थात् उसके सत्यत्व का बाध, भेदबाध होते ही अभेद प्रकाशमान रह जाता है।।६५-७।।

आगे उपनिषत् कहती है कि 'प्रतिबोधविदित' समझा जाने पर अमरता मिलती है, आत्मा से वीर्य और विद्या से अमरता का लाभ होता है। इसे व्यक्त करते हैं **ऐसा जो 'प्रतिबोध' उससे अगर जाना गया तो ब्रह्म समझा बना क्योंकि (ऐसा जानकार) अमरता पाता है।।६८।। नित्य-अनित्य का विवेक आदि साधनों से सम्पन्न मन से पुरुष ज्ञानोपयोगी सामर्थ्य पाता है तथा ज्ञान से अमरता पाता है।।६९।।** 'प्रतिबोध' अर्थात् समझ। लोक में भी जानकारी और समझ में अंतर होता है, जिसे बहुत-सी जानकारी हो वह आवश्यक नहीं कि समझदार हो और समझदार को ज़्यादा जानकारी होती हो यह भी जरूरी नहीं। वस्तुस्थिति को समग्रता से पहचानना समझ है जिसमें इंद्रियादि प्रमाणों का उपयोग तो है लेकिन उनसे सीमित रहने का बंधन नहीं है। परमेश्वर भी शास्त्रप्रमाण से पता लगता है लेकिन उसकी समझ केवल शास्त्र से नहीं, साधन-सम्पत्ति पूर्वक श्रवणादि के निरन्तर अभ्यास से ही प्राप्त ईशकृपा से मिलती है। विदित-अविदित से अलग को प्रमाणमात्र से नहीं जान सकते परन्तु समझ अवश्य सकते हैं। प्रकाश स्वयं से प्रकाशित नहीं भी है लेकिन

देहे प्राणवियोगाख्या मृतिरात्मनि कल्पिता।
अविद्यया विद्यया तु भ्रान्तिः सा विनिवर्तते।।७०।।

प्रकाशित होने पर जो स्थिति बनती अर्थात् दीखता, उस स्थिति में भी है अर्थात् दीखता है। ऐसे उदाहरण इस समझ के विकास में उपयोगी हैं। आत्माका अनुभव करना है यह कहते हैं लेकिन उसे अनुभवरूप भी बताते हैं तो अवश्य प्रश्न होता है कि फिर करना क्या है? घट अनुभवरूप नहीं तो उसका अनुभव कर सकते हैं लेकिन जो है ही अनुभवरूप उसके अनुभव का मतलब क्या? इसका उत्तर समझा ही जा सकता है एवं इसी समझ को 'प्रतिबोध' कहा है। अन्य सबको हटाते जाने पर एकमात्र आत्मा का स्फुरण रहना ही 'आत्मा को अनुभव करना' है। ऐसा हुआ या नहीं यह इससे पता चलता है कि अमरता मिली या नहीं क्योंकि इस अनुभव का फल अमरता ही है। मृत्यु जिस भूमिका पर है उससे निवृत्त होते ही आत्मा मृत्यु से परे हो जाता है। इस साक्षात्कार की सामर्थ्य-रूप वीर्य मिलता मन से है जिसे यहाँ श्रुति ने 'आत्मना' से बताया। साधनयुक्त होने पर ही मन वीर्यप्रद है।।६८-९।।

अमरता मिलती है तो बिछुड़ती भी होगीइस संभावना को मिटाते हैं **देह रहते प्राणका वियोग होने का नाम मरण है जो आत्मा में अविद्या से कल्पित है किन्तु विद्या से वह भ्रम दूर हो जाता है।।७०।।** आत्मा में मृत्यु के कोई मायने ही नहीं, केवल आत्मा को न समझकर जो आत्मा नहीं उस शरीर को आत्मा मानकर, उस शरीर से प्राणका वियोग होने पर जो शरीर की मृत्यु उसे आत्मा की समझना ही आत्मा की मरणधर्मिता है जो वास्तविकता अनावृत होने पर मिट जाने से आत्मा की वास्तविक अमरता व्यक्त होना ही अमरता मिलना है। देह-प्राण संयोग को प्रकाशित-मात्र करता 'मैं जीवित हूँ' मानने वाला आत्मा देह-प्राण वियोग को भी प्रकाशित-मात्र करने पर 'मर गया' माना जाता है। आत्मा तो प्रकाशमात्र, ज्ञानमात्ररूप है, शरीरादिरूप तो है नहीं, फिर भी तादात्म्यभ्रम से देहधर्म जीवन-मरण का आत्मा में आरोप है जिसकी निवृत्ति अमरता-प्राप्ति है। क्योंकि यह सदा निवृत्त मरण की ही निवृत्ति है, सदा प्राप्त अमरता की ही प्राप्ति है इसलिये इसके मिलने पर भी इससे बिछुड़ना नहीं होता।।७०।।

उपनिषत् में बताया कि यहीं जान लिया तो सत्य है, नहीं तो महान् विनाश है! 'यहीं' मायने अधिकार रहते। इसे समझाते हैं **सभी जन्मों में यह विद्या सुलभ नहीं है अपितु शिष्यभावके लिये विहित लक्षणों से भरे-पूरे जन्म में ही प्राप्त होती**

नैव जन्मनि सर्वस्मिन् विद्यासौ सुलभाऽपि तु।
शिष्यलक्षणसम्पूर्णजन्मन्येव हि लभ्यते।।७१।।
ईश्वरानुग्रहाच्छान्तिदान्त्यादिगुणसंयुतम्।
जन्म चेल्लभ्यते तस्मिन् विद्यया मोक्षमाप्नुयात्।।७२।।
नावेदि चेदिहालस्याद् विनष्टिर्महती भवेत्।
कदाचिज्जन्म पश्वादिरूपं स्यादिति वेत्ति कः।।७३।।
तस्माच्छास्त्राधिकारेण युक्तं विप्रादिजन्म चेत्।
लभ्यमालस्यरहितो विद्यादात्मानमद्वयम्।।७४।।

है।।७१।। ईश्वर के अनुग्रह से शम-दम आदि गुणों से युक्त जन्म यदि मिले तो उसमें विद्या से मोक्ष पा जाये।।७२।। ऐसे शरीर में भी अगर आलस्यवश न जाना तो महान् विनाश होगा। पशु-आदिरूप जन्म कब हो जायेगायह कौन जानता है!।।७३।। इसलिये शास्त्रोक्त अधिकारिगुणों से युक्त ब्राह्मण आदि जन्म अगर मिल गया तो आलस्य छोड़कर अद्वय आत्मा को अवश्य जाने (यह जीव के लिये योग्य है)।।७४।। शिष्य में आवश्यक लक्षण या गुण काफी हैं अतः यदि एक जन्म में सब न आयें तो 'अनेकजन्मसंसिद्धः' आदि गीतोक्त तरीके से जब आयेंगे तब ज्ञान होगा अतः मौका मिलते ही प्रयासरत तो होना ही चाहिये। जैसे सूर्य है ही, आतशी शीशा तैयार होने की ही देर है, उसके तैयार होते ही तिनकों को जलाने में विलम्ब नहीं वैसे आत्मा नित्यमुक्त है ही, मन में योग्यता लाने की देर है, आते ही बन्धन निवृत्त होने में देर नहीं है। ये लक्षण ईश्वर के अनुग्रह से ही आते हैं। यथानियम कर्म-उपासना से सन्तुष्ट ईश्वर कृपा करे तभी मन विवेकादि-संपन्न होता है, अन्यथा नहीं। ऐसा जन्म मिलने पर भी, मन योग्य होने पर भी यदि आलस्य के वशीभूत हो गया तो जीव उस मौके को खो देगा। परमेश्वर कृपा से सारी सामग्री उपस्थित करने पर भी जीवकी स्वतन्त्रता पर रोक नहीं लगाता। प्रायः योग्यता होने पर साधक प्रयास करेगा ही लेकिन आलस्यवशीभूत होने का अवसर भी नकार नहीं सकते। इससे प्रमाद भी उपलक्षित है अर्थात् असावधान होकर विचार से भिन्न किसी मार्ग को अपना लेना भी संभव हो जाता है। भगवान् ने (१८.५८) अहंकारवश भी ऐसे विनाश का कथन किया है। इसलिये यदि ब्राह्मणादि शरीर मिला तो पूर्वजन्मों की साधना का फल पता लग गया, जैसा कि विवेकचूडामणि में 'ततो विप्रता' कहा है, अब आगे शमादि साधन अपनाने में तत्पर होना जीवका कार्य है। विप्रादि इसलिये कि

नानात्मत्वभ्रमोच्छित्त्यै तत्तद्देहेष्ववस्थितम्।
स्वात्मत्वेनैव निश्चित्य धीरा यान्ति कृतार्थताम्।।७५।।
मायया दृश्यते लोको येऽस्मात् प्रेत्य स्थिताः परे।
न तेषां जन्ममरणे विद्येते कर्हिचित् क्वचित्।।७६।।

पारिव्राज्य में ब्राह्मणका मुख्य अधिकार है। 'आदि' से वेदाधिकारयुक्त योनि समझनी चाहिये। सर्वथापि मनुष्य को शास्त्राधिकारी माना है अतः पश्वादि जन्मों में जायें उससे पूर्व ही मानव को चाहिये कि साधन संपन्न होकर अपरोक्ष आत्म दर्शन प्राप्त करे।।७१-४।।

सर्वत्र आत्मदर्शन कल्याणोपाय है यह समझाते हैं **अनेक आत्मा हैं इस भ्रमके समूल निरासके लिये सभी शरीरों में उपस्थित स्वयं का ही निश्चय कर बुद्धिमान् कृतार्थ होते हैं।।७५।। माया से लोक दीख रहा है। जो इससे सर्वथा पृथक् होकर परतत्त्व के रूप में स्थित हैं उनके कभी कहीं जन्म-मरण नहीं होते।।७६।।** जैसे विविध दर्पणादि में सूर्य विविध और अनेक दीखते हैं, बर्तनादि में आकाश विभिन्न प्रकार का व अनेक दीखता है, वैसे अनन्त शरीर-मनों में एक आत्मा ही अलग-अलग तरहका और अनेक दीख रहा है। शास्त्र के अनुसार विचार कर उसकी अखण्ड एकरस प्रत्यङ्मात्रता को समझना ही कृतार्थता हेतु है। जिस सच्चिदानन्द वस्तु को 'मैं' जान रहे हैं वही सब शरीरों में मौजूद हैयह 'सर्वभूतेषु आत्मदर्शनम्' है। इस बोध से राग-द्वेष सर्वथा मिटने पर स्वाभाविक स्वरस उपरति स्थिर होती है। इससे पहले वैराग्य ही हो सकता है, उपरति बोध का फल है। यह उपरति ही कृतार्थता है। इसके अनन्तर 'व्यवहार' का हौवा बेअसर है। जैसे जगने पर स्वप्न में ओढ़े कर्त्तव्यों का बोझ तुरन्त उतर जाता है वैसे परतत्त्व में जागते ही संसार स्वप्न का सारा बोझ उतर जाता है। इसलिये कहा कि अज्ञान से दीखते संसार के प्रति तो वह 'प्रेत्य' मर चुकता है! जैसे मरा व्यक्ति जहाँ मरा उस घर-परिवार-जाति-देश-धर्म के प्रति उसके सारे दायित्व ख़त्म हैं वैसे तत्त्वज्ञ के संसार के प्रति सारे दायित्व ख़त्म है। जैसे जहाँ नया जन्म मिले वहाँ के दायित्व प्रारंभ होते हैं वैसे जिस परतत्त्व में इसका जन्म हुआ वहीं का व्यवहार इसके लिये रहा और पर वस्तु का एकमात्र व्यवहार अखण्ड सद्भाव है। संसार छूटना भी वर्तमान भ्रमके अनुरोध से कहते हैं वस्तुतः तो तत्त्वसाक्षात्कार यह स्पष्ट करता है कि संसार कभी भी नहीं है।।७५-६।।

इसके आगे केनोपनिषत् में एक आख्यान सुनाया है जिसका प्रयोजन निर्देशपूर्वक

आख्यायिका

ईश्वरानुग्रहादेव भवेदद्वैतवासना।
नान्यथेति विवक्षित्वा काचिदाख्यायिकोच्यते।।७७।।
देवार्थमीश्वरो युद्धे विजयं कुरुते सदा।
अज्ञात्वाऽनुग्रहं देवा जयगर्वं प्रपेदिरे।।७८।।
जयः स्वकीय इत्येवं देवाभिप्रायमीश्वरः।
ज्ञात्वा देवान् बोधयितुं तेषां प्रादुर्बभौ पुनः।।७९।।
देवाः सभासदो दृष्ट्वा वपुरैशमलौकिकम्।
किमेतदिति विज्ञातुं प्रैरयन्ताग्निमन्तिके।।८०।।

संग्रह करते हैं **ईश्वर के अनुग्रह से ही अद्वैत का संस्कार दृढ होता है, और किसी तरह नहीं इसे कहना चाहकर कोई कहानी सुनायी जा रही है।।७७।। ईश्वर सदा युद्ध होने पर देवताओं के लिये जीत संपन्न करते हैं। देवता इस अनुग्रह को बिना समझे जयनिमित्तक गर्व से ग्रस्त हो गये।।७८।। 'जीत हमारी है' यों देवताओं की मान्यता समझकर ईश्वर उन्हें समझाने के लिये उनके संमुख प्रकट हुए।।७९।। सभा-स्थित देवों ने ईश्वर का अलौकिक शरीर देखकर, 'यह क्या है?' यह पता लगाने के लिये अग्नि को ईश्वर के पास भेजा।।८०।।** अद्वैत का आपात ज्ञान होने पर भी जब तक उसकी वासना न हो, दृढ संस्कार न हो, हरदम हर वृत्ति अद्वैतनिष्ठ न हो, तब तक कल्याण नहीं। यह वासनालाभ भी ईश्वरकृपा पर निर्भर है। अन्यथा, देवभाव मिलकर भी अभिमानवश द्वैतबंधन बना रहता है। कहानी से यह स्पष्ट कर रहे हैं। 'कोई' कहानी अर्थात् यहाँ इसे घटनाविशेष मात्र के रूप में नहीं वरन् उक्त तथ्य स्पष्ट करने के लिये कहा है, भले ही ऐसी विशेष घटना हुई हो या लगातार होती रहती हो। देवासुर संग्राम में जो देव-विजय होती है वह ईश्वरकृत ही हुआ करती है। कभी-कभी असुर-विजय होती है, वह भी ईश्वरकृत तो है लेकिन उसमें भी देवहित निहित अवश्य है इसके लिये 'सदा' कहा। किं च असुरों का भी जय-पराजय दोनों में हित अवश्य अभिप्रेत है क्योंकि हारकर उनके आसुरभाव को क्षति पहुँचती है। कदाचित् जय हितकर है कि उनकी शास्त्र के प्रति भावना कायम रहती है और ईश्वर के प्रति सजगता बनी रहती है। असुर दुरुपयोग भले ही करें पर शास्त्रीय रीति से या ईश्वरादि के निमित्त तप से बल पाते हैं अतः उनका संपर्क सन्मार्ग से ही है। इसे कायम रखने के लिये कभी-कभी जय

समागतं वह्निमीशः को भवानिति पृष्टवान्।
जातवेदोऽग्निनामाऽहमिति [1]गर्वितवानसौ।।८१।।
त्वयि किं वीर्यमित्याह गर्वं भंक्तुं परेश्वरः।
अग्निः सर्वं दहामीति वाक्यं गर्वादवोचत।।८२।।

भी जरूरी है। हर हालत में, जय हुई ईश्वरानुग्रह से पर देवों में गर्व हो गया कि 'हमारी ही यह जय है, हमारी ही यह महिमा है'। लोक में भी देखते हैं : एक दुकान चल रही है, सेठ जी तीन समय आश्रम आकर ध्यान-भजन-सत्संग विचार करते हैं। भगवान् से प्रार्थना की, उनकी कृपा से एकसे दो, दो से चार दुकानें हो गयीं। सेठ जी को यह भूल जाता है कि ईश्वरानुग्रह से व्यापार चमका है, यह अभिमान हो जाता है कि 'मेरे करने से चल रहा है' अतः भगवान् के पास तीन के बजाये चार बार न आकर चार दिनों में एक ही बार आने लगते हैं! यदि कृपा पर निष्ठा रहती तो सोचते, तीन बार जाने से चार दुकाने हुईं तो और ज्यादा भजन करने से आठ होंगी। ऐसा न होकर अपने श्रम पर निष्ठा होने से भगवान् छूटते हैं। यही हाल देवों का हुआ तो परमेश्वर ने सोचा कि देवों में यह आसुर भाव पनपना ठीक नहीं अतः जहाँ देवता सभा जमाये बैठे थे वहाँ पास में भगवान् एक विचित्र यक्षरूप धारण कर प्रकट हो गये जिसे देवता देख तो सकें पर कौन है यह समझ न सकें। सीधे ही पहचान सकने वाला रूप लेकर आये होते तो देवता आदर-सत्कार कर देते लेकिन जो मुख्य उद्देश्य था वह पूरा न होता कि उनका भ्रम मिटे। अज्ञात शरीर देख कर उसके बारे में पता लगाने को सबसे पहले अग्निदेव को भेजा गया।।७७-८०।।

परमेश्वर को अयोग्य ढंग से समझने का प्रयास निष्फल होता है एवं बहुधा जीव की असमर्थता उसे परमेश्वरोन्मुख करने के प्रयोजन वाली होती है यह दिखाने वाला अग्निदेव का हाल सुनाते हैं **पास आये अग्नि को ईश्वर ने 'आप कौन हैं?' यह पूछा। उसने गर्वीला हो कहा 'मैं अग्नि नाम का जातवेदा हूँ।'' ।८१।। उसका गर्व भंग करने के लिये परमेश्वर ने 'तुममें क्या ताकत है?' यह पूछा। उसने गर्व से यह बात कही 'सब कुछ जला डालता हूँ।' ।८२।। अपनी दी हुई शक्ति को खींचकर 'यह तिनका जलाओ' ऐसा ईश्वर बोले। वह (पूरा ज़ोर लगाकर) भी उस तिनके को जला ही नहीं पाया!।।८३।।** गया तो पता लगाने अग्नि था पर यक्ष के सम्मुख अभिभूत हो गया, पूछने की हिम्मत नहीं जुटा-पाया, बोलती बन्द

---

[1] गर्जितवानसौइति मुत्तुशास्त्रीपाठः।

स्वदत्तां शक्तिमाहृत्य दहेति तृणमित्यमुम्।
उवाचेशः सोऽपि दग्धुं न शशाकैव तत्तृणम्।।८३।।
अग्निवद्वायुरप्यत्र गर्वे भग्ने निवृत्तवान्।
निर्गर्वमिन्द्रं दृष्ट्वेशः परीक्षायै तिरोभवत्।।८४।।

हो गयी। यक्ष ने ही उससे परिचय पूछा तो हिम्मत खुली, अपना नाम बताया और साथ में गर्वसूचक विशेषण दिया 'जातवेदा' अर्थात् जो कुछ संसार में उत्पन्न होता है उसे अग्नि जानता है! देवादिकर्मों में अग्नि ही साक्षी रहता है यह प्रसिद्ध ही है। यद्यपि सामने क्या है यह नहीं समझ पा रहा था तथापि इस अपनी कमज़ोरी को न देखकर साभिमान घोषणा करने लगा कि सर्वज्ञ है। जब अपनी ताकत सब जलाने की बतायी तब यक्ष ने पहले तो उसे दी हुई वह ताकत रोक ली फिर सामने एक तिनका रखकर उसे जलाने को कहा! अग्नि ने ताकत को परमेश्वर की कृपा से प्राप्तऐसा भूलकर 'अपनी' कहा था अतः यक्ष ने उसे प्रत्यक्ष करा दिया कि ताकत उसकी तो है लेकिन 'अपनी' नहीं, परमेश्वर-प्रदत्त है। पुराने समय में भारतीयों का बोलने का ढंग ही था कि परमेश्वर की कृपा से कुछ हुआ, उपलब्ध हुआ आदि। घर-मकान आदि को भी कहते थे 'भगवान् के दिये हैं।' भले ही सबको सर्वथा गर्वराहित्य नहीं हासिल होता था लेकिन कम-से-कम भगवान् याद आते थे, संस्कार पड़ता था, बच्चों को शिक्षा मिलती थी। आधुनिकता ने वह भाव तो मिटाया ही, बोलने में भी परिवर्तन कर दिया, भगवान् के जिक्र से ही परहेज होने लगा है। यह अभिमानवर्धन वर्तमान काल के दबाव तनाव आदि मनोविकारों का मुख्य हेतु है। भगवान् जिम्मेवार हैयह याद रखें तो अपने सिर का बोझ नहीं रहता, मैं ही सब करने-धरने वाला हूँ तो बोझ मुझ पर ही रहेगा! अग्नि भी इसी 'मैं' 'मेरा' के प्रभाव में था अतः उसका पराभव हुआ। परमेश्वर ने जब शक्ति रोक ली तब अग्नि सारी कोशिश करके भी उस एक छोटे से सूखे तिनके को भी जलाने में असमर्थ रहा! अत्यंत लज्जित हो, बिना कुछ कहे तुरंत लौट आया और देवताओं से इतना ही कहा 'मैं पता नहीं लगा पाया'। ।८१-३।।

आगे की कथा बताते हैं **अग्नि की तरह वायु भी यक्ष के समाने गर्व-भंग होने पर लौट आया। (इन्द्र ने प्रयास किया।) इन्द्र को गर्वरहित देख कर उसकी परीक्षा लेने के लिये ईश्वर तिरोहित हो गये।।८४।।** ईश्वरकृपा चाहने वाला इन्द्र ऊपर देखता हुआ खड़ा रहा। उस इन्द्र पर अनुग्रह करने के लिये

इंद्र ईशप्रसादार्थी तस्थावूर्ध्वं विलोकयन्।
अनुग्रहीतुमिन्द्रं तमुमारूपोऽभवद्धरः।।८५।।
देवि दृष्टं पुरा देवैः किं तद् ब्रूहीति पृष्टवान्।
तद्ब्रह्मानुग्रहात्तस्य जयोऽभूदित्युवाच सा।।८६।।
उत्कृष्टा अग्निवाय्विन्द्रा ईषत् संभाषणादमी।
तेषामपीन्द्रः पुण्यात्माऽनुग्रहोऽप्यधिको यतः।।८७।।

भगवान् हर ने उमा-रूप धारण कर लिया।।८५।। इन्द्र ने पूछा 'हे देवी! देवों ने इससे पहले जो देखा वह क्या है?' उमा बोली 'वह ब्रह्म है, उसके अनुग्रह से जीत हुई थी।'।।८६।। परमेश्वर से थोड़ी-सी बातचीत करने के कारण अग्नि, वायु और इन्द्र उत्कृष्ट हैं। इनमें भी इन्द्र पुण्यात्मा है क्योंकि उस पर अनुग्रह भी ज्यादा हुआ।।८७।। अग्नि निष्फल हुआ तो देवताओं ने वायुको भेजा। वह भी पूछ न पाया। यक्ष ने ही पूछा 'कौन हो, क्या करते हो?' वायु बोला 'वायु, मातरिश्वा हूँ, सब कुछ उड़ा देता हूँ।' यक्ष ने वैसे ही उसकी सामर्थ्य रोककर तिनका उड़ाने को कहा जिसे वह उड़ा न पाया तो मुँह लटकाकर लौट आया। इन प्रधान देवताओं की असामर्थ्य देखकर इन्द्र का गर्व जाता रहा। वह स्वयं पता लगाने चला। यक्ष ने समझ लिया कि गर्व तो इसका मिट ही चुका अब केवल इसकी श्रद्धा परीक्षणीय है। दैवी गुणों में निरभिमान और श्रद्धा प्रधान हैं। परीक्षा के लिये यक्ष अन्तर्धान हो गया। इन्द्र यह देखकर अधिक श्रद्धालु हुआ। अश्रद्धालु सोचता 'कुछ नहीं था या ऐसा ही कोई तुच्छ बल वाला था जो मेरा तेज नहीं सह पाया' आदि। इंद्र में श्रद्धा हुई। उसे मालूम था कि अग्नि-वायु भी ऐरे-ग़ैरे नहीं हैं, प्रधान देवता हैं। भले ही इंद्र राजा होने से विशेष है पर वे भी अतिसमर्थ हैं। अतः यक्ष की उपेक्षा न कर उसके महत्त्व के प्रति सद्भाववाला हुआ। 'सब मेरी बुद्धि का विषय है। जो मुझे समझ न आये वह हो ही नहीं सकता'यह अश्रद्धालुओं का निश्चय होता है। शास्त्रों के वर्णन, देवकृपा, तपःसामर्थ्य आदि सब को इसी दृष्टि से देखने का बढ़ता रिवाज अश्रद्धा का ही परिचायक है। 'मेरी समझ से परे भी बहुत कुछ है' यह श्रद्धालु की सोच है जिससे प्रेरित हो वह अधिक-अधिक जानने का प्रयास करता है। समझने का प्रयास ही श्रद्धा को दिखाता है। अश्रद्धालु ऐसा प्रयास ही नहीं कर सकता क्योंकि अपने समझे हुए खाके में बैठाने में ही उलझा रहता है। इन्द्र निर्गर्व और श्रद्धालु था अतः वहीं रुका रहा। उसे निश्चय था कि भगवान् की कृपा से ही पता लगेगा अतः

वह कृपाप्रार्थी बना। ऊपर अर्थात् मन-वाणी से परे तत्त्व का विलोकन अर्थात् चिन्तन करते हुए स्थिर रहा। श्रद्धा देख भगवान् ने उमा-रूप में दर्शन दिया। जिसने यक्ष-रूप में जिज्ञासा जगायी उसी ने उमारूप से ज्ञान दिया। परमेश्वर ही विविदिषा-उत्पादन-पूर्वक विद्या देते हैं। किन्तु इसकी योग्यता गर्वहीन श्रद्धा है। जैसे अंधे को सूर्य भी नहीं दीखता वैसे श्रद्धारूप चक्षु से वंचित को परमार्थ उपलब्ध नहीं होता। अश्रद्धा रहते साकार परमेश्वर भी 'दीखता' नहीं, कंस शिशुपाल आदि को कृष्ण परमेश्वर नहीं दीखे। हैमवती को देख इन्द्र ने उसी यक्ष के बारे में पूछा जिसका स्वरूप उमा ने ब्रह्म बताया, उसका प्रभाव देवताओं की जीत बतायी। शास्त्रसंस्कारी इन्द्र 'ब्रह्म' शब्द सुनते ही ठीक समझ गया कि कौन यक्ष था। विजय उसका प्रभाव थासुनकर इंद्र को बोध हो गया कि किस प्रयोजन से यक्ष ने दर्शन दिया था। परमेश्वर और उनका सहारा देना इतना सूक्ष्म है कि अविचारशील महसूस ही नहीं कर पाता। विचारशील इंद्र योग्य था अतः उमा के उपदेशमात्र से उसे साक्षात्कार हो गया। श्रवण की ज्ञान-साधनता इससे स्पष्ट हो जाती है। अग्नि-वायु की यक्ष से और इन्द्र की उमा से जो थोड़ी-सी बातचीत हुई इसीसे ये देवताओं से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गये, वेदों में इनके मंत्र ज्यादा हैं। जैसे जो राजा से कुछ बातचीत कर आये, गाँव में उसका ओहदा बढ़ जाता है वैसे परब्रह्म परमात्मा से वार्तालाप किया तो इन देवताओं का सम्मान बढ़ गया। इनमें भी अधिक पुण्यशाली इंद्र है, तभी इसमें श्रद्धा का अतिशय था और उसे यक्ष की वास्तविकता पता चली जो अग्नि-वायु को न चल सकी थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईश्वरानुग्रह ही परमात्मज्ञान में हेतु है और अनुग्रहपात्र बनने के लिये गर्वरहित एवं श्रद्धायुक्त होना आवश्यक है।।८४-७।।

उपनिषत् ने कहानी सुनाकर ईश्वर की उपासना का विधान किया है 'तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतद् आ इति। इद् न्यमीमिषद् आ ३ इति अधिदैवतम्।। अथ अध्यात्मम् यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरति अभीक्ष्णं सङ्कल्पः।। तद् ह तद्वनं नाम, तद्वनम् इति उपासितव्यम्' (केन ४.४-६)। किसी उपामा से दिये उपदेश को आदेश कहा है। बिजली चमकना और पलक झपकनाइन उपमाओं से यहाँ परमात्मा का उपदेश है। जो यह मन ब्रह्म की ओर जाता है, जिससे साधक ब्रह्म को साक्षाद्वस्तु के रूप में याद करता है, ब्रह्म के बारे में संकल्प बनाता है यह मन भी उपमा है उस परतत्त्व की। परमात्मा का 'तद्वन' नाम है, इस नाम से उसकी उपासना कर्त्तव्य है। इस प्रसंग को उपस्थापित करते हैं **मोक्षेच्छुकों को**

आदेशः

ईशानुग्रहसिद्ध्यर्थं ब्रह्मोपास्यं मुमुक्षुभिः।।
तच्चाधिदैवमध्यात्ममधिभूतमुपास्यताम्।।८८।।
आविर्भावतिरोभावौ विद्युद्वद्ब्रह्मणि स्थितौ।
ततो विद्युदुपाध्येतद् ब्रह्म स्यादधिदैवतम्।।८९।।

चाहिये कि ईश्वर की कृपा सिद्ध (प्राप्त) करने के लिये ब्रह्म की उपासना करें। अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत तीनों धरातलों पर उसकी उपासना की जाये ।।८८।। कोई कर्मादि-विशेष ही ईश्वरोपासना नहीं, सभी बाह्य एवं भीतरी कर्म ईश्वर प्रीत्यर्थ करने पर उपासना है। अपने पिता की सेवा भी उसमें स्थित ईश्वरप्रीत्यर्थ करने पर ईश्वरोपासना हो जाती है। ईश्वर-प्रसन्नता के अलावा कोई कामना मन में न रखकर करने पर ही उपासना होगी। अतः मोक्षेच्छुक ही इस उपासना में समर्थ होता है। संसार में कुछ भी चाहने वाला ईश्वरोपासना में अक्षम है। अधिदैवादि सभी स्तरों पर एक परमेश्वर की आराधना हो तब उसका अनुग्रह सुलभ होता है।।८८।।

अधिदैव में बिजली की उपमा स्पष्ट करते हैं **जैसे बिजली प्रकट-अप्रकट हो जाती है वैसे ब्रह्म में प्रकट होना एवं छिप जाना दोनों हुआ करते हैं इसलिये अधिदैव में यह ब्रह्म बिजली-उपाधि वाला उपासनीय है।।८९।।** हमें अनुभव होते हैं, समाप्त हो जाते हैं। अभी तो हम दोनों दशाओं में कारणों को खोजने लगते हैं, कभी कुछ हद तक कारण मिलते भी हैं, कभी सर्वथा नहीं मिलते, फिर भी हमारी उधेड़बुन चलती रहती है। उपासक यह सावधानी रखे कि जैसे बिजली का स्वभाव ही अचानक चमकना फिर बुझना है वैसे ब्रह्म कभी किसी अनुभव रूप से प्रकट होता है फिर छिप जाता है, इसमें उसके स्वतंत्र संकल्प से अन्य हेतु की गवेषणा अनर्थक है। देवताओं को परमेश्वर ने यक्षरूप में अचानक ही दर्शन दिया, अचानक ही लुप्त हो गये। इससे इन्द्र ने यह तो पता लगाया कि कौन था, लेकिन क्यों दर्शन मिला और फिर वंचित रह गयेइसकी चिंता इन्द्रादि ने नहीं की। यह परमेश्वर की स्वतंत्रता ही है इसे स्वीकारने में ही बुद्धिमानी है। क्योंकि देवताओं को यों अनुभव हुआ यह बताया और क्योंकि बिजली चमकाना देवकार्य ही है इसलिये दिव्य उपमा से दिया यह आधिदैविक उपदेश है।।८९।।

अध्यात्म में मनको दृष्टान्त बनाया यह समझाते हैं **याद और संकल्प समेत मन अध्यात्म में उपाधि है। ब्रह्मका 'तद्वन' नाम है, इस नाम वाले की उपासना**

मनोऽध्यात्ममुपाधि स्यात् स्मृतिसंकल्पसंयुतम्।
तद्वनेति ब्रह्मनाम तन्नामकमुपास्यताम्।।६०।।
यत्तैः संभजनीयं तद्धवेत्तद्वननामकम्।
तथैवोपासितं ब्रह्म दद्यादाचार्यसंपदम्।।६१।।
तदुपासकमीशानुगृहीतं ब्रह्मवेदिनम्।
वांछन्ति विद्यां ब्रूहीति भक्तिमन्तोऽखिला जनाः।।६२।।

करनी चाहिये।।६०।। जैसे बिजली उपमा है वैसे मन भी। मन में स्मृति उठकर संकल्प होता है ऐसे ही परमात्मा पूर्वादिकल्प, प्राणिकर्म आदि यादकर सृष्टि का संकल्प करते हैं। मनश्चेष्टाओं से स्वात्मा भी अनुभव में आता रहता है। शरीर के भीतर रहने से मन अध्यात्म कहा गया है। जैसे हमें अचानक अनेक स्मृतियाँ आती हैं, वे क्यों आयीं कुछ पता नहीं, कोशिश करते हैं तो आती नहीं हैं, विविध संकल्प भी क्यों होते रहते हैं कुछ पता नहीं चलता, ऐसे ही परमेश्वर का कर्मादिस्मरण और सृष्टिसंकल्प क्यों होता है इसका एक ही सही उत्तर हैपता नहीं। अपनी समस्त मनोवृत्तियों को परमात्मा की मूर्ति समझना चाहिये। सभी वृत्तियाँ व्यक्त तो परमात्मा को ही करती हैं 'मत्तः स्मृतिः' आदि से भगवान् ने बताया कि कुछ भी याद आये तो समझो भगवान् ने अपनी स्मृति-प्रदान की सामर्थ्य व्यक्त की। ऐसे ही संकल्पादि में है। यहाँ भी वृत्तियों में उलझे बिना केवल उनसे परमात्मा का बोध कायम रखना यहाँ उपासना है। इस उपासना के विषयभूत परमात्माका नाम 'तद्वन' बताया।।६०।।

'तद्वन' अप्रचलित नाम होने से इसका भाव बताते हुए उपासनाफल कहते है **क्योंकि उपासकों द्वारा भलीभाँति भजा जाता है इसलिये ब्रह्म 'तद्वन' नाम वाला है। इसी तरह भजा गया ब्रह्म आचार्य की उपलब्धि कराता है।।६१।। उक्त उपासना करने वाले ईश्वर के कृपापात्र ब्रह्मवेत्ता को सभी भक्तियुक्त लोग चाहते हैं, 'विद्या सुनाइये' यों (उससे सदा ब्रह्मोपदेश की प्रार्थना करते हैं।)।।६२।।** अधिदैव विद्युत् अध्यात्म मन और अधिभूत उपाधि 'तद्वन्' यह शब्द है क्योंकि शब्द आकाशरूप भूत है। अतः श्लोक ८८ में तीनों का उल्लेख था। तत् अर्थात् उनके द्वारा, देव-मनुष्य आदि सभी के द्वारा परमात्मा भजा जाता है। उसका भजन करने को साधक वनों में जाते हैं इसलिये भी वह 'तद्वन' है। परमेश्वर के अलावा और कोई भी इस योग्य नहीं कि उसकी उपासना की जाये। परमेश्वर की विभूति होने से ही देवादि भी उपास्य हैं, स्वतः नहीं। यहाँ कही उपासना में संलग्न को

हे शिष्य ब्रह्मविद्या ते कथिताऽत्यन्तविस्तरात्।
श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेस्तद्विद्यासाधनं शृणु।।६३।।

साधनानि

वेदाः षडंगसहिता अग्निहोत्रादि कर्म च।।
कृच्छ्रादिकं तपो दान्तिस्तैर्विद्या प्रतितिष्ठति।।६४।।

सावधान होकर एकमात्र परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिये, उससे अलग को उपासना-योग्य न समझे। यों उपासित परमेश्वर साधकको योग्य आचार्य की उपलब्धि करा देता है। किं च ऐसे उपासक में ही आचार्य होने की योग्यता प्रकट होती है। उपासक ब्रह्मवेत्ता के पास ही भक्त आकर 'परमात्मा की विद्या सुनाइये' ऐसी प्रार्थना करते हैं। ईश्वरभक्त ब्रह्मज्ञ को चाहते सभी हैं पर भक्त यों चाहते हैं कि वह उपदेश दे। संसारी लोग उससे ब्रह्मोपदेश नहीं चाहते लेकिन उसकी ओर आकृष्ट तो होते ही हैं।।६१-२।।

इस उपासना-विधि के बाद तप, दम, कर्म और सांगवेद इन साधनों का निर्देश श्रुति में है, उसका उल्लेख करते हैं **(इसके अनन्तर जिनसे 'केन' आदि प्रश्न किया गया था वे आचार्य कहते हैं :) हे शिष्य! अत्यन्त विस्तार से तुम्हें कान का कान आदि से प्रारंभ कर ब्रह्मविद्या बतायी। उस विद्याका साधन अब सुनो।।६३।। छहों अंगों सहित वेद, अग्निहोत्र आदि कर्म, कृच्छ्र आदि तप और दमइनसे विद्या स्थिर होती है।।६४।।** यद्यपि ईश्वरानुग्रहरूप उपाय कह चुके तथपि अनुग्रहयोग्य बनने का उपाय वक्तव्य है। संसारबंधन से छूटने की इच्छा होने पर विद्यायोग्यता आयेगी। अन्यथा विषय-प्राप्ति और रोगादिनिवृत्ति के लिये ही ईश्वराराधना की जाती है। यहाँ कहे साधनों से विविदिषा दृढ होगी तो ईश्वरानुग्रह से साक्षात्कार और अद्वैतवासना स्थिर हो सकेगी। जैसे मेहनत से कमाये धन को व्यर्थ नहीं गँवाया जाता, बिना मेहनत मिल जाये तो अनाप-शनाप खर्च हो जाता है, वैसे बिना साधना के जो ईश्वरदत्त मुमुक्षा है, स्वाभाविक रूप से जीव मात्र में मोक्ष की इच्छा है, उसकी उपेक्षा हो जाती है, साधनों से उपजायी मुमुक्षा का महत्त्व रहता है और बाकी साधनसंपत्ति बटोर कर श्रवणादि में संलग्न होते हैं। साधनों में यहाँ पहला बताया छह अंगों समेत वेद। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छह अंग हैं। उच्चारण करने का सही तरीका सिखाने वाला शिक्षा शास्त्र है। विहित यज्ञादि कर्मों का ढंग कल्पशास्त्र सिखाता है। शब्दों का सहीपना एवं वाक्य के रूप में उन्हें

यत्सत्यं बाधरहितं तद्विद्यायतनं खलु।
साधनैः साधिता विद्या सत्येऽस्मिन् पर्यवस्यति।।६५।।
अर्ज्यते सुष्ठु यन्मुक्तिपदं तत्स्वर्ग उच्यते।
अनन्तो नाशराहित्याज्ज्येष्ठः सर्वोत्तमत्वतः।।६६।।

प्रयोग-योग्य समझ पाने की सामर्थ्य व्याकरणशास्त्र से मिलती है। शब्दों के अर्थ जानने का ढंग निरुक्तशास्त्र बताता है। मंत्रों के पद्यों के नियम छन्दःशास्त्र से पता चलते हैं। कर्म करने के सही समय की जानकारी निश्चित करने का तरीका ज्योतिष शास्त्र से समझ आता है। इन अंगों सहित वेद पढ़ने से ही उसका अभिप्राय स्पष्ट हो सकता है जिससे मुमुक्षा द्वारा मोक्षपर्यन्त पहुँचा जा सकता है। अग्निहोत्रादि सभी कर्म भी विविदिषा में विनियुक्त होकर विद्या-साधन हैं। तप अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से कष्ट सहना। कृच्छ्र एक व्रत विशेष है, उस ढंग से आहार-नियंत्रण तप है, और भी असंख्य तप शास्त्रों में विहित हैं, वे भी विद्या-साधन हैं अगर इस उद्देश्य से किये जायें, अन्यथा उनसे तुच्छ लाभ भी उठाये जा सकते हैं जैसे अग्निहोत्रादि से, तब वे ज्ञानोपाय नहीं बनेंगे। दान्ति या दम अर्थात् इन्द्रियनिरोध, विषयों की ओर इन्द्रियों को न भागने देना भी साधन है। इनसे अन्य भी सब शास्त्रोक्त साधन समझ लेने चाहिये।।६३-४।।

साधनों से अतिरिक्त, सत्त्य को 'आयतन' कहा है, उसे समझाते हैं **जिसका बाध नहीं होता ऐसा जो सत्य वह विद्याका आयतन है यह ध्रुव बात है। साधनों से उपलब्ध विद्या इस सत्य में समाप्त होती है।।६५।।** आयतन मायने रहने की जगह। विद्या रहती परमात्मा में ही है जो सत्यरूप है। बौद्धादि 'काम चलाऊ होने' को सत्य की परिभाषा मानते हैं लेकिन वेदान्त में सत्य वह है जिसका कभी निषेध संभव न हो, जो बाध के अयोग्य हो। ऐसे अपरिवर्तनीय ब्रह्म में ही यह विद्या रहती है। विद्या का पर्यवसान, समाप्ति अर्थात् विद्या को जो कुछ करना था वह कर चुकने पर जो वस्तुस्थिति बचती है वह सत्यात्मक ब्रह्म ही है। अविद्यानाश ही विद्याका कार्य है, वह होते ही ब्रह्म ही अद्वितीय बचता है, उसे सद्वितीय बनाने को विद्या भी नहीं रह जाती!।।६५।।

विद्याफल 'पाप से छूटकर अनन्त एवं महत्तर स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठा' बताया है, उसी का उल्लेख करते हैं **भलीभाँति जिसे अर्जित किया जाता है वह मुक्तिरूप पद यहाँ स्वर्ग कहा गया है। नाशरहित होने से वह अनंत एवं सबसे उत्तम होने के कारण वह ज्येष्ठ है।।६६।।** भली प्रकार से कमाया गया सुखरूप मोक्ष यहाँ

मुख्याधिकारिणः प्रष्टुः शिष्यस्य ब्रह्मबोधनम्।
ससाधनं सदाचार्य एवमत्रोपदिष्टवान्।।६७।।
विद्यामेतां वेद योऽसौ पाप्मानं प्रतिबंधकम्।
अपहत्य विमुक्त्याख्ये स्वर्गेऽस्मिन्प्रतितिष्ठति।।६८।।

स्वर्ग कहा है। लोकविशेष तो कर्मफल है, ज्ञानफल नहीं और उसका अर्जन भी सुष्ठु इसलिये नहीं कि अल्पकालिक ही है, पुण्य क्षय होते ही स्वर्ग छूट जाता है। मोक्ष 'अर्जित' होता है कहने से सूचित किया कि वस्तु वह सिद्ध है, साध्य नहीं। 'मुक्तिपद' शब्द में पद का भाव है जहाँ पहुँचा जाये अतः यह भी सिद्धरूपता का द्योतक है, पूर्वतः स्थित गंतव्यादि तक ही पहुँचा जाता है। यह स्वर्ग आदि-अन्त से रहित है। क्योंकि वह ज्ञानमात्र से प्राप्त होता है इसलिये प्राप्त होने पर भी उसकी प्राप्ति अनादि है। ज्ञानरूप प्राप्ति भी 'पद' शब्द से पता चलती है क्योंकि 'पद्यते' का अर्थ 'ज्ञायते' भी होता है। श्रुति में 'ज्येये' शब्द है जिसकी व्याख्या की उसे ज्येष्ठ कहकर। उत्तम, अनादि सिद्ध होने से वह ज्येष्ठ है। 'प्रशस्य' या 'वृद्ध' शब्द से दो की तुलना होने पर ज्यादा बताने वाला 'ज्यायस्' शब्द है, बहुतों में ज्यादा बताने वाला 'ज्येष्ठ' शब्द है। प्रशस्य अर्थात् अच्छा। इस दृष्टि से भी वह सर्वोत्तम है और अनादि होने से सर्वाधिक वृद्ध भी है। संसार और परमात्मा दो की दृष्टि से श्रुति ने 'ज्येये' कहा तथा संसार की विविधता के चलते सबकी दृष्टि से यहाँ ज्येष्ठ कहा।।६६।।

उपनिषत् की व्याख्या का उपसंहार करते हैं **इस प्रकार इस उपनिषत् में उत्तम आचार्य ने पूछने वाले श्रेष्ठ अधिकारी शिष्य को साधनों समेत ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया।।६७।। जो यह विद्या पा चुका है वह प्रतिबंधकरूप पाप त्यागकर विमुक्ति-नामक इस स्वर्ग में स्थिर होता है।।६८।।** शिष्य 'पूछने वाला' इसलिये कहा कि जिज्ञासु ही उपदेश-योग्य होता है। सही-गलत किसी भी कोटि में जो निश्चित है उसे उपदेश नहीं दिया जा सकता वरन् जिसे सन्देह है, अपनी जानकारी पर भरोसा नहीं है, वही समझने को तैयार हो सकता है। नचिकेता, मैत्रेयी, जनक, अर्जुन आदि जब यों प्रष्टा बने तभी उन्हें उपदेश मिला। किंच शिष्य अर्थात् अनुगत होना चाहिये, आचार्य से सीखने को उत्सुक होना चाहिये। फिर, अधिकारिगुणों से भरपूर होना चाहिये। अनधिकारी को अधिकार-लाभके साधन ही सिखाना उचित है, विद्योपदेश व्यर्थ है। शास्त्र इसके लिये गुडजिह्विकान्याय अपनाता है, मीठी बातों में लपेटकर कड़वा सच गले उतारता है। मोक्ष है तो अत्यन्त निर्विषय

उपसंहारः

अवाङ्मनसगम्यत्वमुपदेशश्च वेदनम्।
अविरोधेन तत्सर्वं विस्पष्टमिह वर्णितम्।।९९।।
विद्या तलवकाराणां शाखायां श्रूयते स्फुटम्।
तद्व्याख्यानेन संतुष्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१००।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचिते अनुभूतिप्रकाशे तलवकारविद्याप्रकाशो नामैकोनविंशोऽध्यायः।।१९।।

एकरस अद्वैत पर एकाएक ऐसे के प्रति संसारी उन्मुख होता नहीं अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता आदि विशेषताओं की ओर आकृष्ट करने से प्रारंभ करते हैं जिनके लिये पहले संसार का आकर्षण शिथिल हो, तब अंत में विवेक-वैराग्य पूर्ण हो जाने पर वास्तव 'नेति नेति' बताते हैं। इस ढंग से सद् अर्थात् श्रेष्ठ आचार्य ही समझायेगा। किंच जब कभी आचार्यों ने समझाया है, सदा ऐसे ही समझाया है। इस विद्या से पापरूप प्रतिबंधक दूर हो जाते हैं। पाप दुःख से पीडित कर एवं पुण्य सुखों में मस्त कर व्यक्ति को ब्रह्मविद्या की ओर जाने से रोके रखने से प्रतिबंधक हैं। पाप्मा-शब्द पुण्य का उपलक्षण है। अधिकार-सम्पन्न जब इस विद्याका अर्जन करता है तो ये प्रतिबंधक दूर हो जाते हैं। किं च उक्त उपासना से भी इन प्रतिबंधों का निरास होता है।।९७-८।।

अध्यायार्थ का संग्रह करते हुए केन वर्णन परिसमाप्त करते हैं **मन वाणी से परे होना, (फिर भी उसका) उपदेश और ज्ञान (संभव होना)यह सब शास्त्र युक्ति से अविरुद्ध है यह यहाँ साफ-साफ समझाया।।९९।। तलवकारशाखा में जो स्पष्ट सुनी गयी विद्या है उसके (इस) व्याख्यान से श्रीविद्यातीर्थरूप महेश्वर सन्तुष्ट हों।।१००।।** प्रारंभ में समझाया कि मनआदि का प्रेरक परमेश्वर मनआदि से परे, इनका अविषय है। फिर बताया कि ज्ञात-अज्ञात से विलक्षण होने पर भी इसे आचार्य द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। फिर कहा कि मीमांसापूर्वक इसका बोध होना संभव है। आपाततः भले अविषय वस्तु का उपदेश व ज्ञान संभव न हो लेकिन यहाँ स्पष्ट किया कि संभव होने में कोई शास्त्र-युक्ति का विरोध नहीं। इस व्याख्या को गुरुचरणों में समर्पित कर आचार्य अपनी कृतार्थता द्योतित करते हैं।।९९-१००।

।। उन्नीसवाँ अध्याय।।

ॐ

देवताविद्याप्रकाशः

नृसिंहोत्तरतापनीयव्याख्या

विंशोऽध्यायः

प्रतिज्ञा

अथर्वणे तापनीये उत्तरस्मिन् प्रजापतिः।
देवानबूबुधन्मंत्रराजप्रणवमार्गतः।।१।।

नृसिंहोत्तरतापनीयविवरण : बीसवाँ अध्याय

अथर्ववेद में उत्तर-पूर्वभेद से नृसिंहतापनीय नामक उपनिषत्प्रसंग प्रसिद्ध है। पूर्वतापनीय पर एक भाष्य उपलब्ध है जिसे परम्परा में आचार्यशंकर कृत कहा जाता है। उत्तरतापनीय पर विद्यारण्य स्वामीकी दीपिका उपलब्ध है। आत्मपुराण में शंकरानन्द स्वामी ने भी यह उपनिषत् समझायी है। यहाँ विद्यारण्य स्वामी भी इसकी व्याख्या कर रहे हैं किंतु तत्त्वज्ञानप्रधान उत्तरतापनीयका ही विद्यारण्य मुनि ने दीपिका में एवं अनुभूतिप्रकाश में व्याख्यान किया है, नृसिंहमंत्र-यन्त्रादि के उपदेशात्मक पूर्वतापनीय का नहीं। इसमें 'ओङ्कारं नो व्याचक्ष्व' से देवताओं ने मन्त्रोत्तम प्रणव के अर्थरूप से परमेश्वर के बारे में पूछा एवं ब्रह्मा जी ने उत्तर दिया। ओंकार मंगल है अतः इसके विचार में ग्रंथ समाप्त करने से कार्यपूर्त्ति के समय मंगलाचरण किया जा रहा है। आत्मा के अनन्त ज्ञानको प्रतिबद्ध कर उसे अल्पज्ञ-अल्पशक्ति प्रतीत कराने वाले अज्ञानका निवारण ही मुख्य मंगल है। अहम् से शरीरपर्यन्त अनात्मा को स्वयं से बाँध लेने के कारण, अपने ऊपर थोप लेने के कारण हमें रुकावट, बंधन, पारतन्त्र्य उपलब्ध है। जैसे छोटे पौत्रका हाथ पकड़कर प्रौढ चाहकर भी तेज़ चलने में अक्षम बना रहता है, कदाचित् तो उसको खुश करने के लिये स्वयं घोड़ा बन जाता है, वैसे अहंकार-मन-इंद्रिय-शरीर के साथ तादात्म्य करने से हम इन्हीं के गुलाम बने विषयों में भटकते रहते हैं। इनके अधीन न होने पर भी मोहवश ऐसा समझकर हम सब क्लेशों से पीडित हैं। इस मोहात्मक प्रतिबंधकका असली कारण अज्ञान है, वही

मन्त्रराजं पूर्वतापनीयं श्रुत्वा तदा धिया।
ध्यायन्तः सगुणं ब्रह्म देवा धीशुद्धिमाप्नुवन्।।२।।

अमंगल है। इसे हटाने वाला मन्त्रराज प्रणव है। केवल सुनने से नहीं, मनन किया जाकर त्राण, रक्षा करने वाला मन्त्र कहलाता है। प्रणव 'मैं' के बारे में कहता है, इसी से मनन-योग्य है। किसी अज्ञात देवदत्तको यदि गदहा कहा जाये तो यह मननका विषय नहीं बनता किंतु हमें ही कोई गदहा कहे तो विचार करना पड़ता है कि क्यों कहा, किस ग़लती से कहा इत्यादि। सृष्टि-आदि का कारण जब 'मुझे' बताया जाता है तभी मनन जरूरी है। जब तक तो 'कोई' परमेश्वर है तब तक केवल सुनना है, किन्तु 'मैं परमेश्वर हूँ', तब सोचना पड़ता है कि प्रमाणरूप वेद कह क्या रहा है। ओंकार में सामर्थ्य है कि उस पर मनन करें तो वह स्पष्ट कर देता है कि अभेदोपदेशक वेदवाक्य कह क्या रहा है। अतः संन्यासियों के लिये यही मन्त्र है। माण्डूक्योपनिषत् और उस पर कारिकाओं में इसे समझाया है। माण्डूक्य के समान शब्दों में ही उत्तरतापनीय उस मंत्रकी व्याख्या प्रारंभ करती है। विद्यारण्यस्वामी ने इस ग्रंथ में माण्डूक्य नहीं समझायी अतः उत्तरतापनीय से वही कार्य संपन्न होगा। इसमें साधनादि-कथन स्पष्ट होने से माण्डूक्य के बजाये इसका संग्रह उचित समझा गया।

अध्याय-उपक्रम करते हैं **अथर्ववेदान्तर्गत उत्तरतापनीय में प्रजापति ने मन्त्रराज ओंकार के रास्ते देवताओं को परतत्त्व समझाया।।१।।** देवभाव, व्यापकदृष्टि उपजा चुका साधक ही प्रणव के सहारे वस्तु का बोध पायेगा, अन्यथा विस्तृत निरूपण चाहिये रहेंगे यह भाव है।।१।।

प्रणव में अधिकार सूचित करते हैं **पूर्वतापनीय में उपदिष्ट मंत्रराज सुनकर, तब सगुण ब्रह्म का ध्यान करते हुए देवताओं ने बुद्धि की शुद्धि प्राप्त की।।२।।** उक्त उपनिषत् में अनुष्टुप् छन्द का नृसिंहमन्त्र मन्त्रराजके रूप में उपदिष्ट है। तात्पर्यतः वह प्रणवात्मक है यह उत्तरतापनीय में सूचित है किन्तु मुख्य (शक्ति) वृत्ति से सगुण ब्रह्मका वर्णन करने वाला है। निष्काम भाव से उसका देवताओं ने यथाविधि विचार, ध्यान आदि कर बुद्धि शुद्ध की। संसार के विषयों में आसक्ति ही बुद्धि की अशुद्धि है। आसक्त व्यक्ति स्वयं का वास्तविक स्वरूप नहीं जान सकता। विषयों में वैसी व्यर्थता की बुद्धि जैसी उल्टी (कै) किये भोजन में होती है, बुद्धि की शुद्धि है। सगुण ब्रह्मकी निष्काम उपासना ऐसी शुद्धि दे तब निर्गुण जिज्ञासा संभव है।।२।।

देवप्रश्नः

ततस्ते निर्गुणं ब्रह्म पप्रच्छुः शुद्धबुद्धयः ।
अणोरणीयान्यः प्रत्यङ् प्रणवे तं वद प्रभो ।।३।।
परमाणोर्योगिनेत्रगम्यं रूपं यदस्ति तत् ।
प्रतीचो नास्त्यतः प्रत्यङ्ङणीयान्परमाणुतः ।।४।।
ॐकारो वाचकस्तस्य प्रतीकं वेति हि श्रुतम् ।
ॐकारेणात्मनो ध्यानं वदास्मभ्यं सविस्तरम् ।।५।।

देवप्रश्न सुनाते हैं **फिर उन शुद्ध बुद्धि वाले देवताओं ने निर्गुण ब्रह्म के बारे में प्रश्न किया 'हे प्रभो! प्रणव में जो अणु से अधिक छोटा प्रत्यक्स्वरूप निहित है वह बताइये।'३।।** प्रणव के सहारे जिस अपर ब्रह्म का पता चलता है उसे जान चुकने के बाद देवताओं ने प्रणव के प्रधान बोध्य परब्रह्म की जिज्ञासा की। परब्रह्म उपनिषदों में जगह-जगह 'अणोरणीयान्' कहा गया है। भगवान् ने भी (८.९) इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया। नाम-रूप-कार्यकारणभाव से ही स्थूलता है, इसके बगैर सूक्ष्मता ही है। परमेश्वर को जगत्कारण कहने से उसे सर्वाधिक सूक्ष्म बताने में ही अभिप्राय है। कारण अपने कार्य से सूक्ष्म होता है, उसी सूक्ष्मता की परकाष्ठा होने से परमेश्वर को परमकारण कह दिया जाता है। वही तत्त्व बुद्धिसाक्षी हुआ साक्षिरूप से सभी को देख रहा है, सबको प्रकाशित कर रहा है। क्योंकि प्रत्यक् अर्थात् भीतर रहते हुए प्रकाशित करने वाला है इसीलिये उसका साक्षात्कार सम्भव है जिसमें ओंकार उपाय बन सकता है। पूर्व में नृसिंह मंत्र के अंगरूप से प्रणवका विस्तार (नृ. पूर्व. ४ उपनिषत्) माण्डूक्य के ही शब्दों में व्यक्त किया था अतः उसके प्रति सद्भाव वाले देव उसके सहारे परमात्मदर्शन के लिये प्रजापति से पूछें यह संगत है।।३।।

अणु से अणुतर कहने का भाव व्यक्त करते हैं **परमाणु में रूप है जो योगियों की दृष्टिका विषय होता है, प्रत्यगात्मा में वैसा भी रूप नहीं अतः उसे परमाणु से भी अणुतर बताया।।४।। यह वेदप्रसिद्ध है कि उस प्रत्यक्-परमात्मा का कथन करने वाला और उसका प्रतीक ओंकार है अतः देवों ने प्रार्थना की कि ओंकार के द्वारा आत्मा का ध्यान विस्तार से बताया जाये।।५।।** साधारण नेत्र से न दीखने वाले छोटे पदार्थ जैसे यंत्रों की सहायता से दीख जाते हैं वैसे योगकी सहायता से भी दीखते हैं लेकिन परमाणु देख सकने वाले योगी भी प्रत्यगात्मा को देख सकें यह संभव न होने से वह अणुतर है। देखने में सभी इंद्रियों की विषयता का

प्रजापतेरुत्तरम्

श्रूयतामयमोंकारो निःशेषजगदात्मकः।
इति ध्यात्वा ब्रह्म सर्वमात्मा ब्रह्मेति वै स्मरेत्।।६।।
यदोंकारस्य सार्वात्म्यं ध्यानायैतन्न वस्तुतः।
यद् ब्रह्मणस्तु सार्वात्म्यं वस्तुतोऽप्येतदीक्ष्यताम्।।७।।

अंतर्भाव है, किसी विषयग्राहक साधन से परमात्मग्रह नहीं होता। यहाँ कोई माप विवक्षित नहीं क्योंकि प्रायः श्रुतियाँ अणीयान् के साथ ही महीयान् भी कहती हैं अर्थात् उसे बड़े-से-बड़ा भी बताती हैं। ऐसे तत्त्वका दर्शनस्थल बुद्धिगुहा, अहंकार ग्रन्थि ही है। उसका साक्षी सब जानने वाला होने से खुद जाना जा सके यह असम्भव है। उसका वाचक ओंकार माना गया है। परमात्माका निकटतम नाम उसे अन्यत्र आचार्य कहते हैं। जो उसके अर्थरूप से परतत्त्व का अवगम न कर पायें उनके लिये वही उपासना के आलम्बन अर्थात् प्रतीक का भी कार्य करता है। परम ब्रह्म की उपासना सम्भव है या नहींइसमें विचारकों में आपाततः मतभेद होने पर भी पंचदशी के ध्यानदीप में विद्यारण्य स्वामी ने स्पष्ट कर दिया है कि उसका ध्यान सम्प्रदाय में स्वीकार है। वशिष्ठ महर्षि ने समझाया है कि कोई साधक विचारपूर्वक ज्ञाननिश्चय में अक्षम होता है, कोई समाहितावस्था को हि सत्य स्वीकारने में, अतः स्वयं की क्षमतानुसार साधन कर्त्तव्य है, उपाय दोनों बनते हैं। यहाँ ध्यान के बारे में प्रश्न है।।४-५।।

प्रजापति उत्तर देते हैं **सुनिये। यह ओंकार सारे जगत् का आत्मा हैयों ध्यान कर 'ब्रह्म ही सब कुछ है, आत्मा ही ब्रह्म है' यह ध्यान करना चाहिये।।६।।** जगत् में कुछ भी नहीं जो ओंकाररूप न हो यह पहले ध्यान करना है। वस्तुतः ब्रह्म ही सर्वरूप है लेकिन जब तक प्रणव पर चित्त स्थिर न हो जाये तब तक ब्रह्मका बोध ही संभव नहीं कि उसे सर्वरूप समझ सकें। ओंकी सर्वरूपता का ध्यान कर तब ब्रह्म की सर्वरूपता एवं प्रत्यग्रूपता का ध्यान कर्तव्य है। प्रत्यगात्मा होने से ही ब्रह्म को साक्षात् समझना सम्भव है।।६।।

प्रणव की सर्वरूपता उपयोगार्थ ही है यह स्पष्ट करते हैं **ओंकार की सर्वरूपता वस्तुतः नहीं ध्यान के लिये ही है जबकि ब्रह्म की सर्वरूपता वस्तुतः भी है, यह ज्ञातव्य है।।७।।** शब्दरूप प्रणव को जगत् का आत्मा नहीं कह सकते लेकिन उसका इस तरह ध्यान करना अवश्य सफल है। अत्यधिक महत्त्व होने पर भी है तो

ब्रह्म स्यात् सच्चिदानन्दरूपं सर्वेषु वस्तुषु।
विद्यन्ते सच्चिदानन्दा इति ह्यूर्ध्वं प्रवक्ष्यते।।८।।

उपाधि ही। वास्तव में परमेश्वर सर्वात्मा है परंतु परमेश्वर का बोधक तथा प्रतीक होने से ओंकार को सर्वात्मा कहना-समझना संगत है। लोक में कई चीजों को जानना उनका नाम जानना कहते हैं। सामने दीखते पेड़ के बारे में 'यह क्या है?' पूछें तो कोई व्यक्ति कह देता हैं 'पता नहीं', और कोई कहता है 'नीम है।' पता नहीं कहने वाला उसे पेड़ आदि तो देख ही रहा है अतः पता नहीं का मतलब उसका नाम मालूम नहीं। ऐसे ही पता है का मतलब कि नाम मालूम है। इसी तरह ओंकार यह नाम जानना भी परमेश्वर को जानना कह दिया जा सकने से ओंकार को सर्वरूप कहना अर्थात् ऐसा ध्यान करना संगत है। शास्त्रविहित होने से सफल भी है।।७।।

परमेश्वर की सचमुच सर्वात्मता प्रकट करते हैं **ब्रह्मका स्वरूप सत्-चित्-आनन्द है। सब वस्तुओं में सत्-चित्-आनन्द विद्यमान हैंयह आगे बतायेंगे।।८।।** सत् अर्थात् है, चित् मायने ज्ञान। हमें जगत् में जो कुछ भी (भाव या अभाव) मिलता है वह सत् (है) और चित् (ज्ञान) से तो जुड़ा ही रहता है। जो नहीं है वह उपलब्ध भी नहीं होता और जो उपलब्धि (ज्ञान, चित्) से असम्बद्ध है उसे वस्तु कहते ही नहीं! ब्रह्मका जो रूप यों सर्वत्र सर्वसाधारण प्रकट नहीं होता वह है आनन्द। इच्छा-उपाधिवश कहीं-कहीं ही, कभी-कभी ही, किसी-किसी को ही यह रूप प्रकट होता है जैसे जिसे रसगुल्ला पसन्द है उसे भूखादि लगी हो और बढ़िया रसगुल्ला खाने को मिले तो आनंद आता है। अन्यथा यह रूप छिपा रहता है, इसीके अनावरण के लिये मोक्ष-प्रयास है। किंतु क्योंकि है परमात्मा सर्वरूप इसलिये आनन्द भी है सर्वत्र जैसे सत्-चित् हैं। प्रायः सब चीज़ें किसी-न-किसी को सुख देती ही हैं। कबूतर की बीट भी जिसे वह दवाई बतायी गयी है उसे सुख ही देती है! हमें देह-सीमा में स्वयं को देखने का बन्धन है अतः हम सारा संसार आत्मरूप (आनन्दरूप) नहीं समझते लेकिन यदि सब प्राणियों में स्वयं को समझें तो स्पष्ट होगा कि है आनंद भी सत्-चित् की तरह अनुस्यूत ही। मिट्टी के कार्यों में मिट्टी की तरह परमेश्वर के कार्यों में सच्चिदानन्द व्याप्त हैं। इससे ब्रह्मको परिणामी नहीं समझ सकते क्योंकि घड़ा आदि भी मिट्टी के विवर्त ही हैं अतः श्रुति ने उन्हें वाचारम्भण और मिट्टी को सत्य कहा है। विवेक-चूडामणि श्लोक २३० से प्रारम्भ विचार इस बारे में स्पष्ट है। 'सचमुच की सर्वात्मता' कहने से संभावित भ्रम पन्द्रहवें श्लोक में 'माययाऽऽरोपितं' से मिटा देंगे।।८।।

देहेन्द्रियादिसाक्षी य आत्मास्मिन् ब्रह्मरूपता।
सच्चिदानन्दरूपत्वादसंसारिणि युज्यते।।९।।
देहाद्युपाधिसम्बन्धात् संसारित्वं चिदात्मनः।
स्वतः सोऽयमसंसारी ब्रह्मत्वं युज्यते ततः।।१०।।

परमेश्वर की प्रत्यग्रूपता व्यक्त करते हैं **जो शरीर इन्द्रिय आदि का साक्षी आत्मा है उस संसरणरहित तत्त्व में ब्रह्मरूपता है क्योंकि वह तत्त्व सच्चिदानन्दरूप है।।९।। शरीर आदि उपाधियों के सम्बन्ध से चिदात्मा का संसरण है। खुद वह असंसारी है अतः उसका ब्रह्म होना युक्तियुक्त है।।१०।।** हमें दो 'मैं' का अनुभव है, एक बदलने वाला और दूसरा न बदलने वाला एकरस, स्थायी। इस स्थायी मैं को साक्षी और बदलते रहने वाले को प्रमाता कहते हैं। एक मैं बच्चा 'था', (अब नहीं हूँ) और दूसरा मैं जो अब भी 'हूँ'। देह-इन्द्रिय आदि से तादात्म्यापन्न मैं परिवर्तित होने वाला हूँ, संसारी हूँ, यहाँ भी देश-अवस्था आदि में सरकता रहता हूँ और लोकलोकान्तर में भी जाता-आता रहता हूँ। किन्तु जो इन सब परिवर्तनों को, संसरणों को जानता है, जिसके द्वारा जाने गये होने से ही ये परिवर्तन एक के हैं यह सिद्ध होता है, वह अपरिवर्तनशील साक्षी ही वास्तव में आत्मा है, ब्रह्म है। यद्यपि विचार से उसमें सच्चिदानंदरूपता निश्चित है जैसा कि पंचदशी-प्रारंभ में व्यक्त किया, तथापि साक्षी की ब्रह्मरूपता तो शास्त्र से ही निश्चित है। लक्षण वही होने से अभेद सम्भावित भले ही हो पर वस्तु का अभेद प्रमाण पर निर्भर होता है। समान लक्षण वाले अनेक परमाणु प्रसिद्ध हैं ही! अतः ब्रह्मकी व्यापकता के आधार पर एवं साक्षात् अभेदबोधक वाक्यों से जीव ब्रह्म का अभेद विज्ञेय है। क्योंकि ब्रह्मकी सच्चिदानन्दरूपता जगत् में मिलने से व्यावृत्त जगत् अनुवृत्त सच्चिदानंद में कल्पित अतः मिथ्या निर्धारित हो चुकता है इसलिये जगद्-अंश शरीरादि उपाधियों से निरूपित आत्मभेद अवास्तविक है इसमें सन्देह नहीं। साक्षी स्वभाव से चित्, ज्ञान है। उसमें संसरण की प्रतीति उपाधि-सम्बन्ध से ही है। स्वयं का देश-काल-अवस्थादि भेद बिना उपाधि-परामर्श के कभी प्रतीत नहीं होता, कहा समझा नहीं जा सकता। स्वयं अपने आप में चेतन आत्मा संसरण करता ही नहीं इसीलिये वह ब्रह्म है इसमें विरोध नहीं! संसारिता और संसारातीततायह ही जीव-ब्रह्म में भेद माना जाता है, जब साक्षी में संसारिता सिद्ध नहीं तब उसे ब्रह्म से पृथक् कहने का आधार ही नहीं रहा। साक्षी रूप से परमात्मा का साक्षात्कार ही वेदान्तप्रमाण से सम्पन्न होकर मोक्ष देता है।।९-१०।।

ॐइत्युच्चारयन् ध्याता स्वात्मानं ब्रह्मणा सह।
एकीकृत्य पुनर्ब्रह्माप्येकीकुर्यात्तथात्मना।।११।।
तथाऽहं सः सोऽहमिति व्यतिहारोऽत्र लक्ष्यते।
विचिन्त्यान्योऽन्यतादात्म्यं तथैवानुभवेदिदम्।।१२।।

अब ध्यान का ढंग बताते हैं **ध्याता को चाहिये कि 'ॐ' ऐसा उच्चारण करते हुए स्वात्मा (साक्षी) को ब्रह्म से एक करके फिर ब्रह्मको भी स्वात्मा से एक करे।।११।।** जैसे जप के साथ अर्थभावना की जाती है वैसे यह ध्यान में ॐ का सहारा लेना है। यहाँ ध्यान अर्थात् मानस क्रिया बता रहे हैं, वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं। मनोवृत्ति दोनों हैं, ज्ञान भी और ध्यान भी, लेकिन ज्ञान अविद्या मिटाता है, ध्यान वैसा नहीं करता। ध्यान प्रयत्न से होता है जैसे मूर्ति में देवबुद्धि प्रयत्न से होती है। भक्ति अर्थात् वह प्रयत्न हो तभी विग्रह में भगवद्दर्शन संभव है अन्यथा पाषाणादि ही दीखता है, ज्ञान उसी का है। जैसे मूर्ति को साक्षात् परमेश्वर समझते हुए पूजादि करने से ही चित्तशुद्धि वैराग्योपलब्धि संभव है अन्यथा नहीं, वैसे यहाँ ध्याता स्वयं (साक्षी) को ब्रह्मरूप और ब्रह्मको स्वयंरूप समझे तभी कल्याण है। 'समझे' अर्थात् ऐसी वृत्ति सप्रयत्न बनाकर कायम रखे। जैसे नदी का समुद्र में मिलना, वैसे स्वात्मा का ब्रह्म से एकीभाव; जैसे समुद्र नदी की एकता वैसे ब्रह्मका स्वात्मा से एकीभाव। यों दोनों तरह से चिंतन सर्वथा अभेद को निश्चित करता है।।११।।

उक्त उभयतः ध्यान समझाते हैं **इस प्रकार 'मैं वह हूँ, वह मैं हूँ' ऐसा 'व्यतिहार' यह सूचित है। एक दूसरे के अभेदका चिन्तन कर उसी तरह इस तत्त्व का अनुभव करना चाहिये।।१२।।** अन्यत्र बताया है कि 'सोऽहम्' का ही संक्षिप्त रूप ओम् है; सकार-हकार के लोप से यह सिद्धि उपपन्न की है। 'सोऽहम्' में सः मायने वह (परमेश्वर), अहम् मायने मैं (साक्षी)। लगातार सोहं-सोहं-सोहम् कहने पर 'अहं सः' भी सम्बन्ध सुनाई देता है। उसके अनुसार यहाँ पहला चिंतन बताया और सोऽहम् के अनुसार दूसरा चिन्तन बताया। अहम् से केवल साक्षी लक्षित है, सः से कारणता का अधिष्ठान लक्षित है जिसे कहीं-कहीं ईश्वरसाक्षी कहा है। ओम् में अकार-उकार साक्षी को लक्षित करते हैं जबकि मकार परमात्मा को लक्षित करता है। यों दोनों को उद्देश्य-विधेय बनाकर कहना-समझना व्यतिहार कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र ३.३.३७ में इसका उल्लेख है। घटाकाश महाकाश हैइतना ही कहने से घटाकाश की परिच्छिन्नता का भ्रम नहीं टूटता क्योंकि बड़े में छोटे का अन्तर्भाव ही समझ आता

बुद्धिस्तदाकृतिं कृत्वा यावन्नैश्चल्यमाप्नुयात्।
तावद्भवेदनुभवो जरामरणवर्जिते।।१३।।
चलिताऽनुभवाद् बुद्धिर्बहिश्चेद् गन्तुमुद्यता।
तदा बाह्यनिवृत्त्यर्थं कुर्यादारोपसंहृती।।१४।।

है। सिर्फ 'महाकाश घटाकाश है' कहने से भी वही पता चलता है। अतः जब सर्वथा अभेद कहना हो तब दोनों तरह बोलना पड़ता है। ऐसे ही ओम् से दोनों तरह की लक्षणा होने पर अखण्डता का अवबोध होता है। मैं परमात्मा का अंश हूँऐसा नहीं वरन् वही हूँऐसा यहाँ ध्यान कहा जा रहा है।।१२।।

ध्यान-स्वरूप सूचित करते हैं **बुद्धि जब तक उक्त अखण्ड आकार से रहती है तब तक जरा-मरण से रहित स्वरूपके बारे में अनुभव होता है।।१३।।** ध्यान भी बुद्धिवृत्ति है, निश्चयाकार है लेकिन सायास अभिमानात्मक है अतः ज्ञान नहीं। ध्यान में बनानी निश्चयाकार ही वृत्ति होगी, संभावना या मान्यता मात्र से सफलता नहीं होगी। जैसे मूर्ति की दृष्टिका तिरस्कार कर देवबुद्धि कायम रखने से मूर्ति पर देवपूजा होती है, बिना वैसी बुद्धि के करें तो मात्र मूर्तिपूजा रह जाती है, उसी प्रकार यथाशास्त्र 'सोऽहम् अहं सः' ऐसी ॐ से निश्चयवृत्ति बनाये रखना, विरोधी वृत्तियाँ उठने न देना, उठें तो उन्हें निरुद्ध करनायह ध्यान है। क्योंकि 'सः' में जरा-मरण आदि कैसा भी नहीं हैअर्थात् 'मैं' में कम-से-कम आरोपित जरादि है, प्रमातारूप में उनकी उपलब्धि है, लेकिन शिव में जरादि का आरोप भी, भ्रम भी नहीं है; इसलिये उससे अखण्डता के अभिमानकाल में स्वयं में जरादि नहीं भासते। किसी दरिद्र की किसी अतिधनाढ्य से अतिघनिष्ठ मैत्री हो जाये तो कदाचित् मित्रधन से स्वयं को ही धनी समझने लगता है, व्यय करते समय 'मैं निर्धन हूँ' यह स्मरण ही नहीं आता, घर पहुँचने पर ही भान होता है; ऐसे ही अपना जीवभाव ध्यानावस्था में न भासे इस तरह सोऽहंभाव कायम रखने को कहा जा रहा है।।१३।।

ध्यान-प्रयास स्पष्ट करते हैं **उक्त अनुभव से विचलित बुद्धि यदि विषयों की ओर जाने लगे तो विषयों को हटाने के लिये आरोप-संहार का अनुष्ठान करना चाहिये।।१४।।** ज्ञान निरालम्ब वस्तु है लेकिन जहाँ यह व्यक्त हो सकता है वह बुद्धि किसी विषय का आलिंगन किये बगैर नहीं रहती। ध्याता सोऽहम् यों अखण्ड का आलिंगन करना चाहता है किन्तु विषयरागवश बार-बार बुद्धि अखण्ड तत्त्व से डिगकर विषयाकार बनती है। यहाँ ध्यान को 'अनुभव' कहा क्योंकि पूर्व श्लोकोक्त रीति से वह

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरत्रयमात्मनि।
माययाऽऽरोपितं ध्यात्वा बोधाल्लीनमिति स्मरेत्।।१५।।

भी एक आभिमानिक अनुभव ही है। विषयों की ओर जाने से रोकने में वैराग्य का अनिवार्य उपयोग है, तत्पूर्वक आरोप-संहार का प्रकार यहाँ उपायरूप से बताया : जिस विषय की ओर जाये उसका तथा संभव हो तो जगद्मात्र का, सारे दृश्य प्रपंच का, अध्यात्म अधिभूत सभी उपाधियों कापहले शिव में आरोप करे कि यह शिवमात्र ही है जैसे घड़ादि मिट्टीमात्र होता है; फिर संहार (उपसंहार) करे कि है तो शिव ही, जगत् है ही नहीं जैसे है मिट्टी ही, घड़ा है ही नहीं। घड़ा कुछ हो तो उसे मिट्टी में मिला सकते हैं, विवेक-दृष्ट्या जब वह वाचारम्भण ही है तो जैसे भ्रमसिद्ध सर्प को रस्सी में मिला नहीं सकते वैसे घड़ा मिट्टी में नहीं मिला सकते। ब्रह्म में जगत् भी तभी मिले जब पहले जगत् कुछ हो; क्योंकि वह 'है' नहीं, है एकमात्र ब्रह्म, इसलिये जगत् का संहार हो जाता है। करना अभी यह कार्य ध्यान से पड़ेगा क्योंकि अधिष्ठान-ज्ञान हुआ नहीं है। जैसे स्वयं में सः का अभिमान करना है वैसे इदं में भी सः का ही अभिमान करना है, यद्यपि अहम् को सः समझना है जबकि इदं को 'है ही नहीं इसलिये केवल सः है' यों समझना है। वेदान्त में अध्यारोप-अपवाद प्रसिद्ध है, विवेक के लिये जैसा उसका उपयोग वैसा ध्यान के लिये भी है। राग से नाम-रूप का महत्त्व भासते उसके संहार में संकोच होता है अतः वैराग्य के बिना निर्विशेष की ध्यानसाधना भी संभव नहीं। इसीलिये ज्ञान-ध्यान उभयात्मक जिज्ञासा के अधिकार में विवेक-वैराग्यादि समान हैं यह अथ पद-सूचित तथ्य है।।१५।।

विषयों की तरह अध्यात्म-उपाधिका भी आरोप-संहार कर्त्तव्य बताते हैं **'स्थूल-सूक्ष्म-कारणतीनों शरीर मुझमें माया से आरोपित हैं' यह ध्यानकर फिर चिंतन करे कि ये 'बोध से लीन हैं'।।१५।।** बोध हुआ अभी नहीं है लेकिन जैसे पुत्रजन्म से पूर्व ही पिता 'मैं पुत्रवान् हूँ' मानकर व्यवस्थादि करने लगता है वैसे 'बोध होकर शरीरत्रय लीन हो चुके' ऐसा चिंतन करने को कहा है। जैसे यहाँ 'माया से आरोपित' कहा, वैसे पूर्व में इदम् के बारे में भी समझना चाहिये। अतः जैसे वास्तव में ब्रह्म सेदम् नहीं वैसे अहम् भी सशरीर नहीं, यह अर्थ है। स्थूल-सूक्ष्म की तरह तो नहीं लेकिन कारण भी समझ तो आता ही है अतः उसका भी स्वयं पर आरोप और संहार बताया। स्वयं में कारणता का ही संहार (निषेध) करते रहने से व्युत्थानदशा में याद बनी रहती है कि क्योंकि मैं कारण नहीं इसलिये प्रतीत होते हुए भी स्थूल-सूक्ष्म

तदाऽप्योंकारमुच्चार्य नादान्ते निर्विकल्पकम्।
चित्तं कृत्वा यथाशक्ति स्वात्मतत्त्वे स्थिरो भवेत्।।१६।।

के विकार मुझमें नहीं। विवेकी की तो प्रतीति ही होती है कि प्रमाता-रूप मैं ही विकारी है, साक्षिरूप मैं निर्विकार ही हूँ लेकिन ध्याता भी स्मरण रख सकता है कि मैं निर्विकार हूँ। ध्याता की सायास वही स्थिति होनी पड़ेगी जो ज्ञानी की निरायास है। ये आरोप-संहार बुद्धिको अनात्मा के आलिंगन से रोकते हैं, शरीरादि व विषयादि किसी की ओर उसे जाने में रुकावट डालते हैं। जितना विषय के बारे में 'नहीं है' (मिथ्यात्व) निश्चय होगा उतना बुद्धि उधर जाने में रुकावट महसूस करेगी। हमारी बुद्धि विषयों को 'हैं' मानकर हीहो सकते हैं, हुए थे मानकर हीउनके आकारों में ढलती रहती है। 'नहीं हैं' की भावना दृढ होने पर बुद्धि स्वयम् उन आकारों से दूर रहेगी। ध्यान में प्रथम विघ्न सूक्ष्म शरीर से और फिर स्थूल से आता है। इंद्रियाँ और मन बहिर्मुख होते हैं यह सूक्ष्मका विघ्न एवं शरीर पीडादि देने लगता है, मूत्र-पुरीष आदि का निःसारण आवश्यक हो जाता हैये सब स्थूल के विघ्न हैं। यथासंभव ये दिक्कतें होते समय उक्त आरोपसंहार करना चाहिये कि 'स्थूलदेह ही कल्पित अतः नहीं है तो इसकी पीडादि दूर करने का प्रयास काहे के लिये करें।' फिर भी एक सीमा के अनन्तर इनकी जीत हो जायेगी। ज्ञानी के सम्मुख इन विघ्नों की कभी जीत नहीं होगीयह फ़र्क है ही।।१५।।

आरोप-संहार के अनन्तर रक्षणीय स्थिति बताते हैं **उस समय भी ओंकार का उच्चारण कर नाद की समाप्ति पर चित्त को निर्विकल्प रखकर सामर्थ्यानुसार निज स्वरूप में स्थिर होवे।।१६।।** इस ध्यान में मंत्र ओंकार ही विनियुक्त किया जा रहा है अतः आरोप संहार के पश्चात् भी उच्चारण के लिये कहा। दीर्घ अर्थात् लम्बा कर ॐ का उच्चारण अर्थात् किंचिद् व्यक्त ध्वनि में अभिव्यंजन करना चाहिये। एक ॐ उच्चारण की ध्वनि (नाद) जब पूरी होती है तब कोई ध्वनि आदि न रहते समय चित्त निर्विकल्प, निराकार, निर्विषय रखना है। जैसे सुनते-पढ़ते समय मध्य में क्षण दो क्षण वक्ता चुप होता है या पन्ना पलटना पड़ता है तो चित्त निराकार ही रहता है जब तक अगला शब्द सुन या पढ़ न लें, वैसे प्रणव-समाप्ति पर होता है। ध्याता को चाहिये कि जब तक वह निर्विकल्पता रह सके तब तक रखे, न रहने पर ही दोबारा ॐ बोले। जप की तरह एक-के-बाद दूसरी बार ॐ बोलने की जल्दी नहीं करनी है, निर्विकल्पता छूटने के बाद ही पुनः उसे लाने के लिये ही ॐ का प्रयोग करना है। यही यहाँ स्थिरता है। गौडपादाचार्य ने भी (अद्वैत ४४) यही तरीका समझाया है। सामर्थ्यानुसार अर्थात्

निर्गते तु पुनश्चित्तेऽधिदैवाध्यात्मभेदतः।
यद्देहत्रयमस्त्येतद् अभेदेनैव चिन्तयेत्।।१७।।
अण्डसूत्राव्याकृताख्या देहाः स्युरधिदैवतम्।
पिण्डलिंगाज्ञानरूपमध्यात्मं वपुषां त्रयम्।।१८।।

उस निर्विकल्पता को कायम रखने की सामर्थ्य बढ़ाता रहे ताकि ध्यान का समाधि रूप में परिपाक होवे।।१६।।

सोऽहम् में साक्षी की एकता कही लेकिन 'साक्षी ही मैं हूँ' इस निश्चय पर टिकना भी आसान नहीं। प्रारब्धवश बहिर्मुखता में अधिकता आने पर प्रमातृरूप मैं भी प्रतीत होने लगता है। तब के लिये अन्य चिन्तन का विधान करते हैं **फिर भी चित्त बाहर निकल जाये तो अधिदैव और अध्यात्म यों बँटे जो तीन शरीर हैं उनका इस तरह चिंतन करे कि वे अभिन्न ही हैं।।१७।।** मान लें मच्छरों ने काटना शुरू कर दिया, उन्हें उड़ाने की तीव्र इच्छा में मन उलझा है; तब चिंतन करते हुए उड़ाये कि काटने वाला मच्छर अधिदैव है, जिसे काट रहा है वह शरीर अध्यात्म है अतः उड़ाने वाला हाथ भी अध्यात्म है, इन्हीं का परस्पर व्यवहार है, मैं इससे अछूता हूँ। किं च व्यष्टिका समष्टि से अभेद सोचते हुए चिंतन करे कि समष्टि स्थूल का ही एक अंश हाथ, दूसरे अंश मच्छरके स्थूल शरीर को उड़ा रहा है अतः वहाँ भी कोई भेद नहीं। जैसे नदी में भँवर पड़ जाये तो सिवाय पानी के वह है कुछ नहीं लेकिन भँवर के भीतर और बाहर का भेद व्यवहारयोग्य हो ही जाता है वैसे अहम् इदम् का व्यवहारयोग्य ही भेद है, वस्तु में भेद नहीं। सोऽहम्-चिन्तन में उपहितों की एकता थी जबकि इस चिन्तन में उपाधियों की एकता है। उपनिषदुक्त सृष्टिप्रक्रिया अभेद को उपपन्न करने के ही उद्देश्य से बतायी गयी है। भौतिक स्तर पर समष्टि-व्यष्टि सभी उपाधियाँ एक हैं यह सृष्टिप्रक्रिया से सरलतया समझ आ जाता है। यहाँ देहत्रय कहे हैं अतः व्यष्टि अज्ञान को भी समष्टि अज्ञान (माया) से एक जानना चाहिये। निर्विकार चैतन्य की तो एकता है ही, विकारभूत उपाधियों की भी एकता ही है। इस तरह उपाधि-प्राधान्य होने पर भी दृष्टि अभेद पर स्थिर करनी चाहिये। प्रमाता को भी समष्टि-अभिमानी से एक जानते हुए ध्यान का यह ढंग है।।१७।।

पूर्वश्लोकोक्त त्रिदेह का प्रदर्शन करते हैं **आधिदैविक तीन शरीर हैंब्रह्माण्ड, सूत्र और अव्याकृत एवं आध्यात्मिक तीन शरीर हैंपिण्ड, लिंग और अज्ञान।।१८।।** ब्रह्माण्ड को ही विराट्, सूत्र को हिरण्यगर्भ, अव्याकृत को ईश्वर भी कहते हैं लेकिन अभी

स्थूलसूक्ष्मैक्यरूपत्वमुभयत्र क्रमात् त्रिषु।
अस्ति साम्यमभेदोऽत उभयोरिह चिन्त्यताम्।।१६।।
विराड्ढिरण्यगर्भेशा अधिदैवं हि देहिनः।
विश्वश्च तैजसः प्राज्ञो ह्यध्यात्ममपि देहिनः।।२०।।

उपाधि-प्राधान्येन निर्देश होने से ब्रह्माण्ड आदि ही कहा। पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता सभी तरह है, स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीनों स्तरों पर इनका अभेद है। ब्रह्माण्ड-पिण्ड उभयत्र समान ही नियम लागू होते हैं। यह सभी अन्वेषकों ने पाया है। जो चेतन ब्रह्माण्ड को चला रहा है, वही पिण्ड को भी चला रहा है, उसमें भी कोई भेद नहीं है। पिण्ड से व्यष्टि स्थूल, लिंग से व्यष्टि सूक्ष्म और अज्ञान से व्यष्टि को भासमान अज्ञान कहे हैं। अव्याकृत से यह अज्ञान पृथक् नहीं है फिर भी प्रत्यगात्मा की अपेक्षा से प्रतीत होने के कारण इसे व्यष्टि कहते हैं। इसी के कारण प्रत्यक्स्वरूप को सूक्ष्म से और उसके द्वारा स्थूल से तादात्म्याध्यास होता है एवं प्रारब्ध-समाप्ति पर एक स्थूल से सम्बन्ध टूटकर यथाकर्म-यथाश्रुत नये से सम्बन्ध होने पर उससे तादात्म्य हो जाता है।।१८।।

दर्शित देहों में अभेद संगत करते हैं **दोनों प्रकार के तीनों शरीरों में क्रमशः स्थूलता, सूक्ष्मता और एकताये समानताएँ हैं अतः इनके अभेद का चिन्तन किया जाये।।१६।।** दोनों प्रकार अर्थात् अध्यात्म (व्यष्टि) और अधिदैव (समष्टि)। स्थूलता अर्थात् पंचीकृत भूतरूपता। सूक्ष्मता अर्थात् अपंचीकृत भूतरूपता। समष्टि हो या व्यष्टि, हैं भूतरूप ही। कारण में एकता है और अज्ञान भी एक है। जाग्रदादि में घटाज्ञान-पटाज्ञान आदि भेद लगने पर भी सुषुप्ति में अज्ञान एक ही उपलब्ध होता है। ध्याता इन समानताओं से इन्हें अभिन्न समझे, ऐसा बार-बार चिन्तन करे कि ये एक ही वस्तु हैं जो दो-दो रूपों में प्रतीत हो रही हैं। इसे इतना बढ़ाना चाहिये कि व्युत्थानकाल में भी ज़रूरी न होने तक भेदबुद्धि न बने। जैसे अपने हाथ से अपने पैर में खाज करें तो किसी और ने की ऐसा नहीं लगता वैसे वहाँ भी लगे जहाँ अन्य व्यक्ति खुजला देइतनी दृढता लानी चाहिये। ऐसा साधक विशेष व्यवहार, रागादिप्रेरित कार्य नहीं कर सकता, अनिवार्य शारीर कर्म ही करेगा, उन्हीं में ऐसी दृष्टि रखने का प्रयास करेगा। इस श्लोक में उपाधियों के अभेदचिन्तन का विधान किया।।१६।।

अब उपहित का अभेद बताते हैं **विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वरये आधिदैविक देही हैं। विश्व, तैजस, प्राज्ञये आध्यात्मिक देही हैं।।२०।। ये तीनों देही यथाक्रम स्थूल का, सूक्ष्म का और आनन्द का उपभोग करते हैं यह**

स्थूलसूक्ष्मानन्दभुजः क्रमात्ते देहिनस्त्रयः।
एतत्सर्वं स्फुटीकर्तुं चतुष्पात् प्रविविच्यते।।२१।।

चतुष्पादात्मा

इन्द्रियैर्विषयज्ञानं यत्तज्जागरितं भवेत्।
तत्र स्थित्वा जगत् स्थूलं वेत्यात्मा तत्तदिन्द्रियैः।।२२।।
शिरश्चक्षुर्मुखं प्राणो मध्यं बस्तिस्ततोऽप्यधः।
इत्यंगसप्तकं वैश्वानरोपास्तिश्रुतौ श्रुतम्।।२३।।

सब स्पष्ट करने के लिये चार चरणों वाले आत्मा का विवेचन किया जाता है।।२१।। विराट् विश्व को अभिन्न, हिरण्यगर्भ तैजस को अभिन्न एवं ईश्वर प्राज्ञ को अभिन्न समझना है क्योंकि इनमें समानता स्थूलभोगादि की है। 'उपभोग करते हैं' में समष्टि उपभोग कराता है यह भी संगृहीत है। 'ऋतं पिबन्तौ' आदि के विचार में पिलाने वाले को भी पीने वाला कह सकते हैंऐसा सूत्रभाष्य आदि में वर्णन है। एवमपि यहाँ समानता पर ज़ोर है अतः स्थूलादि को जानना रूप उपभोग समष्टि-व्यष्टि उभयत्र समान समझना ही उचित है। समानता के आधार पर एकता का चिंतन कर्त्तव्य है। इस प्रकार उपाधि-उपहित दोनों के अभेद का चिंतन होने से मन अभेद पर स्थिर रह सकेगा, स्थिर होने पर वहीं रखना चाहिये, विचलित हो तो पुनः सायास चिन्तन करे।।२०-१।।

आत्माके चरण ही समझाते हैं **जागरित अवस्था वह है जहाँ इन्द्रियों से विषयों का ज्ञान होता है। उस अवस्था में आत्मा विभिन्न इन्द्रियों से स्थूल जगत् को जानता है।।२२।।** गीली मिट्टी पर चलकर गये चोर को उसके पदचिह्नों से पकड़ लेते हैं, ऐसे ही जागरादि से आत्मस्वरूप का ग्रहण हो जाता है इसलिये इन्हें पाद या चरण कहते हैं। उपदेश, विचार, नवीन बोध जाग्रत् में ही सम्भव है अतः प्रथम इसे ही माना। इन्द्रियों से बहिरिन्द्रियाँ विवक्षित हैं क्योंकि मन इनके बगैर बाह्य अर्थ नहीं ग्रहण करता। किं च योग्यताघटित लक्षण अभिप्रेत होने से ध्यान, समाधि आदि में बाह्यार्थबोध न होने पर भी जाग्रत् ही अवस्था स्वीकारना संगत है। जाग्रत् में स्थूल अर्थात् पंचीकृत विषय ही ग्रहण होंगे, वे ही इन्द्रियग्राह्य हैं।।२२।।

वैश्वानर को सात अंगों और उन्नीस मुखों वाला बताते हैं **सिर, आँखें, मुख, प्राण, मध्यभाग (धड़), बस्ति (मूत्र स्थान), और उससे नीचे पैर आदिये सात अंग वैश्वानर की उपासना में सुने गये हैं।।२३।। ज्ञानेन्द्रियों के भेद, कर्मेन्द्रियों**

ज्ञानकर्मेन्द्रियप्राणभेदाः पंचदशेरिताः ।
चतुर्विधान्तःकरणं मुखान्येकोनविंशतिः ।।२४।।
स्थूलमिंद्रियगम्यं यत्तद्भुंक्तेऽसौ चतुर्विधः ।
जागरे जागरस्वप्नसुप्तितुर्याख्यभेदतः ।।२५।।
जागरो व्यवहारोऽक्षैः स्वप्नो मानसचिन्तनम् ।
तूर्ष्णींस्थितिः सुषुप्तिः स्यात् तृप्तत्वं तुर्यमुच्यते ।।२६।।
अध्यात्ममधिदैवं च विश्ववैश्वानराभिधः ।
ईदृशः प्रथमः पाद आत्मनः स्याच्चतुष्पदः ।।२७।।

के भेद, प्राणों के भेद मिलकर पंद्रह बताये गये हैं, (इनमें) चार तरह का अन्तःकरण (जोड़कर) इक्कीस मुख समझने चाहिये ।।२४।। पिण्ड के सात अंग स्पष्ट हैं, ब्रह्माण्ड में द्युलोक सिर, चक्षु सूर्य, वायु प्राण, आकाश धड़, जल बस्ति और पृथ्वी पैर है। इनमें व्यष्टि-समष्टिका अभेद चिन्तनका विषय है। उन्नीस मुखों के रूप में गिने इन्द्रियादि के अधिदेव सूर्यादि प्रसिद्ध हैं अतः वहाँ पिण्ड-ब्रह्माण्ड का अभेद समझना चाहिये।।२३-४।।

उसकी स्थूलोपभोगिता तथा जाग्रत् अवस्था की ही चार तरह अवस्थिति समझाते है **इन्द्रिय-विषय स्थूल कहे जाते हैं जिन्हें जाग्रदभिमानी भोगता है। जाग्रत् के अन्तर्गत ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय इन नामों वाले भेदों के संदर्भ में भोग करता वह चार प्रकार का हो जाता है।।२५।। इन्द्रियों से व्यवहार जाग्रत् में जाग्रत् है। मन से चिन्तन करना जाग्रत् में स्वप्न है। इन्द्रिय-मन की निश्चेष्ट स्थिति जाग्रत् में सुषुप्ति है। तृप्तता जाग्रत् में तुरीय है।।२६।। चार चरणों वाले आत्मा का उक्त ढंग का पहला चरण है जिसका अध्यात्म में विश्व और अधिदैव में वैश्वानर नाम है।।२७।।** यन्त्रादि के माध्यम से भी जो इन्द्रियों के विषय बनते हैं वे स्थूल ही विषय हैं। जाग्रत् में प्रधान भोग इन्हीं स्थूल विषयों का है, फिर भी जगते समय भावना, सौंदर्य आदि के भी भोग होते हैं अतः जाग्रत् को पुनः चार हिस्सों में बाँटा : इन्द्रियव्यवहार मात्र को जाग्रत्-जाग्रत् कहते हैं, इसमें मन से होते ग्रहणों का समावेश नहीं। जैसे किसी मनुष्य को देखते हैंइतना इंद्रियव्यवहार, उसे शत्रु मित्रादि 'देखते' हैंयह मन का व्यवहार है। कभी इंद्रियाँ रोककर मन से चिंतन करते हैं, चाहे योजनादि बनायें, कल्पना आदि करें, वह सब जाग्रत्स्वप्न है। क्योंकि स्थूलाभिमान रहता है, हल्लादि हो तो सुनाई दे जाता है इसलिये सर्वथा

इन्द्रियाणामुपरमे धिया जागरवासनाम्।
सूक्ष्मां जानन् वासनात्मा सप्तांगादियुतो भवेत्।।२८।।
स्पष्टस्मृतिरविस्पष्टस्मृतिरस्मृतिरित्यपि।
स्वप्नभेदाः स्वप्नमध्ये जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।।२९।।
स्वप्नेऽपि तुर्यं तृप्तत्वं जाग्रतीवानुभूयते।
हिरण्यगर्भोऽधिदैवम् अध्यात्मं तैजसाभिधः।।३०।।

स्वप्नावस्था नहीं है किंतु जाग्रत् के अन्तर्गत स्वप्न है। कदाचित् जगे रहने पर भी न इंद्रियाँ व्यवहार करती हैं, न कुछ सोच ही रहे होते हैं, उसे संस्कृत में तूष्णीम् अर्थात् चुप-चाप की स्थिति कहते हैं, वह जाग्रत् में सुषुप्ति है। एवं तृप्ति अर्थात् सुख की पूर्णता और सन्तोष की अनुभूतियह जाग्रत् में तुरीय है। भले ही विषयप्रयुक्त हो लेकिन तृप्ति को जाग्रत्-तुरीय में गिना जायेगा। यों विभाजन करने पर ही जाग्रत् के समग्र अनुभवों का संग्रह होता है। इस तरह के अनुभव करता आत्मा विश्व, वैश्वानर (विराट्) नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध है तथा आत्मा के चरणों में प्रथम है। प्रथमता प्रधानता से है, क्रम से इसलिये नहीं कि चरणों में चक्रात्मकता है, एक के बाद एक ये आते-जाते रहते हैं।।२५-७।।

अब दूसरा चरण कहते हैं **इन्द्रियाँ जब कार्य करना छोड़ देती हैं और आत्मा जाग्रत् की सूक्ष्म वासनाओं को बुद्धि से जानता है तब उसे वासनात्मा अर्थात् सूक्ष्मप्रज्ञ कहते हैं। वह भी सात अंग आदि से युक्त है।।२८। स्वप्न के अंतर्गत भी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीयये चार स्वप्न के भेद हैं। साफ-साफ याद, धुंधली याद और याद आना ही नहींये क्रमशः स्वप्न-जाग्रत्, स्वप्न-स्वप्न और स्वप्न-सुषुप्ति हैं। स्वप्नतुरीय तो तृप्तता ही है जो स्वप्न में भी वैसी ही अनुभव की जाती है जैसी जाग्रत् में। स्वप्नाभिमानी अध्यात्म में तैजस और अधिदैव में हिरण्यगर्भ है। चार चरणों वाले आत्माका यह दूसरा चरण है।।२९-३० १/२।।** स्वप्न वासनाओं का ही विलास है। जाग्रत्की वासनाओं से सपने दीखते हैं। यद्यपि एक ही जन्मका जाग्रत् अभिप्रेत नहीं तथापि वासनाप्राप्ति की मुख्य भूमि जाग्रत् ही है। किं च सपने के संस्कार से आगे फिर सपना दीख सकता है मगर ऐसा सपना जो नये सपने को दिखाने लायक संस्कार छोड़े वह यहाँ स्वप्न में जाग्रत् कहा गया है अतः जाग्रत् की वासना कहने पर उस जाग्रत् का भी संग्रह संभव है। वासना मन में रहती है, मन सूक्ष्मभूतों का कार्य है अतः वासना सूक्ष्म होती है। स्वप्न

द्वितीयः पाद एष स्यादात्मनोऽस्य चतुष्पदः।
धियो लये सुषुप्तिस्थ एकोऽभूद् द्वैतलोपनात्।।३१।।
धीवृत्तिरूपाः प्रज्ञास्ता एकीभावमुपागताः।
दुःखहान्यानन्दमयो भुंक्ते ब्रह्मसुखं तदा।।३२।।
अविद्यावृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं भोगसाधनम्।
सुषुप्तौ चतुरात्मत्वं जागरादिविभेदतः।।३३।।
तन्द्र्यामध्यापयेद्वाचा तदा स्यात् सुप्तिजागरः।
ध्यानाभ्यासस्तु यस्तन्द्र्यां सुप्तिस्वप्नः स उच्यते।।३४।।
गाढनिद्रा सुप्तिसुप्तिः सुप्तितुर्यं सुखोद्भवः।
अध्यात्मं प्राज्ञ एवं स्यादधिदैवं तथेश्वरः।।३५।।

में वासनाका ही भोग है, विषयों के आकार में वासना ही उपस्थित है। अतः स्वप्नद्रष्टा को वासनात्मा कहना बनता है। अंग-मुख जाग्रत् जैसे ही हैं क्योंकि जाग्रत् की ही वासना से स्वप्न में भी अंग-मुख हो सकते हैं। सपने के भी जाग्रद् आदि चार विभाजन हैं : सपना ठीक याद आये तो समझना चाहिये कि दीखते समय वह सपने में जाग्रत् स्थिति थी। साफ न याद आये तो वह सपने में सपने की अवस्था थी। बिलकुल याद न रहे फिर भी शरीर के भारीपन से या अन्य उपाय से पता चले कि सपने आते रहे, तो वह सपने में सुषुप्ति थी। स्वप्नतुरीय तृप्ति ही है, स्वप्न में भी तृप्ति का अनुभव हो ही जाता है। यों आत्मा के दूसरे चरण का वर्णन हुआ।।२८-३० १/२।

अब पाँच श्लोकों से तीसरा चरण समझाते हैं **(इन्द्रियों सहित) बुद्धि लीन हो जाने पर आत्मा सुषुप्ति में स्थित रहता है। तब द्वैत का लोप (अदर्शन) हो जाने से आत्मा अकेला होता है।।३१।। बुद्धिवृत्तिरूप प्रज्ञाएँ अपने सारे भेद छोड़कर आत्मरूप ज्ञान से एक हुई रहती हैं। सारे दुःख समाप्त हो चुकने से आनन्दमय आत्मा तब ब्रह्मसुख का अनुभव करता है।।३२।। उस स्थिति में भोग का साधन चेतन ही है लेकिन अविद्यावृत्ति से परिसीमित रहने के फलस्वरूप सुषुप्ति में भी जाग्रद् आदि विभाजनों से चार प्रकार हैं।।३३।। तन्द्रा में जब वाणी से व्यक्ति अध्यापन करा देता है तब सुषुप्ति में जाग्रत् है। तन्द्रा में ध्यानका अभ्यास सुषुप्ति में स्वप्न कहलाता है।।३४।। गहरी नींद सुषुप्ति में सुषुप्ति है। सुखका उद्भव सुषुप्तितुरीय है। सुषुप्ति वाला आत्मा अध्यात्म में प्राज्ञ एव अधिदैव में ईश्वर है। चार चरणों वाले आत्मा का यह तीसरा चरण बताया।।३५ १/२।।** स्वप्न में ही

इन्द्रियाँ लीन हो चुकी थी अतः अब बुद्धि का ही लय कहना बाकी रहा। एकता लाने के लिये कुछ करना नहीं पड़ता, केवल अनेकता हटानी पड़ती है। इंद्रियाँ-मन ही अनेकता को ग्रहण करते हैं, ये लीन हो जाने पर एकता तो स्वाभाविक है। लोक में बुद्धि की वृत्तियाँ प्रज्ञा कही जाती हैं, प्रज्ञावान् पण्डित कहने से अनेक विषयों में प्रविष्ट विद्वान् समझ आता है। सुषुप्ति में वे प्रज्ञायें समाप्त होकर अखण्ड चिन्मात्र रह जाता है। वास्तव में हमेशा वही एक ज्ञान है लेकिन वृत्तियाँ रहते उनमें प्रतिबिम्ब पड़ने से वृत्तियाँ भी ज्ञान लगती हैं, जब वृत्तियाँ नहीं रहीं तब ज्ञान ही बना रह जाता है। यही वृत्तियों का एकीभाव है। जैसे कह देते हैं कि सारे प्रतिबिम्ब बिम्ब से एकमेक हो जाते हैं जब दर्पण निवृत्त हो जायें, वैसे ही वृत्तियाँ निवृत्त हो जाने पर प्रज्ञायें ज्ञानघन से एकमेक कही जाती हैं। सारे दुःख द्वैत में ही हैं अतः द्वैत हटते ही दुःख निवृत्त हैं। सुषुप्ति में कोई दुःख नहीं हो सकता। आत्मा सुखरूप है, दुःख उत्पन्न होने पर आत्मसुख छिप-सा जाता है और हमें अनुभव में उल्लेख दुःख का ही होता है; जब द्वैत न रहने से दुःख है नहीं तब स्वतः स्फूर्त आत्मसुख बना ही रहता है। इसी से सुषुप्त को आनन्दमय कहा। क्योंकि दुःखबीज अज्ञान बचा है इसलिये आनंदरूप नहीं कह सकते। मयट् से प्रचुरता, बहुतायत की विवक्षा समझनी चाहिये। किन्तु आनंद वहाँ ब्रह्मरूप ही है। उसका हमें 'मैं आनन्द हूँ' अनुभव नहीं होता वरन् याद आती है 'मुझे आनंद आ रहा था' अतः आनंदका भोग ही होने से साधन की जरूरत है। अन्य कोई साधन वहाँ हैं नहीं, अविद्या की वृत्ति से सीमित आत्मा ही वहाँ भोगका साधन है। जैसे बुद्धि-इन्द्रियादि से अवच्छिन्न आत्मा ही स्थूलादि भोगोंका साधन है वैसे अज्ञान से अवच्छिन्न आत्मा ही सौषुप्त सुख भोगने का साधन है। अत एव वंह परमार्थ सुख नहीं है! जैसे काँच की शीशी में रखा घी दीखता जरूर है पर शीशी फिरा देने से फुलका नहीं चुपड जाता, वैसे सुषुप्ति में आनन्दानुभव होता जरूर है पर क्योंकि तब भी आनन्दरूप आत्मा अविद्यारूप शीशी में बंद है इसलिये मोक्षरूप पूर्ण आनन्द का आविर्भाव नहीं होता। सुषुप्ति का अत्यंत महत्त्व होने पर भी वह मोक्ष नहीं, मोक्ष के लिये उदाहरणमात्र है। सुषुप्ति के अन्तर्गत भी जाग्रद् आदि चार अवस्थाएँ हैं। अत्यधिक अभ्यास वाला तंद्रा मेंलगभग सोते हुएभी सही मंत्र का उच्चारण, सही पहाड़े का उच्चारण कर पाता है जिसे सुनकर शिष्य ठीक शिक्षा भी ग्रहण कर सकता है। नशे में भी अभ्यस्त विषय का समुचित उपस्थापन हो पाता है। ऐसी स्थिति को सुषुप्ति में जाग्रत् कहा। ध्यानाभ्यासी तंद्रा में ध्यान करता है तो

तृतीयः पाद इत्युक्त आत्मनोऽस्य चतुष्पदः।
पादत्रयमिदं मायामात्रं स्यान्न तु तात्त्विकम्।।३६।।
सुषुप्तिस्वप्ननामभ्यां तत्त्वविद्वक्ति तत् त्रयम्।
तत्त्वावृतेः सुप्तसुप्तं स्वप्नता त्वन्यथेक्षणात्।।३७।।
पादत्रयेणावृताऽसौ चिदेकरसताऽऽत्मनः।
अथ पादश्चतुर्थो यश्चतुरात्मा स पूर्ववत्।।३८।।

क्योंकि बहिरिन्द्रिय-व्यापार नहीं इसलिये उसे सुषुप्ति में स्वप्न कहा। गहन निद्रा, जहाँ से उठकर 'आज कुछ पता ही नहीं चला' इतना ही याद आता है वह सुषुप्ति में सुषुप्ति है। सुखोत्पत्ति सुषुप्ति में तुरीय है, इससे उठकर 'आनंद से सोया' यह याद आता है। इसी से तृप्ति की अनुभूति होती है। यों चतुर्भेद सुषुप्ति में आत्मा प्राज्ञ और ईश्वर कहलाता है। इस तरह तीसरा चरण स्पष्ट हुआ।।३१-३५ १/२।।

नृसिंहोत्तर में यहाँ 'त्रयम् अपि एतत् सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रम्' (पृ. ८० आ. आ.) कहकर अवस्थात्रय को मिथ्या बताया है। इस वाक्य का अर्थ कहते हैं **ये तीनों चरण केवल माया हैं, वास्तविक नहीं।।३६।। तत्त्ववेत्ता इन तीनों को 'सुषुप्ति' और 'स्वप्न' नामों से कह देता है। क्योंकि तीनों के दौरान तत्त्व ढका ही रहता है इसलिये तीनों सुप्त-सुप्त अर्थात् सुषुप्ति कहलाने लायक हैं तथा क्योंकि तीनों में जैसा तत्त्व नहीं वैसा उसका ग्रहण है इसलिये तीनों स्वप्न कहलाने लायक हैं।।३७।।** उक्त चतुर्विध तीनों अवस्थाएँ सर्वानुभूत हैं, तत्त्वसाक्षात्कार के बिना ही उपलब्ध हैं अतः केवल माया हैं, सत्य नहीं। उल्लेख इनका इसलिये किया कि इनके आधर पर अखण्डताका चिन्तन संभव है। मायारूप होने से ही तत्त्वज्ञ इन्हें नींद या सपना ही कहते हैं। जाग्रत् तभी कहें जब तत्त्वज्ञान हो, उसके बिना सभी अवस्थाएँ नींद के ही विभिन्न स्तर हैं। माण्डूक्यकारिका (आगम. १५) में भी तीनों अवस्थाओं को इसी तरह इकट्ठा किया है। किंतु है यह तत्त्ववित् की दृष्टि से; व्यवहार में तो प्रमा-भ्रम आदि भेद उपयोगी ही हैं। अत एव तत्त्वज्ञों के लिये समुचित माना गया है सर्वकर्मसंन्यास क्योंकि वहीं व्यवहार की न्यूनतमता है।।३६-७।।

अवस्थात्रय-वर्णनका उपसंहार करते हुए तुरीय वर्णन प्रारम्भ करते हैं **आत्मा की एकरस चिन्मात्रता जाग्रदादि तीन चरणों से ढकी है। पूर्वकी तरह चार प्रकार का चौथा चरण अब बताया जाता है।।३८।।** अवस्थात्रय तो आवरक हैं, तुरीय उस आवरण को दूर करने वाला है अतः अन्त में बताया जा रहा है।।३८।।

तुरीयाऽवसितत्वं तु भवेत् पादचतुष्टये।
ओताऽनुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पशब्दैरुदीरिताः।।३९।।
तुरीयपादगा भेदास्तत्स्वरूपं विविच्यते।
ब्रह्मणो गुरुशास्त्राभ्यां बुद्ध्वा सर्वात्मतां ततः।।४०।।

नृसिंहोत्तर में तीन अवस्थाओं को मायामात्र कहने के अनन्तर वाक्य है 'चिदेकरसो ह्ययमात्मा। अथ चतुर्थश्चतुरात्मा तुरीयावसितत्वाद् एकैकस्य, ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पैः'। आत्मा को चिदेकरस पूर्वश्लोक में कह चुके। तुरीय को चतुरात्मा कहने पर प्रश्न हुआ कि चार स्वरूपों को तुरीय कैसे कहा? इसका जवाब देते हैं **चारों स्वरूप तुरीय में अवसान वाले हैं। ओता, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्पइन शब्दों से तुरीय के चार पाद कहे जाते हैं।।३९।। तुरीय के पाद (आत्मा, स्वरूप) रूप से स्थित भेदों का स्वरूप बताते हैंगुरु व शास्त्र से ब्रह्म की सर्वात्मता समझकर सब वस्तुओं में ब्रह्मको अनुगत देखता हुआ आत्मा ओता है।।४० १/२।।** चतुरात्मा से कहे चार विभागों के लिये यहाँ पाद-शब्द है। चार होने पर भी इनकी समाप्ति, पूर्णता, सार्थकता तुरीय में होने से इन्हें तुरीयरूप कहना उचित बताया। प्रथम है ओता। शास्त्र से ब्रह्मतत्त्व समझ आता है लेकिन गुरु समझाये तभी। ब्रह्म अर्थात् सर्वरूप चेतन। यही गुरु और शास्त्र मिलकर समझाते हैं। अर्थात् पता चलता है कि बाकी सब मिथ्या है। इस सर्वरूप वस्तु को समझने के बाद सारे भेद दीखने पर भी उनमें समान रूप से स्थित परमात्मा उपलब्ध होता रहे तब आत्माका ओता नाम पड़ता है। हमेशा अनुस्यूत, अनुगत, व्यापक, पिरोया हुए होने पर भी गुरु-शास्त्र से समझने पर ही अनुभव में आता है। जैसे सुनार हर गहने में सोना देखता है वैसे ओता सर्वत्र सच्चिदानन्द देखता है। जैसे पीतल के गहने पर सोने का पानी चढ़ा हो तो शुरू में गहना सोने का लगता है, समय बीतने पर पानी उतर जाता है, वैसे नाम-रूप पर सच्चिदानंद का पानी ही चढ़ा है इसलिये हर चीज़ शुरू में 'है' लगने पर भी कुछ समय बाद 'है' नहीं लगती, 'थी' लगती है! सुख भी सुख नहीं लगता, जिसे समझ, जानकारी मानते थे वही नासमझी, मुग़ालता पता चलता है। लोकदृष्टि से मायिक नाम-रूप से जुड़े सत्त्यादि ही दीखते हैं जबकि शास्त्रदृष्टि से, जुड़े दीखते हुए भी मालूम रहता है कि सत्त्यादि इन नाम-रूपों के नहीं हैं, ब्रह्म की ही इनमें अनुगति इस तरह दीख रही है। यह ओता-रूपता स्पष्ट ही तुरीय में अवसान वाली है।।३९-४० १/२।।

सर्ववस्तुष्वनुस्यूतं पश्यन्नोता भवेदयम्।
इन्द्रियाणि निरुध्याहं ब्रह्मेति ब्रह्मतात्मनि।।४१।।
येनानुज्ञायते सोऽयमनुज्ञातेति कथ्यते।
ज्ञातृत्वं तु निराकृत्य चिदेकरसशेषता।।४२।।
अनुज्ञेत्युच्यते मुक्तिरविकल्प इतीर्यते।
विद्वज्जागरणस्वप्नसुप्तितुर्याऽभिधा इमाः।।४३।।
अवस्थास्तिस्र एतास्तु मायालेशेन संयुताः।
निःशेषमायाहीनोऽयमविकल्पो भवत्यथ।।४४।।

तुरीय का अगला रूप बताते हैं **इन्द्रियों को निरुद्ध कर 'मैं ब्रह्म हूँ' यों जिसके द्वारा आत्मा में ब्रह्मता (व्यापकता) स्वीकारी जाती है वह आत्मा अनुज्ञाता कहा जाता है।।४१ १/२।।** ओता को नाम-रूप मिथ्या निश्चित होने से इन्द्रियनिरोध स्वाभाविक हो जाता है। तीव्र प्रारब्ध से भले ही यत्किंचित् बहिर्दृष्टि बने, स्वभाव से वह अन्तर्मुख ही रहता है। उस दशा में वह गुरु-शास्त्र से समझी अपनी व्यापकता को स्वीकारता है अर्थात् उसे उस पूर्णता का भान होता है अतः अनुज्ञाता कहा जाता है। अनु अर्थात् तत्त्वमस्यादि के भावार्थ को समझने के पश्चात् वह उसे अनुभव करता है। प्रारब्धवेग से विषय-व्यवहार हो तो ओता बन जाता है, अन्तर्मुख दशा में अनुज्ञाता रहता है।।४१ १/२।।

बाकी रूप दिखाते हैं **ज्ञातापना भी हटाकर एकरस चैतन्य बचा रहना अनुज्ञा कही जाती है। मुक्ति को अविकल्प कहते हैं। विद्वान् की दृष्टि से ओता ही जाग्रत्, अनुज्ञाता स्वप्न, अनुज्ञा सुषुप्ति और अविकल्प तुरीय है।।४२-३।।** अनुज्ञाता में मैं-का भान है, वह भी हटकर केवल चैतन्य का भान रहे तब अनुज्ञा है। वृत्तिरूप मैं ही हटेगा, साक्षिरूप मैं नहीं हटेगा क्योंकि वही प्रत्यक्स्वरूप ब्रह्म है। चौथा रूप अविकल्प या विदेह कैवल्य है। तत्त्वज्ञ को अपनी ये चार अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं जिन्हें वह जाग्रदादि समझता है।।४२-३।।

उक्त चारों में एक विशेष बताते हैं **इनमें पहली तीन अवस्थाएँ मायालेश से जुड़ी हैं, सर्वथा मायारहित यह अविकल्प ही है।।४४।।** जीवन्मुक्ति में मायालेश (अविद्यालेश) रहते ही ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञाये दशाएँ हैं। विदेहकैवल्य में लेशाविद्या का भी स्पर्श नहीं। बाधित हो चुकी अविद्या की प्रतीति का नाम अविद्यालेश आदि है जो मुक्त के प्रारब्धसमाप्ति पर्यन्त व्यवस्थोपपादन के लिये अंगीकार है।

आत्मादेशः

अतद्व्यावृत्तिरूपेण तस्यादेशोऽत्र वर्ण्यते।
जाग्रत्स्वप्नान्तरालानि विद्याविद्ये सुषुप्तकम्।।४५।।
न स्थूलप्रज्ञमित्याद्यैः क्रमात् षड्भिर्निवार्यते।
न चक्षुरादिभिर्दृश्यं न प्राणैर्व्यवहारभाक्।।४६।।
नापि कर्मेन्द्रियैर्ग्राह्यं नानुमेयं च लक्षणात्।
न चिन्त्यं मनसा नैव शब्दैश्च व्यपदिश्यते।।४७।।

विदेहताकालीन अविद्यास्तमयरूप मोक्ष का माया से किंचित् भी संबंध नहीं। इस प्रकार श्लोक ३६ से शुरू तुरीय का वर्णन हुआ।।४४।।

नृसिंहोत्तर में आगे कहा 'अथाऽयमादेशो न स्थूलप्रज्ञं, न सूक्ष्मप्रज्ञं, नोभयतःप्रज्ञं, न प्रज्ञं, नाऽप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनम्'; इन छह बातों का संग्रह करते हैं **अतत् की व्यावृत्ति (निषेध) के ढंग से उस आत्माका आदेश अब समझाया जाता है'न स्थूलप्रज्ञम्' इत्यादि छह निषेधों द्वारा क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, अन्तराल (मध्य) की दशा, विद्या (सामान्य ज्ञान), अविद्या और सुषुप्ति का निवारण किया गया है।।४५ १/२।।** 'तत्' अर्थात् वक्तव्य वस्तु। जो-जो वह वस्तु नहीं उस सबको अतत् कहते हैं। उसकी व्यावृत्ति अर्थात् उसका निषेध। इसी ढंग से आत्मवस्तु यहाँ बतायी है। अन्तराल अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न के बीच की, तन्द्रावस्था। विद्या से विषयज्ञानों का निषेध है।।४५+१/२।।

उपनिषत् पुनः कहती है 'अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्'; ये शब्द समझाते हैं **वह तत्त्व नेत्रादि का विषय नहीं, प्राणों से उसका व्यवहार नहीं होता, कर्मेन्द्रियाँ उसे ग्रहण नहीं कर सकती, लक्षणों से उसे अनुमित नहीं किया जा सकता, मन से चिन्तन और शब्द से कथन किया जा सके ऐसा उसका स्वरूप नहीं।।४६-७।।** अदृश्य का यह भाव नहीं कि आत्मानुभव संभव न हो, वरन् यह है कि इन्द्रियगम्य नहीं है। चेतनरूप से वह निरन्तर भासमान है ही। इसके लिये किसी साधन की जरूरत नहीं। प्राणों से श्वास का व्यवहार, भोजन निगलने-निकालने का व्यवहार, खाया पचाने का और शरीर में फैलाने का व्यवहार, ताकत के कार्य के समय ज़ोर लगाने का व्यवहार आदि तो हो सकते हैं पर प्राणों से आत्मा का कोई व्यवहार नहीं हो सकता। कर्मेंद्रियों से वह ग्रहण न होने लायक है। जैसे ज्ञानेंद्रियाँ रूपादि ही देखेंगी, चेतन नहीं, वैसे कर्मेन्द्रियाँ शरीरादि को

स्वप्रकाशात्मसारत्वान्नापि शक्याऽस्य शून्यता।
स्थूलप्रज्ञादिरूपो यः प्रपंचः स्वात्मनः पृथक्।।४८।।
तत्कृतैर्बहुविक्षेपैरात्मनो दुःखितेति चेत्।
प्रपंचः कल्पितस्तत्त्वबोधेनैवोपशाम्यति।।४६।।

ही पकड़ेंगी चेतन को नहीं। आत्मा ही ज्ञान-कर्मेन्द्रियों का, प्राण मन आदि का प्रेरक है, इनका विषय नहीं। वह सब व्यवहारों को विषय करता है, उसे कोई व्यवहार विषय नहीं करता। प्रत्यक्षव्यवहार की तरह अनुमानादि परोक्ष व्यवहार के भी योग्य परमात्मा नहीं। आगका लक्षण गर्मी, बर्तन गर्म हो तो अनुमान हो जाता है कि आग पर चढ़ाया है। ऐसे आत्मा लक्षणों से अनुमान का विषय नहीं बनता। तटस्थ और स्वरूप कहलाने वाले लक्षण हमारी दृष्टि अनात्मा से हटा पाते हैं, यही उनका उपयोग है, आत्मावबोध उनसे नहीं वरन् प्रत्यग्रूप से स्वयम् ही है। जैसे 'मैं भारतीय' इस अभिमान से 'मैं गुजराती, मराठी' आदि अभिमान ज़्यादा स्फुट होने से देशहित की चिंता न कर परस्पर लड़ते हैंकभी पानी के लिये, कभी ज़मीन के लिये, कभी शिक्षा-संस्थानों के लिये, वैसे हमें अपनी चेतनता का भले ही भान है पर 'मैं शरीर आदि हूँ' का अभिमान ही ज़्यादा स्फुट रहने से स्वयं को, आत्मा को शरीरादिरूप ही समझते हैं। लक्षणविचार से वह भ्रम दूर होता है, यही लाभ है, चेतनानुभव उनका फल नहीं। इसी तरह मन अनात्म-चिंतन छोड़ सकता है यही आत्मचिंतन कह भले ही दिया जाये पर मन आत्मा को विषय कर चिन्तन करे यह संभव नहीं। शब्द भी शक्ति से नहीं कहता, लक्षणा से इशारामात्र कर पाता है। नित्य भासमान तत्त्व वास्तव में प्रत्यक् होने से अविषय है यह अभिप्राय है।।४६-७।।

'एकात्मप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमम्' शब्दों का अर्थ बताते हैं **क्योंकि यह सारभूत वस्तु स्वप्रकाश आत्मा है इसलिये इसे शून्य नहीं समझ सकते। स्थूलप्रज्ञ आदि रूप वाला जो प्रपंचसम्बद्ध आत्मा (प्रमाता) है वह इस निजात्मा (साक्षी) से पृथक् है।।४८।। प्रमाता द्वारा किये बहुतेरे विक्षेपों से आत्मा दुःखी होता होगायह प्रश्न व्यर्थ है क्योंकि प्रपंच (प्रमाता) कल्पित है अतः तत्त्वबोध से ही उपशांत (अविक्षेपक) हो जाता है।।४६।।** सार मायने वास्तविक रस। आत्मा परमार्थ आनन्द होने से सार कहा गया। स्वतः उसका भान सदा अबाध्य रहने से उसे निषेधमुख से समझने पर भी शून्य (असत्) नहीं कह सकते। ज्ञान को आत्मा का सार कहा जैसे घी (चिकनायी) दूध का सार है। भले ही बेचते समय घी-निकले

दूधकी महिमा गाये पर खरीदते समय दूधका व्यापारी उसमें घी ही नापकर पैसे देता है या सुनार बेचते समय चाहे आकार (डिजाइन) की ही प्रशंसा करता रहे, खरीदते समय सोने का ही मूल्य देता है। अतः सार ही मूल्यवान् है। ज्ञान ही मूल्यवान् रूप है। आँख-कान आदि से होने वाले तो ज्ञानाभास हैं, आत्मरूप ज्ञान तो अपरोक्ष, निरपेक्ष अनुभूति है। उसे समझाने के लिये दृष्टि श्रुति आदि को भी ज्ञान कहते हैं किन्तु तात्पर्य उनके बिम्बभूत ज्ञान से है। ज्ञान ही सत्त्य है तो संसार में कुछ भी ज्ञान से अन्य होगा नहीं अतः बंधनदशा में ही एकमात्र आत्मा है तो मोक्ष में क्या विशेषता है? इसका उत्तर है कि आत्मा से भिन्न समझना ही दुःखहेतु बनता है। स्थूल जाग्रत् में और सूक्ष्म स्वप्न में भिन्न प्रतीत होकर दुःखदायी है ही, सुषुप्ति में भेदप्रतीति न सही पर सारे भेदों के बीज रहने से सभी दुःखों के बीज भी वहाँ हैं अतः उसे भी वास्तव में दुःखरहित अवस्था नहीं कह सकते। भेददृष्टि आत्मस्वरूप के अज्ञान से है। तत्त्वसाक्षात्कार से अज्ञान दूर हो चुकने से भेददृष्टि समाप्त हो जाती है अतः कोई दुःख संभव नहीं रहता, यही मोक्ष में बंधन से विशेष है। बंधन अज्ञान के रहते है, अज्ञान की निवृत्ति से मोक्ष है। अज्ञान से ही स्वयं को साक्षी न जानकर प्रमाता समझते हैं, आँख-कान के सहारे ज्ञान वाला समझते हैं, देखने-सुनने चलने-पकड़ने वाला, सोचने-समझने वाला स्वयं को मानते हैं और तभी प्रपंच क्लेश देता रहता है। यह जो भ्रमसिद्ध आत्मा दुःखी होता है वह मोक्ष में रहने वाले वास्तविक साक्षिरूप आत्मा से पृथक् ही है। साक्षी तो अभी भी दुःखी नहीं होता लेकिन अज्ञानवश हम खुदको साक्षी समझ ही नहीं पाते इसलिये दुःखी बने रहते हैं। 'स्थूलप्रज्ञादिरूपः प्रपंचः' से उपाधि और अभिमानी दोनों का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि दोनों अज्ञान से हैं। मिथ्या होने से प्रपंच (उपाधि) और उसमें अभिमानी का तत्त्वसाक्षात्कार-प्रयुक्त बाध ही संभव है, इससे अन्य उसे दूर किया जा सके ऐसा कोई उपाय नहीं है। दुःख की पहुँच है ही मन तक, मुझ तक नहीं है, फिर भी इस तथ्य को न जानकर हम मन से एकमेक हुए दुःखी हैं। ऐसा दुःख तभी मिटे जब हम समझ लें कि हम मन नहीं उसके साक्षी हैं। इसी से अपने प्रमातृरूपका बाध हो जाता है जैसे स्वयं को कौन्तेय जानते ही कर्ण के कौन्तेयरूपका बाध हो गया था। श्रद्धालु को शास्त्र से किंचित् पता चलता है, विचार से उसमें निःसंदिग्धता आती है और आत्मसाक्षात्कार से सुस्पष्ट हो जाता है कि मैं सदा प्रपंचातीत चिन्मात्र हूँ।।४८-६।।

उसी को 'शिवं शान्तम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' कहा है यह सूचित कर देते

ततः शिवं दुःखहीनं सर्वविक्षेपशान्तितः।
पादं चतुर्थं मन्यन्ते वस्त्वद्वैतमिहोच्यते।।५०।।
मतिरेव बुभुत्सूनां न त्वद्वैते चतुर्थता।
यदद्वैतं स एवात्मा ज्ञेयो जिज्ञासुना स हि।।५१।।
तुर्यपादे त्रयं त्यक्त्वा तुर्ये तुर्योऽवबुध्यताम्।
मायित्वादीश्वरोऽप्यत्र ग्रस्तः स्यादवबोधतः।।५२।।

है **अतः वह शिव है, सारे विक्षेप उसमें निरस्त हो चुकने से वह दुःखहीन है। ऐसी अद्वैत वस्तु यहाँ कही जा रही है जिसे चौथा पाद माना जाता है।।५०।।** तुरीय सत्त्य है, विश्वादि उस पर अध्यस्त हैं। तुरीय ही कल्याणस्वरूप, आनंदस्वरूप होने से शिव है। स्वरूप से निर्विकार होने पर भी भ्रम से आरोपित विकारों के भी बाधित हो जाने पर वह शांत, दुःखरहित है। द्वैत उसमें कदापि नहीं अतः वही सत्त्य वस्तु अद्वैत है। समझने के लिये उसे आत्मा का चौथा चरण कहते हैं। वास्तव में वही आत्मा है लेकिन भ्रमसिद्ध तीन चरणों से स्वतन्त्र बताने के लिये उसे चौथा चरण कह देते हैं।।५०।।

आत्मा की तुरीयता व्यवहारमात्र है यह बताते हैं **समझना चाहने वालों को समझते समय लगता ही है कि वह चौथा है, वास्तव में उसमें चौथापना नहीं है। जो अद्वैत है वही आत्मा है वही जिज्ञासु को जानना चाहिये।।५१।।** क्योंकि हमारी स्थूल-सूक्ष्म-कारण की दृष्टि है इसलिये इससे परे बताने का ढंग है उसे चौथा कहना। वास्तव में स्थूलादि हैं ही नहीं तो आत्मा चौथा कैसे कहा जाये! फिर भी समझने का उपाय यही है अतः वेद में इसी का सहारा लिया गया हालाँकि उपदेश के समय भी सत्य यही है कि वह तुरीय नहीं बल्कि सद्वितीय भी नहीं है! अद्वैत का इतना ही मतलब नहीं कि उसमें दोपना नहीं, क्योंकि तब कोई त्रैत की कल्पना कर लेगा! वरन् यह भी मतलब है कि उसमें कैसा भी भेद नहीं है। ऐसा अत्यन्त अखण्ड आत्मा ही मुमुक्षु को जानना हितकर है।५१।।

निष्कर्षभूत आत्मा का कथन करते हैं **तीन चरणों को चौथे चरण में विलीन कर चौथे में चौथा (अविकल्प) आत्मा है यह समझ प्राप्तव्य है। तत्त्वसाक्षात्कार से ईश्वर भी चौथे में विलीन हो जाता है क्योंकि ईश्वरता भी मायामय है।।५२।।** जाग्रदादि तीन का और तुरीय के प्रथम तीन रूपों का तुरीय में विलय समझना चाहिये। बाध से तो विलय होगा ही, यहाँ ऐसा ध्यान करने को कह रहे हैं

इत्थं योगविवेकौ द्वौ प्रथमे खंड ईरितौ।
चित्तभ्रमणरूपस्य संसारस्य प्रशान्तये।।५३।।
योगो विवेक इत्युक्तौ प्रकारौ श्रुतिसंमतौ।
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।।५४।।

कि बाकी सब तुरीय में लीन हो गये, वही एकमात्र भास रहा है। सारी उपाधियाँ और उपहितों का विलय करने पर ईश्वर का विलय भी अर्थसिद्ध है फिर भी यह बताने के लिये कि ध्याता स्वयं को ईश्वर न समझे वरन् तुरीय समझे, ईश्वर का उल्लेख किया, अन्यथा अभेद की बात से जीव-ईश्वर का अभेद प्रतीत होता है और उपासक ने क्योंकि शोधनका रास्ता लिया नहीं इसलिये उसे जीवभाव-ईश्वरभाव उपस्थित ही रहता है जिससे उक्त भ्रम संभव भी है। अविकल्प क्योंकि विदेहावस्था कही थी इसलिये वहाँ प्रारब्ध का भी प्रसंग न रहने से ईशितव्य के अभाव में ईश्वर का विलय समझना संभव है। निर्धर्मक स्वरूप के दीर्घ चिन्तन के संस्कारों से आत्मा का यह रूप आभासित होने पर विवेकी को पदार्थशोधन में असीम सहायता मिलती है, शब्द से निर्विशेष का ग्रहण संभव हो जाता है।।५२।।

उपनिषत् प्रथमखण्ड का सार यहाँ तक बताया यह सूचित करते हैं **चित्तका भटकना ही संसार का स्वरूप है जिसकी स्थायी शांति के लिये प्रथम खण्ड में योग और विवेक दो साधन बताये।।५३।।** उक्त ध्यान सांसारिक फलों के लिये नहीं, संसारनिवृत्ति के लिये है अतः विरक्त मुमुक्षु ही इसका अभ्यास करे। जन्म-मरण का चक्ररूप संसार है चित्तका भ्रमण ही। 'भ्रमण' से ध्वनित है कि चित्त-निमित्तक भ्रम ही संसार है। उपाधितादात्म्य को ही जन्म और स्थूल से तादात्म्य छूटने को मरण कहते हैं। तादात्म्य स्पष्ट ही भ्रम है अतः संसार को भ्रम कहना बनता है। जीवन के दौरान भी सुख-दुःख का भोगरूप संसार तादात्म्य से ही है क्योंकि आत्मा वस्तुतः तो साक्षी ही रहता है। इस भ्रमण से वैराग्य हो तभी अध्यात्म साधना प्रारंभ होगी। दुःख भी जब तक वैराग्य पर्यन्त न फलित हो तब तक अध्यात्म मार्ग पर बढ़ने में प्रेरक नहीं बनेगा। इस उपासना में भी विवेक का अतएव स्थान बताया।।५३।।

योग-विवेक का परस्पर सम्बन्ध होने पर भी अधिकारिभेद से प्रधानता का भेद हो जाता है यह समझाते हैं **(साधना के) श्रुति को अभिमत दो प्रकार हैंएक है योग और दूसरा है विवेक। किसी साधक से योग की सिद्धि नहीं की जा पाती, किसी से ज्ञान का निश्चय नहीं हो पाता।।५४।।** अतः

आत्मस्वरूपम्

प्रकारौ द्वौ ततः प्रोक्तौ सर्वानुग्रहकाम्यया।
आदौ द्वितीयखंडस्य सच्चिदानन्दतात्मनः।।५५।।

सब तरह के अधिकारियों पर अनुग्रह करने की इच्छा से श्रुति ने दोनों प्रकार वर्णित किये।।५५ १/२।। योग में चित्तप्रवाहका निरोध चाहिये, ज्ञाननिश्चय में प्रमाण पर अटूट श्रद्धा चाहिये; विभिन्न व्यक्तियों में यह अन्तर मिलता है कि कोई चित्त तो निरुद्ध कर सकता है पर चित्त विक्षिप्त रहते उस दशा को असत्य नहीं स्वीकार सकता जबकि कोई ऐसा होता है जिसे प्रमाण से निश्चय हो जाता है कि सद्वयता नहीं है लेकिन चित्त पर उसका ऐसा नियंत्रण नहीं होता कि उसे निरुद्ध कर ले। यह तो ठीक है कि यहाँ योग से भेददृष्टि कायम रखने वाला पातंजलादि योग नहीं कह रहे, अत एव 'श्रुतिसम्मत' विशेषण दिया, और ज्ञाननिश्चय भी असमाहित को नहीं हो सकता, अत एव 'समाहितो भूत्वा...पश्येत्' श्रुति ने कहा है, फिर भी साधना में गुण-प्रधानभाव का अंतर सूचित है। निरोध में सक्षम को चाहिये कि श्रवणादि किये तत्त्व का निरुद्धदशा में अनुभव करे एवं ज्ञाननिश्चय वाले को चाहिये कि प्रमाण-प्रमेयके बारे में संशयादि का संपूर्णतः निवारण करे। भेद-दर्शन विचलित करे तब योगी तो 'कूर्मोऽङ्गानीव' अन्तर्मुख हो जाये और ज्ञान-निश्चयी प्रमाण के अनुसन्धान से भेद और विचलनका निषेध करे। 'भूत नहीं होते' ऐसे निश्चय वाला जब किसी भुतहे खण्डहर में घुसता है और विचित्र ध्वनियाँ, विचित्र रूप-गन्ध आदि आते हैं तो क्षणभर को ठिठकता है, फिर अपने निश्चय के बल पर ही आगे बढ़ता है। इसी तरह ज्ञाननिश्चयी साधक भी सुख-दुःख से विचलित होने पर ज्ञाननिश्चय से ही उसे निवृत्त करे। जैसे बाइस्कोप से लौट कर उसके पात्र की मृत्यु हुई या नहींऐसा कोई विचार विवेकी नहीं कर पाते क्योंकि जानते हैं कि वह पात्र कोई वस्तु नहीं, वैसे ज्ञाननिश्चयी को दृश्यका विचार छोड़ना है, उपलब्धि तो यथाप्रारब्ध होती रहेगी। योगवासिष्ठ में भी दोनों साधनों को मान्यता दी है।।५५+१/२।।

नृसिंहोत्तरतापनीय के द्वितीय खण्ड में तुरीयका ही और स्पष्टीकरण है। उसका श्लोक ८२ तक संग्रह करेंगे। द्वितीय खण्ड का व्याख्यान प्रारंभ करते हैं **द्वितीय खंड के प्रारंभ में आत्मा की सच्चिदानन्दरूपता का विवेचन किया गया है। सर्वत्र अनुस्यूत होने से पता चलता है कि सत्ता नित्य है। जाग्रद् आदि का व्यभिचार**

विविच्यते नित्यसत्ता गम्यते ह्यनुवृत्तितः।
व्यभिचारे जागरादेर्यत् सदव्यभिचारि तत्।।५६।।
आनन्दैकरसं नित्यमिति सत्त्वं विवेचितम्।
चक्षुःश्रोत्रादयः सर्वे मदीया इति भासिताः।।५७।।
भाताऽसौ चक्षुरादिभ्यो द्रष्टाऽन्यश्चेतनो भवेत्।
द्रष्टेति दृष्टिकर्तृत्वमहंकारेण कल्पितम्।।५८।।

होने पर जो अव्यभिचारी है वही सत् है।।५५-६।। सच्चिदानन्द कहने पर पहला स्वरूप सत् पता चलता है, उसे अव्यभिचारी, सनातन, अनुवृत्त के रूप में समझाया। जैसे घड़ों में अनुस्यूत घड़ापना नित्य होता है, घड़े अनित्य होते हैं, वैसे सब अनित्य होने पर भी उसमें अनुस्यूत सत् (है) नित्य ही है। घड़ा सामने न हो तो घड़ापना प्रकट नहीं होता फिर भी रहता सदा है वैसे सत् प्रकट होने पर ही निर्भर नहीं, बिना प्रकट हुए भी वह नित्य ही है। घटहीन कमरे में घटत्वकी उपस्थिति जैसे विवेकी को अंगीकार है वैसे सत् भी विवेकी ही ग्रहण करता है। जैसे रूपादि घड़ों में ही संभव हैं, घड़ापने में नहीं, वैसे सत् भी नाम-रूप-कर्म से वर्जित है। अतः अनुवृत्तइसी तरह उसे समझना चाहिये। 'जागरादेः' में पूर्वोक्त द्रष्टा-दृश्य सारा जगत् आ जाता है जिसमें अनुगत सत् विज्ञेय है।।५५-६।।

सत्त्वनिर्णय का उल्लेख कर चित् को समझाते हैं **सत् का स्वरूप एकरस सनातन आनंद है। सत्त्व के बारे में यह स्पष्ट निर्णय उपनिषत् में सूचित है। (अब चिद्रूप कहते हैं) चक्षुः, श्रोत्रादि सब यों प्रतीत होते हैं कि 'मेरे हैं'। इन्हें ऐसा प्रतीत करने वाला द्रष्टा (साक्षी) इनसे अन्य चेतन है, उसमें 'जानने वाला' यों जानने के प्रति कर्तापना अहंकार द्वारा आरोपित है।।५७-८।। निर्विकार होने से साक्षिरूप आत्मा केवल दृग्रूप (ज्ञानरूप) है।।५८ १/२।।** ज्ञाता ज्ञेय से पृथक् होता ही है, हमें चक्षु आदि ज्ञेयरूप से प्रतीत होते हैं अतः निश्चय है कि हम उनसे पृथक् हैं। चक्षु आदि में मन भी आ जाता है। मन से पृथक् स्वयं को समझते ही साक्षिरूप में स्थिति हो जाती है। साक्षी नित्यदृष्टि होने पर भी उसे अनित्य ज्ञान इसीलिये हो पाते हैं कि उसपर अहंकार आरोपित है। अहंकाररूप उपाधि से ही साक्षी प्रमाता बनता है। सुषुप्ति में अहंकार न रहते कोई अनित्य ज्ञान भी नहीं होता, ज्ञानमात्र कायम रहता ही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो लगातार रहता है वह ज्ञान आत्मा है, उसमें जो ज्ञानकर्तृत्व, ज्ञातृत्व, अनित्य ज्ञानवत्त्व प्रतीत

दृङ्मात्रत्वेन साक्ष्यात्मा विकाररहितत्वतः ।
आनन्दघन आत्माऽसौ परप्रेमास्पदत्वतः ।।५९।।
मा न भूवं सदा सम्यग्भूयासमिति हीक्ष्यते ।
सच्चिदानन्दैकरसो भात्यस्माद् दृश्यतः पुरा ।।६०।।
सर्वेषु व्यवहारेषु निर्विकल्पं स्फुरेत् पुरः ।
तमेव भान्तमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत् ।।६१।।
इति श्रुत्यन्तरे प्रोक्तः परमात्मा पुरा स्फुरन् ।
अखण्डैकरसः सोऽयं जरामरणवर्जितः ।।६२।।

होता है वह अहंकार उपाधि से होने वाला भ्रम है। उसे साक्षी भी इसलिये नहीं कहते कि उसके साक्ष्य बताने हैं वरन् इसलिये कि उसे निर्विकार बताना चाहते हैं। लोक में जो दोनों पक्षों के प्रति राग-द्वेष आदि विकार वाला न हो उसे ही साक्षी मानते हैं। स्थूल सूक्ष्म देहों के विकार प्रमाता में ही हैं, साक्षी में नहीं, जैसे दर्पणदोष प्रतिबिम्ब में ही होते हैं, बिम्ब में नहीं।।५७-८ १/२।।

सत्, चित् बताकर आनंद का कथन करते हैं **यही आत्मा घनीभूत आनन्द है क्योंकि यही परम प्रेमका विषय है। आत्मा के प्रति प्रेम यों अनुभव में आता है 'मैं न होऊँऐसा कभी न हो, मैं हमेशा भली-भाँति रहूँ।'५९   +१/२।।** मैत्रेयी-प्रसंग में (१५.११) इस बारे में विचार किया जा चुका है। दुःख विकारहेतुक होता है अतः निर्विकार साक्षी निर्दुःख आनंद ही संभव है। क्योंकि स्वरूप सदा प्रिय अतः आनन्दरूप है इसलिये सब दुःख निवृत्त होने पर आनन्द रहना अनिवार्य है। वृत्ति से आनंद का विवेक न कर पाने से ही अन्यान्य विचारक मोक्ष में दुःखहानि मानकर भी आनंद स्वीकारने से डरते हैं। वास्तव में सत्-ज्ञान-आनन्द एक ही वस्तु है यह वेद से निर्णय होता है। आत्मप्रेम की सर्वानुभवसिद्धता भी आनंदरूपता में प्रमाण है।।५९+१/२।।

आत्मा को आनंदघन कहने के पश्चात् 'अस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातम्' (पृ. ८३ आ. आ.) कहा, उसका अर्थ कहते हैं **इस समग्र दृश्य से पहले एकरस सच्चिदानन्द भासमान रहता है।।६०।। सभी व्यवहारों में निर्विकल्प आत्मा पहले स्फुरित होता है। उसके भासते रहते उसी के भास से जगत् भासमान होता है।।६१।। सर्वप्रथम स्फुरने वाला परमात्मा अन्यत्र (कठ.५.१५) इन्हीं (पूर्वश्लोकोक्त) शब्दों में बताया गया है। यही अखण्ड एकरस जरा-मृत्यु से असम्बद्ध तत्त्व है।।६२।।** आत्मा भानस्वरूप है, तभी उसके सम्बन्ध से मन-इंद्रियादि

प्रणवे विश्वाद्युपासना

इत्यात्मानं विविच्याथ युंजीत प्रणवेन तम्।
चतुर्णां जागरादीनां प्रत्येकं चतुरात्मता।।६३।।
पूर्वमुक्ता यथा तद्वदकारादिषु कल्पयेत्।
आधाराद्‌दुत्थियो वायुर्नाभिहृत्कंठगो बहिः।।६४।।
निर्गच्छन् जनयेच्छब्दं सोऽपि स्थानैश्चतुर्विधः।
संज्ञाः परेति पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति च।।६५।।
आगमोक्ता वैखरी तु श्रूयते मुखनिर्गता।
वाचः पदानि चत्वारि त्रीणि गूढानि विग्रहे।।६६।।
तुर्यं मर्त्या वदन्तीति प्राह मन्त्रोऽप्यतिस्फुटम्।
वैखर्याद्याः परान्तास्तु शब्दभेदाः क्रमादमी।।६७।।

में और फिर बाहरी चीजों में भान, ज्ञान प्राप्त होता है। लोक में बहुधा साधारण से अनुभवों पर चिंतन करने से गंभीर तथ्य प्रकट होते हैं : सेब गिरना देखने से गुरुत्वाकर्षण का निर्णय निकला, कचरे को चमकता देखने से रेडियम का पता चला, फूल का रंग बदलना देखने से रमण-प्रभाव का निर्णय हुआ; ऐसे ही हमारे सभी अनुभव इस योग्य हैं कि इन पर चिंतन करें तो परमात्मा का आविष्कार हो सकता है। इसीलिये आचार्य ने 'सर्वेषु व्यवहारेषु' कहा। श्रुत्युक्त रीति से, प्रत्येक अनुभव स्वप्रकाश साक्षी को संकेतित करता है। अध्याय ११ श्लोक ६४, अ. १८. श्लोक. ७४ आदि में भी यह विषय आ चुका है।।६१-२।।

'एनं चतुष्पादं मात्राभिरोंकारेण चैकीकुर्यात्' इत्यादि (पृ. ८४ आ. आ) उपनिषद्वाक्य का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं **इस प्रकार आत्मा का विवेचन कर फिर उसे प्रणव से जोड़ना चाहिये। जाग्रदादि प्रत्येक चार प्रकार के हैं यह पहले बताया था, उन्हीं का अकारादि पर आरोप करना चाहिये। मूलाधार से उठी वायु नाभि, हृदय और कण्ठ से गुजरते हुये बाहर निकली हुई शब्द (ध्वनि) उत्पन्न करती है। वह शब्द भी उक्त स्थानभेद से चार तरह का है। उन प्रकारों के आगमोक्त नाम हैंपरा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।।६३-५।। मुँहसे निकलने पर वैखरी शब्द तो सुनाई देता है (बाकी नहीं)। मन्त्र भी अतिस्पष्ट कहता है कि वाक् के चार पाद हैं, तीन शरीर में छिपे रहते हैं, मनुष्य लोग चौथे को बोला करते हैं। वैखरी से परा तक के विभिन्न शब्द श्रुति में क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म,**

स्थूलसूक्ष्मौ बीजसाक्षिणावित्येव श्रुतीरिताः।
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिश्च वै कलाः।।६८।।
अकारेऽस्मिंश्चतुर्भेदे जागरं तु चतुर्विधम्।
ध्यायेत् साम्यं तयोराप्तिरादित्वं चेति चिन्तयेत्।।६९।।
जागरेऽक्षैर्व्याप्तिरस्ति व्याप्तोऽकारः कखादिषु।
आदित्वं लोकतः सिद्धं जागराकारयोर्द्वयोः।।७०।।

बीज और साक्षी कहे गये हैं। इन्हें ही निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ति इन कलाओं के रूप में भी बताया गया है।।६६-८।। जैसे जाग्रत् में जाग्रत् इत्यादि ढंग से सोलह विभाजन थे वैसे अ-उ-म-नाद ये चार और परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीये चार परस्पर गुणित होकर सोलह विभाग हो जाते हैं। तब उपासनार्थ आरोप संभव होता है। ऋग्वेद (अ. २.३.२२) में वाक् के चार प्रकार कहे हैं 'चत्वारि वाक्-परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।' इसे ही नृसिंहतापनीय में 'चतूरूपो ह्ययम् अकारः स्थूल-सूक्ष्मबीजसाक्षिभिः अकाररूपैः' (नृ. ८४) से कहा है। वैखरी स्थूल है, मध्यमा सूक्ष्म है, पश्यन्ती बीच है तथा परा साक्षी है। परा निर्विकार है, पश्यन्ती में भेद निहित किन्तु अप्रकट हैं, मध्यमा में भेद की सूक्ष्मावस्था और वैखरी में स्थूलावस्था है। इन्हीं का कलारूप से भी वर्णन है। निवृत्ति स्थूल है। प्रतिष्ठा सूक्ष्म है। कर्म के फल का भोग स्थूल है, उसमें हेतुभूत रागादि सूक्ष्म है। रागादि के रूप में ही वह प्रतिष्ठित रहता है। शिव में भी राग होगा तभी हम शिवध्यान करेंगे, विषयराग रहते शिव से माँगेंगे तो सही, शिव का ही ध्यान नहीं कर पायेंगे। विद्या बीज है। विवेकात्मक विद्या से ही अर्थात् भेदबुद्धि से ही विषयज्ञान और विषयक्रिया प्रवृत्त होती है। शान्ति साक्षी है। सारे विकारों से रहित वस्तु ही वास्तव में शान्तिस्वरूप है।।६३-८।।

आरोप्य-आलम्बन की व्यवस्था व्यक्त करते हैं **चार प्रकार के इस अकार में चार प्रकार के जाग्रत् का ध्यान करना चाहिये। इनमें समानता है व्यापकता और प्राथम्ययह भी चिन्तन करना चाहिये।।६९।। जाग्रत् में इन्द्रियों द्वारा व्याप्ति (व्यापकता) है और क-ख आदि में अकार भी व्याप्त (व्यापक) है। जाग्रत् और अकार दोनों की प्रथमता लोकसिद्ध है।।७०।।** परा आदि चार रूपों का अकार है एवं जाग्रत्-जाग्रत् जाग्रत्स्वप्न आदि चार रूपों वाला जाग्रत् है। वैखरी-अकार में जाग्रत्-जाग्रत् का ध्यान करे, मध्यमा-अकार में जाग्रत्स्वप्न का, पश्यन्ती-अकार

स्थूलसूक्ष्मत्वादिसाम्यं तद्भेदानां क्रमाद्भवेत्।
फलं यथागुणं ध्याने भवेत् सर्वत्र कामिनः।।७१।।

में जाग्रत्सुषुप्ति का एवं परा-अकार में जाग्रत्-तुरीय का। चारों अकार प्रतीक हैं, उनमें दृष्टि चारों जाग्रत् की करनी है। प्रायः ध्यान में आलम्बन आरोप्य में साम्यादि सम्बन्ध बताये ही जाते हैं, यहाँ व्यापकता और प्रथमता साम्य है। संस्कृत (हिंदी) में सारे व्यंजनों का सामान्य उच्चारण अकारयुक्त होने से अकार को ककारादि में व्यापक कहा। जाग्रत् में भी व्यापकता है : इन्द्रियों द्वारा जाग्रत् में हम सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं। चक्षु-श्रोत्र दो इंद्रियों से बहिर्गमन माना गया है। किंच जाग्रत्संस्कार से ही स्वप्न बनता है। और जाग्रत् में किये कर्म ही सुषुप्ति में रहकर सुषुप्ति से बाहर आने में निमित्त बनते हैं इसलिये तीनों अवस्थाओं में जाग्रत् भी व्याप्त है। तुरीयका अवबोध भी जाग्रत् में ही संभव है। प्रथमता लोकसिद्ध हैप्रातः पहले जगते हैं फिर रात को सोते समय कुछ देर सपने आकर गहरी नींद आती है। वर्णमाला में अ प्रथम है ही। इन समानताओं का भी चिंतन विहित है।।६९-७०।।

अकार-जाग्रत् का साम्य बताकर अब इनके भेदों की समानता और ध्यानका प्रभाव सूचित करते हैं **दोनों के भेदों की क्रमशः समानता स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व आदि है। सर्वत्र ध्यान-प्रसंग में नियम है कि कामनावान् को वैसा फल मिलता है जैसे गुण का उसने ध्यान किया है।।७१।।** स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व और साक्षित्वये साम्य हैं जिन्हें वैखर्यादि क्रम से पूर्वेक्त ढंग से याद रखना चाहिये। ध्यान में व्याप्ति प्राथम्य गुण कहे थे अतः ध्याता को सब कुछ प्राप्त होना और अग्रगण्य होनाये फल मिलेंगे यदि इन्हें चाहे तो, यदि मोक्षेच्छा से ध्यान करे तो स्वरूपावस्थान ही परमफल है। ओंकार को कामद-मोक्षद दोनों माना है अतः दोनों फल बताये। किंच मोक्षार्थ ध्याता भी अवान्तर फलरूप से इन्हें पा ले तो कोई विरोध नहीं, उस पक्ष में इनका उल्लेख अर्थवाद होगा।।७१।।

अकार की तरह ही बाकी के भी भेदों पर अवस्थाभेदों का ध्यान करना चाहिये। तदनन्तर श्रुति है 'मात्रा मात्राः प्रतिमात्राः कुर्यात्' (पृ. ८६)। अ-की प्रतिमात्रा उ, उ-की म और म- की तुरीय है। अ का उ में विलय, ऐसे ही आगे भी करते जाना है, साथ ही स्थूल का (विश्ववैश्वानर का) सूक्ष्म में आदि करना है। पंचीकरण नामक प्रकरण में यह स्पष्ट है। इसी का विधान करते हैं **अकार को जाग्रत् में, इसे भी उकार में, उकार को मकार में और उसे नादरूप ओंकार में उपसंहृत करना**

अकारं जागरेऽप्येतमुकारे संहरेत्तथा।
उकारं च मकारे तमोंकारे नादरूपिणि।।७२।।

नादे तुरीयध्यानम्

अथ तुर्यं चतुर्भेदमीशग्रासादिनामकम्।
ध्यायेन्महेश्वरोऽमायी यस्तमोऽतो ग्रसत्ययम्।।७३।।

चाहिये।।७२।। (मुत्तुशास्त्री से अतिरिक्त संपादक 'जागरोऽप्येतम्' पाठ स्वीकारते हैं किन्तु सप्तम्यन्त पाठ ही सार्थक प्रतीत होता है।) जागर से इसके समग्र भेद ले लेने पर विराट् का ग्रहण हो जाता है। विराट् का वाचक अकार बोलेन पर जो वृत्ति बने उसमें विराट् की दृष्टि करनी है। जैसे घट बोलने पर बनी वृत्ति घटाकार होती है वैसे अ बोलने पर बनी वृत्ति विराट् के आकार की है। उ का उच्चारण करते समय बनी वृत्ति में हिरण्यगर्भ-दृष्टि करनी है। हिरण्यगर्भ विराट् का कारण है यह सोचते हुए अ का उ में एवं विराट् का हिरण्यगर्भ में विलय हो रहा हैऐसा चिंतन करना चाहिये। विलय अर्थात् उ ही है, अ नहीं, हिरण्यगर्भ ही है, विराट् नहींऐसी दृष्टि बनाना। म- का उच्चारण करने पर बनी वृत्ति में ईश्वरदृष्टि कर उसमें हिरण्यगर्भ का और म में उ का विलय करना चाहिये। फिर नाद के समय की वृत्ति को तुरीय समझते हुए उसमें ईश्वर का और नाद में म- का विलय करना चाहिये। उपासना या ध्यान उसी ढंग से कदम-कदम करने पर ही फल होता है जिस तरह उसका विधान है। प्रणवोपासना का प्रधान तरीका यही है, माण्डूक्य, पंचीकरण आदि से यही समर्थित है अतः इसी प्रकार साधक चिन्तन करे यह उचित है। सोलह भेदों के बारे में विकल्प है लेकिन ओं-के चार और उनके बोध्य अर्थों के चार भेद तथा पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर में विलययह क्रम ही मान्य है। कोई सोचे कि सीधे ही ओंकार से अद्वितीय चिन्मात्र का चिन्तन कर ले तो वह शास्त्रीय न होने से सफल नहीं होगा।।७२।।

तुरीय का ध्यान बताते हैं **इसके अनन्तर ईशग्रास आदि नामक चार भेदों वाले तुरीय का ध्यान करे। यह महेश्वर 'अमायावी है अतः तम को (अविद्या, माया को) निगल लेता है।।७३।।** उपनिषत् (पृ. ८६) में तुरीय के चार भेदों के नाम दिये हैं। 'ईश्वरग्रासः स्वराट् स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशः।' मायातीत होने से माया और तदुपाधिक ईश्वर को निगलता है अतः ईश्वरग्रास है पर इसे निगलने वाला और कोई नहीं अतः स्वराट् है। इसकी सामर्थ्य औपाधिक नहीं अतः स्वयमीश्वर है एवं इसकी सिद्धि प्रमाणनिर्भर नहीं अतः स्वप्रकाश है। ईश्वरको निगलने वाला होने से

कालाग्निसूर्यः संहारकाले स्वैस्तीव्ररश्मिभिः।
तिरस्कुर्याज्जगत्तु लेशाद्भाति यथा तथा।।७४।।
ओताऽयं सच्चिदानन्दैर्नामरूपे जगद्गते।
तिरस्कुर्यात्ते तु लेशमात्रे भातः क्वचित् क्वचित्।।७५।।

श्लोक में तुरीय को महेश्वर कहा।।७३।।

तुरीय के ओतादि चार रूप बताकर उपनिषत् में कहा 'ओतो ह्ययमात्मा यथेदं सर्वमन्तकाले कालाग्निसूर्य उस्त्रैः'; उस्त्र अर्थात् अपनी दीप्ति से जैसे इस सबको प्रलय के समय सूर्य निगल लेता है वैसे तुरीय सबको निगलता है। इस वाक्य का अर्थ कहते हैं **संहार के समय कालाग्नितुल्य सूर्य अपनी तीव्र किरणों द्वारा जैसे जगत् को छिपा देता है और जगत् केवल लेश अर्थात् कारणरूप से बच जाता है वैसे यह ओता सच्चिदानन्दरूप किरणों से जगत्के नाम-रूप को छिपा देता है और वे कभी-कहीं लेशमात्र प्रतीत हो जाते हैं।।७४-५।।** जीव व जड जगत् की भोग-सामर्थ्य व क्रियासामर्थ्य क्षयिष्णु है। आधुनिक विज्ञान मानता है कि अधिक शक्ति की तरफ से शक्तिप्रवाह उधर होता है जिधर शक्ति कम है अतः जब शक्ति का प्रवाह प्रारम्भ होता है तब सर्वाधिक होता है, जैसे-जैसे शक्ति फैलती है वैसे-वैसे प्रवाह कम होता है एवं सर्वत्र सामरस्य आने पर प्रवाह रुक जाता है। तात्पर्य यही है कि शक्ति अर्थात् उपयोग में लायी जा सकने वाली सामर्थ्य घटती जाती है, भले ही कुल शक्ति हमेशा समान है। इसी तरह जीवादिसामर्थ्य जब इतनी घट जाये कि कर्मफल का भोग ही असम्भव हो, तब संहार का काल होता है। उस समय कालाग्नि के समान सूर्यदीप्ति अत्युग्र होकर जगत् को जला डालती है, फिर वह जगत् किसी ज्ञान का या क्रिया का विषय नहीं रह जाता है, अव्यक्त हो जाता है। 'लेशाद् भाति'पहले तो भेद घटते जाते हैं इसलिये लेश अर्थात् यत्किंचित् भासता है, अंत में लेश अर्थात् कारण रूप से ही भासता है, सारे कार्याकार निवृत्त हो जाते हैं। इसी तरह तुरीय की प्रथम अवस्था ओता है वह सच्चिदानंद से नाम-रूप को तिरस्कृत करता है, फिर भी कभी-कहीं वे उपलब्ध हो जाते हैं। प्रारब्ध-भोग की तीव्रता के कारण उपलब्धि संगत है। सामान्य प्रारब्ध पर तो समाधि में नियंत्रण रहता है, तीव्र हो तब सच्चिदानंद से हटकर नाम-रूप व्यक्त हो जाते हैं। किन्तु ओता यथाशीघ्र उन्हें तिरस्कृत करता जाता है।।७४-५।।

तुरीय के अगले रूप के बारे में उपनिषत् ने कहा 'अनुज्ञाता ह्ययमात्माऽस्य सर्वस्य

यथा सूर्यस्तमः सर्वं प्रकाशीकुरुते तथा।
अनुज्ञाता जगत् सर्वं स्वात्ममात्रं करोति हि।।७६।।
दाह्यं दग्ध्वा यथा वह्निर्निर्व्यापारोऽवशिष्यते।
अनुज्ञैकरसस्तद्वच्चिन्मात्रः परिशिष्यते।।७७।।
अवाङ्मनसगम्योऽयमविकल्पश्चतुर्विधः।
तुर्यपादं चतुर्भेदे नादे संचिन्तयेत् क्रमात्।।७८।।
सर्वस्य जगतो वस्तु तत्त्वं यन्निर्विकल्पकम्।
तदात्मेति समाधाय चित्तं तस्मिन् भवेद्धि तत्।।७९।।

स्वात्मानं ददाति इदं सर्वं स्वात्मानमेव करोति यथा तमः सविता' (पृ. ८७) इसे बताते है **जैसे सूर्य सारे अँधेरे को प्रकाश बना देता है वैसे अनुज्ञाता सारे जगत् को केवल स्वात्मा बना देता है।।७६।।** सूर्य पूरा उग जाये तो अँधेरा न रहकर रोशनी ही रहती है मानो सूर्य ने अँधेरे को रोशनी बना दिया हो! अनुज्ञाता के स्तर पर इसी तरह क्वचित्-क्वचित् लेशमात्र भान भी नाम-रूपका न रहकर सच्चिदानन्द ही भासता है।।७६।।

तीसरा रूप भी यथाश्रुति समझाते हैं **ईंधन जला चुक कर जैसे आग कुछ न करते हुए रहती है वैसे अनुज्ञा बचती है जो निर्विशेष ज्ञानरूप है।।७७।।** लकड़ी आदि ईधन जलानारूप व्यापार अग्नि करे तब वह पहचानी जाती है कि 'आग है', जब सारा ईधन जलकर खाक हो गया तब वह आग क्योंकि 'कर' कुछ नहीं रही, केवल अपने व्यापक रूप से मौजूद है, इसलिये 'आग है' यों सामान्य लोगों द्वारा पहचानी भी नहीं जाती। इसी प्रकार अनुज्ञाता में तो अँधेरा दूर करनारूप व्यापार था, अब अँधेरा बचा ही नहीं जिसे वह प्रकाश बनाये। अर्थात् अनुज्ञाता में साक्षिभाव था, अनुज्ञा में वह भी नहीं है। एकरस, घटा-बढ़ी से रहित, सब विशेषताओं से वर्जित ज्ञान-मात्र अनुज्ञा है।।७७।।

चौथे अविकल्प का कथन करते हैं **वाणी और मन से अगम्य यही चार भेद वाला तुरीय 'अविकल्प' है। तुरीय अर्थात् चौथे चरण को परा आदि चार तरह के नाद में क्रमशः आरोपित कर ध्यान करना चाहिये।।७८।। सारे जगत् की वास्तविकता जो निर्विकल्प वही आत्मा है यों चित्त समाहित कर उसी आत्मा को 'मैं हूँ' ऐसा चिन्तन करना चाहिये।।७९।।** (श्लोक ७८ में द्वितीय पाद का अंतिम शब्द 'चतुर्विधम्' यदि हो तो 'तुर्यपादं' के विशेषण रूप से योजना स्पष्टतर

अथवा मंत्रराजे[1] धीः समाधेयात्मवाचिनि।
सर्वसंहारशक्त्याद्या अर्था उग्रादिशब्दगाः।।८०।।
आत्मानं मंत्रराजेन ध्यायन् ब्रह्मतया पुमान्।
ब्रह्मरूपो नृसिंहः स्याद्योगः शुद्धधियो ह्ययम्।।८१।।

होगी।) जीवन्मुक्ति तक अनुज्ञा और विदेह कैवल्य अविकल्पयह निर्णीत व्यवस्था ही यहाँ सूचित है। यह ध्यान का प्रसंग है अतः इस तरह के चिंतन के विधान में तात्पर्य है। अविकल्प तत्त्व, मुक्तोपसृप्य परमात्मा ही जगत् की वास्तविकता है जैसे सर्प की वास्तविकता रस्सी होती है। उस आत्मा में समाधान कर्त्तव्य है। साथ ही उसमें प्रत्यग्भावका उल्लेख रखना चाहिये अर्थात् वह मैं हूँयों उसका चिंतन करना चाहिये। इस प्रकार ओंकार का ध्यान करने से मोक्ष सुलभ हो जाता है।।७९।।

उपनिषत् ने (पृ. ८८) आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र से भी उक्त चिंतन संभव बताया है, इसका उल्लेख करते हैं **अथवा, आत्मा का कथन करने वाले मन्त्रराज में बुद्धि समाहित करनी चाहिये। उसमें आये उग्र-आदि शब्दों के अर्थ सर्वसंहारशक्ति आदि हैं।।८०।। मन्त्रराज से स्वयं का ब्रह्मरूप से ध्यान करता पुरुष ब्रह्मरूप नृसिंह हो जाता है। किन्तु यह योग (ध्यान समाधि) शुद्ध बुद्धि वाला ही कर सकता है।।८१।।** नृसिंहतापनीय में नृसिंहमंत्र का विस्तार है, उसे भी ब्रह्मध्यान में विनियुक्त किया। अनुष्टुप् छन्द में वह मंत्र है। महाविष्णु का उग्रवीरता वाला, भीषण फिर भी भद्र, मृत्यु का भी मारक, सब ओर मुख वाला जलता हुआ रूप वर्णित है। गीता (११.१० आदि) में ऐसा ही ऐश्वररूप वर्णित है। प्रणव सूक्ष्म मंत्र है अतः सबसे उसकी उपासना नहीं हो पाती इसीलिये उपनिषत् ने यह विस्तृत मंत्र भी दे दिया जिससे वही पूर्वोक्त उपासना की जा सकती है। इसमें सबका संहार करने वाला रूप बताया अतः आत्यंतिक अद्वैत ही इसका बोध्य भाव है। शुद्धचेता, सांसारिक रागों से रहित साधक ही यह साधना कर सकता है। दृश्य में राग रहते सबका, अहंकार पर्यन्त का संहार सहन नहीं होता! यहाँ नृसिंह ब्रह्मरूप ही विवक्षित है न कि मूर्ति आदि रूप, तभी पूर्वोक्त रीति से ध्यान संभव है।।८०-१।।

द्वितीय खण्ड की व्याख्या पूरी कर तीसरे खंड का परिचय देते हैं **द्वितीय खण्ड में आत्मविषयक विवेक और योगका प्रतिपादन हुआ एवं प्रणव तथा मन्त्रराज**

---

[1] 'उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतो मुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्।।' इति मन्त्रराज इहोपनिषद्युक्तः।।

विवेकयोगौ संप्रोक्तौ द्वितीये खंड आत्मनः।
प्रणवे मंत्रराजे च द्विविधो योग ईरितः।।८२।।
तृतीये मंत्रराजस्य प्रणवस्यात्मनोऽपि च।
एकीकारेण यद्ध्यानं तत् सम्यगभिधीयते।।८३।।
पृथिव्याद्यात्मकोंकारः[1] पाद उग्रादिकोऽपि च।
परापश्यन्त्यादिरूपः सोऽयं विश्वश्चतुर्विधः।।८४।।
तैजसप्राज्ञतुर्यांश्च तथा ध्यात्वोपसंहरेत्।
असौ प्रपंचहीनः स्यादविकल्पे स्थिरः पुमान्।।८५।।

में दो तरह का योग (ध्यान) बताया।।८२।। तृतीय खंड में मन्त्रराज-प्रणव-आत्मा तीनों को इकट्ठाकर बताये ध्यान को समझाया जाता है।।८३।। मंत्रराज के चार चरणों को प्रणवकी चार मात्राओं से एक कर विराट् आदि चार आत्मचरणों का उन पर ध्यान तृतीय खंड में वर्णित है।।८२-३।।

उक्त विषय उपन्यस्त करते है **अकार १-) पृथ्वी आदि रूपवाला है, २-) पाद (आत्मा का प्रथमपाद) भी उसका रूप है, ३-) उग्रादि श्लोक का पहला चरण भी अकार का ही रूप है एवं ४-) परा पश्यन्ती आदि भी उसी का रूप है। ऐसे विश्व चार तरह का है।।८४।। इसी तरह तैजस, प्राज्ञ, तुरीय का ध्यानकर उपसंहार करना चाहिये। यों ध्यान करने वाला पुरुष प्रपंचरहित होकर अविकल्प में स्थिर हो जाता है।।८५।।** अकार विराट् का वाचक है, उग्रादि श्लोक का प्रथम चरण भी विराट्-परक समझना चाहिये। बीज-बिन्दु-नाद-शक्ति अर्थात् परा आदि चारों तरह का अकार है ही। ऐसे ही उकार और ज्वलन्तम् आदि मंत्र का द्वितीय चरण हिरण्यगर्भ का कथन करते हैं। मकार एवं नृसिंहम् आदि तीसरा पाद ईश्वर को कहते हैं और नाद तथा मृत्यु-मृत्युम् आदि चौथा पाद तुरीय का बोध कराते हैं। अकार को इन रूपों वाला कहा (पृ. ६२) पृथ्वी, ऋग्वेद, ब्रह्मा, वसु, गायत्री, गार्हपत्य। ऐसे ही उकारादि को अंतरिक्षादिरूप बताया है। 'अ' बोलते समय चिन्तन करना चाहिये कि अपने परादि चार रूपों से यह अकार विराट् के चारों रूप कह रहा है, मंत्रराज का प्रथम चरण भी उसी विराट् को कह रहा है इसलिये वह श्लोकांश 'अ' ही है। फिर 'उ' कार का उच्चारण कर उससे हिरण्यगर्भ को सोचे और उसमें विराट् को विलीन कर देवे। तब मन्त्रराजके द्वितीय चरण से फिर हिरण्यगर्भ को सोचे और उसे 'उ' रूप

---

[1] 'पृथिव्याद्यात्मकोऽकारः' इति पठितव्यम्।

ज्ञश्चिन्मात्रोऽमृतो नित्यो हुतसंविदवृत्तिकः।
शुद्धो भ्रान्तिविहीनत्वात् संविष्टोऽयमविक्रियः।।८६।।
प्राणायामेन निर्विघ्नोऽनुभवेदीदृशात्मताम्।
प्राणाधीना मनोवृत्तिः प्राणरोधेन शाम्यति।।८७।।
निर्विकल्पधिया पश्येज्जगत् स्वात्मतया तदा।
ध्याने प्रपंचं सन्त्यज्य ब्रह्मरूपेण तिष्ठति।।८८।।

समझे। म-कार के उच्चारण से अव्याकृत (ईश्वर) का चिन्तन करे, उसमें हिरण्यगर्भ को लीन करे, श्लोक के तीसरे चरण से फिर ईश्वर को सोचे और चरण को म-रूप समझे। नाद से तुरीय का चिंतन करे, ईश्वर उसमें विलीन करे, चौथे श्लोकचरण से ईश्वर को सोचकर श्लोकचरण नादरूप समझे। यों सब लीन कर स्वरूपस्थ बना रहे। यह उपनिषद्दीपिका में संक्षेप बताया (पृ. ९२) है।।८४-५।।

आत्मरूप बताते हैं **वह जानने वाला, अनुभवमात्र, मृत्युरहित, सनातन है। सारे व्यवहार की आहुति उस ज्ञानरूप में ही पड़ी है। उसमें कोई वृत्ति नहीं है, शुद्ध है, भ्रान्तिरहित होने से संविष्ट अर्थात् स्थिर है, निर्विकार है।।८६।।** उपनिषद्दीपिका (पृ.९४) में इस प्रसंग में विभन्न मंत्र एवं अनुष्ठान सूचित हैं। अभ्यास करना चाहने वाले को वहीं से समझना चाहिये। यहाँ आचार्य संक्षेप से उल्लेख ही कर रहे हैं। 'हुतसंवित्' का भाव वहाँ बताया कि पहले किये जा चुके व्यवहार एवं आगे किये जाने वाले व्यवहार सभी को संविद्रूप देखते हुए परिपूर्ण सच्चिदानन्द परमेश्वर में उन्हें अर्पित करना चाहिये। मन से अलग है अतः वृत्तिरहित है। भ्रान्ति अर्थात् बिखराव, भटकाव न होने से वह स्थिर है।।८६।।

आगे वचन है 'निर्विघ्न इममसुनियमेऽनुभूयेहेदं सर्वं दृष्ट्वाऽसुप्रपञ्चहीनः' (पृ. ९४), इसका कथन करते हैं। **विघ्न-निवारण कर प्राणायाम द्वारा ऐसी आत्मरूपता का अनुभव करना चाहिये। मन की वृत्ति प्राण के अधीन होती है अतः प्राण के निरोध से मनोवृत्ति शांत होती है।।८७।। तब निर्विकल्प बुद्धि से जगत् को स्वात्मरूप देख सकते हैं। प्रपंच को छोड़कर ध्यान में ब्रह्मरूप ही रह जाते हैं।।८८।।** गुरु-अनुमति आदि उपायों से विघ्न हटाकर ही यह साधना की जा सकती है। इस ग्रंथ में ध्यान का लेशमात्र दिग्दर्शन है, कदम-कदम गुरुमुख से समझना पड़ता है। प्राणायाम के अभ्यास से मन शांत होता है। यह तथ्य पतंजलि ने भी स्वीकारा है। शांत मन में ही आत्मदर्शन संभव है। कुम्भक-वृद्धि से शांति बढ़ती

अन्यो देवोऽहमप्यन्य इति द्वैतस्य वासना।
दृढा चेत्तादृशी देवपूजोपास्तिरथोच्यते।।८९।।
योऽस्मिन् खंडे वर्णितोऽसौ संकल्पः पूज्य इष्यते।
षट् तु स्थानानि देहेऽस्मिन् पूजाधाराः प्रकीर्तिताः।।९०।।
आधारनाभिहृदयभ्रूमध्यद्वादशान्तकाः।
षोडशान्तश्च तेऽष्वग्निब्रह्माद्यानर्चयेत् क्रमात्।।९१।।

है। कुंभक का हठ से प्रयास नहीं करना चाहिये वरन् शनैः-शनैः सामर्थ्य बढ़ाकर अभ्यास करना चाहिये अन्यथा शरीर में विकार हो जाते हैं। 'प्रपंच छोड़कर' अर्थात् उसके प्रति राग छोड़कर। मन पर प्राणायाम से नियंत्रण होगा लेकिन राग उसे पुनः बहिर्मुख बना देता है। भगवान् ने भी अभ्यास के साथ वैराग्य को मनोनिग्रह में साधन कहा है।।८७-८।।

इसके आगे मानस पूजा का उपनिषत् में (पृ. ९८-१०७) वर्णन है, उसका संक्षेप बताते हैं **'परमेश्वर मुझसे अन्य है, मैं भी परमेश्वर से भिन्न हूँ' ऐसी द्वैत की वासना यदि दृढ हो तो वैसी देवपूजारूप उपासना अब बतायी जाती है।।८९।। इस खण्ड में वर्णित संकल्प (ध्यान) पूज्य (आदरणीय) है। इस शरीर में पूजा के आधार-स्थल छह स्थान बताये गये हैं।।९०।।** भेदाग्रह द्वैतवासनावश सहज है, उसे मिटाने के लिये यह पूजा-चिन्तन है। यह भेदभूमि में ही है लेकिन इसके अभ्यास से अभेद स्वीकार हो जायेगा। यहाँ विहित संकल्प में पूज्य की दृष्टि बतायी। संकल्प स्वदेह में ही है अतः पूज्य को स्वदेह में ही देखेंगे तो 'मुझसे अन्य पूज्य देव है' यह भाव जायेगा तथा शरीर के स्थानों को उसी का आधार देखने से 'मैं उससे अन्य हूँ' यह भाव जायेगा। शरीर में मै-बुद्धि होने से देव को शरीर में बैठाने पर देव से अभेद भासने लगता है। देहमात्र मैं नहीं हूँयह भी मालूम होने से देव को भी देहरूप नहीं समझते। बाह्यपूजा में यह लाभ नहीं, आन्तर पूजा से ही यह लाभ मिलता है।।८९-९०।।

पूजा-स्थान बताते हैं **मूलाधार, नाभि, हृदय, भ्रूमध्य, द्वादशान्त (ललाट) और षोडशान्त (शीर्ष)ये छह स्थान हैं जहाँ क्रमशः अग्नि, ब्रह्मा आदि की पूजा करनी चाहिये।।९१।।** द्वादशान्त अर्थात् बारह पंखुडियों वाला कमल जहाँ है और षोडशान्त अर्थात् सोलह पंखुडियों वाला जहाँ है। यहाँ पद्मदलसंख्या और स्थानों का क्रम यथासम्प्रदाय बताया होने से अन्यत्र के वर्णन से भिन्न लगे तो शंका

यश्चतुर्भेद ओताद्यैः सोऽमृतो निरुपाधिकः।
उपाधीनां बोधबाधादविकल्पोऽवशेषणात्।।६२।।
सोऽविकल्पः सर्वमयस्तस्मिन् सर्वाधिरोपणात्।
ये जागरादयो भेदाश्चत्वारस्तेऽत्र कल्पिताः।।६३।।
परिवारा मन्त्रराजे महाचक्रे[1] प्रकीर्तिताः।
पृथिव्याद्याः सप्तसप्त भेदा मात्रास्त्विह श्रुताः।।६४।।
परिवारेण संयुक्तं चतुःसप्तात्मकं प्रभुम्।
नृसिंहमग्निरूपं तं मूलाधारे विचिन्तयेत्।।६५।।

में नहीं पड़ना चाहिये। जहाँ उपासना बताते हैं वहाँ कहा क्रम आदि ही उस उपासना में उपयोगी होता है। उपनिषद्दीपिका में इन प्रंसगों में बहुत विस्तार है। अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और आनन्द की उन-उन जगहों पर पूजा की भावना करनी है।।६१।।

मुख्य चिन्तन का उल्लेख करते हैं **जो ओता आदि चार भेद वाला तुरीय है वह वस्तुतः निरुपाधिक अमृत है। बोध से उपाधियों का बाध होता है अतः बाध की अवधिरूप से बचा तुरीय ही निर्विकल्प है।।६२।। अविकल्प होने पर भी सब उस पर आरोपित होने से वह सर्वमय है।। जाग्रदादि चारों भेद इसी पर अध्यस्त हैं।।६३।।** ध्याता को बोध नहीं हुआ लेकिन उसे चिंतन करना है कि बोध से बाध होता है अतः उपाधियाँ हैं ही नहीं, केवल आत्मा है। उपाधि-अध्यास पूर्वक ही द्रष्टा-श्रोता-पिता-पुत्र-कर्त्ता आदि अध्यास हो सकते हैं, उपाधिभान न रहने पर सुषुप्ति या मृत्यु के बाद ये अध्यास नहीं रहते। इस जन्म की उपाधि का अनुगमन न होने से जन्मान्तर में यहाँ वाले अध्यास नहीं रहते, नये ही होते हैं। अतः ध्याता जाग्रदादि समष्टि-व्यष्टि सभी भेदों को आरोपित समझे यह भाव है।।६२-३।।

उपासना-प्रकार का विस्तार करते हैं **महाचक्र सम्बन्धी मन्त्रराज से सात-सात भेद वाले पृथ्वी आदि परिवार बताये गये हैं, मात्राएँ तो पूर्व में बतायी ही जा चुकी हैं।।६४।। चारों सप्तक जिनका रूप हैं वे परिवारसमेत नृसिंह प्रभु मूलाधार में अग्निरूप से स्थित हैंयह ध्यान करना चाहिये।।६५।।** सुदर्शन नामक यंत्र को ही महाचक्र कहते हैं जिसमें अनेक परिवार देवताओं की स्थिति वर्णित है। उन सबका चिंतन मंत्रराज से ध्यान करते हुए आवश्यक है। चार सप्तक इस

---

[1] माहाचक्रे इति मुत्तुभिन्नसमेषां पाठः।

भूम्यादिभिः सप्तविधं स्थूलाद्यैश्च चतुर्विधम्।
अकाररूपं ब्रह्माणमेतं नाभौ विचिन्तयेत्।।९६।।
हृदि विष्णुमुकारेण भ्रूमध्ये च मकारतः।
रुद्रं नादेन सर्वेशं द्वादशांतेऽग्निवत् स्मरेत्।।९७।।
चतुःसप्तात्मकोऽमायी सर्वेशो ह्यनुपाधिकः।
षोडशान्ते सुखं ध्यायेच्चतुःसप्तात्मलक्षितम्।।९८।।

प्रकार हैं१-) पृथ्वी, अकार, ऋग्वेद, ब्रह्मा, वसु, गायत्री, गार्हपत्य। २-) अन्तरिक्ष, उकार, यजुर्वेद, विष्णु, रुद्र, त्रिष्टुप्, दक्षिणाग्नि। ३-) द्यु, मकार, सामवेद, रुद्र, आदित्य जगती, आहवनीय। ४-) सोमलोक, नाद, अथर्ववेद, संवर्तकाग्नि, मरुत, विराट्, एकर्षि-अग्नि। (उपनिषत्में पृ. ९२-३)। ये सभी नृसिंह के अन्तर्गत ही हैं, उन्हीं के परिवार हैं। ऐसे नृसिंह अग्निरूप से आधार चक्र में ध्येय हैं।।९४-५।।

अकार-ध्यान का स्थान कहते हैं **भूमि-आदि भेदों से सात तरह के और स्थूलादि भेदों से चार तरह के अकार रूप वाले ब्रह्मा का नाभि में ध्यान करना चाहिये।।९६।।** भूम्यादि पूर्व श्लोक में बता दिये, स्थूलादि पहले कह आये हैं कि वैखर्यादि चार तरह के ये प्रत्येक अक्षर हैं। जैसे अग्निरूप नृसिंह का ध्यान था वैसे अकाररूप ब्रह्मा का ध्यान है।।९६।।

उकार-मकार और नाद का ध्यान बताते हैं **उकार से सम्बद्ध विष्णु का हृदय में, मकार-सम्बद्ध रुद्रका भ्रूमध्य में ध्यान करना चाहिये। द्वादशान्त में अग्नि जैसे सर्वेश का नाद से स्मरण करना चाहिये।।९७।।** द्वादशान्त ललाट में बताया गया है। अकार की तरह उकारादि के भी पूर्वोक्त सब भेदों का अनुसंधान करना पड़ेगा।।९७।।

शरीर-स्थानों में अंतिम जगह पर ध्यान बताते हैं **चारों सप्तकों के रूप में प्रतीयमान सर्वेश वस्तुतः उपाधिहीन है, मायारहित है। चारों सप्तकों से लक्षित उस आनन्दरूप का षोडशान्त में ध्यान करना चाहिये।।९८।।** पूर्वोक्त सारा विस्तार इसी के ध्यान के लिये है। शब्दों से शक्तिवृत्त्या पूर्वोक्त भेद कहे जाते हैं, लक्षणा से इसकी ओर संकेत होता है। इस प्रक्रिया में तुरीय का उपाधि-सम्बंध मान्य है।।९८।।

इसे व्यापक समझना है **उक्त आनन्द-अमृतरूप सर्वेश से नीचे स्थित पाँचों देवता व्याप्त (घिरे हुए) हैं और साथ ही स्थूलादि चारों प्रकार के अकारादि भी**

तेनानंदामृतेनाधः स्थितास्ताः पंच देवताः।
व्याप्ताश्चतुर्विधाः स्थूलादिभिरित्येव चिन्तयेत्।।९९।।
उपचारैरागमोक्तैर्देवाँस्तान् मनसार्चयेत्।
ब्रह्मादिमूर्तिभेदेन तथैक्येनापि पूजयेत्।।१००।।
भक्ष्यभोज्यैर्लेह्यचोष्यैरित्येतैरुपहारयेत्।
गुरुश्रुत्युक्तमार्गेण पूजयित्वा यथाविधि।।१०१।।

उपसंहारध्यानम्

मूर्तिं तेजसि संहृत्य तेजश्चात्मनि संहरेत्।
सूत्रे विराजं संहृत्य सूत्रमव्याकृते च तत्।।१०२।।

व्याप्त हैंऐसा चिन्तन करना चाहिये।।९९।। षोडशान्त में जिस आनन्दरूप का ध्यान किया वही सारे शरीर में फैला है अतः तत्तत् स्थानों में कहे नृसिंह, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और सर्वेश सभी उस आनंद से घिरे हैं, एवं समस्त भेदों समेत अकारादि भी उसी से घिरे हैं, उससे बाहर कुछ नहीं है, वही परिपूर्ण एकरस हैऐसा ध्यान करना बताया जा रहा है।।९९।।

ध्यान के बाद मानस पूजा का विधान करते हैं **उक्त देवताओं की आगमोक्त उपचारों द्वारा मन से अर्चना करनी चाहिये। ब्रह्मादि की पूजा उन्हें विभिन्न मूर्तियाँ समझकर और एक समझकर करना उचित है।।१००।।** पूजावर्णन उपनिषद्दीपिका में (पृ १००-६) विस्तार से बताया है। श्रुति में 'विभक्तांस्त्रीनेवाऽविभक्तांस्त्रीनेव' (पृ. १०४) कहा है अतः श्लोक में भेद और ऐक्य दोनों कहे। भेदपक्ष में सभी परिवारदेवताओं सहित नृसिंहादि की आराधना करे फिर अभेद पक्ष में परिवारदेवताओं को मूल देवता से एक समझकर पूजे। इस तरह पाँचों को अलग-अलग मानकर पूजने के अनन्तर सब एक ही हैं यह समझकर पूजे। यों एक ही आनन्दात्मा है इस निश्चय तक पहुँचे। पूजा यहाँ मानस ही है।।१००।।

मन से अर्पणीय मुख्य वस्तुएँ बताते हैं **भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य इन चारों तरह का भोजन अर्पित करना चाहिये। जब गुरु व श्रुति द्वारा बताये तरीके से विधिवत् पूजा कर चुके तब मूर्ति का तेज में संहार करके, तेजका आत्मा में संहार करे, सूत्र में विराट् का संहार करके सूत्रका अव्याकृत में संहार करे, अव्याकृत का अविकल्प में संहार करे फिर वहीं चित्त एकाग्र कर स्थिर रहे।।१०१-२+१/२।।** चबाने लायक, मुँह में घुमाकर खाने लायक (हलुवा आदि),

अविकल्पे तत्र चित्तं समाधाय स्थिरो भव।
पूज्यपूजकयोर्भेदवासना यस्य हीयते।।१०३।।
चतुर्थखंडे योगोऽस्य धीविश्रान्त्यै निगद्यते।
नादस्तुरीय ॐकारस्तस्यान्ते स्फुरदद्वयम्।।१०४।।
मन्त्रराजे नमाम्यन्तैः[1] पदैर्नत्वा प्रसादयेत्।
प्रणवात्मतया ध्यात्वाऽहमित्यात्मतया स्मरेत्।।१०५।।

चाटने लायक और चूसने लायकयों चार तरह का भोजन अर्पित करना चाहिये। भगवान् ने गीता में 'चारों तरह का अन्न मैं पचाता हूँ' (१५.१४) कहा ही है। पूजा के बाद सभी सपरिवार मूर्तियों को पहले तेजोरूप फिर स्वात्मरूप समझना है। विराट् आदि का यथाक्रम संहार करके अविकल्प ही हैइस स्थिति में टिकना पड़ेगा।।१०१-२ + १/२।।

अब चतुर्थ खण्ड का संग्रह करते हैं **पूजनीय देव और मुझ पूजक में आपसी भेद हैयह वासना जिस साधक की क्षीण हो चुके उसकी बुद्धि की शांति के लिये चौथे खण्ड में योग कहा है। ओंकार का चौथा भाग जो नाद, उसकी समाप्ति पर अद्वय ब्रह्म स्फुरता रहता है।।१०३-४।। मन्त्रराज में जो 'नमामि' तक के शब्द हैं उन सबसे देव को प्रणाम कर प्रसन्न करना चाहिये। फिर उसका प्रणवरूप से ध्यान कर 'मैं ही हूँ' यों आत्मरूप से स्मरण कर्त्तव्य है।।१०५।।** पूज्य-पूजक में भेद हैयह संस्कार कठिनाई से ही जाता है लेकिन पूर्वोक्त सारी उपासना व्यष्टि को समष्टि में विलीन करने की थी अतः उसके अभ्यास से मुमुक्षु में वह वासना क्षीण होनी आवश्यक है। ओंकार का नाद समाप्त होने पर शांत चित्त में चेतन का स्फुरण होता है, उसी को मंत्रराज से प्रणाम कर 'यही मैं हूँ' यों मंत्रराज के अंतिम 'अहम्' शब्द से प्रतीति करनी चाहिये। पंचीकरण में 'ॐकारोऽहम्येव' से आचार्य ने भी यह सूचित किया है।।१०३-५।।

इस स्थिति की स्थिरता के लिये अभ्यास का विधान करते हैं **जब तक पूर्वोक्त अवस्था निश्चल रहे तब तक वैसा रहकर चांचल्य आते ही पुनः (प्रणव से) चिन्तन करे, नादान्त में मंत्रराज से नमस्कार करे, फिर 'ॐ' उच्चारण कर उसी**

---

[1] 'मन्त्रराजे नमाम्यन्तैःपदैः' इति मुत्तुशास्त्रीपाठः। अन्ये तु 'मन्त्रराजेन साम्यं तैः पादैः' इति पठन्ति। नादान्ते यत् स्फुरति तस्य मन्त्रराजेन साम्यमिति वाक्यं योजयामासांऽगलव्याख्याता श्रीगोदावरीशमिश्रः। पादैरित्यस्य तु पदैरित्येव तत्कृतोऽर्थः।।

यावन्निश्चलता तावत् स्थित्वोर्ध्वं चिन्तयेत् पुनः।
कृत्स्नमन्त्रेण नत्वोमित्युच्चार्यान्ते स्थिरो भवेत्।।१०६।।
ध्यात्वोंकारं पुनर्मन्त्रान् महावाक्यादनुस्मरेत्।
मन्त्रेण वा केवलेन नृसिंहेति पदेन वा।।१०७।।
संस्मृत्याखण्डवाक्यार्थं युंजीतोंकारमंत्रयोः।
संस्तभ्य चित्ते स्वात्मानं गुणत्रयविवर्जितम्।।१०८।।

अद्वय प्रत्यक् स्थिति में कायम रहे। (यह क्रम बार-बार करना पड़ेगा।)।।१०६।। दीर्घ प्रणव का उच्चारण करते हुए पूर्वोक्त रीति से अध्यात्म-अधिभूत सारे द्वैत का प्रविलापन होने पर चिन्मात्र की स्फुरणा में यथासंभव स्थिर रहते हुए मन बहिर्मुख होगा ही, कभी रागादिवश, कभी बाह्य ध्वनि आदि सुनने से, कभी शरीर की ओर वृत्ति जाने से इत्यादि। तब पुनः वही ढंग अपनाना है, यही आवृत्ति या अभ्यास है। 'चिन्तयेत्' से समझना चाहिये कि अद्वय की उपस्थिति के लिये जहाँ से चिंतन आवश्यक हो वहीं से शुरू करे, यदि केवल स्मरणमात्र जरूरी लगे तो सीधे ही प्रणव से अद्वयरूप का उल्लेख करके पुनः स्थिर हो जाये। उस स्थिति के महत्त्व को आँकते हुए मंत्रराज से प्रणाम भी करे। जो साधक नृसिंह मंत्र का समाश्रयण नहीं लेता, वह भी समग्र ओंकार से प्रणाम करे और पुनः ओंकार के उच्चारण से तत्त्वका दर्शन करता हुआ स्थिर रहे। ब्राह्म मुहूर्त में शुद्ध अवस्था में यह अभ्यास तीन से पाँच घड़ी तक (सवा से दो घण्टे तक) कर्त्तव्य है।।१०६।।

यथाशक्ति पर्याप्त काल तक उक्त साधन के बादका कर्त्तव्य बताते हैं **ओंकार का ध्यान कर पुनः मंत्रों को याद करे। महावाक्य से, मंत्र से या सिर्फ़ नृसिंह-शब्द से अखण्ड वाक्यार्थ याद करे, त्रिगुणातीत उस प्रत्यग्रूप में चित्त स्थिर रखे तथा ओंकार और मंत्र को भी उसी तत्त्व से एकमेक कर दे।।१०७-८।।** मंत्रों को याद करने में आगे बताये (उपनिषत् पृ० ११२) श्लोक समझने चाहिये। अथवा अंगपूजादि में प्रयुक्त सभी मंत्रों को इस भाव से दुहराये कि उन सभी का महातात्पर्य इसी अद्वय में है। अथवा 'मन्त्रात्' यह पदच्छेद है अर्थात् नृसिंह मंत्र से तत्त्वानुस्मरण करे। उग्रादिपदोक्त ब्रह्मका अहं से अभेद है यह उस मन्त्र का भाव है। मंत्र से समझने में कठिनाई लगे तो प्रसिद्ध 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्य से अनुस्मरण करे। 'मन्त्रान्महावाक्याद् अनुस्मरेत्' एक वाक्य है 'मन्त्रेण....संस्मृत्य' दूसरा वाक्य है अतः मंत्रपद की पुनरुक्ति संगत है। नृसिंह-शब्द भी नृ-से जीव और सिंह-से ईश्वर को

ब्रह्मादिकानकाराद्यैः संयोज्यात्मनि संहरेत्।
तेषां तु कारणाविद्यां बाधित्वा वस्तुतोऽसतीम्।।१०६।।

कहकर दोनों का अभेद व्यक्त करता है। 'षिञ् बन्धने' से बाँधने वाले के अभिप्राय से सिंह-शब्द माया तत्कार्य अर्थात् तत्पदवाच्य का कथन करता है। हिंस-धातु से सिंह शब्द बनायें तो माया के नाशक अखण्डवृत्त्युपारूढ का कथन करता है। नृ का मतलब नर या जीव प्रसिद्ध है। दोनों की समानाधिकरणता से अभेद ग्रहण हो जाता है। जब तक जीव ईश्वर अलग भासें तब तक खण्ड हैं, उनमें भेद न भासे तब अखण्ड बोध है। उस अखण्ड तत्त्व से उसके बोधक मंत्र या प्रणव भी अलग नहीं रह जाते। मंत्र व प्रणव का वही अर्थ है जो महावाक्य का और अखण्ड होने से उस अर्थ में सभी कुछ समा जाने से मंत्र व प्रणव भी उसी में समाये हुए हैं यह भाव है।१०७-८।।

उपनिषद् (पृ. ११२) में दो मंत्र कहे हैं

(१) 'संस्तभ्य सिंहं स्वसुतान् गुणर्द्धान्
संयोज्य शृंगैर्ऋषभस्य हत्वा।
वश्यां स्फुरन्तीम् असतीं निपीड्य
सम्भक्ष्य सिंहेन स एष वीरः।।'

अर्थात् उपाधितादात्म्यवश चंचल आत्मा को विवेक से स्थिर कर, स्थूलत्वादि गुणों की बढ़ोत्तरी से विराडादि भावों को प्राप्त विश्वादि (अपने पुत्रों) को प्रणवकी मात्राओं से एक करके विलीन कर मायाको आत्माके वश में लाकर प्रतीतिमात्रसिद्ध उस माया को निष्प्रभाव बनाकर उसे साक्षी में डुबाकर, ब्रह्मानुभवरूप सिंह से उसे खाकर रहने वाला यह वीर किसी से हार नहीं सकता।

(२) 'शृंगप्रोतान् पदा स्पृष्ट्वा हत्वा ताम् अग्रसत् स्वयम्
नत्वा च बहुधा दृष्ट्वा नृसिंहः स्वयम् उद्बभौ।।'

अर्थात् प्रणव-मात्राओं से व्याप्त विराडादि को मंत्रराज के पादों से जोड़कर, क्रमशः उपसंहृतकर, उनकी कारणभूत माया को जिसने स्वयं खा लिया, स्वात्मा को प्रणाम कर एवं बहुत तरह से देखकर वह नृसिंह खुद ही निरावृत हो जाता है। इन मन्त्रों का भाव सूचित करते हैं **ब्रह्मा आदि को अकार आदि से जोड़कर आत्मा में उपसंहृत करे। उनकी कारणभूत अविद्या, जो वास्तव में है ही नहीं, उसे चित् से खाया हुआ बनाकर वीर को चाहिये कि तत्त्वस्मरण करते हुए निर्भय हो जाये।।१०६+१/२।।**

कृत्वा चिद्रक्षितां वीरः संस्मरन् निर्भयो भवेत्।
ब्रह्मादीन् मंत्रराजस्य पादैश्चिद्रूपतां नयेत्।।११०।।
अविद्याविनिवर्त्येष[1] नृसिंहः स्वयमुद्बभौ।
योगान्तरं पंचमेऽस्मिन् षष्ठे स्पष्टमुदीर्यते।।१११।।
अकारार्थं मंत्रराजपदार्थैर्योजयेत् क्रमात्।
चतुर्मूर्त्यात्मकैर्योगैरविकल्पान्तकैरपि।।११२।।

विश्वादि विराडादि से अभिन्न होकर अकारादि में संगृहीत होने पर आत्मा में उपसंहृत हो जाते हैं। समष्टि स्तर पर उपाधिभूत अविद्या ही कारणाविद्या है। अन्तःकरणादि कार्याविद्या का तो उसी में संहार हो गया, कारणाविद्या का चित्, ज्ञान में संहार होता है, उपाधि का बाध हो जाता है। इस अद्वयता से वास्तविक अभय प्रकट होना स्वाभाविक है।।१०९+१/२।।

दूसरे मंत्र का भाव बताते हैं **ब्रह्मादि को चिद्रूप बनाये, इस कार्य में मंत्रराज के पादों का उपयोग करे। अविद्या को हटाने वाला यह नृसिंह स्वयं प्रकट होता है।।११०+१/२।।** अविद्या का तो स्वरूपतः बाध है, उसे तो चित् खा जाता है, नष्ट कर देता है, लेकिन उपहितों को चिद्रूपता मिलती है, उनका केवल संसर्ग बाधित होता है, स्वरूप तो चित् ही होने से सत्य है। मंत्रराज के पादों से ब्रह्मादि (विराडादि) की चिद्रूपता ही बतायी है। अतः इसके लिये उन पादों का प्रयोग उचित है। अथवा प्रणव के पादों से भी यही कार्य किया जाता है। इतना करना साधकका कार्य है, फिर अविद्यानिवर्त्तक नृसिंह, अखण्डबोध स्वयम् उपलब्ध होगा, यत्नसाध्य नहीं है। मृत्तुशास्त्री एवं मद्रास के पाठ में अर्थ है कि उक्त साधन के पश्चात् अविद्या को निवृत्त करके प्रकट होने वाला वही है जो हमेशा स्वयं नृसिंह ही था! अर्थात् ब्रह्म ही बंधानुभव कर रहा था, साधना कर रहा था, अब मुक्त है भले ही ब्रह्म होने से सदा मुक्त रहता है। तात्पर्यतः कोई विशेष भेद नहीं है।।११०+१/२।।

अब पंचम खण्ड का संक्षेप करते हैं **मन्त्रराज में आये शब्दों के अर्थों से अकार के अर्थ को क्रमशः जोड़ना चाहिये। उक्त पदों के अर्थ विश्वादि चारों मूर्त्तियाँ और अविकल्पपर्यन्त उनके भेद हैं। ये सभी ध्यानोपयोगी होने से 'योग' हैं। चौदह शब्दों से कहे अर्थ ही एक अकार से भी कहे जाते हैं। इनके अर्थों का अभेद हैऐसा लगातार चिंतन करे। चिन्तन में यह भान हो कि उग्र**

---

[1] अविद्यां विनिवृत्त्यैष नृसिंहः स्वयमुद्बभौ-इति मुत्तु-मद्रयोः पाठः।

चतुर्दशभिरेकेनाप्यजस्रं प्रयतो वसेत्।
उग्रे वीरे महाविष्णावुज्ज्वले सर्वतोमुखे।।११३।।
नृसिंहे भीषणे भद्रे मृत्युमृत्यौ न मय्यजा।
भाति हिंसाकरी माया न मय्यस्ति चिदात्मनि।।११४।।
नमामीति पदाद् ब्रह्माभिन्नतामनुचिन्तयेत्।
ईदृग्योगी स्यादकामः काम्यमस्य न संभवेत्।।११५।।
निष्कामोऽसौ लौकिकानां कामानां विनिवृत्तितः।
काम्य आत्माऽपि बोधाप्तः किमन्यत् काम्यते पुनः।।११६।।

वीर महाविष्णु उज्ज्वल सर्वतोमुख नृसिंह भीषण भद्र मृत्युमृत्यु जो मैं ऐसे मुझ में माया है ही नहीं। हिंसा करने वाली लगती माया मुझ चिद्रूप आत्मा में है ही नहीं।।११२-४।। 'अ' इससे वह सब समझ सकते हैं जो मंत्रराज (नृसिंहमंत्र) में कहा है इसका ढंग उपनिषद्दीपिका (पृ.११४-५) में स्पष्ट किया है। अ-की तरह उ व म का भी वही अर्थ निकलता है जो सारे मंत्रराज का है। इस खण्ड में अ-उ-म इन तीन मात्राओं का ही ओंकार में विभाजन है, पूर्व खण्डों की तरह चार मात्राओं का नहीं। चौदह शब्द उपनिषत् (पृ.११४-५) में कहे हैं १) साक्षी, २) ईश्वर, ३) उग्र, ४) वीर, ५) महान्, ६) विष्णु, ७) ज्वलन्, ८) सर्वतोमुख, ९) नृसिंह, १०) भीषण, ११) भद्र, १२) मत्त्युमृत्त्यु, १३) नमामि, १४) अहम्। इनसे कहे अर्थ अ-से पता चल जाते हैं यदि उपनिषत् सूचित दीपिकाप्रोक्त तरीके से विचार करें। ऐसे ही उ व म से ये भाव निकल आते हैं। अतः मंत्रराज और अ में अभेद हो गया। ऐसा ही उ से व म से भी जब मंत्रराज का अभेद है तब अ-उ-म का भी परस्पर अभेद ही हुआ। अर्थ का अभेद ही शब्द का अभेद कह दिया जाता है। उग्रादि शब्द मन्त्रराजके ही हैं, उनका उल्लेख प्रत्येक अ-उ-म से अतः समूचे ॐ से हो और मैं रूप से हो यह प्रयास करना है।।११२-४।।

चिद्रूप के साथ पूर्णता भी अनुसन्धेय बताते हैं **'नमामि' शब्द से ब्रह्म से अभिन्नता का अनुचिंतन करे। ऐसा योगी कामनारहित होगा, वह कामना करे ऐसा कोई विषय संभव नहीं।।११५।। लौकिक कामनाएँ निवृत्त हो चुकने से यह निष्काम है, जो चाहता रहा वह आत्मा भी बोध से प्राप्त हो गया, अब और क्या चाह सकता है।।११६।। उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता वरन् वे परमात्मा में लीन हो जाते हैं। पहले भी ब्रह्म रहा वह अवबोध के बल पर ब्रह्म**

उत्क्रामन्ति न तत्प्राणा लीयन्ते तु परात्मनि।
ब्रह्मैव सन् पुराप्येष ब्रह्माप्नोत्यवबोधतः।।११७।।
तथोकारमकारौ च योज्यौ मंत्रपदेष्वतः।
अस्मिन् खंडे त्रयो योगा धीविश्रान्त्यै प्रकीर्तिताः।।११८।।

को पा जाता है।।११७।। अ- की तरह ही उकार-मकार को मन्त्रराज से जोड़ कर चिंतन करना चाहिये। इस पाँचवें खण्ड में बुद्धि को श्रमहीन करने के लिये अकारादि तीन के सहारे तीन योग (ध्यान) बताये हैं।।११८।। अहंकार समाप्त करना 'नमामि', नमनका अर्थ है। अहं छोड़ते ही ब्रह्म से अभेद पता चल जाता है। 'पता' अर्थात् ज्ञान नहीं क्योंकि यह ध्यानका प्रसंग है लेकिन अहम् का उल्लेख हटने पर परिच्छिन्नता मिटती है तो पूर्णता भासती ही है। ऐसे उपासक को यहीं श्रुति ने 'सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः' (पृ० ११५) कहा। आत्मोपासक को अनात्मकामना रह नहीं जातीं। यदि रहती लगें तो वैराग्य भी बढाये और उपासना भी बढ़ाये तो इसी के प्रभाव से कामनाएँ दूर हो जायेंगी। जब आत्मसुख प्राप्त होता है तब अनात्मा में सुख प्रतीत ही होना ख़त्म हो जाता है अतः अकामता स्वाभाविक होती है। ब्रह्मोपासक को ब्रह्मलोक के व्यवधान से ही सही पर मोक्षप्राप्ति निश्चित है। अतः यहाँ उपासक के प्राणोत्क्रमणादि का निषेध अर्थवाद है। अथवा उपासनापरिपाक से उसे निश्चय हो जाता है अतः वह तत्त्वज्ञ है इसलिये सद्योमुक्ति कही। योग-ज्ञान को व्यवस्थित साधनों के रूप में श्लोक ५४ में कह चुके हैं। यथाश्रुति और अखण्ड वृत्ति है तो इसे ध्यान से बनी इतने कारण से ज्ञान न मानना उपपन्न नहीं। यथाविषय वृत्ति जिस भी साधन से बने ज्ञान कहलाने योग्य है। अतः इस उपासना का पूर्ण विकास ज्ञानरूप होने से अनुत्क्रमण संगत है। प्राणों का परमात्मा में विलय 'तानि परे तथा ह्याह' (ब्र.४.२.१५) में निर्णीत है। भ्रमसिद्ध वस्तु का अधिष्ठान में ही लय देखा गया है। उपासना जीवनकाल में ही पक्व होने से तभी साधक को ब्रह्मभाव मिल गया, मिलने पर भले ही लगा कि 'मैं सदा से यही रहा, मिला क्या!' प्राणों का परमात्मा में विलय होने पर विदेह भाव हो गया, उपलभ्य भी द्वैत नहीं रहा। यहाँ अ- के सहारे ही वर्णन किया, उपनिषत् में उ और म के भी सहारे यही चिन्तन विहित है अतः अभ्यासी को तीनों के आधार पर आत्मचिंतन करते ही रहना चाहिये ताकि बुद्धि सभी श्रमों से रहित हो जाये। अनात्मचिंतन ही श्रम है। उसका मौका ही न रहे यह प्रयास हो तभी मोक्ष फल का लाभ होगा।।११५-८।।

साधनोपदेशः

षष्ठे खण्डेऽथ विद्यायाः साधनान्यखिलान्यपि।
जीवन्मुक्त्यवसायीनि संगृह्यन्ते ह्यतिस्फुटम्।।११९।।
विषयासंगरूपो यः पाप्मासावासुरत्वतः।
विद्येच्छां प्रतिबध्नाति सोऽयमादौ निवर्त्यताम्।।१२०।।
रजस्तमोवृत्तयो या लोभमोहादयो हृदि।
क्रूरत्वादसुरास्ते स्युर्देवाः स्युः सत्त्ववृत्तयः।।१२१।।
'सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।'१२२।।

छठे खण्ड का श्लोक १२८ तक वर्णन प्रारम्भ करते हैं **इसके अनन्तर छठे खण्ड में विद्या के सारे साधन अत्यंत स्पष्ट रूप से एकत्र कर बताये हैं जिनका यथाविधि अनुष्ठान करें तो जीवन्मुक्ति में पर्यवसान निश्चित है।।११९।। विषयों के प्रति आसक्ति आसुर प्रवृत्ति होने से पाप है, वह विद्या की इच्छा को ही प्रतिबद्ध (रोक) कर लेती है अतः पहले इसे ही हटाया जाये।।१२०।।** आसक्ति, आकर्षण होता है नाम-रूप-कर्म के प्रति तथा वे ही मिथ्या हैं! सत्य की ओर हमारा आकर्षण ही नहीं। लौकिक सत्य दाल-चावल के प्रति नहीं, इडली, डोसा, पुलाव आदि के प्रति है जो हैं केवल दाल-चावलरूप उपादान पर आरोपित नाम-रूप जैसे मिट्टी पर घटादि आरोपित होते हैं। आसक्ति आसुर इसलिये कि प्राणोंइन्द्रियों के रमणार्थ ही आसक्ति हुआ करती है। कल्याण, हित के लिये विवेकपूर्ण मुमुक्षा ही होगी, आसक्ति कभी नहीं। इन्द्रिय-मन में तादात्म्य कर हम इनके गुलाम बने हैं, इनसे अपना भेद पहचानकर इस गुलामी से मुक्ति पुरुषार्थ है। तादात्म्याध्यास या मोह से गुलामी आजकल बहुत स्पष्ट है, बच्चों के आचार-विचार सर्वथा ग़लत, अधार्मिक, अहितकर जानते हुए भी माता-पिता उन्हें प्रोत्साहन देते रहते हैं! विषयासक्ति सबसे बड़ी रुकावट है आत्मज्ञान की इच्छा उत्पन्न होने में। अतः इसे दूर करने को प्राथमिकता देना साधक का कार्य है।।११९-२०।।

आसक्ति की आसुरी सम्पत्ति-रूपता स्पष्ट करते हैं **हृदय में जो लोभ-मोहादि रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियाँ होती हैं वे क्रूर होने से असुर हैं। सत्त्वगुण से बनी वृत्तियाँ देव हैं।।१२१।। (भगवान् ने बताया है) सत्त्व से ज्ञान, रज से लोभ और तम से प्रमाद, मोह एवं अज्ञान होते हैं।।१२२।।** लोभ-मोह क्योंकि अतिशय

अर्थावुग्रादिशब्दानां यौ प्रोक्तौ तापनीययोः।
सगुणागुणभेदेन तद्ध्यानादसुरान् जयेत्।।१२३।।
त्यक्त्वा रजस्तमोवृत्ती सात्विकीं वृत्तिमाश्रिता।
धीश्चिदानन्दमात्मानं ध्यायन्ती तन्मयी भवेत्।१२४।।
ततो ध्यातृध्येयभेदनिवृत्त्यै मन्त्रराजतः।
[1]तुर्यातुर्यमनुस्मृत्य समाधिः प्रणवे भवेत्।।१२५।।

कष्ट देते रहते हैं इसलिये क्रूर हैं। इन दोनो दुर्गुणों से कभी भी सुख नहीं मिलता, न लोभादि करते समय और न उनके प्रभाव के समय। फिर भी भ्रमवश इन वृत्तियों को प्रिय मानकर इनका अनुसरण करते ही रहते हैं। दयनीय दशा में भी लोभादि वृत्तियाँ पुरुष को छोड़ती नहीं अतः क्रूर हैं। बहुधा देखा जाता है कि बच्चों आदि से अपमानादि पाकर भी व्यक्ति उन्हीं की प्रसन्नता के लिये सचेष्ट रहता है क्योंकि मोह उस पर दयाकर उसे छोड़ता नहीं। इसी से इन्हें आसुर कहना बनता है। इनसे विपरीत सात्त्विक वृत्तियाँ हैं जो यथावस्तु ज्ञान और वास्तविक सुख प्रदान करती हैं। भगवद्वचन (१४-१७) इस सन्दर्भ में स्फुट प्रमाण है।।१२१-२।।

आसुरी वृत्तियों पर नियंत्रण पाने का उपाय बताते हैं **पूर्वोत्तर तापनीयों में उग्रादि शब्दों के सगुण-निर्गुण भेद से जो अर्थ बताये उनके ध्यान से आसुर वृत्तियों पर विजय पानी चाहिये।।१२३।। रज और तमकी वृत्तियाँ छोड़कर सात्त्विक वृत्ति का सहारा लेने वाली बुद्धि जब चिदानन्दरूप आत्मा के ध्यान में संलग्न रहती है तब तदाकार ही हो जाती है।।१२४।। तब ध्याता-ध्येय का भेद मिटाने के लिये मन्त्रराज द्वारा तुरीय-तुरीय (अविकल्प) को याद कर प्रणव में (तदर्थभूत परमेश्वर में) बुद्धि समाहित हो जाती है।।१२५।।** सगुण की उपासना से तमोगुण पर और निर्गुण की उपासना से रजोगुण पर विजय होती है। मंत्र वही है, उसके अर्थों में ही भेद है। सर्वत्र वेदादि के मंत्रों में यह रहस्य है कि आपाततः सगुण का वर्णन करते हुए भी वे लक्षणा-व्यंजना-ध्वनि आदि वृत्तियों से निर्गुण का कथन करते हैं। साधक एकाएक निर्गुणोपासना कर नहीं सकता अतः सगुणोपासना से ही प्रारम्भ करे। यद्यपि बाह्य पूजादि भी उपासना है तथापि यहाँ 'ध्यानात्' से बताया कि आसुर वृत्तियों पर विजय के लिये सगुण-निर्गुण परमेश्वर के मंत्रोक्त स्वरूप पर ध्यान

---

१. तुर्यतुर्यम् इति पिपठिषामि।

मन्त्रार्थे प्रणवं दीर्घमुक्त्वा चित्तं विलापयेत्।
अमूर्तमद्वयं ब्रह्मानुभवन् वर्तते तदा।।१२६।।
ईदृक् समाधिविघ्नानां शान्त्यै पुत्रैषणादिकम्।
त्यक्त्वा चित्तं समाधाय जीवन्मुक्तः सुखी भवेत्।।१२७।।

अनिवार्य है, अन्यथा पूजादि से यह फल नहीं मिलता। किं च ईश्वरोपासना का ही यह प्रभाव है, देवतोपासना का नहीं। उपास्य को जगज्जन्मादिहेतु अपरिच्छिन्न स्वतंत्र समझें तब उसे ईश्वर देखते हैं और सर्वहेतु, असीमित, सर्वसमर्थ न समझने पर उसे देवता देखते हैंयह अनुभवानुसारी दृष्टिभेद है। साथ ही साधक में उक्त वृत्तियों को दूर करने की इच्छा भी चाहिये अर्थात् इस तथ्य को स्वीकारना चाहिये कि ये हेय वृत्तियाँ हैं और आराध्य से इन्हें हटाने की प्रार्थना करनी चाहिये। जैसे राजस-तामस का त्याग आवश्यक है वैसे सात्त्विक का आश्रयण भी आवश्यक है। सात्त्विकता के अभिवर्धन के बिना परमात्मबोध असंभव है। भले ही अन्त में तीनों गुण छूटेंगे पर इस कार्य को संभव सत्त्वगुण ही करेगा। सात्त्विक चित्त ही परमशुद्ध परमात्मा का आकार ग्रहण कर सकता है और वह आकार ग्रहण करने पर ही अविद्या दूर होती है। किंतु यह आकार सायास न रहे इसलिये ध्याता-ध्येय का भेद दूर करना पड़ता है। इस भेद के रहते अखण्ड आकार पलकारा-मात्र होता है, अस्थिर अतः कार्यकारी नहीं होता। भेद-निवृत्ति में भी साधन मन्त्रसूचित अविकल्प पर एकाग्रता ही है क्योंकि इस उपनिषत् में योग-अधिकारी ही प्रधान है ज्ञानाधिकारी इससे पूर्व पूरे ग्रंथ में प्रधान था।।१२३-५।।

प्रणव में समाधि ही स्पष्ट करते हैं **दीर्घ ओंकार का उच्चारण कर चित्त को मन्त्र के अर्थ में विलीन करे, तब अमूर्त अद्वय व्यापक चेतन का अनुभव करते हुए रहता है।।१२६।।** मन्त्रराज और प्रणव दोनों का सारभूत अर्थ जो अखण्ड अद्वय प्रत्यगात्मा, उस मन्त्र का भान कायम रखने का प्रयास कर्त्तव्य है। अमूर्त खासकर नृसिंहाकार वृत्ति के निषेधार्थ कहा अर्थात् यह निर्गुण उपासना का ही उत्कर्ष है।।१२६।।

उपनिषत् में (पृ. १२४) एषणा-व्युत्थानादि का कथन है जिसका उद्देश्य स्पष्ट करते हैं **ऐसी समाधि के विघ्नों की शान्ति के लिये पुत्रैषणा आदि छोड़कर चित्त एकाग्र कर जीवन्मुक्त सुखी रह सकता है।।१२७।।** अध्याय १७ श्लोक १७१ आदि में एषणात्याग का वर्णन हो चुका है। तापनीय में 'ससाधनेभ्यो व्युत्थाय' यह

अकारादिषडंगेषु संयोज्यासंगमद्वयम्।
मन्त्रार्थमपि संयोज्य ह्यकारादीनुपेक्षते।।१२८।।
खण्डेऽथ सप्तमे योगाः प्रवक्ष्यन्ते पुनस्त्रयः।
तेषामन्यतमेनाऽसौ विद्वान् कालं नयेत् पुमान्।।१२६।।

(पृ. १२४) और स्पष्ट किया है। ऐसों का वर्णन भी मार्मिक है 'निरागारा निष्परिग्रहा अशिखा अयज्ञोपवीता अन्धा बधिरा मुग्धाः क्लीबा मूका उन्मत्ता इव परिवर्तमानाः शान्ता दान्ता उपरतास्तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः प्रणवमेव परमं ब्रह्माऽऽत्मप्रकाशं शून्यं जानन्तस्तत्रैव परिसमाप्ताः'। यही परमहंस स्थिति है। इसमें बाह्य अभिव्यक्ति अभिप्रेत नहीं, आगार-परिग्रहादि में ममत्वराहित्य सुस्पष्ट अनुभूयमान हो यही जरूरी है भले ही इसके लिये आगारादि से स्थूल वियोग भी आवश्यक हो; किंतु स्थूल वियोग रखकर आगारादि को चित्त में महत्त्व देना इस साधना में हानिकर ही है, लाभप्रद बिलकुल नहीं।।१२७।।

छठे खण्ड के अंत में मंत्र है 'शृंगेष्वशृगं संयोज्य, सिंहं शृंगेषु योजयेत्। शृंगाभ्यां शृंगमाबध्य त्रयो देवा उदासते।।' अर्थात् अ-उ-म रूप शृंगों में अमात्र रूप शृंग जोड़कर अर्थात् अ-उ-म से अभिप्रेत अमात्र है यह जानकर सिंह अर्थात् पदार्थशोधन-रूप विवेक को शृंगों से अर्थात् तत्-त्वंपदार्थों से जोड़े, उनका विवेक करे। शृंगों से अर्थात् अ-उ के अर्थभूत स्थूल-सूक्ष्म के साक्षी से शृंग को अर्थात् म के अर्थ ईश्वर को आबध्य अर्थात् अभिन्न जानकर कर्मेंद्रिय-ज्ञानेन्द्रिय-मन सभी केवल (उत्) ब्रह्मरूप से रहते हैं। इसका भावार्थ व्यक्त करते हैं **अकार आदि छह अंगों से असंग अद्वय को जोड़कर, उसी से मंत्रार्थ भी जोड़कर अकार आदि की उपेक्षा करता है।।१२८।।** विश्व-विराट् आदि छह अंग अकारादि से द्योत्य हैं। उन्हें अद्वय से अभिन्न जानना है और इस ज्ञानकी प्राप्ति का हेतु भी उस अद्वय से अभिन्न है यह निर्णय करना है अर्थात् प्रमाण और तन्निमित्तक त्रिपुटी विलीन करनी है। इस स्थिति के बाद अकारादि अर्थात् वाच्य-वाचक दोनों ही केवल (उप-ईक्षित) प्रतीयमान ही रहते हैं, उनमें सत्त्यता का भ्रम नहीं होता है।।१२८।।

सप्तम खण्ड श्लोक १४२ तक समझाते हैं **इसके अनन्तर सातवें खण्ड में फिर तीन योग बतायेंगे। विद्वान् को चाहिये कि इनमें से किसी एक का अनुष्ठान करते हुए समय व्यतीत करे।।१२६।।** आत्मानुसन्धान में विविध ग्रंथश्रवण, विविध युक्ति मनन की तरह विविध योगों का भी उपयोग है। यत्नतः चिन्तन करने

अकारार्थमजत्वाद्यैश्चिन्तयेद् बुद्धिसाक्षिणम् ।
उत्कर्षाद्यैरुकारार्थं मन्त्रदेवं विचिन्तयेत् । ।१३० । ।
अनूद्य साक्षिणं प्रोक्तं मंत्रदेवत्वमस्य तत् ।
उत्कृष्टत्वादिभिः शब्दैः पंचभिश्चिन्तयेत्तथा । ।१३१ । ।
उत्तरैः पंचभिर्देवमनूद्य परमात्मताम् ।
महत्त्वाद्यैर्मकारार्थरूपं तस्य विचिन्तयेत् । ।१३२ । ।
शरीरत्रयहीनो यः सच्चिदानन्दलक्षणः ।
स एव भवति ध्यानाद्योगोऽयं प्रथमो भवेत् । ।१३३ । ।

से विचलन की संभावना भी नहीं रहती । ।१२६ । ।

देवताओं ने पुनरुपदेश की प्रार्थना की तो उन्होंने क्या उपदेश दिया यह बताते हैं **अकार के अर्थ बुद्धिसाक्षी का अज आदि रूप से चिन्तन करना चाहिये। उकार का अर्थ जो मंत्रदेव उसका उत्कर्ष आदि विशेषताओं वाले के रूप में अनुसन्धान करना चाहिये । ।१३० । । 'अ' से साक्षी को उद्देश्य करके 'उ' से उसकी परमात्मता का विधान किया इसलिए 'उ' का अर्थ मंत्रदेव (मंत्र-प्रोक्त देव) है। उत्कृष्टत्व आदि पाँच शब्दों के सहारे उस तरह उसका चिन्तन करना चाहिये । ।१३१। महत्त्व आदि आगे आये पाँच शब्दों से मंत्रदेव को उद्देश्य कर उसे 'म' से परमात्मा बताया अतः मकार के अर्थरूप से उसका चिन्तन करना चाहिये । ।१३२ । । यों ध्यान के फलस्वरूप साधक जो तीनों शरीरों से रहित सच्चिदानन्दरूप है वही हो जाता है। यह इस खंड में कहा पहला योग है । ।१३३ । ।** उपनिषत् (पृ. १२७) में अ-उ-म से सूचित कुछ भाव बताये हैं जिनके बोधक शब्द अ-उ-म से प्रारंभ होते हैं, उन भावों वाले अर्थों के चिंतन का विधान किया जा रहा है। वे भाव हैं

अ'अजत्वाद् अमरत्वाद् अजरत्वाद् अमृतत्वाद् अभयत्वाद् अशोकत्वाद् अमोहत्वाद् अनशनायत्वाद् अपिपासत्वाद् अद्वैतत्वाच्च ।'

उ'उदुत्कृष्टत्वाद् उदुत्पादकत्वाद् उदुत्प्रवेष्टृत्वाद् उदुत्थापयितृत्वाद् उदुद्द्रष्टृत्वाद् उदुत्कर्तृत्वाद् उदुत्पथवारकत्वाद् उदुद्ग्रासकत्वाद् उदुद्भ्रान्तत्वाद् उदुत्तीर्णविकृतित्वाच्च ।'

म'महत्त्वाद् महस्त्वाद् मानत्वाद् मुक्तत्वाद् महादेवत्वाद् महेश्वरत्वाद् महासत्त्वाद् महाचित्त्वाद् महानन्दत्वाद् महाप्रभुत्वाच्च ।'

अ-उ-म इस क्रम को उद्देश्य-विधेय के ढंग से कहने पर अ को उ तथा उ को म

अन्येन कस्त्वमित्येवं पृष्टाः सर्वेऽपि मानवाः।
अहमित्याहुरेतेषामहमित्यभिधानतः।।१३४।।
अहंशब्दे प्रत्यगात्मवाचिन्यादेरकारतः।
प्रथमे [1]प्रथमाद्वर्णादात्मानमनुचिन्तयेत्।।१३५।।
ब्रह्मणः सच्चिदानन्दा वीक्ष्यन्ते सर्ववस्तुषु।
तस्मात् सर्वात्मकं ब्रह्म मकारो ब्रह्मशब्दगः।।१३६।।
मकारः प्रणवस्यान्ते यस्तेन ब्रह्म चिन्तयेत्।
आत्मनो ब्रह्मणैकत्वमुकारेण विचिन्तयेत्।।१३७।।
आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे योगोऽयं प्रणवे श्रुतः।
अर्थे तत्त्वमसीत्यस्य योगोऽथ प्रणवे भवेत्।।१३८।।

बताना सिद्ध होता है जिससे अखण्ड वाक्यार्थ प्रकट हो जाता है। अ-से जीव कहकर उसे ही उ-से ईश्वर कहा एवं इनके वाच्यरूपों को हटाने पर बचे सच्चिदानन्द को म-से बताया। उकार के भावों में 'उत्' शब्द सर्वत्र अतिशयार्थ है। दीपिका में (पृ.१२७) 'उत्कृष्टत्वधर्माद् उत्कृष्टत्वे सति उत्कृष्टत्वम् उदुत्कृष्टत्वम्। उदुत्पादकत्वादिकम् अपि एवं द्रष्टव्यम्।' उत्पथ अर्थात् ग़लत रास्ता, उससे रोकने वालों में उत्तमयह उदुत्पथवारक का मतलब है। उद्भ्रान्त अर्थात् व्यापक, उससे भी उत्तम उदुद्भ्रान्त है। बाकी शब्दों के अर्थ प्रायः स्पष्ट हैं।।१३०-३।।

दूसरा योग समझाते हैं **'तुम कौन हो?' यों किसी के द्वारा पूछे जाने पर सभी मानव 'अहम्' (मैं) यह कहते हैं क्योंकि इन सबका 'अहम्' यह नाम है।।१३४।। प्रत्यगात्माके वाचक अहंशब्द में प्रारम्भ अकार से है अतः प्रणव में प्रथम वर्ण से आत्माका अनुचिन्तन करना चाहिये।।१३५।। ब्रह्मके सत्-चिद्-आनन्द सब वस्तुओं में दीखते हैं अतः ब्रह्म सबका आत्मा है। मकार ब्रह्म शब्द में उपस्थित है।।१३६।। प्रणव के अन्त में जो मकार है उससे ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिये। आत्मा और ब्रह्म की एकता का उकार से चिन्तन करना चाहिये।।१३७।। 'आत्मा ब्रह्म है' इस वाक्य के अर्थ के बारे में यह योग प्रणव के सम्बन्ध में श्रुतिसिद्ध है। आगे 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के अर्थ पर योग प्रणव में कैसे है यह बताते हैं।।१३८।।** अ-उ-म के अ का मतलब अहम् अर्थात् स्वयं को मैं बोलने वाला जीव। तथा म का मतलब ब्रह्म अर्थात् सबमें व्याप्त आत्मा। 'उ'

---

[1] सर्वत्रैवं मुद्रितम्। 'प्रणवे' इति तु पठितुं युक्तम्। श्लो. १३७ प्रणवस्येति प्रयोगादप्येवमवसीयते।

सर्वात्मकं ब्रह्म यत् स्यादुग्रादिपदभाषितम्।
संहारे जगदत्तृत्वात्तस्योकारार्थतोचिता[1] ।।१३९।।
संहृते जगति ब्रह्म सततं ह्यवतिष्ठते।
पुनरुग्रादिशब्दैस्तदखण्डत्वेन संस्मरेत् ।।१४०।।
साक्षिणं मन आदीनामात्मानं तु मकारतः।
ध्यात्वा ब्रह्मत्वसंपत्त्यै दृष्टिसृष्टिमनुस्मरेत् ।।१४१।।
ब्रह्मात्मनोस्तु समयोरैक्यं ध्यायेदुकारतः।
फलं तु पूर्ववद्विद्यात् त्रयो योगा इतीरिताः ।।१४२।।

का अर्थ अवधारण या निश्चय भी है यह इस प्रसंग में श्रुति ने सूचित किया है (पृ.१३१) 'किमिदमेवम्? इति, उ इत्येवाहाविचिकित्सन्'। अतः अ ही म है इसे निर्धारित करना उ का भाव है। इस तरह 'अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्य का अर्थ ॐ से स्पष्ट हुआ। आगे तीसरा योग 'तत्त्वमसि' का अर्थ ॐ से पता चलाने वाला बता रहे हैं।।१३४-८।।

तीसरे योग का निर्देश करते हैं **उग्रादिशब्दों से कथित जो सर्वरूप परमेश्वर वह अ-कार का अर्थ हो यह उचित है क्योंकि संहार के समय वह सारे जगत् का अदन (भक्षण) करता है।।१३९।। जगत् का संहार हो चुकने पर क्योंकि ब्रह्म ही लगातार बना रहता है। इसलिये फिर उग्रादि शब्दों से उसी तत्त्व को अखण्डरूप से याद करना चाहिये।।१४०।। मकार से मनआदि के साक्षी आत्मा का ध्यानकर स्वयं ब्रह्म होने के लिये दृष्टि-सृष्टि का स्मरण बनाये रखना उचित है।।१४१।। सर्वथा समान जो ब्रह्म और आत्मा, उनकी एकता का उ-कार से ध्यान करे तो ब्रह्मरूपता सम्पन्न हो जाती है। इस तरह सातवें खण्ड के तीनों योग बता दिये।।१४२।।** इस योग अर्थात् ध्यानप्रक्रिया में 'अ' से सर्वरूप परमेश्वर 'म' से साक्षी तथा 'उ' से इनके अभेदका चिंतन है। पिछले योग में 'अ' से अहमर्थ लिया था, पहले में भी बुद्धिसाक्षी लिया था, अब विपरीत लिया है। इस तरह व्यतिहार (ब्र.सू. ३.३.३७) का प्रदर्शन कर अत्यन्त अभेद को प्रणवार्थ कह दिया। व्यतिहार मायने उद्देश्य-विधेय को उलट-पलटकर ऐक्य कहना, इससे जो अभेद कथित होता है वह भेद को बिलकुल सहन नहीं करता। सृष्टिकाल में अर्थात् जब तक

---

[1] 'तस्याऽकारार्थतोचिता' इति युक्तं पठितुम्।।

चत्वारो ह्यष्टमे खण्डे योगास्तुर्यस्य भासकाः।
ॐकारनामा प्रणवे नादो यस्तत्र वर्णितः।।१४३।।
ओतानुज्ञात्रनुज्ञातैरविकल्प इतीरितैः।
भेदैर्योगा विभिन्नाः स्युरभयं ब्रह्म तैर्भवित्।।१४४।।

संहारकता संभव है तब तक उसे सर्वरूप तथा संहार के बाद अखण्डरूप यों सविशेष-निर्विशेष दोनों तरह 'अ' से चिंतन सूचित किया। दृष्टि-सृष्टि अर्थात् अनुभूयमान से अतिरिक्त की अनुपस्थिति का निश्चय। बालाकि को दिये उपदेश के सन्दर्भ में (अनु. प्र. अध्याय ६ श्लोक ४६) बता चुके हैं कि दृष्टिसृष्टि शीघ्रफलार्थ उपयोगी है अतः यहाँ उसीका अवलम्बन कहा। घोर विरक्ति होने पर ही यह दृष्टि रखी जा सकती है एवं बहिःसम्पर्क अत्यन्त न्यूनतम हो, किसी के प्रति न कोई कर्त्तव्य रहे न निर्भरता, तभी साधक यह अभ्यास कर सकता है। ब्रह्म-आत्मा को समान इसलिये कहते हैं कि सोपाधिक दशा में भेद-प्रतीति है। जैसे वस्तुतः अभिन्न होने पर भी बिम्ब और प्रतिबिम्ब को समान कह देते हैं वैसे समझना चाहिये। उकार से क्योंकि अ व म दोनों एक से सम्बद्ध हैं इसलिये इससे अ-म का सर्वथा साम्य पता चलता है। यह चिंतन भी परमात्मरूपता के लाभार्थ, विद्यादार्ढ्य के लिये ही है। अतः तत्त्ववेत्ता को इसका उपयोग करना उचित है।।१३९-४२।।

अ-उ-म में बँटे प्रणव से चिन्तन के विधान के अनन्तर आठवें खण्ड में अविभक्त प्रणव से चिन्तनका विधान है यह बताते हैं **तुरीय के प्रकाशक चार योग ओंकार नामक प्रणव में जो नाद है, उसके सहारे आठवें खंड में वर्णित हैं।।१४३।। ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञा, अविकल्पइन नामों वाले भेदों से योग विभिन्न हैं जिनके अनुष्ठान से साधक निर्भय ब्रह्म हो सकता है।।१४४।।** अकारादि के अभ्यासातिशय से अखण्ड के संस्कार दृढ हो चुकने पर विभाजनों का उल्लेख बिना किये प्रणवनाद पर मन स्थिर रखकर तुरीय के गाम्भीर्य में उतरते-उतरते अविकल्प पर पहुँचकर स्थिर रहना इस खण्ड में विहित है। अविकल्प ही वस्तुतः अद्वय होने से अभय है। यहाँ श्रुति ने (पृ. १३९) स्पष्ट कहा है 'नाऽत्र काचन भिदाऽस्ति नैवाऽत्र काचन भिदाऽस्ति, अत्र भिदाम् इव मन्यमानः शतधा सहस्रधा भिन्नो मृत्योर्मृत्युम् आप्नोति', अतः यही अत्यन्त अद्वैत की स्थिति है। अनुभूतिप्रकाश में इसका कथन-भर किया, विस्तार उपनिषद्दीपिका से समझा जाये।।१४३-४।।

नौवाँ उपसंहारात्मक खण्ड संगृहीत करते हैं **ओंकार और नृसिंहमन्त्र द्वारा**

उपनिषदुपसंहारः

ॐकारमंत्रयोर्ध्येयं वस्तु यद् बहुधेरितम्।
तत्तत्त्वं नवमे खण्डे विस्पष्टं प्रविविच्यते।।१४५।।
य आत्मा ध्यातृदेहेषु यश्च ध्येयेषु भासते।
एक एव स चिद्रूपो मायया भात्यनेकवत्।।१४६।।
सुषुप्तौ जीवचैतन्यमद्वयं ब्रह्मतां व्रजेत्।
जगत् सर्वमविद्येति सर्वैरप्यनुभूयते।।१४७।।
सृष्टेः प्रागप्येवमासीत् सा माया वटबीजवत्।
अनेकरूपतां प्राप्य जीवेशावपि निर्ममे।।१४८।।
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
उपाध्योर्यौ चिदाभासौ तौ जीवेशावुदीरितौ।।१४९।।

ध्यानयोग्य जो वस्तु नाना प्रकार से बतायी उसी का वास्तविक स्वरूप नौवें खण्ड में समझाया है।।१४५।। ध्येय की वास्तविकता समझना जरूरी अन्यथा उपास्य-गुणों से परे नहीं जा पाते। जैसे पति या पत्नी की शक्ल-सूरत आदि से छिपा जो उसका स्वभाव उसे पहचाने बगैर दम्पती सुख से नहीं रह सकते, बाह्याडम्बर में हेर-फेर से विचलित होते रहते हैं, वैसे उपास्य के गुणों से मुग्ध रहने पर भेदबुद्धि का निवारण नहीं हो पाता अतः तत्त्वका स्वरूप स्पष्ट समझे रखना आवश्यक है।।१४५।।

स्वरूप की अद्वितीयता प्रकट करते हैं **जो आत्मा ध्याताओं के शरीरों में एवं ध्येयस्वरूपों में भासमान है वह चित्स्वरूप एक ही है, अनेक जैसा मायावश प्रतीयमान है।।१४६।।** प्रत्येक ध्याता के जन्म-जन्मान्तर में अनेक स्थूल शरीर होने पर भी जैसे आत्मा एक ही रहता है वैसे सभी शरीरों में आत्मा एक ही है। ध्येय रूप भी अनेक बताये पर आत्मा उनमें भी एक ही है और ध्याता-ध्येय दोनों प्रकार की उपाधियों में प्रतीयमान आत्मा वही है, विभिन्न नहीं।।१४६।।

अद्वैत से द्वैतोपलब्धि उपपन्न करते हैं **सुषुप्ति में जीव-चैतन्य अद्वैत ब्रह्मरूप हो जाता है और सारा जगत् अविद्या रह जाता है यह सभी का अनुभव है।।१४७।। सृष्टि से पहले भी ऐसे ही अद्वैतस्थिति थी। वट के बीज जैसी उस माया ने अनेक रूप धारण कर जीव और ईश्वर का निर्माण किया।।१४८।। कार्य की उपाधि वाला यह जीव है तथा कारणरूप उपाधि वाला ईश्वर है; उपाधियों में जो चिदाभास हैं वे जीव और ईश्वर कहे गये हैं।।१४९।।** अद्वैत

नियन्तेशोऽनुमन्ता तु जीवः सोऽपि द्विधा भवेत्।
समष्टिव्यष्टिरित्याद्यस्तयोः सर्वाभिमानवान्।।१५०।।

का अनुभव हमें गहरी नींद में ही है और वहाँ अज्ञान है ही अतः सृष्टि के प्राक्काल में जब अद्वैत बताया जाये तब भी अज्ञान की अवस्थिति नकारना व्यर्थ है। जगने पर ये अज्ञान समेत जो हम, उस हमसे ही सारा भेद प्रकट होता है, ऐसे ही सृष्टि उस सद्रूप अद्वैत से, मायोपहित से व्यक्त होती है। वटबीज में अतिविस्तृत वट वृक्ष की तरह ईश्वर में संसार था जो उसी में से प्रकट हो गया तो जिन उपाधियों का विकास हुआ उनके संबंध से परमेश्वर ही ईश्वर एवं जीव कहलाने व समझा जाने लग गया। उपनिषत् में (पृ. १४४) बताया है कि जैसे एक ही वटबीज-सामान्य अपने से अभिन्न अनेक सबीज वट उत्पन्न कर उनमें स्वयं पूर्णतः रहता है 'एवम् एवैषा माया स्वाऽव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति माया चाऽविद्या च स्वयमेव भवति।' अभिन्न भी अविद्या मायामय अनेक जीवादि का आभास कराती है क्योंकि दुर्घट-घटना में समर्थ है। उस कार्य-कारण विभाग को प्राप्त अविद्या में आभास द्वारा अहंकार बाँधे रखने वाला जीव हो जाता है और आभास का साक्षी रहने वाला ईश्वर हो जाता है। साक्षी होने से ही वह किसी परिच्छिन्न में सीमित नहीं रहता अतः व्यापक जो कारण उस उपाधि वाले के रूप में समझा जाता है। कार्य अर्थात् परिच्छिन्न, व्यावृत्त उपाधि वाला कर्त्ता-भोक्ता तथा कारण उपाधि वाला फलदाता हो जाता है। इनमें भेद उपाधिकृत ही है अतः वास्तव में ये अभिन्न ही हैं। कारण-उपाधि में सर्वसामर्थ्य है अतः ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, कार्य-उपाधि में अल्प सामर्थ्य है अतः जीव अल्पशक्तिमान् है। लेकिन यह भेद उपाधि पर निर्भर है, वास्तव नहीं। जीव की सामर्थ्य अल्प ही रहती है। ईसाई सुनाते हैं कि ईसा ने एक मुर्दे को ज़िंदा कर दिया। हमने पूछा 'कहाँ है वह ज़िंदा हुआ व्यक्ति?' वे कहते हैं 'अरे! अब कहाँ होगा! वह तो फिर मर ही गया।' तो विचार करो, ईसा की महत्ता क्या हुई! मिनट-घण्टा-दिन-महीना-साल भले ही बदले पर मरने वाले को न मरने वाला तो नहीं बनाया। अतः जीव स्वयं परिच्छिन्न उपाधि में खुद को बँधा मानने से परिच्छिन्न ही सामर्थ्य वाला है। ईश्वर ऐसे सीमित अभिमान वाला है नहीं अतः असीमित सामर्थ्य वाला है। फिर भी सामर्थ्य की अभिव्यक्ति उपाधि-सापेक्ष होने से आभास द्वारा जीव-ईश्वर का निर्माण माया करती है ऐसा कहा।।१४७-८।।

जीव-ईश्वर का वर्णन करते हैं **ईश्वर नियामक है, जीव उसके नियंत्रण में**

हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा त्रिमूर्तिश्चेत्युदीर्यते।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च मूर्तयो गुणभेदतः।।१५१।।
लिंगोपाधित्वतो जीवा अपीशाः सर्ववित्त्वतः।
समष्टिः समुदायात्मा व्यष्टिस्तु पृथगात्मवान्।।१५२।।
समष्टिः सूत्रवज्ज्ञेयो ब्रह्माण्डाख्यवपुर्विराट्।
देवतिर्यङ्मनुष्यादिदेहो व्यष्टिरितीर्यते।।१५३।।
परः प्रविश्य देहेषु मायया गूढवत् स्थितः।
द्वैतस्य मायिकत्वेन तत्त्वमद्वैतमिष्यताम्।।१५४।।

रहने वाला है। जीव पुनः समष्टि और व्यष्टि यों दो तरह का है। इनमें पहला अर्थात् समष्टि का सबमें अभिमान है।।१५०।। समष्टिको हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, त्रिमूर्ति आदि कहा जाता है।। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रये गुणों के भेद से विभिन्न मूर्तियाँ हैं।।१५१। सूक्ष्मोपाधिक होने से जीव होने पर भी ये सर्ववित् होने से ईश्वर हैं। समुदाय का आत्मा हुआ चेतन समष्टि है और पृथक्-पृथक् उपाधियों का आत्मा हुआ वही व्यष्टि है।।१५२।। जीव है अनुमंता, भले ही उसे भ्रम है कि वह नियंता है या हो सकता है। ईश्वर के निर्णयों का अनुमोदन करने के अलावा जीव कुछ कर नहीं सकता लेकिन यह न स्वीकारने से कर्तृत्वभ्रम पाले हुए है जिसके फलस्वरूप भोक्तृत्वभ्रम अनिवार्य है। समष्टि-व्यष्टिभाव जीव में है क्योंकि कार्यभूत उपाधि में ही समूह-समूही की व्यवस्था संभव है। कारणोपाधि में कार्य विभक्त ही नहीं तो न वे व्यष्टि हैं, न उनका समुदाय कोई समष्टि समझी जा सकती है। जीव होने पर भी समष्टिभाव में हिरण्यगर्भादि सर्वज्ञ-सर्वशक्ति है, व्यष्टिभाव में सर्वज्ञतादि नहीं होते। त्रिमूर्ति को यहाँ समष्टि स्तर का माना। कहीं-कहीं इन्हें ईश्वर का रूप बताते हैं। क्योंकि समष्टि में सर्वज्ञतादि के रूप में ईश्वरता ही व्यक्त है इसलिये अन्यत्र इन्हें ईश्वर कहते हैं, गुणरूप कार्य के सम्बन्ध वाले होने से कार्योपाधिता के चलते इन्हें जीवकोटिका कहना संगत हो जाता है।।१५२।।

सूक्ष्म की तरह स्थूल उपाधि भी समझाते हैं **ब्रह्माण्ड नामक शरीर वाले विराट् को भी सूत्रात्मा की तरह समष्टि जानना चाहिये। देव-जानवर-मनुष्य आदि शरीर वाला चेतन व्यष्टि कहा जाता है।।१५३।। परमेश्वर ही शरीरों में घुसकर माया से छिपा-सा रहता है। द्वैत मायामय होने से सत्य अद्वैत है यह समझना चाहिये।।१५४।। 'सन्मात्र नित्य' इत्यादि तापनीय श्रुति (पृ. १४७) द्वारा अद्वैत**

अध्यायपूर्त्तिः

सन्मात्रो नित्य इत्यादि श्रुत्या तत्तु स्फुटीकृतम्।
आथर्वणे तु कैवल्यप्रमुखाः श्रुतयः स्फुटाः।।१५५।।

ग्रन्थोपसंहारः

श्रुतिस्मृतीतिहासानामभिप्रायविदव्ययः।
श्रुतिव्याख्यानतस्तुष्याद् विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१५६।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचिते अनुभूतिप्रकाशे देवविद्याख्यो नृसिंहतापिनीविवरणो नाम विंशोऽध्यायः।।२०।।

अनुभूतिप्रकाशः सम्पूर्णः

आत्मा स्पष्ट किया गया है। अथर्ववेद में स्थित कैवल्य आदि श्रुतिसन्दर्भ इस विषय में और व्यवस्थित उपस्थापना करते हैं।।१५५।। विराट् और हिरण्यगर्भ दोनों कार्योपाधि हैं, दोनों समष्टि हैं। स्थूल समष्टिरूप उपाधि से चेतन विराट् कहा समझा जाता है जैसे सूक्ष्म समष्टिरूप उपाधि से वह हिरण्यगर्भ कहा-समझा जाता है। व्यष्टि सूक्ष्मों में देव-पशु आदि भेद नहीं क्योंकि जो आज देव है वही कल पशु पैदा हो जाता है! अतः व्यष्टि स्थूलों में ही ये भेद हैं। इससे आत्मानात्मविवेक के लिये सरलता हो गयी। जिन भेदों से हम स्वयं को परिच्छिन्न जान रहे हैं वे प्रधानतः स्थूल के ही हैं। जब स्थूल अत्यन्त अस्थिर होने से हम नहीं तो उन सारे भेदों के मायने ही समाप्त हो जाते हैं। सूक्ष्म भी सुषुप्ति में न रहने से तत्कृत भेद भी निरर्थक समझने पर साक्षिभाव में स्थिति सम्भव है। समष्टि-व्यष्टि देहों में चेतन एक ही है, परमेश्वर ही मानो इनमें घुसकर माया से (अविद्या से) स्वयं को छिपाये है। उस परमब्रह्मको सन्मात्रादि शब्दों से सूचित किया क्योंकि अथर्व की ही कैवल्यादि उपनिषदों में इस तत्त्व की मीमांसा हो चुकी है। मुक्तिकोपनिषत् में कैवल्य को यजुर्वेद की उपनिषत् माना है। तथापि यहाँ विद्यारण्यस्वामी और इसी तरह उपनिषद्ब्रह्मेन्द्र कैवल्य को अथर्ववेद की उपनिषत् मानते हैं। अथवा, 'आथर्वणे तु' से अथर्व में प्रसिद्ध अद्वैतप्रसंग एवं 'कैवल्यप्रमुखाः' से ग़ैरअथर्व श्रुतियों का संग्रह समझ सकते हैं। प्रधान बोद्धव्य इतना ही है कि आत्मा नित्य ही सच्चिदानन्द है। अविद्या के नशे में स्वयं को और कुछ समझने पर भी वास्तव में वही है। नशा उतारने के लिये ही साधना का विधान इस अध्याय में एवं समग्र शास्त्रों में किया गया है।।१५३-५।।

इस प्रकार अध्याय की पूर्ति करने के अनन्तर 'अनुभूतिप्रकाश' का समापन करते हैं। अध्याय ८ से यह ग्रंथ प्रारम्भ हुआ था। पूर्व के सात अध्यायों को 'चतुर्वेदविद्याप्रकाश' नाम से एकत्र किया था। प्रत्येक अध्याय के समर्पण की तरह ग्रंथ भी गुरुचरणों में समर्पित करते हैं **श्रुति, स्मृति और इतिहासों के अभिप्राय के जानकार स्वयम् अव्ययरूप विद्यातीर्थ नामक साक्षात् शिव, श्रुतियों की इस व्याख्या से सन्तुष्ट हों।।१५६।।** आचार्य की शास्त्रज्ञता एवं परमेश्वरनिष्ठाका कथन किया। अभिप्रायज्ञता आचार्य की विशेषता है, शब्दार्थमात्र तो कोई भी जान लेता है, तात्पर्य का जानकार दुर्लभ है। तात्पर्य परमेश्वर ही है, उसी में सदा स्थित होने से आचार्य को अव्यय कहना बनता है। ईश्वर ही गुरुमूर्ति धारण करता है यह आगमादि की मर्यादा है अतः उन्हें महेश्वर के रूप में सर्वत्र स्मरण किया। उपनिषदों की यह पद्यबद्ध व्याख्या उनके सन्तोष का हेतु बने यह ग्रंथकार की प्रार्थना है। आचार्य सदा सन्तुष्ट रहने पर भी स्वयं को ज्ञात तत्त्व के समुचित उपस्थापन को देखकर समधिक प्रसन्न होंगे यह शिष्यभाव से आचार्य विद्यारण्य का कथन है। आचार्यतुष्टि से अन्य किसी दृष्ट-अदृष्ट- प्रयोजन को विद्यारण्यस्वामी नहीं स्वीकारतेयों अपनी कृतार्थता भी प्रकट की।।१५६।।

इस प्रकार ऐतरये, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, मुण्डक और प्रश्नइस सप्ताध्यायी रूप विद्याप्रकाश और तदनन्तर कौषीतकी, मैत्रायणी, कठ, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक, केन और नृसिंहोत्तरतापनीयइस त्रयोदशाध्यायीरूप अनुभूतिप्रकाश; यों बीस अध्यायों वाले इस स्वल्पकलेवर ग्रन्थरत्न में बारह उपनिषदों का अत्यंत संश्लिष्ट तथा सरल प्रामाणिक व्याख्यान आचार्य विद्यारण्य ने कृपापूर्वक उपलब्ध कराया।।

श्रुत्वा प्रत्यक्षरं श्रीमन्महेशाख्यगुरोर्मुखात्। अनुभूतिप्रकाशस्य व्याख्येयं निर्मला कृता।।
यतिभिर्वेदतात्पर्यचिन्तया कालयापनम्। क्रियते धर्मबुद्ध्यैव तत्पुण्यं सर्वमर्पये।।
कृपयतु जगदीशो हेतुना क्लेशहेतून् अपगमयतु बुद्धिं निर्मलां स्वीकरोतु।
प्रकटयतु महेश! प्राक्समर्चाप्रयास-स्मरणजनिततुष्टिं स्वीयसन्तोषकारिन्।।

।। बीसवाँ अध्याय।।

अनुभूतिप्रकाश सम्पूर्ण

श्लोकानुक्रमणिका

अ

	अ.	श्लोक	पृ. सं.
अकामतः क्रिया काचित्	१३	२७७	१२६५
अकामयत सृष्ट्यादौ	२	६२	२५६
अकारं जागरोऽप्येतं	२०	७२	१८००
अकारकस्वभावत्वम्	१८	१७०	१६५४
अकारादिषडङ्गेषु	२०	१२८	१८१६
अकारार्थं मन्त्रराज	२०	११२	१८१३
अकारार्थमजत्वाद्यैः	२०	१३०	१८२०
अंकारेऽस्मिंश्चतुर्भेदे	२०	६६	१७६८
अकृत्स्नत्वं यथास्य स्याद्	१३	१३७	१२२०
अक्षयोगात् तथा देह	१८	७३	१६१८
अक्षरं नाशहेतूनाम	७	७०	७०२
अक्षरं स्वात्मसंयोगात्	१७	२७६	१५६५
अक्षरस्य प्रशास्तृत्वं	१७	२७३	१५६२
अक्षरात्मा स्वयंज्योतिः	६	५२	६१२
अक्षाधिष्ठातृदेवेषु	१६	२६	१७३२
अक्षिच्छाया देहजन्या	५	३०	५१२
अखण्डैकरसं ब्रह्म	६	७३	६३३
अखण्डैकरसं भूमा	४	५५	४५६
अखण्डैकरसस्यांशः	१०	७२	८८६
अखण्डैकरसानन्दः	८	६६	७६०
अखण्डैकरसे तत्त्वे	१६	५८	१७५०
अग्निर्यथैकः	११	८७	१००४
अग्निवद्वायुरप्यत्र	१६	८४	१७६०
अग्निहोत्रं जुहोत्यादौ	६	३४	५६४
अग्नेरर्चिर्यथा भास्वत्	१४	१०१	१४४५
अगौणतापरोक्षोक्त्या	१७	७६	१४६४
अङ्कुरोत्पादकं बीजं	६	२३	५८६
अङ्गिराः शौनकायैतत्	६	६६	६५८
अङ्गुष्ठमात्रहृन्निष्ठः	१२	८८	१११०
अचिन्त्यशक्तिर्मायातो	३	४२	३४७
अचिन्त्यशक्तिश्चिन्निष्ठा	१३	२३६	१२७६
अचिन्त्याः खलु ये भावा	१३	७३	११८३

	अ.	श्लोक	पृ. सं.
अचिन्त्याः खलु ये भावा	१७	२००	१५२६
अचेतनं शरीरं तत्	१०	५७	८७६
अचेतनोऽपि बुद्ध्यादिः	१८	७०	१६१७
अचेतनो यथा तन्तुः	१४	५७	१३२६
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयं	४	४२	४४६
अजं ध्रुवं मायिकैस्तैः	१२	४६	१०६८
अजडात्मवदाभान्ति	८	४०	७५३
अजातशत्रुतामेमि	६	६६	८३६
अजातशत्रु मैत्रेयी	१३	२८५	१२६८
अजातशत्रुर्यां विद्यां	१४	१२०	१३५६
अजातशत्रुरध्याये	१४	१	१३००
अजातशत्रुर्बालाकिं	६	७१	८३८
अजातशत्रुर्ब्रह्मात्म	६	३	७६३
अजातशत्रुर्ब्रह्मात्म	१४	२	१३००
अजातशत्रू राजा तं	६	७	७६७
अर्ज्यते सुष्ठु यन्मुक्ति	१६	६६	१७६६
अज्ञातं संशयज्ञातं	१६	४५	१४२२
अज्ञात आत्मा वेदान्त	१५	१७	१३६६
अज्ञातज्ञातयोः साक्षी	१६	४४	१७४३
अज्ञातत्वं पुरा प्रोक्त	१३	१८०	१२४५
अज्ञातत्वात्प्रमाणेन	१३	८७	११६३
अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य	१३	१०४	१२०३
अज्ञानकल्पितो देहः	१	८२	८२
अज्ञानकार्योऽहंकारो	६	२८	८०८
अज्ञानमात्रतो बन्धः	१७	२७०	१५६१
अज्ञानमिश्रणाभावात्	१०	५६	८७८
अज्ञानमृत्योर्विज्ञानम्	१७	२८	१४४१
अज्ञानात्मन्यशेषेण	१३	७०	११८१
अज्ञोऽहमिति तादात्म्यं	६	५६	६१६
अणुत्वं वस्तुनः प्रोक्तं	३	१०६	३८४
अणोरणीयान् दुर्लक्ष्यः	१२	६०	१०८२
अण्डसूत्राव्याकृताख्या	२०	१८	१७७६
अण्डारंभकभूतानां	१७	१६६	१५२६

अण्डारंभकभूतानां	१७	२३८	१५४६
अण्डोर्ध्वाधोमध्यदेशान्	१७	२३७	१५४६
अतःसमाख्यया सुप्तौ	१४	३९	१३९९
अत एव हि जिज्ञासु	१८	२९२	१६९७
अत एवातिवादित्वं	४	३२	४३५
अतद्व्यावृत्तिरूपेण	२०	४५	१७८९
अतस्करः सत्यसंधः	३	१३६	४०६
अतस्ते मेऽखिलस्यापि	१७	२१९	१५३७
अतिमूढो धनार्थी सन्	११	११	९३८
अतिरोहितसंवित्कः	१४	११३	१३५२
अतीतजन्मवृत्तान्तं	१८	९८	१६२२
अतो दृष्टिद्वयं वाक्ये	१७	१२०	१४९०
अतोऽन्यदार्तमित्याह	१७	१३१	१४९५
अतोऽन्यदार्तमित्येष	१७	१८६	१५२३
अतोऽप्रविष्टदृष्ट्यर्थं	१३	१३५	१२१९
अतो बुद्धिमतो बोद्धुं	८	१०	७३२
अतो ब्रह्मत्वयोग्यस्य	१७	७३	१४६२
अतो मात्रादिसंभेदो	१४	११५	१३५४
अतो विदित्वेति वाक्यं	१८	३०७	१७०२
अत्यन्तभेदाभावेऽपि	१८	२८६	१६९५
अत्येति योऽशनायादीन्	१७	१४२	१४९९
अत्येति योऽशनायादीन्	१७	१५७	१५०९
अत्राधिपतिशब्देन	१६	२४	१४१५
अत्रान्यज्योतिषोऽभावात्	१८	११०	१६३३
अत्रैवोपासकस्यास्य	११	११७	१०३४
अत्रोपायो नास्ति कश्चित्	८	३४	७४८
अथ तत्त्वविदःप्राणाः	१७	३०	१४४२
अथ तुर्यं चतुर्भेदं	२०	७३	१८००
अथर्वणे तापनीये	२०	१	१७६९
अथर्वणे पिप्पलादः	७	१	६५९
अथवात्रेतिशब्दौ द्वौ	१४	१११	१३५०
अथवा मन्त्रराजे धीः	२०	८०	१८०३
अथ संपद उच्यन्ते	१७	७	१४३०
अथ स्वबुद्धिदोषेण	२	९५	२४७
अथाध्याये चतुर्थे च	१३	२८४	१२९८
अथापवादो जगतः	२	४१	१६८
अदर्शनं सर्वथेति	१८	१६२	१६५०
अदर्शने त्वहंकारः	१९	२९	१७३५
अदृष्टत्वाश्रुतत्वादि	१७	२२८	१५४१
अदृष्टप्रतिबन्धो यः	१२	७४	१०९६
अदेहा वृष्टिसिद्ध्यर्थं	५	५१	५३२
अद्वयानन्दरूपत्वं	१४	५४	१३२५
अद्वयानन्दरूपात्मा	१	३६	४२
अद्वये भाविते तत्त्वे	१२	२९	१०५४
अद्वितीयमधिष्ठानं	१३	१०३	१२०२
अद्वैतत्वं दृष्ट्यलोपः	१८	२५	१५९५
अद्वैतमनुभूयास्मिन्	१०	१३२	९१८
अद्वैतमपराधीनं	९	६९	८३७
अद्वैततत्त्वबोधाय	९	४३	८१८
अधश्चोर्ध्वं दिशः सर्वाः	१२	८३	११०६
अधिकारी साधितः स्यात्	१३	६३	११७३
अधिकारो यस्य यावान्	१३	३६	११५८
अधिभूताधियज्ञादि	१७	१४	१४३४
अधिष्ठातृवियोगेन	१७	४३	१४४८
अधिष्ठानतया ब्रह्म	१०	१०९	९०३
अधिष्ठानत्वमन्तस्त्वं	१४	३३	१३१६
अधिष्ठानारोप्यभागौ	१८	२३०	१६७५
अध्यात्मं यश्च शारीरः	१६	६	१४०८
अध्यात्ममधिदैवं च	१४	४	१३०१
अध्यात्ममधिदैवं च	१४	८६	१३३९
अध्यात्ममधिदैवं च	२०	२७	१७८२
अध्यात्ममधिभूतं च	१७	२	१४२७
अध्यात्मादिविभागेन	१७	६८	१४५९
अध्यापकः प्रदोषेषु	१०	६८	८८३
अध्यायस्य तृतीयस्य	१३	४	११३६
अध्यारोपापवादाभ्यां	२	४०	१६७
अध्यारोपो मायिकोऽयं	१	१८	२७
अध्यासवारिका बुद्धिः	१९	३०	१७३५
अनधीतो यथा वेदः	१३	२५०	१२८२
अनन्तकल्पोपचिता	१४	९७	१३४४
अनन्यानुभवेनैव	१४	११४	१३५५
अनन्वागमने हेतुः	१८	१२८	१६४०
अनश्वरात्मतत्त्वस्य	५	४३	५२५
अनात्मन्यरुचिश्चित्ते	१५	८	१३६१
अनात्मविन्महत्पुण्यं	१३	२५३	१२८३
अनात्मा प्रिय इत्येवं	१३	१९३	१२५३

अनात्मा भोगकालेऽस्य १३ १९४ १२५४
अनारब्धफलं कर्म १७ ३२ १४४३
अनारब्धानि कर्माणि ६ ९४ ६५२
अनिच्छस्येदृशस्यैतत् १० ६५ ८८२
अनिर्देश्यं तमानन्दं ११ ९३ १०१०
अनिर्वाच्येऽपि युक्तिं चेत् १२ १८ १०५०
अनुगृह्णन्ति वागादीन् १७ ४१ १४४७
अनुगृह्णन्ति यः पूर्वम् १८ २०९ १६६८
अनुज्ञेत्युच्यते मुक्तिः २० ४३ १७८८
अनुभूतिप्रकाशेऽथ ८ २ ७२४
अनुभूत्यवसेयोऽहं १३ २११ १२६५
अनुमायात्र कार्येण ३ ९२ ३७६
अनूद्य साक्षिणं प्रोक्तं २० १३१ १८२०
अनृतोऽप्येष सत्यस्य ४ ३० ४३४
अनेकवासनाचित्रं १४ ९२ १३४१
अनेन ब्रह्मणा किञ्चित् १६ ३८ १४१९
अनेनैतद् वेद सर्वम् १३ १८१ १२४५
अन्तःकरणभागौ द्वा १ १४ २२
अन्तः प्रविष्टः शास्तेति १२ १२० ११३३
अन्तरालोकयुक्तः सन् १७ ६२ १४५७
अन्तरङ्गतरा ये ते १८ ३१५ १७०६
अन्तरत्वेन भूमिष्ठ १७ २१४ १५३५
अन्तरेणाऽपि सम्बन्धं १८ १६९ १६५३
अन्तर्दृष्ट्या विवेकी तु २ २८ १५२
अन्तर्धानादिशक्तिश्चेत् १० १८ ८५२
अन्तर्मुखस्य विस्पष्टो १७ ८८ १४७२
अन्तर्मुखोऽहं पश्यामि ११ ३१ ९५७
अन्तर्यामिणि बुद्धेश्च १७ २६० १५५७
अन्तर्याम्येक एवेशः १९ १५ १७२२
अन्तरेणापि संबन्धम् १८ १६९ १६५३
अन्धकूपस्थितो भेक १० २२ ८५४
अन्नजो देह एवात्मा २ ५० १७९
अन्नप्राणमनोविज्ञा- २ ८१ २३३
अन्नभोगायात्मदेहान् १ ९ १४
अन्नेन पुष्टे मनसि ३ ७० ३६४
अन्ने सृष्टे भोक्तृवर्गः १ ११ १७
अन्यज्ञानेन नान्यस्य १३ १८२ १२४६
अन्यत्र जन्म चेत् तर्हि १० १०३ ९००
अन्यथात्मनि कौटस्थ्यात् १८ ४३ १६०४
अन्यथा निखिलं वेदं ८ ५० ७५९
अन्यथैनां स्त्रियं हन्यात् १ ४८ ५६
अन्यदेहस्य या छाया ५ १९ ५०४
अन्यस्मिन् हि महिम्न्यन्यः ४ ६१ ४५९
अन्येन कस्त्वमित्येवं २० १३४ १८२१
अन्यैरपीन्द्रियैर्गम्यम् १९ ५४ १७४८
अन्यो देवोऽहमप्यन्य २० ८९ १८०६
अन्योऽपि यस्तमात्मानम् ५ ९५ ५६१
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां १३ २४ ११४९
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां १७ ३०३ १५७७
अन्वेष्यः परमात्मायम् ५ ८ ४९५
अपञ्चीकृतभूतानाम् १७ २१० १५३३
अपञ्चीकृतभूतैर्यत् १० १०५ ९०२
अपरायत्तबोधाख्य १५ ६३ १३८९
अपरायत्तबोधोऽत्र १५ २४ १३७३
अपरा वेदविद्या तु ६ ३१ ५९२
अपि भूरिपशोः पुंस १३ २४४ १२७९
अपुमर्थमिदं प्राप्तं १७ ७९ १४६७
अपूर्वानपरामध्य १६ २० १४१४
अपोदितत्वात् जात्यादि १५ ३६ १३७८
अप्कञ्चुकं ब्रह्म पृथ्वीम् ३ ४८ ३५२
अप्युत्पन्नात्मबोधानाम् १३ ३५ ११५७
अप्रमत्तोऽखिलाक्षाणि ११ १०४ १०२५
अप्रयोजकनामैव १७ ३६ १४४५
अप्रविष्टस्वभावोऽयं १३ १२० १२११
अबाध्यो यः स एवात्मा ३ ११० ३८४
अबुद्धमात्मनस्तत्त्वम् १३ ६७ ११७९
अब्धावस्तं यान्ति नद्यः ६ ९५ ६५३
अब्धिस्थानीयमैकात्म्यं १५ ७२ १३९२
अब्रह्मत्वभ्रमापायो १० ४८ ८६९
अब्रह्मानात्मताहेतौ १३ २०८ १२६३
अभावशेषो नाशङ्क्यः १७ २५९ १५५६
अभिज्ञोऽप्यज्ञवद्भेदम् १५ ९१ १३९९
अभितो ब्रह्मरूपत्व- १२ २८ १०५४
अभिमानः पूर्वमासीत् १८ २६२ १६८५
अभिमानोऽपि धीवृत्तिः ८ ७७ ७७४
अभीष्टविषये लब्धे २ २६ १४८

अभूतां वत्सरांशौ द्वौ	७	१२	६६७
अभेदो वास्तवो जीव	१७	८२	१४६६
अमूढो याज्ञवल्क्योऽत्र	१७	८६	१४७१
अमूर्तकारणं देहं	५	४०	५२३
अमूर्तामृतसंव्याप्त	१४	८८	१३३६
अयमात्मेति निर्देशः	१६	१८	१४१३
अयमित्यभिधायोग्यः	१८	५७	१६१०
अयमेव स इत्यत्र	१६	१०	१४१०
अयमेव स इत्युक्त्या	१६	११	१४१०
अयोगं परलोकस्य	१८	६४	१६२८
अरणिस्थो यथा वह्निः	४	४६	४५१
अरुचिप्रतिबन्धस्य	१८	३०४	१७०२
अर्थक्रियानृतेऽप्यस्ति	१	२८	३६
अर्ज्यते सुष्ठु यन्मुक्ति	१६	६६	१७६६
अर्थावुग्रादिशब्दानां	२०	१२३	१८१७
अर्थासंभावनोच्छेदी	१५	२३	१३७३
अलौकिकात्मा ज्ञेयोऽस्तु	८	११	७३२
अल्पद्वारे स्वामिभक्तो	६	४६	८२०
अवच्छिन्नश्चिदात्मासौ	१०	६२	८६४
अवच्छिन्नो भवेज्जीवः	११	४३	६६८
अवशिष्टोऽयमात्मासा	१०	२८	८६०
अवस्थास्तिस्र एतास्तु	२०	४४	१७८८
अवाङ्मनसगम्यं तद्	१६	४६	१७४३
अवाङ्मनसगम्यत्वम्	१६	६६	१७६८
अवाङ्मनसगम्यस्य	२	६२	१६७
अवाङ्मनसगम्योऽयम्	२०	७८	१८०२
अविकल्पे तत्र चित्तं	२०	१०३	१८१०
अविचारविचाराभ्यां	१७	१४४	१५०१
अविचारितरम्यस्य	१३	२३३	१२७३
अविचारेण पुत्रादौ	१५	१३	१३६६
अविज्ञातनिदानेन	१३	६५	११७६
अविद्यापटसंवीत	१३	५२	११६७
अविद्याकल्पितोपाधि	१२	८१	११०४
अविद्याकामकर्माख्य	१८	८६	१६२३
अविद्याकृतजीवत्वं	१२	८६	११०८
अविद्याकृतमीशत्वं	१२	८५	११०७
अविद्या तु स्थिताप्यत्र	१८	१३६	१६४३
अविद्यादिनिवृत्तिश्च	१८	२६६	१६८८
अविद्याधीनजीवेशौ	१२	६१	१११३
अविद्याध्वस्तिमापेक्ष्य	१८	२५७	१६८४
अविद्यान्वयवद् बुद्धेः	१८	४०	१६०३
अविद्यापटसंवीतः	१३	५२	११६७
अविद्यारोपनिह्नुत्यै	१३	२०३	१२६०
अविद्यां विनिवर्त्त्यैष	२०	१११	१८१३
अविद्यावृत्त्यवच्छिन्नं	२०	३३	१७८४
अविद्यायां विनष्टायां	१५	६०	१३६६
अविद्यायाः परं पारं	७	६८	७२१
अविद्या संसृतेर्मूलं	६	४१	५६७
अविद्वदधिकारित्वात्	१३	४४	११६३
अविद्वद्विषयः प्रश्नः	१७	४०	१४४७
अविनाशोऽखिलानन्द	१३	२५८	१२८६
अविविक्तस्तु देहाद्यै	१३	२०२	१२५६
अविवेकविवेकौ द्वौ	११	८	६३७
अविशुद्धधियः कर्म	१७	१७४	१५१७
अविश्वासात् कुतर्काद्वा	११	१५	६४२
अवेत् सोपाधिरात्मायम्	१३	२०१	१२५६
अव्यग्रो निस्पृहस्तूष्णीं	१०	६८	८६६
अव्याकृतं यत् पूर्वोक्तं	१३	६१	११६५
अव्याकृतव्याकृतयोः	१३	१७८	१२४३
अव्याकृतस्य जगत	१३	७१	११८१
अव्याकृतवचस्त्वेवं	१३	८२	११८६
अव्यावृत्ताननुगतं	१७	७८	१४६६
अव्यावृत्ताननुगतं	१८	१७३	१६५५
अव्यावृत्ताननुगतः	१३	१५१	१२२६
अव्यावृत्ताननुगतः	१७	३०६	१५८१
अशक्यं यत् सुखं वक्तुं	१२	१०५	११२४
अशनायापिपासोक्त्या	३	८८	३७६
अशनायादिरहित	१७	१३६	१४६७
अशनाया जनैः प्रोक्ता	३	८६	३७६
अशनाया मुखेनेत्थं	३	६८	३८०
अशरीरं शरीरेषु	११	३७	६६२
अशरीरं साक्षिणं तु	५	४७	५२६
अशाश्वतं शरीरं मे	१०	३	८४३
अशेषान् कल्पितानेष	१४	२२	१३११
अशेषानर्थरूपस्य	१३	६५	११७७
अश्लेषनाशौ विदुषः	३	१३१	४०१

अश्वमेधकृतो वक्ति	१७	५७	१४५५
अश्वमेधादि यत् पुण्य	१७	५३	१४५४
अश्विनोर्युवयोरुग्र	१६	३१	१४१७
अश्वेन याति पुरुषः	४	२१	४२६
अष्टमब्राह्मणे ब्रह्म	१७	२३५	१५४४
असंसार्ययमात्मा	५	२	४८६
असकृत् स्वप्नबुद्धान्त	१८	१३४	१६४२
असदेवेदमग्रेऽभूत्	२	११४	२७७
असमाप्तेः पुमर्थस्य	१८	४	१५८५
असंभवे तु जायादेः	१३	२८०	१२९६
असंभाव्यं न मायायां	२	१०२	२६१
असङ्गस्यापि संभाव्यं	१८	११६	१६३५
असत्यो देह उदितः	१४	६४	१३२९
असाधारणदेहस्य	१३	१३	११४१
असुराणां स्वात्मताप्ता	९	६८	८३७
अस्ति चेदनवस्था स्यात्	१७	२६	१४३९
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद	२	९०	२४०
अस्ति भाति प्रियं चेति	२	११६	२७९
अस्तीति शब्दबुद्धी द्वे	३	३५	३४३
अस्तीत्येवोपलब्धव्यः	११	१०६	१०२७
अस्पष्ट ऊह्य आत्मा तु	१७	१२६	१४९३
अस्मिन्नर्थे सर्वलोक	१८	२११	१६६९
अस्मिन्नर्थे साक्षितुल्या	५	५०	५३२
अस्मीति वर्तमानोक्तेः	१३	२१२	१२६६
अस्य सर्वस्य जगतः	१३	१७६	१२४१
अस्यां पृथिव्यां यः	१६	५	१४०८
अस्येति वासनारूपः	१८	३७	१६०१
अहं धीकर्मशास्त्राभ्यां	१७	७२	१४६२
अहं पश्याम्यहं वच्मि	१	७१	७६
अहं प्राणिम्यहं वच्मि	१३	१२८	१२१५
अहं ब्रह्मास्मि नो जीवः	१३	२०६	१२६२
अहं यज्वा वाजपेय	६	४३	६००
अहं वैश्वानरो भूत्वा	१०	८३	८९०
अहं शब्दश्चिदात्मानं	४	७१	४७०
अहं शब्दे प्रत्यगात्म-	२०	१३५	१८२१
अहङ्कर्तृगतं पापं	८	२१	७३६
अहङ्कर्ता वपुर्व्याप्य	१	७६	८०
अहङ्कर्तेत्यदोऽज्ञानं	२	६५	२०१
अहङ्कारचितोरैक्य-	११	११३	१०३२
अहङ्कारश्च चिच्छाया	१	३८	४५
अहङ्कारस्तु चैतन्य-	३	५३	३५४
अहङ्कारस्य कर्तृत्वं	६	६७	६२६
अहङ्काराद् विविक्तश्चे-	१०	४५	८६८
अहङ्कारे चिदाभासः	१०	११७	९०८
अहङ्कारेण चैतन्यं	११	११२	१०३१
अहङ्कारे भौतिके यत्	१०	१०७	९०२
अहङ्कारोऽत्र चिद्युक्तः	१०	३३	८६२
अहङ्कारोपाधिरात्मा	९	२३	८०५
अहङ्कारो मनो बाह्यं	१	९०	८७
अहङ्कारो मायिको यः	९	५५	८२८
अहङ्क्रियत इत्येषः	२	६६	२०२
अहमन्नं तथान्नादः	२	१४४	३०७
अहमित्येव नामास्य	१३	११	११४१
अहोरात्रादिकालास्तु	२	१४८	३१३
आ			
आकारा वृष्टिकालात् प्राग्	५	५२	५३३
आकाशवत् सर्वगोऽतः	६	१४	५८०
आकाशवायू प्राक् सृष्टा-	३	४५	३४६
आकाशादिजगत्सर्वं	२	८	११३
आकाशादिपदार्थास्तु	५	७	४९२
आकृत्याधारभागो यो	३	७	३२२
आकृत्याधारयोस्तुल्यं	३	१०	३२४
आकृतेर्यद्वदज्ञाने	३	९	३२२
आक्रम्य यादृग् देहादि	१८	९९	१६३०
आख्यानान्येतदीयानि	१३	२८७	१२९८
आख्यायिकां परित्यज्य	१८	३२०	१७०९
आगमापायिधर्मौ यौ	२	११८	२८०
आगमैकाधिगम्योऽयम्	१७	५५	१४५५
आगमोक्ता वैखरी तु	२०	६६	१७९७
आचख्युर्मयटं केचित्	१८	५९	१६११
आचार्यशिष्ययोर्दोषान्	११	१४	९४१
आचार्याच्चागमाच्छ्रुत्वा	१७	१७८	१५१६
आचार्योऽपि कथं ब्रूयात्	१६	३७	१७४०
आत्मरूपमकामं यत्	१८	१५३	१६४८
आत्मच्छायं पयोऽशेषं	१८	७१	१६१७

आत्मच्छायापि मनसा ३ ८३ ३७२
आत्मत्वं मनसो बुद्ध्वा २ ६० १९३
आत्मनःप्रतिबिम्बो यः ५ ४५ ५२७
आत्मन्यदृष्टवशतो १८ १५९ १६५०
आत्मन्यानन्दमज्ञात्वा १ ६६ ७०
आत्मन्येव रतिं कुर्यात् ६ ७८ ६३७
आत्मनोऽनवशेषेण १३ १७३ १२३९
आत्मनोऽनवशेषेण १७ ९५ १४७७
आत्मनो दर्शनेनेदं १५ २७ १३७४
आत्मनो द्रव्यभूतस्य १४ ९५ १३४३
आत्मनो ब्रह्मता मुख्या १७ ८३ १४७०
आत्मन्यध्यारोप एवं १० १४५ ९२७
आत्मन्येवं प्रबुद्धे ऽस्मिन् १८ ७५ १६१९
आत्मबुद्धिमनश्चक्षुः १८ १११ १६३४
आत्मरूपमकामं १८ ५३ १६४८
आत्मशब्दधियोरात्मा १३ १५५ १२२८
आत्मस्वभावो निःशेषं १८ १३८ १६४३
आत्माज्ञानसमुच्छित्तौ १८ ७६ १६२०
आत्माज्ञानमनर्थानां १३ ६५ ११७६
आत्मात्मवत्त्वसंबन्धः १७ ९३ १४७६
आत्मात्मवत्त्वसंबन्धः १७ २८९ १५७१
आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तं १६ १३ १४११
आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्त्या १५ २१ १३७१
आत्मानं मन्त्रराजेन २० ८१ १८०३
आत्मानन्दं क्षणं भुक्त्वा १ ६७ ७२
आत्मानन्दसमुद्रस्य १ ६५ ६९
आत्मानमेव तदवेत् १३ २०४ १२६१
आत्मानमेव निर्द्वैतम् १३ २५६ १२८५
आत्मा निरूह्य प्रत्यूह्य १७ २९४ १५७३
आत्मा ब्रह्मेतिवाक्यार्थे २० १३८ १८२१
आत्माभासः पराचीना १३ १४९ १२२५
आत्मामृतब्रह्मसर्व १६ १४- १४११
आत्माविद्या तदुत्थं वा १८ ३५ १६०१
आत्मा वै पुत्रनामासी २ ४२ १७१
आत्मा सर्वस्वरूपत्वात् १७ ९४ १४७७
आत्मा सर्वेषु देहेषु ११ ५४ ९७६
आत्मा सलिलवच्छुद्धः १८ १६८ १६५३
आत्माहंकारदेहाभ्यां १० ४४ ८६७
आत्मेत्यव्यभिचारेण १७ ९० १४७३
आत्मेत्येवं प्रबुद्धेऽस्मिन् १८ ७५ १६१९
आत्मेत्येवमुपासीत १३ १४३ १२२३
आत्मेदं बुद्धिगम्यैस्तैः ४ ३१ ४३४
आत्मैवसृष्टेः प्रागासीत् १ २ ०५
आत्मैवास्येति देहादेः १८ ४८ १६०६
आत्मैवेत्येवकारेण १८ ३६ १६०१
आत्मोपलक्षकः प्राणः ४ २९ ४३४
आत्यन्तिकोऽयं प्रलयः १५ ७९ १३९४
आदाय वासनां स्थूले १८ १०६ १६३२
आदित्य उद्यन् भोक्तृणां ७ ९ ६६६
आदित्यचन्द्रविद्युत्सु ३ ५९ ३५७
आदित्यरथगत्याध्व १७ ६० १४५७
आदित्यादिरनात्मार्थः १८ ४५ १६०५
आदेशो नेतिनेतीति १४ १०८ १३४८
आधारनाभिहृदय- २० ९१ १८०६
आधारभागमात्रेऽपि ३ ८ ३२२
आनखाग्रमहंकारः ८ ८२ ७७७
आनखाग्रेभ्य इत्युक्त्या १३ १११ १२०६
आनन्दः परमोऽस्यैव १८ १७८ १६५७
आनन्दः परमोऽस्यैष १८ १७९ १६५७
आनन्दं ब्रह्म विज्ञाय २ ८३ २३३
आनन्दबिन्द्वभिव्यक्ति- १३ २६५ १२८८
आनन्दमयकोशेऽपि २ ८९ २४०
आनन्दमयकोशेऽस्मिन् २ ८४ २३५
आनन्दरूपं हृत्कोशे ६ ६९ ६३०
आनन्दस्य समाप्तिर्या १३ १८७ १२४८
आनन्दस्यात्मता युक्ता २ ७४ २१६
आनन्दहेतवो बाह्या २ २५ १४७
आनन्दाज्ञानयोः सुप्तौ ४ ४८ ४५०
आनन्दैकरसं नित्यम् २० ५७ १७९५
आनन्दैकस्वभावम् स्वम् १७ १७० १५१५
आनन्दैकस्वभावोऽपि २ ७५ २१८
आनाभितस्तथा कण्ठात् १४ ४७ १३२३
आन्ध्यरोगादयो दोषा ५ ३६ ५२०
आपादयेयुः शब्दादीन् १३ १६४ १२३३
आपिष्यापिष्य बहुशः १४ १५ १३०७
आप्तकामत्वतः सिद्ध्येत् १८ २५० १६८२

आप्राणमित आरभ्य ४ ६ ४१६
आभिमानिकमेवेदं ४ ७० ४७०
आयुर्मरणयोर्हेतौ २ ५३ १८४
आयुष्यमममृतत्वं च ८ ४२ ७५६
आराममेव मायोत्थं १८ ११८ ११३६
आरोपात् पूर्वमूर्ध्वं च ३ १७ ३२८
आरोपितस्य सर्वस्या- १० १४७ ९२८
आरोपिताः कला यस्मिन् ७ ८७ ७१४
आरोपबाधिते बोधात् ८ ९२ ७८४
आलोके व्यञ्जके यद्वत् १८ ८२ १६२२
आलोचयेत् स्रजस्तत्त्वम् १३ २० ११४५
आलोचयन् यथा तत्त्वं १३ २१ ११४६
आविर्भावतिरोभावौ १६ ८६ १७६३
आविर्भावोऽपरोक्षत्वं १७ ७७ १४६५
आविर्भूतं स्वयं भानात् ६ ५७ ६१७
आश्वलश्चार्तभागश्च १३ २८६ १२९८
आसीत् प्रजापतिर्मासः ७ १५ ६७०
आसीदिति च सत्तत्त्वं १३ ८१ ११८६
आहात्मशब्दः प्रत्यञ्चं १५ १५ १३६८

इ

इक्षौ रसोऽस्त्यजीषं च ३ २१ ३३१
इति चेत् सन्तु सर्वेषां १० १७ ८५२
इच्छात्मकं मनोवाचो ४ १० ४२०
इति चोदयितुं यत्र १३ २२१ १२७०
इति तत्त्वमनूद्यास्य १७ २९३ १५७३
इति भ्रमं व्युदसितुं १७ १७३ १५१७
इति मत्वाऽऽह्वयत् प्राणं ९ १२ ७९६
इति शङ्कानिवृत्त्यर्थं १७ २३१ १५४२
इति शङ्कोत्तरं प्रोक्तं १३ १६८ १२३७
इति शब्देन चिद्भास्यम् १४ १०६ १३४८
इति शब्देन निर्दिष्टे १७ २८८ १५७०
इति शास्त्रमवेक्ष्यात्र १९ ४ १७१४
इति श्रुत्यन्तरे प्रोक्तः २० ६२ १७९६
इत्थं बोधितवानेषः १० १०० ८९९
इत्थंभावे तृतीया स्यात् १८ १०६ १६३३
इत्थं योगविवेकौ द्वौ २० ५३ १७९३
इत्थं विवेचितश्चात्मा १० १४६ ९२७
इत्थं संसारदुष्टत्वं १ ७० ७५
इत्थं सर्वात्मकं ब्रह्म १ ३७ ४४
इत्थं स्वप्नप्रसंगेन १८ १३५ १६४२
इत्थं स्वानुभवाद्याज्ञ १७ ९६ १४७८
इत्थमद्वैतबोधार्थं ९ ६२ ८३३
इत्थमादेयविद्यायाः १३ २३७ १२७५
इत्यभिप्रेत्य तेनोक्तम् १७ १३७ १४९८
इत्यभिप्रेत्य साष्टाङ्गं १० ४ ८४३
इत्यविद्यासूत्रयुक्तो १३ २८२ १२९७
इत्यव्याकृतवाक्यार्थः १३ ८९ ११९४
इत्याचार्या ब्रह्मबोध ५ ७९ ५४६
इत्यात्मशब्दे सूत्रार्थो १३ १६१ १२३२
इत्यात्मानं विविच्याथ २० ६३ १७९७
इत्याशङ्कापनुत्त्यर्थ १३ १७० १२३८
इत्युक्तं व्याकृतं सर्वं १३ १४२ १२२२
इत्युपेक्ष्य गुरुस्तस्थौ ५ २७ ५१०
इत्येतत् सर्ववेदान्त १८ २५८ १६८४
इत्येतद् विशदीकर्तुम् १८ २३६ १६७८
इत्येवं परवस्त्वेव १५ ७५ १३९२
इत्येवमनिदं रूपं १४ ११८ १३५५
इत्येवमपरायत्त १५ १०२ १४०४
इदं जगन्नामरूप ३ २९ ३४०
इदं नरगवाश्वादि १३ ५ ११३७
इदंमयत्वं विस्पष्टम् १८ २३५ १६७७
इदमित्यपरोक्षेण १ ४० ४९
इन्द्र ईशप्रसादार्थी १९ ८५ १७६१
इन्द्रगोपोऽतिरक्तःस्यात् १४ १०० १३४५
इन्द्रराजादिदेहेषु ५ ६८ ५४१
इन्द्रराजादिदेहेषु ५ ७१ ५४२
इन्द्रस्तु सात्त्विकत्वेन ५ ३२ ५१६
इन्द्रानुग्रहतः सोऽभूत् ८ १०० ७९०
इन्द्रियप्रेरको देवा ९ ५१ ८२३
इन्द्रियस्याप्ररूढत्वात् १४ ५२ १३२४
इन्द्रियस्योपसंहारात् १८ २१० १६६८
इन्द्रियाणां प्रवृत्तिःस्यात् ८ ४६ ७५८
इन्द्रियाणामनात्मत्व ११ १०१ १०२१
इन्द्रियाणामुपरमे २० २८ १७८३
इन्द्रियाणि बहिर्द्रष्टुं ११ ६६ ९८४

इन्द्रियाणि हया ज्ञेयाः ११ ४५ ९६९
इन्द्रियाण्येव लीयन्ते ८ ६३ ७६५
इन्द्रियादिर्विष्णुतत्त्व ११ ४७ ९७२
इन्द्रियाधिष्ठातृदेवा १९ १० १७१९
इन्द्रियाश्वास्तेन युक्ता ३ ८७ ३७३
इन्द्रियैर्विषयज्ञानम् २० २२ १७८१
इन्द्रियैः साधनैर्जीवाः १९ ८ १७१८
इन्द्रियोपाधिका भ्रान्तिः १ ३३ ३९
इन्द्रो मायाभिरभवत् २ ३३ १६०
इन्धतेऽहर्निशं यस्मात् १८ ८ १५८८
इन्धतैजससौषुप्तैः १८ १७ १५९२
इमं लोकं परं चायं १८ ९२ १६२७
इमं लोकमिव स्वप्ने १८ ९७ १६२८
इयन्तं कालमेतस्मिन् १ ६२ ६३
इयानेव प्राणिभोग १७ ६१ १४५७
इष्टस्य दर्शनाल्लाभात् २ ७९ २२८
इष्टस्य वस्तुनोऽसिद्धौ १७ १४७ १५०३
इष्टापूर्तकृतश्चन्द्रं ७ १३ ६६९
इहेत्यनेन सूत्रादि १३ १०६ १२०३

ई

ईदृक् समाधिविघ्नानां २० १२७ १८१८
ईदृग् विवेकदृष्ट्येदं १ ३५ ४२
ईदृशं यूयमाचार्यात् १९ ३९ १७४०
ईदृशः प्रतिबोधोय १९ ६८ १७५४
ईदृशोऽपीश्वरो माया १० ११० ९०४
ईदृशोऽप्यज्ञदृष्ट्यासौ १० ९९ ८९८
ईशानीशावज्ञतज्ज्ञौ १२ २६ १०५३
ईशानुग्रहयुक्तस्य ६ ८६ ६४६
ईशानुग्रहसिद्धयर्थं १९ ८८ १७६३
ईशितव्यार्थसम्बन्धात् १७ २६१ १५५७
ईशेन प्रेरितं तत् स्यात् १० १३८ ९२३
ईशो यः स्वत एकः सन् १२ ७२ १०९४
ईशो मनुष्यपश्वादि १६ ३५ १४१९
ईशोऽसाधारणं स्थानम् १ १० १६
ईश्वरानुग्रहाच्छान्ति १९ ७२ १७५६
ईश्वरानुग्रहादेव १९ ७७ १७५८
ईश्वरानुग्रहादेव ६ ८५ ६४५
ईश्वरेणास्य देहस्य ५ ८५ ५५१
ईश्वरो महिमोपेतः ९ ५३ ८२५
ईषत्कलुषता स्वप्ने ५ ५८ ५३५
ईषत्पाण्डुश्च परुषः १४ ९९ १३४५

उ

उक्तदोषद्वयास्पृष्टम् १७ २४९ १५५१
उक्तदोषनिवृत्त्यर्थम् १९ १४ १७२१
उक्तद्रष्ट्रतिरेकेण १७ २७६ १५६३
उक्तवर्त्मातिरेकेण १७ ११६ १४८९
उक्ता जाग्रदवस्थैवम् १८ ११ १५९०
उक्तास्त्वृग्जातिषूद्गात्रा १७ ११ १४३१
उक्तोपासनतः प्राप्यो १८ ६ १५८७
उच्यते तत्र पश्यन्ति १३ १२९ १२१६
उच्यते महता पुण्य १३ ३० ११५४
उत्कृष्टा अग्निवाय्विन्द्रा १९ ८७ १७६१
उत्क्रान्तिं वारयन्तस्ते ७ ३२ ६७९
उत्क्रामंति न तत्प्राणा २० ११७ १८१५
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः ५ ६५ ५३९
उत्तमा दक्षिणैषाशीः १८ २२ १५९४
उत्तमाधमभावोऽत्र ८ ९६ ७८६
उत्तमोऽयं पुमान् मूढ ५ ६६ ५३९
उत्तरात्मविवेकेऽस्य २ ९२ २४४
उत्तरेष्वपि वाक्येषु १६ १५ १४१२
उत्तरैः पञ्चभिर्देवम् २० १३२ १८२०
उत्पत्तिस्थितिकालेऽसौ १ १०१ ९४
उत्पत्तिस्थितिनाशाःस्युः १२ ३ १०३९
उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य १८ २५५ १६८३
उत्पन्नध्वंसिनो यद्वत् १० १४ ८५०
उत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य १७ १५५ १५०९
उदन्येति पिपासायाः ३ ९९ ३८०
उद्भूतिस्थितिनाशाःस्युः १४ ६० १३२६
उपचारैरागमोक्तैः २० १०० १८०९
उपदेशस्य विषयः १७ १३५ १४९७
उपनीतेन विज्ञेया ६ ६ ५७०
उपलक्ष्यं तु हस्तादि १ ९५ ८९
उपलक्षयिता जीवः ७ ६८ ७०१
उपलब्धोऽस्ति सन् कुम्भो १५ ४८ १३८२

उपाख्यानेषु सर्वेषु	१३	२८८	१२९८
उपादाननिमित्ताभ्यां	१७	३३	१४४३
उपादेयस्य मेयस्य	१३	६४	११७४
उपाधावुपलभ्यत्वं	१३	१२२	१२१२
उपाधिद्वयहीनं तु	१२	२४	१०५२
उपाधिष्वपि सर्वेषु	८	३६	७५०
उपाधिलक्षितं तत्त्वं	८	४१	७५४
उपाधीनां माययैषा	११	१०८	१०२८
उपाधेर्मनसो जाग्रत्	३	८०	३७१
उपाध्यारोहमन्वात्मा	१८	१९३	१६६३
उपासकास्तु सर्वज्ञ	१९	४८	१७४५
उपासको ब्रह्मलोकं	६	४६	६०३
उपासनाच्चित्तशुद्धौ	२	८५	२३५
उपास्तिश्रद्धया सर्वं	७	३७	६८१
उपास्तेर्महिमा तेन	१३	३	११३५
उपास्त्यैकाग्र्यमाप्त्वा	८	४४	७५७
उपायः प्रणवेनात्म	१२	३५	१०५९
उपांश्वन्तर्याऽमसंज्ञौ	१०	८०	८८९
उपेति सामीप्यवाची	१३	१५८	१२३०
उभे उहेति हेतूक्ते	१८	३१३	१७०५
उरोंसमूर्धस्थानेषु	१२	३८	१०६३
उषस्तपृष्टादन्यत्वम्	१७	१३४	१४९६
ऊ			
ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्	६	२०	५८५
ऊर्ध्वाकारे समेऽप्यस्मिन्	२	१२८	२९२
ऊहापोहात्मधीवृत्तिः	१७	१२५	१४९२
ऋ			
ऋग्वेदस्थितशाखा या	८	३	७२५
ऋगाख्यादेवाः सहसा	७	७७	७०७
ऋचो देवाश्च शब्दार्था	१२	६९	१०९१
ऋतुकाले भवेद् गर्भः	१२	८	१०४५
ए			
एकं पादं यथाश्वस्य	१३	१८५	१२४८
एकं प्रधानं द्वे पुण्य	१२	९६	१११७
एक एवेश्वरस्तादृक्	१२	५०	१०७१
एकतत्त्वे श्रुते सर्वम्	३	३	३२०
एकत्वेऽपीश्वरस्येत्थम्	१९	२५	१७३०
एकमेव मनः सर्व-	१७	२०	१४३७
एकयोनौ सकृज्जातः	१३	५९	११७१
एकस्मिन् विदिते सर्वं	६	३	५६६
एकस्य जगतोऽवस्थे	१३	७६	११८६
एकस्य कर्मणि क्षीणे	९	४२	८१८
एकस्याप्यत्र चित्तस्य	१३	१६७	१२३६
एकाकी सूर्यवद् योऽयं	१२	१०९	११२७
एकादशेन्द्रियाण्येषां	८	६२	७६४
एकादशेन्द्रियोत्पन्नः	१७	१०६	१४८३
एकादिभिः पदैर्भेद	३	३४	३४२
एकैकदेहो नरकः	१०	१२१	९१०
एकैकां वासनां तत्र	१४	९४	१३४२
एतच्छब्देन तस्याह	१७	२५०	१५५२
एतत्प्रजापतेर्वाक्यं	५	१२	४९९
एतत्सर्वं विवक्षुः सन्	१८	२७१	१६८९
एतदेव विवक्षित्वा	१४	२९	१३१४
एतदेवातिविस्पष्टं	११	६५	९८४
एतद्देहेन तादात्म्य	५	७०	५४२
एतद्वस्तु स्वतः सिद्धम्	१४	११६	१३५५
एतद्विदुर्मृत्युहीनास्ते	१२	५६	१०७९
एतस्मिन्नक्षरे गार्गि	१७	२७८	१५६४
एतस्य ब्रह्मसामीप्यम्	१३	१५९	१२३१
एतस्य वा अक्षरस्य	१७	२६२	१५५७
एतादृश्या अविद्याया	१८	३३	१६००
एतावदेव शाकल्यः	१७	२८६	१५६८
एतावन्मात्र आत्मेति	१४	९३	१३४१
एतावानेव संसारे	१३	२७९	१२९६
एतेषां विषयाः सर्वे	७	६५	६९७
एतौ प्रजापतेः शिष्या	५	२८	५११
एनं पुत्रादिभावाय	१८	२०१	१६६५
एवं कामप्रेरितः सन्	१३	२८१	१२९७
एवं च विषयानन्द	१३	२६४	१२८७
एवं चाहं प्राणितेति	१३	१३९	१२२०
एवं चिदन्वयात् सर्व	१५	४९	१३८२
एवं जीवः स्वकीयाक्षैः	९	६०	८३१
एवं देहादिवस्त्वन्त	१३	६५	११७७

एवं पृष्टः स्वानुभूतौ	१७	९९	१४८०
एवं मन्तव्य आत्मायं	१५	६२	१३८८
एवं मुमुक्षुभिश्चोद्ये	१३	१९९	१२५७
एवं विचार्य बहुशः	१३	६२	११७३
एवं विद्वान् स्वपुत्रादेः	२	१३८	३०२
एवं विरुद्धधर्मत्वात्	११	३६	९६१
एवं विवेचितं प्राणं	१४	७३	१३३३
एवं व्यवस्थितेऽप्यज्ञः	५	४८	५३०
एवं व्यवस्थिते योऽसौ	१०	४६	८७०
एवं व्युदसितुं देह	२	४५	१७४
एवं शङ्खेऽपि वीणायां	१५	४५	१३८१
एवं श्रुतः स सर्वेषु	१९	१७	१७२३
एवं श्रोतव्य आत्मायं	१५	३८	१३७८
एवं सति कथं यूयं	१९	३६	१७३९
एवं सति स्वयंभात	१३	३२	११५४
एवं सत्यभयं ब्रह्म	५	३३	५१६
एवं सत्यविरोधः स्यात्	१८	५३	१६०८
एवं सत्याप्तकामत्वम्	१८	२५१	१६८२
एवं सर्वत्र विज्ञेयं	८	७०	७७०
एवं स्वदेहमात्रस्थे	१३	१८६	१२४८
एवं स्वात्मानम् अज्ञात्वा	१३	६५	११७६
एवमन्यत्रापि योज्यम्	८	५३	७६०
एवमात्मन उत्पन्नं	१	३१	३८
एषणात्रय एतस्मिन्	१७	१७१	१५१६
एषणात्रयसंन्यासः	१५	३	१३५९
एष देवः सर्वदिक्षु	१२	४७	१०६९
एष साक्षी संप्रसादो	१०	४६	८६८
एष हृन्निष्ठचैतन्य	१०	३८	८६५
एषोऽकलोऽमृतः पूर्णः	७	९४	७१७
एषोऽस्य परमो लोकः	१८	१७७	१६५७

ऐ

ऐकाग्र्यमचलं कृत्वा	१५	१४	१३६७
ऐकात्म्यं यदविज्ञातं	१५	८३	१३९६
ऐक्यभ्रान्तिर्बन्धकृत् स्यात्	१९	३१	१७३६
ऐतरेयेण संप्रोक्ता	१	१	०४
ऐतरेये तैत्तिरीये	८	१	७२४
ऐतरेयब्रह्मविद्यां	१	१०८	९९
ऐतिह्यार्थे हशब्दः स्यात्	१३	७२	११८२
ऐन्द्रजालिकवन्माया	१२	४९	१०७१

ओ

ओङ्कारेण परं ब्रह्म	७	८१	७१०
ओंकारमन्त्रयोर्ध्येयं	२०	१४५	१८२४
ओंकारो वाचकस्तस्य	२०	५	१७७१
ओतानुज्ञात्रनुज्ञातैः	२०	१४४	१८२३
ओताऽयं सच्चिदानन्दैः	२०	७५	१८०१
ओमित्युच्चारयन् ध्याता	२०	११	१७७५

औ

औष्ण्योपेतं पञ्चविध	१०	८५	८९१

क

कटकादौ सत्यभागा	३	२४	३३५
कथंचित् साधितेऽप्यस्मिन्	१३	५५	११६९
कदम्बकुसुमोद्भूत	१४	४८	१३२३
करणं नित्यकर्म स्यात्	१८	२३६	१६७७
करणप्रेरकः कर्त्ता	१७	१०२	१४८१
करणानां च कर्तॄणां	१	८६	८४
कर्णादिसप्तच्छिद्रेषु	१४	७६	१३३५
कर्णौ पिधाय यं घोषम्	१०	८४	८९१
कर्तर्यभूद् ब्रह्महत्या	८	१५	७३५
कर्तव्यमेतद् विज्ञान	१६	४८	१४२२
कर्ता सारथिरक्षाणि	११	४६	९७०
कर्तुरिव भवेत् कर्म	१३	६५	११७७
कर्त्रुपाधिरहंकारः	१	८७	८४
कर्मक्षये बुद्धिरक्षैः	१४	२६	१३१३
कर्मकाण्डविरोधित्वात्	१७	२९८	१५७५
कर्मणा नार्जितो यस्मात्	१३	२६९	१२९१
कर्मणामननुष्ठानम्	१३	२७२	१२९१
कर्मण्येवाधिकारस्ते	१७	१७२	१५१७
कर्मान्तरं चेद् रम्यं स्यात्	६	४५	६०२
कर्मिप्रकरणे त्वस्मिन्	१३	२४२	१२७८
कर्मोपास्तिफलं कण्वः	१३	२८३	१२९७
कर्मोपास्तिश्चापरस्यां	७	५	६६३
कलाः प्रतिष्ठिता यस्मिन्	७	९५	७१९
कलुषं जलमानीय	११	१०९	१०२९

कस्त्वमित्येष पृष्टः सन् १३ १४ ११४१
कस्मादभेष्यदीशोऽयं १३ २८ ११५२
कस्माद् वस्तुविशेषान्नः १२ ४ १०३६
कस्मिन् खल्वयमाकाशः १७ २४६ १५५०
कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तिम् ७ ६० ७१६
कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तो ४ १६ ४२८
काठिन्यं च द्रवोष्णत्वे ७ २५ ६७५
काण्वो याजुषशाखायाम् १३ १ ११३४
कात्यायनादयः सर्वे ७ ६६ ७२०
कात्यायनेन यत् पृष्टं ७ २१ ६७३
कात्यायनोऽपृच्छदादौ ७ ४ ६६३
कादाचित्की सतोऽसत्ता १८ २६४ १६६८
कानि स्वपन्ति कान्यत्र ७ ५५ ६६१
कामक्रोधौ लोभमोहौ १० ११ ८४८
कामचारोऽतिविस्रम्भः ४ ८१ ४७८
कामप्राधान्यदार्ढ्यार्थ १८ २४१ १६७६
कामश्रैष्ठ्यपरः कामैः ६ ८३ ६४३
कामास्तुविषयानन्दाः ५ ११ ४६६
कामित्वमालोचकत्वं २ १०७ २६६
कामिनः सर्वसंसारः १८ २५६ १६८४
कामी कामयते यद्यत् १३ २५७ १२८६
काम्यकर्मफलं प्रोक्तम् ६ ३७ ५६६
काम्यकर्मफलं स्वर्गः ६ ३२ ५६२
काम्यन्ते विषयानन्दाः २ २४ १४६
काम्यभोजनतस्तृप्तः १८ १५२ १६४८
कारणं नास्य कार्यं वा ११ २८ ६५४
कारयित्वा पुण्यमेष ८ ६४ ७८६
कारुण्यातिशयं दृष्ट्वा ४ ३३ ४३७
कार्यकारणताशेषि १५ ८२ १३६५
कार्यकारणराहित्यं १५ ७० १३६०
कार्यधर्मानतीत्यैतान् १७ २६२ १५७३
कार्यात्मा कारणात्मा च १५ २८ १३७५
कार्योपाधिर्बहिष्ठः स्यात् १७ २१८ १५३६
कार्योपाधिरयं जीवः १० ६१ ८७८
कार्योपाधिरयं जीवः २० १४६ १८२४
कार्योपाधेरभावेऽपि ८ ६३ ७८५
कालत्रयानुगः स्थाणुः ३ १८ ३३०
कालाग्निसूर्यः संहार २० ७४ १८०१
कालुष्यं जागरे जीवे १८ १२३ १६३८
कालुष्यबीजमज्ञानम् ५ ५६ ५३४
कालेन प्रतिबन्धस्य ५ २६ ५१०
कालोऽपि मृत्युः कर्त्रादि १७ ३ १४२८
कालः स्वभावो नियतिः १२ ७ १०४३
काल्यादिवह्निजिह्वासु ६ ३५ ५६५
किं कारणात्मतामेति १७ ४४ १४४६
किं च पुण्यरतः पूर्व ८ २८ ७४४
किं तु जीवन्मुक्तिकाले १३ २५५ १२८४
किं पुनः स्यात् समानत्वम् १८ ७६ १६२१
किं बहूक्त्या तत्त्वविदः ८ २६ ७४५
किं बहूक्त्यास्तु या ६ ५४ ८२६
किं संघातगतं ज्योतिः १८ २८ १५६८
कीदृशी मतिरस्येति ३ १३२ ४०४
कुत आगादिति प्रश्न ६ ३७ ८१४
कुतर्कान्नश्यते विद्या ११ १६ ६४४
कुत्सो मुनिर्यथास्तौषीत् १० १३३ ६१८
कुम्भाकारेण कुम्भार्थः १८ ५६ १६१०
कुर्वतस्तु महाँल्लाभः १६ ४६ १४२३
कुलालेन यथा चक्रं १० ११६ ६०६
कूटस्थदृक्त्वं द्रष्टृत्वं १७ २७५ १५६३
कृच्छ्राद्भये प्रशान्तेऽपि १३ ५८ ११७१
कृतस्य हि क्षयोऽवश्यम् १३ २५४ १२८३
कृते देहादिभिर्वास्तां १८ ३१४ १७०५
कृत्वा चिद्भक्षितां वीरः २० ११० १८१३
कृत्स्नप्राणोपसंहारे १८ २१३ १६६६
कृत्स्नोऽपि चैष आनन्द १८ १८० १६५८
केन वृत्तिविशेषेण ७ ३६ ६८०
केनेति लक्षणप्रश्नः १७ १८२ १५२२
कोऽन्वेनं जनयेन्मर्त्य १७ ३०५ १५७६
को बोद्धा कश्च बोद्धव्यः ११ ४२ ६६८
कोशपञ्चकयुक्तस्य १३ १२ ११४१
कौशलं योगिनोऽपेक्ष्यं ११ ६० ६८०
क्रमभावी विचित्रोऽयम् ८ ५४ ७६१
क्रममुक्तिर्भवेदित्थं ७ ८१ ७०६
क्रममुक्तेर्हेतुरस्य ७ ३४ ६८०
क्रमेणानेन यस्तत्त्वं ४ ७२ ४७२
क्रियावन्तः श्रोत्रिया ये ६ ६८ ६५६

क्रियावांश्चेतनः कर्ता ८ ८३ ७७७
क्रीडा चोत्पादनं वीर्य ८ ७३ ७७१
क्लेशान् पतञ्जलिः प्राह १२ ३३ १०५९
क्लेशेन महतोपास्य १३ ६१ ११७२
क्वाभूदेष इति प्रश्नं १४ ५५ १३२५
क्वैषोऽशयिष्ट कुत्रेयं ९ ३५ ८१३
क्षणिकत्वाल्लेशतास्य २ २७ १४९
क्षराद्विरुद्धधर्मत्वात् १७ २५४ १५५४
क्षीरे घृतनिमित्तं यत् १२ ७७ १०९८
क्षुत्पिपासे प्राणधर्मौ १७ १४५ १५०३
क्षुत्पिपासे शोकमोहौ १७ १३९ १४९९
क्षुद्रायास्तरणं नद्याः ६ ३८ ५९६
क्षुरधाराद्युपमितः १७ ६६ १४५९
क्षुरपात्रे स्थानभेदात् १३ ११५ १२०८
क्षुरोऽतिलग्नो देहघ्नः ११ ५९ ९८०
क्षेत्रज्ञेश्वरभेदेन १५ ७७ १३९३

ख

खं वाय्वग्निजलोर्व्योष २ ३२ १५८
खण्डेऽथ सप्तमे योगाः २० १२९ १८१९
खिल्यस्थानं चिदाभासः १५ ७३ १३९२
खिल्योद्धृत्यै नीरमब्धौ १५ ६६ १३८९

ग

गङ्गाजलं प्रविश्याब्धौ ३ १२० ३९४
गन्तव्यं तु न जानामि १८ ७ १५८८
गन्तव्यमुपदिश्यैवं १८ २० १५९३
गन्धर्वेण गतिः प्रोक्ता १७ ५९ १४५७
गन्धाराद् यो वने नीतः ३ १२९ ४०१
गयाभूर्ब्राह्मणो विष्णु १७ १२ १४३२
गर्गगोत्रजविप्रोऽयं ९ ३ ७९३
गर्गगोत्रजविप्रोऽयं १४ ३ १३००
गर्भप्रवेशादिरूपा १८ २८१ १६९३
गर्भरूपं भर्तृदिहं १ ४९ ५७
गर्भस्थानां च बालानां ५ ८६ ५५२
गर्भाधानमृतावेष १३ २१८ १२६९
गर्भे प्रविश्य तत्कर्म १ ६० ६३
गर्भो विण्मूत्रयोः स्थित्वा १ ५० ५८
गवाश्वरासभाजावि १३ ४१ ११६१
गार्गोक्तं ब्रह्म विस्तृत्य १४ ७८ १३३६
गाढनिद्रा सुप्तसुप्तिः २० ३५ १७८४
गीतायां कुत्रचित् प्रोक्तम् १७ १८३ १५२२
गुणाधिक्ये स्थौल्यवृद्धिः ११ ६३ ९८२
गुणान् वा यदि वेशानं १७ ४५ १४४६
गुरवोऽपि कथं प्राहुः १७ २५८ १५५५
गुरुः कारुणिको भूत्वा ५ ९६ ५६३
गुरुत्वं नास्ति मे तुभ्यं ९ ९ ७९८
गुरुभ्यः परमर्षिभ्यः ७ ९६ ७२२
गुरुशुश्रूषया पापं ५ ९७ ५६३
गुरुश्च योग्यशिष्याय ६ ५० ६०९
गुरूपदेशरहित १९ ३४ १७३८
गुरूपदेशश्रवणात् १० ५१ ८७१
गुरूपसत्तिसम्पूर्त्यै ७ ३ ६६२
गुहाहितं ब्रह्म यत् २ ८६ २३९
गूढोऽग्निररणौ व्यापी ९ ५६ ८२८
गृहैकदेशेऽवस्थाय ४ ६९ ४७०
गृहीतः परशुं तप्तं ३ १३५ ४०६
गोलकानि दशैतेषां १ ७६ ७९
गौणात्मा पुत्रभार्यादि २ ९१ २४३
ग्रस्तं हिरण्यगर्भान्तं १७ २५ १४३९
ग्रहा घ्राणादयो ज्ञेयाः १७ १५ १४३४
ग्रहातिग्रहवान् बन्धः १७ १९ १४३६
ग्रहातिग्रहबन्धाख्य १७ ३९ १४४६
ग्रामेष्वधिकृतान् सम्राट् ७ ४१ ६८३
ग्राहकादिजगत्सर्व १५ ९९ १४०२
ग्राहकादिविभागोऽत्र १५ ९४ १४०१
ग्राह्यत्वं शीर्णता सङ्गः १७ २९१ १५७२

घ

घटभङ्गे यथाकाशः १४ ३६ १३१८
घटः शराव इत्यादि १ २१ ३१
घटः शराव इत्येवं १ ३० ३७
घृते विलीने दध्यंश ३ ६५ ३६०

च

चक्रस्यारा यथा नाभा- ४ २० ४२९

चक्रस्यारा यथा सर्वे १६ २७ १४१६
चक्रस्यारेष्वाश्रिता स्यात् ८ ८७ ७८०
चक्षुः श्रोत्रे प्राणजिह्वे १ ७४ ७८
चक्षुराद्यक्षसापेक्षं २ ५९ १९०
चक्षुर्जन्यमनोवृत्तिः १७ ११९ १४९०
चक्षुर्न गच्छेन्नीरूपे १९ ३५ १७३८
चक्षुर्बुद्ध्यावैक्यमेति १८ २१२ १६६९
चतुः सप्तात्मकोऽमायी २० ९८ १८०८
चतुर्थखण्डे योगोऽस्य २० १०४ १८१०
चतुर्थब्राह्मणे मोक्ष १७ ७१ १४६१
चतुर्दशभिरेकोना २० ११३ १८१४
चतुर्भिरूह्यते यत्तु ८ ५८ ७६२
चतुर्मुखादिके संप्र ६ २ ५६६
चतुर्विधनिरुक्त्यात्र १३ १५३ १२२८
चत्वारो ह्यष्टमेखण्डे २० १४३ १८२३
चन्द्रस्थितिमहोरात्रं ७ १० ६६७
चन्द्रे विद्युति मेघे खे ९ ५ ७९६
चलितानुभवाद् बुद्धिः २० १४ १७७६
चाक्षुषव्यवहारेऽस्य १० ३१ ८६२
चाण्डालानां तु नेयं भीः १३ ५७ ११७०
चार्वाका देहमेवाहुः ११ ४ ९३२
चार्वाकैः कर्मिभिश्चात्मा ११ १२ ९४०
चिकित्सकप्रसिद्ध्यापि १८ ११९ १६३६
चिच्छायागतभोक्तृत्वं १२ ६७ १०८९
चिच्छाया च वपुः स्थूलं ३ ८५ ३७३
चिच्छायावानहंकारः ३ १११ ३८५
चिच्छायावानहंकारः ४ ५३ ४५४
चिच्छायावानहंकारः ५ १६ ५०१
चिच्छायावानहंकारः ९ १६ ८००
चित्तैकाग्र्याय तच्छंका ३ ११६ ३९१
चित्प्राधान्यादविद्यायाः १३ ८४ ११९१
चित्सुखात्मा स्वप्रकाशः १२ १०८ ११२६
चिदाभासानुग्रहोऽत्र १८ ४४ १६०५
चिदाभासप्रवेशस्तु १३ १०८ १२०४
चिदाभासविहीनस्य १८ ४१ १६०३
चिदेकरस आत्मैव १३ १५ ११४२
चिद्बिम्बप्रतिबिम्बाभ्यां १ १५ २२
चिद्रूपताऽत्र विस्पष्टा ७ ८८ ७१४
चिन्मात्रस्याप्यस्ति माया ५ ६ ४९२
चेतनाचेतनाधारः १८ २८३ १६९४
चेष्टाकल्पनहेतुत्वात् ८ ८८ ७८२
चैतन्यमिन्द्रियाणां चेद् १९ ७ १७१६
चैतन्यात्मादयः शब्दाः १६ ४० १४२०
चैतन्येन जडं ज्ञेयं ११ ६९ ९८६
चैतन्येन हि पूर्णेन १० ११५ ९०८

छ

छन्दः कामः कर्म पापं १८ १४७ १६४६
छन्दांसि यज्ञा नान्यच्च १२ ७० १०९२
छान्दोग्ये श्वेतकेतुर्या ३ १ ३१८
छाया तमस्तेन हीनं ७ ६९ ७०२
छायात्मानं दृढीकर्तुं ५ २० ५०४
छायादेहेन्द्रियद्वारैः ३ १०६ ३८४
छायानृतैव दृष्टा चेत् ७ ३९ ६८२
छायाया अन्यथात्वं स्यात् ५ २४ ५०७
छित्वा गुरोः शिरोऽन्यत्र १६ ३३ १४१८

ज

जगज्जडं स्वतः स्फूर्ति- २ ९ ११३
जगतः कारणं यत् सद् ३ ७२ ३६४
जगतः पालनेनायम् १२ ७६ १०९७
जगतश्चाक्षुषस्येत्थं ३ ५८ ३५७
जगतोऽस्यानभिव्यक्तिः १३ ८० ११८८
जगत्कारणमद्वैतं ६ ३० ५९१
जगत्कोशाश्च दृश्यत्वात् २ ८७ २३९
जगत् प्राणादिनामान्तं ७ ९२ ७१६
जगत्सृष्टिस्थितिलया १ १०४ ९५
जगत्सृष्ट्याद्यधिष्ठानं १ १०५ ९६
जगत् स्याद्व्यक्तमव्यक्त १२ २५ १०५३
जगद्भ्रमं जीवभेदं १२ २७ १०५३
जगद्भ्रान्तिं निवार्यास्य ४ ६७ ४६७
जगद्धेतुतयाऽप्येष ८ ६१ ७६४
जडं घटाद्यन्तवत् स्याद् २ १० ११४
जडत्वाद् गुणकालादिः १७ ४८ १४५१
जडबुद्ध्याद्युपादानं १८ ६९ १६१६
जडानृतपरिच्छिन्न २ १२ ११९

जनकायात्मविद्यैषा १८ ३२४ १७१०
जनकोषस्तगार्ग्यदिः १८ ३०५ १७०२
जन्तुभिः पृथिवी सृष्टा १६ ३ १४०६
जन्मन्यतीते वेदान्तं १ ५९ ६३
जन्मानि योनिलक्षाणां १ ५६ ६१
जन्मात्र नासतः सत्त्वं १८ ९० १६२६
जपाकुसुमरक्तत्वं १३ १०६ १२०५
जयः स्वकीय इत्येवं १९ ७९ १७५८
जरा देहस्य शैथिल्यं १७ १४८ १५०४
जरायुजाऽण्डजोद्भिन्न ३ ४९ ३५२
जलतत्त्वं तरङ्गादौ ६ ७२ ६३२
जलस्य कारणं तेजः १७ १९२ १५२६
जलाग्न्यादिसमुत्पत्तौ १२ ९४ १११५
जलूका हि तृणाग्रस्था १८ २२४ १६७२
जागरात् स्वप्नमाप्नोति १८ १२६ १६३९
जागरेऽक्षैर्व्याप्तिरस्ति २० ७० १७९८
जागरो व्यवहारोक्षैः २० २६ १७८२
जागरे स्थूलसूक्ष्माभ्यां ५ ५७ ५३४
जाग्रत्प्रत्यक्षमाश्रित्य १८ १३२ १६४१
जाग्रत्स्वप्नादिसिद्ध्यर्थं १८ १९७ १६६४
जाग्रति स्थूलदेहेन ५ ३५ ५१९
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु ५ ४४ ५२७
जाग्रद्देहादिकं मृत्यो १८ ८८ १६२५
जाग्रद्भोगमिमं लोकं १८ ८५ १६२३
जाग्रल्लोकस्तु सर्वावान् १८ १०४ १६३१
जाठराग्निः पटुर्भूत्वा ७ ५८ ६९३
जाड्यदुःखे मायिके स्तो २ १२० २८१
जाड्यमात्मन इच्छन्ति १८ ६८ १६१५
जिघ्राणीममहं गन्धं ५ ९२ ५५७
जिहासितस्यानर्थस्य हेतु १३ ६५ ११७७
जीवं तं रथिनं विद्धि ११ ४४ ९६९
जीवचैतन्यमेवात्र २ १६ १२८
जीवत्ववद् वशित्वाद्याः १८ २९१ १६९७
जीवत्वभ्रान्तिरेषैवं १३ १२५ १२१४
जीवत्वस्यारोपितस्य ७ ९१ ७१६
जीवत्वापादकोपाधिः ७ ८६ ७१५
जीवत्वमात्मनः प्राण ३ ७८ ३६९
जीवत्वेऽपगते तस्य १ ६३ ६८
जीवधर्माश्चेशधर्माः १८ २९३ १६९७
जीवन्नविद्याकामादि ११ ७६ ९९४
जीवन्नेव स्थितप्रज्ञः १ १०७ ९७
जीवन्मुक्तस्तत्त्वविद् यः ४ ८४ ४८०
जीवन्मुक्तस्तु निष्कामः ११ ११४ १०३२
जीवन्मुक्तो रतिक्रीडा ४ ७३ ४७२
जीवन्मुक्त्यवसानाया २ १४५ ३०८
जीवस्य चेतनत्वेन १ ७३ ७७
जीवस्य नश्वरस्यैक्यं ३ १२२ ३९५
जीवात्मानं प्रसाध्यैवं ११ ८६ १००२
जीवात्मानं विविच्येत्थं ८ ८४ ७७६
जीवाभावे वृथा सर्वम् १ १२ २०
जीवेश्वरौ स्वतन्त्रौ चेत् १७ ४९ १४५१
जीवोपाधिलयेऽप्यत्र ३ ११५ ३८६
जीवोऽहंकारोपहितः १२ २३ १०५२
जुगुप्सा योनिसंप्राप्तिः ११ ७२ ९८८
जेतुं मृत्युत्रयं ब्रह्म १७ ४ १४२८
ज्योतिरात्मा चितिच्छायं १८ ७२ १६१८
ज्योतिष्ट्वं भासकत्वं १८ ३८ १६०१
ज्वालायां रोहितं रूपं ३ ५६ ३५७
ज्ञश्चिन्मात्रोऽमृतो नित्य २० ८६ १८०५
ज्ञातं चाज्ञातमित्येव १९ ४० १७४१
ज्ञातव्यं ब्रह्म यत् तत् २ ७ ११०
ज्ञाताज्ञाते साक्षिभास्ये १९ ४२ १७४२
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपं १५ ८८ १३९८
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूप ४ ४१ ४४६
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा ४ ५२ ४५४
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा १५ ९७ १४०२
ज्ञातेऽपि कर्मकाण्डार्थे २ १२६ २९३
ज्ञापयिष्येऽहमित्येवं ९ १८ ८०१
ज्ञानकर्मेन्द्रियप्राणभेदाः २० २४ १७८२
ज्ञानक्रियाशक्तिहीना १० ७८ ८८८
ज्ञानमप्रतिघं यस्य १३ ३१ ११५४
ज्ञानवद् वैदिकत्वेन ६ ४० ५९७
ज्ञानवर्गे क्रियावर्गे ७ २४ ६७५
ज्ञानहेतुर्देहबलं ४ १३ ४२३
ज्ञानाक्षाणां क्रियाक्षाणां १० १०६ ९०२
ज्ञानित्वाद्याज्ञवल्क्योऽयं १५ ५ १३५९

ज्ञानी कामानेति सर्वान् २ १३१ २९५
ज्ञानेन कर्मणस्तस्य ८ २२ ७३९
ज्ञानेन सदृशीमन्याम् १८ २१ १५९४
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चात्र १ ८० ८१
ज्ञानेन्द्रियैर्न दृश्योऽयं १० ९४ ८९४
ज्ञानोत्पत्तौ न संज्ञास्ति १५ ९८ १४०२
ज्ञान्येव विश्वकृत् कालः १२ ११० १२२७
ज्ञेयं ब्रह्म तदीया धीः २ ६ १०७
ज्ञेयार्थानन्दयोर्यस्मात् १३ १७९ १२४३

त

तं वृत्तान्तमृषिः पश्यन् १६ ३० १४१७
तच्च कर्त्रादि सापेक्षं १३ ५३ ११६८
तच्छक्त्युपहितत्वेन १९ २३ १७२८
तच्छब्दः सुप्तिमाचष्टे १८ १६१ १६५०
तच्छब्देन परामृष्टः १३ १०२ १२०२
तच्छान्तौ सत्त्ववृद्धिः १० १२९ ९१५
ततस्ते निर्गुणं ब्रह्म २० ३ १७७१
ततो ध्यातध्येयभेद २० १२५ १८१७
ततोनुभूत्या विज्ञातं ५ ९ ४९५
ततो भूम्यादयो लोकाः ६ २६ ५८८
ततो मनोमयो भूत्वा १० ८६ ८९२
ततो योगं समभ्यस्य २ ३ १०३
ततो लोकायतेर्धातोः १८ १७४ १६५५
ततः सत्कारणं सत्तु ३ ३८ ३४५
ततः शिवं दुःखहीनं २० ५० १७९२
ततः शुद्धमतिर्ब्रह्म १२ ५३ १०७७
तत्कर्मोपार्जितैरन्यै १८ १९९ १६६५
तत्कारणनिषेधो यः १७ १५० १५०५
तत्कृतैर्बहुविक्षेपै २० ४९ १७९०
तत्तत्फले सस्पृहत्वात् १० ११३ ९०७
तत्तद्देहाभिमानस्तु १८ १५६ १६४९
तत्तद्विषयकामेन १३ २६२ १२८७
तत्तद् देहारम्भदशाः १७ १६७ १५२८
तत्र मूढाः केचिदाहुः ८ ४७ ७५८
तत्र सर्वत्र चैतन्यं १ ८८ ८५
तत्रादौ वेद्यतत्त्वस्य १८ २८९ १६६६
तत्रेन्द्रादीन् भिन्नदेवान् १३ ४३ ११६२
तत्रैवं सति यो मूढः १५ ३० १३७६
तत्त्वयोगौ समुद्दिष्टौ १२ ४८ १०७०
तत्त्वविद् ब्रह्मरूपेण २ २९ १५२
तत्त्वविद्यारसाकृष्टः १८ २७० १६८९
तत्त्वस्य संशयोपैति १० ५६ ८७४
तत्त्वं बुद्ध्वाननुष्ठानं १३ २७१ १२९१
तत्त्वे बुद्धे स्वदेहेन ५ ८२ ५४८
तत् सर्वत्र स्थितं ३ १२६ ३९८
तथापि पापबाहुल्य ५ २५ ५०८
तथा मनःप्राणवाचां ३ ६६ ३६०
तथायमशरीरः सन् ५ ५४ ५३४
तथाविधायां मायायां १२ २० १०५१
तथा वेदान्तवाक्योत्थ ४ ५० ४५१
तथा स्वात्माप्यविज्ञातः १३ २५१ १२८२
तथा हंसः सोहमिति २० १२ १७७५
तथैव कारणं वस्तु १५ ६० १३८७
तथोकारमकारौ च २० ११८ १८१५
तदसत्स्वप्नपार्थक्यं १८ २२१ १६३७
तदसन्निपुणोप्यत्र ८ ४८ ७५८
तदानीं जीवचैतन्यं १० १३१ ९१७
तदानीमतिचाचल्य १० ११२ ९०६
तदाप्योंकारमुच्चार्य २० १६ १७७८
तदित्थं नेति नेतीति १४ ११७ १३५५
तदीयमन्यथाज्ञानं ५ २१ ५०५
तदीये पुण्यपापे द्वे ८ ९१ ७८४
तदुपाधिक ईशोभूत् १० ७४ ८८६
तदुपासकमीशानु १९ ९२ १७६४
तदेतदक्षरं सत्यं ६ ५१ ६१०
तदेन्द्रियाणां विज्ञानं १४ २७ १३१३
तदेव विशदी कर्तु १८ २६८ १६८७
तदेवाविद्यया शक्त्या १७ ३१० १५८१
तद्गुरुश्च तथैतौ द्वा ११ १० ९३८
तद्धेदं तर्ह्यविस्पष्टं १३ ६९ ११८०
तद् ब्रह्मात्मानमेवेमं २ ११५ २७८
तद् भूतेभ्यः सूक्ष्मभूत ११ ४८ ९७२
तद्भ्रान्त्यधिष्ठानतया ८ ३८ ७५१
तद्यदित्यादिना सर्व १८ २३३ १६७६
तद्रेतः पितदेहस्थम् १ ४५ ५५

तद्वत्प्रविष्टदष्टिर्या	१३	१३४	१२१८
तद्वदात्मातिरेकेण	१५	४१	१३८०
तद्वा अस्येति वाक्येन	१८	१५०	१६४७
तद्वा अस्यैतदित्यत्र	१८	१३७	१६४२
तद्विद्धि प्रणिपातेन	१६	२	१७१२
तद्विष्णोरिति मन्त्रेपि	१३	१५२	१२२६
तद्वत्त्यागमनात्पूर्वम्	१०	३६	८६३
तद्वेद्यमक्षरं कीदग्	६	११	५७७
तद् द्वेधापातयद् देहं	१३	३६	११६०
तन्द्र्यामध्यापयेद्वाचा	२०	३४	१७८४
तन्नश्यति विलम्बेन	१४	८५	१३३८
तन्महिम्नावतं सर्व	१२	६३	१११५
तन्मात्राणि च भूतानि	७	६४	६६७
तपसा देवमाराध्य	१२	११७	११३१
तपोनास्त्याश्रमोपेतं	६	८८	६४८
तमप्यन्ते निरुन्ध्याथ	११	५८	६७८
तमबोधं तच्च मेयं	१३	६८	११८०
तमसो बोधनिध्वंसात्	१७	८५	१४७१
तमिन्द्र इत्याहुरन्ये	१	४१	४६
तमेव भान्तमात्मानं	१८	७४	१६१६
तमः सूत्रं विराजं च	१७	१५२	१५०६
तयोः संभोगतो जाता	१३	४०	११६०
तर्काद् विप्लावकेभ्यो यं	४	२५	४३०
तर्काभासो भवेत् तेषु	१७	२०१	१५२६
तर्हि जीवो हेतुरस्तु	१२	१४	१०४७
तर्हि तत्त्वविदः श्रेष्ठाः	८	२४	७४१
तर्हि प्रवर्तकं ब्रूमः	१३	२७६	१२६४
तवात्मेत्युत्तरं दत्तं	१७	६७	१४७८
तस्करातस्करौ चौर्य	३	१३४	४०६
तस्थावसंव्याप्य यथा	१३	११४	१२०८
तस्माच्छास्त्राधिकारेण	१६	७४	१७५६
तस्मात् कामयते पूर्व	१३	२७८	१२६५
तस्मात् कार्यं न वस्तु	१	२७	३५
तस्मात् केन प्रेरितं सद्	१६	११	१७१६
तस्मात् तत् सर्वमभवद्	१३	२१३	१२६६
तस्मात् प्राणादिवस्तूनां	४	८५	४८०
तस्मात् सुप्तौ चिदद्वैतं	१८	१६४	१६५१
तस्मात् सुषुप्तं पुरुषं	१४	६	१३०४
तस्मात् स्वाभाविको नैव	१८	८७	१६२४
तस्मादनुत्तमे जन्म	१३	२२०	१२६६
तस्मादन्नात् क्रियाशक्तिः	६	२५	५८७
तस्मादपि परंब्रह्म	७	८०	७०६
तस्मादियत्ता नैवास्य	२	१४०	३०३
तस्मादिहाजातशत्रु	६	४८	८२२
तस्मादुपासको गार्ग्यः	१४	६	१३०३
तस्मादुपेक्ष्य वागादीन	८	५६	७६२
तस्मादेषां न प्रियं तद्	१३	२४६	१२७६
तस्माद् ब्रह्मविदः पूर्वे	१७	१७५	१५१८
तस्माद्धितततमं ज्ञानं	८	१२	७३४
तस्माद् विज्ञानसहितः	४	५१	४५२
तस्मिन् विवेचिते स्थूल–	७	२२	६७४
तस्य ज्ञातात्मतत्त्वस्य	१३	२३५	१२७४
तस्य श्रेष्ठास्त्रयो देहाः	१०	१४२	९२६
तस्य स्वभावं निर्णेतुं	१४	२४	१३१२
तस्य हृत्कण्ठनेत्रेषु	१	१६	२४
तस्यापाये मतो देहः	१०	६०	८६३
तस्यास्य दर्शनोपायः	१८	२८५	१६६४
तस्येश्वरो भवेद् राजा	४	८३	४८०
तादात्म्यस्यास्मतौ देह	५	८३	५५१
तादग् ब्रह्म कथं विद्यात्	२	१३	१२३
तादशं परमात्मानं	१२	११५	११३०
तानविश्वसतो देवान्	७	३०	६७८
तापकत्वं तयोर्विद्वान्	२	१४२	३०५
ताभ्यामापोनुमीयन्ते	३	१०१	३८१
तामुपासीन आप्नोति	१४	१०४	१३४६
तार्किकत्वनिवत्त्यर्थम्	१७	२३६	१५४६
तासु सर्वास्ववस्थाय	७	४६	६८५
तिडन्तं पदमज्ञानां	३	७६	३६७
तिष्ठत्वसौ भोक्तदोषः	१०	२०	८५३
तीव्रविद्युद्यथात्यन्तं	१४	१०३	१३४६
तीव्रवेगे स पश्वादि	४	७५	४७४
तुष्टोगच्छत् सुषुप्तिस्थे	५	३६	५२२
तुरीयपादगा भेदाः	२०	४०	१७८७
तुरीयब्राह्मणे प्रोक्ता	१८	२०५	१६६७
तुरीयावसितत्वं तु	२०	३६	१७८७
तुर्यं मर्त्त्या वदन्तीति	२०	६७	१७६७

तुर्यपादे त्रयं त्यक्त्वा २० ५२ १७९२
ततीयब्राह्मणे पुण्य १७ ५१ १४५३
ततीयब्राह्मणे स्वप्न १८ २३ १५९५
ततीये मन्त्रराजस्य २० ८३ १८०४
ततीयःपाद इत्युक्तः २० ३६ १७८६
तेजश्च भावरूपत्वात् ३ ९५ ३७७
तेजस्यबन्नयोरंशा ३ ५१ ३५४
तेजसोचेतनत्वेपि ३ ४७ ३५२
तेजोदेवतयोदानः ७ ५१ ६८८
तेजोधिकं रवेर्बिम्बं १३ १२३ १२१३
तेजोबन्नाख्यकार्याणाम् ३ ६० ३५९
तेजोबन्नात्मिका तद्वत् १२ ६४ १०८६
तेजोबन्नैस्त्रिवद्भूतैः ३ ५२ ३५४
तेजोमात्राश्चक्षुराद्याः १८ २०८ १६६८
तेजःशब्देन संशुद्धा १८ २७४ १६९०
तेन चेतनवद् देहः २ ६७ २०२
तेनादिष्टमविस्मत्य ३ १३० ४०१
तेनानन्दामतेनाधः २० ९९ १८०९
तेनाप्नोति स्वर्गमात्रं ६ ३९ ५९६
तेनावच्छिन्न आत्मापि ९ ५० ८२३
तेनावच्छिन्नचैतन्य १० ७१ ८८४
तेनोक्ते संशया एवं ११ १८ ९४४
तेनैव ज्ञात्मनाशेषं १८ १९ १५५२
ते वायुभावमापन्नाः १७ ६७ १४५९
तैजसप्राज्ञतुर्याश्च २० ८५ १८०४
तैत्तिरीयकविद्यायाः २ १५० ३१५
तैः शब्दादितया भाति १३ १६५ १२३५
त्यक्त्वा रजस्तमोवत्ती २० १२४ १८१७
त्यक्तेन्ने पचदशसु ३ ६९ ३६४
त्याज्यमाने तु देहादौ १३ २०५ १२६१
त्रयश्चेत्यादिभिर्लक्ष्या १७ २८३ १५६७
त्रिगुणं यत् प्रधानं तत् १४ ९६ १३४३
त्रितयेन तु यद्युक्तं १८ १४८ १६४६
त्रिपुटी मायिकी मिथ्या ४ ५४ ४५४
त्रिवत्करणमग्न्यादौ ३ ५५ ३५६
त्वत्कारुण्यात् सुष्ठ वेद १९ ५७ १७५०
त्वमर्थाच्छोधितान्नान्यत् १७ १३८ १४९८
त्वयि किं वीर्यमित्याह १९ ८२ १७५९
त्वष्टुः पुत्रो विश्वरूप ८ १४ ७३५
दक्षिणाक्षिणि चैतन्यं १८ १० १५८९
दग्धपापोप्यनात्मज्ञ १३ १८ ११४४
दग्धबीजं यथा लोके ८ २३ ७३९
दध्यङ् ङाथर्वणोश्विभ्यां १६ २९ १४१७
दध्यङ् ङाथर्वणोश्वस्य १६ ३२ १४१८
दरिद्रा अधमा ज्ञेयाः १० १३ ८५०
दरिद्राणां भोगहेतुः १० १६ ८५१
दशेन्द्रियाणि बाह्यानि ७ ५६ ६९२
दशेन्द्रियाणि मरुतः १८ ६४ १६१३
दर्शनादिक्रियाः कुर्वन् ६ ६२ ६२२
दर्शादि पितमेधान्तैः २ २ १०२
दारु कृत्स्नमभिव्याप्य १३ ११३ १२०७
दाह्यं दग्ध्वा यथा वह्निः २० ७७ १८०२
दिवारात्रिस्तमश्चान्यद् १२ ७८ १०९९
दीर्घतन्तुवदोतत्वं १७ १९१ १५२५
दुःखं रागद्वेषजन्यं १४ ५३ १३२५
दुःखं राजसधीवत्तौ २ ७८ २२३
दुःखवत्युदयश्चित्ते ७ ६२ ६९५
दुःखानि च विचित्राणि १३ ५४ ११६८
दुःखान्यपीक्षते साक्षी ५ ७३ ५४२
दुःखी यदि भवेदात्मा १० ४० ८६५
दुर्लक्ष्यो निरुपाध्यात्मा १२ ५७ १०८०
दुर्विज्ञेयमणुत्वात्तत् ११ ५ ९३४
दुष्टत्वं जन्मनः प्रोक्तं १ ५७ ६२
दूरं गच्छेदिहासीनः ११ ३२ ९५८
दगोचरे तस्य रूपं १२ ७९ ११००
दङ्मात्रत्वेन साक्ष्यात्मा २० ५९ १७९६
दढलग्नं बाणशल्यं ६ ६० ६२०
दप्तो बालाकिरपर ९ २ ७९३
दश्यं मिथ्यास्तु तद् द्रष्टुः १४ ४४ १३२१
दश्ये बाह्ये भौतिकत्वं ३ ६१ ३५९
दष्टगोचरवत् सर्वं १५ ९३ १४००
दष्टश्रुतमतज्ञाते १७ ११४ १४८९
दष्टश्रुतमतज्ञातेषु १७ १२८ १४९४
दष्टानुश्रविकाबाह्य १८ २४८ १६८१
दष्टानुसार्यदष्टं तु १७ २३ १४३८
दष्टान्तोत्राग्निना व्याप्तः १० ११६ ९०८

दष्टिमात्रात्मयाथात्म्यात्	१५	७८	१३६३
दष्टिश्रुतिमतिज्ञाति	१७	२२६	१५४०
दष्टिसष्टिमिमां ब्रह्म	८	६७	७६८
दष्टे तस्मिन् परप्राप्त्या	२	२३	१४४
दष्टेर्द्रष्टारमात्मानं	१७	१२२	१४६१
दष्टेर्न पश्येद् द्रष्टारं	१७	११८	१४६०
दष्ट्वा भूय इहोत्पन्न	३	५०	३५३
दष्ट्वैवेत्येवशब्देन	१८	१२५	१६३८
देवताप्रतिषेधार्थ	१४	१३	१३०६
देवता यागकर्तारं	१७	२६८	१५६०
देवदत्तः परिच्छिन्नः	१३	११६	१२१०
देवराजोसुरेशश्च	५	१३	४६६
देवविस्तारसंक्षेपौ	१७	२८७	१५७०
देवार्थमीश्वरे युद्धे	१६	७८	१७५८
देवादिपारतन्त्र्यं तु	१३	२७५	१२६३
देवानां यागहोमाभ्यां	१३	२६७	१२६०
देवाः कति स्थूलदेहे	७	२३	६७४
देवाः सभासदो दष्ट्वा	१६	८०	१७५८
देवाः सर्वे तमात्मानं	५	६४	५६१
देवि दष्टं पुरा देवैः	१६	८६	१७६१
देशकालद्यन्यवस्तु	२	११	११८
देशकालौ च सूत्रेन्तः	१७	२४१	१५४७
देशयोरुभयोः संधिः	१८	६६	१६२८
देवेश्वरौ स्वतन्त्रौ चेत्	१७	४६	१४५१
देशात् कालाद् वस्तुतश्च	१०	६२	८८०
देहं विद्या परिच्छिंद्या	१८	२२१	१६७१
देहत्रयगुहायां यः	६	५५	६१५
देहप्राणवियोगः स्यात्	१६	३२	१७३६
देहमध्येस्ति हृत्प द्मं	१०	३२	८६२
देहाज्जिगमिषुः प्राण	१८	२१७	१६७०
देहात्मवासनानुत्यै	२	५४	१८७
देहादज्ञानतः कार्यात्	५	६३	५३७
देहादभ्यन्तरः प्राणः	२	१४	१२४
देहादिभेदमाश्रित्य	१८	५१	१६०८
देहादिव्यतिरिक्तत्व	१८	२४	१५६५
देहादष्टक्रियाकर्त	१३	६५	११७६
देहाद्यध्यक्षतां हित्वा	१४	३७	१३१८
देहाद्युपाधिसंबन्धात्	२०	१०	१७७४
देहान्यत्वस्वप्रभत्वे	१८	१२०	१६३७
देहे दढेत्र भोगोस्ति	५	३१	५१३
देहे देहे प्रतिच्छाया	३	८६	३७३
देहे दोषा यथाचित्ते	१०	१२२	६११
देहेन्द्रियकृते पुण्ये	२	१४३	३०७
देहेन्द्रियमनोबुद्धि	१३	२३	११४८
देहेन्द्रियादयो भावाः	८	३६	७५३
देहेन्द्रियादिसंघातः	१८	२७	१५६७
देहेन्द्रियादिसाक्षी यः	२०	६	१७७४
देहे प्राणवियोगाख्य	१६	७०	१७५५
देहे येवयवाः सन्ति	३	१०२	३८२
देहे स्वप्ने दक्षिणेक्षि	६	६	७६६
देहोकिंचित्करः प्राणः	७	३३	६७६
देहो रथः पच हयाः	१०	८८	८६३
देहौ नीचोत्तमौ तादक्	११	८४	६६६
देहः कर्ता च साक्षीति	१०	२६	८६०
दोषान् सर्वेषु पक्षेषु	१२	१५	१०४८
दोषान्सोढ्वा सकृद्भुक्तः	१०	२१	८५३
द्यूतक्रीडामिवेशोसौ	१०	७५	८८६
द्रष्टव्य इति निर्दिष्टा	१५	१६	१३६८
द्रष्टव्य इति विज्ञान	१५	२५	१३७४
द्रष्टा दर्शनयोगेन	१३	१३८	१२२०
द्रष्टाहंकृत्यवच्छिन्नः	५	६०	५५६
द्रष्टत्वश्रोतताद्यस्य	१७	२२६	१५४१
द्रष्टत्वाद्यभिसंबन्ध	१८	६१	१६१२
द्रष्टदर्शनदश्याना	१७	११७	१४६०
द्रष्ट्राद्या अपि दष्ट्याद्याः	१	६३	८६
द्वयोर्मतौ जीवने च	८	६०	७६३
द्वात्रिंशद्वर्षसेवातः	५	१४	४६६
द्वाविमौ पुरुषौ लोके	५	६४	५३६
'द्वा सुपर्णे' ति मन्त्रेण	६	१५	८००
द्वितीयः पाद् एष स्यात्	२०	३१	१७८४
द्वितीयब्राह्मणे जाग्रत्	१८	५	१५८७
द्वित्रिकक्षासु युक्तीनां	१२	१६	१०४६
द्विर्याज्ञवल्क्यमुद्दिश्य	१७	५८	१४५६
द्विविधः कर्मसंन्यासः	१५	४	१३५६
द्विविधव्यवहारस्य	३	२०	३३१
द्वे एव ब्रह्मणो रूपे	१४	८१	१३३६

द्वे एव ब्रह्मणो रूपं १७ ८१ १४५६
द्वैतदुःखादिरूपं यत् १८ १४० १६४४

ध

धनविद्यादिभिर्मत्तः ११ ३५ ६६०
धनस्येव व्ययो नास्य ६ १७ ५८२
धनिकत्वादिव्यवस्था १२ १० १०४५
धने दानेन नष्टेपि १७ २६५ १५५८
धर्माधर्मौ कार्यहेतू ११ २४ ६५१
धर्माधर्मौ च देहस्य १३ ६५ ११७७
धियस्तथात्वं योगात्स्यात् ११ ५५ ६७७
धीरेवात्मेत्यपाकर्तु १८ ६५ १६१४
धीर्बाणो धनुरोंकारः ६ ५६ ६१८
धीर्मनुष्योहमित्यस्ति २ ४६ १७६
धीर्वत्तिविषयीकृत्य १६ ४१ १७४१
धीविज्ञानोपसंहारे १४ २८ १३१४
धीवत्तिरूपाः प्रज्ञास्ताः २० ३२ १७८४
धूमार्चिर्विस्फुलिङ्गादि १५ ५१ १३८३
ध्यात्वोंकारं पुनर्मन्त्रान् २० १०७ १८११
ध्यानादिहैव देवः सन् १८ २ १५८४
ध्यानादीनामवस्तुत्वे १८ ८३ १६२३
ध्यानेनान्तर्मुखो वाक्यात् ६ ८१ ६४१
ध्यायन्त्यां ध्यायतीवात्मा १८ ८१ १६२१
ध्वनित्रयंमहाशब्द १५ ४६ १३८१
ध्वस्तात्माज्ञानतत्कार्याः १७ २५५ १५५४

न

न किंचन यदा वेद १४ ४५ १३२१
न किंचित् भाति निद्रायां ७ ६६ ६६६
न केवलं चेष्टकत्वं २ १२४ २८७
न केवलं पिण्डवासः १३ ५६ ११७०
न गोत्रं काश्यपाद्यस्ति ६ १२ ५७८
न चक्षुषां नापि वाचा ६ ८० ६४१
नचिकेताः कुमारः सन् ११ २ ६३१
न चितो वामदेवे वा १३ २२६ १२७२
न चिद्वस्तु विवादार्हं १३ ८५ ११६२
न चेत् तर्हि जडत्वेन १६ ६ १७१६
न चैकदेहयोगेपि १७ २१७ १५३६
न जायते न म्रियते ११ २७ ६५४
न तथा ब्रह्मविद्येयं १० ५४ ८७४
न तस्य वपुरक्षं च १२ १०० ११२०
न तावदुत्तमं जन्म १३ २२२ १२७०
नदीष्वब्धिं प्रविष्टासु ७ ६३ ७१७
न दुःखक्षय एवास्य १८ २७६ १६६२
न दृश्यते चक्षुषा यत् १६ ५१ १७४८
न देहस्यात्मता युक्ता २ ५२ १८३
नद्यूर्म्यादिकदृष्टान्तैः १० १२६ ६१३
ननु देहान्तरारम्भे १८ २२६ १६७३
ननु देहाभिमानश्च १८ १५४ १६४८
ननु द्वैतमिवेत्येतत् १५ ८४ १३६६
ननु प्रजापतेरैक्य १३ २६ ११५४
ननु प्राणादियुक्तात्म १३ १६६ १२३७
ननु ब्रह्माधिकारेस्मिन् १७ २६० १५७२
ननु ब्रह्माश्नुतेत्रेति १८ २६१ १६८५
ननु भिक्षादिना देह १८ ३११ १७०५
ननु मूढस्यापि नास्ति ८ २० ७३८
ननु विज्ञानविध्वस्तौ १३ ३४ ११५६
ननु शोकादिवत्सुप्तौ १८ १५८ १६५०
ननु सर्वैर्जनैर्द्वैतं १८ १६५ १६५२
ननु सुप्तावयं प्राणः ८ ५७ ७६२
ननूक्तं मधुनस्तत्त्वं १६ २१ १४१४
ननूपादित्सिते देहे १८ १६८ १६६५
नन्वद्वैतमपि द्वैतं १८ १४३ १६४४
नन्वनर्थकरे केन १३ २७४ १२६३
नन्वनात्मा न विज्ञान १५ २६ १३७४
नन्वसौ सर्वभावाप्तिः १३ २१५ १२६७
नन्वहंप्रत्ययेनात्मा १५ १८ १३६६
नन्विन्द्रियाणि प्रेतस्य १८ २०२ १६६६
नन्वेक आत्मा मूढानां १७ १४३ १५००
नन्वेवं तस्य मुक्तिश्च १३ २४८ १२८१
नन्वेवं पर एवात्र १३ १२७ १२१५
न परोक्षत्वमाशङ्क्यं १३ १६६ १२३५
न पश्वादेः सर्वभाव १३ २२६ १२७१
न पुण्येन भवेद् देवः ८ ६० ७८४
न पृच्छ्यतेतिस्पष्टं १७ ३०२ १५७७
न प्रेर्यते यत् प्राणेन १६ ५३ १७४८
न ब्रह्मणि मनोजन्य- २ ६३ १६८

न भासयन्ति सूर्याद्याः	११	६४	१०११
नमामीति पदाद् ब्रह्म	२०	११५	१८१४
न मुख्यं तेषु चैतन्यं	१	६१	८७
न मुख्यं प्रत्यगात्मत्वं	४	१८	४२७
न मत्युं पश्यति ज्ञानी	४	८६	४८०
न युक्तं भूतयोनित्वं	६	१६	५८४
नरगन्धर्वमार्तण्ड	१७	१६६	१५२८
नरदेहस्य पापात् प्राक्	११	६८	१०१६
नराणामधमर्णत्वात्	१३	२३४	१२७४
नर्ग्वेदज्ञानमात्रेण	३	४	३२१
नर्ते स्याद् विक्रियां दुःखी	१०	४१	८६६
नवमब्राह्मणे देव	१७	२८१	१५६६
न विनानुष्ठितं कर्म	६	१०	५७७
न वेदपाठबाहुल्यात्	६	८४	६४५
न व्याक्तं विशेषेभ्यः	१७	२५१	१५५२
न श्रूयते यच्छ्रोत्रस्य	१६	५२	१७४८
न सत्यवयवाः सन्ति	३	३३	३४२
न संनिवेशमात्रेण	१	२६	३५
न सुषुप्तिरिह स्वापः	१८	१०३	१६३०
न सुषुप्तेपि तच्छक्यं	१८	११२	१६३४
न सूर्यग्रहणापेक्षः	१३	२३१	१२७३
न स्थूलप्रज्ञमित्याद्यैः	२०	४६	१७८६
नाडीमूलानिहृत्पद्मे	६	२६	८०७
नाडीरूपाणि नीहार	१२	४२	१०६५
नाडीषु संचरन् जीव	७	६०	६६४
नानात्मत्वभ्रमोच्छित्यै	१६	७५	१७५७
नानात्वैकत्वरूपाभ्यां	१७	२८४	१५६७
नानावक्षरसैक्येन	३	११४	३८६
नान्तर्यामिविदेहत्वे	१७	२१५	१५३६
नापि कर्मेन्द्रियैर्ग्राह्यं	२०	४७	१७८६
नापितस्य क्षुराः पात्रे	६	५७	८२८
नापूर्वफलदं तस्मिन्	१७	२६६	१५५८
नापष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्	१६	३	१७१३
नाप्रमेयत्वमात्रेणं	१८	४६	१६०५
नामरूपयुतत्वेन	२	११२	२७५
नामरूपयुतं स्थूलं	३	१२४	३६६
नामरूपात्मकं शून्यात्	३	३६	३४३
नामरूपादिविकृतं	१३	७४	११८५
नामरूपाद्यभिव्यक्ते	१३	७८	११८७
नामरूपाध्यास एवं	१३	६७	११६६
नामरूपे घटादीनां	२	११७	२८०
नामरूपे तु शब्दार्थौ	१३	६३	११६७
नामादीनामनात्मत्वं	४	२६	४३२
नामाद्याशान्ततत्त्वेषु	४	१५	४२४
नामाद्याशान्ततत्त्वानि	४	२४	४३०
नायमात्मा बहोः पाठात्	११	३८	६६३
नारायणाभिधो मन्त्रः	१७	२२३	१५३८
नार्थं बुध्वा वेदसष्टिः	१५	५३	१३८४
नावाच्यं वच्म्यहम्	१७	२५७	१५५५
नावेदि चेदिहालस्यात्	१६	७३	१७५६
नाश्रयं मोहयेद्यासौ	१३	२४०	१२७७
नासदासीन्नो सदासीत्	१३	८६	११६२
नित्यजातस्वभावत्वं	१७	३०४	१५७८
नित्यतप्तेश्वरत्वं यत्	१२	६८	१०६०
नित्यद्रव्यं मानो नात्र	३	६७	३६२
नित्यस्फूर्त्या शाश्वतोयं	१०	६३	८८०
नित्योक्षरपदार्थोयं	६	१३	५७६
नित्यानित्यविवेकादि	१६	६६	१७५४
निदिध्यासस्वेति शब्दात्	१५	६	१३६०
निर्ममत्वात् सर्वगोपि	१०	६५	८६५
नियन्तत्वोपाधिना यः	१६	२८	१७३४
नियन्तेशोनुमन्ता तु	२०	१५०	१८२५
निरन्तरध्यानतस्तु	१०	५२	८७१
निरन्तरविचारो यः	१५	७	१३६१
निरस्तातिशयानन्द	१३	६५	११७७
निरिन्धनाग्निवच्चित्तम्	१०	१३०	६१६
निरुपाधिब्रह्मतत्त्वम्	६	२८	५८६
निरुपाधिपरानन्दः	१८	२५२	१६८२
निरेषणत्वं विद्यायाः	१७	१८७	१५२४
निर्गच्छन् जनयेच्छब्दं	२०	६५	१७६७
निर्गते तु पुनश्चित्ते	२०	१७	१७७६
निर्गत्यहृदयाद् बुद्धिः	१४	४६	१३२३
निर्गत्यहृदयस्थानात्	१८	१६६	१६६४
निर्जरत्ववितष्णत्व	१२	४३	१०६६
निर्णयौ मत्युतन्मत्यू	१७	१८	१४३६
निर्धर्मकेप्यात्मतत्त्वे	२	१०१	२६१

निर्धूताशेषदुःखौघ १७ ३०८ १५८०
निर्मितस्तैरयं देहः १८ २२९ १६७४
निवर्त्यभेदाद् भिन्नोर्थ १३ २०९ १२६४
निर्विकल्पधिया पश्येत् २० ८८ १८०५
निवृत्तत्वाज्जीवधर्माः १८ २९६ १६९९
निश्चयात्मकधीवृत्तिः १७ १२७ १४९३
निश्वासोच्छ्वाससंदीप्तः १० ८२ ८९०
निःशेषमधुकाण्डस्य १६ ४४ १४२२
निःशेषविक्रियाहेतुः १८ २८२ १६९३
निःशेषेणासुरं पापं १३ १७ ११४३
निष्कलोवयवैर्हीनः १२ ११४ ११२९
निष्कलं निष्क्रियं शान्त १२ ११३ ११२९
निष्कामोसौ लौकिकानां २० ११६ १८१४
निष्कारणं तन्निष्कार्यं १६ ४६ १४२२
निस्तत्त्वं व्यवहारार्हम् १ ४ ०८
निस्तत्त्वापि जगद्भ्रान्तिं १ ६ १०
निस्तरेद् विद्यया चेत् किं १३ ६० ११७२
नीचादिभेदिनः शब्दाः १५ ४४ १३८१
नृसिंहे भीषणे भद्रे २० ११४ १८१४
नेन्द्रियाणां भवेत् स्वापः १४ १२ १३०५
नैतदिन्द्रस्य माहात्म्यं ९ ७० ८३८
नैव जन्मनि सर्वस्मिन् १९ ७१ १७५६
नैव स्त्री न पुमानेष १२ ९० १११२
नोत्क्रामन्ति न तिष्ठन्ति १७ ३१ १४४२
न्यायागमाभ्यां सिद्धं च ३ १२५ ३९६
न्यायेनानेन मरणे ८ ६८ ७६९
न्याय्यां वृत्तिं समुल्लङ्घ्य १७ १६७ १५१५
न्यासोधिकं तपो न्यासी २ १४७ ३१३

प

पक्षिणोवयवाः पञ्च २ ८० २२८
पञ्चकोशगुहायां यत् २ १५ १२७
पञ्चभूतेभ्य उत्पन्नाः १७ १९४ १५२७
पञ्चमब्राह्मणे पूर्वम् १७ १३३ १४९६
पञ्चमे ब्राह्मणे दध्यङ् १६ १ १४०५
पञ्च वर्षाणि सेवस्व ५ ४१ ५२३
पञ्चीकृतानां भूतानां १७ १९८ १५२९
पञ्चीकृतास्तु भूतांशाः १८ २२८ १६७३
पञ्चीकृतोक्तमार्गेण ६ ६३ ६२२
पण्डितंमन्यतां प्राप्तः ६ ४२ ६००
पण्डेति बुद्धेर्नामैतत् १७ १७७ १५१९
पतिजायादिभोगेषु १५ १० १३६४
पतिर्जायां विशत्यादौ १ ५२ ५९
पदनीयेति शब्देन १३ १७७ १२४१
परं ज्योतिर्ब्रह्मरूपं ५ ५५ ५३४
परं ज्योतिर्ब्रह्मरूपं ५ ६२ ५३७
पर आत्मनि सर्वेपि १३ १४८ १२२५
परप्रेमास्पदतया ८ ८९ ७८२
परप्रेमास्पदत्वस्य २ १३७ ३००
परमव्याकृतं यस्मात् ६ ६६ ६२६
परमाणोर्योगिनेत्र- २० ४ १७७१
परमात्मन उत्पन्न १ २० ३०
परमात्मन उत्पन्नः ७ ३८ ६८२
परमात्मस्वभावोयं १७ १५४ १५०८
परमात्मा लयाधारः ७ ६७ ७००
परमात्मा स्वतः पूर्णः ९ २७ ८०८
परमानन्दरूपत्व १८ २४५ १६८०
परमेश्वररूपत्वात् १ ४२ ५२
परया चाक्षरं ज्ञेयं ६ ९ ५७५
परलोकभयं यस्य ८ ३० ७४५
परवाचाभिनिष्पत्तेः १७ ३७ १४४५
परस्परोपकारित्वं १६ २ १४०६
पराक् पदार्थध्यानेषु ४ १७ ४२६
पराक्प्रमेय भूमिभ्यो १४ ३४ १३१७
परागर्थानुसारिण्यः १८ ६७ १६१५
परागर्थानुसारिण्यः १८ ५५ १६०९
पराचीति च मन्त्रोक्तिः १८ ५५ १६०९
परान्तकाले मुक्ता ये ६ ९१ ६५१
परास्य शक्तिर्विविधे २ ३४ १६१
परास्य शक्तिर्विविधे ४ ५८ ४५७
परिच्छिन्नस्य पूर्णात्म ९ ३६ ८१३
परिवारा मन्त्रराजे २० ९४ १८०७
परिवारेण संयुक्त २० ९५ १८०७
परिव्राड्भिर्बुद्ध आत्मा १८ ३१० १७०४
परीक्ष्य कर्मजान् लोकान् ६ ४७ ६०४
परोक्षनामव्याजेन १८ ९ १५८९

परोक्षवस्तुन्यध्यासात्	१८	२३४	१६७६
परोक्षोपि विमूढानां	१	६४	६८
परः प्रविश्य देहेषु	२०	१५४	१८२६
पर्जन्यवत् प्रेरकत्वात्	८	६५	७८६
पशूनां तणनीराभ्यां	१३	२६८	१२६०
पाण्डित्यबाल्यमौनानि	१७	१७६	१५१८
पाण्डित्येन विदित्वाथ	१७	१८०	१५२०
पादं स्वमूर्ध्न्यवस्थाप्य	१०	६	८४५
पादत्रयेणावतासौ	२०	३८	१७८६
पादपे क्षुधितः पक्षी	१२	६६	१०८८
पापं कर्तुरकर्तात्मा	५	४	४६१
पापं कृतवतोप्यस्य	८	१६	७३८
पापं क्रोधमनैकाग्र्यं	११	४०	६६५
पापक्षयाय द्वात्रिंशत्	५	३४	५१६
पार्थिवं कठिनं सर्वम्	१७	१६०	१५२५
पार्थिवानि शरीराणि	१६	४	१४०७
पिण्डस्तावदिहैकोर्थो	१८	५०	१६०७
पितुर्द्वितीयं तज्जन्म	१	५१	५८
पितभ्यामन्नतो रोगात्	१२	५	१०४२
पितमात्रादिशब्दैश्च	४	२२	४२६
पितराजाद्यशेषस्य	१२	६	१०४२
पितलोके यथा	११	६६	१०१६
पीतं जलं शरीरस्थं	३	१००	३८०
पीता आपोशनं भुक्तं	३	६०	३७६
पुंसो देहग्रहे भूयो	१७	४२	१४४८
पुंसो हृदि श्रिताः कामा	१८	२६०	१६८५
पुण्यं च जन्महेतुत्वात्	१८	३१७	१७०८
पुण्यं नाकरवं कस्मात्	२	१४१	३०५
पुण्यमेवामुमाप्नोति	५	७५	५४५
पुण्येन विषये लब्धे	१३	२६३	१२८७
पुत्रमित्रादिभिः स्वीयैः	६	५६	८३१
पुत्ररूपेण यज्जन्म	१	५४	५६
पुत्रादिजन्या आनन्दाः	१८	२५३	१६८२
पुत्राद्या नश्वराः क्लेश	११	६	६३४
पुत्रैषणेति पुत्रार्थ	१७	१६४	१५१३
पुत्रो भ्राता पितेत्येकः	१३	१७२	१२३८
पुनश्चैवं विवेक्तव्यं	१२	८०	११०३
पुनस्तद्देवतारूपः	७	४६	६८७
पुनः पुनर्जायमानात्	१२	२२	१०५२
पुनः प्रत्यवंसत्यैषा	१४	५०	१३२३
पुरमेकादशद्वारं	११	७८	६६४
पुराणं बाध्यते श्रुत्या	१७	६४	१४५८
पुराणोसावजत्वेन	११	२७	६५४
पुराणपचमान् वेदान्	४	२	४१२
पुरा त्वविद्ययाच्छन्न	१०	६	८४६
पुरा नाडीविशेषेण	१८	२१८	१६७०
पुरि शेते यतस्तस्मात्	१६	३७	१४१६
पुरीषाद्यन्नकार्यं स्यात्	३	६३	३७७
पुरुषो मायया सर्व-	६	५४	६१४
पूजा स्वीकारदातत्व	१८	३२१	१७०६
पूर्णत्वात् पुरुषाख्योसौ	१०	६७	८८३
पूर्णत्वात् पुरुषो योसौ	५	१५	५०१
पूर्णत्वात् पुरुषः सोयं	१८	७७	१६२०
पूर्णैनैक्यमवाप्नोति	६	२६	८०८
पूर्वं विदित्वा पश्चात्	१७	१५६	१५१०
पूर्वकल्पे कतं कर्म	७	४०	६८३
पूर्वकाण्डपरा इत्थम्	१८	२३८	१६७८
पूर्वजन्मनि बोधेन	१	५८	६३
पूर्वजन्मनि मर्त्यः सन्	१३	४८	११६५
पूर्वत्र गौतमोपच्छत्	१७	२३६	१५४४
पूर्वब्राह्मणसंप्रोक्त	१७	१६	१४३५
पूर्वमुक्ता यथा तद्वत्	२०	६४	१७६७
पूर्ववासनया पुत्रे	२	४७	१७७
पूर्वोक्तकामिवैषम्यं	१८	२४४	१६८०
पूर्वोत्तरविरुद्धार्थं	१८	४६	१६०७
पथग् द्रव्यस्वरूपः सन्	१	२४	३४
पथगानयनं कर्तुं	३	१५	३२६
पथिव्याद्यात्मकोंकारः	२०	८४	१८०४
पथिव्येवेत्यादिवाक्यात्	१७	२८५	१५६८
प्रकर्षो नाम पूर्वस्मात्	३	४०	३४६
प्रकारौ द्वौ ततः प्रोक्तौ	२०	५५	१७६४
प्रकृष्टचेष्टाहेतुत्वात्	१८	२६५	१६८७
प्रक्रियानियमो नात्र	१३	६४	११६७
प्रजापतिः प्रजाकामः	७	६	६६४
प्रजापतिः स्वात्मविद्यां	५	१	४८७
प्रजापतिरहोरात्र	७	१७	६७१

प्रजापतिरुवाचैवं ५ ९६ ५६२
प्रजापतिर्वालखिल्यान् १० १४८ ९२९
प्रजापतिस्त्रिधा भूत्वा १० १४४ ९२६
प्रजापतेरियं विद्या ५ १०० ५६४
प्रजापत्युक्तितात्पर्यं ५ १८ ५०३
प्रजाःशोचन्ति यत्किंचित् ५ ७६ ५४५
प्रज्ञया वाचमारुह्य ८ ७५ ७७२
प्रज्ञात्मा प्राणरूपोस्मि ८ ३३ ७४७
प्रज्ञानं कर्तदेहादि १ ९६ ९१
प्रज्ञानं निरुपाधित्वात् १ ९२ ८८
प्रज्ञानं शुद्धचिद्रूपं १ १०० ९३
प्रज्ञानं स्वशरीरेस्ति १ ९७ ९२
प्रज्ञानमेकं सर्वेषु १ ८९ ८६
प्रज्ञानव्यतिरेकेण १५ ५६ १३८६
प्रज्ञानस्यास्य जीवत्वं १ ९८ ९२
प्रज्ञाप्राणसहायेन ८ ४९ ७५९
प्रज्ञाप्राणानुग्रहेण ८ ५१ ७६०
प्रज्ञाप्राणौ ततो मुख्यो- ८ ७९ ७७५
प्रज्ञामात्रा भूतमात्रा ८ ८६ ७८०
प्रणवो वाचकस्तस्य ११ २६ ९५२
प्रतिकूलात्तु विषयात् १० ३९ ८६५
प्रतिदेहं तु चिन्मात्रः १० ६९ ८८४
प्रतिदेहं व्यष्टिरूपः १० १४० ९२४
प्रतिबन्धस्य बाहुल्यात् १२ ७३ १०९५
प्रतिबिम्बभ्रमो नीरात् १ २२ ३२
प्रतिबिम्बाहंकृतिभ्यां ८ ८५ ७७९
प्रतियोनि यथास्थानं १८ १२७ १६३९
प्रतीकोपासनैरेतैः ४ १६ ४२५
प्रतीचि निर्मिमित्तैव १३ १९० १२५१
प्रत्यक्तत्त्वे परिज्ञाते १३ १८४ १२४८
प्रत्यक्ता ब्रह्मणो रूपं १३ २६ ११५१
प्रत्यक्त्वेन य आभाति १५ ३७ १३७८
प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः १८ ३०१ १७०१
प्रत्यक्षस्थावरत्वाख्यः १७ ५२ १४५३
प्रत्यगात्मैव सद्ब्रह्म १५ ७४ १३९२
प्रत्यगृदष्ट्यव्यवहिते १८ १७२ १६५५
प्रत्यगृदष्ट्या तदज्ञानं १३ २५ ११४९
प्रत्यग्ध्वान्तं चिदाभासं १७ २२१ १५३८
प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानं १३ २२ ११४८
प्रत्यग्याथात्म्यसम्मोहात् १३ ६५ ११७७
प्रत्यग्रूपः पराग्रूपात् १३ ६ ११३७
प्रत्यगृज्ञानशिखिध्वस्ते १८ २६३ १६८६
प्रत्याधानं शिरो ज्ञेयं १४ ६९ १३३२
प्रत्येकं शतसंख्याः स्युः ७ ४५ ६८५
प्रथमब्राह्मणे राजा १४ ७९ १३३६
प्रधानवादी पुरुषान् १२ ११ १०४५
प्रपचवासने ब्रह्म १४ १०५ १३४७
प्रपचो नाम पूर्वोक्तं १४ ९१ १३४०
प्रबलारब्धवेगेन १३ ३८ ११५९
प्रबोधे स्वात्मनोक्षाणि ८ ६६ ७६७
प्रमाणे संप्रदाये वा १० ५३ ८७४
प्रमातुर्जायते वत्तिः १७ १२१ १४९१
प्रमाभासत्वमेतेन १३ १७५ १२४१
प्रवर्त्यानामनन्तत्वात् १९ १३ १७२०
प्रविष्टं येत्र पश्यन्ति १३ १३२ १२१८
प्रविष्ट इति शब्देन १३ १०७ १२०४
प्रविष्टस्य प्रवेष्टुश्च १३ १३१ १२१७
प्रविष्टस्यास्ति चेच्छ्वास १३ १३० १२१७
प्रवेशवाक्यं पदशः १३ ११८ १२१०
प्रवेष्टत्वात् सर्पवत् सन् २ १०९ २७२
प्रशान्तवत्तिके चित्ते १७ १८१ १५२१
प्रश्नेन तुष्टः संत्यज्य १७ ४६ १४५०
प्रसिद्धाश्चेतिहासाद्याः १५ ५५ १३८६
प्राक्तनान्यपि जन्मानि १७ २९ १४४१
प्राज्ञंमन्यतया तत्त्वं ३ ११७ ३९१
प्राणत्यागेन देहोयम् १७ ३४ १४४३
प्राणनादिकृतां मध्ये १३ १४१ १२२१
प्राणप्रज्ञे क्रियाज्ञान ८ ३२ ७४७
प्राणप्रतीतिरप्यस्य ८ ६५ ७६६
प्राणबुद्ध्यविनाभूताः १८ ६३ १६१३
प्राणमूर्ध्वं नयत्यात्मा ११ ८० ९९६
प्राणलोहितमूत्रांशैः ३ ६३ ३६०
प्राणवागादयः सर्वे ८ ५५ ७६१
प्राणशब्दोभिधावत्त्या ८ ३७ ७५१
प्राणशब्दो वायुमाह ९ ३१ ८१०
प्राणश्रद्धाखादिभूत ६ ९२ ६५१

प्राणसंचारबाहुल्यात् १७ १४९ १५०३
प्राणस्य बन्धनस्तम्भः १४ ७० १३३२
प्राणस्याभोक्ततां गार्ग्यः १४ १४ १३०९
प्राणहेतुस्तमः प्राण- १७ १५१ १५०९
प्राणा अन्तर्विलीयन्ते ११ ११५ १०३३
प्राणा एव विलीयन्ते १७ ३५ १४४४
प्राणात्मत्वं तु सम्भाव्यं ४ २७ ४३२
प्राणात्मवाद्यसौ भोक्त- ६ १७ ८०१
प्राणात्मवासनानाशे २ ९४ १६६
प्राणादिकरणैश्चेष्टा १७ १०१ १४८१
प्राणादिसङ्ग आत्मा स्यात् १८ २८४ १९६४
प्राणादीनां यतो जन्म १४ ३२ १३१५
प्राणाद्युपाद्ध्युपहिताः १३ १७१ १२३८
प्राणाधीनव्यापतीनां १२ ४० १०९३
प्राणानां धारकः कर्ता १ १३ २१
प्राणापानवशाद् देहः ११ ८२ ६६८
प्राणाभिमानी देवानां ६ ३६ ८१५
प्राणायामेन निर्विघ्नः २० ८७ १८०५
प्राणा वै सत्यमित्युक्तं १४ ९९ १३३०
प्राणो नात्मा जडत्वेन २ ५८ १६०
प्राणो नात्मा बोधहीनो ६ १४ ७६६
प्राणोपाधिक एवात्मा १८ २०३ १९९९
प्राणोपाधिक जीवात्मा ८ ९६ ७९६
प्राणोपानः समानश्च १ ७७ ८०
प्राणोपानः समानश्चो २ ५५ १८७
प्राणोयं कुत उत्पन्नः ७ ३५ ९८०
प्राणः श्रद्धाखादिभूत ७ ८९ ७१४
प्रातीतिकत्वं वेदान्त ८ ९४ ७९५
प्राप्नोति वत्ती द्वे जीवः १३ ११९ १२०६
प्रियं वदन्त्य एहीति ९ ३९ ५६५
प्रेते मनुष्ये संदेहः ११ ३ ६३२
प्रेरणाख्यां धारणां तु ७ २७ ९७९
प्रौढस्य राजगेहस्य ६ ४४ ८२०

ब

बन्धत्वं विशदीकर्तुं १७ २४ १४३८
बन्धनायास्य दामान्नं १४ ७१ १३३२
बन्धस्य कल्पितत्वेन १८ २५९ १९८४
बन्धाख्यमत्युस्तन्मत्युः १७ १३ १४३३
बन्धो देहः स्मतिर्बोधः १६ ३३ १७३७
बहवोतीतकल्पेन्ये १३ १९ ११४३
बहिरङ्गं कर्मजातं १८ ३०० १७००
बहिर्दष्टावपेतायां २ २२ १४१
बहिर्दष्टिर्जग द्वानम् २ २१ १३६
बहिर्मुखेन न ज्ञातं १३ ७ ११३८
बहिष्ठा असुराः स्वर्गे ६ ९४ ८३४
बहुग्रन्थाभ्यासतस्ते ४ ५ ४१५
बहुजन्मसु संचारात् १८ १०० १९३०
बहु स्यामहमेवात्र १० ७९ ८८७
बहु स्यामित्युपादान ३ ४३ ३४८
बहूनि करणान्येषु १ ८५ ८३
बह्वौषध्यो यथैकस्या ९ २१ ५८५
बाढमेतावता वस्तु १९ २२ १४१४
बाधिता अपि भासन्ते १८ २६५ १९६८
बालाकिः परविद्यार्थं ६ ८ ७६८
बालाकिना न विज्ञातम् ६ २१ ८०४
बाल्ययौवनभेदेपि १३ ७७ ११८९
बाह्यभोगप्रदं कर्म ६ २४ ८०९
बाह्यं जगत् पचकोशान् २ १६ १३५
बाह्याक्षविषयेष्वात्म ११ १०३ १०२३
बाह्याक्षाणामुपरमे ७ ५६ ९६४
बाह्येन्द्रियैर्न दश्योयं ११ २१ ६४६
बीभत्साकारणान्येषु १० ८ ८४९
बुद्धावक्षेषु चात्मायं १४ २५ १३१३
बुद्धिजागरणे यद्वत् १८ ८४ १९२३
बुद्धिर्हृदयशब्देन १४ ३० १३१५
बुद्धिविज्ञानसंपक्तः १८ ९० १९१२
बुद्धिवत्त्यात्मचैतन्य १२ ८६ १११०
बुद्धिस्तदाकृतिं कृत्वा २० १३ १७७९
बुद्धिस्थः पर एवात्मा १७ २३३ १५४२
बुद्धिदोषं समाधातुं ३ १३८ ४०८
बुद्धेरन्तः प्रतीचोन्यः १४ ३१ १३१५
बुद्धोपि न मुनिः स्यात् १८ ३०६ १७०४
बुभुत्सतेयमात्मानं १८ ३०३ १७०१
बुभुत्सौ पुरुषेन्येषु २ १३९ ३००
बहदारण्यकप्रोक्तैः १३ २ ११३५

बृहद्रथः स्वस्य राज्ये १० २ ८४१
बोद्धुं बोधयितुं चैतत् १७ २४२ १५४८
बोद्धत्वाल्लोचनेनापि १५ १०० १४०३
बोधक्रमो बुभुत्सूनां ४ ६४ ४६४
बोधयित्वा जीवतत्त्वं १० ४३ ८६७
बोधलभ्यमकामत्वं १८ २४६ १६८१
बोधात् पुरा तु चिद् भ्रान्त्या ६ ७५ ६३५
बोधादूर्ध्वं च कर्तव्यं १८ २८७ १६९५
ब्रह्मचर्यरता ऊर्ध्व- ७ २० ६७३
ब्रह्मज्ञानात्पाशहानौ १२ ३० १०५५
ब्रह्मणो जगदुत्पत्तेः ६ २२ ५८६
ब्रह्मणो मनसोवत्ति- १७ १० १४३१
ब्रह्मणो मरणाभावात् ५ १७ ५०१
ब्रह्मणः सच्चिदानन्दा २० १३६ १८२१
ब्रह्मता नात्मनोन्यत्र १३ २०७ १२६३
ब्रह्मत्वमात्मनो रूपम् १७ ८४ १४७०
ब्रह्मत्वमेव ब्राह्मण्यम् १८ ३१८ १७०८
ब्रह्मत्वादेव जीवस्य १८ २९० १६९७
ब्रह्मदष्ट्या नाममात्र ४ ७ ४१७
ब्रह्म नास्तीति चेद् वेद २ ८८ २३९
ब्रह्मप्रश्नेन पष्टे ते १७ १५८ १५१०
ब्रह्म बोद्धुमशक्तः सन् ११ ११६ १०३४
ब्रह्म यादक् तादगेव १७ १८५ १५२२
ब्रह्मलोकान्तसंसारो ७ ५४ ६८९
ब्रह्मलोकेस्त्येष बोधः ११ १०० १०१७
ब्रह्मवल्ल्यां ब्रह्मविद्यां २ १ १००
ब्रह्म वा इदमग्रेभूत् १३ २२५ १२७१
ब्रह्मवित् परमेतीति २ ५ १०६
ब्रह्मविद्यामते नान्यत् १३ २७ ११५२
ब्रह्मविद्यां शौनकाय ६ १ ५६५
ब्रह्मविन्मुक्तिमाप्नोति १८ २७३ १६९०
ब्रह्मसंलग्नधीरेवं ६ ६१ ६२०
ब्रह्म स्यात् सच्चिदानन्द २० ८ १७७३
ब्रह्माण्डाद् बहिरन्तश्च १७ ५४ १४५४
ब्रह्मात्मत्वं वामदेवः १३ २२८ १२७२
ब्रह्मात्मनोर्यदेकत्वं १७ १५६ १५०९
ब्रह्मात्मनोस्तु समयोः २० १४२ १८२२
ब्रह्मादिकानकाराद्यैः २० १०९ १८१२
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं १७ २०७ १५३२
ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता ये ५ ७८ ५४६
ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता ये ९ ६७ ८३६
ब्रह्मानन्दस्य भूतानि १३ २६१ १२८७
ब्रह्मानन्दस्य लेशाः स्युः ५ ७४ ५४४
ब्रह्मानन्दो न चेदत्र २ १२३ २८५
ब्रह्मावबोधयुक्तानां १८ २७८ १६९२
ब्रह्माभासमिदं रूपं १९ ५६ १७४९
ब्रह्मास्ति नो वेत्येकः २ ९६ २५१
ब्रह्मैव जगदाकारं ६ २७ ५८९
ब्रह्मैव बोधात् प्रागजीवः १३ २०० १२५७
ब्रह्मोपलक्षणायैव ३ ४६ ३४९
ब्राह्मणग्रहणं श्रुत्वा १७ १६२ १५१२
ब्राह्मणादि जगन्मत्य ११ ४१ ९६६
ब्राह्मणोक्तार्थदार्ढ्यार्थम् १८ ११७ १६३६
ब्राह्मणोहमिति भ्रान्त्या १५ ३२ १३७६

भ

भक्ष्यभोज्यैर्लेह्यचोष्यै २० १०१ १८०९
भवेत्तु ब्रह्मसत्तास्मिन् २ १२१ २८३
भातासौ चक्षुरादित्यः २० ५८ १७९५
भाति सर्वेषु सत्यत्वं २ ३७ १६३
भान्ति ते त्वीश्वरस्यापि १८ २९७ १६९९
भान्वादयः प्रमाद्द्वारा १८ ३९ १६०३
भावनाजन्यवत्त्वैव १९ ५० १७४५
भाविदेहात्मता यस्य १८ २१४ १६६९
भासका अपि सूर्याद्याः ६ ७० ६३१
भासमाने साक्षितत्त्वे ५ ८९ ५५६
भास्यं स्वप्नसुषुप्त्यादि १८ ३४ १६०१
भिक्षया लक्ष्यते चर्या १७ १६८ १५१५
भिद्यते हृदयग्रन्थिः ६ ६५ ६२५
भिन्नग्रन्थिः श्वेतकेतुः ३ १३९ ४०८
भिन्ने ग्रन्थौ विवेकेन ६ ६८ ६२७
भिन्नोभूद्धदयग्रन्थिः ३ ११२ ३८७
भूतात्मा तैः प्रेरितः १० १२३ ९११
भूतात्मा प्रकृतेर्जातैः १० १०८ ९०३
भूतानि भूमिर्द्वे लिङ्गे १६ ९ १४१०
भूतिकामो विभूत्यर्थम् ६ ८२ ६४२

भूदेवताया यो देहः १७ २१६ १५३६
भूमात्मानं न जानाति ४ ८२ ४७६
भूमिष्ठोभ्यन्तरो भूमेः १७ २१२ १५३४
भूम्नः सुखत्वे भूमा कः ४ ४० ४४६
भूम्नो वियोगे वस्तूनि ४ ६६ ४६५
भूम्यादिदेवताः कस्मात् १७ २२५ १५४०
भूम्यादिभिः सप्तविधं २० ६६ १८०८
भूम्यादिवियदन्तानां १७ १६३ १५२६
भूयोपि षष्टमप्राक्षीत् १७ २४३ १५४६
भेदभ्रमो निवर्त्तोद्य १६ ६० १७५१
भोक्ता न म्रियते किन्तु १० १५ ८५०
भोक्ता भूतेश्वरस्तद्वत् २ १०५ २६७
भोक्ता भोग्यं प्रेरकः १२ ३४ १०५६
भोक्तभोग्यात्मकं द्वन्द्वं ७ १८ ६७२
भोक्तॄणां नश्वराणां कः १० १६ ८५२
भोगभावात् ततीयत्वम् १८ ६५ १६२८
भोगाधिकरणं देहः १० ७ ८४६
भोगाधिकरणे दोषाः १० १० ८४८
भोगावान्तरभेदौ हि ६ ७६ ६३५
भोग्यभोक्त्रात्मकं द्वन्द्वं ७ ७ ६६४
भोग्यवर्गाङ्कुराख्यं यद् ६ २४ ५८७
भौतिकत्वं पुरा प्रोक्तं ३ १०३ ३८३
भौतिकत्वेखिलस्यैवं ३ ७१ ३६४
भ्रातव्याः स्युः सहोत्पत्तेः १४ ७४ १३३३
भ्रान्तिः सोपाधिकोपाधि- १ २३ ३३

म

मकारः प्रणवस्यान्ते २० १३७ १८२१
मघवन् यत् त्वया बुद्धं ५ ४२ ५२५
मतिरेव बुभुत्सूनां २० ५१ १७६२
मत्तोन्यद् ब्रह्म परमं १० ४७ ८६६
मदीयः पुत्रभार्यादिः २ ४६ १७५
मदीयं मन इत्युक्ते २ ६८ २०३
मध्यवेगे तु भोगानां ४ ७६ ४७४
मध्यस्थे पूर्वपुण्यानां २ १३३ २६६
मध्येस्माकं हे सखायः १६ ६३ १७५१
मनस्येकीभवन्त्यादौ ७ ५२ ६८८
मनसैवेदमाप्तव्यम् ११ ७४ ६६०
मनुष्यलोकः पुत्रेण १७ १६६ १५१४
मनुष्याणां तथा मध्ये १३ २२४ १२७१
मनुष्येभ्यो हिततमं ८ ४ ७२७
मनोत्र सारथिः सर्वै - १० ८६ ८६३
मनोध्यात्ममुपाधिः स्यात् १६ ६० १७६४
मनोन्यायः समोन्येषु १७ २१ १४३७
मनोलयेनुपाधिः स्यात् ३ ८४ ३७२
मनोस्य दैवं चक्षुः स्यात् ५ ६३ ५६०
मनःप्राणौ श्रोत्रचक्षुः- १६ ५ १७१५
मन्तमन्तव्यरूपेण १६ ६६ १७५३
मन्त्रब्राह्मणसंघेन १८ २८८ १६६६
मन्त्रराजं पूर्वतापनीयं २० २ १७७०
मन्त्रराजे नमाम्यन्तैः २० १०५ १८१०
मन्त्रार्थे प्रणवं दीर्घं २० १२६ १८१८
मन्त्राश्चतुर्विधा ज्ञेयाः १५ ५४ १३८५
मन्त्रोक्ता हरयोध्यस्ताः १६ ४३ १४२२
मन्दधीरपि यः श्रोता ६ १६ ८०१
मन्दवेगे तिरस्कृत्य ४ ७७ ४७४
मन्दश्चेदक्षधीकर्त ११ १०२ १०२२
मन्वानः सन्नन्यदोषान् ५ ३७ ५२०
ममैवांशो जीवलोके १० ६१ ८६३
मर्त्योहमिति संधाय ३ १३७ ४०६
मर्मसूत्कृष्यमाणेषु १८ १६४ १६६३
मलमूत्रविसर्गार्थम् ७ ४२ ६८४
मलो माया कर्म तत्त्व- १२ ३१ १०५६
महत्त्वं सर्वगत्वं स्यात् १५ ६६ १३६०
महद् भूतमनन्तं स्यात् १५ ६८ १३६०
महाद्वारेण सहसा ६ ४५ ८२०
महाप्रलयसंपत्तौ १७ ३०० १५७६
महाराजादयस्तस्य १४ ४३ १३२०
महासष्ट्या तत्पदार्थ ६ ४७ ८२०
महिमाख्ये जगत्यस्मिन् ४ ५६ ४५६
महिमाश्चर्यरूपत्वात् १० ६४ ८८१
मां जानीहीत्येवमिन्द्रः ८ ३१ ७४६
मागोचरातिवर्तित्वात् १७ २२७ १५४०
मागोचरातिवर्तित्वात् १७ २७४ १५६३
मातवत् पालयेत् लोकं ८ ६७ ७८८
मा न भूवं सदा सम्यक् २० ६० १७६६

मानुषादिकहैरण्य	१८	१८१	१६५८
मा भूत् सर्वस्वहानिर्नः	१३	२७३	१२६२
मायया कल्पिता लोकाः	४	८०	४७८
मायया दश्यते लोको	१६	७६	१७५७
मायया बहुरूपत्वात्	३	४१	३४६
मायामूलं द्वैतमेत्	१३	६५	११७६
मायाख्याव्यक्ततोप्यस्य	११	५०	६७२
मायाभिरीशो बहुधा	१६	२०	१७२७
मायाया अनतत्वेन	१०	७३	८८३
मायाया विविधत्वेन	२	३६	१६३
मायाविनोस्मात् प्राणादि	६	५३	६१३
मायाविशिष्टमीशानं	१२	२१	१०५१
मायावी शुद्धचिद्वात्मा	१	७२	७६
मायावत्तिविशेषो या	३	४४	३४६
मायाशक्तियुजा तेज	११	६७	१०१५
मायोपाधिक ईशोयं	११	६१	१००८
मायोपाधौ स्थिते तस्य	८	६८	७८६
मायां तु प्रकृतिं विद्यात्	१	३	०७
मायां तु प्रकृतिं विद्यात्	१२	७१	१०६२
मायां तु प्रकृतिं विद्यात्	१३	८८	११६३
मायां तु प्रकृतिं विद्यात्	१६	१६	१७२६
माहात्म्यं मम नैतत् स्यात्	८	१७	७३७
मिथ्याभिमानैः साभास	१६	४१	१४२१
मीमांस्यमेव तेथापि	१६	५६	१७५०
मुक्तस्य व्यवहारस्तु	१५	६५	१४०१
मुक्तावप्यवशिष्टत्वात्	१७	३८	१४४६
मुक्तिस्त्यक्त्वासुरं भावं	१७	६	१४२६
मुक्तिः सुषुप्तिदष्टान्तात्	१८	२४३	१६८०
मुक्तेन बुद्धः साक्ष्येष	५	८८	५५५
मुक्तौ प्राप्यं परं ब्रह्म	७	८३	७१२
मुखबाहूरुपादेभ्यः	१३	४२	११६१
मुखसंचारिणा जाग्रत्	१७	१०३	१४८२
मुख्याधिकारिणः प्रष्टुः	१६	६७	१७६७
मुख्यापरोक्षमुक्तं ते	१७	११२	१४८७
मुख्योपरोक्षो यः प्रत्यक्	१७	८७	१४७२
मुनयोप्यर्चयन्तस्तं	७	६७	७२१
मुनयो बालखिल्या ये	१०	५६	८७६
मुनयो वेदतात्पर्य	७	२	६६०
मुनिपष्टं जगन्मूलं	१७	३०६	१५७०
मूर्च्छासुप्त्योर्यदज्ञानं	२	७७	२२१
मूर्च्छासुप्त्योस्तादशोयं	४	४५	४४८
मूढप्रत्यक्षतः कर्ता	१८	१३३	१६४१
मूढस्य मधुरादिः स्यात्	२	१२२	२८३
मूढातिमूढौ न समौ	११	६	६३८
मूर्खस्यापि सुखे पक्ष	५	८१	५४८
मूर्तं मर्त्यं शीघ्रनाशात्	१४	८४	१३३७
मूर्तं वा यदि वामूर्तं	१४	११०	१३४८
मूर्तमोषध्यादि भोग्यं	७	८	६६५
मूर्तामूर्तं प्रपचश्च	१४	८२	१३३७
मूर्तामूर्तब्राह्मणोक्त	१७	२०८	१५३२
मूर्तामूर्ते ब्रह्मरूपे	१४	६०	१३४०
मूर्तिं तेजसि संहृत्य	२०	१०२	१८०८
मूलकारणतास्त्येव	१२	६५	१११६
मूलकारणतैतेषां	१२	६२	१११४
मगतष्णाम्भसि स्नातः	३	१४	३२६
मतकल्पमिमं देहं	१४	१६	१३०७
मतिः प्राणवियोगः स्यात्	१८	६१	१६२६
मत्युप्रोक्तां नचिकेतः	११	११८	१०३५
मद ऐक्येपि सर्वत्वम्	३	२३	३३२
मदो घटशरावाद्या	३	६	३२२
मद्धेमलोहवस्तूनि	३	३०	३४०
मद्भाराद् घटमारश्च	१	२५	३४
मद्रूपात् कारणद्रव्यात्	३	११	३२५
मेघच्छन्नं चन्द्रबिम्बं	१२	४४	१०६७
मेघेनाच्छादितः सूर्यः	४	४६	४४६
मैत्रायणीयनाम्नी या	१०	१	८४०
मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्यो यां	१५	१	१३५८
मैवं पिताहमित्यादि	१८	१५५	१६४८
मैवं ब्रह्मात्मैक्यबोध	२	१२७	२६१
मैवं मद्धेमलोहेषु	३	५	३२१
मैवं मषात्वात् स्वप्नस्य	१४	४२	१३२०
मैवमात्मा किमज्ञातो	१३	२४६	१२८१
मोक्षोप्यक्षीण आत्मा तु	१४	६५	१३२६
मोदत्रासौ कर्मकार्यौ	१८	१२२	१६३८
मोहतत्कार्ययोर्बाधे	१५	२६	१३७५
म्रियमाणस्य वागादि	३	१०४	३८३

य

य आत्मा ध्यातदेहेषु	२०	१४६	१८२४
य ईदगाप्तकामो यः	१८	२५४	१६८३
य एको वर्ण इत्यादि	१२	६२	१०८४
य एतर्ह्यपि वेदाहम्	१३	२३२	१२७३
य एवं ब्रह्म जानाति	१८	३२३	१७१०
य एवं वेत्त्यसौ सर्वान्	५	१०	४६६
य औपनिषदस्तस्य	१७	२६६	१५७६
यच्चाप्नोति यदादत्ते	१३	१४४	१२२३
यच्चैतन्यानुग्रहेण	११	६८	६८६
यजमानस्य वागादेः	१७	५	१४२८
यजुराद्याश्चतुर्वेदाः	२	६१	१६३
यज्जन्म योनिलक्षाणां	१०	११८	६०६
यज्ञदानादि कृत्यं ते	१०	२५	८५५
यतिदीक्षितचोरादि	१३	१४०	१२२१
यतो लोकयतेर्धातोः	१८	१७४	१६५५
यत्काम्यं कर्मयोगश्च	१८	२७६	१६६१
यत्तु पुण्ययुगे सर्व	१३	२३०	१२७३
यत्तैः संभजनीयं तद्	१६	६१	१७६४
यत्पुण्यं बुद्धिशुद्ध्यर्थं	१८	२७५	१६६१
यत्प्रज्ञानं स्वात्मरूपं	१	१०६	६७
यत्र तिष्ठति भोक्तासौ	६	६१	८३३
यत्रेतिपरशब्दः स्यात्	१३	१५६	१२२८
यत्रैव जागरे स्वस्मात्	१८	१६६	१६५२
यत् सत्यं बाधरहितं	१६	६५	१७६६
यत् सत्यं ब्रह्मकोशाख्य	२	३१	१५५
यत् सत्यं ब्रह्म पूर्वोक्तं	२	११०	२७२
यत् साक्षादपरोक्षं स्यात्	१७	७४	१४६४
यत् सार्वात्म्यं पुरा प्रोक्तं	१८	१४४	१६४५
यथा खद्योतमात्रः स्यात्	३	६८	३६४
यथा गां दर्शयेत्युक्ते	१७	११०	१४८६
यथा दुन्दुभिशब्दत्व	१५	४०	१३८०
यथा प्राणे जगत्सर्वं	८	७८	७७५
यथा भूतातिरेकेण	३	६७	३७७
यथा मात्रादिसत्तेयं	१४	११२	१३५१
यथार्थभाषणं सत्यं	२	७०	२०५
यथा लोके निराधार	४	६२	४६२
यथा विशुद्धमाकाशं	१७	१५३	१५०८
यथा विशेषसामान्यं	१५	४७	१३८२
यथाशास्त्रं विवेच्येत्थं	१	३६	४७
यथा सूर्यस्तमः सर्वं	२०	७६	१८०२
यथा सष्ट्यादयः क्लप्ताः	१३	१२६	१२१५
यथैकस्मादिक्षुरसात्	१७	१६५	१५२८
यथैकस्यैव संबन्धः	१	६४	८६
यदज्ञानं विक्रियते	१०	१३७	६२३
यदन्ते शरणं सर्व-	१२	१७	१०४६
यदन्नं पार्थिवं भुक्तं	३	६२	३६०
यदप्रबोधात् कार्पण्य	१७	२७२	१५६१
यदस्ति नामरूपाभ्यां	२	६७	२५३
यदस्ति तन्न जानाति	१५	३४	१३७७
यदाचर्मवदाकाशं	१२	११६	११३०
यदा न कचन स्वप्नं	६	३०	८१०
यदा प्रबुद्ध्यते सुप्तः	६	३८	८१५
यदावरकमज्ञानं	१०	१३६	६२१
यदा विजिज्ञावात्मानम्	६	६५	८३५
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते	११	१११	१०३०
यदा सुषुप्तिमाप्नोति	३	७५	३६७
यदि भोक्ता भवेत् प्राणः	१४	१०	१३०४
यदुक्तं प्रणवध्यानं	१२	३७	१०६२
यदुक्तं लक्षणं तत्तु	६	१८	५८३
यदोंकारस्य सार्वात्म्यं	२०	७	१७७२
यद्गुह्यं ब्रह्मणो नाम	१४	६२	१३२८
यद् देवैरपि संदिग्धं	११	७०	६८६
यद् देहेस्ति तदेवैषु	११	७३	६६०
यद् ब्रह्मविद्यया सर्व-	१३	१६८	१२५७
यद्यत्कार्यं कारणेन	१७	१८६	१५२५
यद्यत्कार्यं तस्य तस्य	३	२५	३३५
यद्यदुत्पद्यते तत्तत्	७	११	६६७
यद्यन्यतम एतेषाम्	१७	१४०	१४६६
यद्यपीशा नणां देवाः	१३	२३६	१२७४
यद्यप्यव्याकृते काल	१३	७६	११८७
यद्यप्यामुष्मिकी हानिः	८	२५	७४१
यद्यस्मिन् व्यभिचार्यैतत्	१७	६१	१४७४
यद् द्वैतमित्युपक्रम्य	१८	१६७	१६५३
यद्वल्लोके चन्द्रभेदः	१५	८६	१३६७
यद्वा तन्तुष्विव पटः	१७	२४५	१५५०

यद्वाध्यात्मादि भेदोयम्	१८	१०५	१६३१
यद्वानन्वागतत्वेन	१८	१२९	१६४०
यद्वा विराडधिष्ठानम्	१३	१०१	१२०२
यद्वै तदित्युपक्रम्य	१८	१६७	१६५३
यद्वै तन्नेत्यादि वाक्यैः	१८	१६०	१६५०
यद्वोपलब्धिमात्रोपि	१४	१९	१३०९
यद्वोपलभ्यो देहादेः	१४	२१	१३१०
यन्नाभिधीयते वाचा	१९	४७	१७४४
यन्मुक्तरूपसाक्षित्वात्	१३	१५४	१२२८
यन्मूलं तत् स्वयंज्योतिः	११	९६	१०१३
यमन्तर्मुर्खमीशो नु	११	३९	९६३
यया यया भवेत्पुंसां	१३	९५	११९८
यल्लौकिकं वस्तु यच्च	१९	६४	१७५३
यश्चतुर्भेद ओताद्यैः	२०	९२	१८०७
यस्तन्तुनाभ इत्यादि	१२	१०२	११२२
यस्मात्परं नापरं वा	१२	५५	१०७९
यस्मात्प्रसिद्धं नास्त्यन्यत्	१७	२५२	१५५३
यस्मादन्नरसः कोशः	१८	१४	१५९०
यस्मादविद्ययैवात्मा	१४	६१	१३२८
यस्य देवे परा भक्तिः	१२	११९	११३२
यस्य वेदान्तमेयत्वात्	१३	८३	११९०
यस्यां तु विद्यावस्थायां	१५	९२	१४००
यस्यामपरविद्यायां	६	८	५७२
यस्यामविद्यावस्थायां	१५	८९	१३९९
यस्येन्द्रियस्य योर्थो	१७	२२	१४३७
यष्ट्यासौ ताडितः सुप्तः	९	१३	७९९
यागज्ञानमनुष्ठानाद्	१३	२१७	१२६८
यागविद्येवात्मविद्या	१३	२२७	१२७२
याजुष्यां कठशाखायां	११	१	९३१
याज्ञवल्क्योत्र मैत्रेयीं	१५	१०३	१४०४
याज्ञवल्क्योश्वलादिभ्यः	१७	१	१४२५
यानैः क्वापि ज्ञातिभिश्च	५	६९	५४१
या प्रीतिरविवेकानां	१३	१९५	१२५५
यामात्मब्राह्मणे विद्यां	१३	२८९	१२९९
यावदद्वैतमात्मानम्	९	६३	८३४
यावन्निश्चलता तावत्	२०	१०६	१८११
या वेदेनोदिता विद्या	१०	१२७	९१५
युज्यते जायमानः सन्	१८	८९	१६२५
युज्यते मुक्तभावोयं	१८	२७७	१६९२
यूयं मा प्राप्नुत भ्रान्तिम्	७	२९	६७७
ये घटादिषु मद्भागाः	३	२२	३३२
ये तु पश्यन्ति तं धीराः	१२	१०४	११२३
येन चक्षुरिदं दृष्टं	१७	१२३	१४९२
येन चिह्नेन तत्रायं	१७	१८४	१५२२
येन पश्यत्यसावात्मा	१	८३	८३
येन शब्दः श्रूयते तत्	१९	२१	१७२८
येनानुज्ञायते सोयं	२०	४२	१७८८
ये वेदवादिनस्ते तु	१२	२	१०३८
योकामस्तस्य न प्राणा	१८	२४७	१६८१
योगादद्वैतविज्ञाने	१०	१३४	९१८
योगिनः सगुणध्यान	७	१४	६६९
योगेनान्तर्मुखा बुद्धिः	११	२२	९४९
योगो विवेक इत्युक्तौ	२०	५४	१७९३
योग्यायोग्यव्यवस्थेयं	१३	१०५	१२०३
योग्योहं चेत् तर्हि	११	२३	९५१
योण्डाद्बहिःस्थितोवायु	१७	६५	१४५८
यो देवानामिति प्रोक्तैः	१२	५२	१०७३
यो देवानामषीणां वा	१३	२२३	१२७०
यो निष्पापोजरोमत्यु	५	३	४८९
योनूदितो नेति नेति	१७	२९५	१५७४
योन्यथासन्तमात्मानं	१५	३५	१३७७
यो बुभुत्सुरसौ प्राणं	४	२३	४३०
यो भावान् क्षीरबीजादीन्	१२	८४	११०७
यो भूतात्मोदितः	१०	१०४	९००
यो भोक्तात्रोत्थितः सोयं	९	२०	८०३
यो मायावी स सर्वेषां	१२	९७	१११८
योयं पुरुषशब्दोस्मिन्	१६	३६	१४१९
यो यः सजतिलोकेस्मिन्	१०	१४३	९२६
यो विज्ञानमयः सुप्तौ	१४	८	१३०४
यो विज्ञानमयस्तस्मिन्	२	१०४	२६५
यो विज्ञानमयस्तस्य	१४	२३	१३१२
यो विप्रजातिश्चैतन्यात्	१५	३१	१३७६
योषिदालिङ्गितक्षेत्रं	१८	१४९	१६४७
योषिद्योनिं प्रविश्यायं	१	४७	५६
योसावविद्यया देही	१६	२६	१४१६
योस्मिन् खंडेवर्णितोसौ	२०	९०	१८०६

यः कर्मफलभोक्तास्ति	११	७१	९८८
यः कोपि ब्रह्म वेत्त्येष	६	९९	६५४
यः पुरा स्वप्नदष्टान्तात्	१८	२४२	१६८०
यः पूर्णः स समानः सन्	१८	७८	१६२०
यः पष्टः सपराग् वत्ति -	१८	५४	१६०९
यः संसारी पुरा प्रोक्तः	१८	२३१	१६७५
यः सर्वं विषयीकुर्वन्	१७	१२९	१४९४
यः सर्वेशत्वादिलक्ष्यस्तं	१८	२९९	१७००
यः सुप्तौनिश्चितः स्वात्मा	१४	५६	१२२६
यः स्वकारणसंसर्गः	१७	१४९	१५०५
यः साक्षी चित्पदार्थोसौ	१०	४२	८६७
र			
रजस्तमोक्तयो या	२०	१२१	१८१६
रज्जुदैर्घ्यं यथा सर्प	२	११३	२७५
रथादौ नियता चेष्टा	१७	१०८	१४८५
रथाश्वादीनि वस्तूनि	१८	११४	१६३५
रथिनो वास्तवं रूपं	११	५३	९७६
रथे प्रयोगयोग्योश्वः	५	८४	५५१
रविध्यायी तु कृष्णोपि	७	१६	६७०
रविभूमिवियद्वायु	७	४८	६८६
रविसोमाग्निशब्दादि	१८	२९	१५९८
रवेरनुग्रहश्चक्षुः	७	५०	६८७
रव्याद्याः व्यष्टयः प्रोक्ताः	१४	५	१३०२
रश्मिवत् प्रसता वत्तिः	१०	३४	८६२
रागादिहेतुर्मायोक्ता	१२	३२	१०५६
राजत्वं राजनाद् भास्वत्	१६	२५	१४१५
राजदष्टान्ततः प्रोक्तां	१८	२०७	१६६८
राजन् बुभुत्सवे तुभ्यं	९	३	७९३
राजपुत्रः षोडशभिः	७	८४	७१२
राजानं प्रयियासन्तं	१८	२०४	१६६६
राजा निवार्य तं प्राह	९	४	७९५
राजा बालाकये प्राह	९	१	७९२
राज्ञां भोगप्रधानानां	१०	५	८४५
राज्ञा कृषिफलं यद्वत्	१३	२१९	१२६९
राज्ञा जीवितदानेन	१८	२००	१६६५
राज्ञोस्य तीव्रवैराग्यात्	१०	२४	८५५
रामरावणयोर्युद्धं	१५	८५	१३९६
रुचिमान् कर्मसंन्यासी	१८	३१६	१७०६
रुचेरतिशयः काम्ये	१८	२४०	१६७९
रूपं रूपं प्रविष्टोयं	१६	३९	१४२०
रूपत्रये भूतगते	३	५७	३५७
रेतसोमूः प्रजा जाता	७	१९	६७२
रोगेन जरया वा यद्	१८	१९५	१६६३
ल			
लये प्रज्ञा प्रतिष्ठा स्यात्	१	१०२	९४
लवणस्य घनं नीरे	३	१२७	३९८
लिङ्गदेहपरिच्छिन्न	१५	१९	१३६९
लिङ्गं वाच्यं परोक्षेर्थे	१७	१११	१४८७
लिङ्गदेहोपाधिरात्मा	१८	२२५	१६७३
लिङ्गोपाधित्वतो जीवाः	२०	१५२	१८२६
लोकं धत्ते स्वयं भूमिः	१७	२१३	१५३४
लोकत्रयार्थैषणाभ्यः	१७	१६९	१५१५
लोकत्रये बहुविधान्	८	१६	७३५
लोकसिद्धमुपादानं	१८	११५	१६३५
लोकसिद्धा नियम्यस्य	१७	२३०	१५४२
लोकांस्तानपि गन्धर्वात्	१७	५६	१४५५
लोकायताः परं लोकं	१८	९३	१६२७
लोके काचिदजा वर्ण-	१२	६३	१०८६
लोके गुणक्रियाजातिः	८	३५	७४९
लोके घटो मतो येन	१९	६५	१७५३
लोकेषु ज्ञानकर्मभ्यां	७	७२	७०४
लोकैषणेति देवादि	१७	१६५	१५१३
लोहकारः स्वहस्ताभ्यां	१०	८१	८८९
लोहे मुद्गरघातेन	१०	१२०	९०९
लौकिकं वैदिकं सर्वं	१	५३	५९
लौकिकी वैदिकीश्चान्याः	६	६४	६२३
लौकिके वैदिके कर्त	२	७१	२१०
व			
वक्तव्यार्थे समाप्तेपि	१८	१८७	१६६१
वक्ति चेन्निग्रहस्थान-	१७	२४८	१५५१
वक्ष्यमाणविवेकेन	२	१८	१३२
वक्ष्यामीत्यभिमानोयं	८	७६	७७२
वने ध्यातुं समासीनः	११	३३	९५९

वयं देहमवष्टभ्य	७	२८	६७६
वयमप्येवमेवेति	१३	४७	११६५
वरदानेन संवादं	१८	२६	१५६७
वरिष्ठं कर्म मत्वास्मात्	६	४४	६०१
वर्णाश्रमाभिमानी सन्	१३	२६६	१२६०
वर्णितोयं प्रयत्नेन	१३	५०	११६६
वर्तिनिष्ठो यथा दीपः	१०	३७	८६३
वस्तुतत्त्वं जडं किंचित्	१	५	०८
वस्तुतत्त्वविचारे तु	४	६०	४५६
वस्तुतत्त्वविचारोतः	११	५२	६७२
वस्तुतो बहुभावश्चेत्	३	३६	३४६
वस्तुवत्तेन निःशेष	१७	२६७	१५७५
वह्नेः सर्वाशिनो मत्योः	१७	२७	१४४०
वाक्चक्षुःश्रोत्रमुख्यानि	१६	१२	१७१६
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः	१	७५	७८
वाक्पाण्यादिः क्रियावर्गः	७	२६	६७६
वाक् प्रज्ञाया एकमंशं	८	७१	७७०
वागादिकं बाह्यमक्षं	११	५६	६७७
वागादीननुग ह्नन्ति	६	६३	६५१
वागाद्या देवतास्तासां	१८	३	१५८५
वागाद्युपाधिसंबन्धात्	१४	४०	१३१६
वाङ्नाम्नः कारणत्वेन	४	८	४१६
वाचा नामाभिवदनं	८	८०	७७६
वाचा वा मनसा मात	८	१८	७३७
वाचैवारभ्यते किं वा	३	१३	३२६
वामदेवोखिलानन्दान्	१	६६	७४
वायुश्चैकोपि देहेषु	११	८८	१००५
वायुः सूर्यो वह्निरिन्द्रः	२	१३०	२६३
वायौ श्वासक्रिया सर्व	६	३२	८११
वासना कर्म विद्या च	१८	२३७	१६७८
वासनामात्रसंज्ञा तु	१५	६६	१४०१
विक्षिप्तचित्तादैकाग्र्यं	४	१२	४२२
विचारणीयं तत्सत्यं	४	३४	४३७
विचारदष्ट्याधिष्ठानं	१८	५२	१६०८
विजातीयसजातीय	१७	२७७	१५६४
विज्ञानं कर्ततोपाधिः	१८	२३२	१६७५
विज्ञानकोशन्यायेन	२	८२	२३३
विज्ञानघन एवेति	१५	७१	१३६०
विज्ञानध्यानतो नश्येत्	२	७२	२१२
विज्ञानपुरुषस्यास्य	१८	१७५	१६५६
विज्ञानमन्तःकरणं	१४	१७	१३०८
विज्ञानमिति चैतन्यं	१७	३०७	१५७६
विज्ञानहेतुर्मननं	४	३६	४४०
विज्ञानैकघनस्यास्य	१५	८०	१३६४
विज्ञानैकघनोक्त्यास्य	१५	८१	१३६४
विज्ञायतेनेन सर्वम्	१८	५८	१६११
विण्मांसहेतुरन्नं यत्	३	६१	३७६
वित्तात् पुत्रः प्रियः पुत्रात्	१३	१८८	१२४६
वित्तस्य कर्महेतुत्वात्	१५	२	१३५८
विदेहमुक्तो ब्रह्मत्वात्	४	८७	४८२
विद्याङ्गं तत्फलात्मानं	१७	१६३	१५१२
विद्यातत्फलयोर्विघ्न	११	११६	१०३५
विद्या तलवकाराणां	१६	१००	१७६८
विद्याफलमिदं ब्रह्म	१२	१११	११२८
विद्यामेतां वेद योसौ	१६	६८	१७६७
विद्यायाः परमोत्कर्षे	१८	१४१	१६४४
विद्यायोगौ यमेनोक्तौ	११	६४	६८४
विद्यावंशजपाद्विद्या	१६	५०	१४२४
विद्या संपादिता तेन	१८	२२०	१६७१
विद्वज्जनानुभूत्यैष	१७	१४१	१४६६
विद्वद्दृष्ट्या स एवात्मा	१८	३२२	१७१०
विद्वद्भाषामबुध्वान्यः	१७	११३	१४८८
विद्वानप्युपसन्नाय	६	७२	८३८
विद्वान् ब्रह्मेति मुक्तश्चेत्	२	१२६	२६०
विद्वान् भूत्वा समुत्पन्नः	१	६१	६३
विप्रक्षत्रादिसद्योनिं	१०	१०२	६००
विप्रत्ववत् क्षत्रलोक	१५	३३	१३७७
विप्रस्य फलदो वेद	१३	२१६	१२६८
विभज्य पचधात्मानं	७	४७	६८५
विभागाद्यंशवैषम्ये	१३	१२१	१२१२
विभ्रमापादिताः कामाः	१८	२४६	१६८१
विरक्तः कर्त्रकर्तारौ	१२	६५	१०८८
विरक्तस्योक्तबोधः स्याद	१	४३	५३
विराजो जीवतामाहुः	१३	४५	११६३
विराट्सूत्रात्मकं मात्रा-	७	७८	७०८
विराट् सूत्राव्याकृताख्यं	७	७६	७०६

विराडकारः सूत्रात्मा	७	७५	७०६
विराडपि ततो जज्ञे	१३	८	११३९
विराडाद्यपरं तद्वत्	७	७४	७०५
विराडिन्धादिभिर्भेदैः	१८	१८	१५९२
विराड्ढिरण्यगर्भेशा	२०	२०	१७८०
विराड्ढिरण्यगर्भाख्यः	१६	१९	१४१४
विरोचनस्तामसत्वात्	५	२९	५१२
विवादगोचरापन्ना	१७	२६३	१५५७
विवादशङ्कापीशेस्मिन्	१७	२७१	१५६१
विविच्यते नित्यसत्ता	२०	५६	१७९५
विविधत्वमविज्ञाय	१९	६७	१७५३
विविनक्ति यथा भोक्ता	६	७७	६३७
विवेकयोगस्तद्बोध	१२	१०६	११२५
विवेकयोगौ संप्रोक्तौ	२०	८२	१८०४
विवेकाद्वा ध्यानतो वा	२	५१	१८०
विवेकी ब्राह्मणः सत्तां	२	९८	२५५
विवेके सति साक्ष्येव	५	४९	५३०
विश्वाकारजनेः प्राक् च	१२	५९	१०८१
विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्य	१३	१५०	१२२६
विष्टब्धो वायुना देह	१७	२०९	१५३३
विष्ण्वादीनामीश्वराणां	१२	९९	१११९
विषयप्रलयेनाक्ष-	१५	६१	१३८७
विषया इव न प्रत्यक्	१३	१९६	१२५५
विषयानन्दपर्यन्तैः	२	१२५	२८८
विषयासक्तिरेवास्य	१०	२६	८५५
विषयासङ्गरूपो यः	२०	१२०	१८१६
विषयाहरणं शुद्ध	४	८८	४८३
विषये दुःखजातं यत्	१	६८	७२
विस्पष्टत्वं व्याकुलत्वं	१३	९६	११९९
विस्फुलिङ्गा यथा चाग्नेः	१४	५८	१३२६
वृक्षः काण्डरुहो बीज	१७	३०१	१५७७
वृक्षे पक्षी फलं भुङ्क्ते	६	७४	६३४
वृक्षे मधुकरः पुष्प	५	८०	५४७
वृक्षस्य स्वगतो भेदः	३	३२	३४२
वृत्तिसंघं प्राणमयं	२	५७	१८८
वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं	१०	३५	८६२
वृष्टं जलं पर्वताग्रे	११	७६	९९३
वृष्टं तु निर्मले कूपे	११	७७	९९३
वेदान्तधीनिश्चितार्थाः	६	८९	६५०
वेदान्तानामनेकत्वात्	६	४८	६०५
वेदान्ते परमं गुह्यं	१२	११८	११३२
वेदानधीत्य गर्वेण	३	२	३१८
वेदानामुत्तरे भागे	१०	५८	८७६
वेदानामुत्तरे भागे	१०	९६	८९६
वेदाभ्यासात् पुरा ताप	४	३	४१३
वेदाः षडङ्गसहिताः	१९	९४	१७६५
वेदैश्चतुर्भिरुत्पन्ना	७	१००	७२३
वेद्मीति यद्बलादात्थ	१९	४३	१७४२
वेद्मीति यद्बलाद् वक्ति	१७	११५	१४८९
वैदिक्यप्यधिकारस्य	६	७	५७०
वैराग्यं नाचिकेतस्य	११	१२०	१०३६
वैराग्यं परमात्मात्र	१०	१४९	९२९
व्यक्तं सर्वं सूत्ररूपं	१७	२४०	१५४६
व्यभिचारो मिथो यद्वत्	१७	९२	१४७५
व्यवहारदशायां किम्	४	५७	४५७
व्याकृतं द्विविधं देहं	१३	९०	११९५
व्याकृताव्याकृताकारौ	१९	२२	१७२८
व्याकृताव्याकृताभ्यां तत्	१३	१६२	१२३२
व्याकृताव्याकृते द्वे	१३	१५७	१२२९
व्याघ्रादिः सुप्त एवात्र	३	१२१	३९४
व्याधोयमित्यसावुक्तिः	१३	१३३	१२१८
व्याध्याद्युपद्रुतो लोकः	१३	१९२	१२५३
व्यापारमिन्द्रियोत्थानं	१९	९	१७१८
व्याप्नोत्यनवशेषेण	१३	१४५	१२२४
व्यावहारिक आनन्दे	४	६३	४६३
व्यावहारिकसंज्ञासौ	१५	१०१	१४०३
व्युत्थाय कारणात् कार्यात्	१३	१६०	१२३१
व्युत्थायाथ विदित्वेति	१७	१६०	१५११
व्योमाद्या देहपर्यन्ताः	२	३९	१६५
व्रीह्याद्यन्नं सतीष्वेव	३	९४	३७७

श

शकटं बहुभिर्द्रव्यैः	१८	१९१	१६६२
शकुनिः सूत्रबद्धो यः	३	८१	३७१
शक्तौ चिदाभासवत्यां	१९	२७	१७३३
शब्दप्रत्ययकार्याणि	३	१९	३३०

शब्दस्पर्शादिहीनात्मा ११ ६१ ६८१
शब्दस्पर्शौ रूपरसौ ११ ६२ ६८१
शब्दादिविषयेहंधीः ८ ८१ ७७६
शब्दार्थज्ञःस्वात्मतत्त्वा- ११ १७ ६४४
शयानो मचकेक्षेषु ११ ३४ ६५६
शरावे जलयुक्ते वा ५ २३ ५०७
शरीरगा त्वगप्येवं ८ ७२ ७७१
शरीरत्रयहीनो यः २० १३३ १८२०
शरीरमस्याधानं स्यात् १४ ६८ १३३१
शरीरस्थो हि लिङ्गात्मा १८ १६२ १६६३
शाकायन्याय भगवान् १० १५० ६३०
शाखां वक्षे जीवपूर्णे ३ १२३ ३६५
शाखातलवकाराणां १६ १ १७११
शाखाप्रवर्तको मैत्रो १० ५५ ८७४
शान्तं जरामत्युहीन ७ ८२ ७१०
शान्तः क्रोधादिराहित्याद् १० ६० ८७८
शाम्येद् भूतात्मता येन १० १२५ ६१३
शास्त्रप्रसिद्धिं तच्छब्दः १८ १४५ १६४५
शास्त्राधिकारयुक्तेस्मिन् १८ २८० १६६३
शास्त्रैकगम्यतासिद्ध्यै १७ २५६ १५५५
शिरःपक्षौ मध्यपुच्छे २ ४८ १७७
शिरश्चक्षुर्मुखं प्राणः २० २३ १७८१
शिवमद्वैतमित्यादि १८ १४६ १६४६
शिशुवद् विषयासङ्ग- १४ ६७ १३३१
शिष्टास्त्यजन्ति पापिष्ठं ८ २६ ७४१
शिष्यो बहिर्मुखो न स्यात् ११ २० ६४८
शुद्धयङ्कुरितमैकाग्र्यं १५ ६ १३६२
शून्यजत्वे नामशून्यं ३ ३७ ३४५
शणु प्रियं हितं चेति ११ ७ ६३६
शणु विद्ये उभे तावत् ६ ४ ५६८
शणोति येन यः श्रोता १ ८४ ८३
शण्वसौ पुरुषो देहे ७ ८५ ७१३
शोकं तरति पाप्मानम् ६ ६७ ६५५
शोकं तरत्यात्मवेदी ४ ४ ४१४
शोकं तरत्यात्मबोधात् २ ७३ २१५
शोकादिसर्वग्रन्थीनां ४ ८६ ४८४
शोकः स्यान्मनसोधर्मः ५ ५ ४६१
शौनकस्य ब्रह्मविद्या ६ १०० ६५८
श्यामाकादेरणोरेषा ११ २६ ६५६
श्रद्धायाः कारणं निष्ठा ४ ३७ ४४१
श्रद्धाद्याः पच तत्रस्थाः २ ६६ २०५
श्रद्धालुं योग्यशिष्यं ४ २८ ४३३
श्रवणं गुरुशास्त्राभ्यां ३ २७ ३३७
श्रवणं मननं चोभे २ ६४ २४६
श्रवणं मननं ध्यानं १० ५० ८७१
श्रवणं मननं ध्यानं ६ ८७ ६४८
श्रवणं शास्त्रतात्पर्य १७ १७६ १५२०
श्रवणान्मननाद् ध्यानात् ६ ४६ ६०८
श्रवणादिक्रिया नैव ७ ५७ ६६३
श्रुतिः श्रोत्रजधीवत्तिः १७ १२४ १४६२
श्रुतिस्मतीतिहासानां २० १५६ १८२७
श्रुत्यर्थाविष्कृते हेतुः १५ २२ १३७१
श्रुत्वा संसारिणं बाल- १० १२४ ६१२
शण्वोङ्कारः प्रतीकं ७ ७३ ७०४
श्रूयतां परमात्मोक्तः १० १०१ ६००
श्रूयतां भोक्तदोषाश्च १० १२ ८५०
श्रूयतामयमोंकारः २० ६ १७७२
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा ८ ४५ ७५८
श्रोत्रादीनामुपाधीनां १४ ११ १३०५
श्रोत्रिये कामराहित्यात् १८ १८४ १६५६
श्रोत्रियेणानुभूतो यः १८ १८६ १६६०
श्रोत्रियो वेदशास्त्रज्ञः १८ १८२ १६५८
श्लोकेनाद्येन यः पन्थाः १८ २७२ १६६०
श्वासस्योपरतावुष्णं ३ १०५ ३८३
श्वासाधोगतिवत्ती द्वे १ ७८ ८०
श्वासाधोगत्यन्नसाम्यो १० ७८ ८८८
श्वासोधोगमनं कृत्स्ने २ ५६ १८७
श्वेतकेतुः सर्वबोधं ३ २८ ३३८
श्वेतकेतोर्ब्रह्मविद्या ३ १४० ४१०
श्वेताश्वतरनामा यः १२ १ १०३७
श्वेताश्वतर नामाहं १२ ५४ १०७८

ष

षट्सु प्रश्नेषु निर्णीतं ७ ५३ ६८६
षडङ्गसहिता वेदा ६ ५ ५६८
षष्ठाध्याये याज्ञवल्क्यः १८ १ १५८३

षष्ठीगुणक्रियाजाति १९ ३८ १७४०
षष्ठे खण्डेथ विद्यायाः २० ११९ १८१६
षष्ठेस्मिन् ब्राह्मणे ब्रह्म १७ १८८ १५२४
षष्ठ्यन्तं करणं तस्य १९ २४ १७२९
षष्ठ्यन्तस्य त इत्यस्य १७ ८९ १४७३

स

संयोगः समवायो वा १८ २६७ १६८७
संशयं च विपर्यासं ४ ३५ ४३८
संस्मत्याखण्डवाक्यार्थं २० १०८ १८११
संसारकाल एवास्ति ४ ४३ ४४७
संसारकूपपतितं १० २३ ८५४
संसारभूमिवर्तित्वात् १७ ४७ १४५१
संसारभ्रमणं तस्य १० ११४ ९०८
संसारमोक्षयोर्भूमा ४ ४४ ४४७
संसारवक्षात्कालादि १२ ९८ ११७४
संसारहेयतां बुद्ध्वा १० २७ ८५९
संसाराख्यमहाव्याधेः १३ ६५ १११६
संसारिणां देहपातः ६ ९० ६५०
संसारोत्कर्षसीमेत्थं १७ ७० १४६०
संहृते जगति ब्रह्म २० १४० १८२२
स इत्यनेन निर्देष्टुं १६ १२ १४११
स इत्यनेन शब्देन १३ १०० १२०१
स ईयते यत्र कामं १८ १३० १६४०
स एवं ब्रह्म जानाति १८ ३२३ १७१०
स एव मधु तत्त्वाख्य १६ २३ १४१५
स एवोक्तो देहसाक्षी १० ६६ ८८२
स एष परलोकस्य १८ १३६ १६४२
स एष कर्मजो बुद्धेः १८ २१५ १६६९
स एष परमोप्यात्मा १३ ९ ११३९
स एषोत्रानखाग्रेभ्यः १३ ९९ १२०१
स कर्तास्मिन् मते देहे ११ ८३ ९९९
सकर्तकाः प्राणचक्षुः- ११ ८१ ९९६
सकामं च मनस्तद्वत् ११ ६७ ९८५
सकृद् बोधो वेदनं स्यात् १८ ३०८ १७०३
स खिल्य उदधौ क्षिप्तः १५ ६५ १३८९
संकल्पाध्यवसायाभि- १० ७० ८८४
संकल्प्येदं सम्यगिति ४ ११ ४२१
सचोत्तरायणे प्रेत २ १४९ ३१४
सच्चत्यच्चेति सत्त्याख्याः १४ ११९ १३५५
सजातीयविजातीय- १७ ८० १४६७
सता संपद्यते जीवः ३ ११३ ३८८
सति कर्मणि वैचित्र्यम् १७ ५० १४५१
सति सर्वेन्द्रियागम्ये ३ १२८ ४०१
स तूत्तमब्रह्मरूपं ५ ६७ ५३९
सत्तत्त्वे मायया बद्धं ३ ८२ ३७२
सत्यमेव ततः प्रज्ञो ८ ५९ ७६३
सत्त्वासत्त्वे अन्यदीये २ ११९ २८०
सत्ताभानप्रीतयोत्र ४ ६५ ४६५
सत्प्रत्यक्षं परोक्षं त्यत् २ १०६ २६७
सत्यं ज्ञानमनन्तं १९ १८ १७२५
सत्यं तपो दमः शान्ति २ १४६ ३१०
सत्यं तपो ब्रह्मचर्य ६ ७९ ६३९
सत्यकामस्तु पूर्वोक्त- ७ ७१ ७०३
सत्यप्रतिज्ञः स गुरुः १६ ३४ १४१८
सत्यमानुषयोरेवं १६ १७ १४१३
सत्यमेवं भवेदेतत् १३ १८३ १२४७
सत्यसंकल्पता प्रज्ञा ८ ४३ ७५६
सत्यसत्यत्वविस्तार- १४ ८० १३३६
सत्यस्य ब्रह्मरूपत्वात् २ ३५ १६१
सत्यस्य सत्यमनिदं १४ १०७ १३४७
सत्यस्य सत्यमित्येतत् १४ ६३ १३२८
सत्याधारे परिच्छेदः ४ ५६ ४५६
सत्यामप्यात्मविद्यायां १३ ३७ ११५८
सत्येवं निखिलं पूर्वम् २ ९३ २४४
सत्त्वात् संजायते ज्ञानं २० १२२ १८१६
सत् सर्वत्र स्थितं कस्मात् ३ १२६ ३८८
सदद्वैतं भवेत् सूक्ष्मं ३ १०८ ३८४
सदात्मनः पथग्भूतं १ ३४ ४१
सदाभूयासमेवाहं १५ ११ १३६५
सद्रूपः परमात्मा स्यात् २ १०८ २६९
सद्रूपः पुरुषस्तस्य ११ ५१ ९७२
सद्वस्तुन्येवमारोप्य ३ ५४ ३५५
सद्वस्तु ह्यात्मनस्तत्त्वं १ ३२ ३८
सनत्कुमारविद्यायाः ४ ९० ४८५
सनत्कुमारश्छान्दोग्ये ४ १ ४११

सन्तापाख्यं परं ज्योतिः ५ ५३ ५३३
सन्त्यस्य हरयोक्षाख्या १६ ४२ १४२१
सन्त्येव सच्चिदानन्दा ४ ६८ ४६६
संनिवेशो नेत्रदश्यः १४ ८३ १३३७
संनिवेशोपाधिहाने १ २६ ३७
सन्मात्रो नित्य इत्यादि २० १५५ १८२७
सन्मूलाः सकला देहा ३ ६६ ३७७
सप्तमब्राह्मणे तर्कं १७ २०२ १५३१
स फलार्थंकर्म कुर्यात् १२ ८७ ११०६
स भोक्ता त्रिषु देहेषु ५ ४६ ५२७
सम एव धिया लोकौ १८ ८० १६२१
समर्था सैव ते यस्माद् १८ २२२ १६७१
समवायस्त्वया प्रोक्त ३ १६ ३२७
समष्टिसूत्रवज्ज्ञेयः २० १५३ १८२६
समष्टिकर्ततोपाधि ११ ४६ ६७२
समष्टिरूपोहंकारः १० १३६ ६२४
समष्टिव्यष्टिरूपं यः १७ ६६ १४५६
समष्टिव्यष्टिरूपेण १७ २०६ १५३२
समस्तजीवसंघाख्यं ७ ८० ७०६
समस्तव्यस्तरूपत्वं १५ ८७ १३६८
समागतं वह्निमीशः १६ ८१ १७५६
समाधावात्मरूपेण ५ ८७ ५५४
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु २ ७६ २२०
समानः स्थापितो मध्ये ७ ४३ ६८४
समानायां मतावेको ३ १३३ ४०६
समाप्ता ब्रह्मविद्येयं १६ २८ १४१६
समिन्मांसाज्यमुख्यानां १७ ६ १४३०
समुत्थितस्य जीवत्व ५ ६१ ५३६
समुद्रखिल्यौ दष्टान्तौ १५ ५८ १३८७
समुद्रतुल्ये देहेस्मिन् १ ८ १३
समुद्रो द्विगुणो भूमेः १७ ६३ १४५७
स मुमूर्षुर्यदा देहे १८ २०६ १६६८
समे शुचौ शर्करादि १२ ४१ १०६४
संपच्च परमैषैव १८ १७६ १६५६
संपूर्णो मानुषानन्दः २ १३२ २६६
संभूयस्तुतिरत्रेति १८ १२ १५६०
स यत्र प्रस्वपित्यत्र १८ १०२ १६३०
स यदा वासनामस्य १८ १०१ १६३०
सर्पधारादण्डमाला २ ३८ १६५
सर्पधारादिका भ्रान्त्या २ १११ २७३
सर्पादीनां कल्पितानां १७ १३२ १४६५
सर्वं जगदुपादाने ३ २६ ३३६
सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात् १६ ८ १४०६
सर्वकामाप्तिरेषाथ २ १३४ २६६
सर्वकार्येषु शक्तत्वात् १२ १६ १०५०
सर्वगस्यापि सूक्ष्मत्वात् ६ १५ ५८१
सर्वगस्य मनोमात्र १८ २२३ १६७२
सर्वचक्षुःस्वरूपोपि ११ ८६ १००६
सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च १७ २२२ १५३८
सर्वज्ञेनोपदेष्टापि ५ ६८ ५६३
सर्वत्र युक्तेर्दष्टत्वात् १२ १२ १०४६
सर्वप्रत्ययवेद्यं यत् १६ ५५ १७४६
सर्वप्राण्यन्तरात्मासौ १२ १०३ ११२२
सर्वभूतान्तरात्मैकः ११ ६० १००७
सर्वमज्ञात एव स्यात् १३ १७४ १२४०
सर्वमात्मैव सम्यग्धीः १५ ७६ १३६३
सर्ववस्तुष्वनुस्यूतं २० ४१ १७८८
सर्ववेदेषु यद् वेद्यं ११ २५ ६५२
सर्वव्यापिनमात्मानं १२ ३६ १०५६
सर्वसंसारदुःखानां १४ ५१ १३२४
सर्वशास्त्रारम्भ एव १३ ६८ १२००
सर्वस्य जगतो वस्तु २० ७६ १८०२
सर्वस्याक्षरमात्रत्वात् १७ २८० १५६५
सर्वस्वतुल्ये नपशौ १३ २४५ १२७६
सर्वाक्षागोचरत्वेपि ११ १०५ १०२७
सर्वसाधारणः सर्ग ६ ४० ८१६
सर्वात्मकं ब्रह्म यत् २० १३६ १८२२
सर्वात्मत्वेपि देहादि ५ ७७ ५४६
सर्वान्तरत्वं सार्वात्म्य १७ १३० १४६५
सर्वात्मभावः परमः १८ १४२ १६४४
सर्वाधिष्ठानसन्मात्र १३ १४६ १२२४
सर्वाननशिरोग्रीवः १२ ५८ १०८०
सर्वानुभव एवायं १६ ४७ १४२२
सर्वान्तरत्वं दुःसाध्यं १७ ६८ १४७८
सर्वान्तरतरत्वेन १३ १६१ १२५२
सर्वार्थकरणं बुद्धि १८ ६२ १६१३

सर्वासु दिक्षु तद्भाति ६ ७१ ६३२
सर्वासूपनिषत्स्वेतत् १५ २० १३७०
सर्वेन्द्रियवियोगेपि १४ ४१ १३२०
सर्वेन्द्रियेषु प्रज्ञाया ८ ७४ ७७१
सर्वेभ्यो निर्णयेभ्यो माम् १८ १८८ १६६१
सर्वेश्वरादिकः पूर्व १८ २९८ १७००
सर्वेषामपि मूढानां १८ ३१२ १७०५
सर्वेषां प्राणिनां कर्मक्षेत्रे ९ ४१ ८१७
सर्वेपि करणात्मानः ९ ५८ ८३०
सर्वेपि विषयानन्दाः १ ६४ ६९
सर्वेषु व्यवहारेषु २० ६१ १७९६
सर्वेष्वपि शरीरेषु १० ९३ ८९४
सर्वे स्वस्वपदे तप्ताः २ १३५ २९८
सर्वोत्तमत्वादूर्ध्वं तत् ११ ९५ १०१३
सवासनं जगत्सर्वं १४ १०६ १३४७
सविकल्पकमेतच्च ११ ५७ ९७८
स विचार्याखिलान् लोकान् १ ७ १०
स विराङ्रूपतां प्राप्य १२ ५१ १०७३
स शब्दवासनां त्यक्त्वा ४ ६ ४१७
स संसारीश्वरो जात १ १९ २८
स सर्वोपनिषत् सिद्ध १० ९७ ८९६
ससाधनाया विद्यायाः १८ ३१९ १७०९
ससूत्रदारुयन्त्रेण १७ १०९ १४८६
सहनावित्यादिशान्ति ११ १६ ९४२
सहस्राक्षवपुस्तेन ८ ८ ७३१
सहस्राक्षवपुः स्वामि- ८ ९ ७३१
सहस्राक्षोहमित्युक्ते ८ ७ ७३०
साकल्यं पुत्रभार्यादेः २ ४३ १७१
साक्षादिति पदेनात्र १७ ७५ १४६४
साक्षादित्यादिना पूर्वं १७ २५३ १५५३
साक्षाद् वाथ प्रणाड्या वा १५ ५९ १३८७
साक्षिणं मन आदीनां २० १४१ १८२२
साक्षिणो ब्रह्मरूपत्वं १८ २६६ १६८७
साक्षिणो भासकत्वेपि ५ ९१ ५५७
साक्षी चैतन्यनित्यत्वात् १८ १६३ १६५१
साक्ष्यात्माभिमतो नान्यो १० ३० ८६१
साध्यात्मं साधिदैवं च १६ ७ १४०९
साधारणविशेषाभ्यां १६ १६ १४१२
साधारणो यथा सूर्यो १७ २३२ १५४२
सा धीश्चेन्न स्थिरा तर्हि ६ ५८ ६१८
साध्यात्मं साधिदैवं च १६ ७ १४०९
साभासपरिणामेन १८ ४२ १६०३
सा भ्रान्तिस्तमसा जन्या १० १३५ ९२१
सामानाधिकरण्येन १३ ७५ ११८६
सामान्यं तद्विशेषश्च १५ ४२ १३८०
सामान्यं दौन्दुभः शब्दः १५ ४३ १३८०
सामान्यवत्तिर्या सात्र १३ ११७ १२०९
सामान्यवत्त्या सर्वज्ञा ६ २९ ५९०
सामान्येन विशेषाच्च १३ ११२ १२०७
सामर्थ्यमीदक् चेदस्ति १८ ३०२ १७०१
सामुद्रमम्भो लवण १५ ६४ १३८९
सामुद्रस्याम्भसस्तापात् १५ ६७ १३९०
सारासारयुते रूपे १४ ८९ १३४०
सार्वभौमादिकाः प्रोक्ताः १३ २६० १२८९
सार्वभौमादिकानन्दाः २ १३९ ३०३
सार्वात्म्यं ब्रह्मणो योग्यं १७ ८१ १४६८
सार्वात्म्यं वक्तुमस्यैष १७ २२० १५३८
सावधारणमाकाशम् १७ २४४ १४४९
साश्रयैः करणैर्हीनः १८ १६ १५९१
सिताम्भोजं यथा सौम्यं १४ १०२ १३४६
सिद्धस्य व्यजिका विद्या १३ २५९ १२८६
सुखं किमिति चेद् भूमा ४ ३९ ४४५
सुखं तप्तिरकामत्वं १८ १८३ १६५८
सुखदुःखप्रदारब्ध ४ ७४ ४७४
सुखमस्तीतिधीर्मुक्तौ ४ ३८ ४४३
सुखानि तद्देहगानि ५ ७२ ५४३
सुखैर्वैषयिकैः सत्त्व १० १११ ९०६
सुप्तवेगेतिनिर्विघ्नः ४ ७८ ४७४
सुप्तस्य स्वपितीत्येषा १४ ३८ १३१९
सुप्तावासीद् यद् अज्ञानम् ९ ४९ ८२३
सुप्ताभिप्रायमाश्रित्य ९ ३४ ८१३
सुप्तस्याक्षलयः प्राण ९ ३३ ८१२
सुप्तेस्मिन् करणग्रामे १७ १०४ १४८३
सुप्तेष्वक्षेषु यः स्वप्ने ११ ८५ १००२
सुप्तौ केन क्रमेणायं १४ ४६ १३२३
सुप्तौ च पुनरुत्थान १८ ३१ १६००

सुप्तौ च प्रलये मुक्तौ	७	६३	६६६
सुप्तौ सद्रूपमज्ञात्वा	३	११६	३६३
सुवेदेत्यक्षविषये	१६	६२	१७५१
सुषुप्तादुत्थितो राज्ञः	१३	६२	११६६
सुषुप्तिस्वप्ननामभ्यां	२०	३७	१७८६
सुषुप्तौ जीवचैतन्यम्	२०	१४७	१८२४
सुषुप्तौ बुद्ध्यभावेपि	३	११८	३६३
सुषुप्सुश्च समाधित्सुः	१८	१५१	१६४७
सूक्ष्मत्वाद् दुर्वचः सूत्रं	१७	२४७	१५५१
सूक्ष्मेभ्यः परमाणुभ्यः	१२	७५	१०६७
सूत्रबद्धं दारुयन्त्रं	१७	२०४	१५३१
सूत्रव्याकृतविज्ञान	७	७६	७०७
सुषुप्ते पुरुषे प्राणो	६	११	७६६
सूत्रव्याख्यानरूपायाम्	२	३०	१५४
सूत्रात्परमनन्तत्वात्	१८	१८५	१६६०
सूत्रात्पूर्वं शान्तिमन्त्र	२	४	१०५
सूत्रात्मैव परं ब्रह्म	६	१०	७६८
सूत्रादप्यान्तरं तत्त्वं	१७	२११	१५३३
सूत्रादिस्थाणुपर्यन्त	१३	११०	१२०६
सूत्रान्तर्यामिणौ ज्ञातौ	१७	२०३	१५३१
सूत्रान्तर्यामिणौ शास्त्र	१७	२३४	१५४३
सूत्रान्तर्यामिणौ सर्व	१७	२०५	१५३१
सूत्रार्थज्ञमनुष्याणां	१३	१६७	१५५७
सूर्यचन्द्रादयो देवाः	१७	२८२	१५६६
सूर्यचन्द्रादयः सर्व	१२	१०७	११२६
सूर्यचन्द्रौ द्युभूर्लोकौ	१७	२६४	१५५७
सज्यमालोचयन् सर्व	२	१०३	२६३
सष्टिप्रकरणे तत्र	१३	२४१	१२७८
सष्टिरष्टविधोपास्य	१७	२६६	१५७४
सष्टेः प्रागप्येवमासीत्	२०	१४८	१८२४
सष्टवैश्वर्ये स्वतन्त्रत्व	१३	५१	११६६
सष्ट्वाखिलमयं देवं	१३	४६	११६५
सेयं प्रतीतिकी सष्टिः	६	५२	८२३
सेवन्तेक्षिस्थितं प्राणं	१४	७५	१३३४
सेव्याद् राज्ञः फलप्राप्तिः	१७	२६७	१५५८
सोढ्वापि कर्मविक्षेपं	१८	३०६	१७०२
सोधिष्ठानतया सर्व	१२	१०१	११२१
सोनुवीक्ष्यात्ममोहोत्थं	१३	१०	११४०
सोपाधिकं तावदादौ	११	१०७	१०२८
सोपाधिकज्ञानवतः	११	११०	१०२६
सोपाधिकविवक्षाया	१३	४६	११६४
सोपाध्येव बहिर्दष्ट्या	२	२०	१३८
सोयं सप्तदशस्तोमः	१	८१	८१
सोविकल्पः सर्वमयः	२०	६३	१८०७
सोस्यायमात्मा पुण्येभ्यः	२	४४	१७१
स्थितौ जनौ लयेप्येतत्	१५	३६	१३७६
स्त्रियां सिचति तद्रेतः	१	४६	५५
स्तोता कर्मी तु संसर्गात्	८	२७	७४२
स्थावरं जङ्गमं सर्वं	१	६६	६३
स्थितिकाले यथैकात्म्यं	१५	५०	१३८३
स्थिते स्वराजितिष्ठन्ति	७	३१	६७८
स्थितो जन्तोर्हद्गुहायां	११	३०	६५६
स्थित्वा मनस्यान्तरोस्मात्	१६	१६	१७२३
स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च	२०	१५	१७७७
स्थूलत्वाणुत्वरूपाभ्यां	३	१०७	३८४
स्थूलदर्शी तु साकारे	१२	६१	१०८३
स्थूलदेहं परित्यज्य	१८	२६४	१६८६
स्थूलमिन्द्रियगम्यं यत्	२०	२५	१७८२
स्थूलसारतया ज्ञेये	१४	८७	१३३६
स्थूलसूक्ष्मत्वादिसाम्यं	२०	७१	१७६६
स्थूलसूक्ष्मानन्दभुजः	२०	२१	१७८१
स्थूलसूक्ष्मैकरूपत्वं	२०	१६	१७८०
स्थूलसूक्ष्मौ बीजसाक्षी	२०	६८	१७६८
स्थूले च मध्यमे भागे	३	६४	३६०
स्थूलो भागः पुरीषं स्यात्	१४	७२	१३३३
स्पष्टस्मतिरविस्पष्ट	२०	२६	१७८३
स्पष्टीकृतं पारतन्त्र्यं	१३	२४७	१२८०
स्पष्टेषु बहुलिङ्गेषु	१७	१०५	१४८३
स्फटिको रक्ततां प्राप्य	१४	२०	१३१०
स्फोर्यते मनसा यन्न	१६	४६	१७४५
स्यात् स्वप्नव्यवहारोयम्	१८	४७	१६०६
स्याद् विज्ञानमयो भोक्ता	१४	७	१३०३
स्रज्यहिं कल्पयित्वास्ते	१३	१६	११४४
स्वचित्तस्थं साक्षिरूपं	११	६२	१००८
स्वचिदाभासमोहेन	१३	१४७	१२२४
स्वत आनन्दयाथात्म्ये	१३	६६	११७८

स्वतो ब्रह्मैव चैतन्यं	२	१७	१३०
स्वतोवगमरूपेस्मिन्	१४	३५	१३१७
स्वतः परोपि देहादौ	१३	१३६	१२१६
स्वतः पूर्णात्मकं ज्योतिः	१८	१७१	१६५४
स्वतः सर्वात्मकं ब्रह्म	१३	२१४	१२६६
स्वतः साक्षी संप्रसादः	५	५६	५३४
स्वतः साक्षी संप्रसादः	५	६०	५३५
स्वतः स्फुरणरूपेस्मिन्	१६	४५	१७४३
स्वतन्त्रे चेतने जीवे	१२	१३	१०४६
स्वदत्तां शक्तिमादत्य	१६	८३	१७६०
स्वप्नकामस्य वस्तुत्वं	१८	१३१	१६४१
स्वप्नजागरयोर्जीवः	३	७७	३६६
स्वप्नवत् प्राप्ततद्भावः	१८	२१६	१६७०
स्वप्नसष्टिस्थितिलया	१	१०३	६५
स्वप्नं नाडीष्ववेक्ष्याथ	६	२५	८०७
स्वप्नः स्वकाल एवास्ति	१	१७	२५
स्वप्नाज्जागरणं यद्वत्	१८	१९०	१६६२
स्वप्नावसानं जानीहि	३	७४	३६७
स्वप्नावस्था समाप्त्यर्थ	१८	१५	१५९१
स्वप्ने जागरवद् ब्रह्म	१८	११३	१६३५
स्वप्नेपि तुर्यं तप्तत्वं	२०	३०	१७८३
स्वप्ने रत्वा चरित्वाथ	१८	१२४	१६३८
स्वप्नेपि वासनादेहः	५	३८	५२१
स्वप्नः सुप्तिश्च दष्टान्तौ	१८	१८६	१६६२
स्वप्रकाशं तमात्मानं	१६	६१	१७५१
स्वप्रकाशस्वरूपत्वाद्	१८	३२	१६००
स्वप्रकाशात्मचैतन्यं	४	४७	४५०
स्वप्रकाशात्मसारत्वात्	२०	४८	१७९०
स्वप्रभे माननैष्फल्य	१७	१००	१४८०
स्वभाववाद्यग्निमुष्णम्	१२	६	१०४५
स्वमपीतीति नाम्नोस्य	३	७६	३६६
स्वयंप्रकाश आत्मैव	१३	१२४	१२१३
स्वयमेव यथा स्वप्ने	१०	७७	८८७
स्वयुक्त्यासौ तथा ब्रूते	३	१२	३२५
स्वर्णकारः सुवर्णांशं	१८	२२७	१६७३
स्वर्गाद्वा नरकाद्वायं	१	४४	५४
स्वराट् स्यात् पतिते देहे	४	७६	४७७
स्वरूपतो जन्मतश्च	१४	५६	१३२६
स्वव्यापारे प्रवत्ताश्चेत्	८	५२	७६०
स्वशब्दवासनां	४	६	४१७
स्वसंबन्धोपाधिनैव	१५	१२	१३६५
स्वस्मादन्यां देवतां य	१३	२३८	१२७६
स्वस्य तत्त्वमविज्ञाय	१३	२४३	१२७८
स्वस्यैव बहुधा चोक्तेः	२	१००	२६०
स्वस्वकर्मार्जितत्वेन	१३	२७०	१२९१
स्वस्य ब्रह्मत्वबोधेन	३	७३	३६७
स्वस्वरूपं तिरोधातुं	१३	१६३	१२३३
स्वसजातिविजात्युत्थ	३	३१	३४१
स्वात्मतत्त्वप्रसादेन	१२	४५	१०६८
स्वात्मबोधो हिततमः	८	६	७२८
स्वात्मभोगस्य हेतुत्वात्	१३	१८६	१२५०
स्वात्मलोकं समिच्छन्तः	१७	१६१	१५११
स्वात्माख्यलोकमज्ञात्वा	१३	२५२	१२८२
स्वानुभूत्यवसेयेस्मिन्	१३	२१०	१२६४
स्वाप्नदेहव्यवहृतिः	१८	३०	१५९९
स्वाभाविकात्यन्तिकौ द्वौ	१५	५७	१३८७
स्वाभासवदविद्योत्थ	१४	१८	१३०८
स्वाभीष्टवस्त्वलाभेन	१३	३३	११५६
स्वामिन्यस्मिन् सूक्ष्मदेहे	८	१३	७३४
स्वार्थसाधनयत्नादीन्	१५	५२	१३८४
स्वाश्रमोचितधर्मो यः	१०	१२८	६१५
स्वेन भासेति शब्दाभ्यां	१८	१०८	१६३२
स्वेनाक्षिण्युपविष्टो यः	५	२२	५०५
स्वोदरं दारजठरं	१	५५	६१

ह

हननं च विनिर्माणं	१८	१०७	१६३२
हविर्भुजां हि देवानां	११	१३	६४१
हस्तग्राह्यो घटः स्थूल	६	१६	५८२
हारिद्रं वसनं यद्वत्	१४	६८	१३४४
हितं स्वर्गसुखं मर्त्यः	८	५	७२७
हिरण्यगर्भं सष्ट्वादौ	१२	११२	११२८
हिरण्यगर्भं हैरण्य	१७	२२४	१५३६
हिरण्यगर्भमुत्पन्नं	१२	८२	११०४
हिरण्यगर्भरूपेण	१४	७७	१३३५
हिरण्यगर्भरूपेपि	१७	१७	१४३५

हिरण्यगर्भो वेदेषु १० १४१ ९२४
हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा २० १५१ १८२६
हृद्गोचरे तस्य रूपं १२ ७९ ११००
हृच्छिद्राण्यावतानि स्युः ७ ६१ ६९५
हृत्पुण्डरीके जीवात्मा ७ ४४ ६८५
हृदयं कमलाकारं ९ २२ ८०५
हृदयाख्यं मनस्तस्य १८ १५७ १६४९
हृदि विष्णुमुकारेण २० ९७ १८०८
हृदि स्थितः सन् शब्दादीन् १० ८७ ८९२
हृदीत्याधारनिर्देशात् १८ ६६ १६१५
हृद्यक्षाणां निरोधो यः १२ ३९ १०६३
हृद्यन्तः शतनाडीनां १८ १३ १५९०
हृन्निष्ठबुद्ध्यवच्छिन्नो ११ ७५ ९९२
हेतुः सवायुराकाशः ४ १४ ४२३
हेतुर्जाग्रद्वासनास्य १८ २१९ १६७१
हिरण्यगर्भरूपेण १४ ७७ १३३५
हे शिष्य ब्रह्मविद्या ते १९ ९३ १७६५
हे सत्यकामाः कर्माणि ६ ३३ ५९३
होतप्रयुक्त ऋग्जाति - १७ ८ १४३०
होमयागतपांस्यज्ञैः १७ २६९ १५६०

शान्तम्
शिवम्
अद्वैतम्